ब्र० पं० चन्दाबाई-अभिनन्दन-ग्रन्थ

सम्पादिका

श्रीमती सुशीला सुलतानसिंह जैन, दिल्ली

श्रीमती जयमाला जैनेन्द्रकिशोर जैन, दिल्ली

प्रकाशिका

अ० भा० दि० जैन-महिला-परिषद्

समर्पण

जिन्होने

अपनी सतत साहित्य साधना,

सार्वजनीन सेवा, परदु:ख निवृत्ति, अगाध पाण्डित्य

एवं

ज्ञान वितरण द्वारा

अखिल भारतीय जैन महिला-समाज का अज्ञानतम दूर करके

उसे

ज्ञानी, जागरूक और नैष्ठिक बना

समाज के लोकोत्तर उपकार किये हैं

तथा

जो अहर्निश जीवन शोधन एवं तपश्चरण मे संलग्न रहती है

उन

...मा माँ श्री ब्रह्मचारिणी पंडिता चन्दाबाई जी के

कर कमलों में

सादर

विषय-सूची

१ प्रकाशकीय

२ सम्पादकीय

१; जीवन, संस्मरण और अभिनन्दन—

२. सन्तों के शुभाशीर्वाद और श्रद्धाञ्जलियाँ—

३. दर्शन—धर्म—

४. इतिहास और साहित्य—

५. नारी अतीत, प्रगति और परम्परा—

६. बिहार—

चित्र-सूची—

१ अर्थसमिति की सदस्याएँ—

प्रकाशकीय

मुख पर साधना की घनी रेखा और गभीर आँखो मे सबको भूलकर सेवा करने की निरभिमान-भरी साध, जीवन का कर्ममय फैलाव और वस्त्र में सादगी, माथे में आगम-पुराण, ज्ञान-विज्ञान और हृदय में वात्सल्य का 'तुनुक-तार', प्रेरणाओ का एक बण्डल, एकान्त की गायिका और विहार की सबसे बड़ी नारी।

धर्म सेवा और शिक्षा इस अद्भुत नारी के विकास-स्तम्भ हैं। धर्म उसका साधना-सधान है, सेवा उसकी वृत्ति और शिक्षा उसके सरस जीवन के निःशेष आग्रह की तप सिद्ध व्याख्या। और इसका 'अभिनन्दन'? यह सबसे अलग है। यहाँ 'माँ' की आरती उतारी गई है जिसकी स्फटिक-ज्योति में 'देवि सर्वभूतेषु' का स्वरूप विम्बित हो उठा है।

और इस मा के आत्मिक दान की कृतज्ञता की अपेक्षा समझी गयी जब हतप्रभ जैन-नारी-समाज इनकी सेवाओ से आप्यायित हो उठा, उसकी श्रद्धा परवान चढ गयी।

हमें इसका दुःख है यह ग्रन्थ पहले ही माँश्री ब्र० पं० चन्दाबाई की नारी-समाज की अथक सेवाओ के मूल्याकन के रूप में निकल जाना चाहिये था। पर इसे दुःख भी कैसे कहें—समाज का हृदय तो सदैव मा की सेवाओ की रग-विरगी प्यालियो मे अपना चिरसचित श्रद्धाभिनन्दन डुबो-डुबो अपनी विद्युत्-द्युति तूलिका से युग पर हौले-हौले 'माँ' का चित्र आकता रहा है।

अप्रैल सन् १९४८ की बात है। अ० भा० दि० जैन महिला-परिषद् के ३१ वे अधिवेशन में २० अप्रैल को इस सकल्प को प्रस्तावित रूप मिला। श्रीमती सुशीला देवी (ध० प० सुल्तान सिंह) का प्रस्ताव निम्न रूप में पारित हुआ :—

"अ० भा० दि० जैन महिला-परिषद् प्रस्ताव करती है कि माननीया श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाई जी ने जैन महिला-समाज की जो अकथनीय सेवा की है, उसके अभिनन्दन के लिये उन्हें एक ऐसा ग्रन्थ भेंट किया जावे, जिसमें उनके जीवन एवं कार्यों से सम्बन्ध रखने वाली बातो के अतिरिक्त वर्तमान महिला-समाज के लिये उपयोगी लेखो का सग्रह हो।"

इस प्रस्ताव को सभी व्यस्तताओ के रहते हुए भी अविलम्ब सक्रीय रूप मे ढाला गया। इस कार्य मे एक कर्ममय उल्लास की झलक थी, थी प्रेम और श्रद्धा की गहराइयाँ।

सर्वप्रथम आठ गणमान्य व्यक्तियो का सम्पादन परामर्श मण्डल बना जिसके प्रधान सयोजक श्रीबाबू कामता प्रसाद नियुक्त हुए। ये आठ सज्जन थे :—

(१) श्री प० रामप्रीत शर्मा, आरा
(२) श्री प्रो० खुशाल चन्द्र गोरावाला, काशी
(३) श्री प० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा
(४) श्री बाबू कामता प्रसाद जैन, अलीगज
(५) श्री प्रो० टुच्ची, लन्दन
(६) श्री सुमतिबाई साह, सोलापुर
(७) श्री सूरजमुखी देवी, मुजफ्फरनगर
(८) श्री राव नेमचन्द्र साह, सोलापुर

इस सम्पादक मण्डल ने अपना कार्य लगन और तत्परता के साथ किया। फलस्वरूप उचित परिमाण मे हिन्दी और अगरेजी-लेखो का सग्रह, भारत के विभिन्न क्षेत्रो के विद्वानो के सहयोग से हुआ। ग्रन्थ को, माँश्री के व्यक्तित्व की समुज्ज्वल ज्योत्स्ना को सर्वत्र विकीर्ण करने और अन्य विषयो पर उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण लेखो से परिपूर्ण करने की दृष्टि से, प्रौढता और मान्यता देने की बलवती आकाक्षा लेकर इस सम्पादन-मण्डल ने अपने कार्यों का प्रसार किया। आकाक्षा की और तीव्र दीपिका जली जिसके मधुर आलोक में एक सुनिश्चित और सुचिन्तित कार्यक्रम की अवतारणा हुई। महिलोपयोगी निबन्धो की एक सूची बनाकर ग्रन्थ की अनेकरूपता को एक गतिदिशा प्रदान की गई। इस कार्य में समय का लगना स्वाभाविक था क्योकि बौद्धिक सामग्रियो को एकत्रित करना किसी भी कष्टसाध्य कार्य से कम नही।

अपने तीन वर्ष के कठिन परिश्रम की शालीनता को लेकर यह मडल १९५१ मे मथुरा में मिला। कामता प्रसादजी अनुपस्थित रहे जिससे आगे के कार्यों पर प्रकाश नही पड सका। खैर, अपनी पूर्णताओ और अपूर्णताओ से लिपटा-चिपटा यह ग्रन्थ अगस्त '५१ मे दिल्ली में छपने गया।

अपने मुद्रण के शैशव-काल मे दिल्ली के कुछ विद्वानो ने ग्रन्थ की पाडुलिपियाँ देखी। कहना होगा, इन लेखो और सस्मरणो के सकलन की सफलताओ पर उनको अनास्था ही हुई और इसी असतोष की एक सास के धक्के से ग्रन्थ का प्रकाशन अनिश्चित काल के लिये ठप्प पड गया। ग्रन्थ अपने अविकसित सौन्दर्य को प्रकाशित न कर सका यह ग्रन्थ के उज्ज्वल भविष्य का ही परिचायक रहा।

तब कार्य की नितान्तता का ध्यान आया और नवीन भाप लेकर नव प्रमुख स्वनामधन्य विद्वानो को इस गुरुभार को निभाने की स्वीकृति मिली। इन सज्जनो मे प्रमुख डा० श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री नेमिचन्द्र शास्त्री और डा० श्री शूब्रिंग थे। इन सज्जनो की व्यापक बौद्धिक चेतना और परिपक्व दृष्टिकोण से आशातीत सफलता की लहरो का उद्रेक हमारे मानस में स्निग्ध ओज और उत्साह का सृजन करता रहा और हम अपने इस सत्कार्य की स्वर्णिम प्रतिष्ठा के अनुमान मे विभोर रहे।

ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक श्री अक्षयकुमार जैन ने श्री जैनेन्द्र कुमार के मतदान से ग्रन्थ के विषयो की निम्न रूपरेखा निरूपित की, जिससे ग्रन्थ का सहज महत्व प्रकट होता है —

(१) अभिनन्दन
(२) जैन दर्शन
(३) साहित्य और कला
(४) इतिहास और पुरातत्त्व
(५) विहार
(६) समाज-सेवा
(७) नवनिर्माण
(८) विश्व सस्कृति और नारी

यह रूपरेखा मुद्रितकर, इसके अन्तर्गत विषयो को निर्धारित कर विद्वानो को भेजी गयी। कुछ लेख आये। इसी सिलसिले में बहुत से लेख खो दिये गये। इस कार्य से सम्पादको की निजी व्यस्तताओ ने उन्हें खीचा तो भी जो कुछ उन्होने किया, वह स्तुत्य है।

ग्रन्थ के प्रकाशन में देरी हुई। अनेक स्थलो से इसका कारण पूछा गया। हमने अपनी विवशता प्रकट की। फिर हमको इससे धैर्य और चेतना मिली और हम 'करेगे या छोड़ देंगे' का अदम्य सकल्प कर इस कार्य मे जुट पडे।

विद्वानो की राय से सम्पादक-मण्डल में केवल महिलाएँ ही रखी गयी जो मान्य रूप मे ग्रन्थ की अन्तिम सम्पादिकाएँ रही। इस मडल ने सारे प्राप्त और अनूदित लेखो की रूपरेखा सजायी जिससे किसी प्रकार की त्रुटि न रहने पावे। पीछे से कुछ लेख भी आये। सभी गणमान्य सज्जनो ने अपनी श्रद्धाजलियाँ भेजी। ग्रन्थ के सभी विभाग इन उपयोगी सामग्रियो से पूर्णता का दावा करने लगे।

और अपने परिवर्द्धित और परिष्कृत रूप में ग्रन्थ सितम्बर १९५३ मे पटने में छपने गया। तत्परता मे जो कुछ सुन्दर असुन्दर बन पडा वह आपके सामने है।

सभी सहायता प्रदान करनेवाले साधुवादार्ह हैं। एक लम्बी अवधि तक प्रकाशन रुका रहा इसका हमें हार्दिक दुःख है।

आशा है यह ग्रन्थ माँश्री ब्र० पं० चन्दावाई जी का उचित अभिनन्दन करने में समर्थ हो सकेगा।
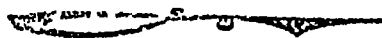
सम्पादकीय

पुञ्जीभूत श्रमा में हाहाकार करती नारी की घनीभूत वेदना, जो नारीत्व की अन्तिम विजय-श्री है—बेतहास किसी अदृश्य ज्योति के पीछे भटकी है .... ।

चेतना आती है ।

नारी को प्यार, सुख और ममता तीनो मिलती हैं ।

उसका नारीत्व जागता है । ज्योति की चरण-धूलि उसे नारीत्व परखने को विवश करती है । वह ज्योति मांश्री चन्दाबाई का ही प्रतिरूप है—जाज्वल्यमान, दीप्तिपूर्ण, आभापूर्ण ... उर्जस्वल ।

× × ×

निखिल जैन नारी-समाज की गतिदिशा में नये परिवर्तन की सूत्रधारिणी माँश्री है । इन्होंने नारीत्व गौरव और धर्म के मौलिक तत्त्वो के आत्मिक समीकरण से एक 'मॉडल' तैयार किया है । भावो में ही आकृति ग्रहण करनेवाले इस 'मॉडल' को ये सर्वत्र नारी के व्यावहारिक जगत् में मूर्त देखना चाहती है । इनके हृदय में अहकार का स्पर्श भी नहीं होता कोई वैचित्र्य भी इनमें नही है, ये सब नारियो के समान नारी ही दिखाई देती हैं । पर माँश्री में जो कुछ भी है सब स्वाभाविक, सरल, विनम्र एव विशुद्ध है । जो अपनी चेतना मे अचल बनी हो—यदि ऐसी प्रतिभाशालिनी कर्मवीर नारी जैन-समाज ने कभी पैदा की तो वह माँश्री ही हो सकती है, जिनका व्यक्तित्व जैन सस्कृति की आत्मा का प्रतिरूप बनकर अपने समय के सारे नारी के नैतिक अभावो की पूर्ति करता है । यह कुछ इनके व्यक्तिगत जीवन की वेदना के आधिक्य की प्रतिक्रिया नही, बल्कि जीवन के विनिमय में इन्होंने जो 'गीली-ममता', घोर कर्मठता, जीवन्त सादगी, सहज सेवा आदि पायी है, यह उसीका स्वाभाविक परिणाम है । इन्होंने जीवन में काफी गहराई के साथ आत्मबल की महत्ता अनुभव की है, जो इन्हें धर्म की एकाग्र साधना में मिली और इसीको यह अभिशप्त, निर्दलित नारी की काया में ढालने की बलवती आकाक्षा लेकर चल पडी हैं । सत्य और अहिंसा के सक्रिय रूप में इन्होंने अपने स्वप्नो को चरितार्थ होते देखा है । इनके जीवन मे जो कुछ नारीत्व की मर्यादा है वह अपने सम्पूर्ण रूप मे 'नारी-भाग्य-विधाता' बन-कर उतर आयी है । कहना होगा, इनके जीवन के समस्त ततुओ में नारी की मूक पीडा अनस्यूत है । नारी धर्म और सेवाव्रत के प्रति विशिष्ट आग्रह रखकर यह साध्य तारा की भांति अपने डगर पर अकेली है ।

अत. इस ग्रन्थ की उपयोगिता इसी बात पर निर्भर है कि इसमें अर्चना अर्हं माँश्री के प्रति हृदय के स्वाभाविक उद्गारो का अकृत्रिम उद्वेग है । जैन और जैनेतर समाज को इनकी आत्मा के अनन्त प्रदेशो की झाँकी पाने के उपरान्त जो ज्योति-कण मिले है उन्हीका यहाँ सात्विक रूप रखकर माँश्री की अर्चना उतारी गयी है । साथ-साथ जैन-दर्शन, इतिहास और साहित्य, नारी-विकास आदि की अग-डाइयो के मापक लेखो का भी उपयुक्त सकलन है । अपने इस रूप में आने के पहले इस ग्रन्थ का एक अपना इतिहास है जो परिस्थितियो में उलझा-उलझा-सा बढता आया है ।

जब से यह ग्रन्थ समर्पित करने का मानस मे चित्र आया तब से अब तक की गतिविधि का निरूपण अपना एक अस्तित्व रखता है। १६४८ मे महिला-परिषद् मे प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सर्वप्रथम सपादको का एक मडल बना, जिसने स्तुत्य कार्य सपादित किये पर ग्रन्थ की सामग्रियाँ उच्च बौद्धिकता के स्तर का दावा न कर सकी। फलत दूसरा मडल बना जो जाते-जाते ३-४ वर्षो मे थोडा-सा कार्य कर सका। परिषद् की सजगता बढी तो वह तीसरा मडल बना जिसने अपने कार्यों की सुदृढ नींव डाली और यह ग्रन्थ १६५३ के सितम्बर मास से प्रकाशित होना शुरु हुआ।

इसकी तीन-चार रूप-रेखाएँ बनी और बिगडी। बाद मे जाकर हमलोगो ने श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा के सहयोग से निम्न प्रकार की सामग्री से ग्रन्थ की प्राण-प्रतिष्ठा को सँवारा :—

(१) जीवन, सस्मरण, अभिनन्दन एव श्रद्धाजलियाँ—इस विभाग मे माँश्री के जीवन की समस्त सवेदनाओ से स्पदित सामग्रियो को रखा गया है जो माँश्री के जीवन के समस्त विकास और प्रसार को समझने और समझाने में सतत प्रयत्नशील है। निष्कपट श्रद्धा से धुला हुआ यह विभाग, अपनी सत्ता और छाया दोनो समेटे बैठा है।

(२) दर्शन और धर्म—इस खड में जैन-दर्शन से सम्बद्ध पर्याप्त उपयोगी, ज्ञानवर्द्धक सामग्री का सकलन किया गया है। इससे जैन-दर्शन और धर्म की परम्परा का गभीर अध्ययन होगा।

(३) इतिहास और साहित्य—इसको स्वस्थ बनाने मे हमे विशेष कठिनाई हुई तो भी उचित मात्रा में जैन इतिहास और साहित्य इसकी चिन्ताधारा मे अवगाहन कर ही रहा है।

(४) नारी—अतीत, प्रगति और परम्परा—यह अपने मे नवीन सुझाव है और है बेजोड। उपेक्षित नारीवर्ग कभी भी, कही भी अपने इतने उज्ज्वल रूप में उपस्थित नही हुआ था जितना कि इसमे सजग रूप से समादृत है। इससे जैन-नारी के समस्त अगो पर उत्तम प्रकाश पडा है, ऐसा हमारा आज का दावा है।

(५) बिहार—इस खड के लिये सामग्री हमे अत्यधिक प्राप्त हुई। बिहार के साहित्य मनीषियों ने हमे पूर्ण योगदान मिला किन्तु अधिकाश सामग्री जैन संस्कृति के अन्वेषण मे रिक्त थी, अत इस खड के प्राय सभी निबन्ध श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के तत्त्वावधान मे निर्मित हुए है। यो तो प्राय समग्र सामग्री का सकलन ही 'भवन' द्वारा ही किया गया है।

इस प्रकार ग्रन्थ सपादित किया गया। हमने इसमें अपनी नारी-लगन और श्रद्धा को मर्यादित किया है, इसका भावी महत्त्व-मूल्यांकन तो समाज के हाथों मे है। सपादन मे श्री प्रो० खुशालचन्द्र जी गोरावाला एम० ए०, साहित्याचार्य, काशी, श्री प० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, आचार्य स्याद्वाद [illegible] काशी और जैन सिद्धान्त भवन, आरा के हम आभारी है जिनकी प्रेरणा और स्निग्ध कृपा से ग्रन्थ के विकास और निर्माण की पथ-रेखाएँ बनती रही।

इसी प्रकार ग्रन्थ की पाडुलिपि प्रस्तुत करने में जैन कालेज, आरा के प्रतिभासम्पन्न तृतीयवर्ष (हिन्दी आनर्स) के छात्र चिरंजीवी श्रीराम तिवारी को भी नही भुलाया जा सकता । प्रूफ संशोधन में श्री सरस्वती प्रेस के सुयोग्य व्यवस्थापक श्री जुगलकिशोर जैन बी० एस० सी०, से पर्याप्त सहायता मिली है।

इस ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य इंडियन नेशन प्रेस, पटना में सम्पन्न किया गया है । फलत दूर रहने के कारण हम अपना पूरा समय और शक्ति इसमें नही लगा सकी हैं । शीघ्र प्रकाशित होने का श्रेय इंडियन नेशन प्रेस, पटना, प्रकाशन-विभाग के मैनेजर श्री कालीकान्त झा को है, हम आपके आभारी हैं ।

हमें इसकी बेहद खुशी है, यहाँ नारी के द्वारा नारी की अर्चना हो रही है । और सब तो माँश्री की आत्मिक प्रेरणा की भक्ति के प्रसाद से हम इस गुरुतर कार्य को पूरा कर सकी हैं ।

अन्त में एक आस्थावान, व्यापक सत्य, शिव और सुन्दर का दर्शन कर यह ग्रन्थ माँश्री के वरद् कर कमलो में अर्पित है ।
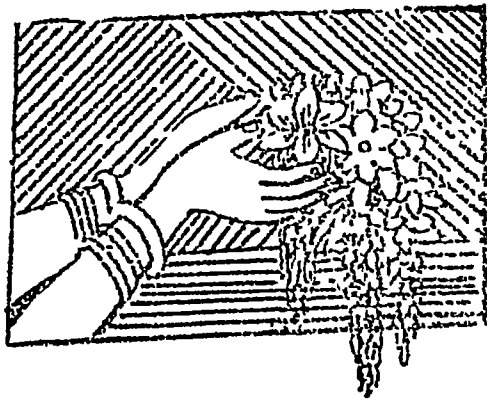
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा'!

जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा'!

मूर्त्तिमती श्रद्धेव पवित्रा,
या लोकाचरणीय चरित्रा,

या सरस्वतीं सुर-सरस्वतीं—

सिन्धु-मेधया विन्दति नन्दा!
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा'!

कोटि-जैन-बाला-विश्रामः,
यस्याः स्नेहो नित्यमकामः,

या स्वकीय-निःसीम-करुणया—

सिञ्चति निखिल-जनान् स्वच्छन्दा!
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा'!

सत्यमेव या चिर-तपस्विनी,
सत्यमेव या ध्रुव-मनस्विनी,

या स्वर्गं कल्पयति भूतले—

कल्प-लता-फल-कुसुम-मरन्दा!
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा'!

सेवा-व्रत-वारिणी वदान्या,
शिक्षा-सत्र-शालिनी, मान्या,

या सदृशी सुखदुःखयो, सदा—

तिष्ठति शान्तिमयी निस्पन्दा!
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा'!

लोक-शास्त्रयोर्दधती न्यायम्-
या क्षणमपि सहते नाऽन्यायम्,
सकल कलास्वमलासु यदीया--
भवति विद्युदिव प्रगतिरमन्दा !
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !

तृणमिव या मनुते जगदेतत्,
तस्यै यदलभ्यं किं रे तत्,
ज्ञानमयी सर्वैर्नमस्यताम्--
साञ्जलिभिः सा परमानन्दा !
जयतु काऽपि देवी मा-'चन्दा' !

---रामनाथ पाठक 'प्रणयी'
साहित्य-व्याकरणाचार्य

माँश्री चन्दाबाईजी : जीवन झाँकी

उस दिन यमुना बोली थी और करील हँसा था—

आषाढ़ का महीना है, द्वितीया का चाँद बादलो के अवगुंठन में अपना मुह छुपाये लज्जा से नत है। धरती पर श्यामवर्ण की घटाएँ मँडरा-मँड़रा कर गुरु गर्जन के साथ बरस रही है। नभोमण्डल तमसाच्छन्न है, यमुना उमगती हुई बढ़ रही है। वृन्दावन की इस समय अपूर्व छटा है। गगनस्पर्शी सौध-मालाओं के प्रतिबिम्ब कालिन्दी में झिलमिल कर रहे हैं। सन-सन करता हुआ पवन का झोंका तट से खिलवाड करता हुआ आँखमिचौनी कर रहा है। यमुना हड-हड कुल-कुल कल-कल करती हुई तेजी से आगे बढ रही है। लहरो के आँचल हिलते हैं, बुलबुले उठते हैं और लीन हो जाते हैं। यमुना व्याकुल-सी हो अग्रसर होती है और तटवर्ती करील के झाड से लिपट जाती है, उसे अपने बाहुओं में कस लेती है। झाड की कठोर छाल से अपने कमनीय कपोलो को हौले-हौले रभस करती है। डालो पर झूम जाती है और झूलते हुए कण्टको को दुलराती है, सहलाती है, चूमती है, पुचकारती है, वक्ष में भर कर उन्हें अपने परिरंभण में लीन कर लेना चाहती है। सहसा भँवरो के अधर से उसकी वाणी फूट निकलती है।

"वत्स! ये झझाएँ, ये वृष्टि-धाराएँ, यह मेघों का विप्लवी घोष, ये कडकती विजलियाँ अब मुझसे सही नही जातीं। जहाँ वृन्दावन-विहारी वनमाली ने नारियो की लोक-मर्यादा स्थापित की थी, जहाँ की स्त्रियाँ प्रगतिशील और जागरूक मानी जाती थी, मातृत्व और पत्नीत्व जहाँ पनपे, फूले और फले थे, नारी-समाज ने मेरे ही कूल पर स्थित जहाँ मधुपुरी में जैन-सस्कृति, वैदिक-सस्कृति और बौद्ध-सस्कृति का सरक्षण किया था, आज वहीं मेरे कूल पर ललनाओ के सुहाग-सिन्दूर धोये जा रहे हैं। विवाह की हल्दी जिनके हाथो से छटी नही, जिनकी लाह की चूडी का रग अब भी जगमग कर रहा है, वे ही तरुणी बालाएँ मेरे घाट पर आकर चिल्लाती, सिर पीटती, पछाड खाती अपना सिन्दूर, अपनी चूडियाँ मुझे सौंप जाती है। मेरे लाल, अब तुम अनुमान कर सकते हो कि नारी-समाज की यह दयनीय स्थिति मेरे अन्तस् को कितना आलोडित कर रही है!

अज्ञान और अशिक्षा से झुलसी नारी का ककाल मेरे रोगटे खडे कर देता है। वे मानव हैं, समाज का एक अविच्छेद्य अग है, उन्हें भी मनुष्य की तरह जीवित रहने का अधिकार है, इस बात को शायद आज की दुनिया का आदमी नही जानता।"

मुस्कुराते हुए करील ने कहा—"महाभागे ! संसार अपनी गति से निरन्तर चलता रहता है। नारियो की दीन-दशा आपका सिरदर्द क्यो वनी हुई है ? देख नही रही हो कि समस्त विश्व आनन्द पाने के लिए ही ऊँच-नीच, घटिया-वढिया सभी तरह के काम करता है। किसीके कार्य मे किसी को भी दखल देने का अधिकार नही । हमें अपनी दुनिया को देखना है, उसीकी उन्नति करना है । इस मानव जगत् से हमें कुछ लेना-देना नही है । नारियाँ चाहे और अन्धकूप में चली जायँ पर हमे अपनी मौज अपनी मौज-बहार को नही छोडना चाहिए । चलो, उदासी को छोडो, वायु के साथ केलि करें ।

रोते हुए यमुना—"लाल ! मै समझ गयी, तुम स्वार्थरत हो । अहकारी पुरुष दिग्विजय की अभिमानिनी भुजाओ के भरोसे नारी की कोमल भावनाओ का अनुभव नही कर सकता है । मेरे ही जल से पुष्ट और वर्द्धित जब तुम्हारी यह हालत है तो साधारण नरो की वात ही क्या ? सच यह है कि नारी की मसृण भावनाओ एव मर्मव्यथा का पुरुष-हृदय अनुभव नही कर सकता है । मैं नारी होने के कारण आर्यावर्त की नारियो की दुर्दशा से परिचित हूँ, उनके दु ख में दु खी हूँ । वत्स ! विधवाओ पर सासुओ, ननदो और परिवार के अन्य व्यक्तियो द्वारा कैसे-कैसे अत्याचार हो रहे हैं, शायद तुम नही जानते । उनका दर्शन अशुभ समझा जाता है, वे राक्षसी और डायन शब्दो द्वारा सम्बोधित की जाती है । वाल-विवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध-विवाह, कन्याविक्रय, दहेज, पर्दाप्रथा, अशिक्षा, अन्धविश्वास आदि ने नारियो की रीढ को तोड दिया है । उन्हें पशुवत् जीवन व्यतीत करने के लिए वाध्य कर दिया है । नर और नारी दोनो ही समाज के अग है, जव तक एक अग सरोग रहेगा, तव तक समाजरूपी शरीर स्वस्थ नही माना जायगा । अत मानव-जगत् के कल्याण के लिए नारियो की अवस्था में शीघ्र सुधार होने की आवश्यकता है । हमारा जीवन भी मानव-जगत् से सम्वद्ध है । हमारी मौज-वहार भी मानव-जगत् की उन्नति के विना सभव नही है ।"

गम्भीर मुद्रा में चिन्तन करते हुए करील—"महाभागे ! घवडाने की आवश्यकता नही । इसी वृन्दावन मे वावू नारायणदास रईस के घर कल एक कन्या जन्म लेनेवाली है । मेरा विश्वास है कि यही कन्या आगे चलकर नारी जाति की सबसे वडी सरक्षिका होगी ।"

अचानक हवा का झोका, फिर लहर पर लहर, वुलवुले पर वुलवुले ! यमुना सिसकियाँ भर कहने लगी—"मेरे लाल ! तेरे मुख मे घी-शक्कर । सुना करती थी कि वृन्दावन देवभूमि है, पुण्यभूमि है । क्या सचमुच मे इसी वृन्दावन को वह गौरव प्राप्त होगा ?"

करील का आह्लाद फूट पडा और आनन्दविभोर हो अगडाई लेता हुआ हँसा—"मैया की गोद कभी सूनी नही हो सकती । जहाँ सतयुग मे केदारराज ने ऐसी अति तपस्विनी और योगपारगत वृन्दा नामक कन्या प्राप्त की थी, जिस ब्रह्मचारिणी वाला के नाम पर इसका नाम वृन्दावन पडा है, वहाँ क्या नारी जाति की उद्धारक, हितैषी वाला का जन्म लेना सभव नही ? आज मैंने वीणावारी नारद के मुख मे यह सन्देश सुना है कि अलिकुल-गुजित, कोकिल-कूजित और मुञ्ज से वेष्टित इसी वृन्दावन में वावू नारायणदास अग्रवाल के घर एक शक्ति जन्म ले रही है, जिसमे वृन्दा की तपस्या ।"

वुदवुदो और फेनो के वहाने हास्यफेन उगलती हुई यमुना हड-हड-हड-हड करती हुई आगे वढी । उसके मुख पर आनन्दाश्रु अभी भी विद्यमान थे । कुलकुल कलकल ।

वह शैशव भी कैसा था—

विक्रमाब्द १९४६ की आषाढ शुक्ला तृतीया की शुभवेला भारत के नारी इतिहास मे चिर-स्मरणीय रहेगी। इस दिन बाबू नारायणदासजी अग्रवाल के यहाँ श्रीमती राधिकादेवी की गोद में एक अद्भुत कलिका विकसित हुई थी। यह कलिका कितनी सुन्दर, कितनी सुघड, मानो विधाता ने अपने हाथो से इसे गढ कर भेजा है। राधिका देवी अपनी इस पुत्री के सौम्य मुख और गम्भीर आकृति को देखकर फूली न समाती। इसी कारण इसका नामकरण-सस्कार भविष्यवेत्ताओ ने खूब सोच-समझ कर किया और गुणानुसार नाम रखा चन्दाबाई।

दिन बीतते हैं, महीने आते और जाते हैं। राधिकादेवी की गोद की यह कलिका दिन-दिन खिलती और निखरती जा रही है। सुन्दर और गौरवर्ण के चेहरे पर घुघराले बाल, उभरे और चौडे ललाट पर भव्यता की प्रतीक रेखाएँ एव अधरो पर गम्भीर हास्य समूचे वातावरण में मिश्री घोलते है। माता अपनी पुत्री की बाल-क्रीडाओ को देखकर सुख-सागर में निमग्न हो जाती है, पिता पुत्री के सुलक्षणो को देखकर अपने कुल को धन्य समझते हैं।

महीने बीतते है, वर्ष आते-जाते हैं। यह सुकुमारी कन्या गोद से पालने पर, पालने से आँगन मे। प्रथम घुटनो के बल, फिर अस्फुट ध्वनि में तायेई के सुर पर लडखडाती हुई चलती है। गम्भीर आकृति को देखकर माँ को कभी-कभी आश्चर्य होता है। अन्य बालिकाओ के समान मचलना, हठ करना, रोना और जमीन में लोट जाना यह नही जानती। चलती है तो पैरो को तोल-तोल कर, बोलने के लिए जिह्वा सुगबुगाती है, पर दाँतो का आधार न मिलने से वाणी अधरो में ही अवरुद्ध रह जाती है। माँ ने कभी स्वप्न में भी यह नही सोचा था कि इस नेत्रपुत्तलिका की वाणी मे ऐसा जादू होगा, जिसे सुनकर लाखो नही, करोडो मन्त्रमुग्ध हो जायँगे।

बाबू नारायणदास सम्पन्न जमीन्दार, प्रतिभाशाली एव ग्रेजुएट विद्वान् थे। आपने अपनी कर्मठता और सेवावृत्ति से वृन्दावन की जनता को अपने वश मे कर लिया था। सन् १९२१ में जनप्रिय होने के कारण आप यू पी धारासभा के सदस्य निर्वाचित हुए, परन्तु कुछ समय के पश्चात् ब्रिटिश शासन-प्रणाली से असन्तुष्ट होकर आपने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया तथा जीवन के अन्तिम क्षण तक देश-सेवा में सलग्न रहे। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री जमनाप्रसाद बी एस-सी, एल एल बी तथा लघुपुत्र श्री जशेन्दुप्रसाद हैं। चरित-नायिका चन्दाबाईजी के अतिरिक्त श्री केदारदेवी और श्री ब्रजबाला देवी ये दो गुणवती पुत्रियाँ भी है।

पाँच वर्ष की अवस्था मे बालिका चन्दाबाई का विद्या-सस्कार सम्पन्न किया गया। वैष्णव परिवार में जन्म लेने के कारण रामायण और गीता धर्मग्रन्थ इनके लिए श्रद्धा और भक्ति की वस्तु बने। माता-पिता ने गणेश के पूजन सहित अ-आ, इ-ई, क-ख-ग-घ का उच्चारण कराया। कुशाग्रबुद्धि होने के कारण अल्प समय मे ही हिन्दी, हिसाब और आवश्यक धर्मशास्त्र का परिज्ञान प्राप्त कर लिया। एक बार शिक्षक ने जो कह दिया, वह जिह्वा पर सदा के लिए अकित हो गया, एक बार पट्टी पर खीची लकीरे सदा के लिए मस्तिष्क पर खिच गई। पढानेवाले छात्रा को सरस्वती का अवतार मानने

जब वृन्दावन में यह समाचार पहुँचा तो चरित-नायिका के पिता ने सिर पीट लिया, माता, पछाड खाकर भूमि पर गिर पडी । हा भगवान्, वारह वर्ष की इस अविकसित कली का क्या होगा? अभी दूध के दाँत भी नही गिरे हैं । हाथो की हल्दी, पाँवो का महावर अभी ज्यो-का-त्यो आर्द्र है । प्रभो! क्या विपत्ति का यह पहाड इसी वाला पर ढहने को था । हाय निर्दयी विधाता, तुझे इस कलिका को कुचलते हुए दया न आई!

चन्दावाई भी एक गहरी निश्वास छोडकर कटे हुए वृक्ष के समान गिर पडी । वहुत देर तक दु ख का स्पर्श न हो, इसलिए प्रकृति ने उन्हें चेतनाशून्य रखा । सच है विपत्ति का पहाड उन्ही पर गिरता है, जो उसे उठाकर भी सीना तानकर खडे रहने की क्षमता रखते हैं । कायरो पर विपत्ति का साया भी नही पडता । दु ख तो वह खराद है जिस पर चढकर ही व्यक्ति अनमोल वनता है । जब द्वादशवर्षीय अवोध वालिका को होश आया, चेतना लौटी तो उसकी माँग का सिन्दूर पोछ दिया गया और हाथ की चूडियाँ तोड दी गई ।

चिन्तन और ज्ञान की आगार वह वाला विचारने लगी कि—'निशि-दिवा-सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा' जीवन का सत्य पहलू है । ममत्व के इस नीड में अब मुझे प्रश्रय नही मिलेगा, इस नीड के सुनहले तिनको को अग्नि के एक ही स्फुलिंग ने भस्म कर दिया । मोह की निशा अब विघटित हो गई । अतएव नवीन प्रकाश के इस अनन्तनभ में अब स्वतन्त्र विचरण कर सकूगी । अब मेरा परिवार समस्त विश्व होगा । मै अपनी जैसी अनन्त वालाओ को अपनी सहेली और पुत्री वनाऊँगी, उनके शोकातुर हृदय को शान्त करूँगी, आश्वासन दूँगी और निर्मित करूँगी दु ख में ही सुख का गगनचुम्वी प्रासाद ।

मोह-शृखला की कडियाँ तडातड टूटने लगी । इन्द्रियो के वन्धन खुलने लगे, स्पर्श-रस-गन्ध-स्वर के द्वार उद्‌घाटित होने लगे और ज्ञान-ज्योति भीतर ही भीतर प्रज्ज्वलित होने लगी । ज्ञानी राजर्षि स्वनामधन्य वावू देवकुमारजी ने अपनी अनुज-वधू को आरा वुलाया और लगे ज्ञान की वर्षा करने । जैसे उत्तम बीज योग्य भूमि और जल पाते ही अकुरित हो जाता है, कुशूला अवस्था की मिट्टी कुम्हार और चाक का सयोग पाते ही घडे के रूप में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार चरित-नायिका चन्दावाई जी भी उक्त वावू साहव का सहयोग एव पूज्य वर्णी नेमिसागरजी महाराज के धर्मोपदेश को पाकर अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने की ओर अग्रसर हुई । सस्कृत भाषा, जो विश्व की समस्त भाषाओ में धनी और समृद्ध है, के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति की । अनुभव किया कि नारी जाति के उत्थान का कार्य प्राचीन सस्कृति और साहित्य के गहन अध्ययन, अनुशीलन और पाण्डित्य विना समव नही । अतएव ज्ञानार्जन करना और जीवन को साधनाशील वनाना आवश्यक है । श्री वावू देवकुमारजी ने अपनी अनुजवधू की इस ज्ञान-तल्लीनता को देखकर कहा—'उपेक्षित और तिरस्कृत नारी जाति को उन्नत वनाने के 'लिए यही लिख दिया है विधि ने विधान ।'

दीप जल गया जीवन में—

अठारह वर्ष की अवस्था मे श्री वा० देवकुमारजी के सम्पर्क से चन्दावाईजी ने अनुभव किया कि अहर्निश के मानवीय सम्वन्धो में राग-द्वेष की रगड ही दु ख का कारण है । क्रोध, मान, माया,

लोभ का सूक्ष्म सघर्ष सर्वव्यापी है , आज की सारी समस्याएँ इन्ही को लेकर के है । सबसे अधिक प्रवलता मान की है, वर्तमान में इसीके कारण नर और नारी दोनो ही सतप्त है । बाबू साहब जो जैन-धर्म का उपदेशामृत देते है, यह सत्य और कल्याणकारी है । अब विधिवत् जैनधर्म में दीक्षित हो जाना ही मेरे लिये मगलप्रद होगा । वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ देव ही शरण हो सकते है, उनकी वाणी ही ससाररूपी मरुभूमि में विविध तापो से सतप्त जीवो को शान्ति दे सकती है । अनादिकाल से यह जन्म-मरण की परम्परा चली आ रही है, इसे दूर करने का साधन इस धर्म को धारण करना ही है । अतएव वर्णी श्री नेमिसागरजी और उक्त बाबू साहब के समक्ष जिनमन्दिर में जाकर दीक्षान्वय क्रिया पूर्वक पैतृक धरोहर मे प्राप्त वैष्णव धर्म को छोड जैनधर्मानुयायी बन गई ।

वचपन की ज्ञानपिपासा पुन जाग्रत हो गई । ज्ञान-वृद्धि ही ससार मे आगे वढ सकता है, ऐसा निश्चय कर चरितनायिका ने सस्कृत-साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र का अध्ययन विधिपूर्वक करना आरम्भ किया । उस समय आज के समान नारी-शिक्षा का प्रचार नही था, अत अच्छे शिक्षक एव अन्य साधनो का मिलना अत्यन्त दुर्लभ था । पर्दा-प्रथा इतनी अधिक थी, जिससे किसी शिक्षक से सम्भ्रान्त कुल की ललना का अध्ययन निन्दा और भर्त्सना का विषय वने विना नही रह सकता । आरा नगर जमीन्दारो की प्रमुख वस्ती है, यहाँ मुगलकालीन प्रथाएँ ध्वस रूप में आज भी किंचित् शेष है । आज से ५० वर्ष पहले तो विधवाओ को शिक्षा देना सभी जगह अशुभ समझा जाता था, फिर आरा की वात ही क्या । श्री चन्दावाईजी को अध्ययन में ऐसी अगणित कठिनाइयो का सामना करना पडा, जिनसे जूझने की शक्ति विरलो में ही होती है ।

आरम्भ में धर्मशास्त्र और जैनसस्कृतसाहित्य का अध्ययन तो श्री वर्णी नेमिसागरजी द्वारा आरम्भ किया गया । आपने थोडे ही समय में रत्नकाण्ड श्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र, द्रव्य सग्रह, परीक्षा-मुख, न्यायदीपिका, चन्द्रप्रभुचरित आदि ग्रन्थो का अभ्यास कर लिया । शिक्षको का समुचित साहाय्य नही मिलने पर भी आप सतत अध्यवसाय मे सलग्न रहती । हिन्दी भाषा में अनूदित व्याकरणो और कोषो की सहायता द्वारा आपने लघुसिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन आरम्भ किया । व्याकरण शास्त्र के नियम जव गुरु के साहाय्य विना हृदयगम करने में कठिन मालूम पडे तो आपने परीक्षा के दिनो में वृन्दावन रहने का निश्चय किया । पितृगृह में पर्दाप्रथा कम भी थी, तथा वहाँ शिक्षक भी उपलब्ध थे ।

काशी के समान वृन्दावन भी सस्कृत शिक्षा का केन्द्र रहा है । अतएव आप दो-चार महीने वर्ष में वृन्दावन रहकर ही लघुसिद्धान्त कौमुदी और सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन करती रही । कुछ ही समय में आपने राजकीय सस्कृत कालेज काशी की पण्डित परीक्षा उत्तीर्ण कर ली, जो आज शास्त्रीय परीक्षा के समकक्ष कही जा सकती है । जैनदर्शन और धर्मशास्त्र का अध्ययन भी उत्तरोत्तर बढता जा रहा था । क्रमश सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकाण्ड, पञ्चाध्यायी, समयसार, लब्धिसार आदि ग्रन्थो का स्वाध्याय भी आरम्भ कर दिया गया । ज्ञानावरणीय गल-गल कर गिरने लगा, आत्मा विशुद्ध प्रतीत होने लगी । जैनन्याय के अध्ययन ने आत्मज्योति को प्रज्वलित कर दिया, जीवन मे ज्ञानदीप जल उठा और उसके आलोक से हृदय का कोना-कोना आलोकित होने लगा । भीतर-वाहर कही अन्ध कार का नाम भी नही था । ज्ञानदीप की लौ को वुँझाने मे प्रयत्नशील सभी शक्तियाँ वृज्ञ चूर्ण थी,

अत मार्ग के कांटे पुण्य बन गये थे। वर्षा ऋतु में जैसे जल किसी गड्ढे में एकत्रित होता रहता है, उसी प्रकार इनमें सिमिट-सिमिट कर ज्ञानराशि एकत्रित हो रही थी। स्याद्वाद न्याय के अध्ययन ने विविध दर्शनो से भी अभिज्ञ बना दिया था। द्रव्य, गुण, पर्याय और स्वभाव का यथार्थ अनुभव कर लिया था। आपकी अद्भुत प्रतिभा और प्रखर पाण्डित्य के समक्ष बडे-बडे विद्वान् भी मूक हो जाते है।

श्री बाबू देवकुमारजी अपनी अनुजवधू की इस विद्वत्ता से अत्यन्त प्रसन्न थे। उनकी महत्वाकाक्षा अपनी इस वधू को सर्वश्रेष्ठ विदुषी, समाजसेविका और साहित्यकार बनाने की थी। अपनी उक्त आकाक्षा को मूर्तिमान होते देखकर उन्हे जो हर्षानुभव हुआ, उसका आस्वादन कोई भुक्त-भोगी ही कर सकेगा। ज्ञानदीप के जलने से जीवन का अन्धकार विलीन हो गया, जिससे चन्दाबाईजी अब माँश्री बनने लगी। सम्यग्दर्शन या आत्मख्याति के उत्पन्न होते ही व्रत, उपवास, पूजा-पाठ, दान आदि सत्कार्यों की प्रवृत्ति निरन्तर बढने लगी। इन्द्रियो की शक्ति को जर्जरित करने के लिए तीस वर्ष की अवस्था से ही एक बार भोजन करना आरम्भ कर दिया। प्रज्वलित ज्ञानदीप की ज्योति जीवन मे दिव्य आलोक विकीर्ण कर मार्ग को प्रशस्त बनाने लगी।

निरखा इस धरतीतल को—

ज्ञानदीप के प्रज्वलित होते ही इस वसुन्धरा की ओर माँश्री चन्दाबाईजी की दृष्टि गई। सर्वत्र दुख और दैन्य देखकर उनकी अन्तरात्मा तिलमिला उठी। उन्होने देखा कि नारी सघन दुखो को अपने मे समेटे सिसकियाँ भर रही है। उसे कोई पूछनेवाला नही, वह पैर की जूती समझी जाती है, वासना-पूर्ति का साधन मानकर उसके साथ नाना तरह के पाशविक अत्याचार किये जा रहे है। क्या नारी इसी प्रकार नारकीय यातनाएँ भोगती रहेगी ? विचारो की अतल गहराई में प्रवेश कर उन्होने निश्चय किया कि सेवा के क्षेत्र में पदार्पण कर मै अवश्य ही नारी-जाति को सान्त्वना प्रदान करूँगी। इसी उद्देश्य को लेकर आपने प्रेरणा करके सन् १९०७ में आरा में ही श्री बाबू देवकुमारजी से एक कन्यापाठशाला की स्थापना करायी और स्वय उसकी देख-रेख करने लगी। बहुत दिनोतक दोपहर में स्वय एकाध घण्टे अध्यापन-कार्य भी करती रही। आप मुहल्ले की प्रौढ अवस्थावाली बहनो को श्री शान्तिनाथ मन्दिर पर बुलाकर स्वाध्याय कराती, नियम देती तथा श्राविका के कर्त्तव्य-मार्ग का परिज्ञान कराती। आपका यह सेवाव्रत तब तक चलता रहा, जब तक आरा नगर की समस्त बहनें साक्षरा और धर्मशास्त्राभिज्ञा न बन गई।

लोक-सेवा का अभ्यास पहले अपने नगर से ही किया। आपने वेदना-सतप्त नारी-जगत् के अज्ञान को दूर करने का निश्चय किया और ज्ञान का अलख जगाने के लिए सेवा के विभिन्न मार्गों को अपनाया। अनेक पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाओ में शामिल होकर महिलाओ को सगठित किया। अब आपका कार्यक्षेत्र आरा नगर और बिहार प्रान्त ही नही था, किन्तु समस्त आर्यावर्त था। आपने केवल जैनधर्मानुयायी शोकार्त महिलाओ के ही आँसू नहीं पोछे, किन्तु बिना किसी भेद-भाव के समस्त नारियो के आँसू पोछे, उन्हें सान्त्वना दी।

अ० भा० दि० जैन महिला-परिषद् की स्थापना कर उसके सगठन को सुदृढ बनाया। अनेक विधवा बहनो को जिनका आश्रय-नीड नष्ट हो चुका था, आजीविका से लगाया। अपाग, दुखी, रोगी

मानवो की तन-मन-धन से सेवा की। आपका द्वार सबके लिए सर्वदा खुला था, कोई भी दुखी अपनी आवश्यकतानुसार आपसे हर वस्तु पा सकता था।

इस बीसवी शताब्दी का वह दशक, जिसमें देश ने एक जोर की अगडाई ली और विदेशीय शासन-सत्ता की कडियाँ तडातड टूट रही थी, माँश्री की लोकसेवा मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यो तो इस दशक में सभी बुद्धिजीवी भारत माँ को बन्धन-मुक्त करने की चेष्टा कर रहे थे सभी का त्याग और बलिदान भारत के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के इतिहास में अपना निजी स्थान रखता है। पर माँश्री की मूक-सेवा देश के किसी भी नेता से कम नही। यद्यपि आप जेल नही गईं, पर आपने कितने भाई-बहनो को स्वातन्त्र्य-आन्दोलन में भाग लेने की प्रेरणा की है। सन् १९२० से आपने चर्खा चलाना आरम्भ किया तथा देश के स्वतन्त्र होने तक अपने इस अनुष्ठान को करती चली आई। खद्दर पहनने का नियम आज तक ज्यो का त्यो चला आ रहा है। खद्दर का प्रचार करना, काँग्रेस तथा देश के अन्य आवश्यक कार्यों के लिए चन्दा एकत्रित करना, अहिंसा-सत्य आदि सिद्धान्तो के प्रचार के लिए स्वय निबन्ध लिखना और उनका वितरण करना, देशभक्ति और देशसेवा की भावना को प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में जाग्रत करना प्रभृति अनेक कार्य माँश्री करती रही हैं। उनका प्रत्येक कार्य सर्व-जनहिताय और सर्वजन-सुखाय होता है। वे अपने किसी भी कार्य द्वारा किसीको भी कष्ट नही देना चाहती हैं।

भारतीय नारी अपनी सस्कृति के आदर्शानुसार पातिव्रत की रक्षा करती हुई अपने जीवन को सुखी और सम्पन्न बना सके, इसके लिए माँश्री सतत चेष्टा करती रहती है। आपने अपनी वाणी द्वारा अनेक अवसरो पर शिक्षा से दूर रहनेवाली नारी को सावधान किया है। सन् १९२१ में कानपुर मे सम्पन्न हुए भा० दि० जैन महिला-परिषद् के १० वें अधिवेशन के अध्यक्षपद से भाषण देते हुए आपने कहा—"अविद्या राक्षसी ने हमारी बहनो को मनुष्यत्व से वञ्चित कर रखा है। जो हमारी वृद्धा माताएँ नारी-शिक्षा की अवहेलना करती हैं तथा पढने-लिखने का कार्य केवल पुरुषो का समझती हैं, वे सच-मुच में अन्धेरे मे है। दिशा भूली हुई हैं, हमारा विश्वास है कि शिक्षा जितनी पुरुषो को आवश्यक है, नारियो को उससे कही अधिक। भावी सन्तान को सुयोग्य और शिक्षित बनाने का भार माताओ के ऊपर ही है। जब तक माताएँ ज्ञानी और आचरणनिष्ठ नही, सन्तान कभी भी ज्ञानवान् और सदाचारी नही बन सकती है। शिक्षित नारियाँ घर की देखभाल और प्रबन्ध जितने सुन्दर ढग से कर सकती हैं, अशिक्षिता नही। शिक्षा वह जादू है, जो थोडे ही समय मे मनुष्य को बदल देती है, पशु भी शिक्षा पाकर नम्र और सभ्य बन जाते हैं। अतएव घर की बहू-बेटियो को शिक्षित बनाना पुण्यकृत्य है। समाज का अतीत गौरव शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। नारियो मे स्वार्थ और कलह की भावना निसर्गत पायी जाती है। एक घर में अनेक पुरुष साथ-साथ रह सकते हैं, पर स्त्रियाँ जहाँ एक से अधिक हुईं वहाँ कलह आरम्भ हो जाता है। विषय और कषाय की प्रवृत्ति, जिसके कारण समस्त मानव-समाज त्रस्त है, शिक्षा द्वारा ही नियन्त्रित की जा सकती है। सत्शिक्षा द्वारा ही मानव शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक उत्थान कर सकता है। विधवा बहनो की समस्या का एकमात्र समाधान शिक्षा ही है। शिक्षिता बनकर ये बहनें आजीविका सम्पन्न करती हुई आत्मो-द्धार कर सकती हैं।"

पूज्या माँश्री नारी-समाज की सेवा केवल बातो से ही नही करती, जैसे कि आज कल के नेता केवल भाषण देकर ही अपनी सेवा की इतिश्री समझ बैठते है, वैसे वह मात्र भाषण नही देती, किन्तु सक्रिय सेवा के क्षेत्र में भाग लेती है। समाज को जब जिस प्रकार की आवश्यकता होती है, उस समय उसी प्रकार की सेवा करती है। शिक्षा, साहित्य, समाज और व्यक्ति की विभिन्न दृष्टिकोणो से नाना प्रवृत्तियो द्वारा सेवा करती आ रही है।

चल पड़ी आत्मगुण पाने को—

जीवन की दिव्य तपस्या ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करती है। लोक-सेवा का कार्य भी सम्यक् रूप से तभी सम्पन्न हो सकता है, जब आत्मा की अनुपम शक्तियाँ आविर्भूत हो जायँ। धर्मप्राण भारतवर्ष में साधना-सम्पन्न व्यक्ति के प्रति ही जनसाधारण की श्रद्धा हो सकती है। यो तो इस देश में सन्यासी और साधुओ की कमी नही है, पर ऐसे सन्यासी बहुत ही कम है जो जनसाधारण को अपना सकें, उनके सुख-दुख को हलका कर सकें। अत माँश्री भी आत्मगुणो को आविर्भूत करने के लिए सचेष्ट हो गयी। आगम का निरन्तर छ सात घटो तक स्वाध्याय करते रहने पर भी आत्मजिज्ञासा शान्त नही हो रही थी। कहावत प्रसिद्ध है कि 'गुरु बिन ज्ञान न होय' अर्थात् आत्मसाधक गुरु की सत्सगति बिना भेदानुभूति का होना कठिन-सा है। अतएव आप पूज्य श्री१०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज के पादमूल में जाकर आत्मशोधन करने लगी।

आत्मशोधन के लिए गुरु की सगति के अतिरिक्त तीर्थाटन भी एक प्रबल साधन है। तीर्थों के पवित्र-रज-कणो के स्पर्शमात्र से आत्मा के बन्धन टूट जाते है, ज्ञान का भाण्डार खुल जाता है और आत्मा विभाव-परिणति का त्याग कर स्वभाव-परिणति को ग्रहण करता है।

माँश्री को भी तीर्थयात्रा से विशेष रुचि है। आपने निर्वाण-भूमियो, तीर्थकरो के जन्म, निष्क्रमण, तप और केवलज्ञान से पवित्र स्थानो की क्षेत्रमगल मानकर अनेक बार वन्दना की है। इन यात्राओ में आप त्यागी, व्रती, मुनिराज, ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका आदि की सत्सगति से भी लाभ उठाती है। स्वाध्याय की अनेक शकाओ का समाधान भी ज्ञानियो के सहयोग से इन यात्राओ में ही कर लेती है। सर्वप्रथम आपने सन् १९०८ में श्री बा० देवकुमारजी तथा अन्य परिवार के सदस्यो के साथ दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा की। इस यात्रा मे श्री बा० देवकुमारजी पुरुषो मे और माँश्री स्त्रियो मे भाषण देती थी, आप लोगो के भाषणो का कन्नड मे अनुवाद श्री नेमिसागरजी वर्णी (भट्टारक चारुकीर्त्ति) करते थे। आप लोगो की प्रेरणा से दक्षिण भारत मे अनेक उल्लेख योग्य सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न हुए। इनमे से अधिकाश कार्य आज भी दूनी प्रगति के साथ सम्पन्न हो रहे है। श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा के स्थापन की प्रेरणा बाबू देवकुमारजी को दक्षिण भारत से ही प्राप्त हुई थी।

श्री बा० देवकुमारजी माँश्री के भाषण को छिपकर सुनते थे, क्योंकि अपनी अनुजवधू के भाषण को पर्दा-प्रथा की कट्टरता के कारण सामने बैठकर नही सुन सकते थे। इस यात्रा में श्रवण-बेलगोला, मूडबिद्री, मैसूर, बेंगलूर, कार्कल आदि विभिन्न स्थानो के मन्दिरो और मूर्त्तियो के दर्शन कर कर्मों की निर्जरा के साथ अपने अनुभव को बढाया।

इस यात्रा से वापस लौटकर गिरनार, सम्मेदशिखर, सोनागिर, पावापुर, राजगृह, पपौरा, चन्देरी, देवगढ, चम्पापुर, महावीरजी आदि भारत के समग्र जैनतीर्थों की कई वार वदना की है। इन यात्राओ द्वारा अर्जित लोकानुभव से लोकसेवा के कार्यों मे माँश्री को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

विकार सम्यग्दृष्टि को भी चलायमान कर देते है, अतएव माँश्री ने विकारो को दूर करने के लिए आचार्य शान्तिसागर महाराज के कटनी, ललितपुर, मथुरा, दिल्ली, उदयपुर, फलटन और प्रतापगढ मे सम्पन्न हुए चातुर्मासो के अवसर पर महीनो रहकर आगम के अभ्यास के साथ आत्म-साधना भी की है। इन स्थानो मे कायोत्सर्ग की साधना हिमाचल सी अचल, देह से विदेह और प्रोज्ज्वल, निराकुल, अविकल आनन्दानुभूति मे सलग्न हो सामायिक करती रही हैं। गुरु के समक्ष ध्यान का अभ्यास करने के कारण दुर्निवार वादलवेला, दुर्धर्ष शीतकाल, कँपानेवाली वायुएँ, प्रचण्ड ग्रीष्म एव वर्षाविन्दी आपके आत्मध्यान मे वाधक नही वनती, प्रत्युत साधक वनती है। जव आध्यात्मिक शक्ति का विकास हो गया तव सन् १९३४ मे आचार्यश्री से उदयपुर (आडग्राम) में कार्त्तिक सुदी पूर्णिमा को प्रातःकाल ९ वजे सातवी प्रतिमा के वृत ग्रहण कर लिए। यो तो माँश्री श्रावक के दैनिक षट्कर्मों का पालन सन् १९०६ से ही करती आ रही थी तथा अन्य आवश्यक व्रत-नियमो का भी पालन करती थी, परन्तु अव व्रतो को दृढ करने के लिए आचार्यश्री के समक्ष नियम ग्रहण कर लिया।

माँश्री की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विशुद्ध होती जा रही है। वे ढूँढ-ढूँढ कर क्रोध, मानादि शत्रुओ का परित्याग कर समतापूर्वक विनश्वर ससार की वास्तविकता को हृदयङ्गम कर रही है। आपकी प्रत्येक क्रिया एक सच्चे आत्मशोधक के रूप मे होती है। सातवी प्रतिमा के व्रत होते हुए भी आपकी साधना आर्यिका से किसी भी तरह कम नही है। आरम्भ, परिग्रह का त्याग करके भी सेवा के क्षेत्र मे आगे दिखलायी पडती हैं। आज हमारे देश को ऐसे ही सन्तो की आवश्यकता है जो ससार—शरीर-भोग से निर्विण्ण होकर जनता के दुख-दर्द को कम कर सकें। जो अहकार और ममकार से अलग हटकर विश्व के समस्त प्राणियो की विना किसी प्रलोभन के सेवा कर सकें, ऐसे ही महात्मा देश को हर क्षेत्र मे उन्नतिशील वना सकते है। महात्मा गान्धी ऐसे ही सन्त पुरुष थे, जो स्वय शुद्ध होकर विश्व को शुद्ध करना चाहते थे। हमारी माँश्री भी इसी प्रकार की साध्वी है जो समस्त विश्व को सुखी वनाने में सलग्न है। कन्या, तरुणी और वृद्धाओ को अपनी पुत्री समझती है, उनके अपार वात्सल्य का आश्रय भाण्डार सवके लिए समान रूप से खुला है। आज ६४ वर्ष की अवस्था में भी माँश्री के मुख-मण्डल पर ब्रह्मचर्य का वह दिव्यतेज विद्यमान है, जो मानवमात्र को पूत और प्रभावित किये विना नही रह सकता। अनेक दर्शक उनकी पावन चरण रज को अपने मस्तक पर आरोहण किये विना नही रह सकते।

निर्माण किये जिनमन्दिर—

लोकसेवा में प्रवृत्त हो जाने पर भी माँश्री ने अनुभव किया कि इस पचमकाल मे समीचीन निष्काम जिनभक्ति से वढकर अन्य पुण्यवन्ध का कारण नही है। धर्म की स्थिति जिनमन्दिरो पर ही अवलम्बित है। अर्हन्तो की प्रतिकृति वीतराग प्रशान्तमुद्रा ही आत्मविशुद्धि का एकमात्र साधन है। अतएव जिस स्थान पर आवश्यकता हो जिनालय का निर्माण करना चाहिए। यद्यपि श्री जैन-वाला-

विश्राम के विद्यालय-भवन के ऊपर एक भव्य जिनालय आपकी प्रेरणा से आपकी ननद श्रीमती नेमिसुन्दरजी ने स्थापित किया था, तो भी आपके हृदय में जिनमन्दिर-निर्माण की पावन-भावना अर्हनिश प्रादुर्भूत होती रही। एक दिन आपने निश्चय किया कि राजगृह के द्वितीय पहाड रत्नगिरि पर कोई भी दि० जिनालय नही है। यात्री पहाड पर ऊपर पहुँच कर उस स्थान पर दिगम्बर जैन-मन्दिर न होने से एक वडी कमी का अनुभव करते है। अतएव इस स्थान पर जिनालय निर्माण करना आवश्यक है। आपके उक्त निश्चय के अनुसार नवाव साहब को एक हजार रुपये नजराना देकर ऊँची जमीन खरीद ली गई और कुछ दिनो के पश्चात् मन्दिर वनने का कार्य आरम्भ हो गया। यद्यपि पीछे लोगो के भडकाने से मन्दिर वनवाने के लिए स्वीकृति देने में नवाब साहव ने आनाकानी भी की, जिससे मुकदमा भी लडना पडा। मुकदमा में हार जाने पर नवाव साहव को जमीन देनी पडी और जिनालय का कार्य आरम्भ कर दिया गया। लगभग दो-तीन वर्षों में भव्य मन्दिर तैयार हुआ और सन् १९३६ मे पचकल्याणक प्रतिष्ठा भी धूमधाम से सम्पन्न कर दी गयी। माँश्री ने इस मन्दिर के पूजन-पाठ के स्थायी प्रवन्ध के लिए कुछ रुपये अलग निकाल दिये है, जिनके ब्याज से मन्दिर के पूजन का प्रवन्ध किया जा रहा है।

आरा में ४० शिखरवद्ध जिनालयो के होते हुए भी मानस्तम्भ की कमी खटकती थी। आपने विचार किया कि आरा तीर्थभूमि है। नन्दीश्वर द्वीप जिनालय, सम्मेदशिखर जिनालय, सहस्रकूट जिनालय एव वाहुवली जिनालय ने तो आरा के गौरव में चार-चाँद लगा दिये है। यदि यहाँ एक भव्य कलापूर्ण मानस्तम्भ का निर्माण और कर दिया जाय तो आरा निश्चय तीर्थ बन जायगा। श्री सम्मेदाचल की यात्रा के लिए आनेवाले यात्री भाई आरा के दर्शन कर अपना अहोभाग्य मानते है। अतएव माँश्री ने सन् १९३९ में मानस्तम्भ की नीव डाली और एक ही वर्ष में रमणीय सगमरमर का भव्य मानस्तम्भ तैयार हो गया। इस मानस्तम्भ में वारह सौम्य मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनके दर्शन मात्र से आत्मा आनन्दविभोर हो जाती है। मैंने अव तक कई मानस्तम्भो के दर्शन किये है, जो इस मानस्तम्भ की अपेक्षा विशाल और विराट् है, पर इतने सौम्य नही। इसकी रमणीयता चित्त को आह्लादित किये विना नही रह सकती।

श्री जैन-वालाविश्राम स्थित वाहुवली स्वामी का मन्दिर भी आपकी प्रेरणा का ही फल है। उत्तर भारत में एकमात्र बाहुवली स्वामी की यह १३ फुट ऊँची प्रतिमा श्रवण-वेलगोला स्थित गोम्मट स्वामी की स्मृति जाग्रत किये विना नही रह सकती।

वालाविश्राम के सम्मुख वाहरी वगीचे में स्थित श्री शान्तिनाथ जिन-मन्दिर, जो कि सन् १९३४ के भूकप से जर्जरित हो गया था, का जीर्णोद्धार आपने श्रीमती चम्पामणिदेवी ध० प० स्व० वा० धरणेन्द्रचन्द्रजी को प्रेरणा देकर कराया। उक्त देवीजी एक नवीन जिनमन्दिर वनवाना चाहती थी, पर आपने उन्हें समझाया कि जीर्णोद्धार में भी उतना ही पुण्य है, जितना नवीन मन्दिर वनवाने में। अतएव आपकी सत्प्रेरणा पाकर वीस हजार रुपये लगाकर उक्त चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराया गया। साथ ही सहस्रकूट चैत्यालय का भी निर्माण किया। माँश्री ने प्रेरणा करके कितने ही जिनालयो का जीर्णोद्धार कराया है।

आपने पावापुर, गुणावा, कुडलपुर आदि तीर्थस्थानो में जिनबिम्ब भी विराजमान किये हैं। माँश्री उन्ही स्थानो पर जिनमन्दिर और जिनमूर्त्तियो की आवश्यकता बतलाती है, जहाँ जैनधर्मावलम्बियो का निवास हो। उनका विचार मूर्त्तियो की अपेक्षा मूर्त्तिपूजको को उत्पन्न करना है। आज पुजारियो का अभाव है, पूजा करने की प्रवृत्ति समाज मे नही के बराबर है, अतएव पुजारी उत्पन्न होने की आवश्यकता है।

गीत सुनाया इस धरती का—

साहित्य जीवन् की व्याख्या है। साहित्यकार अपनी रचना में विश्व के सुख-दुख, आशा-निराशा, भय-निर्भयता एव अश्रु-हास का स्पष्ट स्पन्दन अकित करता है। वह इस धरती का सन्देश सुनाता है, बिखरी और प्रताडित मानवता को बटोरता है और करता है स्वयभू बनकर इसी धरती पर स्वर्ग की स्थापना। माँश्री ने भी महिलोपयोगी साहित्य का सृजन कर चिर सत्य और चिरसुन्दर की आधारभूमि पर स्थित हो नारी को शिव–हित का सन्देश सुनाया है। आपने नारी के अन्तस्तल की उस वीणा का वादन किया है, जिसका मधुर रव आज भी समस्त दिशाओ में कर्णगोचर हो रहा है। सदियो से पददलित नारी आपके द्वारा रचित साहित्य में जीवनोत्थान और कर्त्तव्य की प्रेरणा पाती है। वह अपने जीवन की यथार्थता से अभिज्ञ बनकर दायित्व और अधिकार की भावना से परिचित होती है।

माँश्री कथा-कहानी, निबन्ध और कविताएँ लिखती है। जैन कन्याशालाओ में श्राविका के आचार-व्यवहार का परिज्ञान करानेवाले साहित्य का प्राय अभाव था। अतएव आपने इस कमी को दूर करने के लिए कई सुन्दर शिक्षाप्रद पुस्तकें लिखी हैं। उपदेश-रत्नमाला, सौभाग्य-रत्नमाला, निबन्ध-रत्नमाला, आदर्श कहानियाँ, आदर्श-निबन्ध और निबन्धदर्पण प्रभृति आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनका उद्देश्य जीवनोपयोगी लौकिक और धार्मिक विषयों पर प्रकाश डालना है। आपकी निबन्ध-विषयक रचनाओ के अध्ययन से महिलाओ के शरीर मे अटूट स्वास्थ्य, भुजाओ में विजयिनी शक्ति, हृदय मे साहस, और जीवन मे तपोमयी साधना के भाव उत्पन्न होते है। भारतीय सस्कृति और सभ्यता की गन्ध सर्वत्र मिलेगी।

बहुमुखी प्रतिभा होने के कारण आप लेखिका, सपादिका, कहानीकार और कवियित्री होने के साथ सफल पत्रकार भी हैं। सन् १९२१ से आज तक भा० दि० जैन महिला-परिषद् द्वारा सचालित 'जैन-महिलादर्श' नामक पत्र का सम्पादन बडी योग्यता के साथ करती आ रही है। इस पत्र की विशेषता यह है कि इसमें स्त्रियो द्वारा लिखित रचनाएँ ही स्थान पाती हैं, जिसके फलस्वरूप समाज मे आज अनेक अच्छी लेखिकाएँ और साहित्यकार उत्पन्न हो गयी है। आपके द्वारा लिखी गयी सपादकीय टिप्पणियाँ, सम्पादिका की डाक, प्रश्नोत्तर, शकासमाधान और सम्पादकीय निबन्ध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होते है। सामयिक राजनीति, धर्म, समाज से सम्बद्ध विषयो पर लिखी गयी टिप्पणियाँ भारतीय नारी-समाज के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है। अभी हाल मे प्रकाशित वर्ष ३१ अक १ मे आपका "भारतीय सस्कृति की यह अवहेलना कैसी" ? टिप्पणी नारी के कर्त्तव्य और दायित्व का परिज्ञान तो कराती ही है, साथ ही भारत-सरकार को, जो कि विदेशी सरकार के अनुकरण पर चल रही है,

कर्त्तव्य का बोध कराती है । कोई भी राष्ट्र अपनी प्राचीन सस्कृति की अवहेलना कर आगे नही बढ सकता है । सस्कृति ही जीवन है, यही राष्ट्र की रीढ है । अतएव सरकार को नारी के सतीत्व के साथ रूप-सौन्दर्य की प्रतियोगिता कर आर्य-सस्कृति को धक्का लगाने की चेष्टा नही करनी चाहिए । इसी प्रकार हिन्दू-कोड-बिल, हरिजन मन्दिर-प्रवेश और धार्मिक ट्रस्ट बिल पर ऊहा-पोहात्मक विचार व्यक्त कर जैन-नारी-समाज के समक्ष कर्त्तव्य मार्ग को निर्धारित किया है । मैटर को सजाना, हेडिंग देना, विचारो को प्रभावोत्पादक ढग से रखना आदि बातें 'महिलादर्श' से अवगत की जा सकती है । माँश्री इस धरती की बातो को ही जनता के समक्ष रखती है, वे आकाश-पाताल के कुलाबे नही बाँधती ।

पुस्तकें लिखने और पत्र-सपादन करने के अलावा जैन एव जैनेतरपत्रो, अभिनन्दन-ग्रथो मे आपके साहित्यिक, आचारात्मक, दार्शनिक और उपदेशात्मक निबन्ध निरन्तर प्रकाशित होते रहते है । प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में "धर्मसेविका प्राचीन जैन देवियाँ" शीर्षक खोजपूर्ण निबन्ध मे शिला-लेखो, ताम्रपत्रो एव प्राचीन साहित्य के आधर पर धर्म-प्रचार मे सहयोग देनेवाली प्राचीन जैन-नारियो का इतिहास आपने बहुत ही सुन्दर ढग से अकित किया है । इस निबन्ध के अध्ययन से नारी-समाज की प्राचीन कीर्त्ति-पताका का पता सहज में लग जाता है । इसी प्रकार वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ मे प्रकाशित 'जैन पुराणो के स्त्रीपात्र' निबन्ध जैन साहित्य और सस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । इसमे नारी-पात्रो के व्यक्तित्व की सुन्दर अभिव्यजना की गयी है । अजना और राजुल की मूक वेदना को इतने मर्मस्पर्शी ढग से अकित किया है, जिससे पाषाण हृदय भी करुणा से आर्द्र हुए बिना नही रह सकता । ये नारी-पात्र केवल विरह से ही सन्तप्त नही है, किन्तु आत्म-साधना की आँच में अपने समस्त विकारो को भस्म करते हुए दृष्टिगोचर होते है । इस प्रकार माँश्री लगभग तीन युगो से इस धरती का मधुर गीत सुना रही है । आपकी स्वरध्वनि में मिठास के साथ ओज भी है ।

तिमिर मिटाकर ज्योति जलाई—

दासत्व की शृखला मे जकडी, घूघट मे छुपी, अज्ञान और कुरीतियो से प्रताडित नारी की दशा पर आप निरन्तर विचार करती रहती है । आपका विश्वास है कि समस्त सामाजिक रोगो की रामबाण औषधि शिक्षा है । यदि नारी का अज्ञान दूर हो जाय तो निश्चय उसका दु ख दूर हो सकता है, वह स्वतन्त्र आजीविका प्राप्त कर धर्मसाधन करती हुई प्रतिष्ठा लाभ कर सकती है । खोये हुए आत्मगौरव को शिक्षा द्वारा ही पा सकती है ।

जिन विधवा बहनो की आज समाज मे नगण्य स्थिति है, जिनके साथ पशु जैसा व्यवहार किया जाता है, उनकी स्थिति भी शिक्षा के द्वारा ही सुधर सकती है । शिक्षित होकर ही नारियाँ जीवित मानवो की पक्ति मे स्थान पा सकती है । अतएव ऐसे विद्यामन्दिर स्थान-स्थान पर स्थापित होने चाहिए, जिनमे विधवा बहनो के साथ कुमारी कन्याएँ भी शिक्षा पा सकें ।

अपने उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए माँश्री ने प्रेरणा करके अनेक कन्यापाठशालाएँ स्थापित करायी है । आपके करकमलो द्वारा इन्दौर की [illegible] पाठशाला, अजमेर की कन्यापाठशाला

तथा रोहतक के श्राविकाश्रम का उद्घाटन हुआ है। माँश्री नारियो को उच्चकोटि की सास्कृतिक शिक्षा देने के लिए एक सर्वांगपूर्ण शिक्षामन्दिर सन् १६१० से ही खोलना चाहती थी। आपकी इस विचार-धारा के स्निग्ध-सीकर आपके कुटुम्बियो और हितैषियो पर भी पडे, पर कुछ निर्णय न हो सका।

सन् १६२१ में आप अपने परिवार के साथ श्री सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए गईं। समग्र पहाड की वदना करने के उपरान्त श्रीपार्श्वप्रभु की टोंक पर आकर माँश्री ने सब लोगो से नियम लेने को कहा। आदेशानुसार श्री बा० निर्मलकुमारजी, श्री बा० चक्रेश्वरकुमारजी ने भगवान् के समक्ष नियम लिये तथा श्री बाबू निर्मलकुमारजी ने कहा—"बहूजी (चाचीजी), आप भी यह नियम ले लीजिए कि एक वर्ष में महिलाश्रम की स्थापना कर दी जायगी"। नियम ग्रहण कर आप लौट आई और इसी वर्ष नगर से दो मील की दूरी पर धनुपुरा गाँव के अपने ही बगीचे में अपने परिवार के सहयोग से श्री जैन-बाला-विश्राम (जैन-महिला-विद्यापीठ) की स्थापना की। आपकी प्रेरणा से आपकी ननद श्रीमती नेमिसुन्दर बीबी ने लगभग बीस हजार रुपये लगाकर विद्यालय-भवन और उसीके ऊपर लगभग दस हजार रुपये लगाकर चैत्यालय का निर्माण कराया।

इस सस्था में उच्चकोटि के लौकिक शिक्षण के साथ धार्मिक शिक्षण भी दिया जाता है। माँश्री का विश्वास है कि जो शिक्षा आत्मज्ञान से रहित है, वह जीवन के लिए मगलमय नहीं हो सकती, क्योकि धन के बिना मनुष्य ऊँचा उठ सकता है, विद्या के बिना बडा बन सकता है, पर आत्म-बल के बिना सर्वथा हीन और पगु है। आत्मबोध–रहित शिक्षा पाखण्ड है। अतएव धार्मिक शिक्षा प्रत्येक छात्रा को लेना अनिवार्य है। यह सस्था असत् से सत् की ओर, तिमिर से ज्योति की ओर, और मृत्यु से अमरत्व की ओर महिला समाज को ले जा रही है। इसमें पजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिल-नाड, कर्णाटक, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, काठियावाड आदि स्थानो की विधवाएँ, कुमारी कन्याएँ एव उपेक्षित या परित्यक्त अथवा विद्याव्यसनी सधवाएँ शिक्षालाभ ले रही हैं। यह सस्था ३१ वर्षों से नारी-जगत् की सेवा कर रही है।

आरा-पटना रोड पर नहर के पुल से कुछ ही कदम आगे बढने पर धर्मकुज नामक स्थान मे यह विद्यामन्दिर स्थित है। यहाँ पहुँचते ही धवलवसना, हसवाहिनी और वीणावादिनी सरस्वती आगन्तुको का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत रहती है। छात्रावास और विद्यालय-भवन की विशेषता ईट-चूने से बनी भव्य इमारत में नही है, किन्तु रक्त-मास से निर्मित साध्वी माँश्री के व्यक्तित्व के आलोक से आलोकित होनेवाली अगणित बालाओ के उत्थान मे है। माँश्री ने इस सस्था मे अपना तन, मन, धन, सब-कुछ लगा दिया है। चाँदी के टुकडो मे आपके त्याग का मूल्याकन नही किया जा सकता है। सक्षेप मे यह सस्था जैन-समाज की महिला-शिक्षा-संस्थाओ में अद्वितीय है। इनमें न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न और शास्त्री तक की शिक्षा दी जाती है। छात्राएँ प्राइवेट मैट्रिक की परीक्षा भी देती हैं। मिड्लि तक नियमत शिक्षा दी जाती है। सस्था का अन्तरग और बहिरग सारा प्रबन्ध माँश्री के ऊपर ही है। यो आपकी अनुजा श्रीमती प० व्रजबालादेवीजी भी सस्था के कार्यों मे सहायता पहुँचाती हैं, पर समस्त दायित्व आपके ऊपर ही हैं।

मांश्री ने अपने दृढ अध्यवसाय द्वारा जैन महिला-समाज के तिमिर को दूर कर ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित की है । आज भी अनेक बालाएँ अपनी जिज्ञासा को शान्त कर विवेकिनी, सदाचारिणी और सम्यक्त्ववती बन रही है ।

अक्षुण्ण रहे संस्कृति हमारी—

जैन-संस्कृति अक्षुण्ण रहे—इस बीसवी सदी का भौतिक वातावरण उस पर अपना प्रभाव न डाल सके, इसके लिए मांश्री सतत चेष्टा करती रहती है । समाज में जब विधवा-विवाह के प्रश्न को लेकर एक हल-चल मची थी, स्थितिपालक और सुधारक पार्टियां जोर पकड़ रही थी, उस समय मांश्री ने पुरातन सस्कृति की महत्ता बतलाते हुए वक्तव्य प्रकाशित किया था । आपने बतलाया था कि पातिव्रत ही नारी के लिए अमूल्य निधि है, इसे खोकर भारतीय नारी जीवित नहीं रह सकती । इन्द्रियजन्य सुख कभी भी तृप्ति का साधक नही बन सकता है । जो समाज मे विधवा-विवाह का प्रचार करना चाहते है, वे धर्म और समाज के शत्रु हैं , जैन-सस्कृति से अपरिचित है, उन्हें ब्रह्मचर्य की महत्ता मालूम नही । सुधारको को समाज—सुधार करना है तो उन्हें ऐसी क्रान्ति करनी चाहिए, जिससे विधवाएँ उत्पन्न ही न हो । बालविवाह, वृद्धविवाह, जो कि विधवाओ की सख्या बढा रहे है, तुरत बन्द होने चाहिए । शिक्षा, जो कि नर और नारी दोनो के लिए ही विकास का साधन है, मिलनी चाहिए । सुधारक रोग का इलाज नही करना जानते है, वे रोगी को विष देकर मार डालना चाहते है । अतएव समाज को सावधान हो जाना चाहिए । बहनो से हमारा यह अनुरोध है कि वे इस अवसर पर दृढ रहें, ससारिक प्रलोभनो में पडकर अपने धर्म को न भूलें । यह शरीर तो अनेक बार प्राप्त हुआ है, पर धर्म का मिलना कठिन है । अतएव धर्म और सस्कृति के महत्त्व को समझकर सुधारको के चक्कर मे न पडे ।

मांश्री के उक्त वक्तव्य ने जैन समाज को एक बल प्रदान किया । सुधारको को अपनी गलती समझ में आ गई और उक्त आन्दोलन रुक गया । समाज की एक बडे सकट से रक्षा हो गई ।

अभी हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल को लेकर समाज में एक हल-चल मची । श्री १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने बम्बई धारा-सभा में उपस्थित उक्त बिल के रद्द हो जाने तक अन्नाहार का त्याग कर दिया । पूज्य आचार्य महाराजकी विदुषी शिष्या उक्त मांश्री ने जैन सस्कृति पर अचानक आये हुए इस धर्मसकट को दूर करने के लिए खूब दौड-धूप की । आपने अपने कई सम्पादकीय वक्तव्यो द्वारा जैन महिलादर्श में उक्त बिल को रद्द करने की आवश्यकता पर जोर दिया तथा संगठित होकर जैन-समाज को सामूहिक प्रयत्न करने के लिए ललकारा । आप इसी उद्देश्य को लेकर कई बार स्वय दिल्ली गईं और वहाँ राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद तथा प्रधानमन्त्री प० जवाहर लाल नेहरू से भेंट की और उक्त बिल के सम्बन्ध में यथार्थ निर्णय करने के अधिकार की माँग की । आपने दृढतापूर्वक निर्भय हो कहा कि जैनधर्म स्वतन्त्र धर्म है, यह वस्तु—स्वभाव का विवेचन करता है । इसके प्रवर्तक कोई देव नही है, यह अनादिकालीन है । सर्वदा समय-समय पर तीर्थंकरो का जन्म होता रहता है । ये तीर्थंकर अपनी साधना द्वारा स्वय शुद्ध, बुद्ध और हितोपदेशी बनकर पथभ्रष्ट

जनता को स्वभाव का उपदेश देते हैं। हिन्दूधर्म के अन्तर्गत जैनधर्म को कभी नही मानाजा सकता है। यह सर्वथा स्वतन्त्र है, अतएव हिन्दुओ के लिए बने कानून जैनो पर लागू नही होने चाहिए।

हरिजन जैनमन्दिरो को पूज्य नही मानते, आज तक कभी भी उन्होने जैन-मन्दिरो मे जाकर दर्शन, पूजन नही किये हैं और न उनके आराध्यो की मूर्त्तियाँ जैनमन्दिरो में हैं। अतएव हरिजन मन्दिर-प्रवेश बिल जैनो पर लागू नही होना चाहिए।

मांश्री की उक्त बातो का राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री पर गहरा प्रभाव पडा, फलस्वरूप हरिजन मन्दिर-प्रवेश बिल से जैनमन्दिर पृथक् कर दिये गये। इस प्रकार जैन-सस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आप सर्वदा प्रयत्नशील रहती हैं। मुनिधर्म की इतनी श्रद्धालु हैं कि प्रतिवर्ष महीना-दो महीना मुनियो को अवश्य आहार दान देती हैं। चातुर्मास प्राय मुनियो के निकट व्यतीत करती है। दि० जैन-सस्कृति के विरुद्ध कही से भी जब आवाज सुनाई पडती है, उस समय आप उसका प्रबल विरोध करने के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं। स्थानकवासी और तारणपन्थियो ने मूर्तिपूजा के विरोध मे जब ट्रैक्ट छपवाये थे, तब आपने सयुक्तिक उनका मुँहतोड उत्तर दिया था। आगम विरुद्ध जो भी लिखता है, आप उसका उत्तर देती हैं। आगमानुकूल जैन-सस्कृति के सरक्षण में आप सदा तत्पर रहती हैं। कल्याणकारी दि० जैनधर्म का प्रचार अधिक हो सके, इसके लिए आप सदा चेष्टा करती रहती हैं।

१९४८ में सर्चलाइट मे एक समाचार छपा था कि जार्ज वर्नार्ड शॉं 'जैन मत का उत्थान' नामक पुस्तक लिख रहे हैं, इस कार्य में योगदान देने के लिए उन्होने महात्मा गान्धी के पुत्र देवदास गान्धी को बुलाया है तो आपने विचार किया कि इस कार्य मे सहयोग देने के लिए किसी अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता जैन विद्वान् को अवश्य भेजना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए आपने तत्काल जैन समाज के श्रीमानो और धीमानो के पास पत्र लिखे। आपने निकटवर्ती व्यक्तियो से कहा कि जैन समाज से सहयोग न भी मिले तो भी मैं अपने पास से खर्च देकर किसी अच्छे धर्मशास्त्रज्ञ विद्वान को भेजूँगी, जो जैनधर्म की अच्छी जानकारी डा० शॉं को करा सके।

मांश्री जैनधर्म और जैन-सस्कृति की अक्षुण्णता के साथ उसके प्रचार और प्रसार की भी सतत चेष्टा करती रहती हैं। आपके द्वारा प्रोत्साहन और प्रेरणा पाने के कारण ही आपकी दोनो बहनें श्रीमती केशरदेवीजी और श्रीमती ब्रजवालादेवीजी ने विधिवत् जैनधर्म धारण कर लिया है। आप दोनों भी जैनधर्म की सच्ची अनुयायिनी, धर्मात्मा और आत्मजिज्ञासु है। गृहस्थ के दैनिक षट्-कर्मों को सम्पन्न किए बिना आप दोनो जल भी ग्रहण नही करती हैं। दोनो ही नियमों का पालन कर रही हैं। परिवार के अतिरिक्त अन्य अनेक व्यक्तियो को भी जैनधर्म पालने की प्रेरणा आपसे प्राप्त हुई है। अनेक वैष्णव परिवार जैनधर्मानुयायी बन गये हैं तथा जैनमन्दिर और जिनबिम्बोका निर्माण भी किया है।

नीलकंठ हो मेरा—

पूज्या मांश्री की भावना सदा यह रहती है कि विश्व का सब दुख चाहे मुझे प्राप्त हो जाय, पर विश्व सुखी रहे। जगत् के सभी जीव-जन्तु आनन्दित रहें, कोई किसी को कष्ट न दे, वैर,

पाप, अभिमान ससार से दूर हट जायें। आपकी भावना महाभारत मे प्रतिपादित राजा रन्तिदेव की भावना से बहुत कुछ अशो में मिलती-जुलती है। कहा जाता है कि राजा रन्तिदेव बडा ही दानी, परोपकारी और समाजसेवी था। राजा ने अपनी सारी सम्पत्ति दान में लगा दी थी, जिससे वह स्वय दरिद्र बन गया था। शारीरिक श्रम करके राजा अपनी आजीविका करता था। एक समय राजा के देश में दुष्काल पडा, परन्तु राजा ने अपनी सेवा, त्याग और बलिदान के द्वारा प्रजा की इतनी सेवा की, जिससे प्रजा को दुष्काल का तनिक भी कष्ट नही हुआ।

राजा रन्तिदेव के त्याग और बलिदान की चर्चा सर्वत्र फैल गई। विष्णुभगवान के दरबार में भी यह चर्चा पहुँची। विष्णुभगवान् भक्त की परीक्षा लेने के लिए आये। राजा कई दिनो का भूखा था और आज किसी प्रकार आधा सेर सत्तू पा सका था, राजा ने इस सत्तू को तीन भागोमें बाँट दिया, एक भाग स्वय अपने लिए, दूसरा रानी के लिए और तीसरा पुत्र के लिए रखा। इतने में भिक्षुक का रूप धारण कर भगवान्, रन्तिदेव के द्वार पर आये और आर्त्तस्वर में कहने लगे—बच्चा! आठ दिनो से कुछ भी खाने को नही मिला है, भोजन दो। राजा ने अपना हिस्सा भिक्षुक को दे दिया। अतृप्त भिक्षुक बोला—"राजन्! जिस प्रकार ग्रीष्मर्तु में तपी हुई भूमि में थोडा-सा पानी पड जाने से और अधिक गर्मी उठती है अथवा तीव्र प्यास लगने पर थोडा जल पी लेने से, प्यास और बढ जाती है, उसी प्रकार इस अन्न के खाने से मेरी क्षुधा और बढ गई है, मेरी वेदना अधिक बढती जा रही है, जिससे मेरे प्राण निकलनेवाले है।"

भिक्षुक के इन वचनो को सुनकर राजा ने रानीवाला हिस्सा भी दे दिया। इतने पर भी भिक्षुक तृप्त नही हुआ, अत पुत्रवाला हिस्सा भी दे देना पडा। इस आहार को पाकर विष्णुभगवान् बहुत प्रसन्न हुए और राजा रन्तिदेव को दर्शन देकर कहने लगे—वत्स! मै बहुत प्रसन्न हूँ, तुम बडे भारी परोपकारी हो, वरदान मांग लो।

राजा नम्रीभूत होकर बोला—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्पराम् अष्टर्द्धियुक्ताम् अपुनर्भवा वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम् आर्तिस्थिता येन भवन्त्वदु.खा ॥

अर्थात्—मै वैकुण्ठवास नही चाहता, स्वर्ग-मोक्ष नही चाहता, किन्तु विश्व के समस्त दु खी प्राणियो का दु ख मुझे प्राप्त हो जाय, जिससे सभी दु खी जीव सुखी हो जायें।

इस उदाहरण में चाहे सार हो या नही, पर इतना सत्य है कि माँश्री की भावना उपर्युक्त राजा रन्तिदेव की ही है। वे दु खी अवलाओ के दुख का स्वय पान कर उन्हें सुखी बनाना चाहती है। वे स्वय विश्व के दु ख का विषपान कर ससार को अमर बना देना चाहती है। उनकी भावना निम्न है—

नील कण्ठ हो मेरा!
तिमिर मिटे, हो मधुर सवेरा!
किरणो के उज्ज्वल प्रकाश से—

घर-घर नव-जीवन बरसे,
युग-युगान्त तक धरती पर हो—
  सद्‌भावो का सुखद बसेरा !
  तिमिर मिटे, हो मधुर सवेरा !
भगे कलुष अज्ञान-गहन चिर,
नारी की चेतना जगे फिर,
जन-जन का मन-हृदय बने रे,
  त्याग-तपस्या-व्रत का डेरा !
  तिमिर मिटे, हो मधुर सवेरा !
सुखी रहें सब तृण-तृण, कण-कण,
सुखी रहें, चेतन निश्चेतन,
  जग के दुख का 'गरल' पान कर
  अविकल 'नीलकण्ठ' हो मेरा !
  तिमिर मिटे, हो मधुर सवेरा !

—नेमिचन्द्र शास्त्री

चन्दाट्ठगं
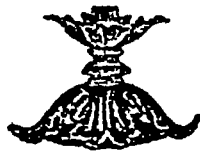
(चन्द्राष्टकम्)

तवोपूग्रं, व्वग्रे निट्ठं, साहूं सद्धा दग्रावई ।
खमासारं परात्थज्जं वन्दे 'चन्दं' सिमादरं ।।
(तप पूता, व्रते निष्ठा, साध्वी श्रद्धा-दयावतीम् ।
क्षमासारा, परार्थज्ञा, वन्दे 'चन्द्रा' श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—तपस्या से पवित्र, व्रत-साधना में सलग्न, साध्वी, श्रद्धामयी, दयावती, क्षमासार और परहिते रत 'चन्दावाई' माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

वीर धम्मसमासत्तं धम्माचरणतप्परं ।
धम्मप्पिग्रं धम्ममई, वन्दे 'चन्दं' सिमादरं ।।
(वीरधर्मसमासक्ता, धर्म्माचरणतत्पराम् ।
धर्मप्रिया, धर्ममयी, वन्दे 'चन्द्रा' श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—'वीर' धर्म की उपासना मे सलग्न, धर्माचरण में तत्पर, धर्मप्रिया और धर्ममयी 'चन्दावाई' माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

पजावईसुं दिव्वासुं रक्तभूग्रं सईगतिं ।
भान्ताणं ग्रालोगमईं वन्दे 'चन्द' सिमादरम् ।।
(प्रजावतीसु दिव्यासु रत्नभूता सतीगतिम् ।
भ्रान्तानामालोकमयी वन्दे 'चन्द्रा' श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—दिव्य महिलाओ में रत्नस्वरूपा, सतीशिरोमणि, भूली-भटकी नारियो के लिए ज्योति-स्वरूपा 'चन्दावाई' माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

वालवेहव्व दड्ढान्तम्माणसे 'वीर' साहणं ।
साहेज्जइं चिरं णित्तं वन्दे 'चन्द' सिमादरं ।।
(वालवैधव्यदग्धान्तर्मानसे वीरसाधना—
साधयन्ती चिरान्नित्य वन्दे 'चन्द्रा' श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—बालवैधव्य-सदग्ध मन को 'वीर' की साधना में प्रवृत्त कर निरन्तर आध्यात्मिक और आत्यन्तिक उत्थान की ओर जानेवाली 'चन्दाबाई' माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

समणोपासिगं भत्तं दिक्खिअं बह्मचालिणं ।
जेणाअमेहिं णिस्नादं वन्दे जेणं सिमादरम् ।।
(श्रमणोपासिका भक्ता, दीक्षिता ब्रह्मचारिणीम् ।
जैनागमेषु निष्णाता वन्दे जैना श्रीमातरम् ।।)

अर्थात्—श्रमणोपासिका, भक्ता, दीक्षिता, ब्रह्मचारिणी एव जैन आगमो में निष्णात जैन माँश्री को प्रणाम करता हूँ ।

❀ ❀ ❀

पचालिणीय सिक्खाए, साहित्तस्य विहाइणी ।
पबोहिणीय नाईण माआ जिवदु णो चिर ।।
(प्रचारिणी च शिक्षाया , साहित्यस्य विधायिनी ।
प्रबोधिनी च नारीणा माता जीवतु नश्चिरम् ।।)

अर्थात्—शिक्षा को प्रचारित करनेवाली, साहित्य की रचयित्री तथा नारी-जगत् को प्रबुद्ध करनेवाली हमलोगो की माँश्री दीर्घायु हो ।

❀ ❀ ❀

देसधम्मसमाजाणं सेइआ उपगालिणी ।
सम्पादिआ लेखिआय माआ जिवदु णो चिरं ।।
(देश-धर्म-समाजाना सेविका उपकारिणी ।
सम्पादिका लेखिका च माता जीवतु नश्चिरम् ।।)

अर्थात्—देश, धर्म और समाज की सेविका, परोपकारिणी, सम्पादिका तथा लेखिका हमलोगो की माँश्री दीर्घायु हो ।

❀ ❀ ❀

धम्मउज्जे धनुउरे आराक्खे नयरोहमे ।
मणे निहाइ जेणेशं, विहाइ जिणवन्दण ।।
हिआत्थ जेणबालाण विज्जापीठस्य जम्मआ ।
जाइओ कलुणादीणा माआ जिअदु णो चिरं ।।
(धर्मकुञ्जे धनुपुरे आराख्ये नगरोत्तमे ।
निधाय हृदि जैनेश विधाय जिनवन्दनम् ।।
हितार्थं जैनबालाना विद्यापीठस्य जन्मदा ।
जातीयकरुणादीना माता जीवतु नश्चिरम् ।।)

अर्थात्—आरा शहर के धनुपुरा महल्ले के धर्मकुज में—भगवान् "जिन" को हृदय में सस्थापित कर, जैनबालाओ के हित के लिए, जैनबाला-विद्यापीठ की स्थापना कर जातीय करुणा की साक्षात् कान्तिमती मूर्त्ति बनी हुई हमलोगो की माँश्री दीर्घायु हो ।

अइंचणापज्जाणस्स सद्धालुस्स पुडस्सणो ।
सद्धाइ हि गेण्ह एसो सद्धे ! सद्धाभिणन्दणं ।"
(अकिचनापज्ञानस्य श्रद्धालो सन्ततेर्मम ।
श्रद्धया हि गृहाणैतत् श्रद्धे ! श्रद्धाभिनन्दनम् ।।)

अर्थात्—हे श्रद्धे ! अकिंचन और अबोध परन्तु श्रद्धालु मुझ सतान के इस श्रद्धाभिनन्दन को श्रद्धा से स्वीकार करो ।

—श्री रञ्जन सूरिदेव, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न
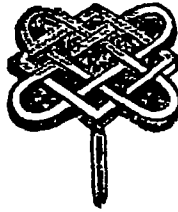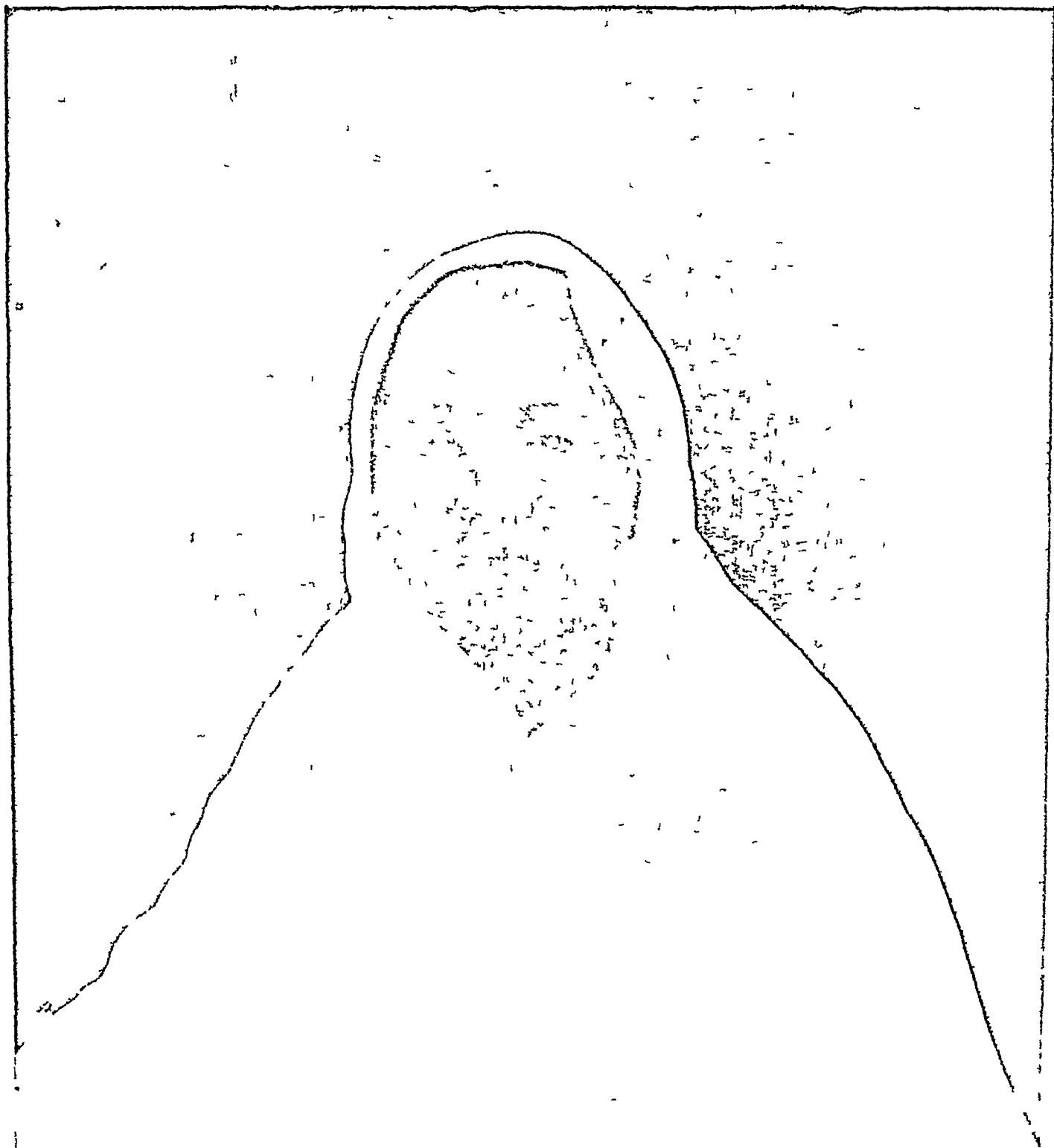
श्री ब्र० पं० चन्दाबाई जी का ५० वर्ष की अवस्था का चित्र

श्री स्व० बा० नारायणदासजी, वृन्दावन
(पूज्य पिता श्री ब्र० प० चन्दाबाई)
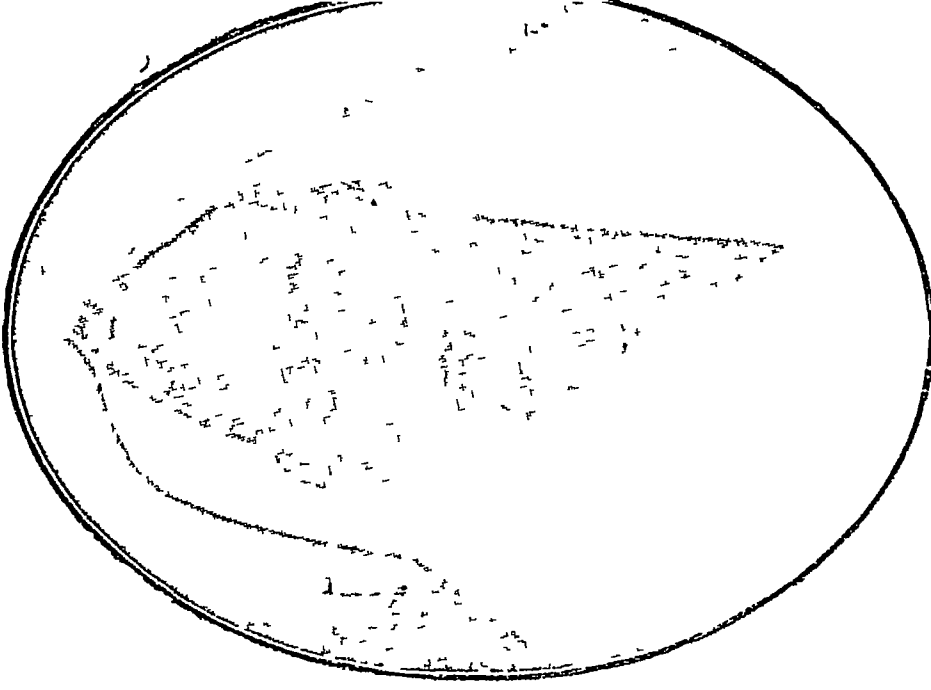
श्रीमती स्व० राधिकादेवी, वृन्दावन
(मातेश्वरी श्री ब्र० प० चन्दाबाई)

माँ चन्दाबाई

नारी की गरिमा का पूर्ण विकास माता के रूप मे होता है। मातृत्व में सभी कोमल और सुकुमार भावो का समावेश है। कोमल और मधुर भावो से समाविष्ट मातृत्व का यह गौरवमय रूप-सार्वयुगीन और सार्वदेशिक है। यह चिरन्तन है, अविनाशी है। सभी सभ्य जातियो और सभी धर्मावलबियो ने मातृत्व के इस कोमल और मधुर रूप का दर्शन किया है, उस पर अपने को न्योछावर किया है।

हमारी सस्कृति मातृत्व में मानव हृदय की सर्वोच्च गरिमा का दर्शन करती है। माँ अनेक रूपो में अपनी सतान के प्रति ममता प्रदर्शित करती है, उसका कल्याण-साधन करती है। वह जगज्जननी के रूप में सृष्टि करती है, लक्ष्मी के रूप में वैभव देती है, सरस्वती के रुप मे विद्या देती है, शक्ति के रूप में बल और ओज का सचार करती है और असुर-नाशिनी के रूप में रक्षा करती है। आज भी हम माँ के इन रूपो को भूल नही सके है।

सतान को जन्म देनेवाली नारी 'माँ' कहलाती हैं, सतान का पालन करनेवाली नारी 'माँ' कहलाती है, सतान को विद्या-दान कर सर्वगुण-सम्पन्न करनेवाली नारी 'माँ' कहलाती है और सतान का मगल-साधन करनेवाली नारी 'माँ' कहलाती है। आज घोर अविद्या और अज्ञान के युग मे सतान को जन्ममात्र देनेवाली माताओ की कमी नही है, उनका पालन-पोषण करनेवाली माताओ की भी कमी नही हैं। अपनी सतान का मगल-साधन करनेवाली माताओ की सख्या भी कम न होगी। किन्तु, दूसरो की कोख से उत्पन्न हुई सतान को विद्या-दान करनेवाली माताएँ कितनी हे? सबो की सतान को अपना समझकर उनका कल्याण करनेवाली माताएँ कहाँ मिलेंगी?

इन प्रश्नो के उठते ही हमें माँ चन्दाबाई का ध्यान हो आता है। माँ चन्दाबाई का ध्यान आते समय हम यह भूल जाते है कि वे स्वर्गीय बाबू देवकुमार जैन की अनुजवधू, बाबू निर्मलकुमार जैन की चाची, अथवा बिहार प्रान्त की आरा नगरी की निवासिनी, या जैन-बाला-विश्राम की सचालिका है। हमारे आगे जो बात ज्वलन्त रूप में रहती है, वह यह है कि वे 'माँ' हैं – वह माँ, जिनमें माँ का स्वार्थ नही है, किन्तु ममता है, वह माँ, जिसमें माँ की सकीर्णता नही है, किन्तु विशालता है, वह माँ, जिसमें आधुनिक युग की माता की अविद्या नही है, किन्तु विद्या का पावन प्रवाह है, आचरण की परम पवित्रता है, धर्म के प्रति परम निष्ठा है, कर्त्तव्य के प्रति सतत जागरुकता है।

माँ चन्दाबाई उन नारियो की परम्परा में है, जिन्होने धर्म और कर्त्तव्य-भावना की अभ्युन्नति के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया है, अपने आप को समर्पित कर दिया है। वे भारत की धर्मप्राण, त्यागमूर्त्ति, मातृत्वस्वरूपिणी नारियो की परम्परा में हैं। मातृत्वमूर्त्ति चन्दाबाई त्याग की प्रतिमा है। उच्च और सम्पन्न कुल मे जन्म लेकर भी उन्होने जिस पावन-पथ को अपनाया है, वह सर्वथा हमारी उच्च सस्कृति के अनुकूल है। महाकवि कालिदास के शब्दो में —

मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैं स्वम "ङ्ग ग्लपयन्त्य" र्हनिशम् ।
तप शरीरैं कठिनैरुपार्जित तपस्विना दूरमधश्चकार सा ।।

माँ चन्दाबाई तपस्विनी हैं विद्यादात्री तपस्विनी, सेवापरायणा तपस्विनी और कल्याणमूर्त्ति तपस्विनी। वे व्रताचारिणी हैं उन्होने नारी-समाज-सेवा का व्रत उठाया है, मानव-सतान-सेवा का पावन अनुष्ठान ग्रहण किया है।

आज, जब हमारी नारियो के आगे मातृत्व का प्राचीन आदर्श धूमिल होता जा रहा है, माँ चन्दाबाई नूतन आदर्श उपस्थित कर रही हैं। विलासितापूर्ण समाज को, प्रतिहिंसापूर्ण समाज को, आचरण-हीन समाज को वे एक नया सदेशा दे रही हैं कथन से नही, अपने आचरण से, अपने कर्म से।

सम्पन्नता के गृह में तपस्या का दीपक एक अलौकिक ज्योति प्रसारित कर रहा है। इस ज्योति ने ऐश्वर्य का दर्प चूर कर दिया है, लक्ष्मी को नतमस्तक बना दिया है। यह तपस्या साधारण तपस्या नही, एक नारी की तपस्या है, एक माँ की तपस्या है। यह एक माँ की साधना है। प्रत्येक नारी को इस तपस्या, इस साधना के दर्शन करने चाहिए, प्रत्येक माता को इस आलोक से अपना अन्तरतम आलोकित करना चाहिए।

माँ चन्दाबाई माँ मात्र है वे जैनियो की माँ है, हिन्दुओ की माँ हैं, सबो की माँ है। वह उसी माँ का लघुरूप है, जिनके सबध में कहा गया है -

या देवी सर्वभूतेषु क्षान्तिरूपेण सस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनम ।

—त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०

उन्नत व्यक्तित्व

हिमालय की हिमधवल गगन स्पर्शी चोटियो का जब-जब स्मरण ग्राता है, हृदय श्रद्धा से नगराज के प्रति नत हो उठता है। हिमालय की करुणा जब ग्रगणित निर्झरो ग्रौर सरिताग्रो के रूप मे विगलित होती है, हमारे देश की ग्रन्यथा बजर भूमि हरित शस्यो की उर्वर जननी बन बैठती है। हिमालय उत्तर दिशा में जाने कितनी दूर ग्रपनी विराटता को लेकर खडा है।

. .. ग्रौर जब मै माँश्री से भेंट करता हूँ, मुझे लगता है मै हिमालय से उदान्त व्यक्तित्व के पास ही खडा हूँ। माँ ने भी ज्ञान की जो जल-राशि वहाई है, उसके स्पर्शमात्र से विभिन्न जनपदो की वालिकाएँ प्रान्तीय सकीर्णता तथा ग्रज्ञान की बजर भूमि से उठकर ग्रपने हृदय में सरस ज्ञान की निर्झरिणी वहाती हैं। किन्तु माँ ने हिमालय के व्यक्तित्व की उँचाई को चुरा लिया है, वह स्वय हिमालय हैं ऐसा नही कहा जा सकता। हिमालय को देखकर सभ्रम होता है, हममें भय का सचार होता है, हम लघुता का ग्रनुभव करते हैं, किन्तु माँ का दर्शन ! हमारे हृदय में तरल श्रद्धा भर जाता है, हमें ग्रभय वरदान देता है, हमें लघुता से महत्ता की ग्रोर, क्षुद्रता से उदात्तता की ग्रोर ले जाता है।

माँ के व्यक्तित्व की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होने निष्कप दीपशिखा की भाँति ग्रपने जीवन को तिल-तिल कर जलाया है—मात्र इसलिए कि ससार को—भारतीय नारी-समाज को—ग्रखड प्रकाश मिल सके। विजन वन-प्रान्तर के ग्रन्धकार को चीरते हुए किसी शहीद के स्मारक पर जब एकाकी दीप मुसकराता है तब उससे प्रकाश की जो शुभ्र रश्मियाँ विकीर्ण होती हैं, वैसे ही दीप महोत्सव का दृश्य माँ का चरित्र हमारे सामने रखता है। . ग्रन्तर इतना ही है कि माँ स्वय यहाँ जीवित शहीद हैं ग्रौर ग्रपनी ही कामनाग्रो की समाधि पर वह पवित्रता की दिव्य रश्मियाँ बिखेर रही है।

माँ—एक भारतीय नारी जिसे पुरुष समाज ग्रवला की सज्ञा से विभूपित कर ग्रपने को गौरवान्वित समझता है। लेकिन माँ ने ग्रपनी सुप्त शक्तियो को उद्‌वुद्ध किया। किस कठिन साधना से उन्होने सामाजिक कुरीतियो का विरोध करते हुए शिक्षा प्राप्त की, इसकी जब-जब कल्पना करता

हूँ—तब-तब यह सोचने लगता हूँ, ज्ञानार्जन के लिये समय और उम्र का कोई प्रतिबन्ध नही—आवश्यकता है मात्र लगन की, सच्चे अध्यवसाय की, अज्ञान-निद्रा से जाग्रत होने की। 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत' और जिस साधक की आँखो के सम्मुख यह उद्-बोधन—वाक्य झूलने लगेगा वह निश्चय ही साधना के उच्चतम स्तरो तक पहुँचने मे समर्थ हो सकेगा, इसमें तनिक सन्देह नही। माँ के सामने ऐसी कोई उदात्त प्रेरणा अवश्य रही होगी।

लेकिन देश में तो ऐसी बहुत-सी महिलाएँ हैं, जिन्होने कॉलेज की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त कर ली है, फिर भी उनके स्मरण से हमारे हृदय मे कोई स्पन्दन क्यो नही होता ? हम उनके प्रति कृतज्ञता का अनुभव क्यो नही करते ? इसके पीछे एक कारण है। माँ ने शिक्षा प्राप्त की, वे स्वय जगी, केवल इसलिए नही, कि जगकर वे अन्यान्य शिक्षित महिलाओ की तरह अपने अशि-क्षित बहनो के ऊपर हँसें, बल्कि इसलिए कि अज्ञान के अन्धकक्ष में सोयी हुई इन बहनो को भी जगा सकें। . और माँ के चरित्र का यह सामाजिक पक्ष ही उन्हें अन्यान्य शिक्षित भारतीय महिलाओ से एक पृथक् भूमि पर बिठा देता है। . लेकिन नही, एक और विशिष्ट अन्तर है—देश की अन्य शिक्षित बहनो का दृष्टिकोण बहुत दूर तक भारतीय परम्परा से विच्छिन्न हो जाता है। दूसरी ओर माँ ने शिक्षा में, साधना में, अपनी भारतीय सस्कृति की मर्यादा और परम्परा को सर्वथा अक्षुण्ण रखा है। यही नही, उन्होने भारत की म्रियमाण नारी सस्कृति को एक नव दीप्ति प्रदान की है। 'जैनबाला विश्राम', उनका जीवन्त कीर्त्तिस्तम्भ है और अशेष शताब्दियो तक उनका जयगान इस विश्राम को केन्द्र मान कर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक गुजरित होता रहेगा।

माँ के त्याग के कारण आरा जैसे नगर में ऐसी विशाल और विशिष्ट सस्था का निर्माण सम्भव हो सका है। अनेक दीन-दुखियो को और निराश्रित बहनो को उन्होने आर्थिक साहाय्य देकर इस जीवन में अर्थ के सच्चे सदुपयोग का मार्ग प्रदर्शित किया है। भगवान महावीर ने अपरिग्रह का जो ज्वलत लोक-सग्रही लक्ष्य भारतीय समाज के सम्मुख रखा था, माँ उसी लक्ष्य की प्राप्ति में सदा सलग्न रहती हैं।

सत्य और अहिंसा के द्वारा वह जीवन की कठिन से कठिन समस्याओ से मुक्ति पा लेती हैं। सत्यवादी अहिंसक के चरित्र की सबसे बडी विशेषता यह होती है—बहुमुखी मितव्ययिता—आचरण की, व्यवहार की, भाषण की। गाँधी जी कितना कम बोलते थे। माँ के भाषणो की सक्षिप्तता उनकी अपनी विशेषता है। वे जो कुछ बोलती हे, उसमें सत्य की तीखी धार रहती है और वह उनके हृदय की गहराइयो से निकलता है। अपने प्रवचनो में वे अपनी पाडित्य का प्रदर्शन भी नही करती। हृदय की अभिव्यक्ति चुने हुए साधारण शब्दो के माध्यम से वे कर देती है—न किसी प्रकार के अलकरण का मोह उनमें है और न किसी प्रकार से बातो को लपेटने का बाह्याडवर।

माँ की अहिंसा कायरजनो की अहिंसा नही है उनमे भोजपुर का वीरत्व भी प्रचुर मात्रा मे है। पिछले बयालीस के आन्दोलन में जब गोरो का दमन-चक्र गाँव को, अपनी शक्ति से अपरि-

चित निरीह जनता को रौंदता हुआ आरा नगर की ओर चला आ रहा था तब माँ ने जिस धैर्य के साथ आश्रम की बालिकाओ को नगर-स्थित एक सुरक्षित भवन में पहुँचा दिया, वह उनके मानसिक शौर्य का परिचायक है ।

आज के शिक्षित ससार मे ज्ञान तथा आचरण के बीच गहरी खाई खुदी हुई है, 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' के दर्शन तो सडको पर, गलियो और बाजारो मे श्वेत हसो के रूप मे हर समय हो सकते है लेकिन ऐसे व्यक्ति जिन्होने ज्ञान को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है, जिन्होने शिक्षा को आचरण में ढाल दिया है, बडी कठिनाई से मिल पाते हैं । माँ उन विरल रत्नो मे से है जो यह मानते है कि आचरणहीन ज्ञान पाखड का ही दूसरा नाम है । फिर उनके अनुसार वह ज्ञान भी निरर्थक है, जिसके द्वारा मनुष्य में चरित्र-बल नही आ पाता । अग्रेजी शिक्षा पर प्रकारान्तर से उनका यही आरोप है कि उसके द्वारा हमारी नैतिकता का विकास अवरुद्ध ही रह जाता है ।

सेवा और सादगी माँ के जीवन का मूलमत्र है । उनका समस्त जीवन सेवा की उज्ज्वल कहानी रहा है । उनके वस्त्रो की शुभ्रता दूर ही से उनकी सादगी की घोषणा करती है । उनकी आवश्यकताएँ कम हैं और कम-से-कम में वे अपना खर्च चला लेना चाहती हैं ।

गाँव के मेरे आँगन में तुलसी की एक वेदिका है । सध्या समय घी का एक लघु दीप वहाँ जल उठता है । तुलसी का वह पौधा अपनी दिव्य सरल सुरभि वातावरण मे बाँटने लगता है । वह कितना सुपरिचित है, पर कितना महान् । माँ को देखते ही घर की तुलसी की वह स्निग्ध छाया स्मरण हो आती है । . स्वर्ग या निर्वाण क्या किसी परलोक की वस्तु है, नही उन्हें तो मनुष्य अपने सदाचार के द्वारा इसी जीवन मे पा सकता है । ऐसे ही साधको में माँ की गणना की जायगी । . . वे तो सहज विश्वास के साथ कवयित्री के साथ कह सकती है—

पथ मेरा निर्वाण बन गया ।
प्रति पग शत वरदान बन गया ॥

माँ के चरणो मे मेरी विनम्र श्रद्धाजलि ।

—प्रो० शिवबालक राय, एम० ए०

शाप को वरदान तुमने कर लिया !

शाप को वरदान तुमने कर लिया !
रो रही थी जिन्दगी जो आँसुओ में,
आँसुओ को गान तुमने कर लिया !!

१

सोचती होगी नियति, 'आहत हुईं तुम,
मूर्त्त, मानो, वेदना का व्रत हुईं तुम,
अब शिथिलता-व्याप्ति, सूनापन निरतर,'
मौन को आह्वान तुमने कर लिया !
शाप को वरदान तुमने कर लिया !!

२

स्नेह कुठित रह गया था, राह दे दी,
कर्म को निज भावना की थाह दे दी,
कह चुके थे सब कठिन पत्थर कि जिसको,
मूर्त्ति को भगवान तुमने कर लिया !
शाप को वरदान तुमने कर लिया !!

३.

रह गया हारा-थका-सा चाँद ऊपर,
कौन 'चन्दा' दूसरा यह आज भू पर ?
ज्योत्सना-सी शुभ्र 'निजता' प्रस्फुटित कर,
नर्क को निर्वाण तुमने कर लिया !
शाप को वरदान तुमने कर लिया !!
रो रही थी जिन्दगी जो आँसुओ में
आँसुओ को गान तुमने कर लिया !!!

—तन्मय बुखारिया, एम० ए०

लोकोत्तर मातृत्व

स्याद्वाद विद्यालय काशी का भव्य भवन अनायास ही अपने दाता स्व० बाबू देवकुमारजी रईस आरा तथा उनके घर के प्रति दर्शक को श्रद्धावनत कर देता है। सन् '२८ में जब मैं विद्यालय का लघुतम विद्यार्थी होकर काशी आया तो गगातीर पर स्थित इस विशाल भवन की महत्तम छत पर खेलते-पढते हुए मेरे में, एक जिज्ञासा तब तब सिर उठाती थी जब-जब उसके मध्य में स्थित बाबू प्रभुदास के जिनमन्दिर पर पडती मेरी दृष्टि उसके शिखर तक चली जाती थी। सन् '२९ के प्रारम्भ में जब साथियो के साथ मैं भी कलकत्ता परीक्षा देने जा रहा था तो एक भाई ने कहा कि 'आरा उतरोगे ?' इसे सुनते ही मेरी सुपुप्त जिज्ञासा जाग पडी। मैंने साथियो से आग्रह किया कि एक दिन पहिले चला जाय और जाते समय ही आरा उतरा जाय। फलत परीक्षार्थियो के दो दल बने और मैं 'जाते समय आरा उतरनेवाले' दल के साथ आरा पहुँचा।

प्रात काल दर्शनादि से निवृत्त होकर जब हम वन्दना के लिए निकले तो पीछे के द्वार से देवाश्रम (कोठी) पहुँचे। चैत्यालय के दर्शन करने के बाद कौतूहलवश कोठी के विविध सुसज्जित कमरो को देखा, और देखा वहाँ पर भी लगे स्व० बाबू देवकुमारजी के तैलचित्र को। उस घर की राजसी व्यवस्था और सात्विक वातावरण को देखकर मन में आया "आप काशी-नरेश से किस बात में कम है ? यदि उन्होने काशी विश्वविद्यालय को भूमि दी थी तो आपने भी तो एक विद्यालय को भूमि तथा भवन दिया था ?" इन विचारो में विभोर जब मैं बाहर जाने को ही था तो एक साथी ने कहा 'बडे बाबू' बुला रहे है। मैं बिना विचारे ही उधर चला गया जिधर साथी जा रहे थे और हमलोग उस पुरुष-चन्द्र के सामने पहुँच गये जिसकी विद्यालय-विषयक अभिरुचि तथा चिन्ता उन प्रश्नो से फूट पडी थी जो उन्होने हमारे साथी छात्र-स्थविर प० परमानन्दजी से किये थे। अत मैं इनसे अधिक प्रभावित हुआ था और बाहर आते ही मैंने साथियो से जाना कि यही बाबू निर्मलकुमार रईस थे तथा साथियो से कहा कि बाकी दर्शन फिर करेगे, पहिले 'विश्राम' चलें। वह अवश्य दर्शनीय होगा, अन्यथा 'बडे बाबू' वहाँ जाने को क्यो पूछते।

हमारे सस्ते-ऊँचे-तेज इक्के धनुपुरा की तरफ जिस वेग मे जा रहे थे उसी वेग से मेरी कल्पना तब तक देखे विद्यालयो और कन्याशालाओ को मानस चित्रपट पर लाकर पूछती थी—"विश्राम ऐसा होगा ?" इस चलचित्र का अन्त न था। 'विश्राम' के ऊपर इसी वश द्वारा निर्मित 'दि० जैन सिद्धान्त भवन' ऐसी सरस्वती की मूर्ति अवश्य होगी, यह कल्पना आते-आते ही इक्का एक बन्द लोहे के फाटक के सामने रुक गया। 'आप कहाँ से आये है, दर्शन करेगे?' पहरेदार के इस प्रश्न ने स्वप्न तोड दिया और मैं साथियो के पीछे-पीछे फाटक में घुस गया। मेरी सब कल्पनाएँ काफूर हो गयी।

यह विश्राम तो सबसे विलक्षण था। इसका विद्यालय, उसके ऊपर स्थित जिनालय, छात्रालय, उद्यान, क्रीडास्थल, अधिष्ठात्री कुटीर–सब ही अपने ढग के थे। दर्शन करके जब कक्षागृहो का चक्कर लगा रहे थे तब सुन पडा–'शास्त्रीजी, ये लोग बनारस विद्यालय से आये हैं इनसे कहिये, ये छात्राओ से पूछें।' पल-भर में परीक्षार्थियो को परीक्षक बनानेवाले को जानने के लिए ग्रीवा घुमाते ही देखा 'कुन्देन्दु तुषार हार धवला श्वेत वस्त्रावृता' माता चली आ रही हैं। वे निकट आयी, प्रणाम किया और सबके पीछे दुबक कर बैठ गया। मेरे साथी छात्र-स्थविर परीक्षा लेने मे व्यस्त थे और विश्राम के मुख्याध्यापक प० के० भुजबली शास्त्री विविध छात्राओ का परिचय देने मे। मेरा मन 'भवन से विश्राम पहुँचते पहुँचते शरीर तथा चैतन्यापन्न इस सरस्वतीमाता के विषय में सैकडो प्रश्न पूछना चाहता था पर सकोच क्या, लज्जावश न मैं एक भी बात पूछ सका और न सुन सका। इस प्रथम दर्शन के समय की एक ही बात याद है और वह है "ये मेरी पत्नी है" शास्त्रीजी ने एक छात्रा का परिचय कराते कहा था। इस वाक्य ने भी विश्राम, माताजी और अन्य बातो के कारण उत्पन्न आश्चर्य को बढाया ही था। हमलोगो ने छात्राओ को फल बँटवाने के लिए कुछ रुपये दिये और चल दिये। मार्ग में पता लगा कि माताजी ही बाबू निर्मलकुमारजी की चाची तथा इस विश्राम की सस्थापिका विदुषी-रत्न पण्डिता चन्दाबाई जी हैं। इस अति सक्षिप्त परिचय ने जिज्ञासा को प्रज्वलित ही किया पर भविष्य का भरोसा करने के सिवा चारा ही क्या था।

तेरह वर्ष बाद सन् '४२ की गर्मी में एक मित्र की बरात मे आरा पहुँचा। मध्याह्न से मध्यरात्रि तक का समय प्रमुख वैवाहिक विधियो के साक्षी रूप से बीता। सोते समय पू० भाई० प० कैलाशचन्द्रजी ने कहा–'ब्रह्मचारिणी प० चन्दाबाईजी कल आश्रम आने के लिए कह गयी है।' यद्यपि छात्रावस्था समाप्त हुए तीन वर्ष हो चुके थे। '४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह में उत्तर प्रदेशीय काग्रेस के मत्री का कार्य तथा जेल-जीवन के कारण सकोच भी उचित मात्रा को प्राप्त हो चुका था तथापि महिला सस्था में जाते थोडी हिचक तो थी ही। फलत विश्राम और उससे भी बढकर उसकी सस्थापिका सचालिका विषयक जिज्ञासा का सवरण करना ही पड रहा था। भाई की उक्त सूचना ने अपनी वर्षों पुरानी जिज्ञासा का समाधान करने का अवसर दिया और हम कल प्रात विश्राम चलकर ही नवनिर्मित गोम्मटेश की पूजा करेगे यह निश्चय करके हम सो गये।

अगले दिन प्रात हम विश्राम पहुँचे। वहाँ के प्रशस्त एव प्रशान्त वातावरण को देखकर मन में आया कि यह शिक्षा सस्था ही नही अपितु 'मालिनी तीराश्रम' है। अन्तर इतना ही है कि कुलपति कण्वऋषि के स्थान पर यहाँ कुलमाता गौतमी (ब्र प चन्दाबाई) है। फलत इस नारी तप-स्थली पर दुष्यन्तो के सचार की सभावना ही नही है। यही कारण है कि यहाँ की स्नातिकाएँ 'ब्रह्म-विवाह' करके अपने शिक्षाकुल की गुणगरिमा को बढा रही है। वे आदर्श-पुत्री, धर्मपत्नी तथा सफल माता होकर समाज तथा देश के उज्ज्वल भविष्य की पुष्ट नीव को डाल रही हैं। दूसरी ओर वे विधवा बहनें हैं जिनकी दृष्टि से उनकी अधिष्ठात्री के रूप में चलता-फिरता आदर्श क्षणभर के लिए भी ओझल नही होता है। वे सुनती है कि—उनकी 'बडी माजी' (ब्र प चन्दाबाईजी) बाल-विधवा हैं। ये जन्मना वैष्णव हैं। जैनाचार तथा ज्ञान उनका सासरे में ही प्रारम्भ हुआ था। यह कहना कि वे सासरे के जैन वातावरण मे ही प्रभावित होकर जैनी बन गयी पूर्ण सत्य न होगा। सच तो यह है कि ज्या-

ज्यो इनका अध्ययन बढता गया त्यो-त्यो परीक्षा-प्रधान माताजी की श्रद्धा वैदिक मान्यताओ से हट कर जैन दृष्टि पर बढती गयी । स्वय शिक्षिता होकर उन्होने अनुभव किया कि वैधव्य महाव्रत ज्ञान तथा साधना के बिना नही निभ सकता । यही भावना थी जिसने इस पवित्र आश्रम की नीव माता चन्दाबाई जी से रखवायी ।

सबसे बडी आश्चर्यकर बात तो यह है कि ज्यो ज्यो आश्रम का कार्य बढता गया, त्यो त्यो माताजी की ज्ञान-सयम साधना भी बढती गयी है । इस प्रकार आश्रम तथा माताजी का निकट परिचय पाने के बाद मनमें आया "धन्य है ये बहनें और कन्याएँ, जिन्हे ऐसी सेवापरायण—विदुषी—व्रती माता की छाया सर्वदा प्राप्त है ।"

तीन वर्ष बाद सन् '४५ की होली पर पुन एक अन्तर्जातीय बरात में आरा जाने का मौका आया । लोक मूढता के किले पर स्थितिपालक प्रहरियो का जमघट था । फलत जाति के नाम पर बलि होने वाले धर्म तथा यौवन को बचाना सभव न हुआ । और यह बरात होली का स्वाग ही रही । माताजी से मिलने की इच्छा ने सकल्प का रूप इसलिए धारण किया कि अबकी बार मैं स्व० बाबू देवकुमारजी के कनिष्ठ पुत्र बाबू चक्रेश्वर कुमार, बी एस-सी, बी एल के निकट परिचय मे आया । मैंने देखा कि सगे भतीजे होने पर भी इनको अपनी 'छोटी बहू' के प्रति अगाध आदर तथा श्रद्धा है । "घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध" लोकोक्ति यहाँ बिलकुल भ्रान्त कैसे हुई ? इस शका का निराकरण तब हुआ जब अगले दिन मै प० नेमिचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न, आदि के साथ विश्राम वन्दनार्थ तथा माताजी से मिलने गया । उस विवाह की चर्चा आ ही गयी जिसकी स्वाग-बरात में मैं गया था । अपने बडो के सामने विवाद या अधिक बोलना बुन्देला शालीनता के विरुद्ध है फलत मैं मौन ही रहना चाहता था, किन्तु पूछे जाने पर भी उत्तर न देना अशिष्टता होती, अत मैंने साक्षा-द्दृष्टा की हैसियत से वस्तुस्थिति का वर्णन कर दिया । माताजी पूरी कथा सावधानी से सुनती रही । उनकी प्रशान्त मुख मुद्रा पर उस समवेदना की छाया स्पष्ट थी, जिसके अधिकारी वह वर-वधू थे जिनकी सुकुमार भावनाओ और सम्मान की रूढि-अन्ध समाज ने होली की थी । बोली "ठीक है, प्रोफेसर साहेब ? आपके जीवन में नया कार्य प्रारम्भ हुआ, आप युवक हैं, इसलिए आप इसे होली का 'कोष्टली स्वाग' कह कर टाल सकते है । मेरी दृष्टि दूसरी है । हमारा अहिंसा-दया का दावा कब चरितार्थ होगा । कितनी निर्दयता हुई । बिचारी लडकी-लडके का क्या हाल होगा ? मेरी 'प्रतिमा' मुझे इस विषय में चुप किये है । पर अन्धपरम्परा ही धर्म नही है यह तो कह ही सकती हू ।" कितनी वेदना और विवेक इन शब्दो में था ? आखिरकार अध्ययन और अनुभव में इतना ही तो अन्तर है । मेरे मन ने गोम्मटेश का ध्यान करते हुए कहा—"माताजी ! आप शतायु हो । आपका साधारण प्रयत्न समाज को जितना जगा सकता है उतना तयोक्त सुधारको के महा आन्दोलन सैकडो वर्ष में नहीं कर सकते है ।"

'४५ की जुलाई के द्वितीय सप्ताह में आरा कॉलेज के आचार्य का तार मिला—"यदि इति-हास की प्राध्यापकी अभीष्ट हो तो प्रार्थनापत्र भेजे ।" बेकारी के जमाने मे 'विद्रोही' का यह आह्वान कैसा ? कुछ समझ मे न आया । पू० भाई के सिवा अपने राजनैतिक गुरुभाइयों मान्यवर

बावू सम्पूर्णानन्द जी तथा श्रीप्रकाशजी से मत-विनिमय किया। इन दोनों ने भी पू० भाई के मत का समर्थन किया। और मै जुलाई के तीसरे सप्ताह मे आरा जा पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर पता लगा कि मुझे काशी से खीचने की योजना के सूत्रधार श्री बावू चक्रेश्वरकुमारजी तथा प० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य को माताजी का भी समर्थन प्राप्त था। 'विधिरेव तान् कुरुते यान्नर नैव चिन्तयति।' इस घटना से समझ मे आया। मेरे जीवन का यह १५ मास का प्रक्षेपक जहाँ अब अनेक दृष्टियो से बडा ही महत्वपूर्ण और मधुर है वही इसका इसलिए भी विशेष महत्व है कि इस अन्तराल में मुझे माताजी को बडे निकट से जानने का मौका मिला।

विहार का आर्द्र-वात-बहुल जलवायु मेरे पित्तप्रवण सस्थान के अनुकूल नही पडा, पेट खराब हो गया, शरीर दुर्वल हो गया। इस प्रसग से मुझे जो स्नेहसिक्त उपदेश और आग्रह माताजी से मिले, उन्होने बताया कि यह हृदय कितना विशाल है। यही कारण है जो ये एक, दो नही सैकडो की सफल माता बन सकी है।

मैने देखा कि माताजी को सस्था-निर्माण मे ही दक्षता प्राप्त नही है अपितु आप व्यक्ति-निर्माण में भी पारगत है। श्रीमती ब्रजबाला देवी को समाजसेवा के क्षेत्र में लाना माताजी का ही काम है। इसमें सन्देह नही कि ब्रजबाला देवी की सफलता अपनी योग्यताओ के बल पर ही हुई है किन्तु 'गोविन्द को बताने वाले गुरु' की बराबरी कौन कर सकता है। माताजी आश्रम की सब-कुछ होते हुए भी 'जल में भिन्न कमल है', क्योकि ब्रजबालादेवी ऐसी उनकी सहायिका है। सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि माताजी की आत्मकथा यह बतलाती है कि किस प्रकार एक बाल विधवा विषय-वासना के झकोरो को टालती हुई आदर्श विदुषी तथा समाजनेत्री हो सकती है। समाज की विविध प्रवृत्तियो की प्रेरक तथा प्रतिष्ठापक होकर भी अनासक्त और व्रती रह सकती है। और वैधव्य ऐसे अभिशाप को भी लोक-कल्याण के वरदान में परिवर्तित करने वाली कवियो की अबला कितनी सबला है।

निरवद्य मातृत्व की प्रतिष्ठापक माताजी चिरायु हो और उनकी सेवा-साधना वर्द्धमान हो।

काशी विद्यापीठ
बनारस

— प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, एम० ए०
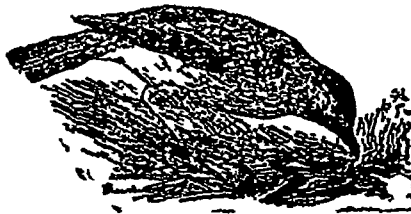
धर्मशीला श्राविका-रत्न

इस बुद्धिवाद के अतिरेकपूर्ण युग में शिक्षित व्यक्तियो मे पवित्र श्रद्धा तथा सयम के प्रति आकर्षण शून्य सरीखा होता जा रहा है। वाणी से चरित्र (Character) रक्षण के बारे में अगणित बार उच्चारण होता है, किन्तु उसका जीवन से तनिक भी सपर्क नही रहता है। महापुराण में भगवज्जिनसेन स्वामी ने लिखा है कि सम्राट् भरतेश्वर ने अपने स्वप्नो में एक यह भी स्वप्न देखा था, कि एक वृक्ष है, जो बिल्कुल शुष्क हो गया है। उसका फल भगवान ऋषभदेव ने बताया था, कि आगे पुरुष तथा स्त्री-समाज में सदाचार में शिथिलता उत्पन्न होगी। उनके महत्वास्पद शब्द ये है —

पुसा स्त्रीणा च चारित्रच्युति शुष्कद्रुमेक्षणात् ॥७६,४१ ॥

आज यही बात दृष्टिगोचर हो रही है। आध्यात्मिक अधियारी के इस समय में ऐसे सौभाग्यशाली नर या नारी बिरले है, जिनका लक्ष्य समीचीन श्रद्धामूलक ज्ञान और सदाचार का पालन हो। सपन्न परिवार से सम्बन्धित व्यक्तियो की प्रवृत्ति तो धर्म से और विमुख होती जाती है, ऐसे विशिष्ट जड-वाद से जर्जरित जमाने में उनका दर्शन दुर्लभ है, जो अपने अध्यात्मवाद के प्रदीप को प्रदीप्त रखते हुए मार्ग-भ्रष्ट लोगो का पथ-प्रदर्शन करते हैं।

ऐसी विशिष्ट आत्माओ मे पण्डिता चन्दाबाईजी का नाम आदरपूर्वक लिया जा सकता है। अपने पतिदेव बाबू धर्मकुमारजी का छोटी अवस्था में ही निधन होने के उपरान्त इनने 'धर्म' को ही अपना जीवनाधार मानकर उसके लिए अपने आपको उत्सर्ग कर दिया। इसीसे आर्तध्यान को बढाने वाली सामग्री को उन्होंने कुशलतापूर्वक आत्मकल्याणकारी और धर्मध्यान का केन्द्र बना लिया। वैष्णव परिवार में जन्म धारण करने वाली इन महिला के हृदय मे जिन वाणी माता की उज्वल और आदर्श भक्ति का अद्भुत विकास हुआ। इनने स्वाध्याय के द्वारा ग्रथो का मार्मिक बोध प्राप्त किया और सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण कर इस दुर्लभ मनुष्यजन्म की विशिष्ट निधि से अपनी आत्मा को समलकृत किया। देव, गुरु, शास्त्र मे इनकी प्रगाढ भक्ति है। १०८ चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज के समीप इनने अनेक व्रत धारण किए, और उनको अनेक बार आहार दान देने का अपूर्व लाभ लिया।

सन् १९४८ के अगस्त मे आचार्य शान्तिसागर महाराज ने बम्बई सरकार द्वारा हरिजन-मदिर प्रवेश कानून को जैनियो पर लागू करने के प्रतीकार निमित्त लगभग ८० वर्ष की अवस्था में

अन्न त्याग कर दिया। आचार्यश्री का अभिप्राय यह है कि हरिजन वर्ग हिन्दू समाज का अग है। जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है, अत जैन-मदिर के सम्बन्ध मे अन्य लोगो को अधिकार देने से भविष्य मे अनिष्ट की आशका है। आगम भी इसका विरोधी है। इन सम्बन्ध मे स्वच्छदता के भक्तो द्वारा विविध बाधाओ के उपस्थित किये जाने पर भी पडिताजी ने गुरु और धर्म की भक्तिवश अधिक श्रम और उद्योग किया, ताकि आचार्य महाराज की प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाय। धर्म और उसके आयतनो पर आपत्ति आने पर चन्दाबाईजी और इनके धार्मिक परिवार ने सदा समाज का सहयोग दिया है। मार्ग दर्शन भी किया है।

अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है कि पहले रत्नत्रय की ज्योति द्वारा अपने जीवन को प्रकाशित करो, पश्चात् अन्य कुमार्ग रतो को सत्पथ में लाने का प्रयत्न करो। पडिताजी ने ऐसा ही कार्य किया है। उनके पवित्र व्यक्तित्व के कारण आरा का जैनबाला विश्राम आज समस्त भारत की उच्च कोटि की महिला सस्थाओ मे गिना जाता है। एक दिन राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने हम से चर्चा करते हुए आरा के बालाविश्राम और वहा पर विराजमान भगवान् बाहुबलि की मनोज्ञ मूर्ति का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया था।

दैव दुर्विपाक से प्राप्त वैधव्य को सयम से सयुक्त कर पडिताजी ने इन युग के कुशील समर्थक व्यक्तियो के समक्ष अपूर्व आदर्श उपस्थित किया है, उनके समीप रह कर कितनी बहिनो ने उनसे ज्ञान और सदाचरण का प्रकाश पा अपनी आत्माको उज्वल न किया है? आज समस्त भारत में पण्डिताजी के सदगुणो और समाज सेवा का सन्मान के साथ स्मरण किया जाता है। आर्य परपरा में इनकी प्रगाढ श्रद्धा और भक्ति है। आज विधवा बहिनो को जहाँ असयम की ओर गिराने का रास्ता हमारे भ्रष्ट-चरित्र भाई दिखाने में अपने को कृतकृत्य मानते हैं वहा इनने सदा शील और सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी है। विधवा विवाह सम्बन्धी कानून जब ग्वालियर राज्य में लगभग १५ वर्ष पूर्व बनने लगा, तब पडिताजी और स्वर्गीय विदुषीरत्न भूरीबाईजी इदौर ने सुन्दर लेखो द्वारा महिला-समाज को जगाया था। आज जो हमारी बहिनो में जागृति और साहित्यिक सुरुचि का विकास हुआ है, उसमें पडिताजी के द्वारा सम्पादित जैन महिलादर्श द्वारा उल्लेखनीय प्रेरणा प्राप्त होती रही है। विरोध और कलह के पक से पत्र को बचाते हुए सर्वप्रिय बनाना आपकी कार्य-कुशलता तथा स्याद्वाद-गर्भिणी नीति का परिणाम है। अनेक बड़े २ धनिकोके परिवारो मे वीतराग जिनेन्द्र के शासन की महत्ता अकित करना, जिससे धर्मचक्र अबाधित गति से प्रवर्धमान होता रहे, इनकी अपूर्व तथा महत्वास्पद सेवा है।

ऐसी ज्ञान, शील, संयम एवं विवेक समन्वित आदर्श महिला का सम्मान करना जिन शासन के मर्मज्ञो का कर्तव्य है। पचाध्यायी में लिखा है कि गुण एव व्रतालकृत महिलाओ का यथोचित सम्मान करना चाहिए। हमारी हार्दिक मन कामना है कि जिन धर्म के प्रसाद से आदरणीय पडिता ब्रह्मचारिणी चन्दाबाईजी दीर्घजीवी हो, अधिक से अधिक स्व तथा पर कल्याण मे तत्पर रहें।

सिवनी, मध्य प्रदेश। —सुमेरुचन्द्र दिवाकर, बी० ए०, एल० एल० बी०

जैन महिला-रत्न पं० ब्र० चन्दाबाई

जिन शब्द 'जि जये' से बना है , इसमे नक् प्रत्यय है । जो प्राणी दोषो को जीत लेता है, वह जैन है । यदि कोई नारी सम्यक् रूप से जैनधर्म का पालन करती है तो वह निश्चय से पूजनीय है । स्त्रियाँ स्वभावत ऋषिका है, सरस्वती हैं, जितेन्द्रिय है और हैं सयम तथा शील का पाठ पढ़ाने वाली उपदेशिका । स्त्रियो के मूर्ख रहने, दुराचार की ओर जाने एव व्रतोपवास से च्युत होने मे समस्त दोष *माता-पिता या अन्य अभिभावको का है । सरस्वती रूप नारी को यदि थोडा भी सहयोग प्राप्त* होता है, तो वह निश्चय से सरस्वती वन जाती है । नारी का कोमल हृदय शिक्षा और ज्ञानार्जन करने के लिए योग्य क्षेत्र है । पुरुष उतनी जल्दी ज्ञान को ग्रहण नही कर सकते हैं, जितनी जल्दी नारी । नारी की उदात्त प्रवृत्तिया सयम, ज्ञान और शील को पाने के लिए सदा प्रस्तुत रहती हैं । हाँ, सहयोगी कारणो के अभाव में सुष्ठु प्रवृत्तियो का आविर्भाव होने से रह जाता है । भारतीय साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण आये है, जिनमें नारी की गरिमा और महत्ता बतलायी गयी है । एक सदाचारिणी नारी अनेक गुरुओ की अपेक्षा कम समय में ज्यादा अध्यात्म सिखला सकती है ।

आत्मा अनन्त शक्तिशाली है, इसका कोई लिङ्ग नही । यह स्वभावत सिद्ध, बुद्ध, शुद्ध और निष्कलक है । व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा की वर्तमान पर्याय अशुद्ध हो गयी है । अत कोई भी नारी सम्यक् प्रकार से जैनधर्म को धारण कर स्त्रीलिङ्ग का छेद कर स्वर्गादि सुखो को प्राप्त कर मनुष्य भाव धारण कर निर्वाण पा सकती है । जैनागम में नारी को पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त हैं । वह न्याय, धर्म, व्याकरण आदि का अध्ययन, मनन, चिन्तन कर अपने ज्ञान को बढा सकती है । चारो अनुयोगो का स्वाध्याय कर सकती है । कोई भी नारी जैनधर्म का पालन करने से पवित्र हो जाती है, उसकी आत्मा निखर आती है, सक्लेशता दूर हो जाती है और वह लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयो को प्राप्त कर लेती है । इस युग के धर्म-प्रवर्तक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने नर और नारी दोनो के धर्म-धारण करने का समान अधिकार प्रदान किया है । नारी श्राविका के उत्तम व्रतो का पालन कर तपस्विनी वन जाती है ।

श्रीमती चन्दाबाई ऐसी ही धर्मात्मा जैन-महिलारत्न हैं, जिन्होने जैनधर्म को अपने जीवन में उतार लिया है । वैधव्य अवस्था का सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिये, इसे आप भली भाँति जानती हैं । भारतीय नारी विधवा हो जाने के बाद अनाथ हो जाती है, उसका दोनो परिवारो में से किसी भी परिवार मे सम्मानजनक स्थान नही होता । पर इतना सुनिश्चित है कि जब विधवा नारी धर्मात्मा

बन गयी हो और सासारिक विलासिताओ का त्याग कर दिया हो, तब निश्चय ही वह देवी बन जाती है। श्रीचन्दाबाई ऐसी ही देवी हैं, इनके जीवन से कोई भी व्यक्ति शिक्षा ले सकता है। ब्रह्मचर्य और त्याग में कितनी शक्ति, कितना ओज और कितनी महत्ता होती है, यह आपके जीवन से प्रकट है। अपरिचित से अपरिचित व्यक्ति भी आपके दर्शन कर प्रभावित हुए बिना नही रहेगा। आपके दिव्य तेज के समक्ष विश्व के पाप, वासना, विकार और दोष जल कर राख हो जाते हैं।

श्रीचन्दाबाईजी ने आरा मे जैन-बालाविश्राम की स्थापना कर भारत के कोने-कोने से आने वाली सहस्रो बालाओ को सुशिक्षित बनाया है। आपके द्वारा सचालित आश्रम निश्चय ही नारी-समाज का अभ्युत्थान करनेवाला है। यहाँ सस्कृत, हिन्दी और दर्शन आदि का उच्चकोटि का शिक्षण दिया जाता है।

श्रीचन्दाबाईजी ने धर्म को अपने जीवन मे उतार लिया है। वे आहारदान, औषधदान, विद्यादान और अभयदान सदा देती रहती हैं। आरा में जैन कॉलेज, जैनस्कूल, आयुर्वेद चिकित्सालय, पुस्तकालय, धर्मशाला, मन्दिर जीर्णोद्धार तथा दीनजन पालन आदि के लिए श्री बाबू हरप्रसाद दासजी ने एक धार्मिक ट्रस्ट आपकी ही प्रेरणा से स्थापित किया है। यद्यपि इस बात को आरा के कतिपय व्यक्ति ही जानते हैं, परन्तु उक्त बाईजी यदि प्रेरणा न देती तो सभवत इतना परोपकारी ट्रस्ट स्थापित नही हो सकता था। आपकी ही प्रेरणा से मैनासुन्दर धर्मशाला बनायी गयी है। सच बात यह है कि आरा की जैन-जागृति का सारा श्रेय श्री चन्दाबाईजी को है।

जैन महिलारत्न चन्दाबाईजी जगत् के जीवमात्र की भलाई चाहती हैं, ससार के जितने प्राणी हैं, सब आनन्द और सुख से रहें, किसी को कभी भी कष्ट न हो यही उनकी कामना है। जैनधर्म का अहिंसा सिद्धान्त उनके जीवन में व्याप्त है, वे साध्वी हैं, दिन में एक बार भोजन करती हैं, परिग्रह सीमित है। ससार के बन्धन भूत आरम्भ का त्याग है। उनका जीवन त्याग, तपस्या और व्रत का आगार है। वे सभी तरह से नारी जाति का उत्थान, मगल और उन्नति चाहती हैं। पातिव्रत धर्म का प्रचार घर-घर में हो, सभी भाई-बहन ब्रह्मचर्य का पालन करे और विषय-कषाय घटें, यही उनकी भावना रहती है। आत्मचिन्तन, स्वाध्याय और प्रभुभक्ति उनके अहर्निश के कार्य हैं।

विधवा बहनो की दयनीय स्थिति आज भारतवर्ष की अवनति का प्रधान कारण है। जैन जनता भारत का एक अभिन्न अग है, परन्तु इसमें विधवाओ को उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा जाता है। इस समाज में विधवाओ का सम्मान है, उनके लिए शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध है। इसका मूल कारण जैन-जगत् मे श्रीचन्दाबाई जैसी कर्तव्यपरायण, त्यागशीला देवियो का अस्तित्व ही है। हम इस प्रकार की परोपकारिणी देवी की दीर्घायु की कामना करते हैं।

आरा। —महामहोपाध्याय पं० सकल नारायण शर्मा

श्री जैनबाला विश्राम और पूज्य श्री माताजी

आरा का जैन वालाविश्राम भारतवर्ष में नारी जागरण का एक अद्वितीय प्रतीक है। शिक्षा, सस्कृति, सदाचार और विमल विचार का आधार लेकर शुद्ध आदर्शवाद को व्यवहारोपयोगी वनाने का उद्देश्य ही इस सस्था की नीव है और आज यह नि सकोच कहा जा सकता है कि अपने महान मङ्गल-मय उद्देश्य में इस सस्था ने अवश्य ही आशातीत सफलता प्राप्त की है। देश के भिन्न-भिन्न राज्यो की कन्याएँ यहाँ शिक्षा पा रही हैं। शहर के कोलाहल से दूर सर्वथा शान्त तपोवन में शिक्षा का वातावरण सहज ही मन को आकृष्ट करता है। प्राकृतिक सुषमा का इतना प्रसन्न वातावरण शायद ही अन्यत्र कही मिले। और कन्याओ को समस्त आधुनिक शिक्षा का मार्ग प्रशस्त कर के भी उन्हें प्राचीन सस्कृति की उपासना और तदनुकूल जीवन-यापन की शैली का सुमधुर समन्वय यहाँ सहज रूप से उपलब्ध है। यहाँ की वाटिका के वृक्षो मे, लता-पत्र और पुष्पो में, भोजनालय, शिक्षण मन्दिर में, देवमन्दिर आदि में सर्वत्र एक दिव्य सौन्दर्य का साम्राज्य है जो हमे जीवन के सत्य, शिव, सुन्दरम् की ओर अपने सहज रूप में आकृष्ट करते है।

सौन्दर्य के साथ ही पवित्रता की इस आनन्दमयी साधना के मूल में है पूज्या श्रीमाताजी श्री विदुषीरत्न ब्र० प० चन्दावाई जैन। जिसे एक वार भी माताजी के पावन दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह स्वय अनुभव करता है कि माताजी का व्यक्तित्व दिव्य धातुओ से निर्मित है। उनकी सरलता, शुभ्रता, दिव्यता 'विश्राम' के कण-कण में व्याप्त है और उससे प्रभावित हुए विना कोई रह नही सकता। उनके कार्य की अनेकानेक दिशाएँ है पर मुख्यत साहित्य निर्माण, स्त्री शिक्षा-प्रसार, नारी जागरण एव सस्कृति-सरक्षण विशिष्ट हैं। समाज, धर्म और साहित्य की सेवा में आपने अपने को खपा दिया है और निरन्तर अनवरत अथक भाव से अपने उद्देश्य की सिद्धि में सलग्न हैं। एक वाक्य मे कहना चाहें तो कह सकते है कि माताजी एक आदर्श भारतीय साध्वी माता की दिव्य प्रतीक हैं। आपकी वाणी और आपका आचरण एक है और परमहस स्वामी रामकृष्ण देव ने 'साधु' की यही परिभाषा की है। माताजी सही और पूरे अर्थ में 'साध्वी' है।

जिस प्रकार पूज्य मालवीयजी महाराज का हिन्दू विश्वविद्यालय, गुरुदेव का शान्तिनिकेतन, शिवप्रसाद गुप्त का काशी विद्यापीठ, गाधीजी का सेवाश्रम, मीरा वहन का 'गोलोक' रमण, महर्षि का तिरुवन मलय आश्रम, और योगी अरविन्द का पाण्डिचेरी आश्रम है उसी प्रकार पूज्य माताजी श्री चन्दाबाई का जैन का बालाविश्राम है। आरा की भारत भर में दो ही वस्तुओ से ख्याति है—वे हैं—

जैन सिद्धान्त भवन तथा जैन वालाविश्राम और अत्युक्ति नही है कि दोनो की प्रेरणा पूज्य श्रीमाताजी से प्राप्त हुई है। पूज्य माँजी के कारण ही आरा तीर्थ बन गया है—"तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि"। माँजी की साधुता, आध्यामिकता, उदारता, सरलता, सौजन्य, उच्च सस्कृति, त्याग, वैराग्य, शुभ्रचरित्र आदि का प्रभाव सहज ही सब पर पडता है। 'विश्राम' में कला का जो मंगलमय विन्यास हुआ है, वहाँ के प्रत्येक पदार्थ में, समस्त वातावरण में माँजी के दिव्य 'स्पर्श' की अनुभूति होती है।

ऐसी पूज्य माँजी के पावन चरणो मे हम अतिशय श्रद्धा और भक्ति के साथ सहस्र-सहस्र प्रणामाञ्जलि निवेदन करते हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि माँजी भारत की आध्यात्मिक एव सास्कृतिक अभ्युत्थान के लिये युग-युग जीती रहें।

॥ वन्दे मातरम् ॥

औरगाबाद, गया। —भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' एम० ए०
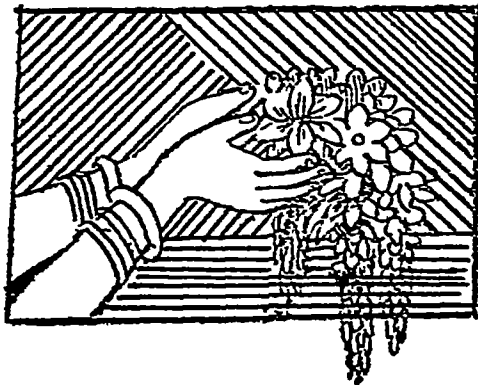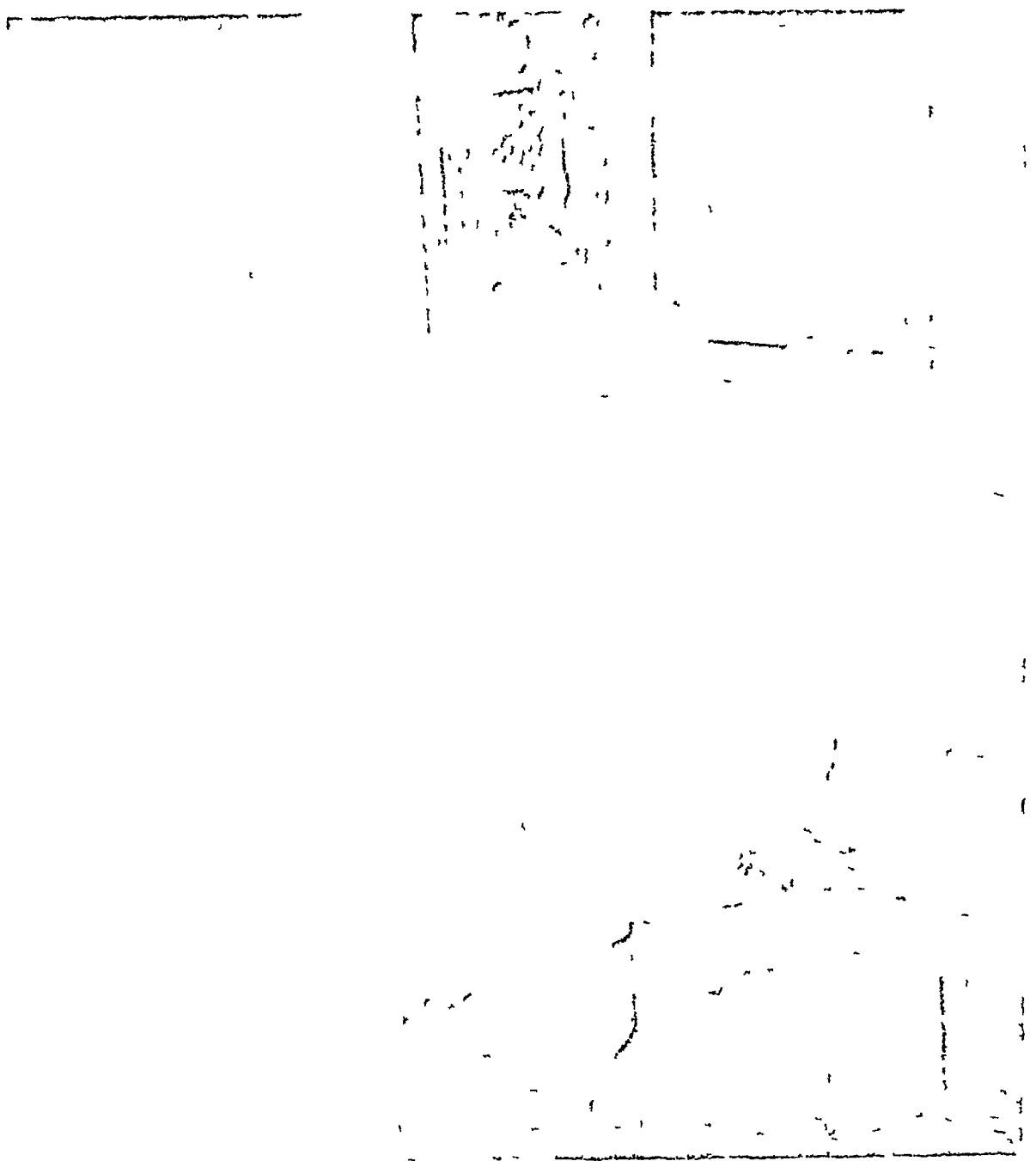
श्री माननीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद तथा भू० पू० बिहार राज्यपाल श्री अणे साहब के साथ श्री जैन-बाला-विश्राम आरा में माँझी

माँश्री की तपोभूमि-श्री जैनबाला-विश्राम : झाँकी

अपने विशाल वरदहस्तो से अभयदान प्रदान कर कल्याण और उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने वाले तपोनिधियो के समान तपस्या मे निरत, नैसर्गिक शान्तिमय वातावरण की मुग्धकारी निस्तब्धता को भग करने मे सतर्क, मन्द पवन के झोको से पुलकित पत्रावलियो के द्वारा नव प्रस्फुटित हरिताकुर मञ्जरियो के मधुर मकरन्द का वितरण करने वाले रसालवृक्षो से परिवेष्टित, उस रम्य निकुञ्ज मे पदार्पण कर कौन सहृदय एक वार आन्तरिक उल्लास की लहरियो मे मग्न न हो जायगा ! शील और सौन्दर्य का प्रतीक वह शान्तिकुटीर, उत्साह और आनन्द से परिपूर्ण वह छात्रालय, ज्ञान और कला का भाण्डागार वह विद्यालय, सुषमा और शान्ति का आगार वह देवालय, गौरव और गरिमा का उन्नायक वह मानस्तम्भ, त्याग और तपस्या की वह विशालमूर्ति, एक साथ देखकर स्वय मानवता भी गर्व से सिर ऊँचा करने का साहस करती है ।

जिस पुण्यस्थल का एक-एक रजकण किसीके पदतल का स्पर्श कर पुलकित हो रहा हो, जिस तपोभूमि का प्रत्येक पादप चुपके-से प्रवेश करते हुए समीर के कानो मे किसी का पवित्र सन्देश भरकर उसे विश्व मे विखेर देने के लिए प्रेरित कर रहा हो, जहाँ के सुमन किसीके आचरण को स्वस्थ कर धीरे-धीरे विहस रहे हो, जहाँ भ्रमर-पुञ्ज अपने मधुर राग में किसीकी तपश्चर्या की कहानी गा-गा कर दूरस्थ कलिका को आँखे खोलने के लिए उकसा रहे हो , वहा की कमनीय कान्ति किसी मनुष्य को अनायास ही भावाकृष्ट कर ले तो क्या आश्चर्य ?

श्री जैन-वाला-विश्राम (जैन-महिला-विद्यापीठ) आरा, केवल हमारी जाति या हमारे देश के गौरव की ही वस्तु नही, सारी मानवता के गौरव का प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप है । जब तक विश्व के किसी भी कोने मे ऐसी सस्था अपने दिव्य प्रकाश से आलोक वितरण करती रहेगी, मानवता का विनाश असभव है । इसकी समुचित व्यवस्था और शिक्षा-पद्धति का जितना गौरव करे, थोडा है । इसके अक मे गतिशील अशुमाली अपना सारा सचित स्वर्गिम वैभव लुटाकर भी तृप्त नही हो पाते और अधिक उपार्जन के लिए अस्ताचल के उस पार की यात्रा करते हैं । शशाक अपना सारा रजतकोष प्रदान कर भी नित्यप्रति अपनी असमर्थता के शोक मे घुल-घुलकर विलीन हो जाता है, परन्तु इन्हे यह क्या मालूम कि वे उस अक्षय निधि को प्राप्त कर चुके हैं , जिसकी तुलना मे विश्व की समग्र सम्पत्ति नगण्य है, जिसकी विभूति को किसी मानव विभुति ने अपने रक्त मे सीचा हो, जिसके विकास और सवर्धन मे मानवता की जननी ने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया हो, जिसकी एक-एक ईट तपस्या की अग्नि मे तात

की गयी हो, जिसकी दीवाले अविरल परिश्रम और अध्यवसाय के मसाले से चिनी गयी हों, महाप्रलय की भयकर विनाशलीला भी उसका अन्त करने में समर्थ हो सकती है, इसमें सन्देह है। माँश्री जैसी कर्मठ, उद्योगिनी और विचारनिष्ठ सस्थापिका के द्वारा स्थापित और सचालित सस्था मानव जाति का कितना कल्याण कर सकती है, इसका प्रमाण विश्राम की आजतक की सफलताएँ ही है। नारी जाति के उत्थान और विकास में इस तपोमूर्त्ति कर्मठ विश्राम का कितना हाथ है, यह प्राय अवगत है।

किसी व्यक्ति का दुर्भाग्य आचार-निष्ठा के बल पर किसी देश और जाति के सौभाग्य मे परिणत हो सकता है, इसका उज्ज्वल निदर्शन त्यागशीला माँश्री के जीवन में मिलता है। कठोर नियति के प्रसारखण्डो को विदीर्ण कर अजस्र मन्दाकिनी की जो निर्मल धारा फूट निकली, वह उत्साह और उमग के साथ दुर्गम मार्गो का अतिक्रमण कर आज एक विस्तृत और गम्भीर स्रोतस्विनी के रूप में प्रवाहित हो रही है, जिसके स्वस्थ वक्षस्थल का सहारा लेकर न जाने कितनी प्रताडित आत्माओं ने अपनी जीवन-तरी को सफलता-पूर्वक उस पार लगाने का साहस किया। इस ज्योतिपुञ्ज के सतोगुणी ससर्गमात्र से उन शिखाओं का निर्माण हो रहा है, जो ससार के कोने-कोने को दीप-मालिका की जगमग आभा से प्रकाशित कर देने की योग्यता रखती है। इस शुभ्रवसना सरस्वती की वीणा से वह मन-मोहक सगीत निःसृत हो रहा है, जिसके प्रत्येक लय की झकार के साथ मानवता अपने को अनन्त जीवन पथ पर एक पग आगे पाती है। इस तपोनिधि की दिन-चर्या से आदर्श और यथार्थ से सयुक्त उस समन्वय पूर्ण मार्ग का सकेत मिलता है, जिसका अनुसरण कर नारी-जगत् मानव विकास का विधायक बन अपने उत्तरदायित्व का सफलता के साथ निर्वाह कर सकता है।

हाँ, तो अब तक मैंने पाठको के समक्ष बालाविश्राम के सचालन-प्राण के सम्बन्ध मे कुछ लिखा, अब मैं उसका दर्शन करा देना भी आवश्यक समझता हूँ। आप पक्की सडक से मेरे साथ चले आइये। आरा-पटना रोड पर नहर के पुल से कुछ ही कदम आगे बढने पर बाहुबली स्वामी के मदिर का शिखर दिखलाई पडता है। एक बड़ा फाटक अपनी मूक आवाज मे बुलाता है। जैसे हम उसके पास पहुँचते हैं वह बद्धकपाट हमें इशारे से बतलाता है कि अभी कुछ दूर आगे और जाओ। उनके सकेत के अनुसार हम कुछ ही आगे पहुँचते है कि हमें एक दूसरा बडा फाटक अपनी ओर आमन्त्रित करता है। हम जैसे ही भीतर प्रवेश करते है कि दाहिने हाथ की ओर एक सुरम्य विश्रान्ति भवन हमारी थकावट दूर करने के लिए स्वागतार्थ प्रस्तुत है, उसमें पहुँचते ही हमारी सारी थकावट दूर हो जाती है। उस भवन के बीच भाग मे बिजली का पखा लगा है, नीचे एक टेबुल रखी है और उसके चारो ओर चार-पाँच कुर्सियाँ पड़ी हुई अतिथियो की बाट जोहती रहती है। इधर-उधर काँच की अलमारियो में सुसज्जित धार्मिक पुस्तकें दर्शको के मन को हरा-भरा कर देती है। इसमें विश्रान्त होने के अनन्तर जैसे ही आगे बढते है कि दरबानो का निवासस्थान एव अध्यापक-कुटीर पाते है। सुरम्यारम्य आराम में गुजरते हुए कुछ ही क्षणो में श्रीमती पूज्या माँश्री द्वारा निर्मित मानियो के मद को चूर करनेवाले मानस्तम्भ के दर्शन होते है। इस सुन्दर मानस्तम्भ के चारो ओर जैनधर्म के महत्वसूचक अनेक चित्र एव मूर्त्तियाँ है। इनके दर्शनमात्र से दर्शको के हृदय-पटल पर अमिट छाप

लग जाती है। स्तम्भ के चारो ओर प्राय प्रचलित सभी आधुनिक एव प्राचीन भाषाओ में इस मान-स्तम्भ का इतिहास अकित है। इसके आर्च् प्राचीन द्राविडकला की समता रखते हैं, जैन सस्कृति के महत्ता-सूचक घंटा, शृखला, तोरण आदि भी इसमें खचित किये गये है। इसका सुन्दर फर्श नेत्रो को अत्यन्त तृप्ति प्रदान करता है। वरवस मन को रोक कर जैसे ही पीछे की ओर मुडते है कि भव्य विशाल और चित्ताकर्षक वाहुवली स्वामी की विशालकाय खड्गासन मूर्त्ति, जो १४ फुट ऊँचे कृत्रिम पर्वत पर विराजमान की गयी है, के दर्शन होते है।

मूर्त्ति के सामने कुछ ही कदम के फासिले पर एक रम्य चबूतरा है, इस पर से दर्शन करने पर चित्त को अपूर्व आह्लाद मिलता है। क्षणभर के लिए सासारिक वातो को भूलकर दर्शक आनन्द समुद्र में मग्न हो जाते हैं। चिन्ताओ से मुक्त होकर दीर्घकाल तक एक-टक दृष्टि से देखते रहने की लालसा वनी रहती है। सामने थोडी ही दूर पर स्थित जीते-जागते त्याग और तपस्या का पाठ पढाती हुई उन्नत गोम्मट स्वामी की मूर्त्ति हमें सावधान करती हुई प्रतीत होती है। मूर्त्ति के पीछे सीढिया हैं, जिन पर चढकर प्रतिदिन भगवान् का प्रक्षालन किया जाता है। वाटिका में होते हुए जैसे ही कुछ दूर वढते है कि मुनीम कुटीर मिलता है। इससे कुछ ही दूर पर विशाल विद्यालय-भवन है। सावधान, यहाँ पर अमरूद, नीबू और शरीफा के पादप, जो प्राय फलो से नम्रीभूत रहते हैं, आपको अपनी ओर अवश्य आकृष्ट करेगे। यदि दोपहर का समय हुआ तो इन वृक्षो की शीतल छाया आपको आगे नही वढने देगी। देखिये, सामने ही सस्कृत कक्षा स्वागत के लिए प्रस्तुत है।

इसके भीतर प्रवेश करते ही दीवालो के ऊपर अनेक भव्यचित्र देखने को मिलेगे। इन चित्रो में पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी महाराज, पूज्या माँश्री, श्रीमती प व्रजवाला देवी, विद्यालय-भवन के निर्माता बा० धनेन्द्रदासजी, इनकी धर्मपत्नी श्रीमती नेमसुन्दरदेवी, राष्ट्रपिता महात्मा गाधी, भारत के कर्णधार प० जवाहरलाल नेहरू एव अन्य कई गण्यमान्य व्यक्तियो के चित्र हँसते हुए नजर आते हैं। सामने की दीवाल के पास धर्माध्यापक की गद्दी है, पास ही एक लकडी का सन्दूक है, जिसमें अष्टसहस्री, प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड, सिद्धान्त-कौमुदी एव गोम्मटसार आदि पाठ्य-ग्रन्थ रखे रहते हैं। इनकी वगल में एक काला तख्ता भी रखा रहता है, पूछने पर वह कहते है कि इस पर व्याकरण और गणित सम्वन्धी सन्दृष्टियाँ समझायी जाती हैं। इसी कमरे में आमने-सामने काँच की अलमारियाँ है। जिनमे छात्राओ द्वारा निर्मित कलाभवन की चीजे रखी रहती है। इन चीजो में घडी, हारमोनियम, साँप, वत्तक, ऊँट, खरगोश, गुडिया, राष्ट्रपिता बापू की मूर्त्ति, डोली एव विभिन्न प्रकार के अन्य खिलौने दर्शको को इतने लुभाते हैं कि दो-चार खरीदे विना घर नही जाने देते।

सस्कृत कक्षा से दाहिनी ओर वाई ओर छठी और पाँचवी कक्षा है। पाँचवी कक्षा से कुछ हटने पर सामने के एक लम्बे हाल में पुस्तकालय है। इसमे लगभग १०--१२ अलमारियो मे विभिन्न विषयो की पुस्तकें हैं। इन पुस्तको की सख्या लगभग चार हजार और पत्र-पत्रिकाओ की फाइलों की

की सख्या लगभग ५०० है । हिन्दी साहित्य को उत्तमोत्तम चुनी हुई लगभग पन्द्रह-सौ पुस्तके है । अन्वेपण कार्य के लिए धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण आदि की पुस्तकें विशेष रूप से एकत्रित की जा रही हैं । इस लाइब्रेरी के अतिरिक्त एक धार्मिक स्वाध्यायशाला भी है, जिसमें पाँच सौ शास्त्र हैं, जिनका छात्राएँ स्वाध्याय करती हैं । इस पुस्तकालय के मध्यभाग में एक वडी टेवुल रखी है, जिसमें ९–१० दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र रखे हुए हैं । टेवुल के चारो ओर दस-बारह कुर्सियाँ रखी हुई हैं, जिन पर वैठ कर छात्राएँ समाचारपत्र एव पुस्तके पढती हैं । भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा परीक्षा की प्राय सभी पुस्तकें इस पुस्तकालय मे सग्रहीत हैं । छात्राओ के लिए महिलोपयोगी साहित्य का सकलन भी प्रचुर मात्रा मे किया जा रहा है ।

इधर से हटकर जब सातवी कक्षा में पहुँचते है तो उसके पास 'शिल्प विभाग' लिखा हुआ मिलता है पर वर्तमान में शिल्पविभाग का कार्य अन्यत्र होता है । ऊपर की सीढियो से चढकर जैसे ही छत पर पहुँचते हैं कि दाहिनी ओर स्वाध्यायशाला अपनी ओर आमन्त्रित करती है, इसके बीच में एक लम्वी चटाई बिछी मिलेगी, चटाई के एक किनारे सगमरमर की लम्बी बेंच रखी रहती है । इसके पास ही अलमारी में शास्त्रजी विराजमान है । इसका अवलोकन कर जैसे ही पीछे की ओर मुडकर कुछ बढते हैं कि भगवत् चैत्यालय का शिविर दृष्टिगोचर होता है । कुछ और आगे वढकर तथा तीन-चार सीढी ऊपर चढने पर चैत्यालय के समक्ष पहुँच जाते हैं । इसमे मूलनायक प्रतिमा भगवान् महावीर स्वामी की है । इसकी परिक्रमा तो बगीचा काटकर सगमरमर की इतनी सुन्दर बनायी गयी है कि प्रदक्षिणा करते हुए नन्दनकानन की स्मृति आये बिना नही रहती ।

यहाँ से उतर कर जव नीचे आ जाते है तो बाईं ओर की सडक पर थोडा-सा पूर्व की ओर हटने पर अध्यापन-कला-विभाग दिखलायी पडता है । इस विभाग का कार्य वर्तमान मे वन्द है, पर इस विभाग के कमरो में चर्खा चलाना, सिलाई करना और ड्राइग आदि के कार्यो के साथ दो कमरो में लोअर कक्षाओ का शिक्षणकार्य सम्पन्न किया जा रहा है । लाइब्रेरी के वडे कमरे में ही उत्तमा, मध्यमा और प्रथमा का अध्यापन कार्य सम्पन्न होता है । इस विभाग से पुन पानी की टकी—कुएँ से वोरिग कर टकी में पानी चढाया जाता है और वहाँ से आश्रम के नलो मे वितरित होता है, से आगे वढने पर छात्रालय नम्वर दो आता है । इसकी इमारत अपने ढग की निराली है, इसके नीचे के भाग मे भाण्डारगृह और भोजनशाला है, ऊपर छात्राओ के रहने के लिए दो विशाल हाल है, जिनमे लगभग ५०–६० छात्राएँ सुखपूर्वक रह सकती हैं । आप मेरे साथ सीढियो के द्वारा ऊपर रेवती हाल में चले आइये, इसमे दोनो ओर चौकियाँ पडी हैं । छात्राएँ इन चौकियो पर विश्राम करती हैं । प्रत्येक छात्रा की सीट के पास एक अलमारी है, जिसमें वे पुस्तकें, कापियाँ एव अन्य पढने-लिखने के सामान रखती हैं । रेवती हाल से निकल कर ऊपर छत पर से ही थोडी दूर पर दूसरा लम्बा विशाल हाल है, जिसमे रेवती हाल के समान ही छात्राएँ निवास करती हैं ।

सीढी के सहारे नीचे उतर कर वीस कदम ही आगे वढते हैं कि अध्यापिकाओं के क्वार्टर मिलते हैं, इन क्वार्टरो से सटा हुआ छात्रालय न० १ है । इसके भीतर कई प्रकार के वृक्ष एव लताएँ है ।

इसमे तीन कमरे ऊपर और तीन कमरे नीचे हैं। इन कमरो में ३०-४० छात्राएँ आनन्द-पूर्वक रह सकती है। इस छात्रालय मे एक चालीस फुट लम्बा एव पन्द्रह फुट चौडा बरामदा है, अरे! रात में यही तो छात्राओ की शास्त्रचर्चा होती है। कभी-कभी यह चर्चा इतनी अधिक बढ जाती है, जिससे माँश्री को शका-समाधान के लिए आना पडता है। इससे कुछ ही आगे बढने पर कार्यसम्पादन भवन मिलेगा, इसीमे आश्रम की तपस्विनी माँश्री निवास करती है। वे पहले से ही अतिथि-सत्कार के लिए प्रस्तुत हैं। इस भवन के एक किनारे पर एक दरी बिछी रहती है, जिसके एक ओर एक डेक्स रखा रहता है, उसीके चारो ओर चार-पाँच रजिस्टर, दो-चार बहियाँ एव अन्य आवश्यक कागज-पत्र रखे रहते हैं। एक मुनीम जी आपको हिसाब करते हुए दिखलाई पडेंगे। आश्रम की उपसचालिका श्रीमती प० ब्रजबाला देवीजी भी अतिथि का आगमन सुनकर अतिथि सेवा के लिए शीघ्र ही आ जाती हैं। आपसे मिलने पर अपूर्व आनन्द आता है। अनेक सामाजिक एव राजनीतिक बातें आपसे सहज में ही मालूम हो जाती हैं।

अब आइये, मैं आपको आश्रम की आभ्यन्तरिक बातो का निरीक्षण करा दूँ। आश्रम मे दो शिक्षाविभाग हैं—हिन्दी और सस्कृत। हिन्दी में बिहार विश्वविद्यालय के सिलेबस के अनुसार मिडिल तक शिक्षा दी जाती है, पश्चात् अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा परीक्षाएँ दिलायी जाती हैं। अनेक छात्राएँ साहित्यरत्न परीक्षा उत्तीर्ण कर चुकी हैं। इस परीक्षा के बाद हिन्दी जैन-कवियो के अन्वेषण और अनुशीलन का भी प्रबन्ध किया गया है। सस्कृत विभाग में बिहार सस्कृत एसोसियेशन और बगीय सस्कृत शिक्षा परिषद् की परीक्षाएँ प्रतिवर्ष दिलायी जाती हैं। अनेक छात्राएँ तीर्थ, मध्यमा और प्रथमा परीक्षा मे सम्मिलित होती हैं और सफलता प्राप्त करती हैं। माणिकचन्द दिगम्बर जैन परीक्षालय बम्बई की धार्मिक परीक्षाओ में सभी छात्राएँ सम्मिलित होती हैं और उत्तम श्रेणी में उत्तीर्णता प्राप्त कर पारितोषिक प्राप्त करती हैं। ज्ञानचन्द्रिका परीक्षा में प्रतिवर्ष यहाँ की छात्राओ को पुरस्कार मिलता है।

साधारण ज्ञान के लिए अग्रेजी भाषा का शिक्षण भी दिया जाता है। 'रत्न' परीक्षा देकर ही प्रतिभाशालिनी छात्राएँ मैट्रिक, इन्टर और बी ए की परीक्षाएँ देती हैं। घरेलू उद्योग-धन्धो की शिक्षा पूर्णतया दी जाती है, इसके अलावा सगीतकला की शिक्षा के ऊपर भी ध्यान दिया गया है। साराश यह है कि कन्याओ को योग्य गृहिणी बनाया जाता है, उन्हें जीवन-सग्राम में कार्य करने के लिए पूर्णतया योग्य बनाया जाता है। विधवा बहनो को लौकिक और धार्मिक शिक्षण इस प्रकार दिया जाता है, जिससे वे अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाती हुई जीवन-यात्रा मे सफल हो। छात्राओ की वक्तृत्व शक्ति बढाने के लिए प्रतिपक्ष एक सभा होती है, इसमें छात्राएँ तो भाषण देती ही हैं, पर आश्रम की सचालिका, वयोवृद्धा, अनुभवशीला माँश्री एव लघु मातेश्वरी प० ब्रजबाला देवीजी के तत्त्वोपदेशों द्वारा छात्राओ का विशेष कल्याण होता है। साहित्यिक प्रगति उत्पन्न करने के लिए हस्तलिखित 'बाला-दर्श' नामक त्रैमासिक पत्र भी निकलता है, जिसमे छात्राएँ नाना विषयो पर निबन्ध लिखती हैं, कहानियो और कविताओ के द्वारा मानसिक विकास करती हैं। यहाँ शिक्षा के साथ स्वास्थ्य पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है। आपको सभी छात्राएँ स्वस्थ और प्रसन्न दृष्टिगोचर होगी।

समाचारपत्रो द्वारा एव आश्रम की द्विवार्षिक रिपोर्ट द्वारा यह मालूम होता है कि इस सस्था का समाज-सेवा मे कितना बडा हाथ है। आश्रम से निकल कर अनेक स्नातिकाएँ समाज, साहित्य और धर्म की सेवा कर रही है। इसका मूल कारण यह है कि यह माँश्री की तपस्याभूमि है। तप पूत माँश्री इसके *सर्वाङ्गीण विकास के लिए अहर्निश चेष्टा करती रहती है।*

हाँ तो पर्याप्त विलम्ब हो चुका, चलिये अब आप मेरे साथ बाहर आइये। पर प्रवेश द्वार से थोडी-सी धूल लेकर अवश्य अपने रूमाल में बाँध लीजिये। यह पवित्र रज, माँश्री के चरणो का स्पर्श पाकर इतनी शक्तिशालिनी और कल्याणप्रद हो गयी है, जिससे इसके अजन से अज्ञानतिमिर दूर हो जाता है, कुरीतियो के सस्कार छिन्न-भिन्न हो जाते है और भारतीय रमणी अपने खोये हुए प्राचीन गौरव को पुन पा लेती है। सावधान, इन रजकणो में मल्लिका, वेला, और चमेली का पराग भी मिश्रित है, अत सँभालकर रखिये, अन्यथा भ्रमर आपको तग करेगे, जिससे यह गाठ खुल जायगी। चलिये, एक बार यहाँ की तपस्विनी माँकी चरण-रज अपने मस्तक पर धारण कर ले, शायद जीवन में फिर ऐसा अवसर मिले या नही। ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

—चक्रनेमि
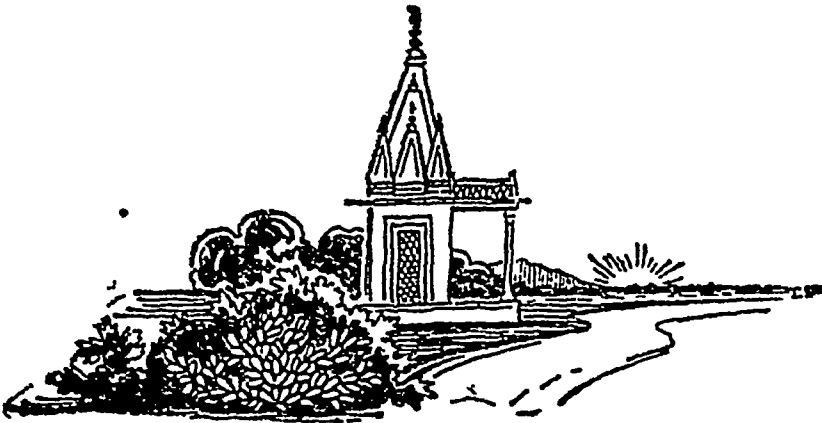
माँश्री की साहित्य-साधना

जैसे भारतेन्दु का साहित्य हिन्दी-साहित्य के नवोत्थान का ज्वलन्त इतिहास है, वैसे ही माँश्री की अजस्र साहित्यिक-धारा में महिला साहित्य के सुनहले प्रभात का उद्भव और परिपुष्ट होना भी। भारतेन्दु के सतत साहित्यिक उद्योगो की हलचल की चेतनता की साकार परिणत हुई माँश्री के धरती के गीतो मे, जो एक ज्वलन्त दीपशिखा है। अत साहित्यिक पुरुषत्ववाद की अन्तिम विजयश्री पर माँश्री ने महिला-साहित्य को अपने व्यक्तित्व का आत्म-निर्माण कर जगाया और सँजोया है, अपने व्यक्तित्व के अभयदान से महिला-साहित्य को अभिसिञ्चित तथा अनुप्राणित किया है। यह समय के साथ पनपी हैं तथा महिला साहित्य को पनपाया है—यह साहित्य-महारथियो का आज का दावा है, कल का नही। इनके द्वारा नारी को स्नेह मिला, प्यार मिला, चेतना मिली, उद्धार मिला और साहित्विक प्रवृत्तियो का सम्वल भी। एक साथ इतनी चीजें और सब हृदय के धरातल पर। अतएव यह सुनिश्चित है कि नारी के दग्ध हृदय को इनकी साहित्य-सेवा सतत छाया प्रदान करती रहेगी।

साहित्य जीवन की सतत गतिशील प्रेरणाओ मे से एक है। काल खण्डो मे बँटी उसकी प्रगति-परम्परा और विकास के इतिहास की भूमि पर रास्ते के दूरी-सूचक मील-पत्थरो को खडा कर देना सरल और सुसाध्य है, तथापि एक दूसरे को साफ-साफ पृथक् करनेवाली सीमा-रेखा निर्दिष्ट करना असम्भव ही है। कारण, साहित्य की चेतना भूमि खण्डो पर फैली उन फुनगियो की तरह होती है, जो अपने विकास और उत्पत्ति की परिधि के वाहर अन्य समग्र-बल्लरियो से इस तरह गुँथी रहती है, जिससे वह स्पष्ट होकर भी अपने को स्पष्ट नही कर पाती। यही कारण है कि जहाँ रीति-युग के आविर्भाव काल और वर्तमान जीवन मे एक लम्वे अन्तराय की खाई है, वहाँ आज के नव्वे प्रतिशत वासनात्मक विक्षोभ को लेकर लिखी जानेवाली छायावादी और प्रगतिवादी रचनाओ में रीति-युग की अतृप्ति एव बेचैनी साफ वौखलाती हुई दीखती है। युग की प्रमुख साहित्यिक मान्यताओ के रहते भी काल के एक छोर से दूसरे छोर को छूनेवाली अन्तर्धाराओ का हमेशा अस्तित्व रहा है। किन्तु जहाँ तुलनात्मक श्रेष्ठता के निर्णय का प्रश्न हमारे सामने आयेगा, वहाँ साहित्य की श्रेष्ठता इसी आधार पर निश्चित की जायगी कि कौन युग सामाजिक जीवन को कितनी प्रेरणा दे सका और कितनी दूर तक उसे उन्नत और क्रियाशील वना सका। कहना नही होगा कि युग के साहित्य-महारथियो मे नारी-साहित्यकारो का वरावर स्थान है, क्योकि महिला-साहित्य से सामाजिक जीवन करवटे वदलता है और सुधारात्मक प्रवृत्ति की अगडाई में डूवकर साँस लेता है।

साहित्य के सुदीर्घ इतिहास में इस बीसवी शताब्दी के इतिहास का काल अपनी अनन्यतम विशेषताओ को लेकर शायद सबसे चमकीला और सबसे सुनहला काल है । युग की आर्थिक, सास्कृतिक समस्याएँ जितनी ही तीखी होगी, साहित्यकार उतना ही महान् होगा और उसकी कलम से उद्भूत कलाकृति भी उतनी ही समर्थ और प्राणवन्त होगी । युग की गति-विधि की धूप-छाँह में ही सत्साहित्य का रूप गढा जाता है और इसका निर्माण तब तक स्वप्न और भ्रम ही वना रहेगा, जब तक साहित्यकार अपने को तत्कालीन जीवन के मूल्यो की साँस और उसकी धडकन को पहचान नही पाता । इन बीसो तत्त्वो को देखते हुए यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि विक्रम की बीसवी शताब्दी का आरम्भिक भारतेन्दु युग हमारे साहित्य मे अपना सबसे मौलिक और उच्च स्थान रखता है । लेकिन इसमें भी एक अभाव खटकता है, वह है महिला-साहित्य तथा महिलोपयोगी कृतियो की तरफ किसी के ध्यान का न केन्द्रित होना । परिणाम यह रहा कि महिला-साहित्य इस उत्थान काल मे पनप नही सका और यह अग कुछ दिनो तक अछूता ही बना रहा ।

युग की उष्ण वास्तविकताओ और अस्तव्यस्तताओ ने कतिपय महिला कलाकारो को साहित्यिक चेतना के धरातल पर जन्म दिया । इन महिला-कलाकारो में माँश्री भी एक है, जिन्होने समाज की ठडी धमनियो मे जागरण और जागर्ति की तीव्र प्रेरणा उडेली । इनकी विधायक प्रतिभा ने न केवल रूढिग्रस्त और अन्धकार में जडीभूत नारी को एक नयी दिशा देकर उसे प्रवहमान किया बल्कि ह्रासोन्मुख समाज को ललकार कर नीति और आदर्श के मार्ग पर लगाया । माँश्री का साहित्य अन्य महिला लेखिकाओ जैसा नही है, उनका आदर्श नारी समाज को आगे बढाना और पातिव्रत की भावना को पुष्ट करना है । जहाँ अन्य लेखिकाएँ नारी को उच्छृँखल बनाना चाहती हैं, वहाँ माँश्री नारी को सयत और कर्त्तव्य-परायण । यहाँ यह सदा स्मरण रखना होगा कि माँश्री का साहित्य नारी को दब्बू या कायर नही बनाता, बल्कि सशक्त सामाजिक चेतना की जागृति कर जागरूकता की भावना उत्पन्न करता है ।

यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि युग की इस वेला में जब महिला साहित्य की स्वीकृत दीवारे गिर रही थी, विश्वास के आधार काँप रहे थे और नई शक्तियाँ चुनौती देकर अपना सिर उठा रही थी, उस समय भारतीय सस्कृति से ओत-प्रोत साहित्यिक धारा ही नारी-समाज को जीवन दान दे सकती थी । माँश्री ने युग की पुकार को सुना और महिला-साहित्य की दिशा को दूसरी ओर मोड दिया । अत आपकी साहित्यिक प्रवृत्ति महिला-हिन्दी-साहित्य का वह प्रथम युग है, जहाँ साहित्य और जीवन विभ्रान्त हो अनिश्चित दिशा में चक्कर मारनेवाली रेखाओ के समान समानान्तर रूप मे दौड लगा रहे थे । नारी-जीवन और साहित्य के दो अलग पृथक् यत्रो को फिर से जुटाकर एक विराट कनवास का निर्माण किया और उस पर यथार्थवादी सामाजिक जीवन की ऐसी रेखाएँ अकित की जो अपने स्वभाव मे अकथनीय तो है ही, अपनी शक्ति में भी अनन्यतम है ।

अब हमे माँश्री और उनके साहित्य के कुछ एक महत्वपूर्ण पहलुओ पर विचार कर लेना अप्रगत न होगा । माँश्री के साहित्य मे नारी-समाज के नवोत्थान की भावना पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है ।

जहाँ उन्होंने गम्भीर विचारो का प्रतिपादन कर अपनी अनुभूति-शीलता का परिचय दिया है, वहाँ अपनी शैली को उपदेशात्मक बनाकर आबालवृद्ध के लिए आस्वाद्य बना दिया है । यही कारण है कि हम माँश्री को हिन्दी जैन महिला-साहित्य के नवोत्थान का इतिहास कह सकते हैं । साथ ही उन्हें एक सीमा-रेखा पर जन्म लेनेवाले साहित्यकारो मे परिगणित किया जा सकता है ।

कहना नही होगा कि माँश्री के व्यक्तित्व की छाप इनके साहित्य पर अमिट रूप से पडी है । व्यक्ति की दृष्टि से आप अत्यन्त सरल, उदार और मधुरभाषिणी हैं । जीवन मे कृत्रिमता और आडम्बर का नाम नहीं । हृदय बाल-हृदय की भाँति सरल और निश्छल है, पर इसके साथ ही वह एक विचारक की भाँति सरल और गम्भीर भी हैं । कभी वह बालको की-सी बातें करती हैं और कभी एक चिन्तनशील व्यक्ति की भाँति, यह इनके स्वभाव की विलक्षणता है । इनके व्यक्तित्व के इस पहलू ने इनको मधुर शैली और सरल अभिव्यञ्जना प्रदान की है । यह जो कुछ लिखती हैं, हृदय की स्वानुभूति चयन कर, और इसीलिये इनके गम्भीर निबन्धो, कहानियो मे उपदेश, मिठास और गम्भीर विचारो की त्रिवेणी प्रवाहित होती है । इनके साहित्य मे सहृदयता, सहानुभूति और करुणा की त्रिवेणी के साथ आदर्श के कगारो का समन्वय भी यथास्थान मिलेगा । नारीसुलभ कोमल भावनाओ में चचलता नही, सौम्यता और गम्भीरता है, फलत इनके साहित्य का धरातल पर्याप्त उन्नत है ।

सबसे बडी बात है कि माँश्री का जीवन साधना का जीवन है । इन्होने अपने आत्मिक आदर्शों के अनुकूल ही अपना जीवन बना लिया है । सामाजिक रूप से सचालन का अनवरत परिश्रम तथा आत्मिक रूप से साधना का पथ अनुसरण करना ही उनके जीवन का ध्येय है । उनकी अपनी एक विचारधारा है, जो उनके जीवन पर शासन करती है और इनके साहित्य पर भी । इसलिये वह अपने जीवन मे, अपने साहित्य में पर्वत की भाँति अचल हैं । वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे शान्त हैं । उनकी दार्शनिक विचारधारा उनके चिन्तन का परिणाम है । वह जीवन के प्रत्येक क्षण मे कुछ न कुछ सोचती रहती हैं । उनके चिन्तन की स्पष्ट छाप उनके साहित्य पर देखी जाती है । इन सब कारणो से महिला साहित्यकारो मे इनका साहित्यिक-व्यक्तित्व अपना एक पृथक् महत्व रखता है ।

इन्होने जो कुछ लिखा नारी उत्थान की प्रेरणा से, इसी कारण उपदेशात्मक शैली का मन्थन इनकी रचनाओ मे स्पष्ट लक्षित होता है । यह जो कुछ कहना चाहती हैं, नपे-तुले शब्दो मे कह देती हैं । इनका अपना एक अलग शब्दकोश है, जिसमे ऐसे शब्दो का अतलस्पर्शी सागर लहराता है, जो प्रत्येक भावव्यञ्जना के साथ मर्मस्थल को छूने की क्षमता रखते हैं । आचारात्मक और दार्शनिक निबन्धो में गहन विचारो को जिस सरलता के साथ रखा गया है, वह प्रत्येक सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है ।

अब तक आपके आठ-दस निबन्ध सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु मेरे समक्ष पाँच ही निबन्ध-सग्रह हैं, अत मैं उपलब्ध निबन्ध-सग्रहो पर ही चर्चा करूँगा ।

माँश्री का सबसे पहला निबन्ध-सग्रह उपदेशरत्नमाला है। इसमे लगभग ३० निबन्ध है। यह दो भागो मे विभक्त है—प्रथम मे शारीरिक, नैतिक और मानसिक विकास का आदर्श प्रस्तुत करनेवाले उपदेशात्मक निबन्ध और द्वितीय मे दार्शनिक निबन्ध है। शारीरिक निबन्धो में दिनचर्या, भोजनशुद्धि, प्रात कालीन क्रियाएँ, व्यायाम, वस्त्राभूषणो की सादगी, भक्ष्याभक्ष्य विचार आदि विषयो पर लिखे गये निबन्ध ज्ञानवर्द्धक होने के साथ सुन्दर और पुष्ट स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए अतीव उपयोगी है। कन्याओ को शिक्षा प्राप्त करने के ढग को बतलाते हुए आपने लिपि-सुधार पर विशेष जोर दिया है, लिखा है—

"जो बालिका पुष्ट और स्पष्ट अक्षर लिखने का अभ्यास रखती है, वह निस्सन्देह सब किसी को सहज ही प्रसन्न कर सकती है। लोग कहा करते है कि जिसका दिल साफ है, जिसके मन मे प्रेम और शान्ति है, जिसके हृदय में छल या दुष्टता नही है, वही सुन्दर-साफ अक्षर लिख सकता है।" [१]

प्रथम विभाग कन्याओ की शिक्षा-दीक्षा के लिए लिखा गया है, इस कारण इसमें पत्र लिखने की विधियाँ भी उदाहरण सहित लिखी गयी है।

व्यायाम विषय पर लिखते हुए बतलाया है—"कसरत दो तरह से हो सकती है—पहली घर का काम-काज करने से और दूसरी गेंद, मुद्गर आदि के खेल-कूद करने से। हमारी भारतीय पुत्रियो के लिए पहली ही कसरत अधिक गुणकारी है। यह अपने कुल मे बहुत दिनो से होती आयी है। अत इसी पर अधिक ध्यान देना उचित है। इसमें एक पन्थ दो काज है। घर मे माता-पिता का काम भी चलता रहेगा और परिश्रम करने से शरीर भी ठीक रहेगा। अमीर घरो की औरतें अधिक बीमार इसलिए पडती है कि वे दिन-रात बैठे-बैठे अपने शरीर के खून को ठडा बनाती रहती है।" [२]

द्वितीय विभाग मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के साथ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो पर भी सरल और आशुबोध ढग से लिखा है। बन्ध तत्त्व को समझाती हुई आप लिखती है—

"जैसे किसी चीज के बने लड्डू में वातरोग नाश करने का स्वभाव है, तो किसी में पित्त को शमन करने का। इसी तरह कोई कर्मफल आत्मा की ज्ञानशक्ति को आच्छादित करता है, कोई उनमें मोहभाव उत्पन्न करता है, यह प्रकृति बन्ध का उदाहरण है।

कोई लड्डू एक दिन, कोई दो, कोई चार और कोई सप्ताह में बिगड जाता है। इसी तरह आत्मा के साथ लगे हुए कर्म कोई कुछ दिनो में, कोई वर्षों मे और कोई कुछ युगो में जीव को अपने स्वभावानुसार फल पहुँचा कर नष्ट हो जाते है। यह स्थिति बन्ध का उदाहरण है।

१—उपदेशरत्नमाला पृ० ३३,

२—उपदेशरत्नमाला पृ० ३५–३६

स्वाद में जैसे कोई लड्डू फीका, कोई मीठा, कोई कडवा होता है तथा कोई आलस्य, कोई नशा, कोई ज्यादा और कोई कम असर करनेवाला होता है, उसी प्रकार कर्मपिण्ड भी कोई मन्द, कोई तीव्र और कोई तीव्रतर शुभाशुभ फल देनेवाला होता है। यह अनुभाग बन्ध हुआ।

प्रदेश बन्ध को यो समझना कि कोई लड्डू एक तोले का, कोई एक छटाँक का और कोई पाव-भर का होता है, तद्वत् कोई कर्मपुञ्ज अल्प, कोई अधिक और कोई अत्यधिक परमाणुओ का बना होता है।" [१]

इससे स्पष्ट है कि आपके दार्शनिक निबन्धो की रचना शैली बडी ही सरल और सयत है। पाठक मस्तिष्क पर बिना बोझ डाले ही भावो को सरलतापूर्वक हृदयगम कर लेता है।

दूसरा निबन्धसग्रह 'सौभाग्यरत्नमाला' नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रौढ मस्तिष्क वाली बहनों के लिए लिखा गया है। इसमे कुल नौ निबन्ध है। सभी निबन्ध विचारात्मक है तथा महिला कर्त्तव्य की शिक्षा देते है। सबसे पहला निबन्ध 'सत्य' विषय पर लिखा गया है। शैली रोचक, स्पष्ट और गम्भीर है। सत्य जैसे दुरूह विषय को कितने सरल ढग से समझाया है, यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट है —

"जिस प्रकार किसी एक अनेक पुष्पित वृक्षो से भरे वन मे कोई बटोही जा पहुँचे तो गन्ध-रहित पुष्पवाले वृक्षो का परिचय करना उसके लिए कठिन होता है। प्रत्येक वृक्ष के समीप जाकर तथा एक-एक का निरीक्षण किये बिना पता नही लगा सकता, परन्तु उस बटोही को चमेली गुलाबादि, जो सुगन्धित पुष्प है, उनका परिचय बहुत दूर से ही हो जाता है, उनकी मधुर गन्ध उसको चिर-परिचित के समान अपना लेती है। उसी प्रकार सच्चे मनुष्य का विश्वास पृथ्वी पर इतना प्रभाव डाल देता है, कि गाँववाले, गली-मोहल्लेवाले, शहरवाले तथा देशी विदेशी सभी जन उस मनुष्य को आदर की दृष्टि से देखने लगते है"। [२]

दूसरे 'आहार-विहार' शीर्षक निबन्ध मे भोजन और रहन-सहन के विविध नियमो पर प्रकाश डाला है। विविध भोज्य वस्तुओ की मर्यादा, उनके उपयोग की विधि तथा ऋतु, प्रकृति और धर्म की अनुकूलता के अनुसार भोजन तैयार करने का सविस्तर विवेचन किया है। तीसरे 'जीवनोद्देश्य' निबन्ध में जीवन के अन्तरग और बहिरग उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। प्राय मनुष्य अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित नही करते, जिससे निरुद्देश्य होने के कारण जीवन यो ही नष्ट हो जाता है। लक्ष्य-विहीन मनुष्य किसी भी स्थान पर नही पहुँच सकता है। जीवन का प्रधान उद्देश्य स्वस्वभाव या रत्नत्रय की प्राप्ति है और गौणरूप से अपने स्वार्थ का त्याग कर परसेवा करना है। जो व्यक्ति परो-

---

१—उपदेशरत्नमाला पृ० १११

२—सौभाग्यरत्नमाला पृ० ९–१०

पकार में अपने जीवन को लगा देता है, वह धन्य है। निष्काम कर्म करते हुए तन-मन-धन से समाज, परिवार, देश और राष्ट्र की सेवा करना जीवन का लक्ष्य होना चाहिये।

चौथा निवन्ध 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक है। इसमें महिला-समाज की दृष्टि से ब्रह्मचर्य की व्यवस्था, सदुपयोग, स्वरूप विश्लेषण आदि निरूपित हैं। नारियो के लिए शीलव्रत का आदर्श प्रतिपादित करते हुए सुयोग्य गुणवान् सन्तान उत्पन्न करने के निमित्त एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। पाँचवें 'सत्सगति' नामक निबन्ध में सत्सगति के लाभ और कुसगति की बुराइयो पर प्रकाश डाला गया है। कुसगति नाना बुराइयो का घर है। यदि मनुष्य को अच्छा बनना हो तो उत्तम व्यक्तियो का साथ करना चाहिए। जीवन में अधिकाश कुसस्कार कुसगति से ही उत्पन्न होते हैं।

छठा 'पातिव्रत' नामक निवन्व है। इसमे पातिव्रत के स्वरुप, उपयोग, विशेषता आदि के प्रतिपादन के साथ अनेक पतिव्रताओ के उदाहरण देकर भारतीय नारी के लिए सुन्दर आदर्श बतलाया गया है। पातिव्रत पालने के लिए निम्न नियमो का व्यवहार करना आवश्यक है—

१—जिस दिन विवाह हो उसी दिन प्रतिज्ञा करना कि 'मै आजन्म इस पतिदेव की ही दासी रहूँगी। कोई कैसा ही श्रेष्ठ मनुष्य क्यो न मिले इससे विशेष किसीको न समझूगी, कभी अपने पति को घृणा की दृष्टि से नही देखूँगी।'

२—विवाहित पति को अपना सर्वस्व समर्पण करना और अन्य पुरुष की स्वप्न में भी कामना न करना।

३—पति की आज्ञा का उल्लघन न करना। सर्वदा स्नेहपूर्वक पति का स्वागत सत्कार करना और उसे पूज्य समझना।

४—पति के साथ कलह-विसवाद न करना और सर्वदा उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करना। जैसे वृक्ष की छाया वृक्ष से पृथक् नही रहती, वैसे ही पति के जीवन से अपने जीवन को पृथक् न समझना।

५—केवल शारीरिक मिलन ही नही समझना, प्रत्युत आध्यात्मिक सम्मिलन भी। दो शरीर और एक प्राण के रूप में अनुभव करना।

सातवाँ निवन्ध 'एकता', आठवाँ 'शान्ति' और नौवाँ 'सच्चा सुख' शीर्षक हैं। इन निवन्धो में जीवन को सुख-शान्ति और आनन्दमय बनाने के नियमो का निरूपण किया गया है।

तीसरा निवन्ध सकलन "निवन्ध-रत्नमाला" नाम से मुद्रित हुआ है। इस सकलन में १८ निवन्ध हैं। सभी महिलापयोगी हैं, मानव-हृदय, पवित्रता, सद्ज्ञान, सद्व्यवहार, स्वावलम्बन निवन्ध

तो स्त्री, पुरुष दोनो के लिए समान रूप से उपयोगी हैं । इस सकलन मे प्राचीन आदर्श महिलाएँ, कन्या महाविद्यालय, विधवाओ का कर्त्तव्य आदि निबन्ध नारी जीवन की दिशा बदलने में परम सहायक हैं । 'मानव-हृदय' शीर्षक निवन्ध मे मानव-हृदय का विश्लेषण बडी कुशलता से किया है । मानस-शास्त्र के अनुसार हृदय की उन कमजोरियो का भी विवेचन किया गया है, जिनके कारण मानव व्यसनो का शिकार होता है, विषय-कषाय रूपी जाल में फँसकर सदा के लिए भक्त बन जाता है । यह निवन्ध सग्रह बडा उपयोगी है, उपदेशात्मक शैली मे सभी निवन्ध लिखे गये हैं ।

'आदर्श निवन्ध' नामक चौथा निबन्ध सग्रह है । इसमे महिला प्रतिष्ठा, महिला सुधार, सन्तान-सुख, साहस और पर्दा, विधवाओ की रक्षा, उनका आदर, आत्मोन्नति, सयम, सादगी आदि विभिन्न विषयो पर लिखे गये ३० निबन्ध हैं । ये सभी निवन्ध शिक्षाप्रद और ज्ञानवर्द्धक हैं । शैली रोचक और सक्षिप्त है ।

'निवन्ध दर्पण' मे लगभग ३०–३५ निबन्ध हैं । मितव्ययिता, नारी-जीवन, सन्तान-पालन, नारी-शिल्प, समय का सदुपयोग आदि निबन्ध बडे उपयोगी हैं । ये जीवन को उन्नति की ओर ले जाते हैं । पराधीनता के वन्धन में जकडी भारतीय ललना को किस प्रकार अपने अज्ञान को दूर कर अपना अभ्युत्थान करना चाहिए, नारी का अपने परिवार के प्रति क्या दायित्व है, सास, ससुर, देवर, जेठ, देवरानी, जिठानी के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, आदि समस्याओ पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है । आये दिन जो बडे परिवारो में गृह-कलह देखा जाता है, वही तो पारिवारिक सुख को भस्म करने वाला है । अत नारी को सहिष्णु बनना तथा त्यागी और सेवा भावी होना अत्यावश्यक है । अत नारी-जीवन की सफलता अपना छोटा-सा परिवार बसाकर पति के साथ रहने मे नही है, वल्कि घर के वुजुर्गों के साथ आनन्द और प्रेमपूर्वक रहने में है । 'नारी-जीवन' शीर्षक निबन्ध में जीवन की अनेक समस्याओ को सुलझाने का लेखिका ने प्रयास किया है । आजके युग में ये समस्याएँ सुशिक्षिता नारी के समक्ष भी ज्यो की त्यो वर्तमान हैं । अत 'निवन्ध दर्पण' भापा और शैली की दृष्टि से भले ही एम० ए०, बी० ए० की छात्राओ के लिए उपयोगी न हो, पर विचार और आदर्श भावनाओ की दृष्टि से यह निबन्ध सग्रह सभी प्रकार की महिलाओ के लिए उपयोगी है ।

"आदर्श कहानियाँ" यह माँश्री का कहानी-सग्रह है । इस सग्रह मे हम उनके कलाविद्, कहानीकार के रूप के दर्शन करते हैं । इस सग्रह की कहानियो की कलामर्मज्ञता का आस्वादन करते ही वनता है । हिन्दी में उत्तम चरित्रमडित एव शिक्षाप्रद कथाओ का सर्वथा अभाव है । इस सग्रह की सभी कथाएँ अपने में किसी शिक्षाप्रद व्यक्तित्व और चरित्र को लपेटे हुए हैं । इसमें समाज का सफेद चित्रण हुआ है । समाज की गन्दी परम्पराओ में सडनेवाली नारी की वहुमुखी उत्प्रेक्षा की एक लहर दौडती नजर आती है । जैसा कि भूमिका के पन्नो में स्वय लेखिका डके की चोट से कहती है—
"जैन और जैनेतर समाज में गद्य-पद्यमय कुछ रचनाएँ देवियो द्वारा प्रकाशित हुई हैं, तथापि कथानको की बडी कमी है । वर्तमान युग चरितात्मक युग है । इस समय चरित्र-चित्रण का प्रभाव मनुष्य पर

वडी गहराई से पडता है। प्रत्येक युवक और युवती का चित्त नाटकमय चरित्र के देखने, गायन सुनने और कथा-चरित्रो के पढने मे लगता है। परन्तु गन्दे और भद्दे उपन्यासो को पढकर लोग पथभ्रष्ट भी हो जाते हैं तथा लाभ के बदले हानि उठाते हैं। इसलिए समाज मे उत्तम चरित्रो और शिक्षा-प्रद कथाओ का अधिकाधिक प्रचार होना चाहिए। इसी दृष्टि से ये 'आदर्श कहानियाँ' प्रकाशित की जाती हैं। इसका प्रत्येक गल्प स्त्रियो की वुद्धिमत्ता, उनकी कार्यक्षमता, और उनके धैर्य को प्रकट करता है तथा सतीत्व और सेवा के भावो को जाग्रत करता है।" इस प्रकार इस सग्रह की कहानियो का उद्देश्य स्पष्ट है।

कहानियो के परिशीलन का विचार मन-मयूर को नचा डालता है। हाथमें पुस्तक आने पर समग्र पुस्तक पढे विना मन नही मानता। प्रत्येक कहानी एक नये दृष्टिकोण से लिखी गयी है और प्रत्येक में एक नयी समस्या का समाधान है। नारी हृदय की करुणा, ममता, दृढता, त्याग, सेवा, इन कहानियो मे फूट पडी है। 'रोहिणी', वियोगिनी', 'पुनर्मिलन' आदि कहानियाँ समाज से एक नया समझौता करने को प्रस्तुत हैं। युग के सामने जो विषम परिस्थितियाँ हैं उन पर माँश्री ने रग फेरने की चेष्टा नही की है, बल्कि कवि चारणो के समान कडखो से उत्तेजित कर आदर्श द्वारा समाधान प्रस्तुत किया है। जीवन और चेतना को विषम खण्डो के बीच बिखेरा नही गया है, किन्तु सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास के लिए नयी प्रेरणा प्रदान की गयी है।

इस प्रकार माँश्री की साहित्यिक प्रतिभा को हम सर्वतोमुखी पाते हैं। आपने निबन्ध लिखे, कथाएँ लिखी, कविताएँ रची और नवीन पीढी को अपने उपदेश द्वारा पाथेय प्रदान किया। अपने भावित और अनुभूत सत्य की परिधि न लाँघी और न अर्ध-परीक्षित या अपरीक्षित सिद्धान्त ही बटोर कर एकत्रित किये, किन्तु अनेक मनीषियो, तपस्वियो और आचार्यों द्वारा निगदित तथ्यो को "नद्या नव घटे नीलम्" के समान रखा।

माधवराम जैन, न्यायतीर्थ

माँश्री-चन्दाबाईजी : एक सफल सम्पादिका

सव देश और सव काल मे कुछ ऐसी नैसर्गिक विभूतियाँ विद्यमान रहती हैं, जो अपनी प्रखर दीप्ति से अशुभ का निवारण कर शुभ को प्रतिष्ठित करती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि प्राणीमात्र अपने जीवन के कण्टकाकीर्ण मार्ग को सुगम वना लेता है, जो अन्यथा सभव नही था। विदुषीरत्न ब्रह्मचारिणी माँश्री प० चन्दावाईजी एक ऐसी ही विभूति हैं, जिनके व्यक्तित्व के प्रकाश से आज कितने नर-नारी आलोकित दिखलाई पडते हैं। माँश्री अपनी तपस्या और परोपकारिता के कारण व्यक्ति नही, वल्कि एक महती सस्था के रूप मे आज शोभायमान हैं। जिस प्रकार के धनिक परिवार में आपका शुभ जन्म तथा परिणय हुआ उस प्रकार के सम्भ्रान्त कुल की ललनाओ की जीवन-धारा भोग और ऐश्वर्य, राग और विलास के उभय पुलिनो से प्रकाशित होती हुई काल के तप्त गह्र में अपने को सदा के लिए विलीन कर देती हैं। किन्तु, अपवादस्वरूप माँश्री की जीवन-धारा एक विशिष्ट दिशा में प्रवाहित होने को थी, अत नियति ने शैशव और तरुणाई की मोड पर वैधव्य का एक ऐसा क्रूर एव भयावना वाँध वाधा कि ससार में रहते हुए भी सासारिकता आपको स्पर्श न कर सकी। जीवन के प्रभात में ही आपका परिचय स्वाध्याय, सेवा, त्याग, और तपस्या से हुआ। इन्ही चिरपरिचितो के सहयोग से आपने इस अवनीतल पर अपनी एक अमरावती ही वसा ली है। ज्ञानार्जन और ज्ञानवितरण के क्षेत्र मे आप द्वारा जितने प्रयास हुए हैं, उनका वर्णन करना शक्ति के वाहर की वात है। परन्तु फिर भी आपके जीवन के एक लघुतम अश को लेकर कुछ प्रकाश डालने का आयास किया जायगा।

नारी के अभ्युत्थान के लिए आप आश्रम-सस्थापिका, सचालिका, उपदेशिका, अध्यापिका, व्याख्याता, सेविका तथा सफल सम्पादिका के रूप मे उपस्थित होती हैं। आपके अनेक रूप हैं, जिसकी जैसी भावना होती है, वह आपको ठीक उसी रूप मे देखता है। इस निवन्ध में आपके सम्पादिका जीवन पर यत्किञ्चित् प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा। सपादिका की जागरूकता, प्रत्युत्पन्नमतित्व एव पाण्डित्य आपमें कितने अश मे वर्तमान है, मै यह दिखलाने की चेष्टा करूँगा।

माँश्री अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महिला परिषद् के तत्वावधान मे, उन सस्था के मुखपत्र "जैन महिलादर्श" नामक महिलोपयोगी एक हिन्दी मासिक पत्रिका का सम्पादन सन् १९२२ से लेकर आज तक निरन्तर करती आ रही हैं। माँश्री के वरद स्कन्धो पर इस पत्रिका का सपादन भार कैसे चला आया इसकी भी एक कहानी है। सन् १९२२ ई० मे अ० भा० जैन महिला-परिषद्

का ११ वाँ अधिवेशन लखनऊ मे हुआ था। उस अधिवेशन मे अन्य प्रस्तावो के अतिरिक्त एक प्रस्ताव था मासिक पत्र निकालने का, जिसका सक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है—

"धार्मिक शिक्षा एव वास्तविक विवेक के अभाव मे वर्तमान जैन महिला समाज भौतिक पदार्थो के चकाचौंध में आकर अस्त-व्यस्त हो रहा है अतएव यह परिषद् प्रस्ताव करती है कि एक मासिक पत्रिका निकाल कर जैन नारियो मे जैन-सस्कृति की भावनाएँ प्रस्फुटित की जायँ, जिससे जैन समाज अपने खोये हुए गौरव को पुन प्राप्त कर सके अतएव कुरीति उच्छेदन और धार्मिक एव लौकिक ज्ञान की योजना के लिए 'जैन महिलादर्श' नामक मासिक पत्र निकाला जाय।"

प्रस्ताव का यह रूप जैसा कि आगे की पक्तियो से विदित होता होगा, 'जैन महिलादर्श' के जीवन का दृढ सकल्प बन गया, जिससे पत्रिका सर्वदा नियत समय पर प्रकाशित होती रही। प्रस्ताव, अपने उद्देश्य की पवित्रता के कारण, सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ, पर प्रश्न था कि इसका सम्पादन भार किसके बलशाली कन्धो पर डाला जाय! यदि कोई महिला-रत्न विदुषी थी तो उनमे हिन्दी की पर्याप्त योग्यता नही थी, और यदि किसी भी भाषा की योग्यता थी, तो उसमें वह विद्वत्ता नही थी जो एक पत्र के सम्पादन और सचालन के लिए अपेक्षित थी। यह मणि-काचन योग यदि किसी मे था तो वह माँश्री—ब्र० प० चन्दाबाईजी में। अतएव इनके लाख ननु नच करने पर भी सम्पादन भार इन्हीको दे दिया गया। श्री ललिता बहन, मगन बहन और ककू बहन ने जोरदार शब्दो मे आपके सम्पादिका बनने के प्रस्ताव का समर्थन, अनमोदन किया। अतएव माँश्री को महिला समाज की आज्ञा स्वीकार करनी पडी।

सन् १९२१–२२ का समय एक तूफान का समय था। महात्मा गाधी असहयोग आन्दोलन की रणभेरी बजा चुके थे। समाज में अजब तहलका मचा था, देश में चारो ओर क्रान्ति की लहर उमडती दिखलाई पड रही थी। विदेशी सरकार के पाँव उखडने लगे थे, देश का प्रत्येक समझदार व्यक्ति असहयोग के लिए तैयार था। बडे-बडे समाज-सुधारक अपना सिह गर्जन कर रहे थे। जान पडता था कि राजनैतिक और सामाजिक—परवशता की सभी शृखलाएँ अभी तुरत टूटना चाहती है। एक ऐसे ही झझापूर्ण मुहूर्त मे 'जैन महिलादर्श' का जन्म हुआ। भारतीय नवजागरण के उषाकाल से ही 'जैन महिलादर्श' अन्य लोकोपकारी आन्दोलनो से कधे-से-कधा मिलाकर नारियो के नवोन्मेष के लिए सतत प्रयत्न करता आ रहा है, क्यो न हो, नारी-जागरण के बिना कोई आन्दोलन सफल होता भी कैसे ? पर हाँ, उन दिनो कोई महिला पत्र निकालना हँसी-खेल नही था, 'कुँआ खोदना और तब प्यास बुझाने' जैसा काम था। 'जैन महिलादर्श' मे केवल स्त्रियो के ही लेख प्रकाशित हो सकते थे, ऐसा नियम था। उन दिनो हिन्दी के स्वल्प प्रचार के कारण लेखक तो मिलते ही नही थे, लेखिकाओ का मिलना तो और भी दुर्लभ था। इन विषम परिस्थितियो में सम्पादन की कठिनाइयो का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। स्व० प० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी 'सरस्वती' का सम्पादन लगभग इसी समय और इन्ही परिस्थितियो मे आरम्भ किया था। उनके सबध मे कहा जाता है कि उनके सशो-धन के पश्चात् लेख का कलेवर इतना परिवर्तित हो जाता था कि अपना कहने योग्य लेखक के नाम के अतिरिक्त और कुछ नही शेष रह जाता था। ठीक यही दशा प० चन्दाबाईजी की भी थी। उनकी कठिनाइयो की कहानी उन्हीके शब्दो मे सुनिए—

"उस समय समाज में शिक्षित देवियाँ इनी-गिनी ही दिखलाई पडती थी । जो शिक्षिता भी थी, वे या तो लिखने का साहस ही नही करती अथवा अशुद्ध और अस्पष्ट लिखकर भेज देती थी, जिससे सारा का सारा निवन्ध बदलना पडता था . यद्यपि यह समय सम्पादिका की परीक्षा का था, लेकिन तो भी जैनधर्म के प्रसाद से आरम्भिक कठिनाइयाँ फूल वन गईं और 'आदर्श' दिनोदिन वृद्धि-गत होने लगा ।" ('आदर्श' के रजत-जयन्ती अक के सम्पादकीय से)

आपकी एक दूसरी व्यावहारिक कठिनाई यह थी कि पत्रिका का मुद्रण और प्रकाशन श्री मूलचन्द किसनदास कापडिया द्वारा सूरत में होता आ रहा है । इससे आपको एक ही बार सामग्री को भलीभाँति सम्पादित कर भेज देना पडता है, जिसमें प्रकाशक को मुद्रण काल में फिर कुछ पूछताछ नही करनी पडे । इससे आपकी सम्पादन-कुशलता का परिचय मिलता है ।

युग-युग की पराधीनता के कारण भारतीय सस्कृति का लोप हो रहा था । स्त्रियो को मानवोचित स्थान प्राप्त नही था । समाज की दृष्टि में वे आदर का पात्र नही समझी जाती थी । देखिए, 'राम चरित मानस' में गोस्वामी तुलसीदास क्या लिखते हैं —

"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, मायारूपी नारि"
और भी
"सुनु मुनि कह पुरान श्रुति सता
मोह विपिन कहँ नारि वसता"

इसलिए आपने अपने सपादकीय लेखो द्वारा नारियो में नव-चेतना फूँकने के लिए शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया । "महिला सुधार के तीन मत्र" शीर्षक एक सम्पादकीय में आप लिखती हैं—"महिला-समाज के सुधार के तीन मूलमत्र हैं—शिक्षा, सदाचार और आत्मविश्वास ।" शिक्षा की वर्तमान पद्धति से आप जरा भी सतुष्ट नही हैं । क्योंकि इसके द्वारा नारियो के सहज गुणो का विकास नही हो पाता । वर्तमान शिक्षा-पद्धति महिलोपयोगी तो होने से रही, उनका सामान्य स्तर जरा भी ऊपर नही उठा सकती । आप पूर्वोक्त सम्पादकीय मे आगे लिखती हैं—"आज की शिक्षिता युवतियो की अवस्था देख-कर तरस आता है, वे पच्चीस वर्ष की उम्र मे ही वडी बूढी जैसी मालूम पडने लगती हैं । आज की शिक्षा मे सयम का नामोनिशान भी नही है । असयम और कुवासनाओ के झझावात ने देश के युवक-युवतियो को खोखला बना दिया है ।" वर्तमान पद्धति की कटु निन्दा करते हुए आप उसी सम्पादकीय में पुन लिखती हैं—"आज की शिक्षा में पूत भावनाओ को उत्पन्न करने की उतनी शक्ति भी नही । फिर यह शिक्षा किस प्रकार उपयोगी कही जा सकती है ।" अपना सुझाव पेश करती हुई आप लिखती हैं—"समाज में जितनी नई पाठशालाएँ खुल रही हैं उनमें नारी-शिक्षा का ऐसा प्रचार किया जाय जिससे नारी की सर्वाङ्गीण उन्नति हो सके घरेलू उद्योग धधे, गृह-व्यवस्था, सन्तान–पालन, गृहशिल्प आदि की शिक्षा के साथ-साथ शारीरिक विकास के लिए समुचित शिक्षा का मिलना नितान्त आवश्यक है ।" आपका यह सुझाव सर्वथा श्लाघनीय है, क्योंकि अन्ततोगत्वा

उसे स्त्रीत्व और मातृत्व का भार सभालना ही होगा। जो शिक्षा इस गुरुतर भार के सभालने मे सहायक न हो वह शिक्षा किस काम की होगी ?

शिक्षा के अतिरिक्त आपने भारतीय सस्कृति के आधार पर नारी-चरित्र के विकास पर अत्यधिक जोर दिया है, बल्कि यो कहा जाय कि आपने स्त्री-समाज में अपने सम्पादकीय लेखो द्वारा इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए एक नया आन्दोलन ही खडा कर दिया है तो अतिशयोक्ति नही होगी। इन तीन वर्षों के अन्दर आपके द्वारा लिखे गए सम्पादकीय लेखो का एक पृथक् सग्रह कर दिया जाय तो वह अलग से दया, क्षमा, निरभिमानता, सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, शील, पातिव्रत, ज्ञान-प्राप्ति, भ्रम-त्याग, सामाजिक कुरीतियाँ आदि विषयो पर गवेषणापूर्ण निबन्धो की एक सुन्दर निबन्धावली हो सकती है। पाठको की कुतूहल-शान्ति के लिए उनकी अमृतमय वाणी के दो-एक उदाहरण उपस्थित करने का लोभ सवरण नहीं किया जा सकता। भगवान् महावीर की पुण्य जयन्ती के अवसर पर विश्वबन्धुत्व और प्रेम पर लिखते हुए आप कहती हैं—

"सब जीवो की आत्मा में समान शक्ति है यह जीव ही अपने कर्मों के बल ऊँचा नीचा बनता रहता है। कर्म विनाश करने पर प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है अत मिथ्या अहकार के वश मे आकर किसी भी प्राणी को कष्ट देने, अपमान एव तिरस्कार करने का किसी को भी अधिकार नही है। यदि तुम सुख शातिपूर्वक रहकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हो तो पवित्र प्रेम के बधन में बध जाओ।"

आज भारतीय-सयुक्त-परिवार-पद्धति नरक की भयानक झाँकी बन रही है। आर्थिक कारणो के अतिरिक्त इसका एक प्रधान कारण है क्षमा का लोप और क्रोध और द्वेष का प्रसार, आप लिखती हैं—

"आज हमारे घरो में जो विरोध की भट्ठी सुलग रही है, इसका कारण भी तनिक सी बात पर उत्तेजित हो उठना ही है। क्योकि आज हमारी बहनें अहभाव के कारण किसी के कटु वचन नहीं सह सकती। वे एक कहने वाली सास, ननद को दस सुनाने को तैयार रहती हैं। भला सोचिए, यह विद्वेष सिर्फ क्रोध के ही कारण तो है, यदि क्षमा-भाव परिणामो में रहे तो फिर कुटुम्ब के कल्याण में जरा भी कमी नहीं रहे।"

यद्यपि जैन-सम्प्रदाय ने अहिंसा को अपने धर्म का प्राण माना है तथापि अहिंसा एक ऐसा सत्य है जिसको कोई देश और काल क्षण भर के लिए भी ठुकरा नही सकता। महात्मा गान्धी ने सत्य और अहिंसा के बीच कोई भेदक रेखा खीची ही नही। अहिंसा के सम्बन्ध में अपनी विराट् भावनाओ को व्यजित करती हुई आप लिखती हैं—

"केवल किसी को मारना ही हिंसा नही है, अपितु कुविचार भी हिंसा है, झूठ बोलना, उतावली करना, किसी से द्वेष करना, किसी का बुरा चाहना और ससार की आवश्यक वस्तुओ पर अधिकार

अपना कब्जा करना हिंसा है। .. . हम देखते हैं कि हमारी बहनें दूसरो की निन्दा अधिक किया करती हैं, क्या यह निन्दा हिंसा नही है? अवश्य हिसा है। . . जिन कार्यों से परिणाम विशुद्ध रहते हैं वे सब कार्य अहिंसामय हैं और जिन कार्यों से परिणाम अशुद्ध रहते हैं वे सब कार्य हिंसामय होते हैं।"

व्रत, देव-दर्शन आदि जैसे धार्मिक अनुष्ठानो के द्वारा अपनी वासनाओ पर विजय प्राप्त करने के बदले हमने इन्हे अपने सामाजिक पद-मर्यादा के प्रदर्शन का साधन बना लिया है। इस ओर बहनो का ध्यान आकृष्ट करते हुए आप लिखती हैं —

"प्राय देखा जाता है कि बहिनें सुन्दर से सुन्दर रेशमी साडियाँ पहनकर मन्दिरो मे जाती हैं और वहाँ नाना पकार की घरेलू चर्चाएँ किया करती हैं। शास्त्र सुनने के बहाने वे भोजन और घरेलू व्यवस्था सम्बन्धी बातें ही किया करती हैं। तथा दिखावे के लिए रागवर्धक वस्त्राभूषणो को धारण कर अपना महत्व प्रकट करती हैं। आजकल दिखावे की प्रवृत्ति अधिक चल गई है, महिलाएँ दिखावे के लिए व्रत उपवास अधिक करती हैं, वे अपनी भावनाओ के ऊपर विचार नही करती हैं। व्रतो के दिनो में ब्रह्मचर्य का पालन करना तो अत्यावश्यक है। जब तक वासनाओ को नही जीता जायगा, आत्मा का विकास नही हो सकता।"

स्त्रियाँ अबला के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसा माना जाता आ रहा है कि वे अपनी रक्षा करने के निमित्त सर्वथा अनुपयुक्त हैं तथा उनकी रक्षा का भार पुरुष-वर्ग के स्कन्धो पर रहता आ रहा है। यह विचार-परम्परा स्त्री-समाज की अधोगति के लिए कम जिम्मेवार नही है। देश-विभाजन का प्रश्न लेकर पाकिस्तान में स्त्रियो पर जो अमानुषिक अत्याचार हुए उससे इस विचार-परम्परा की जड हिल गई। इस दुर्घटना का उल्लेख करते हुए आपने निम्नलिखित शब्दो में स्त्रियो की आत्म-रक्षा पर जोर दिया है —

"पाकिस्तान मे होनेवाले अत्याचारो को सुनकर आँखो में खून उतर आता है, प्रतिशोध की भावना जागृत हो जाती है, किन्तु विवेक और सयम आकर शात रहने की प्रेरणा करते हैं। हमें इस सम्बन्ध में विशेष नही कहना है, हम सिर्फ महिलाओ को जागृत करना चाहती हैं। हमारा लक्ष्य यह है कि पाकिस्तान मे नारी जाति के ऊपर जो अमानुषिक अत्याचार हुए हैं, उनसे भारत की नारियाँ कुछ सीखें। अबतक हम नारी को अपनी रक्षा के लिए पति, कुटुम्ब, पुत्र, सरकार आदि का भरोसा था, पर आज इस युग में नारी की रक्षा कोई नही कर सकता है, नारी को अपनी रक्षा स्वय करनी होगी। इसके लिए महिलाओ में निर्भयता की भावना आनी आवश्यक है। शीलव्रत पर दृढ आस्था भी होनी चाहिए। भीरुता और कायरता को छोडना होगा।"

पुरुषार्थ चतुष्टय (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) की सिद्धि के लिए वैवाहिक जीवन एक आवश्यक वस्तु है। पर आज वैवाहिक प्रश्न जटिल से जटिलतर हुए जाते हैं। भिन्न आदर्श, भिन्न दृष्टि-कोण और भिन्न स्वार्थ वैवाहिक जीवन को निरानन्द बनाते चले जा रहे हैं। विवाह जिस पुनीत आदर्श

पर आधारित होकर सुख का देनेवाला था वह आज दुरादर्श पर आधारित हो दुख का कारण बन रहा है। इन प्रश्नो पर आपके निम्नलिखित विचार कितने विशद और सुलझे हुए हैं —

"यद्यपि हमारी भारतीय सस्कृति में विवाह प्रथा को अत्यन्त आवश्यक माना गया है, इसे केवल दो शरीरो का बन्धन नही माना है, किन्तु जीवन भर के लिए दो आत्माओ का सम्मिलन माना है।" वर्त्तमान व्यवस्था की आलोचना करते हुए आप लिखती है, "पाश्चात्य शिक्षा और सस्कृति के प्रभाव से अब नारियाँ भी अपना जीवन-साथी स्वयं ढूँढती है तथा कालेज में अध्ययन के साथ ही उनका प्रणय-बन्धन आरम्भ हो जाता है। कही तो इन प्रणय-बन्धनो के बडे भयकर परिणाम देखे गए हैं।" अपने कथन की पुष्टि मे आपने सन् १९४७ की रिपोर्ट का हवाला दिया है जिसके अनुसार उस वर्ष विलायत में ४ लाख विवाह तथा पचास हजार तलाक हुए अर्थात् विवाह करनेवालो से आठवाँ भाग उन लोगो का था जिनके विवाह के मधुर स्वप्न टूट चुके थे।

हिन्दू कोडबिल के सिलसिले में आज तलाक के औचित्य किम्वा अनौचित्य की अधिक चर्चा हो रही है। आप लिखती हैं —"विदेशी महिलाओ में तलाक के जितने केश हैं उनमें प्राय सभी में या तो नारी को दुराचारिणी होने से पुरुष तलाक देता है या पुरुष के दुराचारी होने से नारी तलाक देती है। जहाँ सदाचार, नैतिकता है वहाँ तलाक का सवाल ही नही उठता। भले ही कुछ नारियाँ बहकावे में आकर तलाक का समर्थन करे, किन्तु उन्हें इसके द्वारा सुख नही हो सकता।"

स्त्री-जगत् में समानाधिकार की माँग का आन्दोलन दिनोदिन जोर पकड रहा है। कतिपय स्वयभू महिला नेताओ ने यह आवाज बुलन्द की है कि पुरुषो की भाँति महिलाओ को भी समान रूप से सामाजिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये। प्राचीन लोकोपयोगी आदर्शो की अनुयायिनी होने के नाते आपको समानाधिकार की माँग समीचीन नही जान पडती। इस सम्बन्ध में आपकी निम्निलिखित उक्तियाँ है —

"समाज-निर्माण में स्त्री और पुरुष इन दोनो की पृथक् २ सत्ता नही है, दोनो की शक्तियाँ सगठित और समन्वित होकर प्रगतिशील समाज का निर्माण करती हैं। महिला वर्ग की ओर से समानाधिकार की माँग न होकर यह होनी चाहिए कि उनके समान पुरुष भी जीवनव्यापी बन्धन के प्रति वफादार बनें, सयुक्त जीवन-यापन करे, विवाहित जीवन के दायित्व को कुशलतापूर्वक अपनाएँ। एक स्त्री की मृत्यु के बाद दूसरी शादी न करें और आजन्म उसीके प्रेम मे तल्लीन रहें, अन्य को प्रेमार्पण न करें।

बहनें समानाधिकार प्राप्त भी कर लें तोभी वे अपने जीवन को सत्य और अहिंसामय नही बना सकती, क्योकि अधिकार और शक्ति शरीर से सम्बद्ध है, आत्मा या हृदय से नही। हृदय पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेममय, निष्कपट, सदाचारयुक्त जीवन की आवश्यकता है। इसीसे जीवन का नैतिक विकास होता है और समाज शक्तिशाली बनता है। अतएव बहनो को सर्वप्रथम अपने जीवन को सत्य और अहिंसा की कसौटी पर कसने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे उनके समस्त अधिकार उन्हें प्राप्त हो जायेंगे।"
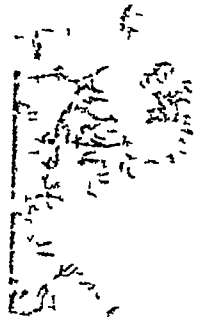
चैत्रवदी ५ सं० २००६ में श्री ब्र० प० चन्दाबाईजी द्वारा प्रतिष्ठित मानस्तम्भ का प्रतिष्ठाकालीन चित्र

भ्रम, अन्धविश्वास और कुरीतियो को तो आप फूटी आंखो भी नही देखना चाहती । आपने अपने अनेक सम्पादकीय लेखो में इनके मूलोच्छेद के लिए अपनी उक्ति रूपी तीक्ष्ण बाणो का अचूक प्रहार किया है । एक उदाहरण देखिए—

"हम प्राय देखती है कि बहनें बच्चो के पालन एव अन्य दु ख विपत्ति के समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की मनौतियां मनाती हैं, वे कहा करती है कि अब की बार बबुआ अच्छा हो गया तो भगवान् महावीर को छत्र चढायेंगे । क्या यह सम्यक्त्व है ?

कुछ बहनें बच्चो को इस मिथ्या कल्पना के वश बाहर नही निकालती हैं कि उसे नजर लग जायगी या भूत प्रेत की बाधा सतायेगी । यह कल्पना भी सम्यक्त्व का बाधक है । क्योंकि जो कर्मों का फल मिलनेवाला है, उसे कोई नही रोक सकता । इसके लिए मिथ्या कल्पना को मान बैठना सिवाय मूर्खता के और क्या हो सकता है ?"

पूर्वोक्त कुरीतियो के अतिरिक्त स्त्रियो मे फैशन का मोह भी एक भयानक कुरीति है । आज के औद्योगिक युग मे फैशन का रोग और अधिक बढता जाता है क्योकि बडे-बडे लक्षाधीश व्यवसायी विलास की सामग्री प्रस्तुत करने में अहर्निश जुटे रहते हैं । सहज शृंगारप्रिय भोली नारियो को फैशन के मोह-पाश मे आबद्ध करने के लिए वर्तमान युग की विज्ञापन-कला जादू का काम करती है । इस मोह-पाश से मुक्त होने के लिए ब्रह्मचारिणी सम्पादिका की उपदेशमयी अमृतवाणी का रसपान कीजिए —

"आज नारी की अनेक समस्याओ मे फैशन की भी एक समस्या है । आज नई-नई डिजाइन के फैशनेबुल गहने, वस्त्र एव अन्य भोगोपभोग की सामग्री की माग नारी समाज की रहती है । यदि पति महाशय की आमदनी कम हो या और किसी कारण से वह उनकी फरमायशो को पूरा न कर सके तो गृहस्थी का सारा आनन्द किरकिरा हो जाता है ।

सौन्दर्य को हम बुरा नही मानती । किन्तु सौन्दर्य की प्राप्ति फैशन से नही हो सकती । अधि-काश रोग भी इसी फैशन से जन्म ग्रहण करते हैं । अतएव नारियो को फैशन का व्यामोह अवश्य छोड देना चाहिए, इससे धन और स्वास्थ्य दोनो की रक्षा होगी ।"

फैशन से आपका विरोध है, पर सौन्दर्य से नही । आप चाहती है कि ललनाएँ बहिरग और अन्तरग दोनो प्रकार की अकृत्रिम सुन्दरता से अपनी शोभा बढायें जिससे उनके देश और समाज की शोभा बढे । उन्हीके शब्दो मे—

"सुन्दरता बाह्य साधनो से प्राप्त नही की जा सकती है, इसके लिए तो पहले हृदय को स्वच्छ करना होता है । यद्यपि सुन्दर आकृति, गौर वर्ण, स्वस्थ शरीर, प्रभावशाली मुखकमल और सुडौल अग-प्रत्यग बाह्य सुन्दरता के सूचक माने गए हैं, किन्तु यह बाह्य सुन्दरता अन्तरग सुन्दरता के बिना कभी भी शोभा नही प्राप्त कर सकती है । नारी का बहिरग जितना सुन्दर हो अन्तरग भी उतना ही सुन्दर

होना चाहिए। प्राकृतिक साधनो का सदुपयोग करने से सौन्दर्य की वृद्धि होती है। ब्रह्मचर्य एक ऐसी साधना है जिसके द्वारा सौन्दर्य की बडी भारी वृद्धि की जा सकती है।

ऊपर के बहुसख्यक उद्धरणो से यह विदित हो चुका है नारी-जगत् की समस्याओ तथा उन के समाधान के लिए वे कितना सचेष्ट है। स्त्रियो से सम्बन्ध रखनेवाला शायद ही कोई प्रश्न होगा जिस पर आपकी लेखनी मौन हो। आपके सम्पादकीय के अतिरिक्त इस आदर्श पत्रिका में ज्ञान-सवर्धक तथा रुचिकारक पाठ्य सामग्री की बहुलता रहती है। सद्भावनाओ के उद्रेक के लिए इसमें सुदर कहानी और कविताएँ प्रकाशित होती है। समूची पत्रिका में कही भी वासना का पुट नही मिलेगा। सम्पादिका ने स्वय स्त्रीरत्न राजुल की कहानी लिखकर एक सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। इस पत्रिका की एक यह भी विशेषता है कि किसी विवादग्रस्त स्त्री-संबधी विषय पर लेखो को आमंत्रित करती है और सर्वश्रेष्ठ रचना पर पुरस्कार देती है। फलत लेखिकाओ में परिश्रम करके लिखने की भावना जाग्रत होती है और पाठिकाओ को भी ठोस सामग्री मिल जाती है। सम्पादिका इन विवादग्रस्त विषयो पर उभय पक्ष के गुण दोषो पर प्रकाश डालती है एव दोनो पक्षो के सारभूत गुणो को सामने रखकर कल्याण का मार्ग दिखाती है। 'नारी तितली बने या मधुमक्खी' इन्ही विषयो में से एक है। कुछ लेखिकाएँ तितली के और कुछ मधुमक्खी के पक्ष में थी। उभय पक्ष के विवादो को पढ चुकने पर आप अपना निम्नलिखित निर्णय देती है—

"केवल भौतिक उन्नति का नाम उन्नति नही है, किन्तु आत्मिक गुणो की उन्नति का नाम उन्नति है। अत जिन बहनो ने भौतिकवाद को मद्दे नजर रखकर नारी को तितली बनने के लिए जोर दिया है, ठीक नही है क्योकि तितली नारी से समाज का विकास नही हो सकता है तथा जो बहनें मधुमक्खी रूपी नारी को समाज की सहायिका समझती है, वह सोलह आना सत्य नही है, क्योकि मधुमक्खी के समान गन्दी नारी समाजोत्थान कदापि नही कर सकती, तथा उसका जहरीली होना भी समाज को हितकर नही होता। अतएव नारी को दोनो से कुछ गुण सचित कर एक तृतीय रूप बनाने की आवश्यकता है।"

इन पठनीय सामग्रियो के अतिरिक्त पत्रिका में समय समय पर घरेलू चिकित्सा के नुस्खे तथा स्वादिष्ठ भोज्य पदार्थ बनाने की विधियाँ प्रकाशित होती रहती है जो स्त्री-समाज में इसकी उपयोगिता को और भी बढा देती है।

आज कितने महिला-पत्र प्रकाशित हो रहे है और वे अपने-अपने दृष्टिकोण से समाज-सेवा में सलग्न है। पर उन सभी पत्रो में 'जैन महिलादर्श' का स्थान बहुत ऊँचा है। इसके तीस वर्षों का दीर्घ और यशस्वी जीवन ही यह स्पष्ट बतला रहा है कि न केवल जैन-समाज, बल्कि समूचा हिन्दी ससार इसकी सेवाओ का कायल है, नहीं तो यह कब का बद हो चुका होता। सौभाग्यवश पत्रिका के जन्मकाल से आज तक आप ही इसका सपादन कर रही है। इस पत्रिका के साथ आपका कोई व्यावसायिक सबध नही, विशुद्ध नैतिक सबध है और सेवा के भाव से प्रेरित होकर ही आप इस भार का वहन करती है। सम्पादकीय लेखो में कुछ आदर्श [illegible] बातें पर आप अपनी [illegible] मान

लेनेवाली विदुषी नही हैं, वरन् आप अपने अन्तर्जगत की भावनाओ को वहिर्जगत में फलीभूत देखने के लिए निरन्तर यत्न करती हैं। इसीलिए आप अपने आदर्शों के अनुकूल एक शिक्षण सस्था भी सचालित करती हैं जहाँ कुमारी, विधवा हर प्रकार की नारियाँ अपने जीवन को सुखमय वनाने की चेष्टा करती हैं। सम्पादन के अतिरिक्त आपने कुछ उत्तमोत्तम ग्रन्थो का प्रणयन भी किया है जिनमें से 'ऐतिहासिक स्त्रियाँ', 'महिलाओ का चक्रवर्तित्व', 'उपदेश रत्नमाला' , 'सौभाग्य रत्नमाला', 'आदर्श निवन्ध', 'आदर्श कहानियाँ', 'निवन्ध रत्नमाला' आदि उल्लेखनीय हैं।

इस महिलारत्न की प्रशसा मे माननीया राजकुमारी अमृत कौर ने एक वार लिखा था— "मैं पण्डिता जी के नि स्वार्थ एव उत्कृष्ट कार्य मे महती सफलता की कामना करती हूँ। काश, पण्डिता जी सरीखी भारतीय महिला के कुछ काल के खोये प्राचीन गौरव को पुन स्थापित करने के लिए और महिलाएँ होती !"

इन शब्दो के साथ यह अकिञ्चन विदुषीरत्न, महिला शिरोमणि, ब्रह्मचारिणी, पण्डिता माँश्री-चन्दावाईजी का सादर अभिनन्दन करता है। हार्दिक शुभकामना यह है कि आपकी कल्याणकारिणी लेखनी सुदीर्घ काल तक ज्ञान-गगा प्रवाहित करती रहे, जिसमें निमज्जन कर मानव जाति अपने क्लेश-कर्म का क्षय और गुणो का विकास कर सके। देश में आपकी ज्ञानधारा सर्वत्र व्याप्त हो और आप दीर्घायु होकर साहित्य के लिए अमूल्य रत्न प्रदान करती रहें।

—रामबालक प्रसाद, साहित्यरत्न, बी० ए०

सचिवालय, पटना।

माँश्री की कला-प्रियता

आत्मा की सुकोमल, मजु, मृदुल, और मनोज्ञ नैतिक साधन-शृखला कला कहलाती है। मानव-शिशु जिस क्षण आँखें खोलता है, उसी क्षण से वाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओ की छाप अलक्ष्य रूप से उसके कल्पनाशील मन पर पडने लगती है। विश्व का ऐसा एक भी परमाणु नही है, जो उस पर अपना प्रभाव विना डाले रहता हो, किन्तु विशेषता सस्कार ग्रहण करनेवाले की होती है। इस ग्रहीत सस्कार को मानव अपने तक ही सीमित नही रखना चाहता, बल्कि अन्य पर भी अभिव्यक्त करने के लिए अनिवार्य-सा हो जाता है। अथवा यो समझिये कि मानव के हृदय और मस्तिष्क की रचना ही कुछ ऐसी है, जिससे सस्कार का वातावरण उसे प्रभावित करता है। जिस प्रकार चचल पवन जलराशि पर अपना प्रभाव अकित करता है या मयूख-राशियाँ जैसे शिलाखण्डो पर अपना शीतोष्ण गुण अकित करती हैं, इसी प्रकार मानव मस्तिष्क में जड-चेतन पदार्थों के चित्र अकित होते रहते है। परन्तु मनुष्य की आत्मा में नैसर्गिक प्रेरणा होती है कि वह उन चित्रो को अभिव्यक्त करे। अभि-व्यञ्जना की यही प्रणाली कला है।

कला आनन्दस्वरूप है, सत्य-शिव-सुन्दर है और है आत्मा का भोजन। कला जन्य आनन्द का पान किये विना असत् से सत् की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर और विनश्वर से अविनश्वर की ओर प्रवृत्ति नही हो सकती। यही कारण है कि प्रत्येक सस्कृति का जन्म, सवर्द्धन और पोषण कला के द्वारा ही होता है। कोई भी कलाकृति आत्मा के आवरण को भग कर स्वस्वरूप का रसास्वादन कराने की क्षमता रखती है। इसी वात को काव्य प्रकाशकार ने वतलाया है—"सकल प्रयोजनमौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूत विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्" अतएव यह निर्विवाद है कि कला का चरम उद्देश्य उपयोगिता के साथ आत्मानुभूति को प्राप्त करना है।

कला एक ऐसा रमणीय पदार्थ है, जिसके प्रति धनी-निर्धन, मूर्ख-विद्वान् एव शिक्षित-अशिक्षित आदि सभी का आकृष्ट होना सभव है, परन्तु जिन व्यक्तियो में भावना और विचार की प्रधानता होती है, जो आत्मानुभूति प्राप्त करना चाहते है, भेदानुभूति द्वारा पर पदार्थों से अपने भिन्नत्व का अनुभव करना चाहते है ऐसे व्यक्ति निश्चयत कलाकार अथवा कलाप्रिय होते हैं। माँश्री तपस्विनी, साधक और आत्मानन्द का पान करनेवाली है, अतएव वह स्वय कलाकार होने के साथ कलाप्रिय है। उनका सिद्धात है कि अपने हाथो द्वारा निर्मित वस्तु मे जो आनन्द, जो रस और जो तृप्ति होती है, वह दूसरो द्वारा निर्मित वस्तु में कभी नही आ सकती। मनुष्य की यही प्रवृत्ति उसे कलाकार वनाती है। जीवित रहना

भी एक कला है , जो स्वयं अपने हाथो द्वारा परिश्रम नही करते है, जिनके जीवन में नियम और क्रमवद्धता नही है, वे किसी प्रकार जीवन के वोझ को ढोते है पर जीवित रहने की कला नही जानते । अतएव मानव ने श्रम के मार्ग द्वारा ही कला को पाया है ।

आत्मा का मूलस्वभाव आनन्दमय है, इस सच्चिदानन्द, अखण्ड, अकम्प, स्थिर आत्म-तत्त्व की अनुभूति कलाकृतियो द्वारा ही हो सकती है । जो व्यक्ति अज्ञान रोग का निवारण करना चाहता है, निर्दोष आनन्द प्राप्त करना चाहता है, उसे कला का आश्रय अवश्य लेना पडता है । सच्ची कला आत्म-सौन्दर्य की अनुभूति करानेवाली होती है तथा यह आत्मानुभूति भी लोकातीत, अभिनव, अतीन्द्रिय और सूक्ष्म होती है ।

माँश्री उक्त सिद्धान्त के अनुसार आत्म-रसज्ञ होने के कारण ललित कलाओ की स्वय प्रणेता है तथा इन कलाओ से अतिशय प्रेम भी रखती है । सास्कृतिक महत्ता और गौरव-गरिमा की रक्षा के लिए आपके तत्त्वावधान में निर्मित अनेक कलाकृतियाँ आपकी कलाप्रियता का ज्वलन्त निदर्शन है ।

अभिव्यञ्जना की दृष्टि से माँश्री की कलाप्रियता को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—स्थितकला (The Static mood of art) और गतिशील कला (The dynamic mood of art) । प्रथम मे क्रम और औचित्य की प्रधानता तथा द्वितीय में गति, आरोहावरोह एव भावव्यजना की प्रधानता रहती है । स्थित कला के वास्तु, मूर्त्ति और चित्र ये तीन भेद एव गतिशील कला के सगीत और काव्य ये दो भेद है ।

वास्तुकला—लोहा, पत्थर, लकडी और ईंट आदि स्थूल पदार्थों के सहारे अमूर्त्तिक भावो के सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना इस कला मे की जाती है । माँश्री ने सुन्दर जिनमन्दिर वनवाकर अपनी इस कलाप्रियता का परिचय दिया है । आपने राजगृह के द्वितीय पर्वत रत्नगिरि पर एक विशाल और रम्य जिनालय का निर्माण कराया है । यह जिनालय कला की दृष्टि से अद्वितीय है । प्रतिष्ठासारसग्रह में जिनालय-निर्माण के स्थानो का उल्लेख करते हुए वतलाया गया है—

> जन्म-निष्क्रमण-स्थान-ज्ञान-निर्वाण-भूमिषु ।
> अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूले नगरेषु च ॥
> ग्रामाद्रिसन्निवेशेषु समुद्र-पुलिनेषु च ।
> अन्येषु वा मनोज्ञेषु कारयेज्जिनमन्दिरम् ॥

इस श्लोक मे निर्दिष्ट जिनालय निर्माण के स्थानो में ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक स्थानो मे मन्दिर वनवाने का महत्त्व मेरी समझ से और भी अधिक है । रत्नगिरि पर्वत को निर्वाणभूमि माना गया है तथा विपुलाचल पर्वत पर भगवान् महावीर स्वामी का प्रथम समवशरण आने के कारण राजगृह के पाँचो ही पहाडो की महत्ता और पवित्रता जैनागम मे वर्णित है । इसी कारण माँश्री ने मुनि सुव्रतनाथ की जन्मभूमि में जिनालय-निर्माण के लिए राजगृह स्थान को ही चुना और

अपनी भव्य भावनाओ का प्रतिफलन उक्त जिनालय मे कराया । जिस उन्नत पहाडी भूमि पर यह जिनालय स्थित है, वह स्थान इतना पवित्र और रम्य है कि यहाँ पहुँचते ही मन पूत भावो से भर जाता है । पाप रज उड जाती है, इतनी प्रसन्नता और आनन्द आता है जिससे साधक एक क्षण के लिए सब कुछ भूल कर आत्मानन्द सरोवर मे डुबकियाँ लगाने लगता है । सचमुच में जिनालय निर्माण के लिए इतनी सुन्दर रमणीक भूमि का निर्वाचन करना माँश्री की कलामर्मज्ञता का जाज्वल्यमान निदर्शन है।

माँश्री ने इस मन्दिर में जैनागमानुसार कलश, मिहराब, जालियाँ, झरोखे आदि बनवाये है, जिससे उनकी स्थापत्यकलाभिज्ञता का पता सहज में ही लग जाता है । आपको ध्रुव, धान्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुमुख, दुर्मुख, क्रूर, सुपक्ष, धनद, क्षय, आक्रन्द, विपुल और विजय इन सोलह प्रकार के प्रासादो की पूर्ण जानकारी है । समय-समय पर इन प्रासादो की निर्माणशैली का व्याख्यान आपके द्वारा सुना गया है । आपके राजगृह में निर्मित मुनि सुव्रतनाथ जिनालय में प्रतिष्ठा-पाठोक्त निर्माण-विधि का पालन मिलता है । चैत्यालय निर्माण के सम्बन्ध मे जैनाचार्यों ने बतलाया है—

> सिंहो येन जिनेश्वरस्य सदने निर्मापितो तन्मुखे ।
> कुर्यात्कीर्तिमुख त्रिशूलसहित घण्टादिभिर्भूषितम् ।।
> तत्पार्श्वे मदनस्य हस्तयमलं पचाङ्गुलीसयुतम् ।
> केतुस्वर्णघटोज्ज्वलञ्च शिखरं केत्वाय निर्मापितम् ।।

माँश्री द्वारा निर्मित मानस्तम्भ तो भास्कर्य कला के चरम गौरव और परम सौन्दर्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । कला की दृष्टि से ऐसा सुन्दर मानस्तम्भ अब तक इन पक्तियो के लेखक के देखने में नही आया है । इस स्तम्भ के निकट पहुँचते ही वस्तुत मान गल जाता है, आत्मा निर्मल निकलने लगती है । अशान्त से अशान्त व्यक्ति भी इस दुग्ध से अभिषिक्त धवल, सगमरमर के मानस्तम्भ के दर्शन मात्र से शान्ति प्राप्त कर सकता है । यह श्री जैन-बालाविश्राम आरा के बाहुबली स्वामी के मन्दिर के सामने अपनी दिव्यता और भव्यता से जनमन को अनुरजित करता है । इस स्तम्भ पर चित्रित अनेक चित्र एव नक्कासी, जो घटा , श्रृखला आदि के रूप में की गयी है, प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति प्रदान करती है ।

बालाविश्राम का विशाल भवन भी माँश्री की भास्कर्यकलाभिज्ञता का परिचायक है । यहाँ विद्यालय-भवन, छात्रावास, विश्रान्ति-भवन, कार्यालय-भवन आदि प्रासाद इतने कलापूर्ण ढग से निर्मित किये गये है, जिससे दर्शक की आँखो को परम तृप्ति होती है । प्रवेश द्वार पर झूमती माधवी लताएँ बरबस ही दर्शक के मन को उलझा लेती है । विद्यालय-भवन के ऊपर निर्मित जिनालय की सगमरमर की सुन्दर परिक्रमा, जो बगीचा काट कर बनायी गयी है, अपनी रमणीयता से दर्शको को लुभाये विना नही रह सकती । इस परिक्रमा स्थान पर पडनेवाली प्रात कालीन ऊषा की लालिमा अपनी आभा द्वारा अद्भुत छटा विकीर्ण करती है । उद्यान से छनकर आनेवाली शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु दर्शक के मन को पवित्र कर देती है । निश्चयत इस परिक्रमा-स्थान के बनवाने में स्थापत्यकला का प्रयोग किया गया है । यहाँ प्रकृति का समस्त सौन्दर्य एक ही स्थान पर पुञ्जीभूत किया गया है । इस प्रकार

मांश्री वास्तुकला की मर्मज्ञा हैं तथा अपनी इसी कलाप्रियता के कारण मन्दिर, मानस्तम्भ और अन्य भवनो को जैन संस्कृति के अनुकूल ही बनवाया है ।

मूत्तिकला—वास्तुकला जिस आभ्यन्तरिक आत्मा की ओर संकेत करती है, मूत्तिकला उसीको प्रकाशित करती है । मूत्तिकला मे आभ्यान्तरिक आत्मा और बाहरी साधनो मे समन्वय रहता है । अतएव सफल मूत्तिकला में आध्यात्मिक और शारीरिक सौन्दर्य की समन्वित अभिव्यञ्जना की जाती है । मानव स्वभावत अमूर्त्तिक गुणो के स्तवन से सन्तोष नही करता, उसका भावुक हृदय एक साकार आधार चाहता है, जिसके समक्ष वह अपने भीतर की बात को कह सके और जिसके गुणो को अपने जीवन में उतार कर सन्तोष प्राप्त कर सके । मांश्री ने आत्मिक गुणो के चिन्तन के लिए तीथकंरो की सुन्दर, सुभग और दिव्य मूर्त्तियाँ स्थापित की हैं । उनके द्वारा स्थापित सभी मूर्त्तियाँ आगम के अनुसार हैं । आगम मे बतलाया गया है—

शान्त-प्रसन्न-मध्यस्थ-नासाग्रस्थाविकारदृक् ।
सम्पूर्णभावरूऽनुविद्धाग लक्षणान्वितम् ।।
रौद्रादिदोषनिर्मुक्त प्रातिहार्याकयक्षयुक् ।
निर्माप्त विधिना पीठे जिनविम्बं निवेशयत् ।।

अर्थात्—शान्त, प्रसन्न, मध्यस्थ, नासाग्र अविकारी दृष्टिवाली, अनुपमवर्ण, वीतरागी, शुभलक्षण सहित रौद्र आदि बारह दोषो से रहित, अशोक वृक्ष आदि अष्ट प्रातिहार्यो से युक्त और दोनो तरफ यक्ष-यक्षिणियो से सहित जिन प्रतिमा को विधिपूर्वक सिंहासन पर विराजमान करना चाहिये । मूर्त्ति में वीतराग दृष्टि, सौम्य आकृति और निश्चलता अवश्य रहनी चाहिये ।

माँश्री की प्रेरणा से श्रीमती नेमसुन्दर देवीजी ने श्रीजैन-बालाविश्राम आरा में दक्षिणभारत के श्रवणबेलगोलस्थ बाहुबली स्वामी की मूर्त्ति की प्रतिलिपि कराके १४ फुट ऊँची कृत्रिम पर्वत पर एक विशाल और दिव्य गोम्मट स्वामी की मूर्त्ति स्थापित करायी है । यह मूर्त्ति सगमरमर की है तथा आकार-प्रकार में श्रवणबेलगोल के गोम्मट स्वामी जैसी ही है । इस खड्गासन प्रतिमा में आजान बाहुओ का लटकना कृतकृत्य, ससार के गोरख-धन्धे से रहित, मानसिक और शारीरिक सघर्ष को छिन्न करने में सलग्न, प्रकाण्ड तथा विराट् विश्व मे अकेला ही अपने सुख-दुःख का भोक्ता यह जीव हैं की भावना के सन्देश का सूचक, प्रशान्त मुख मुद्रा सर्वत्र शान्ति और प्रेम के साम्राज्य की व्यजक एव आभरण और वस्त्रहीनता अपनी कमजोरियो तथा यथार्थता को प्रकट करने की भावना की सूचक है । यह अपने दिव्य एव विराट् स्वरूप द्वारा ससार मरुभूमि में मृगतृष्णा से सतप्त मानव को परम शान्ति और कर्त्तव्यपरायणता का सकेत करती है । इस विशाल, रम्य मूर्त्ति का यह सकेत निर्जीव नही, वरन् सजीव है ।

इसकी देह का खाका, गठन, नाप-जोख आदि बातें आकृति, मुखमुद्रा एव विविध गति-भगियो के निरीक्षण से ज्ञात की जा सकती हैं । इसकी प्राणछन्द की रूपरेखा पर से ही शरीर की

भाव समता, आकार-प्रकार एव सूक्ष्मत्व आदि बाते अवगत की जा सकती है। उत्तर भारत में गोम्मट स्वामी की यही एकमात्र मूर्त्ति है, निस्सन्देह माँश्री ने इस मूर्त्ति द्वारा श्री जैन-बाला-विश्राम के सौन्दर्य मे तो चार चाँद लगाये ही है, पर जैन-सस्कृति के सवर्द्धन और प्रसारण मे सदा अमर रहनेवाला कार्य किया है।

बाहुबली स्वामी की मूर्त्ति मे एक सबसे बडी विशेषता यह है कि यह हँसती हुई मौनभाषा मे सावधान करती हुई दिखलायी पडती है। तपस्या की अधिकता के कारण लता, बेलो का पैरो में लिपट जाना, सर्प-बिलो पर स्थिर होकर तपस्या करने के कारण सर्पों का क्रीडा करना एव सभी प्रकार के प्रलोभनो से दूर रहकर आत्म-साधना में लीन रहना आदि बातो के रहते हुए भी यह अद्भुत मनोरजक और चित्ताकर्षक है। इस मूर्त्ति के दर्शक आत्मविभोर हो मूर्त्तिमान की प्रशसा के साथ माँश्री की भी प्रशसा करते है, जिन्होने इतनी सुन्दर कलापूर्ण मूर्त्ति स्थापित की है। ध्यानमुद्रा में स्थित इस मूर्त्ति की आँखो से आँखें मिलाकर देखिये, देखते ही रह जाइयेगा।

राजगृह के रत्नगिरि पर निर्मित मन्दिर में माँश्री ने श्यामवर्ण मुनि सुव्रतनाथ की क्या ही मनोज्ञ पद्मासन मूर्त्ति स्थापित की है। यह मूर्त्ति अष्टप्रातिहार्य युक्त, नाना गुण समिन्वित और सर्वांग शुद्ध एव सुन्दर है। यह योग मुद्रा में स्थित है, जिसका अर्थ आत्मिक भावनाओ की अभिव्यक्ति है। नासाग्रदृष्टि निर्भयता और ससार के प्रलोभनो के सवरण की सूचक, सिर, शरीर और गर्दन का एक सीध में रहना अतुलबल, आत्मप्रतिष्ठान और जगत् की मोह-माया से पृथक्त्व का सूचक तथा पद्मासन रहने के कारण इस प्रतिमा में बाईं हथेली के ऊपर दाईं हथेली का खुला रहना स्वार्थ त्याग, चरम सन्तोष, आदान-प्रदान की भावना से रहित एव वीतरागता का सूचक है। यह मूर्त्ति शास्त्र कथित प्रमाण तो है ही साथ ही कला की दृष्टि से अद्भुत है। श्यामवर्ण की होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो विश्व के समस्त जजालो से दूर करने के लिए शान्तिमय उपदेश देने के निमित्त अपने जन्म-स्थान में स्वय मुनि सुव्रतनाथ भगवान् विराजमान है। यहाँ इन भगवान के तीन कल्याणक हुए हैं। इसकी आकृति भगवान् के शरीर की आकृति से बिल्कुल मिलती-जुलती है। मूर्त्ति के निकटस्थ नेमिनाथ भगवान् और पार्श्वनाथ भगवान् के श्यामवर्ण के चरणचिह्न अनुपम सौन्दर्य विकीर्ण करते हैं। माँश्री द्वारा प्रतिष्ठित ये चरण तथा श्यामवर्ण की प्राचीन महावीर स्वामी की मूर्त्ति किसी भी भक्त को सहज में ही आह्लादित करने में सक्षम हैं।

मानस्तम्भ में उत्कीर्ण आठ मूर्त्तियाँ तथा ऊपर की गुमटी में स्थित चार मूर्त्तियाँ भी बडी ही मनोज्ञ और चित्ताकर्षक है। माँश्री की कलामर्मज्ञता का प्रमाण इन मूर्त्तियो की सुन्दरता ही है।

चित्रकला—विश्व की ललितकलाओ में चित्रकला का अद्वितीय स्थान है। इस कला द्वारा मानव जाति के व्यापक और गम्भीर भावो को जनता के समक्ष रखा जा सकता है। माँश्री यद्यपि तूलिका लेकर चित्रो में रग नही भरती है, परन्तु वे धूलिचित्र बनाने में अत्यन्त निपुण है। विशेष

पूजा-पाठो के अवसर पर सुन्दर माडना पूरना तथा इस माडने को चित्र-विचित्र रग के चूर्णों द्वारा भरना आदि आपको अच्छी तरह ज्ञात है। मुझे श्री शान्तिनाथ जिनालय के समक्ष मण्डप वनाकर सम्पन्न हुए इन्द्रध्वज-विधान एव दशलक्षण व्रतोद्यापन के अवसर पर निर्मित माडने को देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। इन्द्रध्वज-विधान का पचरगा माडना तथा पालि-स्थापित चवूतरे का माडना आज भी मेरे नेत्रो के समक्ष विद्यमान है। इन माडनो के सौन्दर्य ने विधान की गरिमा को कई गुना वढा दिया था। वाहर के सम्मिलित व्यक्तियो ने मुक्तकण्ठ से आपकी प्रशसा की थी।

धार्मिक कार्यों के अवसर पर जो-जो माडने आरा में पूरे जाते है, वे प्राय सब माँश्री के तत्त्वावधान में ही निर्मित होते है। आप समवशरण, त्रिलोकमण्डल, तेरहद्वीप, अढाईद्वीप, चौवीसी एव नन्दीश्वरद्वीप आदि के माडने वडे ही मनोज्ञ और शुद्ध पूरती है। प्रतिष्ठा के अवसर पर सम्पन्न होनेवाले यागमण्डल विधान का माडना तो आप इतने व्यवस्थित और कुशलता के साथ पूरती है, जिससे देखनेवाले आपकी चित्रकला की प्रशसा किये बिना नही रह सकते। कपडे का बनाया माडना रखकर पूजा या विधान करना आपको अभीष्ट नही। यदि आपके समक्ष कोई टेढा-मेढा माडना पूरता है तो आप उससे एक शब्द विना कहे ही स्वय पूरने में लग जाती है और थोडे ही समय में सुन्दर कलापूर्ण माडना तैयार कर लेती है।

यद्यपि इस समय माँश्री छात्राओ को ड्राइग नही सिखलाती है, पर आज से २०–२२ वर्ष पूर्व, जव कि श्री जैन-वाला-विश्राम आरा स्थापित किया गया था, उस समय आप स्वय ही चित्र वनाना छात्राओ को वतलाती थी। आपको चित्रकला से अभिरुचि है। आजकल भी आप अपने पौत्र श्री प्रवोधकुमार से धार्मिक चित्र जव-तव वनवाती रहती है। जैनकथाओ के कथानक के आधार पर आज से दो वर्ष पूर्व सन् १९५० में जिस समय धर्मामृत के चित्र वनाने के लिए प्रसिद्ध चित्रकार श्री दिनेशवख्शी पटना से आरा पधारे थे, उस समय आपने उनको इस कला के सम्वन्ध में जो परामर्श दिये थे, वे अत्यन्त महत्व-पूर्ण थे। रत्नाकर शतक का डस्टकवर चित्र एव धर्मामृत के आठ-नौ चित्र आपके ही तत्त्वावधान मे निर्मित किये गये थे।

आपकी चित्रकला-प्रियता का एक उदाहरण मानस्तम्भ मे खचित चतुर्गति, षट्लेश्या और अहिंसा चित्र है। चतुर्गतिभ्रमण चित्र में विषयी जीव की दुर्गति एव ससार के प्रलोभनो की मोहकता का विश्लेषण किया गया है। षट्लेश्या चित्र में छ लेश्याओ के स्वरूप एव व्यक्ति की अहिंसक भाव-नाओ का उत्थान-पतन वडे ही सुन्दर ढग से दिखलाया गया है। इसी प्रकार अहिंसा चित्र में अहिंसा धर्म की महत्ता दिखलाने के लिए सिंहनी और गाय को एक साथ एक ही नाद मे पानी पीते तथा सिंहनी का वच्चा गाय का दुग्ध और गाय का वच्चा सिंहनी का दुग्ध पान करते हुए दिखलाया गया है। माँश्री सास्कृतिक भावनाओ की अभिव्यजना के लिए धार्मिक चित्रो को अधिक महत्व देती है।

सगीतकला—इस कला का आधार इन्द्रियगम्य है, पर इसका अधिक सम्वन्ध नाद मे है। सगीत में आत्मा की भीतरी ध्वनि को प्रकट किया जाता है। इसमे तनिक भी सन्देह नही है कि नाद की सहायता से हमें अपने आन्तरिक आह्लाद को प्रकट करने मे वडी सुविधा होती है। सगीत का

प्रभाव भी व्यापक, रोचक और विस्तृत होता है। माँश्री इस कला को क्रियाविशाल नाम के पूर्व के अन्तर्गत मानती हैं। यद्यपि आप स्वय सगीतज्ञ नही हैं, पर सगीतकला से आपको पर्याप्त अभिरुचि है।

भक्ति-विभोर होकर माँश्री को पूजा पढते जिन लोगो ने सुना है, वे उनकी स्वर-लहरी से पूर्ण परिचित होगे। इन पक्तियो के लेखक को दो-चार वार माँश्री के मुखारविन्द से निकली स्तुति, एव पूजन के पद्य सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है। उनकी स्वर-लहरी इतनी मधुर और स्पष्ट है कि श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं। भक्ति की तन्मयता के कारण प्रत्येक शब्द में अपूर्व माधुर्य और स्पष्टता रहती है। सस्कृत श्लोको में भी अद्भुत मिठास रहती है, अत रोता व्यक्ति भी माँश्री के कण्ठ से श्लोक श्रवण कर हर्ष-विभोर हुए विना नही रह सकता है। मीरावाई जैसे भक्ति के अतिरेक के कारण पद गाती थी, वैसे माँश्री का प्रत्येक शब्द भक्ति की अतल गहराई के कारण हृदयवीन के तारो को झकृत कर देता है।

विद्यालय में छात्राओ को सगीतशिक्षा दिलाने के लिए माँश्री सतत सचेष्ट रहती हैं। आप स्वय अपने समक्ष छात्राओ को नादोत्पत्ति, नादभेद, ध्वनिभेद, रागो के रागाग, उपाग भाषाग आदि का अभ्यास कराती हैं। तोडी, वसन्त, भैरवी, मालवश्री, बराही, धनाश्री, आदि रागो का अभ्यास छात्राएँ अध्यापिकाओ द्वारा आपके ही तत्त्वावधान में करती हैं। जिस छात्रा का सगीत की ओर विशेष झुकाव रहता है, उसके लिए आप विशेष रूप से इस कला के शिक्षण का प्रवन्ध कर देती हैं। आप सदा कहा करती हैं कि साहित्य और सगीत ये दोनो कलाएँ जीवन से दु ख, शोक, सन्ताप भगानेवाली हैं। सासारिक राग-द्वेष की मात्रा सगीत-कला के प्रचार से ही दूर की जा सकती है। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग से उत्पन्न होनेवाला सक्लेश सगीत के द्वारा दूर किया जा सकता है। ताल और लय के समन्वय द्वारा उत्पन्न ध्वनि अवश्य ही मानव के अन्तस् में आनन्द उत्पन्न करती है। इसी कारण माँश्री के मुख से निरन्तर यह श्लोक सुनने को मिलता है—

> **तालमूलानि गेयानि ताले सर्वं प्रतिष्ठितम्।**
> **तालहीनानि गेयानि मन्त्रहीना यथाहुति॥**

नृत्यकला—नृत्य-कला सगीत-कला का एक उपभेद है, सगीत और नृत्य दोनो आपस में अविनाभावी-सा सम्बन्ध रखते हैं। माँश्री छात्राओ को धार्मिक उत्सवो के अवसर पर गरुवानृत्य, सयाली-नृत्य, शंकर नृत्य आदि विभिन्न प्रकार के नृत्य करने के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा देती हैं। यही कारण है कि कई छात्राएँ कला-पूर्ण नृत्य करती हैं। पर्यूषण पर्व के अवसर पर सन्ध्या समय छात्राएँ आरती करती हुई भगवान के समक्ष सस्वर ताल के साथ नृत्य करती हुई अत्यन्त शोभित होती हैं। अमूर्त भावनाओ की अभिव्यञ्जनाएँ नाना मुद्राओ द्वारा छात्राएँ भले प्रकार से कर सकती हैं। यह सव माँश्री की कला-प्रियता का सवल प्रमाण है। कई छात्राएँ वीणा, मृदग, हारमोनियम आदि वाद्यो के वादन से पूर्णतया परिचित हैं। लोक-नृत्य को माँश्री अधिक प्रोत्साहन देती हैं तथा आध्यात्मिक विकास में इस नृत्य को उत्थान-कारक मानती हैं।

काव्य-कला—विशेषज्ञो ने ललितकलाओ में काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालने में इसे अन्य अवलम्बन की आवश्यकता नही होती। अतएव काव्य-कला जीवन के रागात्मक सम्बन्धो को दृढ बनाने मे बडी भारी सहायक है। माँश्री को सस्कृत और हिन्दी कविता करने का अभ्यास सोलह वर्ष की अवस्था से ही है। आजकल आप कविता नही लिखती है, पर आज से १५–२० वर्ष पूर्व प्रकाशित आपका कविता-सकलन भावनाओ की दृष्टि से सुन्दर है। 'बालिका-विनय' कविता की छोटी-सी पुस्तक किसी भी व्यक्ति को तन्मय कर भाव-विभोर बना सकती है। यो तो माँश्री ने सभी क्षेत्रो में खूब लिखा है, पर काव्य का क्षेत्र अपेक्षाकृत न्यून है। आपकी दो-चार कविताएँ तो भौतिकलोक से ऊपर उठा कर आध्यात्मिक लोक में जीवन को स्थित कर देती है।

विधवाओ की हीनदशा, नारी की अशिक्षा और नारी की कुरीतियो के बन्धन पर आपकी कई विश्लेषणात्मक कविताएँ सुन्दर है। यद्यपि इन कविताओ में काव्यत्व की अपेक्षा उपदेश अधिक है, फिर भी इनका उपयोग है। स्वय कवयित्री होने के कारण आप सहृदय और मृदु है। कलाकार मे जिस प्रकार की सहानुभूति अपेक्षित है, आपमें विद्यमान है।

ललित-कलाओ के साथ उपयोगी सिलाई, ड्राइग आदि कलाओ में भी आपको पूर्ण अभिरुचि है। आप हस्त-शिल्प को जीवन के लिए परमोपयोगी मानती है।

—रथनेमि

अभिशाप या वरदान ?

वैधव्य !
'जीवन का अभिशाप'—
वरदान बन गया ।

बहुत सुना था,
सुकुमारी कन्याओ का—
जिनके हाथो की मेंहदी–अभी,
धुली नहीं,
जिनके नयनों की कजली अभी,
पुछी नहीं,
जिनके 'स्वप्नो की दुनिया'—
जगने के पहले टूट गई;
सुना था ऐसी बालाओ के—
जलने, मरने,
समाज की पशुता का शिकार बन—
मिट जाने का इतिहास ।

पर कहाँ सुना था—
ऐसी सुकुमारी बाला का,
इन्हीं परिस्थितियो में—
आगे बढ़ना, औं'
कर्णधार बन जाना—
अपने जैसी बेबस बालाओ का ।

कहाँ सुना था ?
ऐसी बदनसीब विधवा का—
जिसे–अपशकुन डायन भी—
कह देते है,
अपने हाथो गढना–अपने को,

औ' पूर्ण ब्रह्मचारिणी बन,
संयम, त्याग, तपस्या की–
उपमा रखना ।

कहाँ सुना था ?
ऐसी अबोध अबला का—
जिसका कोई अधिकार नहीं,
कर्तव्य बहुत !
अपना अधिकार जमाना—
कर्त्तव्य दूसरों को बतलाना ।

वैधव्य !
जीवन का अभिशाप—
सचमुच वरदान बन गया ।

वैधव्य !
नारी का दुर्भाग्य —
कहाँ ? सौभाग्य बन गया ।

वैधव्य !
नारी की चिर-सीमा—
या–चरम विकास बन गया ?

—चक्रनेमि

श्रीमातृचरणेषु

मैत्रेयी, गार्गी की गरिमा, पावन उपासना चिर-निर्मल;
माता का मानस स्नेह-सना, एकत्र प्राप्त है हमें विरल।

वसुधा की 'चंदा' निष्कलंक,
कल्याणमयी, साधना-निरत।
कामना-तमस् है छिन्न-भिन्न,
व्यामोह-विजयिनी, विनयानत ॥
हे महीयसी, वन्द्ये, वाणी—
की सखी-सहेली, अमृत-व्रते !
दाक्षिण्य-दया-लोकोपकार—
—देवता-चरण-युग-नित्यरते !!

स्वर्णिम अतीत के तपोवनों की छाया नाच उठी शीतल;
आश्रम में पाते शान्ति, तुष्टि भव-तापित शत-शत अन्तस्तल।

नारी के गुण सम्यक् विकसित
हों, चलें ज्ञान-रश्मियाँ फूट।
निष्प्राण पुरातन-दुर्ग ध्वस्त
हों, जायें प्रबल रूढ़ियाँ टूट ॥
यह लक्ष्य,—जगे महिला-समाज,
अबला को शक्ति मिले सत्वर।
निश्चित हो जग-मंगल-साधन,
मिट जायें द्वन्द्व, संघर्ष प्रखर ॥

संकेत दिव्य, आदेश स्पष्ट, दीखे प्रफुल्ल आदर्श-कमल;
जीवन-निकुञ्ज में चारुचरित ! आपूरित लोकोत्तर परिमल।

परमार्थ-चिन्तना, ध्येय-ध्यान
निशि-दिन, सत्कर्मण्या अकाम !

साहित्यसेविके, आचार्ये,
मातः, पद-पद्मो में प्रणाम !!
पद-पद्मों में अगणित प्रणाम,
संकल्पवती ध्रुव, ज्योति-धार !
संयम, श्रद्धा की रत्न-दीप,
माँ, पद-वन्दन है बार-बार ॥

हो शतंजीविनी प्रेरित कर, मानव का हो न जन्म निष्फल;
अयि देवि, हमें आशीष मिले, जीवन को मिल जाये सम्बल ।

—प्रो० सीताराम 'प्रभास' एम० ए०

चालीस वर्ष पीछे की बात

विजली का वल्व चमकता है, चमकते हुए भी वल्व के भीतर का तार जलता रहता है। विना किसी के जले चमक हो ही नही सकती। वल्व जलता है, पर उस जलन को उस तारीफ की मदद से वर्दाश्त कर लेता है जो उसके चारो तरफ वैठे हुए उसके प्रकाश के गीत गा रहे होते हैं। पर उस वैट्री की व्यथा को कौन वताये जो कही एक कोनेमें वैठी हुई तिल-तिल घुलती रहती है और वल्व को चमकाती रहती है। उसके और लोग तो क्या गीत गायेंगे, अजव नही कि वल्व के भीतर का जलने वाला तार उसे दिनरात कोसता रहता हो कि यही तो कमवख्त वैट्री है जो जला-जलाकर मुझे मिट्टी में मिला देगी। उस वेचारे तार को यह क्या पता कि इस ससार की भलाई दिल जले और तन-फूँको से ही होती है। उस वल्व के तार को यह भी क्या पता कि उस जलाने वाली वैट्री की मौत उसकी मौत से एक क्षण पहले ही हो जाती है, और फिर उने यह भी क्या पता कि उसके चारो तरफ जिस तरह वैठकर लोग उसके गीत गाते हैं वैसे उस वैट्री की चारो तरफ न वैठने वाले हैं और न एक भी ऐसा है जो उसके साथ हमदर्दी दिखाकर उसका दुख वँटायेगा। वैट्री ने तो तपस्या से मिलने वाली प्रसद्धि की इच्छा को ही मार लिया होता, और मन मसोसकर वैठने से वढकर और कौन तपस्या हो सकती है! किसी कवि ने न जाने किस तजुर्वे के वल पर और किस भावना में मस्त होकर और किस उमग से यह गीत गुँथा होगा कि—

"मै तो उन सन्तो का हूँ दास, जिन्होने मन मार लिया।"

किसी को क्या पता कि चमक कर जलनेवाले वल्व की वैट्री वनने में किन-किन मन मसोस कर वैठनेवाले और वैठनेवालियो ने वैट्री वनने के लिए सैल वनने का काम अपने जिम्मे अपने आप लिया होगा।

चन्दावाई उस घराने के एक सज्जन की वेटी हैं जो वरसो देश के खातिर हथेली पर सिर लिए फिरने वाले वृन्दावन के राजा महेन्द्रप्रताप का कोन्शस कीपर रहा है। चन्दावाई की रग-रग में उदारता, सुधार, स्वतत्रता, स्वाधीनता की धार वहती रही है, वहती है, और मरते दम तक वहती रहेगी। यह उन्हें विरासत में मिली है, पर चन्दावाई ने इस लहर को दवाया भर ही नही है, लोगो की नजरो में यह सावित कर दिया है मानो उन्होने उन सवको जला डाला हो, और सदा के लिए नष्ट कर दिया हो, और शायद इसी नाते हो सकता है कि वह हमारी इस वात से इनकार कर दें कि हम जो कुछ उनके वारे में कह रहे है, उसमें रत्ती भर भी सच्चाई है। उन्हें इन्कार करने का हक है, क्योकि वह एक ऐसे घर में व्याही गई हैं जहाँ इन गुणो की, न इतनी कदर थी और न इतनी परख जितनी उस घराने में जहाँ उनको विधाता, प्रकृति, या कर्म ने जन्म दिया था। जिसके साथ उनका

गठबन्धन हुआ उसके गाँठ खोलकर इस दुनिया से चले जाने के बाद भी उन्होने उस घर को ही अपनाये रखा जहाँ वह गाँठ बँधी हुई आई थी। अगर वह चाहती तो उनके लिए उस घर के दरवाजे भी पूरे खुले हुए थे जिस घर मे दाई ने उनका नाल काटा था, और जिस घर में वह गोदी मे खेली, घुटनो चली और ठुमक-ठुमक कर चलना सीखा था और जहाँ जाकर उन्हें इसी तरह से उडना नसीब हो सकता था जिस तरह जगल के पक्षी उडते हैं, पर उन्होने अपनी बहनो को ऐसे दुख में दुखी देखकर जिस दुख को दूर करने की ताकत उन बहनो मे मौजूद थी पर दूर न कर पाती थी, अपने आपको उन्ही के दुख की वेदी पर बलि हो जाना ही ठीक समझा। उन्होने यह अच्छी तरह समझ लिया कि कली फूल बनकर भी मुरझाती, गिरती और पाँव तले आती है, फिर क्यो फूल बना जाय, क्यो न कली बनी रहकर ही जीवन बिताया जाय ? बस इसी एक विचार ने उनमें वह जबरदस्त ताकत पैदा कर दी कि उनको अपने मन मसोस कर रखने मे मामूली से ज्यादा प्रयास की जरूरत नही हुई।

काया को दुख देना तपस्या है, यह किसी नये तपस्वी के मुह से निकली हुई तपस्या की परिभाषा हो सकती है—किसी अनुभवी तपस्वी के मुख से निकली हुई नही। काया, पर है। ज्ञानी आत्मा पर को दुख कैसे दे सकता है। सन्त नरसिंह महता ने, जो गाधी जी को बहुत प्यारे थे, तो यह कहा है कि पर के साथ तो उपकार करना चाहिये, और उस उपकार का अभिमान भी नही मानना चाहिये, फिर पर को सताने या दुख देने की बात किसी ज्ञानी आत्मा को सूझ ही कैसे सकती है ? काया, आत्मा का घोडा है, उसकी लगाम तो लगाई जा सकती है, जरूरत पर ऐंड भी दी जा सकती है, पर कोडे का उपयोग नही किया जा सकता! कोडे का उपयोग उन्ही घोडो पर होता है जिन्हें पेट भर खाना नही मिलता, या जिनसे वह काम लिया जाता है जो उनके योग्य नही होता। जिस आदमी ने काया को घोडा नही समझा वह बाल तपस्वी, या नव तपस्वी हो सकता है, अनुभवी तपस्वी नही। और फिर घोडे को मारकर या घोडे को दुख देकर दुखी भी कौन होता है ? हमने तो घोडे पर कोडा उठानेवालो को मुस्कराते, हँसते और ठिठियाते पाया है और मुस्कराना, हँसना और ठिठियाना तपस्या कैसे हो सकती है ? इसलिए जिसने देह को आत्मा का घोडा समझ लिया है और जो बिलकुल सच्ची बात है तो वह उसको क्यो दुख देगा और अगर कभी देगा ही तो दुख क्यो मानेगा और जब दुख नही मानेगा तो तपस्या ही क्या होगी ? दुख होना और दुख सहना ही तो तपस्या है। जो देह के दुख में अपने को दुखी मानता है वह आत्मविश्वासी नही है, और जो आत्मविश्वासी नही है वह धर्म की रू से ज्ञानी नही है, और जो ज्ञानी नही उसकी तपस्या निष्फल है। यो काया को दुख देना सदा निष्फल ही होता है। फिर यह निष्फल दुख तपस्या कैसे हो सकता है ? अनुभवी सन्तो ने तभी तो इच्छाओ को मारना ही तप माना है और इसीलिए काया को दुख देने से कही ज्यादा मन मसोस कर रखना और अपनी सब कामनाओ की गठरी बाधकर पाँव तले दबाना ही ज्यादा मुश्किल है। और यही महा मुश्किल काम तो चन्दाबाई ने अपने जिम्मे लिया है!

अनुभवी सन्तो की नजर मे चन्दाबाई रेशमी कपडे पहनकर भी, यह ठीक है कि वह न ऐसे कपडे पहनती हैं और न कभी पहनने की हिम्मत कर सकती है, अर्जिका बनी रहेंगी। क्योकि उन्होने दूसरो की खातिर अपने मन को इतना मसोस लिया है जिसको मामूली अर्जिका तो क्या, अनुभवी अर्जिका

भी आसानी से नही मसोस सकती । इच्छाओ की पूर्त्ति के सब सावन होते हुए, इच्छाओ को पूरा न करना बहुत बडी तपस्या है और इसी तपस्या में तो चन्दाबाई लगी हुई है ! खुशी से उपवास करने में भावना की इतनी तीव्रता नही होती जितनी उस उपवास में तीव्रता होती है जो खुशी से दूसरो को भूखे मरते देखकर उस दुःख के साथ की गई हो । अपने बच्चो को भूखो मरते देखकर जो मा उपवास करके बैठ जाती है उसकी तपस्या बडी जल्दी फल देती है, ठीक इसी तरह से चन्दाबाईजी अपनी बहनो की हर तरह की पराधीनता से दुखी होकर उन सबकी पराधीनता अपने सिर ओढ बैठी है और अपना जीवनव्रत बना बैठी है, और उसे जीवनभर निभा ले जायेंगी । आज जो कुछ बहनो की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के लिए हो रहा है, और जो तरह-तरह के सुधार उनमें हो रहे है और जो अनेको बहनें तरह-तरह के दुःख झेलकर समाज में प्रसिद्धि हासिल किए हुई है और चमक रही है, उनकी चमक जिस बैट्री से आ रही है, चन्दाबाई उसी बैट्री का तो एक सैल है ।

अब से चालीस वर्ष पहले हमने उनका फूल-सा चेहरा देखा था और तब यह भी देखा था कि उनमे कितना तेज था और उसी तेज से हमने अन्दाजा लगाया था कि इस तेजोमय चेहरे के नीचे जो दिल है उसमें उन दुःखित बहनो के लिए कितनी तडप है, जो तरह-तरह की दासताओ और बेबसी की रस्सियो से बधी पडी है । चन्दाबाई ने और बाइयो की तरह से समाज में नाम हासिल करने के लिए दासता की जजीरो को तोडने और बेबसी की रस्सी काटने की बात कभी नही सोची, उन्होंने बहुत जोर से दासता की जजीर और बेबसी की रस्सी को अपने चारो तरफ लपेट लिया और तपस्या करने का एक नया ही ढग सोच निकाला और यह ढंग सचमुच वैसा ही था जिस तरह बैट्री अन्धेरी कोठरी में अपने आपको बन्द कर किसी भी एक कोने में बैठ जाती है, तिल-तिल कर अपने को गला कर बल्ब को चमकाती रहती है ।

हम उनकी जीवनगाथा लिखकर समाज का वक्त लेना बेकार समझते है क्योकि यह एक ऐसा काम है जिसके लिए अनेको आदमी मिल सकते है पर हम तो चन्दाबाई के मुँह से निकली एक सीधी-सादी बात दोहरा कर ही अपनी लेखनी को एक ओर रख देंगे । इसी बात को एक बार हमने देहात के महान् लेखक राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी से भी कहा था और जिसको सुनकर उनके मुँह से एक हल्की आह निकली ।

वह बात यह है कि चालीस वर्ष हुए, अम्बाला नगर में कहीं कोई जलसा था । उस जल्से के मौके पर श्रीमती चन्दाबाई, मगन बहन और ललिताबाई भी मौजूद थी । सेठी अर्जुनलालजी और भाई अजित प्रसादजी की हाजिरी में हमने उस समय इन तीनो बहनो से और खासकर चन्दाबाई से यह सवाल पूछा था कि विधवा-विवाह के बारे में आप सबकी क्या राय है ? इसके जवाब में मगन बहन और ललिताबाई तो चुप रही पर चन्दाबाई ने यह शब्द कहे, जो आज तक हमारे हृदय पर ज्यो के त्यो अकित है और जो यह बताते रहते है कि चन्दाबाई को उस अपने दिल पर कितना काबू है, जिस काबू को पाने के लिए बडे-बडे ऋषि और मुनि तरसते है ।

वह जवाब था—

"क्या आपने हमें इस योग्य रखा है कि हम इस विषय पर अपना मुँह खोल सकें ?"

इलाहाबाद

—महात्मा भगवान दीन

माता चन्दाबाई

लगभग बाईस वर्ष पुरानी घटना है। मेरी पत्नी पुन्नीबाई ने आकर आशाभरी दृष्टि से देखते हुए मुझ से कहा—"आप मुझे महिलादर्श क्यो नही मँगवा देते। मँगवा दोगे न ?"

उन्ही दिनो बीनामें एक बहन को विधवा होने के कारण बडी यातनाओ का सामना करना पडा था। वह दृश्य उसकी आँखो में नाच रहा था। इसलिए वह चाहती थी कि किसी तरह में अन्य बहनो के साथ सम्पर्क स्थापित करूँ और बहनो की कठिनाइयो को दूर करने में कुछ योगदान दूँ। इसी विचार के फलस्वरूप उसने महिलादर्श मँगवाने की इच्छा व्यक्त की थी। पहिले तो मैंने उसकी बात हँसी मे टाल दी, क्योकि प्रारम्भ से ही मेरा यह विचार रहा है कि जैन पत्रो में कोई ठोस सामग्री पढने को नही मिलती। किन्तु वह कब माननेवाली थी। मेरे पीछे उसका चर्खा चलता ही रहा और अन्त मे मुझे उसकी इच्छा की पूर्त्ति करनी पडी।

मेरे यहाँ महिलादर्श आने लगा। कुछ दिन तो इस विचार से कि उसमें क्या धरा है, मैं उसे देखता ही न था, किन्तु जान मे या अनजान मे जब वह बार-बार मेरी आँखो के सामने से गुजरने लगा तब मेरी इच्छा भी उसे उलटने-पलटने की होने लगी। धीरे-धीरे यह इच्छा यहाँ तक बढी कि जब तक मेरे यहाँ महिलादर्श आता रहा, मैंने उसका एक भी अक पढे बिना नही छोडा। पत्र की रीति-नीति का ज्ञान सम्पादकीय लेखो से होता है इसलिए इन्हे मै अवश्य पढता था।

साधारणत. जैनपत्रो की जो स्थिति है, महिलादर्श उसके बाहर नही है। प्रत्येक पत्र की एक नीति होती है जिसके लिए उसका जन्म आवश्यक माना जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह नि सकोच कह सकते हैं कि जैन पत्रो में इसकी बहुत अधिक कमी देखी जाती है। यदि कुछ पत्र विशिष्ट नीति को लेकर जन्मे भी तो वे बहुत दिन टिक भी न सके।

स्त्रियो की कुछ खास समस्याएँ हैं। उदाहरणार्थ—स्त्रियो का सामाजिक अधिकार क्या हो, विवाह यह सामाजिक प्रथा है या धार्मिक, परदा प्रथा का इतिहास क्या है और उसे समाज मे कहाँ तक स्थान दिया जा सकता है, विधवा होने के बाद स्त्री का पति की जायदाद में क्या अधिकार है आदि। मैंने इन प्रश्नो को ध्यान मे रखकर महिलादर्श का बारीकी से आलोढन किया है। हम यह तो मानते हैं कि स्त्रियो के साथ सामाजिक न्याय होना चाहिये। किन्तु हम उन प्रश्नो को स्पर्श नही करना चाहते जिनको स्पर्श करने पर उनका सामाजिक दर्जा बढने की सम्भावना है।

फिर भी यह बात नि सकोच माननी पडती है कि वर्तमान मे स्त्रियो मे अपने अधिकारो के प्रति जो थोडी बहुत जागरूकता दिखाई देती है उसका बहुत कुछ श्रेय महिलादर्श को है ।

महिलादर्श को जन्म देनेवाली और उसका योग्य रीति से सचालन करनेवाली माता चन्दाबाई है, इसलिये यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वर्तमान में स्त्रियो मे जो भी जागृति दिखाई देती है उसके लिए माता चन्दाबाई को अहर्निश कठोर श्रम करना पडता है ।

सबसे पहले हम माता चन्दाबाई को महिलादर्श के द्वारा ही जान पाए । किन्तु उस समय हमारा मन उनको माता कहने के लिए तैयार नही था ।

उस समय हमने यह भी सुन रखा था कि माता चन्दाबाई ने आरा मे बहनो के लिये एक आश्रम खोल रखा है । इस समय तक मैंने महिलाओ की किसी प्रतिष्ठित सस्था का अवलोकन नही किया था । नजदीक की एक महिला सस्था के देखने से मेरी धारणा यह बन गई थी कि बडे आदमी इस नाम से अनेक बहनो को इकट्ठा कर लेते हैं और उनसे घर गृहस्थी का काम लिया जाता है । एकाध अध्यापिका रखकर थोडा बहुत पढा दिया तो गनीमत समझिये ।

मुझे प्रसन्नता है कि मेरा यह विचार अन्त मे बदल गया । मैंने देखा कि एक-दो को छोडकर समाज में कई ऐसी प्रतिष्ठित सस्थाएँ है जिन्होने महिलाओ की अच्छी सेवा की है और कर रही है । उनमें आरा का बालाविश्राम आदर्श सस्था है । इसकी तुलना पूना के नजदीक स्थापित कर्वे के महिला विद्यालय से की जा सकती है ।

हम यह मानते हैं कि प्राय. ये सस्थाएँ समाज के द्वारा प्रदत्त सहायता से चलती है, इसलिये इनमे वे साधन नही जुटाए जा सकते जो सरकारी या अर्धसरकारी सस्थाओ के लिए सुलभ होते है । फिर भी आर्थिक कठिनाई के रहते हुए भी ये सस्थाएँ जो भी सेवा कर रही हैं उसका मूल्य बहुत अधिक है और यदि हम राजनीतिक या सामाजिक समस्याओ के साथ धर्मतत्त्व को नही उलझाना चाहते है तो हमें इनका अस्तित्व बनाये रखने में लाभ है । इतना अवश्य है कि इनमें मात्र धार्मिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही शिक्षा देने का प्रवन्ध होना चाहिये ।

बाला विश्राम को देखने का अवसर मुझे सन् ४४ में मिला था । उसी समय मैंने माता चन्दाबाई के दर्शन किये थे । वर्तमान में जैनसिद्धान्त भवन आरा के कार्याध्यक्ष प० नेमिचन्द्रजी ज्यौतिषा-चार्य मुझे उनके पास ले गये थे । उस समय वे वही बालाविश्राम में अध्यापन कार्य करते थे ।

उनसे मिलने के पहले मेरे मन में अनेक विचार आते रहे । आँखें स्वभाव से भौतिक पदार्थो-को देखने को अभ्यस्त हैं । वे बाहर से मोटे-ताजे और चिकने-चुपडे आकर्षक व्यक्ति को देख कर

प्रभावित हो जाती है। मुझे भय था कि कही मेरा मन आँखो के कहने में आकर बाहर की तस्वीर देखने में ही न उलझ जाय।

माता चन्दाबाई का सस्कार-सम्पन्न घर में जन्म हुआ है और ऐसे ही सम्भ्रान्त कुटुम्ब मे वे विवाहित होकर आई हैं। उनका शरीर गौर, सुडौल, आकर्षक और कान्तिपुञ्ज से व्याप्त है। यह सब देखने मैं नही गया था। मुझे तो उनकी आत्मा की परख करनी थी—एक पारखी बनकर।

एक भेंट मे यह सब कैसे होगा, मेरे सामने यह प्रश्न था। फिर भी अपने विचारो की गहराई को मैंने अनुभव किया और मै इस काम में जुट गया। एक बात उठी, आगे बढी और रुक गई। दूसरी बात का यही हाल हुआ। इस तरह एक के बाद एक—नही मालूम कितनी बातें आई और गई पर कही थाह का पता न लगा।

माता चन्दाबाई क्या है? मै यह जानने के लिये आतुर था। कुछ दिन पहले एक दानी महाशय से मेरी बातचीत हुई थी। मै उन्हें धर्म-कार्य में उत्साहित करना चाहता था और वे अपने रोजगार का रोना लेकर बैठे थे। बहुत छेड़ने पर अन्त में वे बोले—"देखो पण्डितजी! हमे तो अपने काम से फुरसत है नही। ये साधन है। आप लोग कहते हैं कि समय निकाल कर थोडा धर्म-कार्यों की ओर भी ध्यान देना चाहिये, इसलिए मौका देखकर कुछ कर देते हैं। क्या होता है यह आप लोग जानें।"

माताजी ने अपने जीवन का बहुभाग बालाविश्राम को अर्पित कर रखा है, यह सभी कोई जानता है। वह उनके जीवन की तपश्चर्या है। प्रसग देख मैंने इसीका प्रश्न छेडा। मैंने कहा—"माताजी! यह सब आपने क्या बला पाल रखी है। एक परिग्रह कम किया और दूसरा बढा लिया। छोडिये इस प्रपञ्च को। सब इन पण्डितो को सभालने दीजिये। आप तो अपने स्वाध्याय और सामायिक में चित्त लगाइये। आज इस बालिका का रोना सुनो, कल उसका। आज इसकी पढाई का प्रबन्ध करो, कल उसका। यह सब क्या है।"

मै यह सब कहने के लिये तो एक साँस में कह गया, किन्तु मुझे भय था कि मेरे इस कथन से माताजी की आत्मा न उबल पडे। फिर भी वे शान्त रही और किञ्चित् स्मितवदना हो बोली—"शास्त्रीजी! कहने को तो आप बहुत बडी बात कह गये हैं। मै उसकी गहराई को जानती हूँ और यह भी जानती हूँ कि आपने यह बात किस अभिप्राय से कही है। पर मुझे उससे क्या करना है। मुझे तो अपना देखना है। कुछ दिन पहले मेरे मन में भी ये विचार उठे थे। उस समय मैं अशान्त थी, भाराक्रान्त थी। मैं इस प्रपञ्च से दूर भागना चाहती थी—बहुत दूर।"

मेरे मतलब की पुष्टि होती देख बीच में टोकते हुए मैंने कहा—"यही तो मेरा मतलब है।"

यह सुनकर वे कुछ सकुचाई पर तत्काल सम्हल कर बोली—"नही, वास्तव में वह मेरा मैदान छोडकर भागना था। भला, ऐसे क्षुल्लक विचार को मै अपने मन मे स्थायी आश्रय दे सकती

थी ? आप मुझ से ऐसी आशा न करे। इस घर को मैंने बनाया है। यह इसलिए नही कि इसके पीछे मेरी कोई ऐहिक कामना है। वल्कि इसलिये कि इसके द्वारा मुझे अपनी सार सम्हाल करनी है। ये बहने और ये वालिकाएँ मुझ से जुदा नही हैं। इनकी उन्नति ही मेरी उन्नति है और इनका पतन ही मेरा पतन है। मैंने यह व्रत बहुत कुछ सोच समझ कर लिया है। मै सब कुछ भूल सकती हूँ पर इसे नही भूल सकती।"

"सामायिक और स्वाध्याय को भी।" मैंने कहा।

"हाँ हाँ, सामायिक और स्वाध्याय को भी।" कहने को तो वे यह कह गई पर पीछे से सभल कर बोली—'शायद मेरा मतलब आप नही समझे। मेरा मतलब यह है कि जब सामायिक और स्वाध्याय मे चित्त न लगे तब इन्द्रियो के विषयो से चित्त को हटाकर बीतराग भाव की पुष्टि के लिए मेरी परिस्थिति के अनुरूप इससे पुनीत दूसरा कार्य और क्या हो सकता है, आप ही बतलावें।"

मैं निरुत्तर था। कहता ही क्या ? किन्तु यह उत्तर सुन मन प्रसन्न था। उसने धीरे से कहा—तभी तो आप 'माता' कहलाने की पात्र हो।

—फूलचन्द्र, सिद्धान्तशास्त्री

बनारस
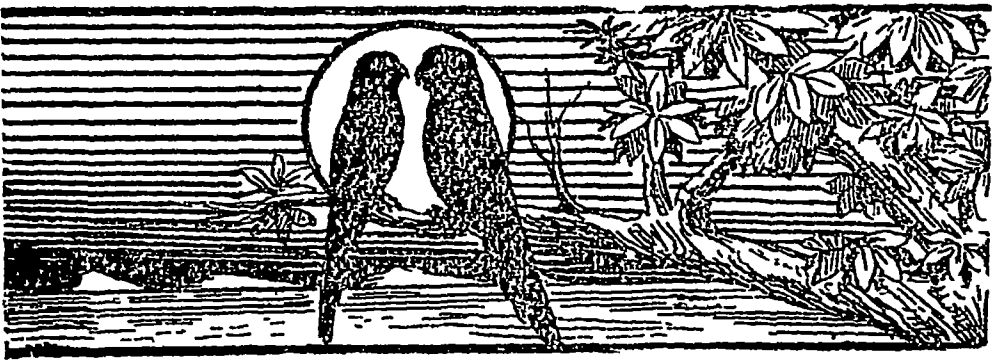
माँश्री

आरा के पराक्रम ने उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे मातृभूमि से विदेशियो के उन्मूलन के लिए विद्रोह का शख फूँका था। आरा-हाउस उसी अनुपम शौर्य-प्रदर्शन का एक लघु प्रतीक है। लेकिन इस नगर की भूमि जहाँ युद्ध-काल में रण-भेरी का प्रचण्ड निनाद सामने रखती है, वहाँ शान्ति-काल में साहित्य और शिक्षा की कोमल किन्तु महाप्राण ध्वनि भी। आरा मे पर्यटन की कामना से आनेवाले जो अतिथि केवल आरा-हाउस को देखकर चले जाते हैं, वे नगर के केवल उस भयकर रूप के दर्शन कर जाते हैं जो अधर्म और उत्पीडन, दमन और कुचक्र तथा अन्याय और शोषण को सतत चुनौती प्रदान करता है। किन्तु वैसे लोग आरा का सम्पूर्ण दर्शन कर पाते हैं, उसकी चारित्रिक गरिमा के सभी पार्श्वों से परिचय पा लेते हैं, ऐसा नही कहा जा सकता। यह तो आरा का मात्र बाह्य-दर्शन है। चित्र का एक दूसरा पहलू भी है, जो इससे कम भव्य और मोहक नही है। 'जैन-सिद्धान्त-भवन' और 'जैन-बाला-विश्राम' आरा के चरित्र के उस दूसरे शाश्वत रूप को हमारे सामने रखते हैं, जिसकी भव्य छाया में देश की सस्कृति असत् से सत् की ओर, तिमिर से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर बढती है। आरा रक्त-रजित तलवार की भी भूमि है, उस तलवार की जो शोषण और अत्याचार के विरुद्ध म्यान से बाहर निकल कर अपना जौहर दिखाती है और आरा धवल-वसना, हसवाहिनी, वीणावादिनी सरस्वती की भी भूमि है, जो ज्ञान का दीपक लेकर सस्कृति की आलोक-रश्मियो को जीवन प्रदान करती है।

पिछले वर्ष हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष प्रो० शिवबालकरायजी ने एक दिन यह बताया कि प० नेमिचन्द्र जी शास्त्री का निमन्त्रण आया है और 'जैन-बाला-विश्राम' चलना है। उसी दिन दोपहर को वे मेरे यहाँ पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार ठीक समय पर आ गये और सामने बढाये गये शर्बत के ग्लास को आँखो से अनिच्छा और हाथ की उँगलियो के द्वारा उल्लास प्रकट करते हुए जिस द्वैतवादी भाषा में उन्होने खाली किया वह उन्हें पूर्णतया परितुष्ट कर देखने योग्य दृश्य है।···

नगर का आखिरी सिरा आ गया। रिक्शा चला जा रहा था और तब 'जैन-बाला-विश्राम' के हाते की ऊँची दीवार दिखाई पडी। नगर के कोलाहल से दूर, शान्ति के प्रहरी के समान इसके प्राचीर खडे हैं। फाटक से प्रवेश करते ही माँश्री के दर्शन हुए। अमल धवल-वसना, पवित्र तेज की दिव्यता से दमकता हुआ ललाट, विगलित मातृ-स्नेह और करुणा की अजस्र धार से परिपूर्ण आँखें—जैसे हमारे समक्ष मातृत्व साकार रूप धारण कर खडा हो गया हो।. ...... इस आश्रम से विकीर्ण

होनेवाली पवित्र दिव्य रश्मियो का आलोक-केन्द्र माँश्री का यह शुभ्र व्यक्तित्व ही है। उन्ही की प्रबुद्ध चेतना और भारतीय बालिकाओ को सच्ची नारी बनाने की आकाक्षा ने इस आश्रम का रूप-निर्माण किया है। देश में ऐसे बालिका-विद्यालयो की कमी नही है जिनका भवन और बाह्य-प्रदर्शन इस आश्रम से बाजी मार ले जाय, किन्तु 'जैन-बाला-विश्राम' की विशेषता ईंट और चूने से निर्मित अट्टालिका में नही निहित है, उसकी महत्ता तो इसमें है कि रक्त-मास से बने हुए मानव-पिडो को अविद्या के अध-कूप से ज्ञान के ज्योति-लोक की ओर ले जाने के लिए यहाँ माँश्री का निर्मल व्यक्तित्व भी है। वे तो आलोक-स्तम्भ है। उनकी सादगी में भारतीय नारी-सस्कृति की पुरातन गरिमा मुखरित हो उठती है। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण मोहक लय में बधे हुए एक प्रगीत के समान है।

माँश्री को मै देख रहा था और सोच रहा था कि जीवन मे असमय आये हुए झझावात और अधकार का सामना करके उन्होने किस प्रकार विद्या-अमृत की प्राप्ति के लिए अपने जीवन में कठोर श्रम किया है। और वैसे तो न जाने कितने पुरुष और नारी प्रतिवर्ष ऊँची शिक्षा प्राप्त करके विद्यालयो से निकलते हैं लेकिन उनमें से ऐसे कितने हैं जो अपनी अर्जित विद्या के द्वारा अशिक्षा के गर्त्त में पडे हुए समाज को भी ज्ञान-दान देना चाहते है? माँ ने भारतीय नारी की अन्तर्निहित शक्तियो को पहचाना था और अपने व्यक्तित्व में उन सभी सभावनाओ का पूर्ण विकास भी किया है।
यह आश्रम तो उनकी महत् कल्पना का साकार रूप है।

दोपहर का कार्यक्रम शुरू हुआ। आश्रम की बालिकाओ की वाक्-प्रतियोगिता थी। हमलोगो ने छात्राओ की वाग्मिता और सर्वोपरि भाषा की विशुद्धता पर बडा आश्चर्य माना। स्थानीय गर्ल्स हाई स्कूल की लेडी प्रिन्सिपल ने भी छात्राओ की भाषण-प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशसा की। मै देखता हूँ कि इस आश्रम में सख्या से अधिक गुण पर जोर दिया गया है और यही कारण है कि आसपास के गाँवो की बालिकाओ के अतिरिक्त सुदूर महाराष्ट्र, तामिलनाद तथा आध्र से भी यहाँ आकर छात्राएँ विद्याध्ययन कर रही है। माँश्री ने इस आश्रम को कैसा विश्व-जनीन बना रखा है!

सस्था की शिक्षा-पद्धति की, जब राय जी अपने भाषण के क्रम में, प्रशसा कर रहे थे तब मैं माँ के मुख के उतार-चढाव की ओर ध्यान से देख रहा था। उनकी जगह दूसरा कोई होता तो इस प्रशसा से फूलकर कुप्पा हो गया रहता, पर माँ थी जो स्थितप्रज्ञ की भाँति बैठी रही और फिर कार्यक्रम के अत में चुपके हमलोगो से कहा—'आपलोग भी क्या झूठमूठ प्रशसा के पुल बाँध देते है।' माँ की इस झिडकी में कैसा माधुर्य है!

फिर वे बडी रुचि के साथ आश्रम की छात्राओ के द्वारा प्रस्तुत की गयी कसीदाकारी, चित्रकारी और खिलौनाकारी आदि के नमूने दिखाने लगी। यह हाथी है, जो अपनी सूँड घुमाए अपूर्व शान से खडा है, यह खरगोश का बच्चा है जिसकी दो छोटी-छोटी आँखें, लगता है अब हिलेंगी, अब हिलेंगी और यह बछडा सामने खडी अपनी माँ के पास पहुँचना चाहता है। . माँश्री ने छ लेश्याओ के चित्र की जो सरल व्याख्या की, वह उनके दार्शनिक ज्ञान का परिचायक थी।

आश्रम के उद्यान में एक कोने पर मान-स्तम्भ है जिसके समीप जाते ही मन उदात्त कल्पनाओ से भर उठता है । सामने ही कृत्रिम पर्वत के ऊपर १४ फुट ऊँची वाहुवली स्वामी की मनोज्ञ मूर्ति है । शास्त्रीजी ने बताया कि मानस्तभ के निर्माण और वाहुवली स्वामी की मूर्ति-स्थापना के पीछे एकमात्र माँ की ही कल्पना कार्य कर रही थी ।

सोचने लगता हूँ दर्शन और धर्म के प्रति इतनी अटूट श्रद्धा लेकर महामति गार्गी इस वीसवी शताब्दी में कहाँ से अवतीर्ण हो गयी है ! फिर माँ के चरित्र की सवसे वडी विशेषता यह है कि वे कोरी दार्शनिक नही है । दर्शन और धर्म के जिन सिद्धान्तो का उन्होने अध्ययन किया है, उन्ही को जीवन में व्यावहारिक रूप प्रदान करने की भी उन्होने सफल चेष्टा की है । माँ भक्त है और उनमे मीरा की तल्लीनता भी है किन्तु मीरा की तरह उनकी भक्ति ऐकान्तिक और लोक-पक्ष से शून्य नही है । माँ ने तो अपने आराध्य प्रभु के दर्शन उन सैकडो अशिक्षित वालिकाओ के हृदय में किये है जो अवसर पाकर समाज का एक महत्त्वपूर्ण अग वन सकती है । भारतीय समाज में नारी अपने अधिकारो से किस निष्ठुरता के साथ वचित कर दी गयी है, इसकी कचोट का अनुभव माँ ने सहज भाव से किया है । शिक्षा के द्वारा ही स्त्रियाँ अपनी नगण्य स्थिति से ऊपर उठकर समाज के महत्त्वपूर्ण कार्यों में अपनी उचित भूमिका खेल सकती हैं और अपने खोये हुए गौरव को पा सकती है, माँश्री को इसका पूर्ण विश्वास है ।

देश के महामान्य दार्शनिक आचार्यों की तरह माँ ने भी तीर्थ-स्थानो का खूब पर्यटन किया है । किन्तु इस यात्रा में उनका उद्देश्य पुरातन आचार्यों के समान शास्त्रार्थ न होकर विशुद्ध ज्ञानार्जन ही रहा है । उन्होने भारत के प्राय प्रत्येक जनपद को समीप से देखा है और सम्पर्क में आये हुए वहाँ के निवासियो को अपनी करुणा का दान भी दिया है ।

माँ सेवा की जीती-जागती मूर्त्ति हैं । शास्त्रीजी ने बताया कि सन् १९४३ मे दक्षिण-भारत की एक छात्रा बीमार पडी । देखते-देखते उसकी बीमारी वढ गयी और उसकी जान खतरे में पड़ गयी । माँ ने स्वय खाना-पीना छोडकर उसकी परिचर्या करना आरम्भ किया । डाक्टर के परामर्शानुसार बर्फ की थैली सिर पर रखना, सिर में तेल की मालिस करना, हाथ-पैर दवाना आदि कार्यों को वह इस उम्र में अपने हाथो ही करती थी । तीन दिन और रात वे रोगिणी के सिरहाने लगी रही । अनवरत अनिद्रा के कारण उनका स्वास्थ्य टूट चला था, आँखें सूज आयी थी । लोगो ने उन्हे विश्राम करने की राय दी, पर उन्होने ओजस्वी स्वर में कहा—'मुझे विश्वास है कि मै अपनी सेवा द्वारा इसे वचा लूँगी' और एक सप्ताह की कठोर साधना के वाद माँ ने सचमुच उस लडकी के प्राण वचा लिये । आश्रम-परिवार के किसी भी व्यक्ति का कष्ट शीघ्र आपकी चिन्ता का विषय वन जाता है । सोचता हूँ कि ऐसी माँ पास रहें तो कौन वीमार पड़ना नही चाहेगा और उनका यह वात्सल्य ही तो है जो 'पजाव, सिन्व, गुजरात, मराठा, द्राविड, उत्कल और वग' को एक सूत्र में आवद्ध कर रहा है !

हमलोग आश्रम की एक-एक कला-कृतियो को देखकर मुग्ध हो रहे थे, पर माँ का ध्यान अब दूसरी ओर था और उन्होने पुकारा—'माणिकचद, आपलोगो को कुछ जलपान तो कराओ।' और यही है माँ। आज आश्रम का वार्षिकोत्सव था। शिक्षा-मत्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा सभापतित्व करने के लिए कुछ घटो के बाद आनेवाले थे। जाने कितनी तैयारियाँ करनी थी और प्रत्येक बात में उन्हें अपनी राय देनी थी चाहे वह छोटी हो या बडी। . पर इतनी व्यस्तताओ के बीच भी वह अतिथि-सत्कार नही भूलती।

माँश्री की बहुमुखी प्रतिभा अपनी सकल अभिव्यक्ति के जीवन के विविध क्षेत्रो में भी है। वे सुयोग्य लेखिका और सफल पत्रकार भी हैं। वे सन् १९२१ से 'जैन महिलादर्श' नामक पत्र का सपादन करती आ रही हैं। इसके अतिरिक्त उनकी लिखी कई महिलोपयोगी पुस्तकें हैं जिनसे नारी-समाज में अपूर्व जागरण हुआ है। 'उपदेश रत्नमाला', 'सौभाग्यरत्नमाला', 'निबन्धरत्नमाला', 'आदर्श कहानियाँ', 'आदर्श निबन्ध' और 'निबन्ध दर्पण'—उनकी कुछ पुस्तको के नाम है। हिन्दी में सुलेखिकाओ का प्राय अभाव-सा ही है। माँ के स्थान पर यदि प्रचार के प्रति सजग रहनेवाली कोई अन्य लेखिका रहती तो सभवत परिमाण और गुण की दृष्टि से हीन रचनाएँ भी प्रस्तुत कर अधिक यश अर्जित कर चुकी होती। पर माँ तो कार्यों को मूल्य देती हैं, सस्ते प्रचार को नही। मूक सेवा ही उनके जीवन का एकात उद्देश्य है और इसी लक्ष्य की प्राप्ति में वे सतत सलग्न रहती हैं। . आज आवश्यकता इस बात की है कि उनकी रचनाओ की एक ग्रथावली शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित की जाय।

जिन्होने अपने जीवन को देश और समाज की सेवा में अर्पित कर दिया है, जिन्होने अपनी प्राणो के स्नेह को तिल-तिल जलाकर भारतीय सास्कृतिक ज्योतियो को अम्लान रखा है, और जिनके चरण प्रान्त में पहुँचते ही जीवन की लघु-कामनाएँ क्षार-क्षार हो जाती है, उन माँश्री को मेरी विनययुत श्रद्धाजलि।

—प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी, एम० ए०
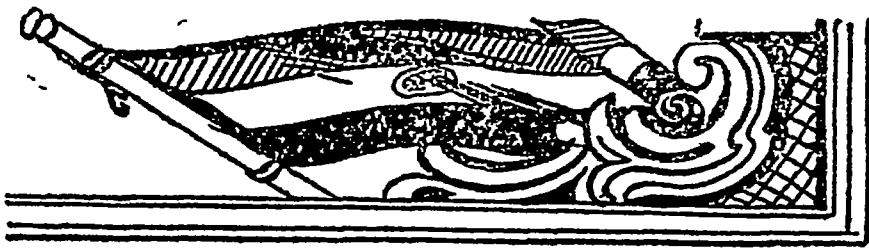
आदर्श महिला की आदर्श बातें

शायद सन् १९३९–४० का जमाना था। देशरत्न डा० राजेन्द्र बाबू का देशव्यापक परिभ्रमण शुरू था। सन् '४२ की क्रान्ति की पूर्ण तैयारी थी, वे आरा आये हुए थे। जिले की कांग्रेस कमिटी के बनाये हुए दौरा के कार्यक्रमानुसार प्रचार-कार्य करते हुए अधिष्ठात्री श्री जैन-बाला-विश्राम के अनुरोध से श्री राजेन्द्र बाबू ने उक्त सस्था में जाना स्वीकार कर लिया। फलत आरा नगर से हमलोग दस मिनट में ही राजेन्द्र बाबू के साथ पटना रोड पर स्थित धनुपुरा गाँव के निकट श्री जैन-बाला-विश्राम में पहुँच गये। आरा नगर के प्रमुख जैन, रईस एव सम्भ्रान्त व्यक्ति भी उपस्थित थे। मैं भी कांग्रेसी साहित्यकार के नाते पार्टी के साथ था।

आरा नगर के बाहर एक अति सुन्दर एकान्त मे रमणीक स्थान पर आरा नगर के सुप्रसिद्ध जैन रईस श्री बाबू निर्मलकुमार की चाची श्रीमती ब्र० प० चन्दाबाईजी द्वारा आज से ३० वर्ष पूर्व स्थापित यह एक महिला-विद्यालय है। इसके निर्माण की कहानी भी अनेक मर्मव्यथाओ और रहस्यो को अपने में समेटे है। श्रीमान बाबू निर्मलकुमार के पिता श्रीमान् बाबू देवकुमारजी के छोटे भाई श्री बा० धर्मकुमारजी का विवाह वृन्दावन के प्रसिद्ध रईस बाबू नारायणदासजी की कन्या के साथ हुआ था। कन्या की आयु मात्र ११ वर्ष की और वर की आयु १८ वर्ष की थी। विधि का व्यापार विचित्र होता है, भाग्य की अमिट रेखाओ को कोई नही मिटा सकता। मनुष्य जो कुछ सोचता है, वह नही होता। अभिलाषाएँ और मन कामनाएँ कभी किसी की पूर्ण नही होती। बाबू देवकुमार अपने अनुज को सुखी-सम्पन्न देखना चाहते थे, पर उनके वे अरमान असमय में ही नष्ट कर दिये गये। धर्मकुमार अचानक बीमार पडे और विवाह के एक वर्ष ही बाद इस असार ससार को छोड चल बसे। अब चन्दाबाईजी की माँग का सिन्दूर और हाथ की चूडियाँ सदा के लिए पृथक् कर दी गयी। इस बारह वर्ष की बाला को पितृतुल्य श्री बा० देवकुमारजी ने सस्कृत का अध्ययन कराया, धर्मशास्त्र और दर्शन-शास्त्र का परिशीलन कराया जिससे थोडे ही समय में यह धर्मशास्त्री बन गयी। इस महिला ने अपनी-सी भुक्तभोगिनी महिलाओ, जिनका सुहाग लुट गया, जो अभागिनी और अशुभ करार कर दी गई है, को सन्मार्ग बतलाने के लिए इस ज्ञानमन्दिर की स्थापना की है। आपका जीवन वैराग्य और सेवा प्रधान है, आप रात-दिन दु खिनी बालाओ को सान्त्वना, शान्ति और ज्ञानोपदेश देती रहती हैं। आपका जीवनोद्देश्य सेवा करना है, फल पाना नही। इसीका परिणाम यह है कि आज श्री जैन-बाला-विश्राम विहार में नारियो के लिए अद्भुत शान्ति और ज्ञान का केन्द्र है। यहाँ भारत के कोने-कोने से कन्याएँ, देवियाँ और वृद्धा माताएँ आकर आत्म-साधना करती हैं। अनेक महिलाएँ तो यहाँ इसीलिए आती हैं

कि समाधि-मरण शान्तिपूर्वक हो जाय । वे इस आदर्श महिला के सम्पर्क में रहकर अपने राग-द्वेष को क्षीण कर सच्चा धर्म पाना चाहती हैं । घर से ठुकराई हुई अनेक बालाएँ जिनका कोई आश्रय नही, यहाँ आकर आश्रय ग्रहण करती हैं । श्री चन्दाबाईजी आश्रय देनेवाली सत्याधिकारिणी नहीं है, बल्कि वह वात्सल्यमयी माँ हैं । इनकी गोद सदा सबके लिए खाली है । अस्तु ।

श्री राजेन्द्र बाबू के वहाँ पहुँचते ही माताजी ने उनका स्वागत किया और विद्यालय-भवन के विशाल प्राङ्गण मे आश्रमवासिनी बालाओ की सभा की गयी, जिसमें उन्हे मानपत्र समर्पित किया गया । श्री राजेन्द्र बाबू ने छात्राओ द्वारा निर्मित वस्तुओ का निरीक्षण बडी रुचि और तत्परता के साथ किया । वृद्धा तपस्विनी आदर्श माता चन्दाबाईजी ने आश्रम की सारी बातें समझाई । अपनी बात-चीत के दौरान में राजेन्द्र बाबू से जो उन्होने एक बात कही थी, वह मुझे आज तक स्मरण है और उसको मैंने जब कभी स्त्रियो के बीच बोलने का अवसर पाया है, दुहराया है । उनके वाक्य थे—"हम स्त्रियो को जो बाल, युवा या अन्य किसी भी अवस्था मे वैधव्य प्राप्त हो जाता है, उसे हमें समाज-सेवा तथा अन्य सुधार के लिए प्रकृति-प्रदत्त एक सुन्दर अवसर ही मानना चाहिये । मोह-माया के सासारिक बन्धनो से स्वत मुक्ति मिल जाती है, आत्म-सुधार और समाज-सेवा का मार्ग प्रशस्त हो जाता है । यदि सच्चे मानो मे इसको लें तो यह अभिशाप न होकर आशीर्वाद के रूप में परिणत किया जा सकता है । ससार में ऐसा एक भी प्राणी नही मिलेगा, जो सर्व-सुखी हो । हर व्यक्ति किसी न किसी बात के लिए परेशान है, चिन्तित है । अतएव इस झूठे सासारिक सुख का मोह छोडने के लिए विधवा-अवस्था एक प्रबल निमित्त है । जो नारी इस निमित्त का सच्चा उपयोग करती है, वह अपना सर्वांगीण विकास और कल्याण कर लेती है । सेवा के लिए प्राप्त इस अवसर का सदुपयोग करना ही जीवनोत्थान के लिए एक मार्ग है । अतएव मैंने इस अवसर से केवल लाभ उठाया है, अपनी-सी बहनो को सान्त्वना दी है और अपनी शक्ति के अनुसार समाज-सेवा के अन्य कार्यों में अग्रसर हुई हूँ ।" जिस समय सादे श्वेत वस्त्र विभूषित साक्षात् देवी की तरह शान्तभाव से आदर्श माताजी के मुख से ये वाक्य सुनने को मिले उस समय मै आश्चर्य-चकित हो गया और सोचने लगा कि आज भी हमारे प्राचीनतम त्याग के आदर्शों को माननेवाली भारतीय स्त्री समुदाय में ऐसी देवियाँ वर्तमान है, जो अपना सर्वस्व स्वाहा कर भारतीय सस्कृति के उस महान आदर्श को जीवित रखे हुई है, जिसका अनुसरण सीता, अजना ब्राह्मी सुन्दरी ने किया था ।

मैं सभा की अन्य कार्यवाहियो के समाप्त होने पर जब राजेन्द्र बाबू ने वार्ता के रूप में ही बैठे-बैठे अपनी बातो को समझाना शुरू किया तो एक बडी मजाक की घटना घटी । मथुरा बाबू ने जो राजेन्द्र बाबू के सेक्रेटरी थे, वार्ता के बीच में ही राजेन्द्र बाबू से टोक कर कहा—"हाँ न अब आशीर्वाद के रूप में कुछ कहे का कष्ट कइल जाय ।" इस पर राजेन्द्र बाबू ने मुस्कान की मुद्रा मे उत्तर दिया—"आ ई हो का रहल बा ?" इस पर सभी हँस उठे । मथुरा बाबू कुछ अप्रतिभ-से हो गये ।

सभा समाप्ति के बाद मैं यात्रा में आगे बढा और बालाविश्राम को एक लम्बी अवधि तक भूले रहा । देश में अनेक उथल-पुथल हुए । क्रान्ति की लपटें आईं और दमन का चक्र

घूमा । हममें से कितने उसमे पिस गये, दब गये, कुचले गये और आहत करके सदा को सिसकने के लिए छोड दिये गये । परन्तु बालाविश्राम का गति-प्रवाह आश्विन की गगा की शान्त धारा की तरह अबाध रूप से अपने ध्येय की ओर निरन्तर आगे बढता ही रहा । सन् १९४७ में जब स्वतन्त्रता-दिवस का विशाल महोत्सव आरा नगर में मनाया जा रहा था तब मै सरकारी जन-सम्पर्क विभाग का काम जिले के प्रधान की हैसियत से यहाँ कर रहा था । मित्र श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ने मुझ से भेंट की और जैन-बाला-विश्राम में इस अवसर पर आयोजित उत्सव में शामिल होने का अनुरोध किया । देवी-तुल्य माताजी की ओर से भेजे गये इस आदेश को स्वीकार करने के लिए मुझे बाध्य होना पडा । उस दिन के जो कार्यक्रम वहाँ की छत्राओ ने उपस्थित किये उनको देखकर मेरा मन गद्गद हो गया, सस्था के कार्यों के प्रति आस्था अत्यधिक बढ गयी और माँश्री की कार्य-कुशलता का और प्रबन्ध की निपुणता का मैं कायल हो गया । खेलकूद के कार्यक्रम की समाप्ति के पश्चात् आशीर्वाद रूप मे उनका ओजस्वी भाषण हुआ । मैंने भी अध्यक्षपद से देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए जो-जो सघर्ष करने पडे, जो-जो बलिदान हुए उनका जिक्र किया तथा प्राप्त हुई स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए नारियो के दायित्व को बतलाया ।

माताजी की आध्यात्मिक उन्नति मैंने इस बार पहले की अपेक्षा अधिक पायी । उनका प्रसन्न मुख, शान्त और गम्भीर मुद्रा, ओजस्विनी वाणी सभी को आश्चर्य-चकित करती है । आध्यात्मिक शाति इतनी अधिक दिखलायी पडी जिससे माँश्री के सम्पर्क में आनेवाला हर एक व्यक्ति अद्भुत शान्ति प्राप्त कर सकता है । आप बाह्य और आभ्यन्तर उभय रूप में त्याग और सयम का पालन करती है । निस्वार्थ सेवा और प्रेम ही व्यक्ति को ऊँचा उठा सकता है । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मुझे आप में देखने को मिला ।

आज शाहाबाद, बिहार या भारत का महिलामण्डल ही आदर्श माताजी को आदर या पूज्य दृष्टि से नही देखता, किन्तु बडे-बडे विद्वान्, त्यागी, साधु, नेता एव समाज-सुधारक भी आदर्श माँ को सम्मान और पूज्य दृष्टि से देखते हैं । उनके त्याग, सेवा, परोपकार, प्रेम एव क्रियात्मक कार्य प्रत्येक नेता या सेवक को प्रेरणा देते हैं । आदर्श माँश्री की सभी बाते आदर्श है, वे दीर्घायु हो ।

जन-सम्पर्क विभाग,
गया ।

—दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह
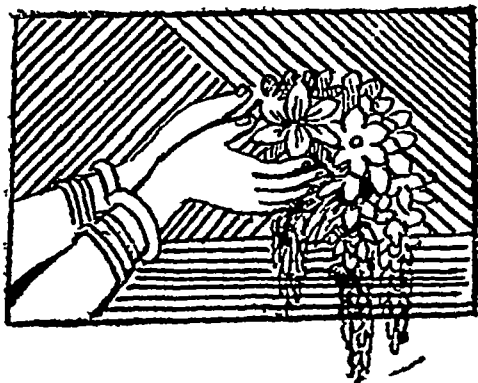
जगन्माता—श्री चन्दाबाई

पुराणो में जगन्माता का रूप पढा, पर जगन्माता का दर्शन नही किया। मन में एक लम्बे अर्से से उत्सुकता थी कि जगन्मता का रूप कैसा होता है, देखा जाय। देवी भागवत पुराण में जगन्माता को सर्व दु:ख हर्त्री, सर्व सुख कर्त्री, सेवको को आनन्ददात्री वताया गया है। मेरे मन में अनेक वार यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि सचमुच में क्या ऐसी कोई माता हो सकती है, जो जगत् को सुख पहुँचा सके। क्योकि विश्व का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि जहाँ एक व्यक्ति को सुख पहुँचाया जाता है, वहाँ दूसरे को दु:ख भी। सभी को सुखी वनाना किसी के वश की वात नही है। शायद ऐसी कोई दैवी-शक्ति ही हो सकती है, जो प्राणीमात्र को सुखी वना सके।

यो तो श्री जैन-वाला-विश्राम और उसकी सस्थापिका तथा सचालिका श्री ब्र० प० चन्दावाई जी का नाम मैं वहुत पहले से सुनता चला आ रहा था। श्री चन्दावाईजी जैन के, कार्यों के प्रति मेरे मन में अपार श्रद्धा भी थी, पर एक दिन मेरे मित्र श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ने मुझ से कहा कि आप आजकल यही रहते हैं तो हमारी सस्था श्री जैन-वाला-विश्राम को अवश्य देखें। मेरा ख्याल है कि आप आदर्श सस्था की जो रूपरेखा वनाना चाहते हैं, आपको उस सस्था से इसमें सहायता मिलेगी। उन दिनो मैं एक उलझन में लगा था, मेरा मस्तिष्क दिन-रात एक सर्वांगपूर्ण भारतीय सस्कृति को लेकर चलनेवाली सस्था की कल्पना में व्यस्त था। अत शास्त्री जी के आग्रहानुसार एक दिन प्रात काल मैं धर्मकुज में स्थित श्री जैन-वाला-विश्राम मे पहुँचा। मैंने छात्रावास, विद्यालय, छात्राओ का रसोई-घर देखा। शिक्षण-पद्धति देखने का अवसर भी मिला। कक्षा में बैठा-बैठा लगभग एक सवा घण्टे तक अध्यापन-कार्य देखता रहा। छात्राओ के प्रश्नोत्तर सुनकर चित्त गद्‌गद हो गया। उनकी योग्यता, वचन-पटुता और भारतीय सस्कृति के प्रति उत्पन्न हुए ममत्व को देखकर मैं फूला न समाया। सोचने लगा—'अरविन्द आश्रम का नाम सुना था, देखा समझा भी, पर यह सस्था आत्मोन्नति में उक्त आश्रम से भी वढकर है। इसमें लौकिक ज्ञान के साथ आत्मोत्थानकारक शिक्षा दी जा रही है, यह हमारे देश के लिए अत्यन्त शुभलक्षण है। आज देश को इस प्रकार की दर्जनो सस्थाओ की आवश्यकता है।

जव मैं सव कुछ देख चुका तो मैंने प्रश्न किया कि इस सस्था का जीवन-केन्द्र कहाँ है? प्राण-सचार किस स्थान से होता है? कौन तपस्वी, मनीषी इसमें अपना जीवन लगा रहा है? मेरे इन प्रश्नो को सुनकर शास्त्रीजी ने माँश्री चन्दावाईजी का नाम लिया। मैंने सहज भाव से कार्यालय में पहुँच कर जगन्माता के दर्शन किये। मेरे समक्ष देवीभागवतोक्त जगन्माता का रूप उपस्थित था। यह माता

कल्पित नही, किन्तु अस्थि-चर्म से निर्मित, अद्भुत तेज और प्रकाश से युक्त थी। मेरे सामने पाण्डु-चेरी के अरविन्द आश्रम की माँ का चित्र भी आ गया। दोनो माताओ की तुलना की, मन ने कहा जगन्माता का रूप जगत् का कल्याण करनेवाला है। यह सौम्य मूर्त्ति, दिव्य तपस्विनी, ससार के जजाल से पृथक्, मुखमण्डल पर योगियो जैसा तेज और शुभ्र-सादे वस्त्र धारिणी जगन्माता है। इसकी आँखो मे जगत्कल्याण की ज्योति है। यह अपना वरद हस्त ऊपर किये हुए आशीर्वाद दे रही है "सुखी होयें सब जीव जगत् के"। मैंने दोनो हाथ जोडकर प्रणाम किया, उनकी चरणरज अपने सिर पर धारण कर अपने को धन्य समझा। आज पहली वार जगन्माता का अलौकिक तेज देखने को मिला। योगी अपने शरीर पर नियन्त्रण कर आत्मिक शक्तियो को वढा लेता है, विश्व मे अपनी साधना द्वारा एक नवीन उत्साह और कल्याण का मार्ग स्थापित करता है, यही बात इस जगन्माता मे है। सचमुच में इतना दिव्य तेज मैंने इनके पहले कभी नही देखा। इसी कारण मेरे मुँह से निकल पडा—यह जगन्माता भगवती है, इसने अपने राग-द्वेष रूपी असुरो का सहार कर दिया है, इसका पदार्पण इस भूमण्डल पर मानव-कल्याण के लिए हुआ है।

मीरा और तुलसीदास की कुण्डली मे योगी होने का योग पडा था। मीरा भक्तिन थी और तुलसीदास भक्त। परन्तु इस जगन्माता की कुण्डली में तपस्विनी का उच्च योग होते हुए भी जगन्माता का योग है। यह विश्व की परोपकारिणी माँ है, ससार का कल्याण और उत्थान चाहनेवाली ममतामयी माँ है। सहस्रो वालाएँ इन्हें माँ कहती है, अगणित पुरुष इन्हें माँ कहते है, अतिथि और आगन्तुक इन्हें माँ कहते है। अतएव ऐसी माँ जगन्माता है, इसकी सन्तान सारा ससार है। यह प्राणीमात्र के साथ वात्सल्य भाव रखती है, जड, चेतन जितना जगत् का व्यापार है, सबके साथ सन्तानवत् वात्सल्य भाव रखती है। यह वह माँ नही है, जो अपराध होने पर सन्तान को डाँटती-डपटती है, किन्तु सदा अमृतमय स्नेह की वर्षा करनेवाली यह माँ है। धरती के वडे सौभाग्य और पुण्य के उदय से ऐसी माँ का जन्म होता है। इस माता की स्नेहच्छाया सर्वत्र पड रही है, इसकी विलक्षणताएँ 'चिन्मयी माता' से भी वढ कर है। मुझे जो आनन्द, जो हर्ष चिन्मयी माता के दर्शन से मिला, वही आनन्द और वही उल्लास इस जगन्माता के दर्शन से भी प्राप्त हुआ। यह जगन्माता शत जीवेत्—दीर्घायु हो। इनका स्नेहाञ्चल हम सब पर वरावर पडता रहे, यही मेरी कामना है। मै अपने श्रद्धा-सुमनो की अञ्जलि भर कर जगन्माता के चरणारविन्दो की अर्चना करता हूँ।

चावी, शाहाबाद। —रामनरेश प्रसाद
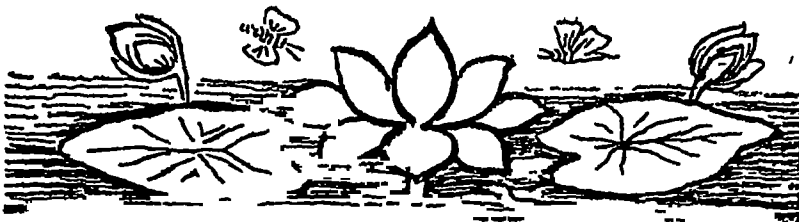
आँखों देखी, कानों सुनी—माँश्री

दूध से मानो धोयी, धवल वस्त्र से विभूषित, नयनो में अपूर्व ज्योति समेटे, उन्नत ललाट पर त्याग और तपस्या की रेखाएँ लिए, मुख में मधु-मिश्रित सुखमय जगजीवन की वाणी अपनाये, हृदय में अपार स्नेह, प्यार एव ज्ञान का भाण्डार समेटे—ऐसी माँश्री का कोई भी दर्शन सहज कर सकता है। माँश्री प० चन्दाबाईजी को देखने पर ही एकबारगी सादगी, तेजस्विता, त्याग, तपस्या, साधना, स्नेह, भक्ति, ज्ञान, विराग आदि गुण स्वय ही हृदय में उतर जाते है। जीवन में जिस नारी के हृदय में प्रदीप जला उसने उसके अंग, प्रत्यग को प्रकाशित एव आलोकित कर दिया।

वह थी तो उस प्रदेश की निवासिनी जहाँ पर मधु है, जीवन है, यमुना है, उसका कूल-किनारा है, कृष्ण की बाँसुरी है और है राधा का त्याग। इसी प्रदेश में उसने हृदय में अपूर्व प्यार, प्रेम एव वात्सल्य सचित किया—उसे बटोरा, उसे समेटा। पर उस समय यह प्यार बटोरा जाता था अनजाने में—शायद कोई प्रत्यक्ष आधार नही था। उसे तो उस भूमि के प्यार की, जिसमें सच्चाई है, जिसमें त्याग करने की सामर्थ्य है, जिसमें दूसरो को देने की भावना है, सत्यता को सिद्ध करना था। पति को वह सब कुछ देती, किन्तु जिसका इतना विराट् स्वरूप था, उसे यह मानव सम्हाल नही सकता था, वह तो मानव समुदाय के लिए था और इसीलिए सुहाग-सिन्दूर १२ वर्ष की उम्र में धुल गया। पर यह उनकी माँग का सिन्दूर एव उनकी धानी चुनरिया उनसे माँगी गई थी विश्व को आनन्द एव ज्ञान देने के लिए।

पति की मृत्यु ने उनकी सारी कोमल भावनाओ पर आघात किया—पर उन कोमल भावनाओ का कोई विकास, स्वरूप तो होना ही चाहिए था। बारह वर्ष की अबोध बालिका धीरे-धीरे समझने लगी कि सिन्दूर एव शृगार के साधन उसके लिए नही, सुन्दर वस्त्राभूषण उससे छीन लिये गये—चूडियो की खनखनाहट उसके हाथो से लुप्त हो गई और धीरे-धीरे उसके हृदय की कोमल भावनाएँ एक दिव्य स्वरूप लेकर सर्वजनहिताय की ओर बढ चली। वैष्णव परिवार का जन्म तो था, पर उसकी दिशा बदल दी गयी और वह जैन परिवार में आ गयी थी। भक्तिभावना थी ही, लगन थी ही, प्रेम था ही, सिर्फ स्वरूप बदलना था और इसीलिए कोई पूर्व निश्चित आधार नही होने के कारण हृदय की समस्त भावनाएँ एकबारगी ज्ञान आने पर प्रभु के चरणो में न्योछावर हो गयी। वीतराग जिनेन्द्र की भक्ति ने एक ऐसा प्रदीप जलाया, जिससे आज उनकी नगरी आरा ही नही, उनका प्रान्त विहार ही नही—परन्तु आज समस्त भारत उनके गुणो की प्रशसा मुक्त-कठ से कर रहा है और उनका अभिनन्दन करता है।

बीसवी शताब्दी का प्रारम्भ तो हुआ—राष्ट्रीय भावनाएँ तो भारत में प्रवल होने ही लगी, पर इसके साथ भारतीय अपनी दीन एव पतित अवस्था को भी अवलोकने लगे। विद्या की अवनति से भारतीय अपनी स्थिति का उचित अनुमान भी तो नही कर पा सकते थे और यही कारण था कि जाति, देश एव राष्ट्र का उद्धार होना उस समय सभव नही था। विशेष कर नारी जाति, उसमें भी जैन-समाज की नारियाँ विद्या से काफी दूर चली जा रही थी। धर्म एव ज्ञान दूर होता जा रहा था और पूर्ण भौतिक जीवन की ओर सभी का झुकाव हो रहा था। बहुत दिन से चली आती हुई वह ज्ञान की दीपशिखा, उस धर्म की लौ कुछ धीमी पड रही थी और वह एक ऐसी आत्मा को खोज रही थी जो उसमें फिर से प्राणो का सचार कर सके, जो उस दीप में पूर्ण ज्योति प्रदान कर सके।

भारत के जैन-सम्प्रदाय मे सासारिक विषय-वासनाओ को त्याग कर एक तपस्वी का जीवन व्यतीत करनेवालो की सख्या यद्यपि वहुत अधिक नहीं, फिर भी यह सख्या धर्म, ज्ञान एव विद्या की उन्नति के लिए पर्याप्त वन सकती है। परन्तु विशेषकर उत्तरी भारत में इन तपस्वियो की सख्या नही के वरावर है और उन दक्षिण के तापस मनीषियो से उत्तर भारत के जनसमुदाय को समय-समय पर लाभ तो अवश्य होता रहता है, पर वह स्थायी वस्तु नही बन पाता। एक बार एक ज्ञान एव धर्म की लहर आती है और वह लहर दूसरी बार लुप्त हो जाती है। विहार प्रान्त की आरा नगरी भी जैनधर्म की धार्मिक भावनाओ से वहुत पहले से ओत-प्रोत थी, पर यहाँ भी वही बात थी—सभी एक नया सम्वल खोज रहे थे, सभी एक ऐसी ज्योति खोज रहे थे जो उनके रोम-रोम को धर्म एव ज्ञान से झकृत कर दे। माँश्री का ऐसे समय में इस नगरी में आना अत्यन्त शुभ एव लाभप्रद हुआ। अज्ञानान्धकार में मनुष्य अपने को भूल जाता है—अपनी परिस्थिति, अपने समाज, अपने धर्म एव अपने राष्ट्र तक को भुला देता है, इन्ही विचारो को ध्यान में रखकर माँश्री ने अपने में ज्ञान एव धर्म का प्रदीप जलाकर नागरिको की सेवा का बीडा अपने हाथो उठाया। उनके रचनात्मक कार्यों का उल्लेख करना हमारा यहाँ ध्येय नही है। पर हाँ, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि माँश्री के अथक प्रयास से आरा नगरी मे तीन सस्थाओ का प्रादुर्भाव हुआ—कन्या-पाठशाला, बच्चो को धार्मिक शिक्षा देने के लिए रात्रि-पाठशाला, और आरा से दो मील-स्थित जैन-वाला-विश्राम—ये तीन सस्थाएँ इस देवी की अपूर्व देन है। इनमें से तीसरी जैन-बाला-विश्राम तो इस विहार की प्रमुख सस्था वन गयी है। आश्रम का वातावरण वालिकाओ को स्वावलम्वन का अपूर्व पाठ पढाता है। जितनी वालिकाएँ एव प्रौढ वालाएँ इस सस्था में रहती है, उनका जीवन साधनामय है—ज्ञान की जिज्ञासा एव धार्मिक भावनाओ से ओत-प्रोत आश्रम सचमुच में ऐसी किरणें बिखेर रहा है, जिससे जो प्राणी इसके ससर्ग में आते है, वे अवश्यमेव आलोकित होते हैं।

माँश्री सचमुच मे जैनधर्म की एक ऐसी प्रतीक वन गयी है, जिसका प्रभाव जो इनके सम्पर्क में आता है, उस पर वहुत ही जल्द पडता है। कारण यह है कि और जो तपस्वी है वे हमारे वीच से हट कर दूर साधना करते है और उस साधना से जो ज्ञान उन्हें होता है उस ज्ञान को वे विकीर्ण करते हैं। विस्तृत रूप से देखने पर सभी धर्मों मे ऐसे साधु-सन्तो की कमी नही है, परन्तु ऐसा

प्रतीत होता है कि वे आज जीवन को समझ नही पाते, उनकी बातो का, उनके विचारो का, उन्हें पूर्ण ज्ञान नही हो पाता और वे उस गहराई तक पहुँच नही सके। दूसरी ओर वे साधक है, जो समाज के बीच रहकर अपनी साधना करते है—वे समाज के सुख-दुःख को देखते है, उसकी कमजोरियों को समझते हैं और उन कमजोरियो को, सामाजिक कुरीतियो को दूर करने में वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं और बहुत अश तक सफल भी होते हैं। क्या कारण है कि महात्मा गान्धी से समाज का वृहद् अश प्रभावित हुआ और आज भी उनके विचारो से समाज प्रभावित हो रहा है? एकमात्र उत्तर यही है कि उनकी साधना इन्ही सासारिक कमजोरियो के बीच हुई। उनकी साधना में स्वय को सुखी बनाने की भावना नही है, प्रत्युत समाज को सुखी बनाने की प्रबल आकाक्षा है। माँश्री का जीवन भी इसी ओर सकेत करता है, उनका जीवन साधनामय है, परन्तु वह साधना समाज को छोडकर नही—समाज में फैले अवगुण का वे अवलोकन करती है और तत्पश्चात् अपनी साधना से उन अवगुणो को दूर हटाने का प्रयत्न भी करती है। और इसी तरह समाज स्वस्थ, सुन्दर एव स्वच्छ बन सकता है।

माँश्री के वैयक्तिक जीवन को यदि हम देखे, तो हमें अवगत होगा कि वह इतना नियमित एव इतना आयोजित है कि उनका एक पल भी व्यर्थ नष्ट नही होता। उनके लिए प्रत्येक पल उनकी साधना का अश है और इसीलिए प्रत्येक क्षण में उन्हें ज्ञानार्जन एव ज्ञान विकीर्ण करने की पिपासा है। उनका दैनिक जीवन भी और तपस्वियो से कम नही है। साधना, तपस्या, स्वाध्याय, पूजा-पाठ तो उनके जीवन-अग हैं। सम्पूर्ण समय का बहुत अश तो इन्ही कार्यों में व्यतीत होता है। परन्तु यह भी बात है कि समय आने पर उन्हें कोई समाज से दूर नही देख सकता। मृत्युशय्या पर पडे अपने ही परिवार के एक सदस्य के पास अभी हाल ही में जब मैंने उनको देखा तो मुझे ज्ञात हुआ कि सचमुच में इनका हृदय इन सासारिक मनुष्यो की वेदना का अनुभव पूर्णरूपेण करता है। मृत्युशय्या के निकट रहकर उस आत्मा को शान्ति प्रदान करना जैसे उन दिनो इनके जीवन का एक प्रमुख अग बन गया था। कितनी शान्ति, सौम्यता एव धैर्य तब भी उस चेहरे पर था! क्योकि उन्हें इस ससार के आवागमन का स्वरूप पूर्णतया ज्ञात है।

माँश्री के जीवन में धार्मिक भावना तो इतनी घर कर गयी है कि वे अहर्निश जैनधर्म की धवल पताका को गगनाङ्गण में लहराते देखना चाहती हैं। जैनधर्म की 'अहिंसा परमोधर्म' की भावना उनके जीवन का एक विशिष्ट अग है, उसके बिना वे खडी ही नही हो सकती। "जैन जागरण के अग्रदूत' के रूप में आकर माँश्री ने जैनधर्म की भावना को जाग्रत रखने के लिए अनेक प्रयत्न किये है और उनमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। अभी कुछ दिनो की बात है जब कि 'हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल' की बात बहुत जोरो से भारत में चल रही थी, उन्होने इसे धार्मिक भावना के विरुद्ध समझा और उसकी अस्वीकृति के लिए वे भारत की राजधानी दिल्ली तक गयी और वहाँ न जाने कितने लोगो से मिलकर जगह-जगह से तार, पत्र दिलवा कर बम्बई सरकार के मुख्यमन्त्री श्री बालगगाधर खेर से अनुरोध कर अन्त में उस बिल से जैनमन्दिरो को पृथक् करा दिया। इन धार्मिक भावनाओ में उनकी एक विशेष निष्ठा प्रतीत होती है। उनके आत्म-विश्वास की बात तो बिलकुल निराली है, क्योकि यह विश्वास उनके साधनात्मक जीवन का एक अग है। जैनधर्म की थोडी-सी उन्नति एव जागृति

देखकर उन्हें प्रसन्नता होती है, कारण यह है कि इस धर्म ने उन्हें इतना ऊपर उठाया है जिससे उनका विश्वास है कि जो दूसरे इसके ससर्ग में थोडी-सी भी भावना के साथ आते हैं, उनकी आध्यात्मिक भावना में सहसा इतना परिवर्तन हो जाता है कि वे सासारिकता से अवश्य ऊपर उठ जाते हैं। इसकी प्रगति में ही जैसे उनके जीवन की प्रगति छिपी है। पर यह नही कि और धर्मों के प्रति उनमें घृणा या द्वेष की भावना है। वे औरो को दवाकर ऊपर उठना नही चाहती, पर हाँ वे स्वय ऊपर अवश्य उठना चाहती है। इस विचार से ही सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भावना को वे जन-जन के जीवन मे भर देना चाहती हैं। उन्होने जितना कुछ अपनी तपस्या से अपनी साधना से पाया है, वे सब कुछ दूसरो को, इस जगती के प्राणियो को देना चाहती हैं। उन्होने जिन जलकणो को अपने शरीर को सुखा-सुखाकर पाया है, उन्हें इस अतृप्त वसुन्धरा को, प्यासी वसुधा को देकर सिंचित करना चाहती हैं। विश्व का सम्पूर्ण गरल उनके लिए हो और विश्व के प्राणियो को अमृत का पान, यही उनकी चाह है।

दूसरी ओर वे सामाजिक जीवन एव समाज से दूर तापसी-जीवन के बीच की एक अनुपम कडी है। बात यह है कि उनके विशाल हृदयाश्रम में दोनो ने स्थान पाया है, दोनो यहाँ आकर आनन्द का अनुभव करते हैं। दोनो ही उनकी साधना का लाभ उठाते है और दोनो को एक शृखला में बाँधने का वृहत् काम उनके द्वारा वडी ही सरलता से सभव हो जाता है। मुनियो की, जो जग-जीवन से काफी दूर हैं, सत्सगति द्वारा माँश्री अपना आत्म-प्रक्षालन निरन्तर करती रहती हैं।

माँश्री की विद्या-भावना तो बिलकुल अपूर्व है। उनकी इस भावना में परीक्षा में, उत्तीर्ण होकर उपाधि प्राप्त करना ही एकमात्र ध्येय नही है, वे तो उस विद्या को प्रोत्साहन देती है जो निर्वाण-प्राप्ति में सहायक हो। वे चरित्र में हिमालयत्व की भावना चाहती हैं, जिसमें अडिगता हो, दृढता हो और हो अपने सिद्धान्त में सब कुछ अर्पण कर देने की भावना। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होने आश्रम की स्थापना की। और इस विद्यामन्दिर में जो विद्यादान होता है, उसके प्रत्येक अश मे साधना की भावना अन्तर्निहित रहती है। उसकी प्रत्येक स्वरलहरी में जीवन-गीत छुपा होता है और उसका प्रत्येक कार्य धार्मिक भावना से ओत-प्रोत होता है। नैतिकता, चरित्रबल, एव विशुद्धता उन बालाओ का मुख्य अग बन जाती है। सचमुच जिस विद्या में हृदय की शुद्धि नही, हृदय का परिमार्जन नही, वह विद्या पूर्ण नही। आजकल इस भौतिक युग में विद्या का माप-दण्ड ही बदलता जा रहा है, अत इस प्रकार की ज्योति-किरण विकीर्ण करना एक बहुत बडी आवश्यकता है और इस दिशा में माँश्री की अपूर्व देन है।

ज्ञान के क्षेत्र मे उन्होने अपने मे इतनी दक्षता प्राप्त कर ली है कि वे वडे-वडे पण्डितो या शास्त्रज्ञो के समक्ष शास्त्रो की गूढ और सूक्ष्म वातो को प्रकट कर समयानुसार यश प्राप्त करती रहती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सतत साधना से विद्या को अपने हाथो की कठपुतली वना लिया है। आज माँ सरस्वती माँश्री को अपना सर्वस्व देने के लिए प्रस्तुत है, क्योकि वह जानती है कि उसकी उपयोगिता अपने को उन हाथो में दे देने में है, जिनसे जग को लाभ हो और माँश्री भी जो

कुछ पाती है, उसे बिखेर देने मे ही आनन्दानुभव करती है । सभाओं में, विशेषकर जहाँ पर नैतिक, सास्कृतिक एव आध्यात्मिक बातो की चर्चा रहती है, उन स्थानो पर आप विशेष अभिरुचि लेकर जाती है । सभाओ में अपनी मधुर भाषा में भाषण देना आपको विशेष प्रिय है, क्योकि उससे अपनी भावनाओ को वे बडे ही अच्छे ढग से दूसरो तक पहुँचा सकती है । उनके कहने की शैली—उनके अभिभाषण का ढग कुछ ऐसा है कि आपकी भावनाओ से बरबस व्यक्ति को प्रभावित होना पडता है । वे धार्मिक भावनाओ को भी लोक-प्रचलित भावनाओ से इतना मिला देती है कि उनका पालन करना जीवन के लिए मगलप्रद होता है ।

उनकी राष्ट्रीय भावना तो सचमूच में इन धार्मिक, नैतिक एव सामाजिक भावनाओ से विशेष रूप में चमक पा गयी है । उन दिनो जब स्वतन्त्रता के पहले राष्ट्रीय भावनाओ की लहर इस देश में प्रारम्भ हुई थी, माँश्री का योग भी उसमें कम नहीं । बापू भी राष्ट्रीय भावना का प्रदीप जलाते हुए आरा नगर में पधारे थे । उसी समय उन्होने माँश्री द्वारा सस्थापित 'वनिताश्रम' एव उसमें प्रतिष्ठित शान्ति को देखकर आनन्द प्रकट किया था और उस समय जो काम माँश्री ने किया था वह प्रशसनीय कहा जा सकता है । राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत यह नारी कार्यक्षेत्र में आने के साथ ही इस दिशा में अत्यधिक प्रयत्नशील रही है । समय-समय पर सामाजिक भाषणो द्वारा इस दिशा में एक लहर उत्पन्न करती रही है । देश की स्वतन्त्रता के अवसर पर माँश्री के जीवन की एक बहुत बडी चाह पूरी हुई थी । उस समय जो हर्ष, जो प्रसन्नता, जो सन्तोष, जो तृप्ति आपको प्राप्त हुई थी, वैसा आनन्द, वैसा हर्ष, वैसा उल्लास शायद ही किसी व्यक्ति को प्राप्त हुआ हो ।

इस तरह हम देखते हैं कि माँश्री ब्र० प० चन्दाबाईजी ने जीवन के एक अग को नही, बल्कि उसके प्रत्येक अग, प्रत्येक दिशा को छूकर सुघड एव सुन्दर बनाया है । आज उनके चरणो में रहकर जिनको उनके ज्ञान, उनकी भावना एव उनके विचारो को सुनने, समझने का लाभ प्राप्त है, मेरा तो विश्वास है कि उनका जीवन उस अपूर्व ज्योति के ससर्ग से अवश्यमेव ज्योतिर्मान होगा और उस ज्योति की एक भी किरण जिसने अपना ली उसका जीवन, जगती का जीवन हो जायगा और उसमें सहज ही सेवा, धर्म, ज्ञान का प्रदीप जल उठेगा । मैं सौम्य मूर्ति माँश्री के चरणो में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ, उनकी दीर्घायु की कामना करता हूँ । उनकी आयु द्रौपदी का चीर बने, जिससे जगतीतल का अज्ञान-तिमिर दूर हो सके । ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

—विजयेन्द्रचन्द्र जैन, एम० ए०
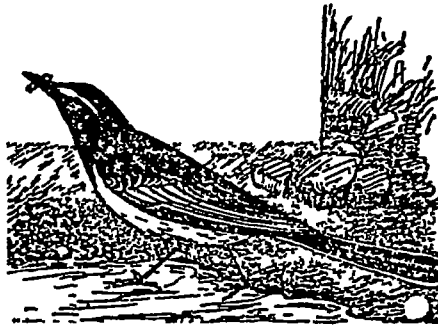
श्री ब्र० प० चन्दाबाईजी का २० वर्ष की अवस्था का चित्र

श्री ब्र० अनूपमाला देवी मातेश्वरी श्री बा० निर्मलकुमारजी एवं मांश्री

आदर्श देवी

त्याग तो सर्वदा वदनीय है ही, परन्तु वह त्याग, जहाँ भोग और ऐश्वर्य के साधन की सारी सम्पन्नता–वर्तमान है। जहाँ त्याग करने के निमित्त—

"नारि मुई गृह सम्पति नासी—

का मजमून तथा अन्य प्रकार से किन्ही कारणो की विवशता नही, प्रत्युत स्वेच्छया त्याग है,—परम वदनीय तथा अति महान माना गया है। एक धन-वैभव-सम्पन्न भूमिपति का, अपना सारा सुख, ऐश्वर्य परित्याग कर, त्यागी, तपस्वी तथा विरागी होना जितना महान, श्रेष्ठ तथा श्लाघनीय है, उतना एक साधारण जन का नही। तात्पर्य जिसका जितना बडा त्याग होगा, वह उतना ही बडा पूज्य स्तुत्य एवम् आदरणीय माना जायगा। महान आत्मा भरत ने भ्रातृ-स्नेह-वश, अपनी माता कैकेयी द्वारा उपार्जित चक्रवर्ती राज्य, लाख अनुनय-विनय करने पर भी परित्याग कर ही दिया, इसी कारण उनका त्याग सर्वोपरि तथा परम वदनीय माना गया है, और स्वय भगवान राम ने उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की है।

ऐसा ही परम स्तुत्य, वदनीय त्याग, मेरे जिले–आरा–के ही नही, अपितु समस्त भारतवर्ष के हेतु गौरवास्पद, आरा के परम प्रसिद्ध तथा सुप्रतिष्ठित जमीन्दार, धनाधिप जैन-परिवार की महिला-शिरोमणि, आदर्श देवी आजन्म ब्रह्मचारिणी, परम विदुषी-रत्न पण्डिता चन्दाबाईजी जैन महोदया का है।

इस कहावत के अनुसार कि—"संसार अपनी महान विभूतियो को नही जानता"—यह सच है कि महान महिलारत्न को जैनेतर-समाज प्राय नही ही जानता है। परन्तु यह भी उतना ही सच है, कि आज के इस भौतिक युग मे, जहाँ भोग और आनन्द, "जिओ और खुश रहो—!" के नारे से आसमान फटा जा रहा है, मानो जीवन का मात्र ध्येय भोग और केलि ही हो—भोग और विलास, सुख और आनन्द की महाराशि की अधिकारिणी होकर भी, अपनी सारी लालसाओ को भस्मसात् कर, अपने परम-रम्य प्रासाद का परित्याग कर, शहर के उष्ण, उद्विग्न एवम् कोलाहलपूर्ण वातावरण से दूर, एक साधारण-से आम्र-निकुज में जननी-जाति की निस्सहाय, निरुपाय तथा निर्बल कन्याओ, युवतियो, प्रौढाओ और वृद्धाओ की केवल सेवा-सहायता ही नही, प्रत्युत उनके सद्विवेक, धर्म-भावना तथा सदाचार को अनुप्राणित करने के हेतु सतत प्रयत्नशील, उनके जीवन को सच्चा सुख, सच्ची आत्मशाति प्रदान के निमित्त एक सतानवत्सला माता की भाँति सदा व्यग्र तत्पर—ऐसी देव-दुर्लभ देवियाँ, आज कहाँ मिलती हैं।

श्री चदावाईजी भी अपनी कटि में अपने अपार कोषागार की कुजियाँ शान से लटकाकर बडी आन-वान से अपने परिवार तथा भृत्यवर्ग पर शासन कर 'धनपुरावाली वहूजी" के वावजूद "मालकिन-रानी", "वहूरानी" कहला सकती थी। सैकडो दास-दासियाँ सेवा में सदा सलग्न रह सकती थी। इन्हे प्रभु ने क्या नही दे रखा है! विशाल जमीन्दारी, आलीशान इमारत, इफरात पैसे, भरा-पूरा सभ्य, सुशिक्षित सहृदय तथा सज्जन परिवार और परिवार में वहुत वडा सम्मान-आदर—! सव है।

किन्तु नही, शानो-शौकत, रोव व ठाट की ये समस्त सामग्रियाँ इस देवी को अपनी ओर उसी प्रकार तनिक भी आकर्षित नही कर सकी, जिस प्रकार—

"कामी वचन सती मन जैसे!"

सेवा, साधना, तप तथा त्याग की ज्वलत मूर्ति इस आदर्श देवी ने ससार के इन सारे मूढ मोहो पर निर्मम पाद-प्रहार किया और धर्म, देश, समाज तथा जाति-गगा की सेवा के महा प्रेमयोग में महादेवी "मीरा" की भाति पक्के रग मे अपनी चुनरी रगाई। ससार की सारी लुभावनी रगीनियाँ इस देवी को टुक अपनी ओर मुखातिव न कर सकी। क्योकि यह विदुषी महिला ससार की इन कच्ची रगीनियो की झूठी चमक से भलीभाति परिचित थी। इसे मालूम था, यह चकमक केवल एक भयानक छल और प्रवचना के अतिरिक्त कुछ नही। आँखो में चकाचौंध पैदा करनेवाली इस नकली 'छीट' की चमक जहाँ एक वार भी 'भट्ठी" पर चढी कि सत्यानाश!

नारी-जाति की पवित्र धरोहर इस देवी ने मानव-जाति की सेवा का मर्म समझा और सेवा के इस घोर कठिन पर परम सुमिष्ट मेवे की प्राप्ति के लिये अपना सारा सुख, आराम ही नही, अपना जीवन तक सहर्ष उत्सर्ग कर दिया और इस स्वर्गीय मेवे को प्राप्त कर लिया—अपने जीवन को अक्षय-अमर वना दिया।

जव तक "धनुपुरा" का "धर्मकुज" "जैन-वाला-विश्राम" और इन सस्थाओ से दीक्षित, विदुषी धर्मरता, सेवा-परायणा देवियाँ रहेंगी, तव तक इस आदर्श देवी, आदर्श ब्रह्मचारिणी, आदर्श विदुषी तथा आदर्श सेवा, तप और त्याग की प्रोज्ज्वल-प्रतिभा सु-श्री पडिता चन्दावाईजी जैन का पावन नाम दिनकर की भाति देदीप्यमान, कातिमान् कचन की नाई सदा चमत्कृत रहेगा।

भगवान से प्रार्थना है—भारतीय संस्कृति, आदर्श, मर्यादा, परम्परा तथा मान्यताओ की सजीव, सक्रिय प्रतीक, मातृवत् इस आदर्श देवी को दीर्घायु करे, जिससे देश, धर्म, समाज और जाति-सेवा का यह धूप-दीप सदा प्रज्वलित रहे।

इति शम्!

जगदीशपुर

—सरयू पण्डा गौड़

चन्दाबाई—एक तपस्विनी

एक दिन मै श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा, में बैठा हुआ था। बात के सिलसिले मे प० के० भुजवली शास्त्री ने श्री जैन-बाला-विश्राम, धनुपुरा, का जिक्र किया, और बताया कि उक्त सस्था का वार्षिक अधिवेशन होने जा रहा है। उन्होने मुझसे भी उक्त सम्मेलन में शामिल होने के लिए कहा। शास्त्रीजी के प्रति मेरी पूर्ण श्रद्धा है। उनकी योग्यता और भलमसी में मै विश्वास रखता हूँ। उनके अनुरोध को टालना मुश्किल हो गया।

वार्षिकोत्सव में मै सम्मिलित हुआ। कार्यारम्भ के शीघ्र ही बाद एक अधेड महिला का दर्शन हुआ। सफेद साडी में एक अजीब प्रतिभापूर्ण मूर्ति दिखाई पडी। मुखमडल पर शाति का साम्राज्य छाया हुआ था। मालूम हुआ, किसी सद्विचार की चिन्ता मे निमग्न है उनकी आँखें।

उत्सव की समाप्ति के पूर्व उन्होने विनम्र शब्दो के बीच अपने उद्गार प्रकट किये—"त्याग और तपस्या की प्राप्ति के विना जीवन सुखकर नही बन सकता।" उनके ये वाक्य आज भी मेरे कानो में गूंज रहे है। उन्होने अपने भाषण के सिलसिले में कुछ और ऐसी बातें कही, जिन्हे भूल जाना कठिन है। उन्होने कहा—"चरित्र-बल से बढकर कोई भी बल नही है। उसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम सत्य में निष्ठा रखेंगे, त्याग का अस्त्र बनावेंगे और जीवन को सादा रग से रगते रहेंगे। सेवा-धर्म मानव का भूषण है। इसी से सहनशीलता आयगी, और आत्मोन्नति के लिए सहनशीलता आवश्यक है।"

उपर्युक्त वाक्य वास्तव मे मानव-जीवन को काचन बनाने मे प्रबल सहायक हो सकेंगे। जिस मनुष्य में चरित्र-बल नही है, वास्तव मे वह मनुष्य है ही नही। चरित्र-बल की प्राप्ति जीवन को सादगी की ओर बढाने से ही हो सकती है। सादगी का अर्थ सिर्फ वस्त्र की सादगी तक ही सीमित नही है। उसे तो हमें खान-पान, बोल-चाल और आचार-विचार में भी ढूंढना चाहिए। जितना ही अधिक इस अपने जीवन को सादगी की ओर झुका सकने मे सफल हो सकेंगे, उतना ही हमारा चरित्र-बल मजबूत होता जायगा। लेकिन, यह तो एक साधना की चीज है, और साधना के लिए तपस्या आवश्यक है।

बाईजी को हम साधना में निरत देखते है। साधना के लिए अहभाव का त्याग आवश्यक है। इसके लिए मन, वचन और कर्म पर एकात रूप से नियत्रण रखना होता है। बाईजी के वचन में

शात-भावना है, मन में एकात साधना है और है कर्म में दृढ रहने की प्रवृत्ति । ये सभी लक्षण एक तपस्वी के हैं, और इसीलिए मैं इन्हें एक तपस्विनी कहता हूँ ।

जिस चीज के त्याग से मन में आनन्द उत्पन्न होता है, वास्तव में वही त्याग है । उसके रहने से हृदय में जो बेकली बनी रहती है, उससे छुटकारा मिलता है, और इसीलिए आनन्द की प्राप्ति होती है । ज्ञानियो ने इसीको इच्छा का त्याग कहा है । इस त्याग को अपनाने के बाद अपार सपत्ति और भव्य-भवन का मोह छूट जाता है, और उनसे किनाराकशी करने में ही आनन्द मालूम होता है । इसीको त्याग कहते हैं । बाईजी एक धनाढ्य घर की लडकी है, और धनाढ्य घर में विवाह भी हुआ है, लेकिन इनके लिए सारी सपत्ति और ऐशोआराम के सभी साधन धूल के समान है । एक छोटी-सी कोठरी मे रहना, चिन्तन करना और आत्मोन्नति की ओर सचेष्ट रहना ही इनकी एकमात्र दिनचर्या है । फिर मै इन्हे तपस्विनी क्यो न कहूँ ।

परोपकार तपस्या का साधन है । परोपकार के लिए त्याग को अपनाना होता है । उस वक्त व्यक्तिगत स्वार्थ की बातें याद भी नही आती । अपनापन अचानक न मालूम कहाँ खो जाता है । शायद वह समूह में प्रवेश कर जाता है । व्यष्टि समष्टि के रूप में परिणत हो जाती है । एक ओर स्वार्थ का नाश होता है, तो दूसरी ओर त्याग का सृजन होने लगता है । इसीको तपस्या का क्षेत्र कहते हैं । बाईजी रात-दिन आश्रम की छात्राओ के उज्ज्वल भविष्य के लिए चिन्तित रहती हैं । अपने हर प्रकार के सुख-सौख्य को उनके कल्याण की वेदी पर न्योछावर करती रहती हैं । इनका अपना कोई दूसरा सुख नही है । उनके सुख से ही इन्हें सुख प्राप्त होता है तथा उनके दुख से ही इन्हें दुख का अनुभव होता है । इस प्रकार स्पष्टतया देखने में यही आता है कि इनका अपना कोई अलग सुख-दुख नही है, बल्कि समष्टि के कल्याण के साथ ही इनका जीवन है । विद्वानो ने तपस्वी का लक्षण कल्याण की ओर प्रवृत्त रहना बतलाया है । बाईजी में यही लक्षण दिखाई पडता है । इसीलिए मैं इन्हें तपस्विनी कहता हूँ ।

आत्मबल प्राप्त होने के बाद मनुष्य में एक अजीब दृढता का अनुभव होता है । उस वक्त ऐसा मालूम होता है कि ससार की कोई भी बाधा उसे विचलित नही कर सकती । उस वक्त अजीब साहस का हृदय में सचार होने लगता है , और मनुष्य कठिन से कठिन कार्य करने पर उतारू हो जाता है । पीछे हटना वह भूल जाता है । इसीलिए जीवन में उसे सफलता प्राप्त होती रहती है । वह फल की इच्छा से कोई कार्य नही करता । वह एक साधक के रूप में अपने को पाता है । उस वक्त वह किसी की निन्दा और प्रशसा की परवाह नही करता । उसकी दृष्टि में ये दोनो बराबर हैं । उस वक्त उसके हृदय मे भय के लिए कोई स्थान नही रहता । भय पर विजय प्राप्त करना ही तपस्वी का काम है । बाईजी मे पूर्णरूप से निर्भीकता देखी जाती है और साथ ही कार्य-क्षमता । निन्दा और प्रशसा की ओर ये भूल कर भी ध्यान नही देती, इसीलिए मैं इन्हे तपस्विनी कहता हूँ ।

एक छोटी-सी कहानी है । बाईजी के घर मे विवाह था । उत्सव में एक स्त्री की लडकी का गहना किसी ने चुरा लिया । इससे वह स्त्री बहुत दुखी हुई । बाईजी को जब यह समाचार प्राप्त

हुआ, तब इन्होने अपने पास से उस लडकी को गहना बनवा देने का वचन दिया। विवाह के बाद गहने बनवा दिये गये। इस प्रकार किसी भी दुखी को देखकर बाईजी का हृदय भर आता है, और उसके कष्ट को दूर करने के लिए पूर्ण तत्पर हो जाती हैं। इसीसे बाईजी की सहृदयता का पता चलता है। उस व्यक्ति मे सहृदयता नही आ सकती, जो रात-दिन अपने स्वार्थ मे चूर रहता है। लेकिन स्वार्थ तब तक नहीं छूट सकता, जब तक मनुष्य अपने को पहचानने की चेष्टा नही करता। अपने को पहचानने के लिए तपस्या की आवश्यकता है। तपस्या साधना के बल पर ही पूर्ण हो सकती है। बाईजी ने साधना को अपनाया है। इसीलिए उनकी तपस्या सफल हो रही है। बाईजी में ये सारी बातें स्पष्ट रूप से वर्तमान है, इसीलिए मै इन्हे एक तपस्विनी के रूप में देखता हूँ।

साधक विशेषत मौन रहता है। मौन रहने का प्रयोजन आत्म-चिन्तन है। बाह्य झझटो से अलग होकर आत्म-रमण करना ही योग का लक्षण है। 'मै' को ढूँढना, उसके शुद्ध रूप को पहचानना और उसमें किसी भी प्रकार की कालिमा न आने देना ही आत्म-रमण का प्रयोजन है। मनुष्य इस प्रकार की अवस्था में जब अपने को रखने लगता है, तब फिर उसे किसी बात को कहने की आवश्यकता कम पडती है, वह सिर्फ अपने आचरण से अपने विचारो की पुष्टि करने लगता है। क्योकि व्यवहार की उत्पत्ति मन, वचन, काय और कषाय से होती है, और धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण आत्म-परिणति है। मनुष्य को शाति की प्राप्ति तब तक नही हो सकती, जब तक वह उसे व्यवहार में परिणत करने के लिए तैयार न होगा। बाईजी स्वय शाति की मूर्त्ति हैं। शाति ही योग की परिपक्वता है। वास्तव में ये मुझे योग में परिपक्व दिखाई पडती हैं।

स्व० गाधीजी ने मृत्यु को सगिनी की उपाधि दी है। उनका कहना है कि 'इस प्यारी सगिनी के बिना जीवन निरर्थक है। क्योकि यदि मृत्यु नही रहती, तो जीवन को हम काचन बनाने की चेष्टा ही कहाँ करते ? यह जीवन को स्वच्छ और सुन्दर बनाने में हमारा साथ देती है। हम इसके आगमन के पूर्व अपने को स्वच्छ और निर्भय बनाने की चेष्टा में लीन रहते हैं। जब हम अपने प्रयत्नो में सफल हो जाते है, तब हमें उसकी अगवानी करते बडा आनन्द मिलता है। उस वक्त उसके साथ हमारा मिलन बडा ही सुखकर होता है।'—महात्मा गाधी के उपर्युक्त वाक्यो का आशय मुझे तो यही मालूम होता है कि मृत्यु के पहले हमें निर्भीक होना आवश्यक है। लेकिन हम निर्भीक तब तक नही बन सकते, जब तक हमें कायिक-शुद्धि की प्राप्ति नही हो जाती। यदि काया निर्मल है, तो भयभीत होने का कोई कारण नही है। क्योकि उस वक्त हम अपने को पहचानने लगते है। शरीर से हमारा क्या सबध है, यह हमें मालूम होने लगता है। उस वक्त हमें अपने अमरत्व का पता चलने लगता है। जब हमे इस बात की सच्चाई में पूर्ण विश्वास हो जाता है कि हम अमर हैं, शरीर के विनाश का हमारी आत्मा के ऊपर कोई भी प्रभाव नही है, तो हम निर्भीक हो उठते हैं और मृत्यु के भय से हम जरा भी भयभीत नही होते। लेकिन, ये सभी चीजें साधना की हैं, और साधना योगी के अस्त्र है। बाईजी साधना मे निरत रहती हैं, इसीलिए मैं इन्हें तपस्विनी कहता हूँ।

ज्ञान वैराग्य की प्रभुता है। जब मनुष्य को इस बात का बोध हो जाता है कि वह आम जनता से ऊपर उठा हुआ है, तो उसे कुछ 'अह' का बोध होता है। इसीलिए तो वह 'सोह' की रट

लगाने लगता है। लेकिन, भक्ति में ये सब बाते नही रहती। वह अपने को भूल जाता है, और इष्टदेव मे प्रवेश कर जाता है। उस वक्त उसके पास 'अह' या 'सोह' की बू तक नही रह जाती। कितना स्वच्छ कल्याण का मार्ग है यह! लेकिन, इसके लिए महान बलिदान की आवश्यकता है। अपना कुछ नही रह पाता। यह साधारण बात नही। इसे तो एक योगी ही कर सकेगा। बाईजी निरन्तर द्रुतगति से इस पथ की ओर अग्रसर हो रही है। इसीलिए मै इन्हें एक तपस्विनी के रूप में देख पाता हूँ।

जिस वस्तु की धारणा से हम अपना तथा दूसरो का कल्याण कर सकें और साथ ही हमें मोक्ष की प्राप्ति भी हो सके उसे ही हम धर्म कहते है। ऐसा धर्म वर्गीकरण पसद नही करता। उसके यहाँ जाति या उसके नियम-उपनियम की गुजाइश नही रहती। वह इन सभी चीजो से ऊपर उठा रहता है। उसकी दृष्टि में सारा मानव-समाज एक सतह में है। वह एक ही दृष्टि से सर्वत्र देखता है, और सबो की कल्याण-कामना करता है। बाईजी दिगबर जैन है। जैन-धर्म के जो नियम और उपदेश है, उनके अनुसार वे अवश्य चलती हैं, लेकिन यह विचार कभी नही रखती कि दूसरे धर्म या वर्ग का व्यक्ति इसलिए इनकी दृष्टि में तुच्छ है, चूँकि वह जैन नही है। यदि ऐसी बात रहती, तो ये कभी भी अपने आश्रम में जैनेतर छात्राओ को स्थान नही देती। इनके आश्रम में सभी वर्ग या धर्म की छात्राएँ नि सकोचभाव से आश्रय पाती है, और उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाता है, जैसा जैनी छात्राओ के साथ। इस प्रकार जैनी होने पर भी ये धर्म के व्यापक क्षेत्र में प्रविष्ट करती रहती हैं। वास्तव में धर्म के व्यापक स्वरूप को पहचानने के बाद ही समदृष्टि और समविचार प्राप्त हो सकते हैं। और जब तक हम समता को प्राप्त नही कर लेते, तब तक हममें पूर्णता नही आ सकती। बाईजी को हम इसी समता की प्राप्ति के लिए निरन्तर सचेष्ट देखते है। लेकिन समता की प्राप्ति मन, चित्त, बुद्धि और अहकार पर विजय पाने के बाद ही तो हो सकती है! बाईजी को जब हम गौर से देखते है, तो हमें मालूम होता है कि इनका मन निर्मल है, चित्त शुद्ध है, बुद्धि विकसित है और अहकार का लोप होता गया है। ऐसी ही आत्मा महान होती है, और महान आत्मा को ही समता प्राप्त होती है। बाईजी महान आत्मा है, इसीलिए तपस्विनी है।

आज बाईजी की अवस्था ढल चुकी है। सारा जीवन तप से भरा हुआ है। यदि आश्रम की दूसरी बहनें तथा छात्राएँ इनके जीवन को अपना आदर्श बना सकेंगी, तो नि सन्देह उनका वास्तविक कल्याण हो सकेगा।

—बनारसी प्रसाद 'भोजपुरी', साहित्यरत्न

माँश्री के सम्पर्क में पूरा एक युग

दिन आते और जाते है,. पर वे अपनी मधुर स्मृतियाँ मानस-पटल पर सदा के लिए अकित कर जाते है। मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि जो घटना उसके मर्म को छू जाती है, वह सर्वदा के लिए टकोत्कीर्ण हो जाती है। मुझे आज भी वह दिन स्मृत है, जिस दिन मैंने सकुचाते हुए, भय खाते हुए अमल-धवल खद्दर की साडी पहने, दिव्य तेजस्विनी, तपस्विनी, सादगी से ओत-प्रोत, मधुर-भाषिणी माँश्री के दर्शन किये थे। उस समय मैंने श्रद्धा और भक्ति से उन्हें प्रणाम किया तथा जो चर्चा हुई थी, वह आज भी मेरे मन को कुरेदती रहती है। तब से माँश्री के सम्पर्क में पूरा एक युग बीत गया, न मालूम कितनी प्रिय, अप्रिय घटनाएँ गुजरती रही है। इस प्रस्तुत सस्मरण में अपनी स्मृति के आधार पर कतिपय घटनाओ का उल्लेख किया जायगा।

माँश्री का व्यक्तित्व वस्त्र, वपु, वाक्, विद्या और विभूति रूप पच वकार से नही आँका जा सकता है, वल्कि उनके अहर्निश की प्रत्येक कार्यवाही उनके व्यक्तित्व की महत्ता-सूचक है। जीवन के प्रति-पल की प्रत्येक घटना दीपावली की विद्युत्-बल्लरी के समान अपने आलोक की स्निग्धकिरणो को विकीर्ण करती है। यदि चाहे तो सुज्ञ नेत्रयुक्त व्यक्ति उन देदीप्यमान भासुर-रश्मियो से जीवन में स्निग्ध आलोक पा सकता है।

सयोग ! था सन् १९४० का जुलाई मास। मेरी नियुक्ति जैन-बाला-विश्राम में धर्माध्यापक के स्थान पर हो चुकी थी। मैं घर से अपनी पत्नी को लेकर, यदि मेरी स्मृति धोखा नही देती है तो, १०–११ जुलाई को विश्राम के अन्तर्गत अध्यापक के क्वार्टर में आ गया था। अगले दिन से मुझे अध्यापन करना था, कार्यक्रम पहले ही निर्धारित हो चुका था, जिसके अनुसार प्रात दो घण्टे और मध्याह्न में चार घण्टे मुझे अध्यापन करना था। अतएव प्रात काल ६ बजे ही स्नान आदि नित्यक्रियाओ से निश्चिन्त होकर बाहुबली स्वामी के दर्शन कर मैं विद्यालय गया और अपना कार्य आरम्भ किया। ८ बजे कक्षा समाप्त कर आया तो माँश्री ने कहा—"इतनी जल्दी क्या है, आप नाश्ता आदि करके ७ बजे से पढाया करे। हाँ, एक बात का खयाल रखें—दासत्व की शृंखला में जकडी, घूँघट में छुपी, अज्ञान और कुरीतियो से प्रताडित नारी को आत्मबोध कराने की चेष्टा अवश्य करे। इस वर्ष गोम्मटसार जीव-काण्ड तक ही धर्मशास्त्र रखें, पर सप्ताह में एक दिन छात्राओ को उनके अधिकार और कर्त्तव्यो पर अवश्य बतलाया करे। हमारी कामना है कि प्रत्येक छात्रा अग्नि की चिनगारी निकले, जिससे पर्दाप्रथा, अन्धविश्वास और कुरीतियो को भस्म कर सकें। समाज का ढाँचा बदल रहा है, बडी तेजी से परि-

वर्तन हो रहे हैं; अतएव प्राचीन सस्कृति के साथ छात्राएँ अपने दायित्व को समझ सकें, इसकी चेष्टा सदा करे । यहाँ प्रत्येक महीने की प्रतिपदा को बालाहितकारिणी सभा का अधिवेशन होता है, इसमें बडी कक्षा की छात्राएँ भाषण देती हैं, आप इस सभा की उन्नति का भी ध्यान रखें । शास्त्रसभा के लिए आध्यात्मिक और आचारात्मक दो शास्त्र निश्चित कर दें, जिससे छात्राएँ आत्मोन्नति के साथ अपने ज्ञान का भी विकास कर सकें ।"

दो-तीन महीने के पश्चात् एक विचित्र घटना घटी । एक प्रचारक महोदय एक गुरुकुल का चन्दा एकत्रित करते हुए आरा आये । माँश्री उनसे पहले से परिचित थी, काफी बातें हुईं । बातचीत के सिलसिले में वह बोले—'इस नए रगरूट पडित को आपने क्यो रख लिया है, इसे वेतन क्या देती हैं ?' माँश्री मुस्कुराते हुए बोली—'वेतन तो ५०) रुपये मासिक है ।' प्रचारक महोदय को मेरा यह वेतन अपने वेतन से अधिक जँचा और हडबडा कर बोले—'हमारे यहाँ तो इतना वेतन अनुभवी शिक्षको को भी नही दिया जाता है, इन्हें आप आजकल के हिसाब से ज्यादा दे रही हैं । सस्था के रुपये का उचित वितरण होना चाहिये ।'

माँश्री—"पण्डितजी ! कम वेतन देने से अच्छा कार्य नही हो सकता है । गर्जवश कोई कम वेतन स्वीकार भले ही कर ले, पर सच्चाई के साथ काम नही कर सकता है । आदमी नया हो या पुराना उपयुक्त वेतन पाने पर ही लगन के साथ काम कर सकता है । जब हम छ घण्टे काम लेती हैं, तब ५०) रुपये देना अधिक नही है । सस्था का व्यर्थ एक भी पैसा व्यय करना अनुचित है । समाज में आजकल शिक्षको को तो कम से कम दिया जाता है, पर बिल्डिंग तथा अन्य कार्यों में मनमाना खर्च कर देते हैं । जो सस्थाधिकारी बन जाता है, वह अपने को सस्था का सेवक नही समझता, बल्कि मालिक समझता है, यह गलत मार्ग है । अतएव हमारा विचार शिक्षको के वेतन में कमी करने का नही है । कमी करना हो तो और भी अनेक मद हैं, जिनमें कमी की जा सकती है ।"

माँश्री के इस उत्तर ने उन्हें मूक बना दिया और वे निरुत्तर हो वहाँ से चले आये । मुझे इस घटना का पता कुछ दिनो के पश्चात् ही लगा । यद्यपि माँश्री का स्वभाव उदार है, पर स्त्रीसमुचित मित-व्ययिता भी यथोचित मात्रा में विद्यमान है । एक पैसे का भी अनावश्यक व्यय नही करती हैं । सस्था के खर्च में पूरी सतर्कता रखती हैं ।

उनकी अनेक विशेषताओ में सबसे बडी विशेषता छोटी-छोटी बातो को महत्व देने की है । जिन कार्यों और बातो को हमलोग साधारण समझ कर छोड देते हैं, वे उन्ही बातो और कार्यों को बडी सावधानी से करती हैं । प्रमाद का उनके जीवन में प्राय अभाव है । रुग्णावस्था में भी निरन्तर कार्य करती रहती हैं । अपना एक मिनट भी व्यर्थ नही जाने देती । समय का सदुपयोग माँश्री अपने जीवन में जितना अधिक करती हैं, उतना महात्मा गाधी को छोड कर इस युग में शायद ही कोई अन्य व्यक्ति करे । ऐसा एक भी क्षण न होगा, जिसमें वे खाली बैठे या सोती मिलें । उनकी दिन-चर्या इतनी परिमार्जित है, जिससे वे पूजन सामायिक, स्वाध्याय, पत्राचार, प्रबन्ध व्यवस्था आदि के लिए समय

निकाल लेती है और मिलने-जुलने वाले अतिथियो से बात-चीत भी कर लेती है। ६३ वर्ष की अवस्था में भी दिन मे १५–१६ घण्टे काम करना, अपनी भोजन-सामग्री को स्वय शोधना तथा प्रत्येक कार्य को लगन और परिश्रम से करना माँश्री की दिनचर्या के अन्तर्गत हैं। यद्यपि माँश्री की प्रवृत्तियाँ विविधमुखी हैं विश्राम की व्यवस्था, महिला-परिषद् का सचालन, महिलादर्श का सपादन, विभिन्न पत्रो के लिए निबन्ध लिखना, पुस्तके लिखना, समाज की दु खी बहनो को सान्त्वना देना, धर्म-प्रचार, आत्मोत्थान, घरेलू उद्योग-धन्धो का विकास एव प्रचार करना, शिक्षा-प्रचार आदि कार्य माँश्री के जिम्मे हैं, पर सभी कार्यों मे उन्हे सफलता के साथ यश प्राप्त हुआ है। इसका एक कारण यह है कि वे स्वय कार्य तो करती हैं, पर व्यवस्था, शिक्षाप्रचार, शिक्षा-वितरण, धर्म-प्रचार एव महिला-परिषद् के कार्यों में योग्य व्यक्तियो से सहायता भी लेती है। उनकी दृष्टि सूक्ष्म है, उन्हे आदमी की परख है। वे देखते ही पहचान जाती है कि अमुक व्यक्ति कैसा कार्य-कुशल है, उसमें कार्य करने की क्षमता कहाँ तक है। अतएव उनके सम्पर्क में रहनेवाले सहयोगी व्यक्ति प्रामाणिक, परिश्रमी, बुद्धिमान् और लगनशील है। माँश्री निरन्तर कहा करती है कि सहयोगी व्यक्ति चाहे वैतनिक कार्य करते हो अथवा अवैतनिक—तभी ठीक कार्य कर सकते हैं, जब उनके साथ पूर्ण सहानुभूति, सहृदयता रखी जाय। केवल आर्थिक लोभ की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति आत्मीय नही हो सकता है। इसके लिए हृदय की आवश्यकता है, अत आवश्यक सुविधाओ के साथ सुख-दु ख मे यथोचित खबर लेना, उनके साथ सहानुभूति और प्रेम का व्यवहार करना, समय पडने पर उनकी सब प्रकार से सहायता करना, गलती को प्रेमपूर्वक समझा देना, कार्यकर्त्ता को अपना बना लेने के लिए अनिवार्य साधन है। जो व्यक्ति अकेला ही सब कार्यों को कर लेना चाहता है, उसके सभी कार्य बिगड जाते हैं। माँश्री प्राय कहा करती हैं—"कार्यकर्त्ता तैयार करने पडते हैं। आरम्भ में कोई भी आदमी किसी विशेष कार्य का ज्ञाता नही रहता, परिश्रम और लगन से कार्य करते रहने पर वह अवश्य निष्णात बन जाता है।"

कार्यकर्त्ताओ से काम लेने की आप में कितनी बडी शक्ति है, यह निम्न घटना से सिद्ध है। बात सन् १९४० की है। विश्राम की एक शिक्षिका को वर्ष के आरम्भ में ही समस्त रजिस्टर रखने और उनकी यथाविधि खाना पूरी करने का कार्य सौंपा गया था। अध्यापिका की हस्तलिपि बहुत ही सुन्दर और स्पष्ट थी। अक्षर मोती के समान जडे हुए होते थे। ट्रेनिग परीक्षा उत्तीर्ण करने के कारण वह उपस्थिति रजिस्टर, प्रवेश रजिस्टर, विद्यालय परिवर्तन रजिस्टर, परीक्षाफल रजिस्टर तथा अन्य आवश्यक रजिस्टरो को रखने का ढग जानती थी। माँश्री रजिस्टरो की जाँच महीने में एक दिन करती थी। सयोग ऐसा हुआ करता था कि जब-जब रजिस्टर जाँच किये गये, तब-तब उनमे कोई न कोई त्रुटि अवश्य पायी गयी। अतएव बार-बार माँश्री उसे चेतावनी देती गयी। एक बार तो रेखाएँ ठीक नही खीचने के कारण उसे बात सुनने को मिली। अब वह अपना धैर्य खो चुकी थी, अत. उसने इच्छा प्रकट की कि इस कार्य के लिए मुझे कोई पृथक् एलाउन्स नही मिलता है, इसीलिए अगले महीने से मै इसे नही करूँगी। यश के बदले हर माह अपयश ही पल्ले पडता है। माँश्री किसी की प्रशसा करना नही जानती हैं, केवल दोष देखती है। अतएव मै इस कार्य को छोड दूँगी। जब माँश्री को यह बात मालूम हुई तो सभा में सस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध नाटककार भास का उदाहरण देते हुए कहा—

कवि भास प्रति दिन सुन्दर कविता लिखकर अपने पिता को दिखलाता था, परन्तु पिता कभी शैली, कभी भाषा, कभी भाव एवं कभी कल्पना की त्रुटि बतलाकर पुत्र को और उन्नति करने के लिए कहा करता। जब इस प्रकार कविता दिखलाते और पिता द्वारा दोषोद्भावन करते करते बहुत समय बीत गया तो कवि अपना धैर्य खो बैठा। उसने एकान्त मे विचार किया कि मेरे पिता को मेरा यश सहन नही होता है, यही कारण है कि वह मेरी सर्वदा निन्दा करते है। जब तक यह जीवित रहेंगे मेरी प्रशसा न स्वय करेगे और न अन्य लोगो को करने देंगे। अतएव आज रात को इनको मार डालना ही अच्छा है। इस प्रकार निश्चय कर कवि भास रात को तलवार लेकर पिता की हत्या करने की भावना से वहाँ पहुँचा। उसने अपने कानो सुना कि उसकी माता कह रही है कि 'आज शरद-पूर्णिमा का चन्द्रमा कितना रमणीय है।'

पिता—"निश्चय ही इस चन्द्रमा की निर्मल ज्योत्स्ना को देखकर मुझे भास की कविताओ की निर्दोषता प्रतीत हो रही है। भावना की गहराई और कल्पना की उडान मेरे पुत्र की कविता में इतनी अधिक है, जिससे मेरा हृदय कहता है कि भास की कीर्त्ति ससार मे सर्वदा व्याप्त रहेगी।

माँ—"आज आप कैसी बातें कर रहे है! आप तो प्रतिदिन ही भास की कविताओ में दोष निकाला करते हैं। आपके मुख से यह प्रशसा कैसे निकल पडी? आप ही के कारण आजकल भास निरुत्साहित हो रहा है।"

पिता—"तुम ठीक कह रही हो, परन्तु मेरे उद्देश्य से अपरिचित हो। मैं उसकी उन्नति चाहता हूँ, उसे सर्वश्रेष्ठ कलाकार देखना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि उसकी कीर्त्ति-पताका यावच्चन्द्रदिवाकर फहराती रहे।"

माता-पिता के इस वार्तालाप को सुनकर भास रो पडा और उलटे पैर लौट आया। प्रात - काल पिता के पास जाकर अपराध की क्षमा-याचना करायी और अपने हृदय की सारी बातें कह दी। माँश्री पुन बोली—"भास के पिता के समान मेरी आकाक्षा भी आपकी उन्नति की है। मैं आपको सर्व-श्रेष्ठ शिक्षिका और प्रधानाध्यापिका के रूप में देखना चाहती हूँ। यद्यपि आपके कार्य काम चलाने की दृष्टि से बहुत उत्तम हैं, पर कला का चरम विकास नही है। यदि थोडे दिन तक आप और अधिक रुचिपूर्वक कार्य करेगी तो निश्चय ही आप सर्वश्रेष्ठ बन जायँगी।"

माँश्री के इन वचनो से उस अध्यापिका को बड़ी सान्त्वना और शक्ति मिली। वह अपने कार्य में बडी तेजी और सतर्कता से लगी, जिससे इन्स्पेक्ट्रेस् जब निरीक्षण करने आयी तो उसने बहुत ही सुन्दर रिमार्क लिखा और आश्रम की व्यवस्था की भूरि-भूरि प्रशसा की।

X X X

सयम, त्याग, सहायता, सहानुभूति, सौजन्य और सेवापरायणता ही मानवता की कसौटी हैं। त्यागी, सयमी और धर्मात्मा बनकर जो जीवन व्यतीत करता है, वह समाज से पृथक् भी रह सकता है, परन्तु सेवक को समाज के बीच में रहना पडता है, अतएव उसमें मधुरता और स्नेह का रहना

अत्यावश्यक है। बालाविश्राम में जितने आगन्तुक आते है, माँश्री सबका यथोचित अतिथि-सत्कार करती हैं। यह एक ऐसा सेवाव्रत है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने सम्बन्धो को पुष्ट और मधुर बना सकता है। इसी कारण भोजन, जलपान आदि के द्वारा माँश्री सर्वदा अतिथि-सत्कार करती रहती हैं। अपरिचित से अपरिचित व्यक्ति भी भोजन के समय आश्रम में पधारने पर भोजन किये बिना नही रह सकता है। बडे प्रेम और आदर के साथ उसे भोजन कराया जाता है।

यह सत्य है कि किसी व्यक्ति का कोई काम कर देने, उसकी सहायता कर देने या रुपये-पैसे दे देने से जो प्रभाव नही पडता, वह किसी को भोजन करा देने से पडता है। शास्त्रकारो ने इसी कारण अतिथि-सेवा और आहार-दान के महत्त्व बतलाये हैं। यही कारण है कि माँश्री कहा करती हैं कि किसी असहाय, निराधार और सकटग्रस्त व्यक्ति को जिस दिन भोजन कराया जाता है, वह पुण्य-दिवस होता है। खिलाने-पिलाने से कभी भी किसी की सम्पत्ति नही घटती है, किन्तु स्नेह और शक्ति की वृद्धि होने से आत्मबल बढता है।

माँश्री केवल प्रतिष्ठित, सम्मान्य व्यक्तियो के आतिथ्य का ही ध्यान नही रखती, बल्कि छोटे-बडे, धनी-गरीब, विद्वान्-मूर्ख सभी के लिए प्रबन्ध करती हैं। अत अतिथि के भोजन करते समय वह स्वय उपस्थित रहती हैं अथवा अपने अन्य किसी विश्वस्त व्यक्ति को भेज देती हैं। कोई भी अतिथि माँश्री के सम्पर्क से त्याग, चरित्र और नीति की बातो को सीख सकता है। भोजन इतना शुद्ध और सात्त्विक होता है, जिससे भोजन करनेवाले के शरीर, मन और आत्मा पवित्र हो जाते हैं। अतिथि-सेवा के उदाहरण प्रतिदिन के विद्यमान हैं। जब से मैं आपके सम्पर्क मे हूँ, तब से आज तक सहस्रों व्यक्तियो ने बाला-विश्राम में आतिथ्य ग्रहण किया होगा। अत इस सम्बन्धी किसी प्रमुख घटना का उल्लेख करना निरर्थक है।

जीवन-निर्माण और जीवन-विकास के लिए निर्भयता और स्पष्टवादिता बडे महत्त्व के गुण हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक सदाचारी और सरल प्रकृति के होते हैं, वे ही सच्चे वीर कहलाते हैं। जो बात-बात में अधीर, क्रुद्ध और उत्तेजित हो जाते हैं वे वीर नही हो सकते। माँश्री की एक विशेषता यह है कि वह मुलाहिजे और सकोच में आकर स्पष्ट बात कहने में आनाकानी नही करती। घुमा-फिरा कर गोल-मोल बात करना उन्हें नही आता। आत्मविश्वास और आत्म-जागृति इतनी अधिक है कि स्पष्ट बात कहने में तनिक भी हिचकिचाहट नही करती। स्वार्थ, लोभ, मोह, प्रतिष्ठा आदि के कारण ही मनुष्य स्पष्ट बात कहने में सकोच करता है, जिसमें उपर्युक्त दुर्गुण नही रहते, उसे सही और सच्ची बात को छुपाने का कभी भी साहस नही हो सकता। माँश्री की स्पष्टवादिता का परिणाम यह है कि उनके भीतर विरोध और प्रतीकार की भावना बिल्कुल नही है और यही कारण है कि आज समाज में उनके प्रशसक ही हैं, आलोचक नही। घरेलू व्यवहार में भी वह निर्भयता-पूर्वक अनुचित बात का विरोध करती हैं। उनमें किसी भी बात में डटे रहने की क्षमता है, अन्याय और अत्याचार के समक्ष झुकना वह नही जानती।

शासन के क्षेत्र में माँश्री बडी कडी है, विना राग-द्वेष के सबकी समान रूप से निगरानी रखती है। आश्रम की छात्राओ से जितना प्रेम है, उतनी ही सख्त उनकी देख-रेख भी। यही कारण है कि उनके शासन में आज तक किसी भी प्रकार की गडवडी नही हो सकी है। कर्मचारी भी उन्हे सम्मान की दृष्टि से देखते है और छात्राएँ भी। उनका सबके साथ परिवार जैसा व्यवहार है, कोई भी आदेश वह प्रेमपूर्वक देती है, पर उसके पालन करने की पूरी आशा रखती है। एक बार दिये गये आदेश को इधर-उधर करने की क्षमता किसी में नही है और मेरा ऐसा भी ख्याल है कि उस आदेश पर दुबारा विचार करना भी नही जानती है, क्योकि उनका निर्णय वहुत विचार करने के पश्चात् ही होता है। सभी प्रकार की परिस्थिति को अपने अनुकूल वना लेनें की कला में आप अत्यन्त पटु है। पता नही कौन-सा जादू आप जानती है, जिससे सारे कार्य आपकी इच्छा के अनुकूल ही सम्पन्न होते है। न चाहते हुए भी आपका आदेश मान लेने के लिए वाध्य हो जाना पडता है। इसका मूल कारण यह है कि प्रेम-मिश्रित व्यवहार होने पर भी आप निस्वार्थ भाव से किसी भी कार्य का आदेश देती है।

निस्वार्थ सेवा एक ऐसी वस्तु है, जिसके कारण हाड-मास का व्यक्ति बहुत ऊँचा उठ जाता है। परसेवा और परहित मे जीवन का व्यय करनेवाले इस दुनिया में कम आदमी है। माँश्री निरन्तर कहा करती है—

न त्वह कामये राज्य न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दु खतप्ताना प्राणिनामार्त्तिनाशनम्॥

इस प्रकार की सेवा की भावना निरन्तर माँश्री की रहती है। उनकी इस भावना का ही यह परिणाम है कि आज महिला समाज में कितना सुधार, कितनी शिक्षा और कितना वल दिखलायी पडता है। जैन समाज में आज से २५–३० वर्ष पूर्व जहाँ ५% भी शिक्षित नारियाँ नही थी, वहाँ आज ८०% शिक्षित नारियाँ है। आप भारतीय सस्कृति के अनुकूल ही नारियो को शिक्षा देना पसन्द करती है, यह वात निम्न घटना से स्पष्ट है—

सन् १९४१ की वात है। आरा में नया जिलाधीश आया था। वाला-विश्राम आरा-पटना रोड पर स्थित है, अत पटने से आनेवाले प्राय इस सस्था को देखकर प्रभावित होते है। जिलाधीश अग्रेज था, एक दिन उसकी पत्नी इस सस्था को देखने के लिए गयी और यहाँ के कार्यो से प्रभावित होकर लौटी। उसने अपने पति से इस सस्था की प्रशसा की। पति ने कहा—आते समय रास्ते में जो गर्ल्स स्कूल मिला था, उसी के बारे में कह रही हो। सचमुच में वह स्कूल वहुत अच्छा है। कल विहार सरकार का आदेश आया है कि इस नगर में छात्राओ के लिए एक हाई इगलिश गर्ल्स स्कूल खोला जाय। मैं आज उस स्कूल मे जाता हूँ और वहाँ की सचालिका मे अनुरोध करूँगा कि वह अपने स्कूल को हाई स्कूल वना दें। सरकार उसका पूरा खर्च देगी। कलक्टर साहव ने आकर कहा—देवीजी! विहार सरकार की ओर से सूचना आई है कि शाहावाद में एक हाई इगलिश गर्ल्स स्कूल खोला जाय। मेरी इच्छा है कि आपकी सस्था को ही हाई स्कूल वना दिया जाय। सारा खर्च सरकार देगी, आपको कुछ नही करना होगा। आप केवल स्वीकृति दे दें।

माँश्री—महानुभव ! हमारा उद्देश्य अपनी सस्कृति और सभ्यता के अनुसार नारियो को ज्ञानी बनाने का है । यदि वे धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण आदि विषयो को जानेंगी तो अवसर पडने पर अपनी आत्मा का कल्याण भी कर सकेंगी । हाई स्कूल बना देने से हमारी आर्थिक चिन्ताएँ समाप्त हो जायेंगी, विद्यालय में छात्राओ और अध्यापिकाओ की सख्या अधिक हो जायगी, पर इससे हमारी सस्था की वास्तविक उन्नति नही होगी और न हमारे जीवन का स्वप्न पूरा होगा । हम महिला-समाज का कायाकल्प करना चाहती हैं, उसमें सत्य ज्ञान का प्रचार करना चाहती हैं और उसे कर्मठ, त्यागी, सयमी और भारतीय बनाना चाहती हैं । आजकल की स्कूली शिक्षा पुरुषो के लिए भले ही उपयोगी हो, पर नारियो के लिए बिलकुल ही उपयोगी नही है । अतएव हम इस सस्था को हाई स्कूल में परिवर्तित नही करना चाहती हैं ।

जिलाधीश—देवीजी ! आपके विचार का मैं स्वागत करता हूँ, । काश, आपके देश में आप जैसी विचारक अन्य दस-पाँच व्यक्ति होते । कोई भी देश अपनी सस्कृति और साहित्य के जीवित रहने पर ही समृद्धिशाली हो सकता है । आप सचमुच में धन्य हैं, आपके सद्विचारो को सुनकर मुझे बडी शान्ति मिली । यदि अपराध क्षमा करे तो मैं कुछ आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में आपसे जानना चाहता हूँ । न मालूम क्यो मेरा मन आपको सन्त समझ गया है, आपमें देवी का अश अवश्य विद्यमान है ।

माँश्री—प्रत्येक प्राणी की आत्मा स्वतन्त्र है । ससार मे अनन्त आत्माएँ हैं, अनादिकाल से प्राणियो की आत्मा कर्मसयुक्त होने के कारण राग, द्वेष, मोह से आविष्ट है । जब कोई भी प्राणी पुरुषार्थ कर राग-द्वेष को नष्ट कर देता है तो उसकी आत्मा परमात्मा बन जाती है । प्रत्येक जीव-धारी मे परमात्मा बनने की योग्यता विद्यमान है, पुरुषार्थ द्वारा इस योग्यता को व्यक्त करना है । आत्मा अजर, अमर और ज्ञान-दर्शनमय है । विकारो के कारण ही इसे जन्म-मरण करना पडता है । विकार दूर होने पर आत्मा जन्म-मरण के दु ख से छूट जाती है और परमात्मा या भगवान् बन जाती है । आत्मा के सिवा अन्य कोई परमात्मा नही है ।

जिलाधीश—जब आत्मा ही परमात्मा है तो हमें सुख-दु ख कौन देता है ? हमारा बनाने-वाला कौन है ? हम किसकी आज्ञानुसार अपने कार्यों को करते हैं ?

माँश्री—प्रत्येक आत्मा अपने राग-द्वेष-मोह रूप विकारो के कारण शुभ-अशुभ भावो की कर्त्ता है, इन भावो के कारण ही कर्म—एक जड-पदार्थ, जिसमें फल देने की अद्भुतशक्ति है, का सचय करता है । इन सचित कर्मों का उदय होने पर ही सुख-दु ख होता है, अत प्रत्येक आत्मा ही कर्त्ता और और भोक्ता है । हमारा यह शरीर भी नामकर्म—एक कर्म-विशेष के कारण ही बनता है । प्रत्येक व्यक्ति का शरीर भिन्न-भिन्न आकार का होता है, इसका मूल कारण नामकर्म की विशेषता ही है । कर्म करने मे प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, उसे किसी भी ईश्वर की आज्ञा में नही रहना पडता है । हाँ, यह सच है कि हमारे कार्यों का जैसा उदय होता है, वैसा ही इष्टानिष्ट फल भोगना पडता है ।

जिलाधीश—आपकी बातें सुनकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। मैं आरा जब तक रहूँगा, आपके दर्शन महीने में कम से कम एक रविवार को अवश्य कर जाया करूँगा। आपके सात्विक विचारो से प्रभावित होकर मैं महीने में चार दिन मास का त्याग करता हूँ तथा इन दिनो शराब भी नही पीऊँगा।

इतना कहकर वे दोनो अग्रेज दम्पत्ति माँश्री की चरणरज अपने मस्तक पर चढा कर चले गये और वह कलक्टर जब तक आरा रहा, माँश्री के दर्शन कर अपने को पवित्र करता रहा।

X X X

माँश्री युग-सस्थापिका है। आपका हृदय-मुकुर इतना विशाल, स्थिर और निर्मल है कि समाज और व्यक्ति के मानस का सही प्रतिविम्ब पडे विना नहीं रह सकता। आप में माता का स्नेह, वीराङ्गनाओ का गौरव, कुल ललनाओ की सहिष्णुता, आर्यिकाओ का तप-त्याग एव गृह-लक्ष्मी की उदारता वर्तमान है। आप अपने व्रत और नियमो के पालन करने में कितनी सजग और सावधान है, यह निम्न घटना से स्पष्ट है।

८ फरवरी १९४२ को आप अचानक बीमार पड गईं। आपका स्वास्थ्य पाँच-छ दिनो में ही इतना खराब हो गया कि उठने-बैठने की शक्ति भी न रही। इस असमर्थ अवस्था में भी त्रिकाल सामायिक, पूजन, भक्ति आदि दैनिक धार्मिक कृत्यो को आप बराबर करती रही। जब आप बिल्कुल अशक्त हो गईं तो बालाविश्राम-परिवार के साथ अन्य कुटुम्बियो को भी चिन्ता हुई। सभीने आपसे इञ्जेक्शन लेने की प्रार्थना की। धर्माध्यापक होने के नाते मुझ से कहा गया कि आप कहिये कि धर्मशास्त्र की दृष्टि से इञ्जेक्शन लेने में कोई हर्ज नही है—आपका कहना मान्य होगा। माँश्री को आपकी बात का विश्वास है। मैंने हितैषियो की प्रेरणा से सहमते हुए माँश्री से कहा—"आप इञ्जेक्शन ले लीजिये, यह तो खाने की दवा नही है। आजकल कई त्यागी महानुभाव इञ्जेक्शन लेते भी है।" माँश्री ने क्षीण स्वर में कहा—"पण्डितजी! अन्य लोग मोहवश इञ्जेक्शन लेने की बात कहें तो कोई आश्चर्य नही, पर आपके इन शब्दो को सुनकर हमें महान् आश्चर्य हो रहा है। आपसे तो हमें यह आशा है कि समय पडने पर हमारे धार्मिक कृत्यो मे सहायक होगे। इस अनित्य शरीर के साथ इतना मोह क्यो? यह तो अनादिकाल से प्राप्त हो रहा है।" मैं आपकी दृढता और सहनशक्ति को देखकर चकित रह गया। आप लगभग २०–२५ दिन तक अस्वस्थ रही, फिर भी दैनिक कार्यों में शिथिलता नही आने दी यद्यपि आपने १५–२० दिन तक लघन किये थे, फिर भी सामायिकादि क्रियाएँ यथासमय सम्पन्न होती रही।

X X X

सन् १९४२ की क्रान्ति के दिन थे। देश में एक आजादी की लहर आयी हुई थी। नवयुवक, विशेषत. विद्यार्थीवर्ग सलग्न था। गोरी सेना ने सर्वत्र अपना आतक फैला रखा था। जैन-बाला-विश्राम धर्मकुञ्ज से उठकर शहर में 'नाजघर' नामक भवन में चला आया था। छात्रावास और शिक्षण-कार्य उक्त भवन में ही सम्पन्न होने लगा था। उस समय लगभग ७० छात्राएँ छात्रावास में निवास करती थी। कुछ दिनो के उपरान्त लाइन की मरम्मत हो जाने पर जब ट्रेनें चलने लगी तो

माँश्री ने मुझे बुलाकर कहा—"अभी गोरी-सेना का आतक ज्यो का त्यो है। धर्मकुञ्ज में सस्था को ले जाने लायक समय नही है। इतनी छात्राओ को अधिक दिन तक शहर में रखना हमारे लिए कठिन है। अत अब हमारा विचार सभी छात्राओ को सुरक्षित रूप से घर भेजकर कुछ समय के लिए सस्था वन्द कर देने का है।" मैंने कहा—"माँजी ! आप जैसा उचित समझे करे।" आपने कहा—"इस जन-जागृति के युग में सस्थाधिकारियो को सवकी सलाह से ही चलना उचित है। आप लोग सव आश्रम-परिवार के हैं, अत हमारा विचार है कि कल सभी शिक्षक-शिक्षिकाओ को बुलाकर इस विषय पर विचार-विमर्श कर लिया जाय। जो निर्णय हो उसे समस्त आश्रम-परिवार—छात्राओ और शिक्षक-मण्डल के समक्ष पुन विचार के लिए प्रस्तुत किया जाय। इसके पश्चात् ही कोई कदम बढाना उचित होगा। आपको हमने इस विषय में सलाह लेने के लिए बुलाया है।"

मैं विचारने लगा कि माँश्री कितनी दूरदर्शिता से कार्य करती हैं। शिक्षको का इनकी दृष्टि मे कितना ऊँचा स्थान है ? आश्रम-परिवार की प्रधान होकर भी सवकी वातो पर ध्यान देती हैं।

अगले दिन अन्तरग समिति की वैठक की गयी। सभी शिक्षक शिक्षिकाओ ने अपने-अपने विचार पक्ष-विपक्ष में प्रकट किये तथा वहुमत से हुए निर्णय को पुन समस्त आश्रम-परिवार के समक्ष विचार के लिए रखा गया। माँश्री ने देश की परिस्थिति का सुन्दर खाका खीचते हुए सस्था-सचालन की कठिनाइयो पर प्रकाश डाला। सभी ने आपकी दलीलो से प्रभावित होकर कुछ समय के लिए संस्था वन्द कर देने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। अगले दिन छात्राओ को विश्वस्त योग्य व्यक्तियो के साथ भेजना आरम्भ किया। ट्रेन में स्थान न मिलने के कारण आपने आसनसोल और कलकत्ते से स्थान सुरक्षित कराये। उस सकटापन्न स्थिति में छात्राओ को भेजना एक दक्ष व्यक्ति का ही कार्य था। इस समय आपकी प्रवन्ध-पटुता, कर्त्तव्यशीलता और कार्यक्षमता देखने योग्य थी।

X X X

सन् १९४३ में दक्षिण भारत निवासिनी लक्ष्यमती छात्रा बीमार पडी। टाइफाइड ने भयकर रूप धारण कर लिया था। सन्निपात के कारण छात्रा अर्धविक्षिप्त-सी हो रही थी। यो तो बीमारी के आरम्भ से ही माँश्री ने उसकी परिचर्या का प्रवन्ध कर दिया था तथा स्वय भी डाक्टर के साथ दिन मे तीन-चार वार देख जाया करती थी, पर जब उसकी बीमारी अधिक बढ गयी और जीवन खतरे में पड गया, तव तो आपने स्वय खाना-पीना छोडकर परिचर्या करना आरम्भ किया। डाक्टर के परामर्शानुसार वर्फ की थैली सिर पर रखना, सिर में तैल की मालिश करना, हाथ-पैर दबाना आदि कार्यो को स्वय करती थी। यद्यपि अन्य लोग आपको ऐसा करने देना नही चाहते थे, पर आपने स्वय परिचर्या करना नही छोडा। आपने तेजस्वी वाणी में कहा—"मुझे विश्वास है कि मै अपनी सेवा द्वारा इसे बचा लूँगी।"

तीन दिनो तक लगातार आप सब कुछ छोडकर दिन-रात उस रोगिणी की सेवा में सलग्न रही। रात को न सोने के कारण आपका स्वास्थ्य भी खराव होने लगा, आँखें सूज गयी थी, फिर

भी आपने सेवा करना नही छोडा । आपकी लगभग एक सप्ताह की कठोर साधना ने उस लडकी के प्राण बचा लिये और वह न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण कर अपने देश गयी । इस प्रकार आप आश्रम-वासिनी छात्राओ की सेवा उनकी माँ से भी वढकर करती हैं । आश्रम-परिवार के किसी भी व्यक्ति का कष्ट आपकी चिन्ता का विषय वन जाता है और उसके कष्ट को दूर किये विना आपको शान्ति नही मिलती ।

X X X

बालाविश्रामान्तर्गत वालाहितकारिणी सभा के अधिवेशनो में मुझे आपके भाषण सुनने का अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है । मुझे जहाँ तक स्मरण है कि सन् १९४३ की २२ जनवरी को आपने भाषण में कहा कि—"भगवान् महावीर ने नारी-जाति के उद्धार का भार पुरुषो पर ही नही छोडा है, किन्तु गृहस्थ तथा त्यागी स्त्री समाज के लिए श्राविका तथा आर्यिका ऐसे दो सघ स्थापित किये हैं । स्त्रियाँ जब तक अपने पैरो पर खडी न होगी, उनका उद्धार होना कठिन ही नही, असभव है । आज के नारी-वर्ग ने अपनी सारी समस्याएँ पुरुषो पर छोड दी है, इसी कारण नारी-समाज का अध पतन होता जा रहा है । नारियाँ आज स्वय ही पुरुषो की दासी और भोगलिप्सा पूर्त्ति का साधन बन गयी हैं । पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से कुछ नारियाँ स्वतन्त्र होने का दावा करने लगी है, पर उनका यह दावा विलकुल झूठा है । जब नारी पुरुष की अर्धाङ्गिनी है, तब वह पुरुष के समान अपने अधिकारो की स्वय भोक्ता है । क्या अधिकार कभी किसीको माँगने पर मिला है ।

भारतीय नारी को वीरता और त्याग फिर से अपनाना होगा । किसीके अत्याचारो को सहना भी उतना ही गुनाह है, जितना अत्याचार करना । अहिंसा बहुत वडा अस्त्र है, पर इसका उपयोग समझ-बूझकर करना होगा । जो नारियाँ बिना किसी प्रकार की चूँ-चपड किये किसी आततायी को आत्म-समर्पण कर देती है, वे वस्तुत कायर हैं । जब तक शरीर में प्राण हैं, विरोधी का मुकाबला डटकर करना चाहिए । यदि आत्मिक शक्ति का पर्याप्त विकास हो जाय, जीवन में अहिंसा उतर जाय, तो हमारा विश्वास है कि कोई भी आततायी कुदृष्टि डाल ही नही सकता है । अतएव प्रत्येक बहन को वीर वनना चाहिए । विपत्ति के आने पर कभी भी धैर्य का त्याग नही करना और प्रबल शक्ति के साथ सकट का सामना करना जीवन विकास के लिए आवश्यक है । सच बात यह है कि मैं नारियो में वीरता की उपासक हूँ, जिसको अपनाकर वे किसी भी प्रकार स्वय ही आततायी को दण्ड दे सकती हैं । अथवा अपने आत्मबल द्वारा उसकी कलुषित भावनाओ को वदल सकती हैं । प्रलोभन और स्वार्थो को पराजित कर त्याग, तपश्चर्या, बलिदान और सयम को अपनाये बिना नारी का उद्धार होने का नही है । अपने अधिकार और परिवार द्वारा हडपी हुई सम्पत्ति को भी नारी वीर बनकर ही पा सकती है । जब तक हम नारियाँ दूसरे से अपने अधिकारो की रक्षा चाहती रहेंगी, तब तक हमारा विकास सभव नही है ।"

आप सदा कहा करती हैं कि लक्ष्य सुखकर ही नही, श्रेयस्कर भी है । वह सुख की ओर ही नही जाता, कल्याण की ओर भी जाता है । वह कल्याण किसी एक व्यक्ति या वर्ग का नही, समस्त मानव-समाज का है ।

माँश्री की सात्त्विकता को भोलेपने का एक संस्करण मानना, तो बडी भूल होगी । उनकी वुद्धि वडी ही तेज है, उनकी तेजस्विता को देखकर वड़े-वड़े वाक्चतुरो का भी गर्वज्वर उतर जाता है । अपने वुद्धिप्रभाव को चारित्र्यप्रभाव से ढक देने की शक्ति में शायद आप आर्यिका अनन्तमती की अनुयायिनी है । जितनी कठिन परिस्थिति हो, उतना ही ऊँचा उठने की शक्ति आप में हैं । आप प्रत्युत्पन्न मति कितनी है, यह निम्न घटना से सिद्ध है ।

सन् १९४४ की वात है । आरा नगर के आर्य-समाज का वार्षिकोत्सव था, आर्य-जगत् के अनेक धुरन्धर विद्वान् आये हुए थे । आर्यसमाज के प्रसिद्ध उपदेशक प० अयोध्या प्रसाद भी कलकत्ते से इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए आये हुए थे । उत्सव समाप्त होने के अनन्तर मै उन्हें जैन-वालाविश्राम दिखलाने के लिए ले गया । सस्था को देखकर वे वहुत प्रसन्न हुए और माँश्री के दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की । जैसे ही हमलोग कार्यालय में पहुँचे, माँश्री के दर्शन हुए । पडितजी ने अनेक प्रकार की चर्चाओ के पश्चात् माँश्री से पूछा कि जैनधर्म में स्त्री को निर्वाण क्यो नही माना ? जव स्त्री-पुरुष में समान शक्ति है, तव पुरुष को ही निर्वाण क्यो होता है, स्त्री को क्यो नही ? माँश्री ने चट उत्तर दिया कि क्षमा करिये, आपके इस प्रश्न के उत्तर के पहले मै आपसे पूछती हूँ कि वेद पढने का आपके यहाँ स्त्रियो को क्यो अधिकार नही है ? जैसे पुरुष को वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त है, वैसे स्त्री को क्यो नही ? माँश्री के इस प्रश्न को सुनकर पडितजी वोले—"आपने तो मेरे प्रश्न को मेरे ही ऊपर लाद दिया । यह आर्य-समाज का ढग आपने कहाँ से सीख लिया है । जैनियो में तो शास्त्रार्थ करनेवाले कम ही लोग हैं, क्या आप भी शास्त्रार्थ करती है ! आपकी तर्कणा, पाण्डित्य और विचारशक्ति ही शास्त्रार्थ की क्षमता सूचक है !"

मुस्कुराते हुए माँश्री ने कहा—"आपको वुरा लग गया । असल वात यह है कि जैन आगम मे मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ को प्रधानता दी है । स्त्री पुरुषार्थ की चरम सीमा पर नही पहुँच सकती । उत्तम सहनन स्त्री को प्राप्त नहीं होता है, अतएव पूर्ण सयमी नही वन पाती है और यही कारण है कि सयम के अभाव में वह निर्वाण भी नही पा सकती ।"

इसके पश्चात् जैन-गणित पर अनेक चर्चाएँ हुईं । त्रिलोकसार की १४ धाराओ पर लगभग आध घटे तक चर्चा होती रही । यह चर्चा इतनी आनन्दवर्धक थी, जिससे सर्वसाधारण भी सुनने में रस ले रहे थे । जव पडितजी आश्रम से वाहर हुए तव कहने लगे कि जैन-समाज वडा ही सौभाग्य-शाली है, जिसमें इस प्रकार की देवियाँ विद्यमान हैं । इस तपस्विनी माँ को देखकर मुझे मैत्रेयी, गार्गी और माण्डवी की कीर्त्ति-गाथाओ पर विश्वास कर लेना पडता है । इनका हृदय तो वडा मधुर है, इतना मधुर कि उसके सामने पीयूष भी नगण्य है । इस देवी के दिव्य तेज को देखकर मै इतना अधिक प्रभावित हूँ कि अपने मन की वास्तविक स्थिति को नही कह सकता ।

X X X

सन् १९४७ की १८ जून को मै श्री वावू निर्मलकुमार जी द्वारा निर्मित उनके चन्द्रलोक-भवन, कालिम्पोग में गृह-चैत्यालय की शुद्धि और वेदी-प्रतिष्ठा के लिए गया । माँश्री भी वहाँ पहले से ही पहुँची

हुई थी । प्रतिष्ठा-कार्य ६–७ दिनो में विधिवत् सम्पन्न हुआ । इस अवसर पर मुझे माँश्री के अति निकट सम्पर्क में रहने का अवसर मिला । यागमण्डल-विधान में माँश्री साथ में अत्यन्त मधुर ध्वनि से श्लोक पढती थी एव उपस्थित व्यक्तियो को उनका अर्थ तथा विधान के रहस्य को भी समझाती जाती थी । पहाड का पानी मेरी प्रकृति के प्रतिकूल पडने के कारण वहाँ मेरा स्वास्थ्य कुछ बिगड गया । इस अवसर पर माँश्री के स्नेह का साक्षात्कार हुआ । आप मेरी उतनी ही चिन्ता रखती थी, जितनी एक परिवार के व्यक्ति की । साधारण व्यक्तियो की चिन्ता और पीडा को भी अपनी चिन्ता और पीडा बना लेना और उनके लिए परेशानी उठाना माँश्री की नैसर्गिक विशेषता है । मैंने देखा कि आप अकेली ही दस आदमियो का काम कर लेती है । दिन में सोनेवालो और फालतू गप्प हाँकनेवालो से आपको चिढ है । कर्त्तव्य-पालन करने की दृढता और अथक परिश्रम आपके जीवन के प्रधान गुण है । बुद्धि की प्रखरता निकट सम्बन्धवालो को चकित ही नही करती, किन्तु श्रद्धा उत्पन्न कर देती है । आपके व्यवहार से लोग मुग्ध हो जाते है ।

२८ या २६ जून को हमलोग—मैं, माँश्री चन्दाबाईजी, मातेश्वरी बा० निर्मलकुमारजी और कई एक नौकर-चाकरो के साथ कालिम्पोग से आरा को रवाना हुए । यदि कोई व्यक्ति चाहे तो घर में अपने व्यक्तित्व को छुपा सकता है, पर बाहर यात्रा मे किसीका व्यक्तित्व छिप नही सकता । कुलियो को पैसे देना, भिखारियो को दान देना तथा अपने परिचारको के साथ व्यवहार आदि से उसका यथार्थ व्यक्तित्व पकडा जा सकता है । मोटर द्वारा जब हम सिलीगुडी पहुँचे उस समय लगभग सन्ध्या के ५ बजे थे । धीमी-धीमी वर्षा हो रही थी, यद्यपि भोजन कलिम्पोग से करके चले थे, पर यहाँ आते ही भूख बडे जोर से लगी । सभ्यता के आवरण के कारण मै तो कुछ कह नही सकता था । साथ के व्यक्तियो में भी एक-दो जैन थे पर वे भी मौन । गाडी छूटने में अभी दो घटे की देरी थी । माँश्री को मैंने चार टिकट सेकिण्ड क्लास के और शेष व्यक्तियो के लिए सरवेण्ट टिकट लाकर दिये । माँश्री ने टिकट लेकर कहा—"आप तो दो बार भोजन करते है, ब्यालू कर लीजिए ।" इतना कहकर भजनलाल रसोइये से कहा—"स्टेशन के उस पार से जाकर दो रुपये के आम ले आओ । अन्य अच्छे फल मिलें तो और भी खरीद लाना ।" साथ में नाश्ते का कुछ सामान भी था । आपने आम स्वय बनाये और हमलोगो को खिलाये तथा अपने हाथ से भोजन कराया । जितने भी नौकर साथ में थे, सबको एक-एक रुपया भोजन के लिए दे दिया गया । हमलोग अगले दिन ८ बजे पारवतीपुर आये । यहाँ से गाडी ११ बजे मिलती थी, अत माँश्री स्टेशन पर ही जल्दी-जल्दी स्नान कर वहाँ के किसी सेठ के चैत्यालय में दर्शन-पूजन करने चली गई । हमलोग स्नानादि से निवृत्त होकर गाडी की प्रतीक्षा करने लगे । ठीक १०॥ बजे आप लौटी, गाडी भी ठीक समय पर आई और सारा सामान गाडी में लादा जाने लगा । इस समय मैंने एक अजीब दृश्य देखा, चैत्यालय के स्वामी—सेठजी ने अपनी मोटर स्टेशन तक भेज दी थी । जब ड्राइवर जाने लगा, माँश्री उसको ५) रुपये इनाम देने लगी । सेठजी ने उसे इनाम लेने के लिए मना कर दिया था, अत वह रुपये लेने से इन्कार करता था और माँश्री जबरदस्ती देना चाहती थी । लगभग १० मिनट तक वह मना करता रहा, पर अन्त में माँश्री ने समझा-बुझाकर उसे रुपये दे ही दिये । कुलियो को पैसे देने के लिए भजनलाल झिक-झिक कर रहा

था, तो आपने कहा—"अरे इतना अधिक सामान है, इन लोगो को दो-दो, चार-चार आने और ज्यादा दे दो।" इसी प्रकार जितने भी भिखमगे आये, सब एक शब्द सुने बिना चार-आठ आना पाते ही गये।

X X X

जैनधर्म के उज्वल प्रकाश को निखिल विश्व में फैलाने के लिए आप सदा आतुर है। सन् १९४८ में 'सर्चलाइट' में एक समाचार छपा था कि जार्ज बनार्ड शा 'जैन-मत का उत्थान' नामक पुस्तक लिख रहे हैं। इसमें जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का, महात्मा गाधी की अहिंसा के साथ तुलनात्मक विवेचन करेगे। इस कार्य के लिए डाक्टर शा ने महात्मा गाँधी के पुत्र देवदास गान्धी को बुलाया है। इस समाचार ने आपके हृदय में अपूर्व उत्साह उत्पन्न कर दिया। उसी दिन आपने जैन समाज के प्रमुख धार्मिक और सरस्वती-पुत्र सर सेठ हुकुमचन्दजी, साहू शान्तिप्रसादजी, सेठ भागचन्दजी, वावू छोटेलालजी, प्रो० गो० खुशालजी जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० हीरालालजी आदि के पास पत्र लिखे। आपने मुझ से कहा—"यदि यह समाचार सत्य है तो जैन-समाज से आर्थिक सहायता न मिलने पर भी हम अपनी ओर से किसी उद्भट धर्मशास्त्रज्ञ अग्रेजी भाषा के ज्ञाता जैन-विद्वान् को डा० शा के पास भेजेंगी। डा० शा की ख्याति साहित्यिक जगत् में अद्वितीय है। उनकी लेखनी का सम्मान विश्व के कोने-कोने में है। जैनधर्म के सम्बन्ध में उनकी लेखनी से प्रसूत रचना अमर होगी, विश्व में वह आदर और सम्मान की दृष्टि से देखी जायगी। बडे-बडे अन्वेषक विद्वान् उसे प्रामाणिक समझेंगे। अत जैन-विद्वान् के साथ उनका सम्पर्क रहना अत्यावश्यक है। इस विद्वान् के सहवास से जैन अहिंसा और जैनदर्शन के तत्त्वो के सम्बन्ध में उन्हें जानकारी हो जायगी, इससे वह जैनधर्म के सम्बन्ध में यथार्थ लिख सकेंगे।"

X X X

माँश्री दयालु इतनी अधिक है कि मनुष्यो की बात ही क्या, पशु-पक्षियो पर भी दया का वर्ताव करती हैं। १–२ जून १९५२ को जब आप लखनऊ से आरा आ रही थी, तो मार्ग में एक स्टेशन पर सैकडो बन्दरो को कटघरो में बन्द देखा। बन्दर कई दिनो के भूखे थे, अत वे करुण-क्रन्दन कर रहे थे। दयालु माँ का हृदय पिघल गया और साथ के व्यक्ति को आदेश दिया कि इन बन्दरो को २०–२५) रुपये की पूडियाँ लेकर खिला दी जायँ। आपके आदेशानुसार चने और पूडियाँ सभी बन्दरो को खिलाई गयी। पूडियाँ खाते ही बन्दरो का क्रन्दन बन्द हो गया, वे शान्त होकर अपने स्थान पर स्थित हो गये। प्लैटफार्म पर इस दृश्य के देखनेवालो की खासी भीड़ थी, गाडी को भी आध घण्टे रुक जाना पडा।

इसी प्रकार आप अपने कुटुम्बियों की भी निरन्तर सेवा करती रहती हैं। आपकी इस सेवा वृत्ति को देखकर अनजान व्यक्ति यही समझेगा कि माँश्री को गृहस्थी का मोह अधिक है। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति की खोज-खबर करना आपका स्वभाव है। परन्तु सत्य यह है कि आप 'जल से भिन्न कमल है', के समान ससार से अलिप्त हैं। अनासक्त कर्मयोगी की तरह सेवा-शुश्रूषा में रत रहने पर भी आप सदा प्रतिबुद्ध हैं।

माँश्री आत्मशोधक है, यही कारण है कि आपमें यत्किञ्चित् रूक्षता भी है। दूसरो से अधिक मिलना-जुलना और अनावश्यक बातें करना आपको पसन्द नही। अखण्ड आत्मविश्वास होने के कारण अपने सत्यपक्ष की पुष्टि के लिए डट जाना, जिसे दूसरे लोग भले ही हठ कहें, आपका एक विशेष गुण है। आत्मविज्ञापन से दूर रहकर कर्त्तव्य करना, निन्दास्तुति का ख्याल न करना, सेवा और परोपकार में निरन्तर रत रहना, सहानुभूति और सहृदयता के साथ किसी भी बात का विचार करना आपके गुण हैं। ब्रह्मचर्य के अलौकिक तेज से आपका मुख-मण्डल सर्वदा देदीप्यमान रहता है, जो एक बार आपका दर्शन कर लेता है, वह जीवनभर आपको स्मरण रखता है।

—नेमिचन्द्र शास्त्री
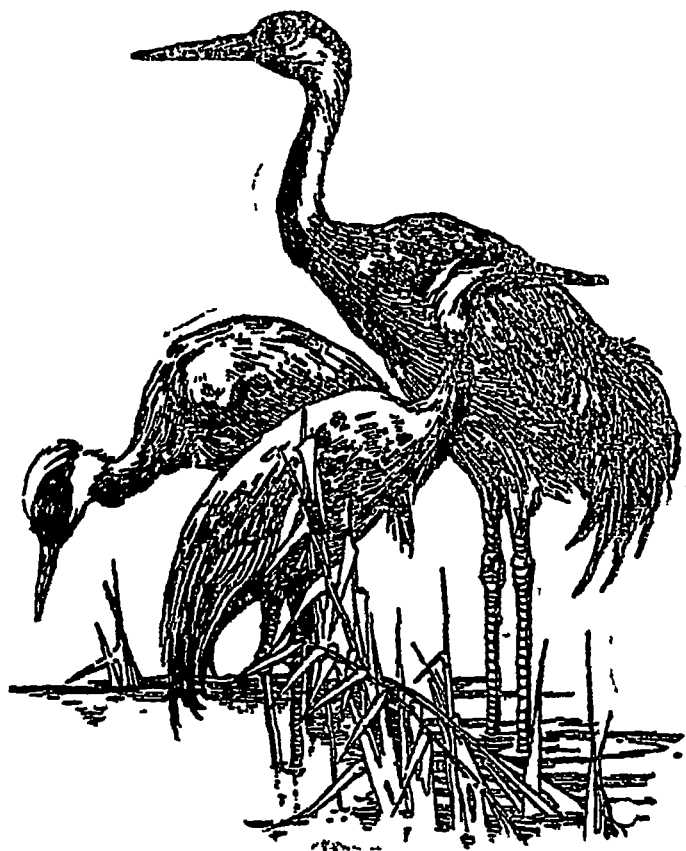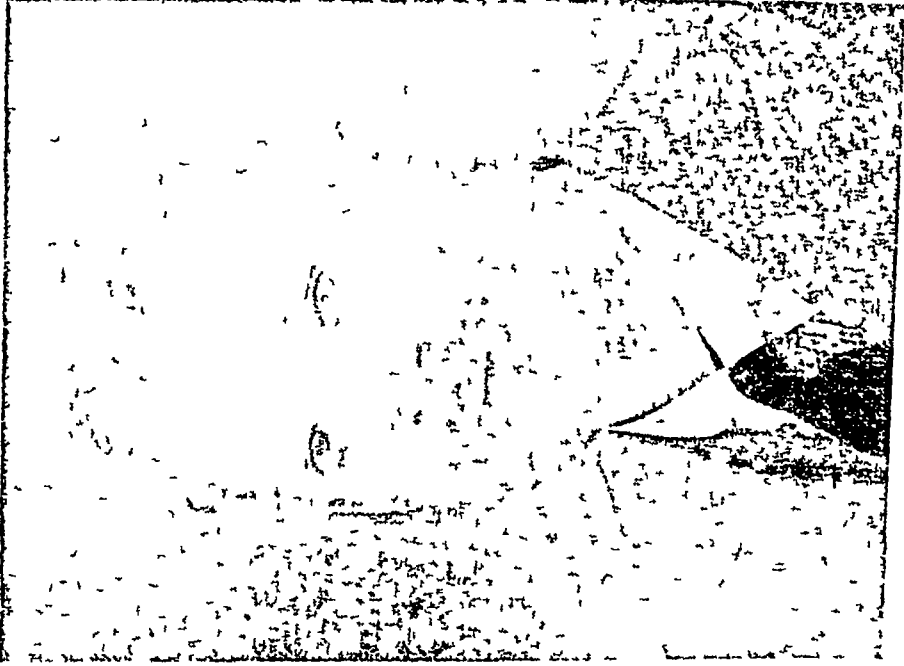
रायबहादुर श्री बा० जमुनाप्रसादजी एडवोकेट, मथुरा
(भाई श्री ब्र० प० चन्दाबाई)

श्री प० व्रजबाला देवीजी, लघु भगिनी
(श्री ब्र० प० चन्दाबाई)

श्री स्व० बा० देवकुमारजी, आरा
(पिता तुल्य ज्येष्ठ ब्र० पं० चन्दाबाईजी)

मांश्री ब्र० प० चन्दाबाईजी के पितृ-परिवार का ग्रुप-चित्र

श्री पण्डिताजी

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन (The Central Jain Oriental Library) के पुस्तकालयाध्यक्ष एव भवन से निकलनेवाले "जैन-सिद्धान्त-भास्कर" (The Jain Antiquary) के अन्यतम सम्पादक, साहित्यरत्न, ज्योतिषाचार्य, न्यायतीर्थ सुहृद्वर प० नेमिचन्दजी जैन से मुझे ज्ञात हुआ कि इस वर्ष जैन-समाज श्रीमती ब्रह्मचारिणी 'साहित्य-सूरि' पण्डिता श्री चन्दाबाईजी को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करनेवाला है। बल्कि ज्योतिषी जी ने मुझे कुछ सकेत भी किया कि आप भी कोई लेख अथवा कुछ सस्मरण ही लिख कर दें। किन्तु इसे मैंने असाध्य-सा समझा। क्योकि यू० पी० के एक नीरस एव असाहित्यिक ग्राम मे वर्षों से अपना वार्धक्य-जीवन बिता रहा हूँ, अत साहस करने पर भी अपने को असमर्थ-सा पाया। किन्तु वर्षों "जैन-बाला-विश्राम", बा० निर्मलकुमार जी की कोठी (देवाश्रम) एव "जैनसिद्धान्त-भवन" मे सस्कृताध्यापक तथा पुस्तकालयाध्यक्ष रहने के कारण पण्डिताजी की सेवा में लघुकाय 'सस्मरण' समर्पित करना समुचित समझा।

आपके सस्मरण लिखते समय देव-प्रतिम स्वर्गीय बा० देवकुमार जी का स्मरण एव उनकी असामयिक मृत्युजन्य प्रशमित शोक एक बार प्रदीप्त हो उठता है, अत उनकी भी चर्चा कर देना मैं अप्रासगिक नही समझता। अपने छोटे भाई बाबू धर्मकुमारजी की—जो सत्रह वर्ष की अवस्था में अकाल-काल-कवलित हो गये थे, और जो बी० ए० की अन्तिम कक्षा के प्रखर प्रतिभाशाली छात्र थे, मृत्यु से युवावस्था में ही जर्जर एव श्वास-कास की व्याधि से पराभूत हो सन्यासमय जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन दिनो बा० निर्मलकुमार जी की उम्र आठ वर्ष की थी। आपने इन्हे हिन्दी और सस्कृत पढाने को मुझे शिक्षक नियुक्त किया। तभी से तीस वर्षों तक देवाश्रम से अविच्छिन्न रूप से मेरा सम्बन्ध रहा है, अत. मुझे पण्डिताजी का शिक्षण, साहित्यिक-सृजन, सस्था-व्यवस्थापन, अध्यापन एव व्यापक प्रख्यापन बहुत निकट से देखने का अवसर मिला है।

अस्तु, दैववशात् पण्डिताजी की बाल्यावस्था से ही वैधव्य की वैधवी कला एकान्त चिरसगिनी हो गई। ऐसी अवस्था में मैं आपका परम सौभाग्य समझता हूँ कि आपको स्वर्गीय बाबू नारायण दास जी बी० ए० जैसे परमोदार पिता एव स्व० बाबू देवकुमारजी जैसे देवस्वरूप जेठ मिल गये थे। मथुरा-निवासी अग्रवाला वशावतस बा० नारायण दासजी लेजिस्लेटिव कौंसिल के मनोनीत सदस्य एव वर्तमान चिर-प्रवास-प्रत्यागत राजा महेन्द्र प्रताप सिहजी के अभिन्न हृदय मित्र थे। जिन दिनो साम्यवाद का नाम तक कोई भारत में नही जानता था, उन दिनो बा० नारायण दासजी ने अपने घर में

ही साम्यवाद का विशुद्ध एवं ज्वलंत निदर्शन उपस्थित कर दिया था । पण्डिताजी की छोटी बहन श्रीमती व्रजबाला देवीजी को मैं देवाश्रम में सस्कृत पढाया करता था । आपके मायके मथुरा से गोविन्द और राखाल नामके दो लड़के जब-तब आरा आया करते थे । रूप-रग, चाल-ढाल, बोल-चाल एव वेश-भूषा से वे आप ही के परिवार के व्यक्ति से जान पड़ते थे । एक दिन देवीजी से मैं पूछ बैठा कि ये दोनो आपके भाई हैं । इन्होंने हँसकर कहा कि नही पण्डितजी,गोविन्द मेरी कोठी के कायस्थ मुशी का लडका है और राखाल बगालिन सेविका का । मेरे पूज्य पिताजी का यह सिद्धान्त है कि मेरे आश्रय में रहनेवाला कोई बालक धनाभाव के कारण अशिक्षित न रहे । पिताजी अपने बच्चो की-सी सभी बातो की सुविधा देकर इन्हें पढा रहे है । हालाँकि ये परीक्षा में जब-तब अनुत्तीर्ण होकर पढने से भाग खड़े होते हैं, पर पिताजी इनकी एक भी नही सुनते और कह दिया है कि ग्रैजुएट होना ही पडेगा । मैं यह सुनकर साश्चर्य और अवाक् हो गया । प्रत्युत मुझे वह घटना याद आ गयी; जब श्री शकराचार्य जी ने शास्त्रार्थ करने के लिए कुएँ पर पानी भरती हुई एक दासी से पूछा कि मण्डन मिश्र का घर कौन है और उसने सस्कृत पद्य में उत्तर दिया,—"स्वत प्रमाण परत. प्रमाण शुकाङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति । द्वारस्थ नीडान्तरसन्नि-बद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम ।।" इसी प्रकार मथुरा में बा० नारायणदासजी के घर का पता पूछने पर यही उत्तर समुचित होता—"उदात्तचारित्र्य-विभूति-भव्य निदर्शन भारतभूमि-भक्ते. । दासाश्च स्यु-र्यत्र कलाकुमारा (B. A) जानीहि नारायणधाम सौम्यम् ।।"

अत ऐसी दशा में आप अपनी विधवा बालिका को विना पढाये कैसे रह जाते । पण्डिता जी मथुरा में ही क्वीस कालिज काशी की व्याकरण प्रथमा परीक्षा की सभी पाठ्य-पुस्तकें एक अनुभवी सुयोग्य विद्वान् से व्युत्पत्ति-पूर्वक पढ तथा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर आरा में स्थायी रूप से रहने लगी ।

अपने प्राणोपम अनुज विद्वान् बा० धर्मकुमार जी की असामयिक मृत्यु से बा० देवकुमार जी को असह्य शोकजन्य असाध्य व्याधि ने अन्ततोगत्वा अपना अन्तिम लक्ष्य बना ही कर छोडा । किन्तु यह अपनी मृत्यु के पहले पुत्रीरूपा अनुज-वधू पण्डिताजी को लिये सपरिवार समस्त दक्षिण जैनतीर्थ और जैन-शास्त्र-भाण्डारो का दर्शन कर आये । बल्कि उसी यात्रा में तप पूत श्री स्वामी नेमिसागर वर्णीजी के आपको दर्शन हुए । वर्णीजी के सहयोग से पण्डिताजी को जैनधर्मदीक्षा एव प्रारभिक धर्म-शिक्षा का माणिकाञ्चन-सयोग उपलब्ध हुआ । अत देव-गुरु-शास्त्र इन तीनो की त्रिभगी-त्रिपथगा की परमपुनीत पीयूष-धारा से आपका अन्तस्तमप्रदेश परिप्लावित हो गया ।

विधवा को किस सम्मान के साथ रखकर उसका धर्ममय, औदार्यमय, शिक्षामय तथा सुखमय जीवन बनाया जाता है,—इसकी सुशिक्षा 'देवाश्रम' परिवार से ही मिल सकती है । छोटे से लेकर बड़े तक पण्डिताजी के संकेत की उपेक्षा का दु साहस नही कर प्रत्युत उसकी अधिकाधिक पूर्ति के लिए सदा सहर्ष सन्नद्ध रहते हैं ।

अब पण्डिताजी को अपनी परिमित शिक्षा की सीमा में सीमित रहना असह्य हो उठा । बा० देवकुमार जी के चारित्रिक प्रोज्ज्वल प्रताप, अनुपम औदार्य और दूरदर्शिता के प्रभाव से प्रभावित

केवल अपना समाज' ही नही था, प्रत्युत आरा के सर्वसाधारण धनी-मानी रईस आपके प्रस्ताव और मन्तव्य के प्रतिकूल चूँ तक करने का साहस नही कर सकते थे, अत आपकी मृत्यु से पण्डिताजी को उच्चशिक्षा प्राप्त करने में पद-पर प्रतिकूल वातावरण का सामना करना पडा। उन दिनो स्त्री-शिक्षा के नाम से नाक-भौं सिकोडने वाले बिहार जैसा प्रान्त में सामाजिक दूषित मनोवृत्ति एव अवरोध-प्रथा के सबल समर्थक दुर्दान्त, दुरुह तथा दुर्गम-दुर्ग के रहते हुए स्त्री-जाति को उच्चशिक्षा प्राप्त करना बडा ही विकट काम था। किन्तु आपने अपने अमोघ तथा प्रखर ब्रह्मचर्य बल से विषाक्त वायुमण्डल को ध्वस्त विध्वस्त कर अनुभवी और प्रगाढ वृद्ध विद्वान् से व्याकरण तथा न्याय का गभीर और परिपुष्ट अध्ययन करके ही साँस ली। हाँ, —यदि आपका अध्ययन-क्षेत्र मथुरा होता तो बहुत कम समय में अपना अभीष्ट अध्ययन बडी सुगमता से कर लेती, किन्तु बा० निर्मलकुमारजी और चि० चक्रेश्वर निरे अबोध बच्चे थे। स्टेट के व्यवस्थापको पर इनकी प्रारभिक शिक्षा के लिये निर्भर नही रहकर अपनी देख-रेख में ही इन्हें रखना आपने उचित समझा।

व्याकरण और न्याय के पर्याप्त अन्त पात होने तथा निज के अविरत अध्ययन-बल से अन्यान्य विषय भी आपने देख डाले और उनके रहस्य जानने में आपको किञ्चिन्मात्र भी काठिन्य का अनुभव नही हुआ।

शिक्षा-साधन-सम्पन्न होकर आपका निष्क्रिय बैठना असम्भव-सा था। अत दो-तीन वर्षों में अविश्रान्त परिश्रम और अध्ययन करके सामाजिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक विषयो से ओत-प्रोत अनेको स्त्री-शिक्षा-विषयक पुस्तकें लिखकर आपने प्रकाशित कर दी, जिन्हें पढकर स्त्रियो को शिक्षा प्राप्त करने की अन्त स्थल में उत्कट उत्कण्ठा उदित हुई। यो तो जैन-समाज अल्पसख्य होते हुए भी परिष्कृत समाज है। कई जगह श्राविकाश्रम एस विधवाश्रम खुले हुए हैं। किन्तु इनमें उच्च तथा सर्वाङ्गीण शिक्षण का सौलभ्य नही होने के कारण पण्डिताजी के मन में यह बात बहुधा खटका करती थी। अत बा० निर्मलकुमारजी की सत्प्रेरणा तथा जैनधर्म के अग्रदूत वर्णी जी के पुनीत परामर्श से आरा नगर से दो माइल दूर स्व० बा० धर्मकुमारजी के स्मृति-स्वरूप 'धर्मकुज' के भव्य भवन में शुभ-मुहूर्त्त में श्रीमती पण्डिताजी के परम पवित्र पाणिपल्लव से "जैनबाला-विश्राम" की स्थापना हो गयी। भारतीय सस्कृति-सबद्ध शिक्षाभिलाषिणी महिलाओ को अब अपनी ज्ञानपिपासा परितृप्त करने का सुवर्णावसर प्राप्त हुआ। उन दिनो पुरुष जाति के प्रमाद, अनेकता, अनुत्तरदायित्व तथा अदूरदर्शिता से मातृजाति दयनीयता के दल-दल में दुर्दलित हो रही थी।

यो तो अब बिहार सरकार की भी स्वराज्य-सुख-सुधा-सरिता में मग्नोन्मग्न होने से स्त्री-शिक्षा के लिये आँखें खुल रही है। जहाँ तहाँ नगरो में गर्ल्स हाई स्कूल खुल रहे है। किन्तु इन सरकारी स्त्री-शिक्षा सस्थाओ मे भारतीय सस्कृति के विलीनीकरण के लिये पाश्चात्य सस्कृति का ऐसा भीषण आक्रमण हो रहा है कि जिसका भावी फल बडा ही कटु और विपाक्त प्रतीत हो रहा है। इसकी रोक-थाम की परमावश्यकता है। मै इस घटना का प्रत्यक्ष-दर्शी हूँ। क्योकि एक हाई स्कूल से

अवसर प्राप्त कर गर्ल्स हाई स्कूल में दो-तीन वर्षों तक अध्यापन का कार्य कर चुका हूँ। क्रिश्चियन शिक्षिकाओ की ही बालिका विद्यालयो में भरमार है, अत. सबकी सब लडकियाँ इन्ही के खान-पान, वेश-भूषा आदि सस्कारो से सस्कृत होने में अपना गौरव और अहोभाग्य समझ रही हैं।

हमारी पण्डिताजी के अधिनायिकात्व में फलने-फूलने वाले इस 'विश्राम' की विशेषता ही कुछ और है। यहाँ ऊँची एँडीवाली जूतियो की मच-मचाहट की मधुर-ध्वनि श्रवणगोचर होने को नही। पौडर-पराग से परिलिप्त मुख-मण्डल का यहाँ दर्शन कहाँ? बल्कि यहाँ तो श्री जिनेन्द्रदेव एव श्री-गोम्मटेश्वरनाथ आदि देवो की दिव्य देह में प्रचुर मात्रा में परिलिप्त तथा अर्जित विशुद्ध केशरगर्भित चारुचन्दन और धर्मकुज की पुष्प-वाटिका में विकसित विविधामोदप्रद पुष्पो की सुगन्ध की भरमार से सेन्ट-सेना यहाँ प्रवेश करने का दुस्साहस कर ही नही सकती। यहाँ तो भारतीय सस्कृति की प्रकृत प्रतिभा ब्रह्मचारिणी जी के ब्रह्मवर्चस एव स्वच्छन्द सादगी की परमपूत-प्रशसि प्रभा से प्रभासित छात्राओ ने भौतिक चाक्यचिक्य को सदा के लिये तिलाञ्जलि दे रक्खी है।

विश्राम की शिक्षा के विषय में भी पण्डिता जी का उद्देश्य बडा ही औदार्य और वैदुष्य-पूर्ण है। आप यह नही चाहती कि विश्वविद्यालयो से बडी-बडी पदवियाँ प्राप्त की हुई महिलाएँ प्रतियोगिता में पुरुषो को पराजित कर उच्च पदारूढ हो। अत धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, औद्योगिक, कलात्मिक तथा आध्यात्मिक विषय ही शिक्षा को अनिवार्य कर स्त्रियो को सच्ची गृहिणी बनाने का आपका सर्वतोमुख ध्येय है। और आप यह भी भलीभाँति जानती हैं कि जब तक बच्चे और बच्चियो के अन्त प्रदेश में सौशील्य-शिक्षा का शिलारोपण बाल्यावस्था ही से समुचित रूप से नही किया जाता तब तक शिक्षा सफल होनेवाली नही। इसीलिये सधवा, विधवा कुमारी स्त्री-जातिमात्र के लिए विश्राम-का विशाल-द्वार आपने उन्मुक्त कर दिया है।

पण्डिताजी के पाण्डित्य, उदारता, शिक्षा-प्रसार-प्रियता तथा 'विश्राम' की ख्याति अधिकाधिक होने के कारण यहाँ पढने के लिए महाराष्ट्र, युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, पजाब और कन्नड प्रान्त से छात्राएँ आने लगी और आप इन्हें स्वय धर्म और सस्कृत की शिक्षा देने लगी। पहले तो उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाली छात्राएँ बहुसख्यक आयी, पीछे तो आपकी सस्था की आकर्षकता से स्त्री-शिक्षा-प्रेमी अभि-भावक छोटी-छोटी बच्चियो तक को आदर्श शिक्षा-प्राप्त कराने के लोभ से भेजने लगे। अध्यापन में अब आपको अधिक समय देने का अवकाश कहाँ? अत बाहर से शिक्षण-कला-कुशल (Trained) अनुभव प्राप्त योग्यतम शिक्षिकाएँ बुलाकर रखनी पडी।

उन दिनो अग्रेजी का बोलबाला था। विश्राम की प्रख्याति सुनकर बहुतेरे गण्य-मान्य अग्रेजी दां भारतीय और अग्रेज विद्वान् आ-आकर अपना मत-प्रकाश निरीक्षण पुस्तिका अग्रेजी में ही करने लगे। बाहर से तार तथा चिट्ठी-पत्री भी अग्रेजी में ही आने लगी। यो तो पण्डिता जी भी थोडी-बहुत अग्रेजी जान लेती हैं, किन्तु अग्रेजी के परिमित ज्ञान से विश्राम का काम सुन्दर सुचारु रूप से

चलता नही देखकर अपनी छोटी बहन श्रीमती व्रजवाला देवी जी को आप अग्रेजी पढाने लगी । इन्हें धर्म और सस्कृत तो आप पढाती थी ही । एक लोकोक्ति है कि "लका मे सव कोई वावन के हाथ के ।" यही बात व्रजवाला देवी जी की कही जा सकती है । ए वी सी डी से प्रारम्भ कर अट्ठारह महीनो मे ही आपने प्रथम श्रेणी में प्रवेशिका परीक्षा पास कर ली । दो वर्ष मे आइ ए भी । वी ए की पाठ्य-पुस्तकें आपने देख डाली, किन्तु स्वास्थ्य मे कुछ शिथिलता आ जाने के कारण पण्डिताजी ने आपको परीक्षा देने से रोक रक्खा और कहा कि विश्राम के कार्य-निर्वाहार्थ तुम्हारी अग्रेजी शिक्षा पर्याप्त है । ग्रेजुएट बनने से कोई विशेष लाभ नही । अग्रेजी सस्कृत पाठ्य-पुस्तकें मैंने आपको पढायी हैं, अत मैं कह सकता हूँ कि विद्या ग्रहण करने में आपकी वुद्धि वहुत ही सुलझी हुई है । व्याकरण के मेरे जटिल से जटिल नियम को आप ऐसे सुन्दर ढग से सरल रूप देकर मेरे समक्ष उपस्थित करती कि मै मुग्ध हो जाता था । क्यो न हो, "आकरे पद्मरागाणा जन्म काच-मणे कुत " । आपकी तर्क एव वक्तृत्व शक्ति बडी अपूर्व है । आप पण्डिताजी का दक्षिण हस्त एव विश्राम की उपाधिष्ठात्री हैं ।

पण्डिता जी की अध्यापन-शैली बडी ही हृदयहारिणी एव अनुकरणीय है । कठिन-से कठिन विषय भी मन्द से मन्द छात्रा को आप ऐसे उत्तम ढग से समझा देंगी कि वह भूलेगी ही नही । क्योकि विश्राम का अप्रत्याशित विस्तार होने के कारण और देवाश्रम में चिरन्तन सस्कृताध्यापक रहने के कारण पण्डिताजी ने मुझे भी विश्राम में वर्षों सस्कृताध्यापक रखा था । या सीधे मे यह कहूँ कि मुझे "मार-मार कर हकीम बनाया" तो कोई अत्युक्ति नही होगी । सात आठ वर्षों तक मुझ से कातन्त्र व्याकरण, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, सागारधर्मामृत, क्षत्रचूडामणि, जीवन्धरचम्पू, चन्द्रप्रभकाव्य एव धर्म-शर्माभ्युदय पढवाया तथा छात्राएँ भी सफलतापूर्वक परीक्षोत्तीर्ण हुईं । उन दिनो विशेषकर टीका के अभाव के कारण चन्द्रप्रभकाव्य में जहाँ-तहाँ दार्शनिक बाते सुलझाने में मै अपने को असमर्थ पाता तो छात्राओ से कह दिया करता कि इसे पण्डिता जी से समझ लेना । दूसरे दिन छात्राएँ मुझ से कह देती कि माँजी ने इसे यो समझाया है, तभी आपकी न्यायशास्त्र की विद्वत्ता एव सुगमतर शिक्षण-शैली का मुझे पता लगता था ।

पण्डित-मण्डली मे एक प्रवाद प्रचलित है,—"कौमुदी न आयी तो गँवायी पण्डितायी सव" । और इस सिद्धान्त कौमुदी पर पण्डिता जी का कैसा आधिपत्य है, इस वात का मुझे प्रत्यक्ष प्रमाण मिल चुका है । एक वार की घटना है कि वा० निर्मलकुमार जी मैट्रिक में पढ रहे थे । मै इन्हे सस्कृत पढा रहा था । बिहार की मैट्रिक की सस्कृत में उन दिनो व्याकरण का पूर्ण ज्ञान हो जाता था । अर्थात् कौमुदी का सारा प्रकरण सक्षिप्त रूप से पढाकर छात्रो को उद्‌बुद्ध कर देना पडता था । मैंने आपको 'यडन्त' प्रकरण पढाकर वहुतेरे धातु 'यड' जोड़कर क्रिया वनाने को दे दिये । आपने मेरे प्रदर्शित नियमानुसार सभी धातुओ को क्रिया का रूप दे डाला । उनमें 'नी' की 'नेनीयने' की तरह 'शी' की भी 'शेशीयते' क्रिया वनाकर मुझे दिखा डाली । पण्डिता जी कभी आप दोनो भाइयो के सस्कृताध्ययन की जाँच कर लेती थी । आपकी कौपी मे "शेशीयते" देख, इनके स्थान में "शाशय्यते"

लिख और बगल में पाणिनीय सूत्र "शीङोऽयङि्कङिति" अंकित कर दिया और कहा कि इसे पण्डित जी को दिखा देना। मैंने इस विशेष सूत्र की ओर ध्यान दिया ही न था, अत. बडा ही सकुचित हुआ। मैंने मन मे कहा कि कौमुदी पढे आपको वर्षों हो गये होगे, तो भी यह सदा आपके सामने हाथ जोडे खडी रहती है। इसका एकमात्र कारण बुद्धि की विशदता, व्युत्पत्ति की व्यापकता एव स्मरण शक्ति की जागरूकता है।

यदि विषयान्तर नही समझा जाय तो, आपके आराध्य पतिदेव स्व० बा० धर्मकुमार जी का भी,—जो सत्रह वर्ष की अवस्था मे ही अकरुण करालकाल के कवलित हो गये और जिनका स्मारक स्वरूप यह "धर्मकुज" आज विश्राम शिक्षालय का विशाल दुर्ग और दर्शनीय जैनतीर्थ में परिणत हो गया है—थोडा सस्कृत-पाण्डित्य प्रदर्शन कर दूँ। घटना यह है कि मुझे काव्यतीर्थ परीक्षा देनी थी। परीक्षा में माघ काव्य भी था। बा० धर्मकुमार जी ने बी० ए० में सस्कृत भी ली थी। माघ के चार सर्ग उन्हें भी पढने पडे थे। उनका पढा हुआ माघ मुझे कोठी में ही मिल गया। उनके हस्ताक्षरित जहाँ-तहाँ व्याकरण की अनेक उच्चकोटि की टिप्पणियाँ थी, जिन्हे हृदयङ्गम कर मैंने बहुत लाभ उठाया और कहा कि इतनी अल्पावस्था में व्याकरण की चोटी की बात जानना, वह भी अग्रेजी के साथ, कम गौरव तथा आश्चर्य की बात नही है। अत आप सरस्वती के वर-पुत्र थे। मुझे आशा ही नही विश्वास है कि स्व० बाबू धर्मकुमार जी स्याद्वाद की सप्तभगी-सुमधुर धारा से परिषिक्त, अपने धर्मकुज में द्वादशाङ्ग-रूपी कल्प-वृक्ष की अनुयोग-चतुष्टय रूपिणी सुस्निग्ध शाखाओ पर सुखासीन जिनवाणी रूपिणी कमनीय कोकिल की रत्नत्रयरजित काकलीय का कलरव सुन एव कुज की सर्वतोभावेन सरक्षिका अपनी अर्द्धाङ्गिनी ब्रह्मचारिणी "साहित्यसूरि" श्रीमती पण्डिता जी को श्री जिनवाणी की अग्रदूती रूप में देखकर आध्यात्मिकानन्द से विभोर हो जाते होगे।

अब तक मै पण्डिताजी के पाण्डित्य तथा अध्यापन का ही दिग्दर्शन करा सका हूँ, किन्तु विश्राम में वर्षों रहने के कारण आपकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रत्यक्षीकरण का मुझे बहुबार सुअवसर प्राप्त हुआ है। आपका सदा यही अभीष्ट रहा है कि मातृ-जाति पुरुष-जाति को पारिवारिक योगक्षेम की व्यवस्था का भार न दे। अत प्रत्येक छात्रा को बारी-बारी से विश्राम का अन्न-भाण्डार और पाकक्रिया का भार देकर सौ-पचास व्यक्ति को निराकुलता-पूर्वक यथासमय उत्तमोत्तम या सादा भोजन बनाकर खिलाने में सुदक्ष कर देने की भी आपकी परिचालित पद्धति कम प्रशसनीय नही है। करघा-चरखाद्वारा बुनाई कताई, बनिआइन, सूटर, मोजा बुनना, मशीन से सिलाई, सलमा-सितारे का काम, और बेल-बूटा काढना भी सभी छात्राओ के लिए अनिवार्य है। प्रत्येक प्रतिपद और अष्टमी को सभा आयोजित कर विविध विषयो पर व्याख्यान देने तथा निबन्ध लिखना भी छात्राओ के परमावश्यक कार्यों में है। इसका यह अर्थ नही है कि छात्राएँ अपनी शिक्षिकाओ की देख-रेख में यह सब काम ज्योत्यो करती रहें और आप चुप बैठी रहे। सभी कामो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से आप परीक्षण करती हैं। जहाँ पर भी त्रुटि पायेंगी, आप झट तत्तद्विषय की शिक्षिकाओ का ध्यान उस ओर आकृष्ट करेगी तथा उन्हें सावधान हो जाने की सूचना देंगी कि ऐसी त्रुटियो की पुनरावृत्ति भविष्य में नही होनी चाहिए। आपसे ऐसी सावधानता की सूचना मुझे भी एकाधबार मिल चुकी है।

मैंने आपको सस्था-सुव्यवस्थापिका, लेखिका, पत्र-सम्पादिका तथा व्याख्यान-दात्री इस चतुर्मुख रूप में देखा है। सस्था-सुव्यवस्था के विषय मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अन्यान्य गण्य-मान्य लोगो की तो बात अलग रहे भारत के अकृत एव प्रोज्ज्वल रत्न स्व० महात्मा गान्धीजी, स्व० महामना मालवीयजी एव भारत-राष्ट्र के वर्तमान अधिनायक प० नेहरूजी विश्राम में पधार कर इनकी सुव्यवस्था, पाठन-प्रणाली, सादगी, भारतीयता तथा अनुशासन की मुक्तकण्ठ से प्रशसा कर चुके हैं। पण्डिता के लेखिकात्व की प्रसिद्धि इनकी साहित्यिक कृतियाँ डके की चोट से करती रहती हैं। पत्रकार-कला के प्रदर्शन के लिये "जैनमहिलादर्श" मासिक पत्र ही पर्याप्त है। जैन-महिला-समाज की कई वडी-वडी सभाओं में सभानेतृत्व रूप में अनेको भाषण आपके हुए हैं, जिनकी प्रशसा वहुसख्यक समाचारपत्रो में मैंने पढी है, किन्तु सुनने का सुअवसर मुझे एक ही वार उपलब्ध हुआ है, सो भी अप्रत्यक्ष रूप से। क्योंकि विहार की अवरोध प्रथा का लक्ष्य वनकर पण्डिताजी के साक्षात्सभाषण से अब तक मैं अवरुद्ध ही रहा। हालांकि यह अवरोध प्रारम्भ मे ही प्रकृतिगत हो जाने से उससे अब तक पिण्ड छुडाने में मैं अक्षम-सा रहा।

एक वार आरा में विहार प्रान्तीय अग्रवाल सभा का वार्षिकोत्सव हुआ था। इसके मनोनीत सभापति पटने के प्राचीन रईस विद्वान् राय ब्रजराज कृष्णजी वी० ए० थे। आप वडे अच्छे व्याख्याता, निर्भीक एव दवग व्यक्ति हैं। अपने व्याख्यान मे आपने दवी जवान से विधवा-विवाह की उपयोगिता की भी चर्चा कर दी। यो तो मैं आपका धारा-प्रवाह सुललित व्याख्यान सुनकर मुग्ध हो गया। सौभाग्य से पण्डिताजी भी महिला-मण्डली को लिये पर्दे में वैठी सुन रही थी। भला पण्डिताजी विधवा-विवाह की उपयोगिता सुनकर कव चुप वैठने वाली थी। दूसरे दिन आपने वही सभास्थल श्रीशान्तिनाथ जी के विशाल मन्दिर में अपनी शिष्याओ एव गण्य-मान्य महिलाओ को इकट्ठी कर सिंहनी-सी गरजती हुई वडी सौम्य भाषा में पाण्डित्यपूर्ण अखण्डनीय तर्कों से रायसाहव के विधवा-विवाह के औचित्य को अनौचित्य सिद्ध करके ही छोडा। मैं वाहर वैठकर सुनता रहा। आपकी व्याख्यान-विदग्धता देखकर मैं दग रह गया। केवल व्याख्यान ही देकर आप नही रह गयी। प्रत्युत प्रतिवाद स्वरूप विधवा-विवाह का अनौचित्य प्रदर्शक अपना अभिप्राय पन्द्रह-वीस पक्तियो में लिखकर सभापतिजी के पास भिजवाया भी। किन्तु सभापतिजी उसे पढकर चुप रहे। अपने सिद्धान्त का औचित्य सिद्ध करने को सहमत नही हुए। आपकी लिखी वे पक्तियाँ वडी चुटीली थी। मुझे अक्षर-प्रत्यक्षर तो याद नही, किन्तु भाव यह था कि, पुरुषजाति प्रमाद एव आलस्य का आश्रय ले और मातृजाति को समुचित शील सयम आदि की शिक्षा न देकर अनन्यगतिक होती हुई झट विधवा-विवाह की उपयोगिता दिखाने लगती है। यदि धार्मिक और चारित्रिक शिक्षा की समुचित सुविधा इन्हें दी जाय तो ये तपस्विनी विधवाएँ भारत में एक वार क्रान्ति उत्पन्न कर दें।

अव मैं पण्डिताजी के सूत्र रूप मे उपर्युक्त विधवा-विवाह-निरोधक मन्तव्य की यहाँ कुछ व्याख्या कर देना भी उचित समझता हूँ।

कृत युग के आरम्भ में मनुष्यो के विवाह का कोश नियम था ही नही। सर्वत्र सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पशुधर्म ही प्रचलित था। ज्यो-त्यो सन्तानोत्पादन की व्यवस्था ही सर्व-मान्य थी। किन्तु कलि

का प्रारम्भ होते ही त्रिकालज्ञ महर्षियो ने इस पशुता-पूर्ण समाजव्यवस्था-धारा को एकदम अवरुद्ध कर दिया । यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि महर्षियो की यह स्वच्छन्द-चारितार्थता थी ? निष्प्रयोजन प्रभुत्व-ख्यापन-वृत्ति थी ? हठकारिता थी ? या लोकहित-चिकीर्षुता ? बात यह थी, जिन दिनो अविद्या का ही बोल-बाला था, लोगो ने प्रजावृद्धि के लिए यही नियम उपयुक्त समझा, किन्तु जब विद्या का प्रचार हुआ तो महर्षियो की इच्छानुयायिनी प्रजोत्पत्ति होने लगी । तभी विवाह-विधि और उसकी पद्धति भी प्रचलित हुई । प्रजावृद्धि अनर्गल रूप से इतनी अधिक हो गयी थी कि उसका निरोध करना महर्षियो को परमावश्यक प्रतीत हुआ । क्योकि कलिकाल के आदि में भगवान् श्रीकृष्ण से प्रेरित कौरव-समराग्नि में असख्य अक्षौहिणी जनसख्या के भस्मीभूत होने पर भी अव्याहत दृष्टि महर्षियो के मन में भावी प्रजावृद्धि का सकोच अनिवार्य प्रतीत हुआ और उन्होने एक बडी भारी परिषद् इकट्ठी कर भारत के भावी हिता-हित की आलोचना प्रत्यालोचनापूर्वक औरस, क्षेत्रज, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविद्ध, कानीन, सहोद, क्रीत, पौनर्भव और दत्तक इन दस प्रकार के पुत्रो में से औरस और दत्तक को ही अधिकारी निर्धारित किया । अत विधवाओ के लिए ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ऋषियो ने बत-लाया ही नही । कुछ परदु खकातर समाज-सुधारक सहृदय व्यक्ति कह सकते है कि भीषण एव कठोर-तर ब्रह्मचर्यरूपी धधकती दावाग्नि में घृत सपृक्त आहुति की तरह विधवाओ को डालकर जलाना निर्द-यता नही तो क्या है, किन्तु यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो मै खुलेआम कहूँगा कि विधवा ही क्या नारी जातिमात्र यदि पुरुष जाति से मातृदृष्टि से देखी जाय तो ब्रह्मचर्य को कौन कहे, कठोर से कठोर चर्या को भी श्री जिनेन्द्रदेव के पवित्र प्रक्षालन की तरह सदा शिरोधार्य करने को तैयार है । स्त्रियाँ कहें तो किससे कहे ! पुरुषो ने इन्हें कुछ कहने का अधिकार दिया ही नही । प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक पुरुष-गण सारा दोष स्त्री जाति के ही मत्थे मढकर अपने दोषाच्छादन का सफल या विफल प्रयास करते आ रहे हैं ।

पुरुषो का पहला दोषोद्घाटन,—जो उनकी विषय-वासना-वासित दूषित तथा कलुषित मनो-वृत्ति का पूर्ण परिचायक यह है कि कामाधिक्य के कारण स्त्रियाँ पुरुषो को पथ-भ्रष्ट करती हैं । मैं तो समझता हूँ कि इस कथन से पुरुषो की शुद्ध, वुद्ध तथा विमुक्त आत्मा एक बार काँप उठती होगी । यह बात सर्वविदित है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुनादिक मे पशु और मनुष्य में कोई अन्तर नही है । ऐसी दशा में पशुता के पिच्छिल पक से अलग रहने तथा मनुष्यता की उत्तरदायित्वपूर्ण पक्ति में खडे होने का एकमात्र साधन प्रशसापत्र मानवमात्र के लिए चरित्र (शील) अर्थात् धर्म ही है । अब पाठक जरा ध्यान देकर देखें कि नरजाति इस चरित्र से कैसा खेलवाड करती आ रही है तथा कामाधिक्य किस में है । यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि काम-तरग से आहत तुरग और गर्दभ अनवरत दुलत्तियो का असह्य प्रहार सहकर भी अनिच्छुकी तुरगी और गर्दभी का पीछा नही छोडते । इसी प्रकार मार्जार मार्जारी के पीछे , साँढ गाय के पीछे, कुक्कुट कुक्कुटी के पीछे, अर्थात् सभी पुस्त्वप्रधान पशु-पक्षी स्त्रीत्वप्रधान अनिच्छुकी पशु-पक्षी के पीछे पडे रहते है ।

दूसरा दोषारोपण पुरुषो का है कि वेश्याएँ कटाक्ष-पात से पुरुषो को वश में करके धना-पहरण करती है । अब मैं मनोविज्ञान की विज्ञता का अखर्व-गर्व करनेवाले उन पुरुष-पुगवो से पूछता

हूँ कि, धनाहरण करनेवाली वेश्याओ का कामाधिक्य है, या धन, धर्म, पूर्व पुरुषो की सर्वस्वरूप-मर्यादा, कुलीनता, जातीयता, स्वोपार्जित प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य, सम्पत्ति, यही तक नही अपने प्राण तक उसके चरणो मे समर्पित कर देनेवाले पुरुषो का ? मै तो समझता हूँ कि ऐसे शील-भ्रष्ट कामुक पुरुषो के लिये धर्मशास्त्र मे ऐसा अनिवार्य दण्ड विधान बना दिया गया होता कि जो मानवता के प्रतिपादक चरित्र-मात्र प्रमाणपत्र के प्रतिकूल आचरण करे, उसका प्रमाण-पत्र छीन मनुष्यता के उच्चासन से धकेल कर पशुता की पाँत मे खडा कर दिया जाता तो चरित्रहीनो का कही पता ही नही लगता।

अब आप जगज्जनयित्री कोमलाङ्गी माताओ की ओर ध्यान दे कि इन्हे अपने पति और अपत्य के लिये कैसी असह्य पीडा सहन करनी पडती है। अनुक्षण वर्द्धनशील गर्भ-भार से आक्रान्त, गर्भ-जन्य अनेक रोगो से आकुल-व्याकुल एव गर्भस्थ सन्तान के लिये कठोर नियमो से नियन्त्रित वनिताओ को स्वशरीर रक्षा के लिये भी भोजन की रुचि नही होती। यदि हठात् कुछ खा भी लेती हैं तो, सन्तान ही उसकी अधिकारिणी हो जाती है। प्रबल प्रसव-वेदना सहन कर सन्तान मुख देखने का कही सौभाग्य प्राप्त हुआ तो, उस जीर्ण-शीर्ण प्रसूतावस्था में भी अपनी सारी व्यथा भूलकर विचारी प्रसन्नता प्रकट करने की चेष्टा करती है। सबसे बढकर इनकी दयनीयता यह है कि माता दुग्धपरिणत अपनी शोणित-धारा ही पिलाकर सन्तान की रक्षा करती है। बच्चे और बच्ची सुख से हैं तो माँ भी सुखी। इन पुत्र-पुत्रियो के सम्बन्ध से परिवार वृद्धि होने पर विचारी माता एक बार गार्ह-सुख-सरोवर मे मग्न हो जाती है। कही पति-पुत्र शीलभ्रष्ट हुए तो पत्नी और जननी के दुख का पारावार नही। उनके हृदय पर कैसा असह्य आघात होता होगा, यह वे ही जानें। ऐसे चरित्रहीन पति-पुत्र के लिए भी पति-प्राणा सती-साध्वी आर्यललनाएँ एव सन्तान-वात्सल्य-निर्भरामाता चिरारोग्य एव हृष्टि-पुष्टि-तुष्टि के लिये अपने अभीष्ट देवता से सदा प्रार्थना किया करती है। धन्य हो माताओ! तुम जगद्वन्दनीया हो!!

यदि दैववशात् स्त्रियाँ विधवा हो गयी तो हमारे करुणामूर्त्ति समाजसुधारक नेतृ-वृन्द पुर्नविवाह की घोषणा कर इन विधवाओ का उन्ही प्रसव-क्लेश-परम्परा से नियन्त्रण करना चाहते है, न कि ब्रह्म-चर्य से। निग्रह तो होना चाहिए उन पशुप्राय शीलभ्रष्ट परदाराभिमर्शी पुरुषो का। क्योकि आग शुष्क, कठिन एव निकम्मे काठ को ही जलाती है, न कि कोमल, तरल, सुखस्पर्श तृषापहारी सुशीतल जल को। बल्कि अग्नि के ससर्ग से वह जल विकृतिमुक्त, प्रपूत तथा पथ्य बन कर जनता के लिये स्वास्थ्य-प्रद बन जाता है। उसी प्रकार ललितललामभूत ललनाएँ ब्रह्मचर्य द्वारा परमपुनीत होकर जनमात्र के अन्तस्तम प्रदेश से कुवासना, अकर्मण्यता, भीरुता, निरुत्साहता एव कुप्रवृत्तियाँ समूल निष्कासित कर सुशीलता, सक्रियता, उत्साहाधिकता, निर्भीकता और सुप्रवृत्तियो का विद्युत्प्रवाह प्रवाहित करती हुई एक बार नवयुग उपस्थित कर देंगी। और तभी भारत अपने नवोपलब्ध स्वराज्य का सच्चा सुख अनुभव करेगा।

शास्त्रकारो ने कहा है कि ब्रह्मचर्य पालन करती हुई विधवाएँ परब्रह्म परमात्मा ही को अपना पति समझें तथा उन्ही की सतत पूजा, अर्चा, और ध्यान-धारणा करे। प्रत्युत ब्रह्म जान सभी को अपनी

सन्तान समझें । ऐसी विधवाओ की कारुण्य-पूर्ण वात्सल्य-धारा प्रोन्मुक्त होकर सदा ससार को परिप्लावित करती रहेगी । एक ही हार्दिक प्रेम पूज्यो मे भक्ति, पति, पुत्र, वनिताओ में तथा विपद्ग्रस्तो मे करुणा कहा जाता है । सधवा स्त्रियो का प्रेम पति, पुत्र आदि स्वजन-परिजनो तक ही सीमित रहता है, किन्तु भर्तृहीन स्त्रियो का प्रेम कही एकत्र निबद्ध नही रहता । इनकी करुणा-धारा तो सहस्र कर से उन्मुक्त होकर दीनो, विपन्नो, निरन्नो, निराश्रितो, पीडितो, निरक्षरो एव दलितो पर उच्छृंखलित रूप से अजस्र उच्छलित होती रहेगी । मै तो कहता हूँ कि ये विद्युद्दीपशिखा की तरह अपनी समुज्जल ब्रह्मवर्चस ज्योति से अपने गृह को आलोकित करती हुई जगन्मात्र को प्रभासित कर देंगी । मै समाजसुधारक सहृदयो से विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि, आप सज्जन, महालक्ष्मी, महासरस्वती स्वरूपिणी इन विधवा देवियो की कारुण्य-वृष्टि के प्रत्यूह-व्यूह न बने । ये सब्रह्मचारिणी सच्चरित्रा पूजनीयचरणा विधवा अपनी ब्रह्मचर्यरूपिणी विद्युत् से गृहाङ्गन-गगन में चमकें एव कादम्बिनी रूप से भूतल पर करुणा-सुधाधारा की वृष्टि करे, जिससे सारा ससार सराबोर हो जाय ।

अब मै यहाँ कुछ प्राचीन और अर्वाचीन जैनेतर विदुषियो का नामोल्लेख कर देना चाहता हूँ । अत्रिगोत्रोत्पन्ना "विश्ववारा" नामकी विदुषी ऋग्वेद के ५ वी मण्डल के १८ वें सूक्त की 'ऋषि' पदवी तक प्राप्त कर चुकी है । लौकिक सस्कृत को कौन कहे वैदिक सस्कृत की भी आप पारगता थी । 'शकर दिग्विजय' काव्य मे अकित मिलता है कि, "तत समादिश्य सदस्यताया सधर्मिणी पण्डितमण्डनोऽपि । स शारदा नाम समस्तविद्या–विशारदा वाद-समुत्सुकोऽभूत्" ॥ अर्थात् शकराचार्य और मण्डनमिश्र के शास्त्रार्थ मे मण्डनपत्नी शारदा ने मध्यस्थ बनकर अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया था । यह प्रत्यक्ष है कि मैथिलाधिपति श्री चन्द्रसिह की महिषी श्रीलक्ष्मी ने,—जिनका स्मरण मैथिल कोकिल विद्यापति ने अपने प्रत्येक पद्य के अन्त में किया है, मिताक्षरा धर्मशास्त्र की विवृति की रचना की है । "बृहदारण्यक" में गार्गी को "सर्वशास्त्र-विशारदा" की उपाधि मिली उपलब्ध होती है । अर्वाचीन में कुभकोणम् की रहनेवाली 'कविरत्न' ज्ञानसुन्दरी है । सस्कृत में आपने चालीस ग्रन्थ बनाये है । 'कविरत्नम्' की उपाधि आपको मैसोर राज्य से मिली है । आपकी कविता कालिदास और माघ की टक्कर की होती है । दूसरी अर्वाचीन हैं कामाक्षी अम्मादेवी । यह भी सस्कृत की पूर्ण पण्डिता है । इन्होने "अद्वैत-दीपिका" नाम का एक वेदान्तग्रन्थ बनाया है । इसमे वेदान्त की बातें बडी खूबी से आपने समझायी है। आप सम्पन्न घर की विधवा है । वह सारा समय पुस्तकावलोकन और वेदान्त-विचार में ही व्यय करती है । आप मद्रास प्रान्तीय माया-पुर वास्तव्या है । इन दोनो विदुषियो की कुछ कृतियाँ आज से ३० वर्ष पहले मैंने पढी है । अब का पता नही कि ये हैं कि नही ।

इन उल्लिखित प्राचीन अथवा अर्वाचीन अजैन महिला-विदुषियो के नामोल्लेख से मेरा तात्पर्य यह है कि ये भले ही वेद, वेदान्त, धर्मशास्त्र और काव्य की कमनीय कीर्त्तियाँ छोड जायँ, किन्तु निरक्षरता के निरयनीरनिधि में निमग्न अपनी नारी-जाति का इन सबों ने कौन-सा उद्धार किया ? यदि हमारी पण्डिताजी इन्ही विदुषियो का आदर्श अपने सामने रखती तो न मालूम कितनी ही

सस्कृत की उच्चकोटि की पुस्तकें लिखकर अनेक उपाधियो से विभूषित तथा साहित्यिक पुरस्कारो से पुरस्कृत होती हुई स्वान्त सुख-सुधा का पान करती रहती ।

हमारी पण्डिताजी सस्कृत की वडी उच्चकोटि की विदुषी हैं । डायरी (दिनचर्या) लिखना आपका एक अनिवार्य कार्यों मे है । पहले आप सस्कृत मे ही डायरी लिखा करती थी । एकाध डायरी मुझे भी देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । ऐसी वाग्धारा (मुहावरा) सयत सस्कृत अच्छे-अच्छे कृत-विद्यो की ही मैंने देखी है । आपकी सस्कृत डायरी मे कही एक जगह भी कट-कूट नही । ज्ञात होता है कि सस्कृत के आपके अभीष्ट उपयुक्त शब्द आपके समक्ष सतत करबद्ध उपस्थित रहते हैं । फिर पीछे तो आपने हिन्दी को ही अपनाया । क्योकि हिन्दी को व्यापक बनाने तथा उसका साहित्य भाण्डार भरने का सर्वत्र घोर आन्दोलन होने के कारण आपने इसकी उपेक्षा न कर इसे सहर्ष स्वीकार किया । और हिन्दी तो आपके घर की दासी है । अपने आदर्श से बहुतेरी छात्राओ को आपने लेखिका बना दिया ।

जब मैं चि० बाबू निर्मलकुमार जी को सस्कृत पढा रहा था, मेरी पाठन-प्रणाली से प्रसन्न होकर आपने कहा कि पण्डितजी, हिन्दी में सस्कृत व्याकरण की एक पुस्तक लिखें, मै उसे छपवा दूँगा । इससे स्कूली छात्रो का विशेष लाभ होगा । मैंने आवेग मे आकर दस-बीस पन्ने लिख भी डाले और सोचा कि पुस्तक तैयार हो जाने पर श्रीमती पण्डिताजी को ही इसके सशोधन करने और भूमिका लिख देने का भार दूँगा । किन्तु यह बात मन की मन ही में रही । न मुझे ट्यूशन से अवकाश मिला और न पण्डिताजी को कष्ट दिया ।

अब मैं पण्डिताजी की उदारता तथा दयापरवशता का दिग्दर्शन मात्र करा देना चाहता हूँ । अधिकतर आप दान देकर उसका प्रकाश करना कभी नही चाहती । आपके गुप्तदान से आज अनेको जैन या अजैन छात्र ऊँची से ऊँची शिक्षा पाकर हिन्दी एव अध्यापन-ससार में ख्यातिपूर्वक सुखमय जीवन बिता रहे हैं । एक प्रतिभाशाली ब्राह्मण विद्यार्थी नेत्ररोग से पीडित हो अर्थाभाव से समुचित चिकित्सा नही करा सकने के कारण आगे की स्कूली शिक्षा नही प्राप्त कर सकता था । मैंने इस रुग्ण-छात्र को पण्डिताजी की शरण मे पहुँचाया । और आप पूर्ण साहाय्य-द्वारा उसे स्वस्थ तथा सुशिक्षित बनाकर ही शान्त हुईं । वह बिचारा ब्राह्मण बालक भी आपका कृतज्ञताभार सिर पर लिये हुए अब तक प्रत्यु-पकृति की पुष्पाञ्जलि विश्राम की सेवा मे समर्पित कर रहा है । नौकर-चाकर, दाई, छात्राओ एव अध्यापिकाओ में किसीके रुग्ण होने पर आप व्याकुल हो उठती है तथा बडे से बडे वैद्यो, डाक्टरो और हकीमो को जब तक आप दिखा नही लेंगी, आपको सन्तोष नही होगा । मैं आप बीती एक घटना की चर्चा किये देता हूँ । मुझे एक बार जोरो का चेचक निकला । एक सप्ताह तक बेहोश था । विश्राम से दो माइल दूर शहर मे मेरा डेरा था । मेरी माताजी और पत्नी भी थी । जब मुझे होश हुआ तो देखता हूँ कि शहर के सब बडे प्रख्यात होमियोपैथिक डाक्टर कुर्सी पर बैठे हुए हैं । सिरहाने श्रीमती व्रजबाला देवीजी गर्म पानी से रूई भिगो-भिगोकर पीव से सटी हुई मेरी आँखें धीरे-धीरे धो रही हैं । आँख खुलने पर देवीजी ने कहा, प० जी, मुझे पहचानते है, मेरा क्या नाम है । मैंने मन्द

स्वर से समुचित उत्तर दिया। फिर कहा कि आपने कहा है कि तुम्हें बी ए का सस्कृत कोर्स पढाऊँगा, पढाइयेगा न ? मैंने कुछ मुस्कुराकर कहा, हाँ। मै उस समय मूर्तिमान वीभत्सरस हो कहा था। सारी देह पीब से लथ-पथ। अनिच्छा होने पर भी मुझे शीशे के छोटे ग्लास से दो ग्लास विहदाना अनार का रस वलात् पिलाया। आप और श्रीमती सितारा सुन्दरी काव्यतीर्थ कई दिनो तक वरावर आती रही। अनार और सन्तरा का ढेर लगा रहता था। मेरी देह से दुर्गन्ध निकल रही थी। पण्डिता जी ने कह दिया था कि देखो बाला, अर्थाभाव से पण्डित जी की चिकित्सा में कोई त्रुटि न हो। यही तक नही, नया तोसक, तकिया और मल-मल की कई चादरे वनवा कर भेज दी। मै साधारण स्थिति का वहुपरिवारी दीन ब्राह्मण था, किन्तु पण्डिताजी ने धन-सम्पन्न व्यक्ति की तरह मेरी सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था कर दी थी। यो तो आयुकर्म के उदय से ही इस जीव के जीवन-मरण का अविच्छेद सम्वन्ध वना रहता है, किन्तु मेरी माताजी वरावर कहा करती थी कि छोटी वहुजी ने ही मेरे वच्चे को जीवनदान दिया है, नही तो हमलोग कही की नही होती। यह कहा जा सकता है कि मै आपके आश्रित था, अत मुझे यह सुविधा पहुँचायी गयी। परन्तु वास्तव में वात यह नही है। कही के और किसी जाति के दयनीय एव विपन्न व्यक्ति की करुणा की ध्वनि पण्डिताजी के श्रुतिगोचर हो जाने भर की देर रहती है। वाद तो उसकी असुविधा तथा वेदना दूर करने की यावच्छक्य व्यवस्था करने से आप बाज नही आयेंगी। वाढ और दुर्भिक्ष के दिनो में आप सदा यही जानने को उत्सुक रहेंगी कि कौन-सा व्यक्ति अन्न-वस्त्र एव आश्रयहीन हो अत्यन्त विपद्ग्रस्त हो रहा है। आप तात्कालिक उसे समुचित सहायता देकर उसकी आवश्यकता की पूर्ति का प्रवन्ध कर देंगी। मुझे दृढ विश्वास है कि, यदि अन्यान्य विधवाएँ श्री पण्डिताजी का आदर्श अपनाएँ तो आज भारत को सुवर्णमय वनते देर नही लगेगी।

क्या मै आशा करूँ कि पण्डिताजी का विस्तृत सत्कार्य देखकर हमारी हिन्दूजाति की विदुषियो की भी आँखें खुलेगी! मेरी तो यह दृढ धारणा है कि पुरुषजाति हो या स्त्रीजाति, सवो के लिए शील की शिक्षा मुख्य एव अनिवार्य कर देनी चाहिये। इस शील का वर्णन सभी साम्प्रदायिक शास्त्रो मे वृहद्रूप से वर्णित है। ऐसा प्रवन्ध होने पर यह भारत उन्नत मस्तक हो अपनी पूर्व घोषणा की पुनरावृत्ति का साहस करेगा कि —" स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या (भारतात्) सर्वमानवा "। अस्तु, मेरा साहस समझा जाय या दुस्साहस, मै स्त्रीजातिमात्र के लिये कहूँगा,—

जैन्या सत्व्रह्मचारिण्या श्रीचन्दाया सकाशत। स्व स्व सुशील शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वयोपित ॥

मिश्र की मठिया, —हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुरणतीर्थ

वलिया

श्रीमतीं ब्रह्मचारिणीं पण्डितामभिलक्ष्य
मम भावोद्गार-दशकम्

भूति. सम्यक् चरित्राणा विभूतिर्भाविना नृणाम् ।
विद्युतिस्तमसाच्छन्नदृशा कुपथगामिनाम् ॥१॥
गीतिर्जिनेन्द्रयशसो गायता सुदृशा सताम् ।
नीतिस्सद्धर्मनेतृणा रीतिस्तत्कर्म कुर्वताम् ॥२॥
अधीति सर्वशास्त्राणा प्रतीतिस्सर्वदार्हताम् ।
प्रचण्डभास्करी दीप्तिरुलूककुदृगात्मनाम् ॥३॥
लूतिरज्ञानशस्याना पूतिरुज्ज्वलचेतसाम् ।
गतिर्दुर्दृष्टि-पङ्केषु मग्नानां खलु योषिताम् ॥४॥
धृतिर्धैर्यवता धर्मसुसमाहितचेतसाम् ।
स्मृति सस्मरता वाच जैनी जिनमुखोद्गताम् ॥५॥
भित्तिस्सुशीलसौधाना सम्पत्तिस्सर्वयोषिताम् ।
विपत्ति स्त्रीजनोद्धार-विमुखायितचेतसाम् ॥६॥
नुत्तिरुद्योगकर्तृणा छित्तिस्सशयभूरुहाम् ।
खित्तिस्सदार्यनारीणां पुनरुद्वाहघोषिणाम् ॥७॥
कान्तिस्सदार्यनारीणा शान्तिरुद्विग्नसन्नृणाम् ।
दान्तिर्दुर्घर्षपापाढ्य--पामराणा सुदुर्हृदाम् ॥८॥
जिनवागप्रदूती या सूतिरज्ञानस्रोतसाम् ।
वातिस्तमोरजोधूलिपूरितान्तर्दृगात्मनाम् ॥९॥
सद्ब्रह्मचारिणी सेय 'चन्दा' चन्द्रकरोज्ज्वला ।
सूरिर्विज्ञा शत जीयाद्विद्वद्भिरभिनन्दिता ॥१०॥

—हरनाथ द्विवेदी

"घर का योगी सिद्ध"

हमारे यहाँ तो घर के ही योगी सिद्ध होते आये है, इसलिए "घर का योगी योगिडा औ वाहर का सिद्ध" यह कहावत हमारे यहाँ सिद्ध नही होती ।

हमारे प्रपितामह प्रभुदास जी इतने विद्वान् और भक्त गिने जाते थे कि—जमीन्दार वणिक् घर के होते हुए भी उन्हें लोग पण्डित प्रभुदास कहते ।

जहाँ कही जाते भगवान् की एक छोटी सुवर्ण मूर्त्ति डब्बे में विराजमान करके गले में लटकाये फिरते । पहिले पूजा-धारा होती फिर कही जलपान । अन्य नियमो के अतिरिक्त वस्त्रो में परिग्रह का इतना कम प्रमाण कर रखा था कि—उनके कपडे वहुधा तेल लगे गन्दे रहते । मित्र उनसे हँसी करते और उन्हें तेलिया प्रभुदास कह चिढाने की चेष्टा करते ।

एक मित्र की किसी के यहाँ एक वडी लम्बी रकम वकाया पडी थी । मित्र ने यह समझ कर वह रकम तमादी होने को छोड रखी थी, कि—वसूल होना मुश्किल है । इन्होने कहा—मुझे दे दो, मैं खर्च कर लड़ूगा । मित्र ने कहा—'मैं तो अपना रुपया इस डूवी हुई रकम के पीछे वर्वाद करूँगा नही । अगर तुम खर्च कर वसूल कर सको, तो सब तुम्हारा ।'

आखिर मुकदमा जीतकर रकम इन्होने वसूल की । इस पर कमाल यह कि अपना खर्च काट कर वाकी सारी रकम जाकर उस मित्र के हवाले कर दी ।

इन्ही जैसे श्रेष्ठजनो के उच्चतम आदर्श से व्यापार के कर्णधार श्रेष्ठी, श्रेष्ठ या सेठ कहे जाने लगे होगे, इसमें कोई सशय नही ।

हमारे पितामह वा० देवकुमारजी ने तो धर्म और समाज के लिए इतना किया कि हमारे परिवार के लिए उनका सारा का सारा जीवन एक आदर्श वना हुआ है । वे महात्मा थे, दानवीर थे, कर्मवीर थे । उनका यश सुविख्यात और उनकी कीर्त्ति अमर है । ये हमारे वडे दादाजी (पितामह) थे ।

इन्ही के लघुभ्राता हमारे छोटे दादाजी वा० धर्मकुमार जी का देहान्त वडी अल्पावस्था में हुआ । उनके अपूर्व भातृप्रेम और विद्या-बुद्धि के जो उदाहरण हमें सुनने को मिलते है उससे विश्वास होता है कि वे जीवन पाते तो अद्भुत व्यक्ति होते ।

इस समय हम अपनी श्रद्धाञ्जलि छोटी दादीजी ब्र० चन्दाबाई जी के प्रति अर्पण कर रहे हैं । हमारा सौभाग्य है कि हमने इनके महान् व्यक्तित्व की छाया में जन्म लिया है । हमें गौरव है कि वे हमारी हैं—सुख में हमारी है, दुःख में हमारी हैं ।

हमारे छोटे भाई सरोजकुमार का देहान्त हमारे परिवार में वडी दुखद और तुरत घटी घटना है। मृत्यु के घण्टो पहिले से सभी उसे भगवान का नाम सुना रहे थे। छोटी दादीजी भी वही उसके सिरहाने बैठी पचनमस्कार मत्र आदि का पाठ कर रही थी। उनकी शान्तिमय मुद्रा उस समय सभी को साहस के लिए उत्प्रेरित कर रही थी। लगभग १८ घण्टो तक भाई को नाम सुनाया गया। अन्तिम क्षणो में तो ऐसा मालूम होता था, जैसे मृत्यु-महोत्सव मनाया जा रहा हो। छोटी दादी जी का आदेश था—'खवरदार ! साँस रहने तक एक हिचकी भी कोई न ले, यह लडका वडा पुण्यात्मा है। इसकी साँस में भगवान् का नाम है। इसका समाधिमरण होने दो।'

अन्त में उसे जल तक का त्याग करा दिया गया। भाई अनन्त शान्ति में प्रयाण कर गया। नेत्र खुलकर मुँद गये। चेहरे पर ऐसी शान्ति विराज गई कि लोग कहने लगे कि "ऐसा मरण नही देखा"।

घर का वच्चा-वच्चा इस समय वहाँ था। भाई की बहू, और कही जाकर रो लेती पर वहाँ वह भी पैताने वैठी भगवान् का नाम ले रही थी। आबाल-वृद्ध सभी भगवान् का नाम एक स्वर में ले रहे थे।

ऐसे समय ऐसी हिम्मत घर के सभी को रहे इसका श्रेय छोटी दादी जी को है।

यह तो एक पहलू है। ऐसे ही कितने हमारे जीवन के पहलू हैं, जहाँ उनकी छाप अमिट है।

"श्रीजैन-वाला-विश्राम" जैसी सस्था है वैसी शायद ही कही मिले। छोटी दादी जी के प्रति भय-मिश्रित अगाध प्रेम वहाँ की सभी स्नातिकाओ में है। मै तो यह जानता हूँ, कि उनकी भृकुटि मात्र से वातावरण में हेर-फेर पड जाता है। प्रमाद की वे बहुत वडी दुश्मन है।

—टेलीफोन की घटी बजी और तुरत सुनने उठ खडी होगी।

—किसी को वक्त देकर वक्त के पहिले स्वय इन्तजार करते उनको पा लीजिए।

—आज तक जिन्दगी में उनकी ट्रेन कभी छूटी नही।

—अगर आप उनके अतिथि है, तो आपको अपनी फिक्र नही करनी पडेगी।

—वचपन में मै माँ को छोडकर उनके पास कई वार रहा हूँ, पर माँ के अभाव की कभी याद आई ऐसा ख्याल नही आता। वीमारी में उनकी देख-रेख में रहकर मुझे सदा और किसी की देखभाल में रहना खटका है।

—सीमेन्ट की जमीन में अगर मारवल की वहार देखना हो, तो आप आश्रम में देखिए। इसका श्रेय भी मै इन्हें ही देता हूँ।

—कितनी ही वार आवश्यकता पडने पर घरभर में जव दवा के लिए अमृतधारा, हींग या ऐसी कोई चीज न मिली, तो उनकी पोटली में अवश्य मिल जायगी। ऐसा सभी जानते है। पोटली में कागज, पेन्सिल, कलम आदि सभी अपने-अपने स्थान पर मिलेंगे।

—जब कभी आश्रम से कोठी पर आती है, तो कोठी की औरतो में तैयारी-सी होने लगती है। इसी भाति जब कही से लौटकर आश्रम में पहुँचने को हो, तो वहाँ जाकर वहाँ के लोगो की दौड-धूप देखते ही बनती है।

ऐसी बात नही है कि इनसे 'भूत के भय' जैसी बात हो। साधारण मनुष्य प्रमाद से इतना लापरवाह हो जाता है कि—अपने रहन-सहन का नियम भी ठीक से नही पालता। सभी को मालूम है कि —इस अनियम से उन्हें एक चिढ-सी है। इसीलिए दौड-धूप मच जाती है।

छोटी दादी जी के मुख से धर्म की बातें, कर्त्तव्य की बातें, सहज ही समझ में आ जाती हैं। उनकी विचारशैली इतनी सुलझी हुई है कि अपनी कोई कठिनाई या सशय की बात उनको बतलाइये और वे तुरत उसको सुलझा देती हैं। शास्त्र-सभा में इनके मार्मिक विचारो और धर्ममनन की प्रभुता गूजने लगती है। हजारो नरनारियो के बीच इस सरलता से अपने विचारो को रखती है कि लोग आश्चर्य करते रह जाते हैं।

एक दक्षिणी जैन-युवक आश्रम में कार्य करता था। एक मुनिसघ के समागम पर क्षुल्लक की दीक्षा ले बैठा। दूसरे दिन आहार के लिए उसके आगे भी भक्तिभाव से—"हे स्वामिन्!" आदि सबोधन करते और करबद्ध खडे उन्हें देख बहुत से विरोधियो की हिम्मत टूट गयी।

वे कहती—"मैं स्वय इसकी दीक्षा के विरोध में थी। जानती थी कि इसमें योग्य शक्ति नही है। परन्तु जब इसने दीक्षा ले ली, तो हमें तो उस 'पद' की पूजा करनी ही है।"

इसके बाद इनका बडा प्रयत्न रहा कि वह दीक्षावृत्ति लेकर उसे पालने में समर्थ हो। दुर्भाग्यवश शरीर की अति दुर्बलता के कारण अपने पद योग्य नियम आदि पालने में जब उन युवक को कठिनाई होने लगी, तो भी 'उनकी हँसी न उडे अन्यथा धर्म की हानि होगी', इस सुविचार से उन्हें सकुशल दक्षिण उनके स्थान तक पहुँचवा दिया। मतलब यह कि सभी समस्याओ पर अपना कर्त्तव्य एक बार स्थिर कर उसे पूरा करने की अपूर्व क्षमता उनमें है, और उसे पूरा भी अवश्य करती हैं।

हम तो श्री दादी जी के चरण-रज के योग्य भी नही। और क्या? उनकी गौरवगाथा भी-सफलता से लिखने में असमर्थ हैं। 'उनकी उच्चता में, उनके महान् आदर्शों में अहर्निश विश्वास बना रहे' यही प्रयत्न है।

कभी सोचता हूँ, कि—छोटी दादी जी के बिना कैसा लगेगा? टैगोर के बिना शान्तिनिकेतन कैसा हो गया? गाधी के बिना सेवाग्राम कैसा हो गया?

हृदय पुकार पुकार कर कहने लगता है—'ऐसा कभी न हो! ऐसा कभी न हो!!'

—सुबोधकुमार जैन

वहूजी

स्वभावत , महान् व्यक्तियो की एक अलग पारिवारिक-शृखला होनी चाहिए–उनकी एक अलग जाति होनी चाहिए। साधारण स्तर के लोगो के बीच उनका जन्म और परिपालन अप्राकृतिक-सा दीखता है। ब्रह्मचारिणी पूज्य चन्दाबाई जी को जब मैं अपनी "वहूजी"—छोटी दादी जी के रूप में देखता हूँ तो मुझे यही भावना उचित प्रतीत होती है। कहाँ हम, कहाँ वह। ऐसा लगता है मानो दूर अस्पष्ट क्षितिज में हम अधम पृथ्वीवासी एक आकाश-वासिनी से मिलने के विफल प्रयत्न कर रहे हो।

मैं उनके जीवन के इतिहास को सविस्तर तथा क्रमबद्ध नही जानता, चूँकि मैं अबतक इसके लिए बहुत छोटा था। पर आज भी जब मैं उनके उन शिथिल अगो को देखता हूँ जिन्होने अपनी दीप्ति नही खोई तो मेरे सामने अनायाम ही एक चित्र-छाया आ जाती है–पहाड पर चढती हुई एक धूमिल आकृति की–जिसके चारो ओर आँधी और वर्षा का भीषण प्रहार हो, पर जो फिर भी दृढ पग बढाये जा रही हो प्रतिक्षण नई दिशा, नई भूमि और नये नक्षत्रो को पीछे छोडते हुए, पहाड की उच्च-तम शिला पर ध्यान केन्द्रित कर।

पू० देवकुमार दादा जी और धर्मकुमार दादा जी दोनो, हमारी दोनो दादी जी लोगो को छोड कर छोटी अवस्था में ही चले गए थे—हमारा स्टेट कोर्ट आफ वार्ड्स के अन्तर्गत चला गया—ऐसे कठिन समय में क्या भविष्य था मेरी इन वहूजी का ? १२ वर्ष की असहाय विधवा रोने के सिवा कर ही क्या सकती थी—रो-रो कर शरीर को केवल व्यवहार धर्म से गला देने के सिवा कोई अन्य रूप ही नही था उसके लिए—सफेद साडी का हमारे समाज में और कोई कर्त्तव्य ही नही। पर ये निराली थी—इन्होने आँसू बहाये पर ये व्यर्थ नही गए—इनकी आँखो के पानी ने दूसरो के दुख धोये—अनगिनत मुखो पर स्मित की रेखा खीच दी और अब त्याग और ज्ञान के बल पर इन्होने अपने को इतना ऊँचा उठा लिया है कि हम उनकी पूजा करना चाहते हैं पर इसमें भी अपने को असमर्थ पाते है। मथुरा की इन मीरा ने भक्तिरस के गीत तो नही रचे—नही वह नाचीं—पर इनके जीवन का प्रत्येक पद उसी अपार्थिव सगीत से अनुप्राणित है—वह स्वय ही उस चिरनवीन नृत्य के कम्पनो से विलिप्त है।

अब तो हमारा परिवार बहुत बडा हो गया—हम सब कितने ही भाई बहन है—वहूजी के पौत्रो को भी अब पुत्र हो गए हैं–हम सब सुखी है–शिक्षित हैं—रहने को शहर का सबसे ऊँचा मकान,

सवारी के लिए मोटरे है, वडा व्यापार है । सव कहते है कि हमारा यह देव-परिवार अत्यन्त भाग्यशाली, है—समृद्ध है—पुण्यवान् है—पर अगर हमसे पूछा जाये तो हम सव यही दुहरायेंगे कि हमारी सवसे वड़ी सम्पत्ति इन परिग्रहो मे नही—हमारा गौरव इनमें नही—हमारा सुख इनमें नही—हमारा सारा आनन्द इस अनुभूति में है कि हम उस परिवार के सदस्य है जिसके पावन-प्रदीप वावू देवकुमार जी दादा जी और हमारी वहूजी है—ये दोनो हमारे कुल की महत्ता और समृद्धि के आन्तरिक आधार है ।

वे कभी-कभी ही हमलोगो के पास शहर से दूर स्थित आश्रम से आती है—आश्रम और ये दोनो उदासीन है । अभी कुछ वर्ष पहले करीव १० साल तक मुझे यह भी नही पता था कि ये हमारी बहूजी हैं—इतना विरक्त स्वभाव है इनका कि दादी के कोई भी गुण इनमें नही—ये आती और चली जाती—जैसे किसी से ममता ही न हो इनको । अव मुझे पता चला कि यह दिखावटी है—घर मे कोई वीमार हुआ तो १५ नम्वर से कई वार नियम से टेलीफोन आता है—खुद भी कष्ट कर चली आती है विना अपनी असुविधा का ध्यान किये । फिर भी वे औरो से पूर्णतया भिन्न है । इनकी ममता भी अनुशासित है । अभी हाल ही में सरोज भैया की दुखद मत्यु के समय सव धीरज खो वैठे और रोने लगे—लेकिन इन पर कदाचित् ही मैने आँसू के चिह्न पाये—हाँ, उनके गम्भीर मुख पर विषाद की गहन तम रेखा थी—स्तव्ध शाति थी—धीमी आहें और असहाय कठोर मुद्रा—जैसे जीवन-मत्यु के दर्शन में उलझी हो ।

वह दिन मुझे कभी नही भूलेगा जव मै औरो के साथ वहूजी के सग मन्दिर में पूजा कर रहा था । न जाने क्यो उनके साथ पूजा करने में मुझे स्फूर्ति मिलती है—मेरे सामने पूजा का महत्व वढ जाता है । मालूम होता है कि एक अकृत्रिम चैत्यालय में अर्चना कर रहा होऊँ, स्वर्ण कलशो से, मणिदीपो की ज्योति में । उनके सामीप्य से मुझे देव-मूर्त्ति समीप लगती—उनके साथ-साथ जव, कर जोड़ मस्तक नवाता तो देव-चरणो के अद्भुत स्पर्श का अनुभव होता । शायद उनका स्वर्गिक स्वर और उनके पवित्र अवयव मुझ जैसे क्षुद्र निर्बल और वाहुवली के वीच सेतु का कार्य करते है ।

वहूजी के वारे में लिखने के समय धर्मकुंज की याद आ ही जाती है—वह आश्रम पू० दादा जी के नाम से आवद्ध है—और सचमुच वहूजी के अन्तर का वाह्य-रूप है । वे उसके अणु-अणु में वे समायी हुई हैं । अभी भी वहाँ की कठोर, सूनी, ऊँची दीवारो में और ऊपर मँडराते वादलो में उनका एकाकी हृदय सिसकियाँ भरता है—रोता है—और समाज के नियमो से पगु वनी अवोध सुकुमारियो के आँसुओ में अभी भी इनका विधवा-हृदय निरन्तर चीत्कार करता है—यही चीत्कार उन्हें अभी भी सतत परिश्रम की प्रेरणा देती है जिससे यह आश्रम चला जाता है । मुझे तो, जव कभी मै आश्रम जाता हूँ, दूर ही से उसकी चहारदीवारी को देख ऐसा लगता है कि वहूजी वैठी सामायिक कर रही है—वडे-वडे आम्र-वृक्षो में घिरी हुई वहाँ की पावन सन्ध्या में, योगासन में स्थित पत्थर की उस विशाल, भगवान् की मूर्त्ति में मुझे उन्ही की नैसर्गिक सुन्दरता, तपस्या, और शान्ति के वृहत् रूप के दर्शन होते है—वह प्रतिमा उन्हीं की आत्मा की प्रतीक लगती है ।

अतुल कुमार जैन बी० ए०, एल-एल० बी०

एकत्र समन्वय

प्रभात वेला थी। ठडी ठडी वायु के झोको के साथ नन्हें-नन्हें जल-कण मेरा मुख-प्रक्षालन कर रात्रिजन्य तन्द्रा का उन्मूलन कर रहे थे। वे चाहते थे मेरे वाह्य का प्रक्षालन कर अतस् को पावन वना देना। झरोखे से मेरी दृष्टि हरित दूर्वादल पर जा पडी, किन्तु उसके गुजन को पारकर मेरा मन किसी अन्य समस्या में उलझ गया। मैंने देखा माँ श्री का शरीर क्षीण है किन्तु आभा—तेज अपार। "मानव मानवता की खोज में रत रहता है"—विचार मेरे हृदय मे आया और मचाने लगा उमड-घुमड कर तूफान। मेरा कौतूहल जगा और जा टकराया विचारशैल के अचल से। क्या सचमुच माँश्री को कर्मठ वनानेवाली कोई विद्युत्-शक्ति है ? या दैवी वरदान है ? अथवा कोई उद्देश्य-प्रेरक स्तम्भ है ? या अन्य कोई कारण है ? इत्यादि प्रश्न मानस पटल पर अकित होने लगे। विजली की कौंध के साथ-ही-साथ मेरा अनुभव गहनतम और विचार उत्तरोत्तर गम्भीरतर होने लगे। एव मै डूबने उतराने लगी भावनाओ के प्रलयकारी तूफान में। कुछ क्षणो तक ऊहा-पोह करने के उपरान्त मेरा मन सतुलित हुआ और अन्त करण मे सतोष का स्मित अट्टहास। मैं उछल पडी, मेरा मन मयूर नाच उठा, यह पाकर कि माँश्री को प्रगतिशील वनानेवाली तीन शक्तियाँ हैं—उनका शरीर किसान का, मस्तिष्क विद्वान् का और हृदय साधु का।

मानव-प्रवृत्ति नवीन योजनाओ का पुज है। वह कल्पना के रगीन परो पर आसीन हो प्रकृति के अणु-अणु से जीवनोत्थानकारी आशा-सुमनो का चयन करती है। विश्वोपवन में उसका हृदय-कोकिल कूज उठता है, ताप, दैन्य, पीडा और घृणा का बीभत्स दृश्य देख। विश्व-रगमच पर उसकी जीवन-यवनिका मद-मद झोको से झूलती रहती है और शनै -शनै शक्ति, विद्वत्ता एव साधुता का छायाचित्र उस पर अकित होता रहता है। शरीर शास्त्रवेत्ताओ ने तथा अध्यात्मशास्त्र ज्ञाताओ ने इसी कारण मानव को शक्ति, ज्ञान और आचार का सचित कोष कहा है।

शक्ति से तात्पर्य मेरा यहाँ उस शक्ति से है जो दीनो का त्राण और दुष्टो का सहार करे। वह परिश्रम जिसमें जीवनतत्त्व पिसकर एक अमृतोपम रसायन वन जाये। जिसका पान कर त्रसित, बुभुक्षित, सुख-शान्ति से चैन की वशी बजाएँ। आमोद-प्रमोद में मस्त हो झूमने लगें।

माँश्री का हृष्ट-पुष्ट वलिष्ठ शरीर शरणागत-पालक, सेवापरायण एव अतस् करुणा का परिचायक है। उसमे कृषको की भाँति अपने को हवन कर अन्य को बनानेवाली शक्ति विद्यमान है। स्व-

बलिदान करनेवाली त्याग की आभा चमत्कृत है एवं निस्वार्थ भाव का अजस्र स्रोत प्रवाहित है। क्षीण एवं शुभ्रकान्तिमय वपु में धैर्य, क्षमता और ममता की त्रिवेणी अबाधगति से प्रस्तुत है। वीरत्व की शान्त ज्योत्स्ना में रुग्णों की परिचर्या रह-रह कर आलोक फेंक रही है।

मैंने माँश्री को दिन में १०–१२ घंटे से लेकर १६–१७ घंटे तक कार्य करते देखा है। अनवरत श्रम करना उनके जीवन का जैसे लक्ष्य है। यह बात नही कि वे मानसिक श्रम ही करती हो, किन्तु शारीरिक अध्यवसाय भी। आप रसोई की सारी वस्तुओ का शोधन स्वय करती हैं। सभी वस्तुओ को यथास्थान रखती हैं। यदि क्रम में व्यतिक्रम तनिक भी हुआ तो आप स्वय काम में जुट जाती हैं और वस्तुओ को क्रमबद्ध कर ही साँस लेती है। पत्रादि अपने हाथो लिखना, हिसाब-किताब देखना, विश्राम की ६०–७० छात्राओ के खाने-दाने का प्रबन्ध करना तथा अन्य समयोचित कार्यों को आप सदैव सचेष्ट रह करती रहती हैं।

आपका तेज, अनोखी सूझ, नवीन योजना, प्रत्युत्पन्न बुद्धि विद्वत्ता के परिचायक हैं तथा गभीर विचार, तीव्र दृष्टि, मर्मस्पर्शी शब्दावलि आपकी अलौकिक प्रतिभा की सूचक है। मस्तिष्क क्या है ? वह जिसमें कवि तुलसीदास के समान विषम परिस्थितियो में लगने वाले थपेडो को सभाल कर रखने की क्षमता हो, उन्हें (!) बुद्धिरूपी तराजू पर तौलकर विचारमयी छैनी से काट-छाट कर स्वानुकूल बना तह जमाकर रखने का कौशल है। जमा से तात्पर्य यह नही कि वे उल्टी, तवे पर जलने-वाली रोटी की भाँति जलकर भस्मसात् हो जायें, अपितु उनका निरीक्षण उस सूक्ष्म, कला-कोविद दृष्टि से होता रहे जो आवश्यकता पडते ही पहिचान कर उचित प्रयोग में लगाये जा सकें।

विचार-प्रवण माँश्री की विचारशक्ति और प्रत्युत्पन्न बुद्धि के लिए आपकी दैनन्दिनी में प्राप्त एक ही निदर्शन पर्याप्त है। १६ वर्ष की अवस्था में वैधव्य जीवन का भार लिए आप बृन्दावन से आ रही थी। भाग्यवश आप डब्बे में अकेली थी और ट्रेन अपनी धुन में मस्त हो तेजी से चली जा रही थी। आपने देखा एक गुण्डा गवाक्ष पर आ खडा हो गया है। उसकी दृष्टि से आपने उसके अभिप्राय को ताड लिया एव सतर्क हो हाथ में लोटा उठा लिया। अत्याचारी ने देखा नवयौवन सुकुमार सुमन में विवेकपूर्ण बुद्धि और अपरिमित साहस की मँहक झिडकी मार रही है। वह सह न सका उस मौन आघात को। और भागा साँस रोक कर। आपकी विचार शक्ति, ज्ञान शक्ति एव स्मरण शक्ति के प्रमा-णार्थ एक बार में २० से ३० तक प्राकृत गाथाएँ धर्मशास्त्र की पढ लेना और जीवन में सदैव के लिए जमा कर लेना कम नहीं। प्राकृत व्याकरण का अध्ययन नही करने पर भी आप संधि-विच्छेद कर अर्थ खोलने में सिद्ध-हस्त हैं।

विदुषी माँ चिरायु हो, यही कामना है। युग-युग तक हम नारियो का पथ-प्रदर्शन करती रहें, यही भावना है।

—शरबती देवी न्यायतीर्थ

सन्तों के शुभाशीर्वाद

और

श्रद्धाञ्जलियाँ

सन्तों के शुभाशीर्वाद

हमारा जैन-महिला-समाज श्री ब्र० प० चन्दाबाई जी के नेतृत्व मे सफलता प्राप्त कर रहा है। उनका त्याग, तप, सयम और ज्ञानाराधन अद्वितीय है। उनकी अध्यक्षता मे ३२ वर्ष पूर्व श्री जैन-बाला-विश्राम की स्थापना हुई थी और यह हर्ष का विषय है कि आज भी यह सस्था सफलता-पूर्वक समाजसेवा कर रही है। वे दीपक की भाति अपने जीवन को दूसरो के लिए प्रोज्वलित रखती है। अत उनका प्रत्यक्षीकरण मन मे प्रकाश की एक झलक दिखाता है और हृदय हर्षातिरेक से भर जाता है। वे चिरायु हो और सदा उनसे प्रकाश की किरणे समाज पाता रहे, यही कामना है।

—श्री १०८ मुनि, वीर सागर संघ

मै श्री शान्तिमूर्त्ति चन्दाबाई के समागम से इस निर्णय पर पहुँचा कि आपके दर्शन-मात्र से ज्ञान का प्रकाश और शान्तिसुधा का आस्वाद आता है—अत आपको चन्द्र की उपमा दी जावे तो उचित नही, क्योकि चन्द्रमा तो बाह्य प्रकाश और शान्ति का दाता है किन्तु आपके द्वारा आभ्यन्तर ज्ञान और शान्ति मिलती है।

—(१०५ क्षुल्लक) गणेशवर्णी

श्रद्धाञ्जलियाँ—

राष्ट्रपति-भवन,

नई दिल्ली

श्री चन्दाबाई उन इनी-गिनी बिहार की महिलाओ मे है जिन्होने जन-सेवा मे बहुत. समय लगाया है और उनकी स्थापित सस्थाएँ अभी भी काम कर रही है। वह एक आदर्श महिला है और मुझे यह जानकर कि उनको अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित करने का निश्चय किया गया है, खुशी हुई। मै ग्रन्थ के व्यवस्थापको को धन्यवाद देता हूँ और इस काम मे उनकी सफलता चाहता हूँ।

प्रत्येक युग मे समाज के निर्माण मे पुरुषो ही ने नही वल्कि स्त्रियो ने भी कम हाथ नही बँटाया है। वडी दिलेरी और तत्परता के साथ मनुष्यता की सेवा मे ये अग्रगामी रही है। यह कहना अत्युक्ति नही होगा कि समाज के कितने क्षेत्रो में महिलाओ ने पुरुषो से अधिक उपयोगी कार्य किया है। प्रकृति ने उनमें कितनी ऐसी विशेष प्रवृत्तियाँ प्रदान की है जो पुरुषो को प्राप्त नही। इन गुणो के कारण वे समाज को सहृदय, न्यायनिष्ठ और सुखमय वनाने में अधिक समर्थ हो सकी है।

इन देवियों में श्रीमती चन्दावाई जी का नाम अत्यन्त ही हर्ष तथा गर्व के साथ उल्लेख किया जा सकता है। इस विदुषी देवी के सम्वन्ध में जो कुछ लिखा या कहा जाय सब थोड़ा है। जिस देवी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा, शक्ति, सहृदयता और कार्यपटुता द्वारा केवल स्त्री-जाति का ही नही, वरन् सारे समाज का इतना वडा उपकार किया है उसके लिए आभार-प्रदर्शन करना उचित ही है।

पिता की, परिवार की दुलारी, वैभव में पली देवी के सुख-सुहाग की लाली यौवन के उषा काल मे ही मिट गई। विधाता वाम हो गये। उनकी चूडियाँ टूट गई। परन्तु वह अवला नही सवला नारी थी। वह वह स्त्री नही जो अपने दुःख से जग को दुःखी करे वल्कि अपने हृदय की आह को मानव मात्र की कराह के मल्हम-पट्टी करने में उन्होने भुला दिया।

सतत परिश्रम, लगन और उत्साह के साथ ये स्वाध्याय द्वारा अपनी योग्यता वढाने में जुट गई। इन दूरदर्शिका नारी ने अपनी सूक्ष्म सूझ द्वारा सर्वप्रथम नारी-समाज के नव-निर्माण की कल्पना की, कल्पना ही नही वल्कि अपने अथक परिश्रम द्वारा उसे बहुत अशो में पूर्ण भी किया।

जिस समय समाज की जर्जरित अवस्था का विचार लोगो के दिमाग के बाहर की वात थी उस समय उन्होने उसकी दशा का अनुभव किया और सुझाया कि नारी के विकास के बिना समाज सम्यक् समाज नही कहा जा सकता। स्थान-स्थान पर सभाएँ की, लोगो को ज्ञान दृष्टि दी और दी अपने विचार का प्रतीक कन्या पाठशाला आरा और अजमेर मे।

इसके अनन्तर इनका कदम अ० भा० दि० जैन-महिला-परिषद् की स्थापना कर उसके सगठन को सुदृढ बनाना था। बड़े उत्साह के साथ महिलाओ का सगठन प्रारम्भ किया और उसमे भी सफलता प्राप्त की। यही नही इस देवी ने अपनी अनुपम शक्ति द्वारा साहित्य की भी सेवा की। सोचा इस विदुषी नारी ने कि साहित्य-समाज का दर्पण है। जव तक इसका उत्थान नही होगा तव तक देश, समाज और मानव-मात्र का कल्याण नही। अपनी कहानी, कविता और निवन्धों द्वारा जनता के हृदय पर असीमित प्रभाव डालते हुए उसे वास्तविकता का ज्ञान कराया और साथ ही साथ शिक्षा-प्रद पुस्तको का अभाव भी दूर किया।

इस देवी की सद्भावना में धर्म की मात्रा भी किसी प्रकार कम नहीं। धर्म को वाह्य आडम्बर न समझ इन्होने हृदय में जगमगाती हुई एक अलौकिक ज्योति मानी और अपने आचार-

विचार, शक्ति और दृढ़ता द्वारा सिद्ध कर दिया कि यह उसी दिव्य शक्ति की देन है। सीधे-सादे सौम्य रूप में धवल स्वच्छ खादी के भीतर एक ऐसी आत्मा है जिसमें माँ का हृदय, धरित्री की क्षमा, सागर की विशालता, कवि की कल्पना और धर्म के प्रति सच्चा अनुराग है।

इन्होंने शरीर को साधना, चिन्तन, मनन और परिशीलन में तपा कर अन्तर की विषणन ज्वाला में विष को अमृत बना दिया। इनके व्यक्तित्व पर कवि जयशंकर प्रसाद की कामायनी की वह पंक्तियाँ कितनी उपयुक्त घटती हैं:

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नभ पग तल में
पीयूषस्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।"

जो कोई भी इनसे मिलता है उससे वह इतनी उदारता, स्नेह और सहृदयता के साथ बात करती हैं कि वह कृत-कृत्य हो जाता है। हो भी क्यों न, इस देवी में तो माँ की ममता और समाज की सेवा कूट-कूट कर भरी है।

इन्होंने अपने जीवन को अपने मैके और ससुराल के धन-वैभव में न फँसाया बल्कि उसका त्याग कर अपने समस्त जीवन को समाज की धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक और राजनैतिक सेवा में बड़े उत्साह और लगन के साथ बिता दिया। अत हम इस दिव्य देवी के प्रति अपना अगाध स्नेह तथा श्रद्धा प्रकट करते हैं। ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह देवी चिरायु रहे और आशा करते हैं कि उनके व्यक्तित्व के आदर्श से हमारे समाज तथा देश की अन्य नारियाँ भी शिक्षा लेकर उसी मात्रा में मानव-मात्र का कल्याण करने का व्रत लेंगी। आज अपने देश में इन जैसी देवियों की ही आवश्यकता है जो पुरुषों के साथ कधे से कधा मिला कर समाज की प्रत्येक कठिनाई को दूर करने में सदैव तत्पर रहे।

इन्होंने अपने अदम्य साहस, विद्वत्ता और परिश्रम द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि भारत की देवियाँ आज भी वही देवियाँ हैं जिनका वर्णन इतिहासों, पुराणों और प्राचीन ग्रन्थों में कथा के रूप में मिलता है। अत मैं इस देवी के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

—जगजीवन राम
सवाद-वहन-मंत्री
गणतंत्र भारत

श्री चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ का जो आयोजन किया गया वह सर्वथा उचित है। सेवा-भावी, त्यागी और कर्मठ कार्यकर्ताओं की समाज को बड़ी आवश्यकता है। अभी तक नारी समाज सेवा का क्षेत्र भारत में प्राय अछूता है। नारियों की जागृति और शिक्षा की ओर नेताओं का ध्यान भी कम ही गया है।

इस क्षेत्र में माँश्री ने आदर्श मार्ग बताया है। एक नैसर्गिक घोर आपत्ति को दिव्याग्नि समझकर उन्होने अपने जीवन को उसमें समर्पण करके शुद्ध सुवर्ण बना दिया। साथ ही साथ त्याग और सेवा से चन्दन का परिमल चढा दिया।

चाहता हूँ कि आपका प्रयत्न सफल हो।

—आर० आर० दिवाकर

राज्यपाल, बिहार राज्य

स्त्रियो के उद्धार के लिए श्रीमती चन्दाबाई ने बडा स्तुत्य कार्य किया है। ऐसे कार्यकर्त्ता सारे भारत में काम करे, ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है।

—कन्हैया लाल माणिक लाल मुन्शी

राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

प० चन्दाबाई-अभिनन्दन-ग्रन्थ के समाचार से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। ऐसी देश-सेविका और समाज-सेविका का अभिनन्दन अवश्य ही होना चाहिए। इस अवसर पर मैं भी अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ। चन्दाबाई ने जैन-समाज में ही नही बल्कि भारत के समस्त नारी-समाज में अपनी सेवाओ के द्वारा आदर का स्थान प्राप्त किया है। उनमें सेवा करने की सद्वृत्ति है, नेतृत्व करने अथवा नाम कमाने या पद प्राप्त करने की लिप्सा या वासना नही। वास्तव में सेवक का पद नेता के पद से कही अधिक शान्तिदायक और उपयोगी होता है।

भारतीय समाज को और मुख्यत: नारी-समाज को आज शिक्षा और शिल्प की नितान्त आवश्यकता है। चन्दाबाई ने भी इन्ही महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओ को पूर्ण करने की ओर ध्यान दिया है। स्वार्थपरता और यश-वैभव की महत्वाकाक्षा तो सबमें होती है लेकिन सेवा की महत्वाकाक्षा रखने वाले विरले ही होते हैं। काश! भारतीय नारी-समाज में चन्दाबाई के समान समाज-सेविकाएँ पर्याप्त संख्या में होती। उनका आदर्श सभी भारतीय महिलाओ का पथ-प्रदर्शक बने। भावी नारी-समाज उनसे प्रेरणा प्राप्त करके अधिकाधिक सेवा और समुन्नति के पथ पर अग्रसर हो।

मेरी शुभकामना है कि चन्दाबाई दीर्घायु प्राप्त करके और स्वस्थ रहकर देश और समाज की अधिक से अधिक सेवा करे।

—डाक्टर अनुग्रहनारायण सिंह।

अर्थ मन्त्री, बिहार राज्य

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि भारतीय जैन-महिला-परिषद् ने श्री विदुषीरत्न ब्र० प० चन्दाबाई-अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार करने का निश्चय किया है। श्री० ब्र० प० चन्दाबाई जैन ने साहित्य, शिक्षा, महिला जागृति एव नारी-समाज की जो सेवाएँ की है उनसे कौन परिचित नही है।

ऐसी परोपकारिणी तथा देशभक्त साध्वी का सम्मान करना हमलोगो का कर्तव्य है।

मै आपके सद्प्रयत्न की सफलता चाहता हूँ।

—मिश्री लाल गंगवाल

प्रधान-मत्री, मध्यभारत

ब्रह्मचारिणी प० चन्दाबाई जैसी परम साध्वी तथा विदुषी देवी पर न केवल जैन-समाज वरन् सारा देश गर्व कर सकता है। उनके आदर्श चरित्र, तपस्वी जीवन, त्याग भावना और धर्म-प्रेम देश के प्रत्येक व्यक्ति को देश-सेवा के लिए प्रेरणा देगा। जैन-समाज और खास कर स्त्री-जाति की सेवा करने में उन्होने अपना सारा जीवन ही लगा दिया। वे स्वय एक सस्था है फिर भी उन्होने धर्म-साधना, स्त्री सुधार एव जैन-समाज के उद्धार के लिए अनेको सस्थाएँ स्थापित करके जो अतुलनीय सेवा की है वह इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगी। जैन-समाज उनके ऋण से उऋण नही हो सकता। दया की मूर्ति इस देवी ने अहिंसा और सत्य की साधना द्वारा अनेको का उद्धार किया है और कितनो में ही अपने उज्ज्वल चरित्र से सद्भावना से विवेक तथा सद्बुद्धि जागृत की है।

मुझे इस पवित्र देवी से मिलने का जब जब अवसर मिला मेरे ऊपर इस देवी के निर्मल चरित्र, तपस्वी जीवन और सरलहृदयता की छाप पडी। ऐसी देवियो का भारत में होना उसके बडे सौभाग्य का चिह्न है। पण्डिता चन्दाबाई अच्छी वक्ता और लेखिका है। लेखनी पर भी उनका अधिकार है। एक मासिक का सुयोग्यता से कई सालो से सम्पादन कर रही है और उसके द्वारा स्त्री-जाति मे जीवन तथा जागृति और धर्म-साधना की प्रेरणा जागृत कर रही है। उनकी निस्वार्थ सेवाएँ भुलाई नही जा सकती। जैन-समाज को और देश को आज इस महान् देवी के मार्ग-दर्शन तथा नेतृत्व की अभी कई सालो तक आवश्यकता है। वीर इसको शतायु करे, मै इस अवसर पर पूरी श्रद्धा के साथ देवी को अपना अभिनन्दन समर्पित करता हूँ।

—श्याम लाल पाण्डवीय

राजस्वमन्त्री, मध्यभारत

कहा जाता है कि स्त्रियाँ दया, धर्म, शूरता, वीरता, धीरता, उदारता, कोमलता, वक्तृता, परोपकारिता और सहनशीलता आदि मानवीय गुणो की मूर्ति होती है। कारण कि वे उस प्रेम की एकमात्र प्रतिमा है जो ईश्वर का ही दूसरा रूप है और जो मानवता का आधार तथा इस ससार का सरम

सार है। पुरुषो की वनिस्वत स्त्रियो में तेजस्विता और नम्रता, कर्कशता और कोमलता, कठिनता और कमनीयता, उदारता और सकीर्णता, चचलता और स्थिरता तथा क्रूरता और दयालुता आदि मधुर एव तीक्ष्ण गुणो का सामञ्जस्य अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। उनमें सभी गुण काफी मात्रा में रहते है। यही कारण है कि जिस काम को वे हाथ मे लेती है उसे ऐसी खूबसूरती के साथ पूरा करती हैं कि देखकर लोग दग रह जाते हैं, जिस ओर वे कदम वढाती हैं उसी ओर सुख-सुविधा की तूती बोलने लगती हैं, जिस ओर वे टेढी नजर से ताक देती हैं उसी ओर गाज गिरने लगता है और जिस ओर वे हँस देती हैं उधर ही फूल झडने लगता है। अर्थात् वे जिस दिशा मे मुड जाती हैं उधर ही कमाल कर दिखाती हैं, सफलता उनकी राह ताकती रहती है। श्री व्र० प० चन्दावाई जैन इसका जीता-जागता उदाहरण हैं। आप सिर्फ नारी-समाज ही के लिए नही वल्कि मानव-जाति के लिए एक आदर्श हैं।

आपके जीवन की एक-एक घटना, आपका एक-एक कार्य और आपकी एक-एक उक्ति किसी भी मनुष्य के चरित्र-निर्माण के लिए वहुत वडा साधन तो है ही, समाज के लिए अनुपम निधि भी है। १२ वर्ष की ही अवस्था में विधवा होने के वाद अपने धर्मशास्त्र के अनुसार वैधव्य दीक्षा लेकर अपने देश, समाज, धर्म और साहित्य की जो सेवा की है उससे सारा देश परिचित है। धनुपुरा (आरा) में अवस्थित श्री जैन-वाला-विश्राम आपकी समाज-सेवा का ही एक अग है। आपका स्थान पश्चिम की उन महिलाओ से कही ऊँचा है जो आजीवन अविवाहिता रहकर सेवा का व्रत लेती हैं। आपने एक तपस्विनी की तरह आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए देश, समाज तथा धर्म की जो नि.स्वार्थ सेवा की है वह सभी धार्मिक तथा समाज-सेवको के लिए अनुकरणीय है।

आप एक आदर्श समाज-सेविका होते हुए उच्चकोटि की विदुपी भी है। आपकी लिखी पुस्तकें आज के लोगो को समुचित शिक्षा तो देती ही हैं भावी सतानो को भी चिरकाल तक राह दिखाती रहेंगी। ऐसी साध्वी और परोपकारिणी माता के प्रति अपनी श्रद्धा का फूल कौन नही अर्पण करेगा। मैं हृदय से आपके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ और भा० जैन-महिला परिपद् को धन्यवाद देता हूँ जिसने कृतज्ञता प्रकाश के रूप में आपको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया है।

—अब्दुल कयूम अन्सारी।
भू० पू० मन्त्री
जनकार्य-विभाग, विहार।

जैन-महिला-परिपद् ने श्री विदुपी-रत्न व्र० प० चन्दावाई को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट [illegible]
का आयोजन किया है इसे जानकर मुझे हर्ष हुआ। जैन-समाज में आपका विशेप स्थान है [illegible]
ही नही, यदि यह कहा जाय कि आप भारत की उन इनी-गिनी महिलाओ मे से एक है [illegible]

मान शताब्दी में शिक्षा प्रचार, महिला जागृति तथा साहित्य की उन्नति में अथक परिश्रम किया है तो अत्युक्ति नही होगी । ऐसे नारी रत्न को ऐसी पूजा भेंट करना अपने में नव-जीवन का सचार करना है । इनकी गौरवमयी कीर्त्ति जैन-बाला-विश्राम धर्मकुज के रूप में आरा (विहार) में विद्यमान है । मै इस आयोजन की शुभकामना करता हूँ ।

—जगलाल चौधरी
एम एल ए विहार राज्य

श्री विदुषी ब्रह्मचारिणी पण्डिता चन्दाबाई जी को मै उसी समय से जानता हूँ जब धनुपुरा (आरा) में 'बाला-विश्राम' की स्थापना हुई और आरा नगर में जैनसिद्धान्त-भवन का उद्घाटन हुआ था । पण्डिता चन्दाबाई जी के त्याग और तप के आदर्श को ही महिला विद्यालय की उन्नति का श्रेय प्राप्त है । स्वर्गीय कुमार देवेन्द्र प्रसाद जैन के हृदय में धर्मानुराग इन्ही की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ था और फलस्वरूप उन्होने जैनधर्म और जैन-साहित्य की स्तुत्य सेवा की । जहाँ तक स्मरण है महिला-रत्न-माला, सौभाग्य रत्नमाला, स्त्रियो का चक्रवर्त्तित्व आदि पुस्तकें श्री पण्डिता जी की लिखी हुई है और इनके बहुत सस्करण कुमार जी ने प्रकाशित करवाये थे । सभी क्षेत्रो में पण्डिता जी की तपस्या के तेज से प्रकाश फैला है । भारतीय नारी के लिए उनका जीवन सर्वथा अनुकरणीय है । उनकी साधना ने उनके जीवन को पारस बना दिया है । उनकी शक्ति से अनेक व्यक्तियो का जीवन निर्मल हुआ है । सत्य, अहिंसा, विश्वप्रेम, लोकसेवा, साहित्याराधन आदि पुण्य कर्म एव शुभ आचरण का सकल्प ग्रहण करके उन्होने बडी दृढता से उस व्रत को निबाहा है । यही उनके निष्कलक जीवन का मौन उपदेश है । मै बडे आदर से उनका अभिनन्दन करता हूँ । अत्यन्त कार्यव्यस्त होने से मै सक्षिप्त शब्दो में ही इस नारी-साहित्य की लेखिका की अभ्यर्थना करता हूँ ।

—शिवपूजन सहाय ।
मन्त्री, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।

भारतीय नारीत्व की परछाई ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई की सर्वतोमुखी सेवाओ के उपलक्ष्य में अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का सुखावह सन्देश प्राप्त कर मुझे ऐसा जान पडा कि यह अभिनन्दन भारतीय नारी शक्ति की तपोमयी, त्यागमयी उस जीवन्त प्रतिमूर्ति का किया जा रहा है, जिसका जीवन और कृतित्व राष्ट्र और धर्म की शाश्वत व्याख्या है । ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई ने अन्त सलिला सरस्वती को देश के कोने-कोने में प्रकट रूप में प्रवाहित कर अपने जीवन में ही अक्षय श्रेय प्राप्त किया है । उनका यह सम्मान तो बहुत पहले होना चाहिए था । मेरा अपना विश्वास है कि माँश्री वर्तमान नारीत्व की बधाई और आगे आने वाली पीढी की जय जयकार हैं ।

—साहित्याचार्य प्रभात शास्त्री
प्रचार मन्त्री, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ।

जय मृदुल मनोहर तेज पुंज, भारत की हे विदुषी महान्
तुम जगी जमाना जाग गया, तोडे वैभव के सब बधन।
तुम उठी उठाया निज समाज, जन-जन में भर कर स्पदन
तुम हँसी हँसाये बाल-वृद्ध, मिट चले आकाक्षा के क्रदन
तुम बढी बढ चली तब समाज, तेरा माँ करते अभिनन्दन
तेरी मदु वाणी से घर-घर हो उठे अमर मधु कीर्तिमान
जय मृदुल मनोहर तेज पुज, भारत की हे विदुषी महान्

नारी समाज की मुकुट मणि, तुम से नारी गतिमान हुई
जिनवर की छाया में रहकर, तुम निर्मल चन्द्र समान हुई
तुम-सी उदार माता को पा शिक्षा भी स्वय महान् हुई
नवनीत सुखद मजुल, हे माँ ! तुम से युग की नव कीर्ति हुई
तेरी श्वासो से जैन दीप, रहता निशिवासर दीप्तिमान
जय मृदुल मनोहर तेज पुज, भारत की हे विदुषी महान्

हे तपस्विनी हे ब्रह्मचारिणी, तेरा कितना उज्ज्वल जीवन
तेरी उस निर्मल ज्योति से आलोकित जैन-जगत् का मन,
युगनिर्मात्री चन्दाबाई, सब करते तेरा अभिनन्दन
भारत का जन-जन करता है हृदय से तेरा अभिवादन
तुम अमर रहो हे तपोनिधि, करती विद्या का श्रेष्ठ दान
जय मृदुल मनोहर तेज पुज, भारत की हे विदुषी महान्

—नवीन चन्द्र आर्य

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि अ० भा० दि० जैन-महिला-परिषद् की ओर से माँश्री ब्र० प० चन्दाबाई जी जैन को उनकी सेवाओ के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। वृन्दावन की बालिका आरा में आई और उसने इसे तीर्थभूमि बना दिया। आज अपनी वृद्धावस्था मे माँश्री स्वयं एक सस्था बन गई है। उनका अभिनन्दन हमारे हृदय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। उनका त्याग, उनकी तपस्या, उनकी साधना, उनकी लगन, उनकी विद्वत्ता—सभी हमारे लिये अभिनन्दनीय हैं। वे अपने जीवन तथा अपनी वाणी द्वारा हमें सतत प्रेरणा देती रहें, जगन्नियता से मेरी यही प्रार्थना है। अभी तो वे केवल ६३ वर्ष की हैं। हमें विश्वास है वे अभी काफी दिनो तक हमारे बीच रहकर हमारे हृदय में शक्ति का सचार करती रहेगी। वे शतायु हो—दीर्घायु हो उनका आशीर्वाद बना रहे। बस।

—मनोरंजन प्रसाद
प्रिंसिपल, राजेन्द्र कालेज, छपरा

प्रान्ते विहारे रमणीयमेकम्, आरामिध पत्तनमस्ति रम्यम् ।
तस्योपकण्ठे दिशि वासवस्य, वालादिविश्रामशुभ निकेतम् ॥१॥
सस्थापयामास महामहिम्नी, कारुण्यरत्नाकरधीरबुद्धि ।
चन्द्रावती चन्द्र विनिर्मला सा विशालकीर्तिर्जयतु प्रकामम् ॥२॥
आगत्य दूरादिह सपठन्ति बाला सुशीला पठने प्रवीणा ।
स्वधर्मग्रन्थान् विविधप्रकारान्, भद्रस्वभावा महता श्रमेण ॥३॥
बाला समस्ता विनिवेशयन्ति चित्ते स्वकीये विषयान् दुरूहान ।
विस्तारयन्ति प्रवण स्वधर्मम् अहो प्रमोदावसर समेषाम् ॥४॥
नारीसमाज निखिल विचिन्त्य चिन्ता तदीये हृदये बभूव ।
अशिक्षितानाक थमुद्गति स्यादत प्रवन्ध त्वरितञ्चकार ॥५॥
ज्ञानस्य वृद्धयै पठनत पदीयम्पूर्वं यथास्यादितरन्न चेष्टे ।
ज्ञानेन सर्वं भवतीह लोके मनश्च मा प्रेरयते सदैव ॥६॥
नारीजनीन बहु पुस्तक सत् श्रमेण रम्य रचयाञ्चकार ।
अधीत्य नार्य्यो हृदि ज्ञानराशि सलेभिरे पुण्यमये स्वकीये ॥७॥
विचार्य साध्वी प्रथम पपाठ स्वधर्मशास्त्र विमल सुरम्यम् ।
ततश्च तर्कन्त्वथ शब्दशास्त्र काव्यादिक साधुतर हिताय ॥८॥
शुभेऽजमेरे नगरे मनोज्ञा सस्थापामास निजव्ययेन ।
एका हि सम्यक् किल पाठशाला परोपकाराय जगत्प्रसिद्धाम् ॥९॥
कालेन जातेन सुनिश्चित सा सासारिक यत् खलु वस्तुजातम् ।
दु खाकर तन्न सुखाय किञ्चित् अत तप साधनमेव भेजे ॥१०॥
या मानुषी लोकहिताय शश्वत् शक्ति स्वकीया व्ययते धरायाम् ।
तपस्विनी सा परिगीयमाना लोकै समस्तै र्वसुधातलेऽस्मिन् ॥११॥
हे दीनबन्धो ! भवबन्धनान्मा समोचये प्रार्थनमस्ति नित्यम् ।
न कामयेऽहृ जगतीह किञ्चित् सद्दर्शन प्रार्थयते तवैव ॥१२॥
आराध्यदेवस्य कृपाकटाक्षै सर्वेप्सित लभ्यमिहास्ति लोके ।
शरणागता मामथ दीनदीना हीना विभूते शरण त्वमेव ॥१३॥
ससारमेन खलु दु खभार विचार्य बुद्धया परिव्राजिकाऽभूत् ।
एवविध भारतभूमिभागे नारीसुरत्न विरल बभूव ॥१४॥
माङ्गल्यमूर्त्ति परम परेश विभुर्नियन्ता सकलाघहारी ।
जिनेन्द्रदेव करुणैकरूपो देव्यै यशोऽल विमल प्रदेयात् ॥१५॥

—रामसकल उपाध्याय

(विद्याभूषण, महामहाध्यापक, व्याकरण-साहित्यतीर्थ, आयुर्वेदरत्न)

यदाहि लोक समयप्रभावत सरस्वतीसङ्गमशून्य आसीत् ।
विलुप्तज्ञानान्धित-धर्मभ्रान्त विभिन्न दुष्कर्मणि सम्प्रसक्त ।।१।।
दुर्ज्ञानसक्षुब्धविवेकशून्य स्त्रीवर्गमूले पुरुषातिचार
प्रवृत्त आसीत् वचसाऽप्यगम्य सभ्रान्त दु साहसिक प्रताप ।।२।।
अबोधवालामु सीमन्तभागे त्रिषष्टिवर्षीयनरस्य लोके
श्रीशून्यशैथिल्य कराग्रभागै सिन्दूररेखाग्निशिखा इवासीत् ।।३।।
सर्गस्थितिप्राथमिकाहि नारी पतिव्रतानेकविधर्मि लोक–
दुराग्रहै निर्दलिताऽयसक्ता रुरोद दीनाप्यतुलेन्दुवक्त्रा ।।४।।
श्रुत्वै तदाक्रन्दनशब्दमस्या ससृष्टिमात्रार्तिविनाशकैश्च
सम्प्रेरित सर्वदु खान्तकारी देवाधिदेवै स्वविभूतिवर्ग ।।५।।
चन्द्रात्मिकाया अपि चन्द्रक्त्या. समाजकल्याणसमुत्सुकाया
धर्मप्रिये भारतवर्षभूमौ सृष्टि प्रशस्तस्य कुले प्रजाता ।।६।।
मनुष्यलोकेऽपि सुसीमशक्ति चन्द्रप्रभानिर्मलनिष्कलका
चन्देति नाम्ना प्रथिता गुणै सा दु खेसुखे ग्लौरिव सर्वदैका ।।७।।
तत्पितृवर्गैहि सुखोपलब्ध्यै सामाजिकै सामयिकैश्च बन्धनै
लेभे सुभद्राऽपवयस्ककान्तया वाला तदा धर्मकुमारभार्याम् ।।८।।
इत्थ समुत्कर्षविघातरूपम् विघ्न विलोक्याथ दिवौकसैर्हि
चतुर्दशेऽल्पे सुवय प्रवृत्ते भवे सुपत्यन्तरिता कृता सा ।।९।।
तथाऽप्यसौ हर्षविषादशून्या समाजकल्याणविधौ दयार्द्रा
व्रजन्तु वाला सतत सुमार्गे इत्युत्सुका ध्यानपरान्विताभूत् ।।१०।।

ध्याने प्रकाशत्वमवाप्य सेयम्
शिक्षा विना कटकितान्नूलोके
स्त्रीचेतिवुद्ध्या सुविचार्य चन्दा—
वाई सुशिक्षोपकृतौ निमग्ना ।।११।।

रसैक्नन्दैकमिते सुवर्षे पूर्वोत्तरेधन्यपुरी (धनुपुरा) भूभागे
आरानगर्या. रचित चकास्ति श्रीजैनवाला-भवन विशालम् ।।१२।।
श्रीजैनवालाभवनस्य निर्मितौ लक्ष हि द्रव्य व्ययित तया च
दत्त भगिन्या सहित व्रजेशया स्वजीवन चैव समाजकृत्ये ।।१३।।
रागादिदोषै सुसभिन्न कान्ति चर्तुदिक्षु येयम् महाशक्तिरूपा
समेषा जनाना मनोमोहमत्र विनिर्धूय कान्त्या प्रकाश प्रदेयात् ।।१४।।

सेयहि ज्योतिः सदा मानवानाम
मन सन्निविष्टा स्थिरा सस्थिता स्यात्
मन प्रार्थना ब्रह्मदत्तस्य योग्या
सदा पूरणीया नितान्तं त्वयासौ ।।१५।।

—ब्रह्मदत्त, साहित्य-वेदाचार्य

श्री चन्दाबाई जैन विहार की उन गिनी-चुनी देशभक्त महिलाओ में है, जिनके लिए विहार को गौरव है। एक उच्च और धनी परिवार की महिला होते हुए भी आपने समाज-सेवा और विशेष-कर महिला-समाज की उन्नति और सेवा का जो सराहनीय व्रत ले रखा है और जिस व्रत को वडी ही निष्ठा के साथ पिछले ३०–३५ वर्षों से पालन करती आ रही हैं, वह किसी भी समाजसेविका के लिये अनुकरणीय है। आरा के जैन-वाला-विश्राम और अन्य कई नारी सेवाकारिणी संस्थाएँ खोल कर और उनको अपना पूरा सहयोग देकर आपने महिला-समाज और नारी-आन्दोलन की प्रगति में वडी सहायता पहुँचाई है। आपका जीवन, आदर्श और कार्य, विहार के पिछले महिला-समाज के लिये विशेष रूप से अनुकरणीय है। मैं उनके अभिनन्दन के इस अवसर पर उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ और परमात्मा से उनके दीर्घ जीवन के लिये प्रार्थना करता हूँ, ताकि वे अभी वहुत दिनो तक, उपेक्षित और अनुन्नत, पर साथ ही अत्यन्त महत्वपूर्ण नारीवर्ग की सेवा करती रहें और अपनी जैसी और भी देशभक्त देवियाँ तैयार कर सकें।

—देवव्रत शास्त्री

माँश्री ब्र० प० चन्दावाई जैन उच्चकोटि की विदुषी और आदर्श समाजसेविका है। इनका जीवन त्याग एव तपस्या का महाकाव्य है। मेरी प्रार्थना है कि ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे ताकि वे अपनी बहुमूल्य सेवाओ के द्वारा समाज का अधिक से अधिक कल्याण कर सकें।

—प्रोफेसर राधाकृष्ण शर्मा
अध्यक्ष, इतिहास विभाग
राजेन्द्र कालेज, छपरा।

मेरे लिये यह परम सौभाग्य की वात है कि मुझे यह पुनीत अवसर प्राप्त हुआ है कि मैं माँश्री चन्दावाई जी को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करूँ, जिन्होने अपने वैधव्य के नारकीय जीवन को इस रूप में बदल दिया, जा जन-जीवन में और विशेषकर नारी-जीवन में मगल का उद्वोधन करने वाला वन गया।

विधि के इस विधान को क्या कहा जाय। जिस अमागलिक कार्य से व्यक्ति का जीवन यातनामय बन कर समस्त वातावरण में कालुष्य की सृष्टि करता है वही समष्टि के जीवन में दैव-योग से वरदान वनकर उतरता है—केवल दिशा निर्देश के अन्तर से।

आज आरा नगर के उस छोर पर जैन-वाला-विश्राम के नाम से, धनुपुरा के पास जो कुछ हम देख रहे हैं, वह क्या है? उसकी सृष्टि के मूल में जो रहस्य छिपा है वह कितना विचित्र है?

काश ! चन्दाबाई जी का आरम्भिक जीवन सुखोपभोग में बीता होता, तो क्या होता इसे कौन कहे, परन्तु नियति का विधान तो कुछ और था एव वही होकर रहा, जिसे होना था । वह हमारे नगर का ही नही वरन् हमारे प्रान्त का—हमारे देश का गौरव बन गया है ।

और मेरा सौभाग्य यह है कि मैं उसी नगर का एक नागरिक हूँ जिसमें श्री चन्दाबाई जी जैसी देवी उसी युग में अवतीर्ण हुईं, जिसमें मैं भी हूँ ।

इसलिए श्रीमती चन्दाबाई जी के श्री चरणो में मैं अपनी अकिञ्चन श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए भगवान् से निवेदन करता हूँ कि वह देवी जी के जीवन को दीर्घ करे ताकि उनकी तपस्या का फलोपभोग हम कर सकें । साथ ही इस अभिनन्दन-ग्रन्थ के सयोजको को इस सुन्दर कार्य के लिए बधाई ।

—रघुवंश नारायण सिह

सपादक—भोजपुरी, आरा ।

चरणो में शतबार प्रणाम

हे करुणा की जीवित प्रतिमे? गौरवमयी पूर्ण निष्काम

चरणो में शतवार प्रणाम

नारी हित बन दीप जली तुम

पतझड में बन सुमन खिली तुम

पा प्रकाश, सौरभ नन्दन का हुआ धन्य, हर्षित भू-धाम

चरणो में शतवार प्रणाम

दुख की ज्वाला में तप-तप कर

लिये धैर्य सम्बल, गल-ढलकर

नारी के अज्ञान-दशानन हित तुम स्वय बन गई राम

चरणो में शतवार प्रणाम

पावन त्याग, परिश्रम, साहस

बना तुम्हारा अब उज्वल यस

जिसका भव्य रूप यह जग में मूर्तिमान 'बाला-विश्राम'

चरणो में शतवार प्रणाम

—कालू राम 'अखिलेश'

मांश्री चन्दाबाई जी को मै किन शब्दो मे श्रद्धाञ्जलि अर्पित करूँ, यह मेरी समझ में नही आता। आपकी पावन चरणधूलि का स्पर्श पा, आज मै पण्डितम्मन्य बन गया हूँ। मांश्री ने बिहार में भारतीय सस्कृति के प्रचार के लिए जो अथक श्रम किया है, उसके लिए बिहार आपका आभारी रहेगा। आपने केवल महिला-समाज का ही अभ्युत्थान नही किया है, बल्कि अनेक नवयुवक और वृद्ध आपके सदुपदेश और परामर्शों से जीवन का निर्माण कर चुके है। मेरी यह माँ अनेक वर्षों तक इस भगवान् महावीर के बिहार को अपने त्याग और सेवा का पाठ पढाती रहें, यही मेरी हार्दिक कामना है।

—वाचस्पति त्रिपाठी
आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ

प० चन्दाबाई जी ने अल्पवय में ही वैधव्य जीवन पाकर भी अपने जीवन को पवित्र और सेवामय बना कर महिला-समाज के समक्ष एक अनुपम अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। 'दि० जैन महिला-परिषद्' और 'महिलादर्श' पत्र द्वारा आपने महिला-समाज में जागृति, ज्ञान और सत्सस्कार की वृद्धि का अपूर्व कार्य किया है। 'जैन-बाला-विश्राम' की स्थापना करके उसमें धार्मिक, संस्कृत एव अन्य लोकोपयोगी शिक्षण के प्रबन्ध के साथ नारी-जाति के जीवन-स्तर को उन्नत बनाने की ओर तन, मन और धन से निरन्तर आप तत्पर रहती है। यह देखकर आपके प्रति मेरा हृदय श्रद्धा और भक्ति से भर उठता है। आज मै अपने और अपने परिवार की ओर से श्री जिनेन्द्र प्रभु से उनके जीवन को चिरायु बनाने की कामना करता हूँ और हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

—(राव राजा सर सेठ) सरूपचन्द्र जी हुकुमचन्द, नाईट
इन्द्रभवन कोठी, तुकोगज, इन्दौर।

श्रीमती विदुषी ब्र० पण्डिता चन्दाबाई जी के नाम से जैन-समाज भलीभाँति परिचित है। उन्होने दि० जैन-महिला-समाज की जो असाधारण एवम् अनवरत सेवाएँ की है उन्हें कभी नही भुलाया जा सकता। सामाजिक तथा सास्कृतिक क्षेत्र में नारी-समाज के उत्थान-कार्य मे आपके द्वारा दिये गए महान् योग के कारण ही आज हमारा महिला-समाज जागृत है। उनके द्वारा स्थापित बाला-विश्राम आरा, समाज की उन आदर्श सस्थाओ में से है जो अब तक हजारो सुसस्कृत समाज-सेविकाओ को तैयार कर चुकी है। समाज-सेवा के लक्ष्य को लेकर उन्होने नि स्वार्थ भाव से जो सेवा-व्रत धारण किया है वह अनुकरणीय एवम् सराहनीय है। ऐसी नारीरत्न का हमारे बीच में होना समाज के लिए गौरव का विषय है। उनका जीवन प्रारम्भ से ही धर्ममय एवम् सयमपूर्ण रहा है, त्याग एवम् धर्म-निष्ठा में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। उनके प्रति मेरी असीम श्रद्धा है।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि उनके द्वारा की गई महान् सेवाओ के उपलक्ष्य में उन्हें अभि-नन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। भारतीय सस्कृति में कृतज्ञता-प्रकाशन की जो सुन्दर परपरा है, उसे निभाने के हेतु किए गए इस प्रयास की मैं हृदय से सराहना करता हूँ।

—भागचन्द्र सोनी

हमें यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि श्रीमती विदुषी ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी आरा को उनकी सामाजिक एव धार्मिक सेवाओ के उपलक्ष्य में उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। यह सभी जानते है कि रत्नो की खानि में से ही रत्नो का प्रादुर्भाव होता है। बिहार प्रान्त के आरा नगर में स्वर्गीय बाबू देवकुमार जी का घराना जैन-समाज में प्रसिद्ध है, इस घर पर लक्ष्मी तथा सरस्वती की सुखद छाया सदा से रहती आई है। श्रीमती विदुषी ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी इसी परिवार की महिलारत्न हैं। आप स्वर्गीय बाबू देवकुमार जी की अनुजवधू हैं। लघु वय में आपको वैधव्य-दीक्षा मिली। इस दुखमय अवस्था को आपने कैसे आदर्श रूप से स्वय अभ्युदय का साधन बनाया और आपने जो सामाजिक व धार्मिक सेवाएँ की वह भी किसीसे छिपी नही है। आपने अपन आपको आत्मविश्वास की भूमिका पर सरस्वती की कृपापात्र बनाया, और फिर ज्ञानाराधन के सत्य सुन्दर रूप सच्चारित्र से अपने आपको विभूषित किया और सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये—इस तरह आप ने उत्थान के लिए महिला-ससार के लिये एक सुन्दर आदर्श रखा।

आपने महिलाओ में जागृति की ज्योति जगाने के लिये बाला-विश्राम की स्थापना की। जिसमें रह कर हजारो महिलाओ ने अध्ययन कर अपने जीवन को सफल बनाया एव आपकी सेवा, त्याग और तपस्या से प्रभावित होकर अपने जीवन को समुज्ज्वल बनाया तथा अपने पैरो पर खडी होकर सम्मान के साथ अपना जीवन व्यतीत कर रही हैं।

त्याग, तपस्या और सेवा से हर कोई प्रभावित हुए बिना नही रहता। आपकी विद्वत्ता भी अपूर्व है, महिला-समाज में आप अद्वितीय रत्न हैं।

यद्यपि मुझे आपके निकट में रहने का विशेष सुअवसर प्राप्त नही हुआ किन्तु परम पूज्य जगद्वद्य चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शातिसागर जी महाराज के आत्मत्याग से उत्पन्न हुई परिस्थिति को सुलझाने में आपने दिल्ली पधार कर जो प्रयत्न किया उन चद दिनो में आपके सपर्क में रहने का सौभाग्य मिला। आपके त्याग, तपस्या से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। आपका साहस, उत्साह और निर्भीकता सराहनीय है।

आपने महिलाओ मे लेखन-शक्ति बढाने के लिये जैन-महिलादर्श नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित की जो अब भी महिलाओ में जागृति उत्पन्न करती रहती है। आप ३२ वर्षों से उसकी सपादिका हैं। आप जैसी विदुषी महिलाओ से समाज गर्व एव गौरव अनुभव करती है।

आपने समाज-सेवा के साथ देश और राष्ट्र की सेवा मे हाथ बँटाया है। आप प्रारम्भ से ही खद्दर पहिनती हैं और दूसरो को भी इसके लिये उपदेश एव प्रेरणा देती रहती हैं। हम श्री जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करते है कि आप दीर्घकाल तक जीवित रहकर धर्म एव समाज की इसी प्रकार सेवा करती रहें।

—परसादी लाल पाटनी

श्रीमती चन्दाबाई जी ने अपने त्याग, तप और ज्ञान द्वारा जैन-नारी-समाज में जागृति का अद्‌भुत कार्य किया है। चिरकाल से घोर अन्धकार में पडे हुए जैन स्त्री-समाज में शिक्षा-प्रचार के लिये उन्होने अपना सारा जीवन लगा दिया है। अत. वे निश्चय ही सबके लिये पूजनीय और अभिनन्दनीय हैं। मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

—नाथूराम प्रेमी
(हिन्दीग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई—४)

सीमाहीन मिला दुखियो को,
स्नेह-सिक्त मातृत्व तुम्हारा।
सदा बहाई तुमने सब पर
सरल - सरस करुणा की धारा।
तुमने परहित काज हर्ष से,
मागी घर-घर जाकर भिक्षा,
किन्तु सुलभ कर ही डाली—
बन्दिनि नारी को हित शिक्षा।
आज तुम्हारे ही प्रयत्न से,
ज्ञान-सूर्य का यह प्रकाश है,
हुआ तुम्हारे ही द्वारा,
नारी का यह बौद्धिक विकास है।
तुम अनेक-आश्रय-विहीन,
अबला-अनाथ की आश्रयदाता।
तुम अनेक निबलों की सम्बल
तुम अनेक दुखियो की माता।
हे करुणा की मूर्त्ति!
तुम्हें श्रद्धायुत वन्दन,
पूज्ये विदुषी रत्न,
तुम्हारा शत अभिनन्दन।

—'नीरज'

श्रीमती विदुषीरत्न माननीया ब्र० पण्डिता चन्दाबाई जी समाज में एक आदर्श नारी हैं। वे संस्कृत की मर्मज्ञ विदुषी हैं। सम्पन्न वैष्णवकुल में जन्म लेकर समाज-प्रसिद्ध वैभव-सम्पन्न दि० जैन कुल में गृहाधिकारिणी बनी। आप सप्तम प्रतिमा के व्रत लेकर विशिष्ट धर्मपरायण एव आदर्श नारी

बन गई है । आपने अपना जीवन तो पवित्र बनाया ही है साथ ही बाला-विश्राम नामक सस्था का संस्थापन एव सचालन करके समाज के अभिन्न अग नारी समाज का भी आप कल्याण कर रही है, विशेष बात यह है कि—पञ्चामृताभिषेक, स्त्री द्वारा अभिषेक आदि शास्त्रोक्त विधि-विधान का मार्ग आप प्रसारित कर रही हैं । दि० जैन महिलादर्श नामकी एक मासिक पत्रिका का सपादन भी बडी योग्यता के साथ आप कर रही हैं । इसलिए नारी-समाज में आप एक उल्लेखनीय योग्य विदुषीरत्न हैं । आप वर्तमान मुनिगण में भी पूर्ण श्रद्धा रखती है । विशेषकर परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर महाराज ने जो ३ वर्ष तक अन्न त्याग किया था उस समय हरिजन मदिर प्रवेश निषेध के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न कर आप आगममार्ग रक्षण एव आचार्य-भक्ति में दृढता से तत्पर रही हैं ।

आप चिरकाल तक इसी प्रकार समाज को धर्मलाभ पहुँचाती रहें यही मेरी हार्दिक भावना है ।

—मक्खनलाल सिद्धान्त शास्त्री
मोरेना

जिस समय मैं काशी के श्री स्याद्वाद महाविद्यालय मे प्रविष्ट हुआ, विद्यालय के छात्र आरा के स्वनामधन्य स्व० बा० देवकुमार जी और उनके घराने के प्रति बडी ही श्रद्धा रखते थे । जब-तब छात्रो की गोष्ठी में उनकी चर्चा होती रहती थी । उस समय बनारस की क्वीस कालेज की सस्कृत परीक्षाओ का मानदड आज से बहुत ऊँचा था । विरले छात्र उसकी परीक्षाओ में बैठने का साहस करते थे । यदि कोई सम्पूर्ण मध्यमा परीक्षा भी पास कर लेता था तो बडे आदर के साथ देखा जाता था ।

एक दिन छात्रो की गोष्ठी में मैंने सुना कि बा० देवकुमार जी की अनुजवधू बहुत विदुषी हैं। उन्होने क्वीन्स कालेज की सम्पूर्ण मध्यमा परीक्षा पास की है । मैं सुनकर स्तब्ध रह गया । उस समय मैं प्रथमा की तैयारी कर रहा था और लघुकौमुदी व्याकरण घोका करता था । अत सस्कृत व्याकरण की कठिनाई से सुपरिचित था । अवस्था भी १२–१३ के लगभग थी । इसलिए एक रईस घराने की कुलवधू को सस्कृत की पण्डिता सुनकर मेरा आश्चर्यान्वित होना स्वाभाविक ही था । तभी मैं विदुषी चन्दाबाई जी के नाम से परिचित हुआ । उसके बाद उनकी एक दो पुस्तकें भी देखी और सरस्वती पत्रिका में सम्पादकाचार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की लौहलेखनी से लिखी गई उनकी समीक्षा भी पढी । मेरी श्रद्धा हुई ।

फिर एक दिन सुना कि चन्दाबाई जी आरा में जैन-बाला-विश्राम स्थापित कर रही है । कन्याशाला, पुत्रीशाला, कन्यागुरुकुल आदि नाम तो सुने थे, किन्तु बालाविश्राम नाम तो एकदम अभिनव था । मन ने कहा किसे सूझा यह सुन्दर नाम ? मन ने ही उत्तर दिया एक विदुषी की सस्था जो है । अब तक भी मैं चन्दाबाई जी के दर्शन से वञ्चित ही था ।

सन् २३ में ललितपुर में एक साथ तीन गजरथ चले। तब मैं मोरेना के श्री गोपाल जैन-सिद्धान्त विद्यालय में पढता था। ललितपुर में हमारे विद्यालय का और बालाविश्राम का कैम्प आमने-सामने ही था। वही मैंने सबसे प्रथम बाई जी के दर्शन किये और विश्राम की छात्राओ के सौष्ठव मे उनकी अमिट छाप देखी।

अध्ययन समाप्त करने के बाद मैं काशी के श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में धर्माध्यापक हो गया और मोरेना मे मेरे सहपाठी प० भुजवली शास्त्री आरा के जैन-सिद्धान्त-भवन में पुस्तकाध्यक्ष तथा बाला-विश्राम के अध्यापक हो गये। एक बार कलकत्ते के रथयात्रा-महोत्सव से लौटते समय शास्त्री जी से मिलने के उद्देश्य से आरा उतरना हुआ और प्रथम बार बाला-विश्राम को देखने का तथा उसकी सस्थापिका से बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् तो कई बार जाना हुआ। विद्वत्ता और न्याय की साक्षात् प्रतिमा श्री चन्दाबाई जी और उनके विश्राम को देखकर दर्शक श्रद्धावनत हुए विना नही रहता। स्त्री हो या पुरुष सद्शिक्षा और सुसस्कार उसे कुछ-से-कुछ बना देते हैं। एक भारतीय बाला के लिए वैधव्य जीवन कठोर अभिशाप है किन्तु उस कठोर अभिशाप को भी सुख-शाति और समृद्धि के रूप मे कैसे प्रवाहित किया जा सकता है बाई जी के जीवन की कठोर साधना इसका ज्वलत उदाहरण है।

जरा कल्पना तो कीजिए उन दिनो की, जब स्त्री-शिक्षा के विरोध की धूम थी और पर्दा-प्रथा, वह भी बिहार के उच्चघरानो में अपनी चरम सीमा पर थी। एक अभिजातवश की कुलवधू बारह वर्ष की अवस्था में विधवा हो जाती है। उस पर दुख का पहाड टूट पडता है। घर भर इस अनभ्र वज्रपात से व्याकुल हो उठता है। उसके ज्येष्ठ अपने नवयुवक लघुभ्राता की मृत्यु से मर्माहत हो जाते हैं, किन्तु सुशिक्षित हैं, समझदार हैं, विचारशील हैं। अत अपनी अभागिनी अनुजवधू को जली-कटी नही सुनाते। कोई उससे यह नही कह पाता "बहू राक्षसी है, घर में आते ही पति को खा गई"। सब उसके अभाग्य पर दुखी हैं और हैं सवेदनशील। विचारशील बा० देवकुमार जी विधवा बालिका के भावी जीवन के विषय मे सचिन्त हैं। वे उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं। हिन्दी, सस्कृत और धार्मिक शिक्षा के लिए सुयोग्य अध्यापक नियुक्त करते हैं। वैष्णव सस्कारो में पली हुई बालिका जैनधर्म की शिक्षा और सस्कारो से सस्कारित होती है। कुछ वर्षों के पश्चात् देवतुल्य ज्येष्ठ भी चल बसते हैं। किन्तु उन्होंने जो अकुरारोपण किया था वह धीरे-धीरे वृक्ष का रूप लेता है और काल पाकर उस वृक्ष मे सुमधुर फल लगने लगते हैं। बालविधवा बाला क्रमश विदुषी, सुलेखिका और सप्तम-प्रतिमा धारिणी बनकर समाज की विवाहित और अविवाहित बालाओ के लिए विश्राम-स्थल बन जाती है और अपनी बहन ब्रजबाला देवी को भी गार्हस्थिक जीवन से उबार कर उन बालाओ की सेवा में लगा देती है।

कितना असीम उपकार है इन बहनो का स्त्री समाज पर। विधवा को कुलकलकिनी और राक्षसी समझने वाले सास-ससुर और जेठ-जिठानी आंखें खोलकर देखें कि विधवा के जीवन को किस तरह स्व-पर-कल्याणकारक बनाया जाता है। और पति का नाम चलाने की इच्छा से दत्तक पुत्र लेने-

वालों सिखाएँ देंगे कि धन से वंश का नाम कैसे चिरस्थायी किया जाता है । और अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग किसमें है ।

विदुषीरत्न चन्दाबाई जी आदर्श विधवा और आदर्श स्त्री रत्न है । उनका जीवन स्त्री-समाज के लिए ही नहीं, किन्तु मानव-समाज के लिये अभिनन्दनीय है । मैं उन सती, साध्वी को प्रणाम करता हूँ और भावना करता हूँ कि उनकी जैसी सती साध्वियों से भारत का क्षितिज सदा आलोकित रहे ।

—कैलाश चन्द्र सिद्धान्त शास्त्री
(प्रधानाध्यापक स्या० वि० काशी)

प्रान्ते यस्मिन्नभूद्वीर आरा पूस्तत्र राजते ।
बालाविश्रामतो यस्या नाम को नावगच्छति ॥१॥
तस्याया जननी चन्दाबाई नारी-शिरोमणि ।
विदुषी महिलादर्श-पत्र-सम्पादिका तथा ॥२॥
शील रत्न पर रक्ष्य रत्नमायाति याति च ।
आद्यन्तु नित्यसौख्याय परन्तादृङ् न कर्हिचित् ॥३॥
एव विचार्य या बाल्याच्छीलसरक्षणोद्यता ।
यथाविधि व्रतव्रात यत्नत परिरक्षति ॥४॥ युग्मम्
अज्ञानगर्तगा बाला मोहमूर्च्छाऽस्तचेतना ।
लेखमन्त्रैर्यया दिव्यै शश्वत्प्रीत्या प्रबोधिता ॥५॥
महिलाना मनोनामदरीसस्था तमस्तति ।
यद्ग्रन्थरत्नसद्दीपै समूल विनिवारिता ॥६॥
शास्त्रमानसकासार यन्मनोहस आश्रित ।
क्षणमात्र वहिर्यात्रा मनुते मृत्युसन्निभाम् ॥७॥
यावद् वाति नभस्वान् भाति विवस्वान् विभासते हिमगु ।
तावच्चन्दाबाई भारतवर्ष विभूषयतु ॥८॥

—अमृतलालो जैनः
(दर्शन-साहित्याचार्य, काशी)

जीवन में विपत्तियाँ वर्तमान है, अधिक लोग मिलेंगे जो 'मूक चालित पशु' की तरह उनसे असमर्थ हो धारा में वह जाते हैं । अपवाद चरित्र और असाधारण योग्यता समन्वित कुछ ही प्रौढ, उदात्त आत्माएँ है जो ऐसी विपत्तियो को सामाजिक कार्य में कूद पडने की, नैतिक अभ्युत्थान और

व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति की प्रेरणा मानती हैं। श्री ब्र० प० चन्दाबाई जी उनमें से एक हैं। उनका अनमोल जीवन साहस, कर्मठता और करुणा का जीता-जागता, ज्वलत उदाहरण है। वह एक स्वय 'सस्था' रही है जहाँ से प्रेरणा की रश्मियाँ विकीर्ण होती रहती हैं, जिन्हें बहुत समेटते हैं। अभाग्य के दुर्धर्ष थपेडो में बहते आये अनेक लडके-लडकियो के भाग्य को चमकाने, समुन्नत करने में ही उन्होंने अपने जीवन के समस्त समय का उपयोग किया है। वस्तुत उन्होंने अपने जीवन को सुन्दर, सफल सेवा और आध्यात्मिक-आचरण के साँचे में ढाल दिया है।

मैं इनको अपनी आदरणीय श्रद्धाजलि अर्पण करता हूँ।

—डा० ए० एन० उपाध्ये
(एम० ए, डी० लिट्, कोल्हापुर)

श्री विदुषी ब्र० चन्दाबाई ने युगधर्म को पहचाना है और उनकी साधना और अनुष्ठान का केन्द्र उनका 'श्री जैन बाला-विश्राम' जैन-समाज ही को नही वरन् समूचे भारत के नारी-जगत् मे ज्ञान का दान दे रहा है। विदुषी जी में सरल व्यवहार, गुणानुराग और चरित्रनिष्ठा है। उपगूहन और स्थिति-करण अग का तो इन्होंने अनेक बार सुन्दर उपयोग किया है। आज उनके अभिनन्दन के क्षण में हार्दिक भावनाओ की अभिव्यक्ति कर मैं आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। वे चिरायु हो। पुन एक बार अभिनन्दन।

—प्रो० महेन्द्र कुमार, न्यायाचार्य
(हि० वि०, काशी)

मुझे समूचे जैन-समाज में ऐसी कोई महिला नही दिखती जो श्री चन्दाबाई जी की समता कर सके। वस्तुत वे एक सस्था है। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन नारी-जाति की सेवा में समापत कर जो आदर्श उपस्थित किया है वह निस्सन्देह लोगो को स्फूर्ति और चेतना देगा। पति-विहीना नारी समझती है कि अब उसके जीवन में अधेरे और निराशा के अतिरिक्त कुछ नही है, पर श्री चन्दाबाई ने उस अवस्था में जो दीप जलाया उससे वे इतनी महिमामयी बन गयी है कि सासारिक जीवन के सारे अभाव उसके आलोक मे फीके पड गये। उनका बाला-विश्राम और उनका महिलादर्श उनकी स्फूर्तिदायक अमर रचनाएँ हैं। बाई जी महान् हैं। मैं अपनी स्नेहपूरित श्रद्धाञ्जलि उन्हें समर्पित करता हूँ।

—चैनसुखदास, न्यायतीर्थ, शास्त्री
(श्री जैन सस्कृत कालेज, जयपुर)

श्री महिलारत्न ब्र० चन्दावाई जी की सरल-विमल मूर्त्ति के सामने ऐसा कौन व्यक्ति है जो विनम्र न हो जाय। उनकी विद्वत्ता, जैनधर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा तथा उन्नत कोटि का चरित्र महिला-समाज ही नही वरन् पुरुष-समाज के लिये भी आदर्श और अनुकरणीय है। धार्मिकता तो उनका कौटुम्बिक गुण है। जैनधर्म की आध्यात्मिक सेवाएँ इस युग में उनके द्वारा हुई है। अनेक आत्माओ को उनसे सदाचार और ज्ञान की प्रेरणा मिली है। हम उनके दीर्घ-जीवन की शुभ कामना करते ह।

——जगन्मोहन लाल, शास्त्री,

प्रधानाध्यापक जैन-शिक्षण सस्थाएँ, कटनी।

प्रधान-मन्त्री——भा० दि० जैन परवार सभा।

देव-परिवार की आदर्श देवी विदुषी ब्रह्मचारिणी श्रीमती चन्दावाई जी का जीवन महिला-जगत् के लिये आदर्श एव अनुकरणीय रहा है। उन्होने वाह्य भौतिक भूषा की उपेक्षा करके सत्‌श्रद्धा, सज्ज्ञान, सच्चरित्र की आध्यात्मिक भूषा से अपने आपको अलकृत किया है। आत्महित करते हुए आपने अपनी वाणी द्वारा, लेखो द्वारा तथा वैयक्तिक प्रेरणा द्वारा अनेक महिलाओ को आत्म-उत्थान के साथ समाज-सेवा के लिये तैयार किया। जगत्-जननी महिला जाति के उत्कर्ष के लिये आरा में ज्ञानशाला का उद्‌घाटन किया। इस ज्ञानशाला ने अगणित वालाओ की ज्ञानपिपासा वुझाई है और भविष्य में भी यह क्रम चलता रहेगा। जैन-समाज की महिलाओ में जागृति उत्पन्न करनेवालो में आप गणनीय है, आपने इसके लिये अपनी मानसिक, वाचनिक, शारीरिक और आर्थिक सभी शक्तियाँ यानी सर्वस्व समर्पण किया है। इस तरह आपने जनसमाज से स्वय कुछ न लेकर जनसमाज के हितार्थ सब कुछ देकर युग-निर्माण किया है। आप सती साध्वी विदुषी समाजसेविका हैं। आपका स्वस्थ, प्रसन्न जीवन चिरकाल तक ससार को सुपथ की ओर प्रेरणा देता रहे, ऐसी अन्त कामना है।

——अजित कुमार, शास्त्री,

(सपादक-जैन -गजट, देहली।)

सिर्फ मरने के लिए तो विश्व मे अगणित प्राणी जन्म लेते है परन्तु जन्म लेना सफल उन्ही का है जिनका जीवन स्व-पर-कल्याण में प्रवृत्त होकर पुनर्जन्म का अभाव करने में साधक वनता है।

ऐसे महानुभावो के नामकीर्तन गुणस्मरणादि द्वारा दूसरे साधारण लोग भी कल्याण-भाजन वन सकते है। आज हम जिस विदुषीरत्न ब्र० प० चन्दावाई के विषय मे दो शब्द लिखने को प्रस्तुत हुए है उनका जीवन भी जनसाधारण के लिये अनुकरणीय है। जिस प्रकार एक निकट भव्यात्मा के लिए नरक गति की तीव्र वेदना भी सम्यक्त्वोत्पत्ति में साधक हो जाती है उसी प्रकार आपके लिये अल्पवय में प्राप्त वैधव्य आत्मकल्याण का साधक वना है। सप्तम प्रतिमा की महनीय दीक्षा ग्रहण कर

आप आत्मकल्याण में तो अनवरत प्रवृत्त रहती ही हैं साथ ही बाला-विश्राम का सचालन, सत्साहित्य-निर्माण,समस्त प्रान्तो मे भ्रमण कर सदुपदेश-प्रदानादि कार्यों द्वारा पर-कल्याण करने में भी निरन्तर तत्पर रहा करती हैं। आज महिला-समाज मे जो जागृति ष्टिगोचर हो रही है उसका बहुत कुछ श्रेय आपको है। हम उक्त आदर्श ब्रह्मचारिणी जी की सेवा में श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए हार्दिक भावना करते हैं कि ब्रह्मचारिणी जी चिरजीवित रहकर समाज एव धर्म की उन्नति मे साधक बनी रहें।

—दयानन्द, शास्त्री

(प्रधानाध्यापक—श्री ग० दि० जैन सस्कृत विद्यालय, सागर ।)

धन्य हो तुम ध्रुव यशस्विनि
ज्ञानमदिर की पुजारिणि
वन्दनीय, विशाल वदित
पूज्यवर हे ब्रह्मचारिणि
कर्मवीरो की महत् काक्षा तुम्हारी
मोह औ' अज्ञान निद्रा से जगाई
जैन नारी जाति सारी
सीचकर पल्लवित की
साहित्य-क्यारी
जो कि
नारी जाति के ही लिए थी
तुमने बनाई
इस सफल कर्मण्य जीवन
की तुम्ही हो एक उपमा
कर्मयोगिनि
और विदुषी
अमर सेवाएँ तुम्हारी
हैं, रहेंगी, मातृ-मन्दिर की विधात्री
तुम अडिग
दृढ-निश्चयी
हो आत्म-विश्वासी
सदा से
भल पाएगी नही उपकार

महिला जाति सारी
तुम्हारा !
ज्ञान के मधु-स्रोत की
मन्दाकिनी तुमने बहाई
कार्य की तुम
एक सफल सजीव प्रतिमा
कार्य करने की विलक्षण
पा सकी तुम मात्र क्षमता
क्यो न तुमको कहे
युग-नारी, सुमाता !
एक नारी तुम
कि तुमने नारियो को
धर्म वतलाया सदा से
चला आता
भलती जो पथ रही थी
भलने वाली कभी थी
उन्हें तुमने पथ लगाया
जैन-नारी जगत की उज्ज्वल विभूति
महान नारी
नही कीमत चुका पाएगा तुम्हारी
एक कण भी
अखिल जैन समाज !
अखिल मातृ-समाज !!
अखिल नारी-वर्ग !!!
मर्ति श्रद्धा की, कि अपने
समय की तुम एक ही हो
क्यो न अभिनन्दन तुम्हारा
हम करे फिर
आज पावन पर्व
नारी जाति आज सगर्व
तुम पर है लगाए आश
क्योकि तुम ही
जैन-नारी-मात्र की हो एक माता
जैन माता

स्नेह की भण्डार
निश्छल प्रेम की आगार
वन्दन बार शतशत
है तुम्हारा
और श्रद्धाजलि
तुम्हें कवि की !
जगत की !!
जैन नारी जाति की !!!

—महेन्द्र 'राजा', एम० ए०
(भदैनी, बनारस—१)

ब्र० प० चन्दाबाई जी ने अपने अल्पावस्था में प्राप्त वैधव्य के पश्चात् अपने ऐश्वर्य और जीवन का सुन्दर उपयोग किया जो अभतपूर्व-सा लगता है। मै उन्हें वर्षों से जानता हूँ और उनकी कीर्ति के मूर्त्तरूप 'श्री जैन-बाला-विश्राम' को भी देखने का मुझे सौभाग्य मिला है। अपने स्वाभाविक सकोच के कारण मै उनसे प्रत्यक्ष वार्तालाप न कर सका। फिर भी मै यह कह सकता हूँ कि वे, उनका बाला-विश्राम और उनके सम्पादकत्व में निकलने वाला पत्र'महिलादर्श' अपनी शानी नही रखते। ये हमारे समाज के गौरवस्तम्भ है। श्री जिनेन्द्रप्रभु उन्हे चिरजीवी करे।

—नाथूलाल जैन, (सा० र०, सं० सू०, शास्त्री, इन्दौर)

इस युग में पूज्य वर्णी जी जैसा हृदय का पारखी व्यक्ति मुझे दूसरा नही दिखा। उन्होने अपने एक पत्र मे श्री ब्र० चन्दावाई जी को प्रशम-मूर्ति लिखा था। मैंने आपका नाम और काम तो पहले ही सुन रखा था परन्तु साक्षात् दर्शन का अवसर नही मिला था। पूज्य वर्णी जी द्वारा आपके लिए 'प्रशम-मूर्ति' विशेषण का प्रयोग देख हृदय में साक्षात् दर्शन की भावना उद्भूत हुई।

सन् १९४१ के फरवरी की वात है। तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर की यात्रा से लौटकर मै आरा के मैना सुन्दरी भवन (नई धर्मशाला) में ठहरा। आपके दर्शन करने का अवसर आज मिलेगा यह जानकर हृदय प्रसन्नता से भर गया। मध्याह्न के उपरान्त जैन-बाला-विश्राम में जाने का निश्चय

किया । मार्ग मे कुछ अधिक विलम्ब लग गया इसलिए चार बजते-बजते मैं बालाविश्राम पहुँचा । मेरा ध्यान था कि यहाँ मेरा कोई परिचित नही होगा परन्तु अचानक ही प० नेमिचन्द्र जी सामने आ गये और उनसे मालूम हुआ कि माताजी आपकी प्रतीक्षा में बहुत समय से बैठी है, उन्हें शहर वापस जाना है । मैंने सहजभाव से पूछा कि माता जी कौन ? तब उन्होने कहा, चन्दाबाई जी । उन्हें मेरे आने की खबर कैसे लगी ? मैंने पूछा । तब उन्होने कहा कि शहर से किसी ने फोन द्वारा खबर दी थी। भाई नेमिचन्द्र जी के साथ यह बात करता करता कार्यालय के द्वार पर पहुँचा नही कि श्वेतवस्त्र-धारिणी माता जी का भव्य दर्शन हुआ । मझोला कद, गौरवर्ण, प्रभापूर्ण मुखमण्डल देख पूज्यवर्णी जी द्वारा प्रदत्त प्रशममूर्ति विशेषण ध्यान में आ गया और ऐसा लगने लगा कि यह तो सचमुच ही प्रशम की मूर्ति है—लोकोत्तर शान्ति इनके मुख से टपक रही है ।

कब आये ? कोई कष्ट तो नही हुआ ? आदि स्नेहाभिषिक्त वार्तालाप से चित्त भर आया । कुछ देर बैठा ही था कि बोल उठी—'चलिये, बाहुबली स्वामी के दर्शन कर लीजिये' और साथ ले जाकर आश्रम के एक भाग मे कृत्रिम पर्वत पर स्थापित श्री बाहुबली स्वामी की शुभ्रकाय विशाल प्रतिमा के दर्शन कराये । आश्रम के भिन्न-भिन्न विभाग स्वय ही दिखलाये । मुझे लगा कि इस आत्मा में कितनी पवित्रता है ? कितनी निर्मलता है ? कितना स्नेह है ? अभिमान तो इसे छू भी नही गया है । लगभग एक घटा आश्रम में रहा । इसी बीच पठन-क्रम, शासन-व्यवस्था आदि न जाने कितने विषयो की चर्चा उन्होने कर डाली । जैन-बाला-विश्राम आपके जीवन का सर्वतो महान् कार्य है । उसके लिए आपने अपने आपको समर्पित कर दिया है । स्त्री-समाज में यदि शिक्षा और जागृति का प्रसार हुआ है तो उसकी आद्य उपोद्धात्री आप ही है । आप में शील है, सयम है, सतोष है और है अनुपम वैदुष्य भी । आपकी भाषण-शैली इतनी आकर्षक है कि सभा मन्त्रमुग्ध-सी स्तम्भित रह जाती है । आश्रम से लौटकर जब शहर गया तब मार्ग में अपने साथी सिं० छकौडीलाल जी जबलपुर के साथ इन्ही की महत्ता तथा त्याग तपश्चर्या की चर्चा करता रहा ।

इन पूज्य माता जी के चरणो में मेरी सादर सभक्ति श्रद्धाजलि समर्पित है ।

—पन्नालाल, साहित्याचार्य,

सागर

मात ! तुम्हारी पावनता से,
आज हो गई पूजित नारी ।
और मुक्ति की राह बन गई,
जो कि कभी थी कलुषित भारी ।

आज तुम्हारी प्रिय ममता में,
पीडित जन को त्राण मिला है ।
धन्य देवि ! तेरी पूजा में,
मानव को वरदान मिला है ।

सत्य और शिव सुन्दर की शुभ,
विधि परिणति माँ श्री तुम में है ।
भव्य कामना, दिव्य भावना
की नित नवगति माँ तुम में है ।

साध्य साधना साधक का,
एकत्व भाव माँ तुम में ही है ।
नारी के प्रशस्त गौरव का,
तप प्रभाव माँ तुम में ही है ।

पार्थिव बाधाओ से विचलित,
माँ तेरा निर्माण नही है ।
जो तेरा सकल्प मिटा दे,
वह भू पर तूफान नही है ।

कुलिश कठोर कुसुम सी कोमल,
माँ तुम पावन गगधार हो ।
शक्ति भक्ति का सुखद समन्वय,
माँ तुम सचमुच निर्विकार हो ।

युग-युग की कठोर कारा से,
मुक्त आज नारी को करके ।
मूलभूत अधिकार बताए,
माँ ! तुमने ही नारी-नर के ।

ज्ञान-कर्म साहित्य कला से,
चिर निर्मित जीवन माँ तेरा ।
नारी के कल्याण हेतु ही,
चिर अर्पित माँ जीवन तेरा ।

सत्य अहिंसा की प्रतिमा है,
करुणा - पूरित हृदय तुम्हारा ।
अक्षय विभामयी कल्याणी,
प्रतिक्षण प्रतिपद सदय तुम्हारा।

धन्य आपके तपत्यागो की,
अमर रहेगी भव्य कहानी ।
और युगो तक वदित होगी,
सरस साधनामय तव वाणी ॥

—प्रो० श्रीचन्द्र जैन, एम० ए०
रीवा

चन्दाबाई के चारु-चरित्र-चन्द्र की चोखी चन्द्र-कला, चतुर्दिक चमकित हो, चर्खे में चितेरे चित्र चित्रित कर, तथा चराचर को चितचाय (चित्ताकर्षक) बनाकर, चिन्मूरत, चिद्रूप, चिन्तामणि, चूडामणि, चिदात्मा के चिन्तन को चैतन्य-प्रकाश देती है । उन चन्द्रवत् चन्दाबाई के चरण-चिह्नो पर चिद्विलास तथा चिन्ताहरण को चलना चाहिए ।

महान् मेधाविनी, महिला-मणि, 'महिलादर्श' एव महिला-मन्दिर की मनोज्ञमूर्ति, महिला-मनीषी-मुकुल पर मन्दमति, मादक, मदोत्मत्त, मलिन, महिला-मानस-मिलिन्द मढराकर, मनोनीत मकरन्द ले, मन-मल का मार्जन करते है । महिला-मुकुट, माननीया माता जी, महिला-मयक-मयूखवत् महिला-मण्डल में मण्डित है ।

स्त्री-रत्न, सन्यासिनी, सयमी उन साध्वी की सरलता, सयमित-जीवन, सद्व्यवहार से स्त्री-समाज का सद्धर्म श्रद्धान हुआ है । शिक्षा-शून्य स्त्री-समाज में सुपत्र की सुसम्पादिका-सीकर ने सत्-शिक्षा के शीतल-सलिल की सरिता सचालित की, जिसके शीतल, सुष्ठ सलिल-सिंचन से सोद्यान का सृजन हुआ, उसके सघन, सुरम्य, सुभग स्नि-विटप के सुन्दर सौम्य, सुसुषमाशाली सुमनो के सौरभ से सम्पूर्ण समाज सुरभित है । उन सुश्री की—जिनकी सुधी ने स्व-सिद्धान्त-सुधा-सिञ्चन से समस्त समाज को सजग कर तथा सगठन की सुदृढ श्रृखलाओ में सम्बद्ध कर, स्वर्ग-सोपान का साधन बनाया—श्लाघा में श्रद्धाञ्जलि समर्पित करना, सबका सामूहिक कर्तव्य है ।

ओ अभिनन्दनीय आदर्श श्राविका ! आपने अशिक्षित महिलाओ के अज्ञानान्धकार का अपने आत्मज्ञान-अशुमान से अन्त कर, अनोखे, अमल अशु-आलोक का अनन्त अन्तरिक्ष में आविर्भाव किया और किया अज्ञान-तम का अन्तर्द्धान !

श्री महिला-रत्न, विदुषी-रत्न, ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी धन्य हैं। उन्होंने अपने प्रयास से सास्कृतिक उत्थान कर, राष्ट्र के नव-निर्माण में सहायता दी, और दी एक अमूल्य निधि—सुसाहित्य सृजन की। धन्य ! धन्य !! माँ तुम धन्य हो !!! तुम्हारे प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन मेरी वाणी के वाग्वैदग्ध्य की परिधि के परे है। मेरे इन शब्दो में मेरी ही नही वरन् निखिल समाज की हृद-गति निहित है, जो आप सरीखी उदार, साध्वी, सरल महिला-रत्न की अभ्यर्थना में द्रवीभूत हो उठी है—पर अधूरी है—

तब फिर है—

'चरित्रधाम चन्दाबाई के चारुचरणाम्बुजो में चेरा-चञ्जरीको का चरण-वन्दन।'

—वीरेन्द्र प्रसाद जैन

जैन-महिलारत्न ब्रह्मचारिणी माता चन्दाबाई जी प्रतिष्ठा-प्राप्त बाबू नारायणदास, विख्यात वकील, मथुरा की बेटी, तथा समाजोद्धारक, धर्म-प्रचारक, आदर्श सदाचारी श्री देवकुमार जी की पुत्रवधू, भारत जैन-समाज की चूडामणि हैं।

दैव-सयोग से आप १३–१४ वर्ष की अवस्था में ही स्वतन्त्र हो गईं। और ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके महिला-समाजोत्थान और जैन-धर्म प्रभावना के काम में लवलीन हो गई।

बाबू देवकुमारजी ने पैत्रिक जमीदारी के अर्द्धभाग पर चन्दाबाई जी का नाम सरकारी कागजो में लिखवा दिया—यह उनकी अनुपम आदर्श उदारता का नमूना है।

फिर अपने कनिष्ठ पुत्र श्री चक्रेश्वर कुमार को उनका दत्तक पुत्र बना दिया—चि० चक्रेश्वर कुमार जी प्रतिभाशाली युवक B Sc, B L की उपाधि प्राप्त करके बिहार लेजिस्लेटिव काउन्सिल के सदस्य, अर्थात् M.L C. निर्वाचित हो गए। पूज्य माता के प्रभाव से वह ससार भोग-विषय से उदासीन, आदर्श सदाचारी, व्रती श्रावक हैं।

श्री चन्दाबाई जी के पूज्य पिताजी वैष्णव धर्मानुयायी थे, चन्दाबाई जी ने अपनी दोनो बहनो श्रीमती व्रजबाला देवी तथा श्री केसर बाई जी को जैन-धर्म में दीक्षित करके जैन-धर्मानुरागिणी बना दिया।

श्री चन्दाबाई जी ने अपने निजी अध्ययन, बिना सरकारी विद्यालय में शिक्षार्थ गए, Intermediate Examination in arts की परीक्षा की योग्यता प्राप्त कर ली। सस्कृत भाषा, व्याकरण तथा जैन-सिद्धान्त का तो आप को गहरा अनुभव और ज्ञान विस्तारित है ही।

जैन महिलादर्श मासिक का सम्पादन आपके सरक्षण मे होता है, और जैन-महिला-परिषद् की तो आप सस्थापक और प्राण ही हैं।

महिला-समाज के उत्थानार्थ आपने आरा नगर मे पाठशाला, और २-२।। मील पर जैन-बाला-विश्राम की स्थापना की है, जो जैन-धर्म और लौकिक विज्ञान की शिक्षा तथा सदाचार सगठन के हितार्थ एक आदर्श सस्था है।

गत ४० वर्ष के घनिष्ठ परिचय के बल पर मै यह कह सकता हूँ कि ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी महावीर भगवान् के समवसरण की मुख्य आर्यिका पूज्य चन्दन बाला स्वरूप हैं।

—अजित प्रसाद, एम० ए०, एल्-एल० बी०
लखनऊ

जैन-नारी-जागरण की अग्रदूत, परम विदुषी, बालब्रह्मचारिणी, वयोवृद्ध, समाजसेविका पडिता श्री चन्दाबाई जी न केवल जैन-समाज की ही वरन् समग्र भारतीय राष्ट्र की वर्तमानकालीन एक महान् विभूति है। अपने तेजस्वी एव प्रौढप्रज्ञा से युक्त व्यक्तित्व तथा चिरकालीन समाज-सेवा एव धर्मप्रेम के लिये वे सादर वन्दनीय हैं। देश और जाति के लिये गौरव की सजीवमूर्ति इन आदर्श महिला-रत्न ने अपने जीवन, कार्यों और विचारो से महिला का सच्चा आदर्श समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है, तथा नारी-शिक्षा और नारी-जागृति को भारी प्रेरणा एव प्रोत्साहन प्रदान किया है।

थोडे से शब्दो में गुँथी हुई यह श्रद्धाञ्जलि उनके लिये समुपयुक्त न होते हुए भी भक्ति-भारावनत हृदय की तुच्छ भेंट रूप स्वीकार्य होगी, ऐसी भावना है।

—ज्योति प्रसाद जैन, एम० ए०
मेरठ

पूज्य चन्दाबाई जी जैन-समाज की एक अजर अमर विभूति हैं। मेरा परिचय आपसे बहुत दिनो से है जब मै Stephen's College देहली में पढा करता था। वहाँ आपसे स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में बात हुई। एक बार आप मेरी जन्मभूमि गोहाना में आयी और 'श्री सानवती आश्रम' का उद्घाटन कर सारगर्भित भाषण दिया। मुझ पर उनके भावो का बडा प्रभाव पडा।

सन् १९४२ ई० में आप मथुरा पधारी तो कुछ दिन तक अपने भ्राता श्री जमना प्रसाद जी एडवोकेट के यहाँ ठहरी पर फिर धर्म-साधन के निमित्त दो दिन चौरासी पर एक दूरी कोठरी में ठहरी।

वहाँ जब मैं गया तो देखा कि आप थाली लेकर चावल-दाल आदि खाद्य-पदार्थ बीन रही हैं। उनके साथ एक जैन रसोई बनाने वाली भी थी पर फिर भी वे अपना काम नि संकोच आनन्द से कर रही थीं।

दुर्योग से उन दिनो मेरी स्त्री टायफड से ग्रस्त थी और साथ में केवल मेरी पुत्री थी जो प्रभाकर पास थी। पूज्य चन्दा बहन जी दो-दो, तीन-तीन बार मेरे घर आती और अपने हाथो से मेरी पत्नी को दवा खिलाती और मेरी लडकी को सान्त्वना देती तथा 'महिलादर्श' के लिये कुछ लिख भेजने की प्रेरणा भी देती थी। यह थी उनकी सादगी और स्नेह।

आपका जीवन बडा सादा है। सम्पत्तिशालिनी होकर भी थोडे परिग्रह से आप अपना कार्य चलाकर जिनेन्द्र भगवान् के ध्यान में लीन रहती हैं।

आप विदुषी, सु-लेखिका, अध्यापिका एव प्रचारिका हैं। 'महिलादर्श' में आपके विचार समय-समय पर पढने को मिलते हैं। आपने 'उपदेश रत्नमाला' आदि कई पुस्तको की रचना भी की है। नारी-शिक्षा के लिये आपने 'श्री जैनबाला-विश्राम' की नीव डाली और दूर के नगरो में भी महिला-सभा का अधिवेशन कर आप नारी-शिक्षा को प्रोत्साहन देती रहती हैं। आप वस्तुत समाजहितेच्छु, धार्मिक साहित्यसेवी नारी हैं। आपका अदम्य अध्यव्यवसाय प्रशसनीय ही नही, अनुकरणीय भी है।

आपका हृदय निष्पाप है। आपके हाथ कार्यरत रहते हैं और आपके पैर व्यर्थ घूमने में आनन्द नही पाते। आपके वचनो में मधुरता, शिष्टता एव निष्कपटता रहती है। आपकी दूरदर्शिता आपकी पथ-प्रदर्शक है। आप अपनी छात्राओ को भी अपने समतुल्य बनाने के उपक्रम में निरत रहती हैं। वस्तुत आप धन्य हैं, वह सस्था धन्य है जिस पर आपके वरद हस्तो की परिच्छाया है और वह समाज धन्य है जिसके तिमिर को आप प्रकाश स्तम्भ बनकर मिटा रही हैं और फैला रही हैं एक मधुर आलोक। अपने भाव भरे हृदय से मैं आपकी वन्दना करता हूँ।

—उग्रसेन जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०

रोहतक।

पूज्यवरा पण्डिता चन्दाबाई जी का आधुनिक जैन-समाज अत्यन्त ऋणी है और उसके एक लघु सेवक के नाते मैं भी अपने को उनका ऋणी समझता हूँ।

विगत ३५–४० वर्षों का जैन महिला-समाज का इतिहास माता जी की कीर्तिकौमुदी से आलोकित है। इस इतिहास-मदिर की दीवारे जिस नीव पर खडी हो सकती हैं, वह एकमात्र उन्ही की समाज-सेवा है।

आपने अपने सामाजिक जीवन में समाज की जो सेवाएँ की है उनको फलते-फूलते देखकर आपको आज जो आनन्द हो रहा है उसका मूल्य कौन आँक सकता है ? और उनसे समाज का जो प्रचार व प्रसार हो रहा है, वह हमारी आँखो के सामने इतना प्रत्यक्ष है कि स्वाभाविक सा लगता है और हम उसके प्रेरक के प्रति कृतज्ञ होना भूल जाते है ।

आज से अनेक वर्ष पहले जैन-महिला-समाज की अवस्था आज जैसी नही थी । इस अभागी समाज की रूढिभक्त महिलाएँ अशिक्षित रहने को ही प्रतिष्ठा की बात समझती थी । उनको शिक्षित बनाने में, शिक्षा की ओर खीचने में एव हृदय में शिक्षा-प्रेम भरने में माता जी ने ही सबसे अधिक परिश्रम किया है । आप क्षत्राणी के समान इस क्षेत्र में आई थी—आपने प्रतिद्वन्द्वियो का सामना किया । अपनी असीम योग्यता, अटूट धैर्य और अप्रतिम दक्षता दिखाई और विजयी हुई । समाज ने उनको समझा, उनका महत्व स्वीकार किया यह है उनकी एकनिष्ठ साधना का फल । आप समाज की एक निष्काम साधिका हैं । आपने समाज की नीरव उपासना की है ।

सस्कृति की रक्षा तथा विकास का एक साधन शिक्षा है । माता जी ने शिक्षा को स्थिर रूप देने में वडा भाग लिया है । 'जैन-महिलादर्श' द्वारा उन्होने समाज मे कवयित्रियो एव लेखिकाओं की जननी होने का उत्तरदायित्व भी निभाया है । ३२ वर्ष से जैनमहिलादर्श के द्वारा आपने साहित्य और शिक्षा, इतिहास और धर्म, राजनीति और समाज तत्व का ज्ञान महिला-समाज के लिए सुलभ कर दिया है ।

यदि कोई मुझ से पूछे कि उन्होने क्या किया ? तो मैं समग्र जैन-महिलादर्श की फाइलें, आधुनिक लेखिकाएँ, कवयित्रियाँ और आधुनिक जैन-महिला साहित्य दिखाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्ही की सेवा का फल है ।

वे एक असाधारण महिला हैं । जैसी विदुषी हैं वैसी ही प्रतिभाशालिनी और कर्मठ भी हैं । उनका निष्कपट व्यवहार, उनका सरल और सरसप्रेम, उनकी सहृदयता और उदारता आदि ऐसी बातें हैं जिनके ही कारण वे अपने परिचित लोक-समूह द्वारा यथारीति समादृत हुई हैं ।

इस बात में कोई सन्देह नही कि बीसवी शताब्दी के जैन-साहित्य के इतिहास में माता जी की सेवाएँ अपना विशेष स्थान रखती है । वे निःसदेह इस युग की आदर्श महिला हैं । उन्होंने नारी-समाज की ही नही अपितु समस्त जैन-समाज की बडी सेवा की है । आज इस अवसर पर श्रद्धा के ये पुष्प उन्हें समर्पित है ।

—सुन्दरलाल जैन
[illegible]

जैन समाज में ऐसा कौन व्यक्ति है जो विदुषी ब० प० चन्दाबाई जी से अपरिचित हो । आपने जैन-समाज का मुख उज्ज्वल किया है और नारी जाति के लिये [illegible]

आदर्श उपस्थित किया है। शास्त्रो में श्री सीता, अजना, चदना, मनोरमा आदि अनेक सतियो के उदाहरण पढे है परन्तु वह बहुत समय की बात हो चुकी है। श्री चन्दाबाई जी का उदाहरण पूर्णत प्रत्यक्ष है। इस युग में ऐसी देवी का अवतरण बडा अद्भुत-सा लगता है। आप शील-कर्मठ बनकर हमारे मध्य में रहकर समाज सेवा का कार्य करती रहें, यही मेरी प्रभुचरणो में प्रार्थना है।

—इन्द्रमणि जैन, वैद्यशास्त्री,
अलीगढ़

किसी भी देश में किसी भी समय मनुष्य समाज के सगठन-सचालन और स्वामित्व की ठेकेदारी पुरुषवर्ग के ही हाथ में रही है, इसके प्रमाण सर्वत्र उपलब्ध है। 'पुरुष' ने यद्यपि अपने अन्य उपयोगी पदार्थों की ही तरह, उसी भावना से अनुप्रेरित होकर 'स्त्री' की 'रक्षा' और पारिभाषिक शब्दो में 'पूजा' भी अवश्य की, परन्तु उसे अपने समकक्ष का प्राणी मानकर समान स्थान और आदर कभी नही दिया। फलत स्त्रीवर्ग का बौद्धिक और व्यावहारिक स्तर क्रमश अनुपातत गिरता गया, जो आज भी दृष्टिगत है। हमारी आज की सामाजिक स्थिति की शत-प्रतिशत 'पुरुष' की सुविधा एव स्वार्थ-पूर्ति की नीति पर ही आधारित है। 'स्त्री' का स्वतन्त्र और आदरपूर्ण व्यक्तित्व समाज को किसी भी स्थिति में मान्य नही, और न ही 'स्त्री' के व्यक्तिगत स्तर को ऊँचा उठाने की चिन्ता पुरुषशासित-समाज को है।

हमारी आदरणीया ब्रह्मचारिणी प० चन्दाबाई जी ने स्त्रीवर्ग की इस विषम स्थिति का गभीर अध्ययन एव अनुभव किया। स्त्री होने के नाते भी वे 'स्त्री' के कष्टो को अच्छी तरह सोच-समझ सकी और अपनी परिपक्व विचारधारा के कारण उसका सही हल भी प्रस्तुत कर सकी। असमानता के उद्वेग से त्रस्त होकर किये गये आन्दोलनो से कदाचित् कुछ सुविधाएँ भले ही मिल जायें, पर समस्या का हल नही मिल पाता, यही समझ कर आपने किसी स्त्री-आन्दोलन का सगठन न करके, उसकी अवनति के मूल कारण के निवारण का उपाय सोचा और उसे अपने ही हाथो शिक्षा के रूप में सचालित भी किया।

जैन-बाला-विश्राम, आरा आपके ही प्रयत्नो का फल है जिसमें सभी आयु और स्थिति की हजारो स्त्रियो ने शिक्षा पायी। देश के विभिन्न सभी प्रान्तो के व्यक्ति इस सस्था की उपयोगिता से परिचित है, इस सम्बन्ध में और अधिक क्या लिखूँ?

इस पीढी के दिगम्बर जैन विद्वान और समाज जिस अनुपात में श्रद्धेय स्वर्गवासी प० गोपाल दास जी बरैया के ऋणी है और रहेंगे, निस्सन्देह उसी अनुपात में हमारा जैन समाज—विशेषकर महिला-समाज आदरणीया विदुषीरत्न पण्डिता चन्दाबाई जी का चिरऋणी रहेगा।

मेरी कामना है, आप शतायु हो, आपकी कीर्ति स्त्री-समाज की जागृति के ही समान दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढे और आपके द्वारा दिन प्रतिदिन समाज का अधिकाधिक कल्याण हो ।

—स्वरूपचन्द जैन
जबलपुर

हमलोग यह जानकर अति प्रसन्न है कि आपलोग सेवामयी और त्यागमयी नारी चन्दाबाई का समुचित सत्कार करने जा रहे है । हमारा दृढ मत है कि नारियाँ ही देश के कलेवर का परिष्कार कर सकती है । वह राष्ट्र जो अपनी नारियो को प्रतिष्ठित करने की बात नही सोच सकता, कभी भी विकास की चरमसीमा पर नही पहुँच सकता । हम श्री चन्दाबाई जी के दीर्घ-जीवन की कामना करती है तथा अपनी सस्था की ओर से उनके पाद-पद्मो में श्रद्धा के दो फूल चढाती है ।

—के० वेंकटेश्वरम्
प्रिसिपल महिला कालेज
हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

वर्तमान जैन-समाज में विद्वत्ता, त्याग, सेवा-कार्य, तत्परता, दान-शीलता और सदाचरण आदि उच्च सद्‌गुणो के एक ही जगह एक साथ पाये जाने का ज्वलन्त उदाहरण विदुषीरत्न ब्र० प० चन्दाबाई जी हैं । आप जैन-समाज की ही नही, वरन् भारतीय रमणियो के आदर्श का मूर्तिमान रूप है, जिन्हें देखकर प्राचीन सती-साध्वी आर्य ललनाओ का स्मरण हो आता है और हृदय श्रद्धावनत हो जाता है ।

आपने जैन-समाज की महान् सेवा की है । महिलावर्ग की एकमात्र प्रतिनिधि सस्था अ० भा० महिला-परिषद् से निकलने वाले पत्र जैनमहिलादर्श मासिक पत्र की सम्पादिका है । अनेक स्त्रियोपयोगी सुन्दर पुस्तको का लिखना जैन कन्याशालाओ की स्थापना, अगणित असहाय एव उत्पीडित बहनो को आश्रय दान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य आपके द्वारा हुए है और हो रहे है जो आपकी महत्ता के परिचायक है ।

आपका पवित्र जीवन समस्त नारियो के लिये अनुकरणीय है विशेष कर सपन्न घराने की बाल-विधवा बहनो के लिये तो आपका सपूर्ण चरित्र खूब अध्ययन और मनन करने योग्य है । आपने अपने जीवन का जैसा सदुपयोग किया है और जो असाधारण विद्वत्ता एव त्याग के साथ ही धारा-प्रवाह भाषण, लेखन एव पत्र-सपादन, देशभक्ति, सादगी और सरलता द्वारा असाधारणता प्राप्त की है यह हम महिलाओ के लिये गौरव का विषय है । आपकी तत्वज्ञता, धार्मिकता और नियमित कार्य-प्रणाली तथा समाज-सेवा की सतत लगन से मैं अधिक प्रभावित हूँ । वास्तव में ऐसी ही आदर्श देवियो से हमारा समाज और देश ऊँचा कहला सकता है । आप यथार्थ में एक वन्दनीय महिला है ।

पण्डिता जी का यह अभिनन्दन-ग्रन्थ महिला-समाज द्वारा तैयार कराकर, जो उनकी अनुपम सेवाओ से उपकृत होकर कृतज्ञता प्रदर्शनार्थ उन्हे भेंट किया जा रहा है, इससे मुझे हार्दिक प्रमोद है। मै इस अवसर पर पण्डिता जी का अभिनन्दन करती हूँ।

—कंचन बाई (सेठानी)
इन्दौर

पण्डिता चन्दा बाई जी का अपूर्व त्याग और आदर्श नारी-सद्गुणो का एक ज्वलन्त उदाहरण है। जिस समय नारियाँ अविद्या तथा कुरीतियो से घिरी हुई थी तब आपने एक कर्मठ समाज-सेविका के रूप में अवतरित हो कर उनके पथप्रदर्शक का कार्य आरम्भ किया। आपत्तिकाल को भी शुभाशुभ कार्यों का फल समझ कर आपने शांति-पूर्वक सहन कर लिया। आप में अद्भुत प्रेम एवं दया है। आपका स्वदेश-प्रेम भी सराहनीय है। १९२१ ई० के आन्दोलन से आप बराबर शुद्ध खादी धारण करती है।

आपके-पथ प्रदर्शन के फलस्वरूप आज जैन समाज में अनेक नारियाँ लेखिका, कवयित्री एव समाज-सेविका है। आपने महिला समाज को पूर्णतया धार्मिक शिक्षा देकर उन्हें पारलौकिक मार्ग सुझाया है। आपका 'महिलादर्श' पत्र सन् १९२१ ई० से नवीन लेखिकाओ को प्रोत्साहन दे रहा है एव गृह-शिक्षा, शिशुपालन, कर्त्तव्यपरायणता, पातिव्रत आदि उच्च कोटि के सामाजिक विषयो पर निबन्ध प्रकाशित करता आ रहा है।

दुखी नारी समाज को त्राण देने के लिए आपने आरा शहर के धनुपुरा नामक ग्राम में 'श्री जैन बाला विश्राम' नामक एक शिक्षण सस्था को जन्म दिया है। इसके धार्मिक वातावरण में संकटाकुल महिलाएँ जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण पाती है, एक नयी आशा की झलक देखती है और निकलती है उच्च चरित्र, सयम और सादगी को अपने व्यक्तित्व में सँजोये हुए।

नारी-सगठन के लिए आपने १९१९ ई० में 'अखिल भारतीय महिला परिषद्' की स्थापना की। उस समय से सतत यह सस्था नारी में ऐक्य-भावना की जागृति कर रही है।

पण्डिता जी का शास्त्र-ज्ञान अपूर्व है और इसके बलपर आप धुरन्धर विद्वानो से जटिल दार्शनिक तत्त्वो पर वादविवाद करती है। आपके शब्द कठिन विषयो की व्याख्या में भी बड़े ही मार्मिक सरल एव उपयुक्त होते है।

आपने पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित इस युग में भी सदा अपनी भारतीय सस्कृति को महत्त्व दिया एव नारी-हृदय में इसके विशुद्ध रूप का संचार कर मिटती सस्कृति को नव जन्म दिया है।

आप में माता का स्नेह, वीराङ्गनाओ का शौर्य, कुल ललनाओ की सहिष्णुता एव उदारता है । आप का हिन्दी भाषा पर पूर्णाधिकार है तथा आपने अपने कर-कमलो से हृदय को भाव एव मस्तिष्क को विचार दे अनेक महिलोपयोगी साहित्य की रचना की है । जिन सौभाग्यशालिनी नारियो पर आपका प्रभाव पडा, वे देश-प्रेम, स्वावलम्बन, धर्मानुराग, कर्त्तव्यपरायणता एव सहनशीलता से विभूषित हो उठी । आपके सम्बन्ध मे जितना लिखा जाय थोडा है। आप दीर्घजीवी होकर नारी जाति का कल्याण करे, यही सतत भावना है ।

—लज्जावती जैन, विशारद

देहरादून

जिनके आशीर्वाद से नही, सिर्फ चरण रज से कोटिश प्राणियो का कल्याण हुआ तथा उनके जीवन में प्रकाश की दीप्ति दीपित हुई, उन्हें आज क्या अर्पण करूँ ? सिर्फ तुच्छ भाव कुसुमो को, जो उद्रेक मचा रहे है और बाहर निकलने के लिए हलचल मचा रहे है उन्ही मुरझाये तथा अधखिले पुष्पो को आप के चरणो मे बिखेर देना चाहती हूँ ।

मुझे अपना सौभाग्य ही कहना पडेगा कि मुझे छुटपन से ही आपकी छत्रच्छाया में रहने का अवसर मिला ।

जब मै १८ वर्ष की थी, मुझे कठोर वैधव्य का भार वहन करना पडा । मै बिल्कुल अनाथ हो गयी । आपने मृदुल वाणी के द्वारा ससार से विरक्ति का उपदेश दिया । उस दिन से मुझे यह ज्ञात हुआ कि इनकी वाणी में जरूर कोई दिव्य तेज है, वास्तव में वही तेज आज साकार बनकर बाला-विश्राम के कण-कण में व्याप्त हो रहा है ।

पर्दा तथा अशिक्षा का जमाना था । उस समय मे आपने पढने के लिए मुझे प्रेरित किया । मैंने बहुत मना किया, किन्तु फिर नत होना पडा और मैं कलकत्ते पढने के लिए भेज दी गयी । अभाग्य था, कलकत्ते में मेरा स्वास्थ्य बिगड गया । अन्तत इलाहाबाद में मैंने इण्टर तक शिक्षा प्राप्त की । फिर बीमारियो ने आ घेरा और लाचार हो मुझे पढना छोड देना पडा । बीमार होने पर रुपये पानी की तरह बहाये, पर निराश हो अध्ययन छोडना पडा । क्योकि जीजी का कहना था कि स्वास्थ्य के ऊपर ही पढना, धर्म-ध्यान सब अवलम्बित हैं । तब से अब तक मै अपना सारा समय आपके चरणो मे व्यतीत करती आरही हूँ । थोडे दिनो के उपरान्त अपने परिश्रम तथा अपूर्व त्याग से आपने बालाविश्राम की स्थापना एक निर्जनवन में की । आपकी शक्ति तथा तेज को देखकर बडे-बडे तपस्वी विस्मित होते है तथा आपके सयम के आगे उन्हें नत होना पडता है ।

इनमें एक विशेषता यह है कि काम करते समय ये अत्यन्त गभीर तथा कार्यशीला प्रौढा बन जाती हैं किन्तु बच्चो की दुनिया में बच्ची । कोई लडकी, घर की स्मृति आ जाने पर जब रोती हुई आ जाती है उस समय जरा देखिये कितना प्यारा मनोविनोद करती है । उपदेश के साथ ही साथ छोटे-छोटे चुटकुले तथा कहानियाँ, कहती हैं कि रोती हुई लडकियाँ भी हँस देती है । आपकी शरण में हम माँ - बहनो सबको भूल जाती है क्योकि माँ नही देवी माँ मिली है । फिर स्मृति कैसी ?

एक घटना याद है। एक दिन सन्ध्या समय आप सामयिक करने में ध्यानमग्न थी, अभाग्यवश शायद चीटियाँ आपका ध्यान भग्न करने के लिए आप पर टूट पडी । पैरो में काटा फिर भी उन्हें तृप्ति नही मिली—ऊपर चढी हाथो में काटा, कुछ चीटियो ने शरीर के भीतर धावा बोल दिया, किन्तु आप रचमात्र भी विचलित नही हुई । जब आपका सामयिक समाप्त हुआ, आँखें खुली, देखा चीटियो का समुदाय । बडी कोमलता से उन्हें हटाया, जिससे वे मर न जायँ ।

अचानक मै वहाँ पहुँची । देखा हाथो में, पैरो मे बडे-बडे ददोरे पडे हुए है, सहम उठी । कहाँ इतना कोमल शरीर और कहाँ दुष्ट चीटियो का आक्रमण ! खुजली से बेचैन होने पर भी दिव्य हँसी मुखपर अठखेलियाँ कर रही थी । मेरे बहुत आग्रह करने पर थोडा सा तैल पैरो मे लगा लिया और कहने लगी—ब्रजबाला, इतने से ही विचलित हो गयी, मानव जीवन में न जाने कितनी मुसीबतें आती है, मुसीबतो का आना तो जरूरी है किन्तु उनसे डर जाना ही कायरता है । उनकी एक-एक बात वास्तव में दिल की वाणी होती है । मेरा मस्तक नत हो गया, और मैंने मन-ही-मन उस दिव्य मूर्ति का स्तवन किया, मेरा दिल गूँज उठा—धन्य देवि धन्य . माँ धन्य. . जीजी तुम्ही तो सब कुछ हो ।

आपकी सहनशीलता सराहनीय है, आपत्तियो—कठिनाइयो के आने पर सदा डटी रहती है । घबडाना तो दूर रहा, मुख पर शिकन भी नही आती, किन्तु उससे लडने के लिए कटिबद्ध हो जाती हैं ।

दुनिया का नियम है जो आता है वह जरूर जाता है और सिर्फ छोड जाता है अपनी अक्षय कीर्ति अथवा अपनी निन्दनीय आलोचना । मत्र-तत्र के बल कुछ नही कर सकते मोहवश मनुष्य रोता है, विलपता है, और हाथ मलता रह जाता है ।—यही आपका पावन उपदेश है ।

मुझे सिर्फ आपकी शरण चाहिए, मेरा जीवन अमर बन जायगा, आपके पवित्र चरण रज से मेरे जीवन का उद्धार होना सभव है ।

अन्त मे मै यह प्रार्थना करती हूँ कि पूज्य जीजी शतशत वर्ष जियें, दिल पुकार उठता है अपनी जीजी, पूज्य जीजी के लिए क्या न करूँ . . पर सिर्फ एक दुराशा मात्र है ।

मेरी तुच्छ श्रद्धाजलि आपके चरणो में सादर समर्पित है—आप युग-युग वर्ष जियें और मानवता की पथ-प्रदर्शिका बनी रहें, यही मेरी तुच्छ कामना है ।

—ब्रजबालादेवी, जैन

मैं अपने पूज्य पिता के देहावसान के बाद अपनी छोटी अवस्था में विधवा माँ के साथ कारजा आश्रम मे पढती थी। चार-पाँच साल की उस छोटी अवस्था मे ही उस आश्रम के एक योग्य चिकित्सक आदर्श जीवन का महत्त्व समझाते हुए प० चन्दाबाई जी का उदाहरण देते और तब मेरा हृदय इस महिमामयी नारी के प्रति श्रद्धा से भर उठता।

थोडी बडी होने पर 'महिलादर्श' मे उनका नाम देख कर एव जैन समाचारपत्रो में उनकी यशोगाथा पढकर उन्हे देखने की बलवती इच्छा मेरे अन्तर मे जाग उठी, पर आरा की लम्बी दूरी ने उनसे प्रत्यक्ष का अवसर न आने दिया। जब मै अध्ययनार्थ सोलापुर श्राविकाश्रम मे गयी तो वहाँ भी उनका गुणानुवाद सुनने को मिला।

एक बार मैं सुमति बाई जी के साथ महाराज शातिसागर के दर्शनार्थ यात्रा को गयी। फलटण मे सुना कि श्री चन्दाबाई भी आयी है और यह सुनकर मेरा हृदय हर्ष से परिपूरित हो उठा। पण्डिता सुमति बाई जी के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था अत जब वे मिली तब उनमे बातें होने लगी और मैं शात निश्चल-सी श्री चन्दा बाई का सौम्य रूप निहारती रही। जब स्नेह से गीले स्वर मे मुझसे उन्होने पूछा—कि 'बेटी! तुम क्या पढती हो और कहाँ की हो!' तो मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। उसी समय मैंने अनुभव किया कि उनका बाह्य व्यक्तित्व ही इतना प्रभावशाली है कि इसकी छाप अमिट होती है। रात्रि को वे एक सिर्फ पतली-सी चादर बिछा कर सो गयी। उनकी इस सादगी से मैं और भी प्रभावित हुई। यह उनसे मेरी पहली भेंट थी।

दूसरी भेंट का अवकाश तब मिला जब मैं पुन प० सुमति बाई के साथ श्री शिखर जी की वन्दना को गई। वहाँ महिला अधिवेशन था और वहाँ प० चन्दाबाई जो भी पधारी थी। परिषद् का सारा कार्य आप और अपने साथ आयी हुई कुछ छात्राओ से करवाती थी। परिषद् का काम समाप्त कर मै आरा 'बाला आश्रम' के दर्शनार्थ गयी। यह आश्रम आपकी सेवाओ और स्नेह का मूर्त्त रूप है। स्टेशन पर देखा मैंने आपकी व्यस्तता। सेवक और छात्राओ के रहते हुए भी अपने सामान आदि का प्रबन्ध आप कर रही थी। आपके उस जीवन की झाँकी के पटपर मुझे यह पक्ति उद्धृत सी लगी। 'Trifles make perfection, but perfection is no trifle' (छोटी-छोटी बातें जीवन को पूर्ण बनाती है किन्तु वह पूर्णता कभी महत्त्व-हीन नही होती)।

मै कर्मठ माँ के चरणो में अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हुई उनके दीर्घ जीवन की कामना करती हूँ।

—विद्युतलता शाहा बी० ए०

सोलापुर

श्री ब्र० प० चन्दाबाई जी जैन-समाज के उन नारी-रत्नो में से एक है, जिनके प्रकाश से आज जैन-जगत् का कोना-कोना उद्भासित हो रहा है। मेरी जैसी अनेक बालाएँ उनके पादमूल मे रहकर ज्ञानार्जन कर चुकी है। मेरा ऐसा विश्वास है कि उनके अलौकिक तेज का प्रभाव अव्यक्त रूप से ही सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियो पर ऐसा पडता है जिससे जीवन की गति-विधि परिवर्तित हुए विना नहीं रहती। मै माँश्री के चरणो में श्रद्धा के सुमन चढाती हुई, उनकी चिरायु की कामना करती हूँ।

—सूरजमुखी देवी, न्यायतीर्थ
मुजफ्फरनगर

माँश्री चन्दावाई जी का मेरे जीवन पर अद्भुत प्रभाव पडा है। मैंने उनसे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अनेक वातें सीखी है तथा परोपकारिणी माँ का स्नेहाञ्चल मेरे ऊपर सदा रहता है, अत मैं उनके चरणारविन्द में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना अपना कर्तव्य समझती हूँ।

—सुशीलादेवी जैन
आगरा

जिनसे माँ की ममता, स्नेह और सद्शिक्षा अनेक युवतियाँ प्राप्त कर चुकी है तथा जिन्होने सुपुप्त नारी-समाज को जगाया, उसका लालन-पालन किया और उसे सब प्रकार से सवल वनाया, उन देवी की अर्चना करना मानवमात्र का कर्तव्य है। मै स्नेहशीला माँ के चरणो में अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित करती हूँ।

—चन्द्रमुखी देवी, न्यायतीर्थ
डिब्रूगढ (आसाम)
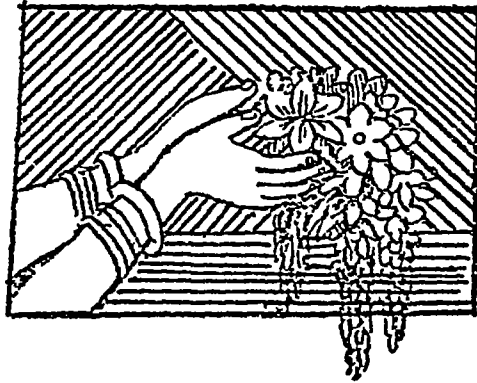
दर्शन-धर्म

जैन दार्शनिक-साहित्य की पृष्ठभूमि

श्री प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

प्रागैतिहासिक स्थिति—

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस कल्पकाल मे पहले भोगभूमि थी। यहाँ के निवासी कल्पवृक्षो से अपनी जीवन-यात्रा चलाते थे। उनके खाने-पीने पहनने-ओढने के भूषण, मकान सजावट, प्रकाश और आनन्द-विलास की सब आवश्यकताएँ इन वृक्षो से पूर्ण हो जाती थी। इस समय न शिक्षा थी और न दीक्षा। सब अपने भोगविलास में मग्न थे। जनसख्या कम थी। युगल उत्पन्न होते थे और जीवनभर साथ-साथ रहते थे तथा मरते भी साथ थे। जब धीरे-धीरे यह भोगभूमि की व्यवस्था क्षीण हुई, जनसख्या बढी और कल्पवृक्षो की शक्ति प्रजा की आवश्यकता-पूर्ति नही कर सकी, तब कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। भोगभूमि में सन्तान-युगल के उत्पन्न होते ही माँ-बाप युगल मर जाते थे। अत समाज-रचना का प्रश्न ही नही था। वह युगल बडा हुआ और कल्पवृक्षो से अपनी शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति करके अपना भोगजीवन बिताता था। परन्तु जब सन्तान अपने जीवनकाल में ही होने लगी, तब उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा की समस्याएँ सामने आयी और तब व्यक्तियो के भोग-जीवन से कर्मयुग आरम्भ हुआ। इसी समय चौदह कुलकर या मनु उत्पन्न होते है जो उन्हें खाना पकाना, बर्तन बनाना, खेती करना, जगली पशुओ से अपनी रक्षा करना, उनका सवारी आदि में उपयोग करना, चन्द्रसूर्य आदि से निर्भय रहना, दड-व्यवस्था आदि सब कुछ सिखाते है। वे मकान बनाना, नगर-गाँव बसाना आदि सभी व्यवस्थाएँ जमाते है इसीलिए इन्हें कुलकर या मनु कहते हैं। अन्तिम कुलकर ने बच्चो की नाभि या नाल काटना सिखाया था, इसीलिए इन्हें नाभिराय कहते थे। इनकी युगल सहचरी का नाम मरुदेवी था।

आद्य तीर्थंकर—

इनसे आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव नामक पुत्र हुए। इनके समय से ही वस्तुत कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ हुई। इन्होने अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को अक्षराभ्यास कराने के लिए लिपि बनायी जो आगे ब्राह्मीलिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई। भरत इनके पुत्र थे जिनके नाम से इस देश का "भारत" नाम पडा। भरत बडे ज्ञानी और विवेकी थे। ये राज्य सम्हालते हुए भी सम्यग्दृष्टि थे। इन्हे "विदेह" भरत कहा जाता था। ये षट्खडाधिपति चक्रवर्ती कहे जाते थे। ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में समाज-व्यवस्था की स्थिरता के लिए प्रजा का क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजन किया। जो रक्षा करने में कटिबद्ध थे उन्हें क्षत्रिय, व्यापार और कृषि-प्रधान वृत्ति वालो

को वैश्य और शिल्प आदि से आजीविका करने वालो को शूद्रवर्ग मे स्थान दिया। पीछे भरत ने इन्ही में से व्रतचारित्रधारी विशिष्ट व्यक्तियों का ब्राह्मण वर्ग बनाया जिसका आधार व्रत-सस्कार रहा। इस तरह यह गुणकर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था हुई। ये कर्मभूमि की व्यवस्था के अग्र-सूत्रधार थे। अत इन्हे आदि ब्रह्मा या आदिनाथ भी कहते हैं। प्रजा की रक्षा मे तत्पर इन प्रजा-पति ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में जिस प्रकार व्यवहारी राजधर्म और समाज-व्यवस्था का प्रवर्तन किया, उसी तरह तीर्थकाल मे व्यक्ति की शुद्धि और समाज में शान्तिस्थापन के लिए "धर्मतीर्थ" का भी प्रवर्तन किया। "अहिंसा" को मूल धर्म बताया। इसी अहिंसा को सामाजिक रूप देने के लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतो का उपदेश दिया। राज्य का परित्याग कर ये सर्वथा नग्न रहे और परम निर्ग्रन्थ दिगम्बर दशा में अपनी आत्म-साधना परिपूर्ण कर इनने कैवल्य प्राप्त किया। राज्यकाल में की गई समाज-रचना और व्यवहार-व्यवस्थाओ के सधारण तथा व्यक्ति की शुद्धि के लिए "धर्म" का आद्य उपदेश इन्ही आदिनाथ ने दिया। ये प्रथम तीर्थंकर थे और इन्होने इस कल्प-काल मे धर्मतीर्थ का सस्थापन किया था। इनकी ऐतिहासिकता को डा० हर्मन जैकोबी तथा सर राधा-कृष्णन् आदि ने स्वीकार किया है। भागवत (५।२ ६) मे जो ऋषभदेव का वर्णन मिलता है वह जैन-परम्परा के वर्णन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। भागवत में जैनधर्म के सस्थापक के रूप में ऋषभ-देव का उल्लेख होना और आठवे अवतार के रूप मे उनका स्वीकार किया जाना इस बात का साक्षी है कि ऋषभ के जैनधर्म सस्थापक होने की अनुश्रुति* निर्मूल नही है। बौद्ध-दर्शन† ग्रन्थो में दृष्टान्ता-भास या पूर्वपक्ष के रूप में जैनधर्म के प्रवर्तक या स्याद्वाद के उपदेशक के रूप मे ऋषभ और वर्द्धमान का ही नामोल्लेख है। इन्होने मूल अहिंसाधर्म का आदि उपदेश दिया और इसी अहिंसा की स्थायी प्रतिष्ठा के लिए उसके आधारभूत तत्त्वज्ञान का भी निरूपण किया है। इनने समस्त आत्माओ को स्वतत्र द्रव्य और अपने में परिपूर्ण अखण्ड मौलिक मान कर अपनी तरह जगत् के समस्त प्राणियो को जीवित रहने के समान अधिकार को स्वीकार किया और अहिंसा के सर्वोदय रूप की सजीवनी जगत को दी। अहिंसा के मानस रूप की प्रतिष्ठा विचार-क्षेत्र मे लाने के लिए आदि प्रभु ने जगत के अनेकान्त स्वरूप का उपदेश दिया। इनने बताया कि जगत का प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्म, गुण, पर्यायों का आकार है। उसके विराट् रूप को पूर्णज्ञान स्पर्श भी कर ले पर वह शब्दो के द्वारा कहा नही जा सकता। वह अपने ही दृष्टिकोणो से अनन्त रूप में देखा जाता और कहा जाता है। अत. इस अनेकान्त समुद्र को शान्ति और गभीरता से देखे। दूसरो के दृष्टिकोणो का आदर करो, क्योकि वे भी तुम्हारी ही तरह वस्तु के स्वरूपाशो को ग्रहण करने वाले है। इस तरह अनेकान्त दर्शन वस्तुस्वरूप के विचार-क्षेत्र में दृष्टि की एकागता और सकुचितता से होने वाले मतभेदो को उखाड कर मानस समता की सृष्टि करेगा और वीतरागचित्त की पुष्टि में उर्वरभूमि का काम देगा। मानस अहिंसा के लिए जहाँ विचार शुद्धि करने

---

* खंडगिरि उदयगिरि की हाथीगुफा के २१०० वर्ष पुराने लेख से ऋषभदेव की प्रतिमा की कुल-क्रमागतता और प्राचीनता स्पष्ट है। यह लेख कलिंगाधिपति खारवेल ने लिखाया था। इस प्रतिमा को नन्द ले गया था। पीछे खारवेल ने इसे नन्द के ३०० वर्ष बाद पुष्यमित्र से प्राप्त किया था।

† टि० न्यायविनिश्चय परि० ३।
तत्त्व सं० स्याद्वाद परीक्षा

वाले अनेकान्त दर्शन की मूल आधार के रूप में उपयोगिता है वहाँ वचन की निर्दुष्ट प्रणाली भी आवश्यक है। क्योकि अनेकान्त को व्यक्त करने के लिए एकान्ती शब्द समर्थ नही हो सकते। इसीलिए स्याद्वादरूप वचन-पद्धति का उपदेश दिया गया, जिससे प्रत्येक वाक्य अपने में सापेक्ष रहकर स्ववाच्याश की प्रधानता बताता हुआ भी अन्य अशो का लोप नही करता। उनकी सत्ता से इन्कार नही करके उनका गौण अस्तित्व मानता है। इसीलिए इन धर्मतीर्थंकरो की स्याद्वादी के रूप में स्तुति की जाती है † जो इनके तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की प्रणाली का वर्णन है। इनने प्रमेय का स्वरूप उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त बताया है। प्रत्येक "सत्" चाहे वह चेतन हो या अचेतन हो त्रिलक्षण युक्त परिणामी है। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरो ने जहाँ अहिंसा मूलधर्म का उपदेश दिया वहाँ प्रमेय का स्वरूप त्रिलक्षण परिणामी के रूप में बताया। प्रमेयो को देखने-जानने का प्रकार अनेकान्त दर्शन तथा उसके वर्णन करने की पद्धति स्याद्वाद और इसीके परिवार भूत नय सप्तभगी आदि का विवेचन किया। जैनदर्शन के त्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्त दृष्टि स्याद्वाद और स्वतत्र आत्मा की सत्ता ये आधारभूत मुद्दे हैं। प्रमेय का षट्द्रव्य, साततत्त्व आदि रूप विवेचन-विवरण की बात है।

भगवान् ऋषभदेव के बाद अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर और हुए। इनने अपने युग में इसी सत्य का उद्घाटन किया।

२२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ—

बाइसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे। जब इनके विवाह का जुलूस नगर में घूम रहा था और युवक कुमार नेमिनाथ अपनी नवसगिनी राजुल की सुख-सुषमा के रगीले स्वप्न में झूमते हुए दूल्हा बनकर रथ में सवार थे उसी समय बारात में आये हुए मासाहारी राजाओ के स्वागतार्थ इकट्ठे किये गये विविध पशुओ की भयकर चीत्कार इनके कानो में पडी। इस एक चीत्कार ने नेमिनाथ के हृदय से अहिंसा का स्रोत फोड दिया। और उन दयामूर्ति ने उसी समय रथ से उतर कर उन पशुओ के बधन अपने हाथो खोले। विवाह की वेशभूषा और विलास के स्वप्नो को असार समझ भोग से योग की ओर अपने चित्त को मोड दिया और बाहर-भीतर की समस्त गांठो को खोल ग्रन्थिभेद-कर—परम निर्ग्रन्थ साधना में लीन हुए। इन्ही का अरिष्टनेमि के रूप मे उल्लेख वेद में भी आता है।

२३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ—

२३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ बनारस में उत्पन्न हुए थे। वर्तमान भेलपुर उनका जन्मस्थान माना जाता है। ये राजा अश्वसेन और महारानी वामादेवी के नयनो के तारे थे। जब ये आठ वर्ष के थे तब एक दिन अपने सगी-साथियो के साथ गगा के किनारे घूमने जा रहे थे। गगा तट पर कमठ नामक तपस्वी पचाग्नि तप तप रहा था। दयामूर्ति कुमार पार्श्व ने एक जलते हुए लक्कड मे

† "धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्य. स्वात्मोपलब्धये" ॥ लघीय० श्लो० १।

अधजले नाग-नागिनी को बाहर निकाल कर प्रतिबोध दिया, उन मृतप्राय नागयुगल पर अपनी दया ममता उडेल दी। वे नाग युगल धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप मे इनके भक्त हुए। कुमार पार्श्व का इस प्रकार के बाल तप तथा जगत की विषम हिंसापूर्ण परिस्थितियो से चित्त विरक्त हो उठा। इस युवा कुमार ने शादी-विवाह के बधन मे न बधकर जगत के कल्याण के लिए योगसाधना का मार्ग ग्रहण किया। पालीपिटको में बुद्ध का जो प्राक् जीवन मिलता है और छ वर्ष तक बुद्ध ने जो कुछ साधनाएँ की थी उससे निश्चित होता है कि उस काल में बुद्ध पार्श्वनाथ की परम्परा के तपोयोग में भी दीक्षित हुए थे। इनके चातुर्याम सवर का उल्लेख बराबर आता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इस चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक भगवान पार्श्वनाथ थे, यह जैन-ग्रन्थो के उल्लेखो से भी स्पष्ट है। उस समय स्त्री परिग्रह में शामिल थी और उसका त्याग अपरिग्रह व्रत में आ जाता था। इनने अहिंसा आदि तत्त्वो का उपदेश दिया।

अन्तिम तीर्थंकर महावीर—

इस युग के अतिम तीर्थकर भगवान् महावीर थे। ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व इनका जन्म कुण्डि ग्राम में हुआ था। वैशाली के पश्चिम में गण्डकी नदी है उसके पश्चिम तट पर ब्राह्मण कुण्डपुर, क्षत्रिय कुण्डपुर, वाणिज्य ग्राम, करमार ग्राम और कोल्लाक सन्निवेश जैसे अनेक उपनगर या शाखाग्राम थे। इसीलिए भगवान् महावीर का जन्मस्थान वैशाली माना जाता है। क्योकि कुण्डग्राम वैशाली का ही उपनगर था। इनके पिता सिद्धार्थ काश्यप गोत्रीय ज्ञात क्षत्रिय थे। और ये उस प्रदेश के राजा थे। रानी त्रिशला की कुक्षि से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि में कुमार वर्द्धमान का जन्म हुआ। इनने अपने बाल्यकाल में सञ्जय विजय (सभवत बेलट्ठिपुत्र) के तत्त्व विषयक सशय का समाधान किया था, इसलिए लोग इन्हें सन्मति भी कहते थे। ३० वर्ष तक ये कुमार रहे। उस समय की विषम परिस्थिति ने इनके चित्त को स्वार्थ से जनकल्याण की ओर फेरा। उस समय की राजनीति का आधार धर्म बना हुआ था। वर्ग स्वार्थियो ने धर्म की आड में धर्मग्रन्थो के हवाले दे देकर अपने वर्ग के सरक्षण की चक्की में बहुसख्यक प्रजा को पीस डाला था। ईश्वर के नाम पर ब्राह्मण वर्ग विशेष प्रभुसत्ता लेकर ही उत्पन्न होता था। इसके जन्मजात उच्चत्व का अभिमान स्ववर्ग के सरक्षण तक ही नही फैला था, किन्तु शूद्र आदि वर्गों के मानवोचित अधिकारो का अपहरण कर चुका था, और वह तब हो रहा था धर्म के नाम पर। स्वर्गलाभ के लिए अजमेध से लेकर नरमेध तक धर्मवेदी पर होते थे। जो धर्म प्राणी-मात्र के सुख-शान्ति और उद्धार के लिए था वही हिंसा, विषमता, प्रताडन और निर्दलन अस्त्र बना हुआ था। कुमार वर्द्धमान का मानस इस हिंसा और विषमता से होनेवाले मानवता के उत्पीडन से दिन-रात बेचैन रहता था। वे व्यक्ति की निराकुलता और समाज-शान्ति का सरल मार्ग ढूढना चाहते थे, और चाहते थे मनुष्य मात्र की समभूमिका निर्माण करना। इसी सर्वोदय की प्रेरणा ने उन्हें ३० वर्ष की भरी जवानी में राजपाट को छोडकर योग-साधन की ओर प्रवृत्त किया। जिस परिग्रह के अर्जन, रक्षण, सग्रह और भोग के लिए वर्ग स्वार्थियो ने धर्म को राजनीति में दाखिल किया था, उस परिग्रह की बाहर-भीतर की गाँठें खोलकर वे परम निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो अपनी मौन साधना में लीन हो गये। १२ वर्ष तक कठोर साधना करने के बाद ४२ वर्ष की उम्र में इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। ये वीत-

राग और सर्वज्ञ बने। ३० वर्ष तक इन्होंने धर्मतीर्थ का प्रचार कर ७२ वर्ष की अवस्था में पावा नगरी से निर्वाण लाभ किया।

सत्य एक और त्रिकाल-अबाधित होता है--

नाथपुत्त भगवान् महावीर को कुल-परम्परा से यद्यपि पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान की धारा प्राप्त थी, पर ये उस तत्त्वज्ञान के मात्र प्रचारक नही थे, किन्तु अपने जीवन मे अहिंसा की पूर्ण साधना करके सर्वोदय मार्ग के निर्माता थे। मै पहले बता आया हूँ कि इस कर्मभूमि में आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के बाद बाईस तीर्थंकर हुए थे। ये सभी वीतराग और सर्वज्ञ थे। इन्होंने अहिंसा की परम ज्योति से मानवता के विकास का मार्ग आलोकित किया था। व्यक्ति को निराकुलता और समाज मे शान्ति स्थापन करने के लिए जो मूलभूत तत्त्वज्ञान और जो सत्य साक्षात्कार अपेक्षित होता है उसको ये तीर्थंकर युगरूपता देते हैं। सत्य त्रिकालाबाधित और एक होता है।‡ उसकी आत्मा देश, काल और उपाधियो से परे सदा एकरस होती है। देश और काल उसकी व्याख्याओ मे यानी उसके शरीरो मे भेद अवश्य लाते हैं, पर उसकी मूलधारा सदा एकरस-वाहिनी होती है। इसीलिए जगत के असख्य श्रमणसन्तो ने व्यक्ति की मुक्ति और जगत की शान्ति के लिये एक ही प्रकार के सत्य का साक्षात्कार किया है और वह व्यापक सत्य है "अहिंसा"। इसी अहिंसा की दिव्यज्योति विचार-क्षेत्र मे अनेकान्त के रूप मे प्रकट होती है तो वचन व्यवहार के क्षेत्र मे स्याद्वाद के रूप मे जगमगाती है, और समाजशान्ति के लिये अपरिग्रह के रूप में स्थिर आधार बनाती है। यानी आचार मे अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह ये वे चार महान् स्तम्भ है जिनपर जैनधर्म का सर्वोदयी भव्य प्रासाद खडा हुआ है। युग-युग में तीर्थंकरो ने इसी प्रासाद का जीर्णोद्धार किया है और इसे युगानुरूपता देकर इसके समीचीन स्वरूप को स्थिर किया है।

जगत का प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नही होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस प्रकार त्रिलक्षण है कि कोई भी पदार्थ चेतन हो या अचेतन इस नियम का अपवाद नही है। यह त्रिलक्षण परिणाम वाद जैनदर्शन के मण्डप की आधारभूमि है। इस त्रिलक्षण परिणाम-वाद की भूमि पर अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद पद्धति के स्तम्भो पर जैनदर्शन का तोरण बाधा गया है। विविध नय सप्तभगी, निक्षेप आदि इसकी झिल-मिलाती हुई झालरे है। भगवान् महावीर ने धर्म क्षेत्र में मानवमात्र को समान अधिकार दिये थे, जाति-कुल-शरीर आकार के बन्धन धर्माधिकार मे बाधक नही थे। धर्म आत्मा के सद्गुणो के विकास का नाम है। सद्गुण के विकास अर्थात् सदाचरण धारण करने में किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार्य नही हो सकता। राजनीति व्यवहार के लिए कैसी भी चले, किन्तु धर्म की शीतल छाया प्रत्येक के लिए समान भाव से सुलभ हो यही उनकी अहिंसा और समता का लक्ष्य था, और इसी लक्ष्यनिष्ठा ने धर्म के नाम पर किये जाने वाले पशुयज्ञो को निरर्थक

---

‡ जो य अतीता पडुप्पन्ना अनागता य भगवतो अरिहता ते सव्वे एयमेव धम्म

—आचारांगसूत्र

ही नही अनर्थक भी सिद्ध कर दिया। अहिंसा का झरना एक बार हृदय से जब निकलता है तो वह मनुष्यो तक ही नही प्राणिमात्र के सरक्षण और पोषण तक जा पहुँचता है। अहिंसक सत की प्रवृत्ति तो इतनी स्वावलम्बिनी तथा निर्दोष हो जाती है, जिसमे प्राणिघात की कम से कम सम्भावना रहती है।

जैन-श्रुत—

वर्तमान में जो श्रुत उपलब्ध हो रहा है, वह इन्ही महावीर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट है। इन्होने जो कुछ अपनी दिव्य ध्वनि से कहा उसको इनके शिष्य गणधरो ने ग्रन्थ रूप में गूथा। अर्थागम तीर्थंकरो का होता है और शब्द शरीर की रचना गणधर करते है। वस्तुत तीर्थंकरो का प्रवचन दिन में तीन बार या चार बार होता था। प्रत्येक प्रवचन में कथानुयोग, द्रव्यचर्चा, चारित्र निरूपण और तात्त्विक विवेचन सभी कुछ होता था। यह तो उन गणधरो की कुशल पद्धति है, जिससे वे उनके सर्वात्मक प्रवचन को द्वादशाग में विभाजित कर देते है। चारित्र विषयक वार्ताएँ आचाराग मे, कथाश, ज्ञातृ धर्मकथा और उपासकाव्ययन आदि में, प्रश्नोत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति और प्रश्न व्याकरण आदि में आते है। यह सही है कि जो गाथाएँ और वाक्य आगम सकलन मे है उनमे कुछ वही हो जो भगवान् महावीर के मुखारविन्द से निकले हो। जैसे समय-समय पर बुद्ध ने जो मार्मिक गाथाएँ कही, उनका सकलन 'उदान' में पाया जाता है। ऐसी ही अनेक गाथाएँ और वाक्य उन-उन प्रसगो पर तीर्थंकरो ने कहे ही होगे। वे सब मूल अर्थ ही नही शब्द रूप में भी इन गणधरो ने द्वादशागी मे गूथे होगे। यह श्रुत अङ्गप्रविष्ट और अगवाह्य रूप में विभाजित है। अङ्गप्रविष्ट श्रुत ही द्वादशाग श्रुत है, यथा आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासक दशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिक दशा, प्रश्न व्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद श्रुत। दृष्टिवाद के पाच भेद है परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगत श्रुत के चौदह भेद है, उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्ति-नास्ति-प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान नामधेय, विद्यानुप्रवाद, कल्याण नामधेय, प्राणवाय, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार। तीर्थंकरो के साक्षात् शिष्य बुद्धि और ऋद्धि के अतिशय निधान श्रुत केवली गणधरो के द्वारा ग्रन्थबद्ध किया गया। यह अग पूर्व रूप श्रुत इसलिये प्रमाण है कि इसके मूल वक्ता परम अचिन्त्य केवल ज्ञान विभूति वाले परम ऋषि सर्वज्ञदेव है। आरातीय, आचार्यों के द्वारा अल्पमति शिष्यो के अनुग्रह के लिये जो दश वैकालिक उत्तराध्ययन आदि रूप में रचा गया अङ्गबाह्य श्रुत है, वह भी प्रमाण है क्योकि अर्थ रूप में यह श्रुत तीर्थंकर प्रणीत अगप्रविष्ट से जुदा नही है। यानी इस अगवाह्य श्रुत की परम्परा, चूकि अग प्रविष्ट श्रुत से बधी हुई है अत उसकी तरह प्रमाण है। जैसे क्षीर समुद्र का जल घडे में भर लेने पर मूल रूप मे वह समुद्र जल ही है†।

---

† तदेतत् श्रुत द्विभेदमनेकभेद द्वादशभेदमिति। किंकृतोऽयं विशेष.। वक्तृविशेषकृत। त्रयो वक्तार.। सर्वज्ञतीर्थकर.। इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उपदिष्टः। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणं तत्प्रमाणं तत्प्रामाण्यात्॥ आरातीयैः पुनराचार्यैः काल दोषात्सङ्क्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धं तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति। क्षीरार्णवजल घटगृहीतमिव।"

सर्वार्थसिद्धि १–२०

श्वेताम्बर परम्परा का आगम श्रुत—

वर्तमान मे जो आगम श्रुत श्वेताम्बर परम्परा को मान्य है, उसका अतिम सस्करण वलभी में वीर निर्वाण सवत् ९८० में हुआ था। विक्रम की ६ ठी शताब्दी में यह सकलन देवर्द्धिगण क्षमा श्रमण ने किया था। इस समय जो त्रुटित अत्रुटित आगम वाक्य उपलब्ध थे, उन्हें पुस्तकारूढ किया गया। उनमे अनेक परिवर्तन, परिवर्धन और सशोधन हुए। एक बात खास ध्यान देने की है कि महावीर के प्रधान गणधर गौतम के होते हुए भी इन आगमो की परम्परा द्वितीय गणधर सुधर्मास्वामी से जोडी गई है जबकि दिगम्वर परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थो का सम्बन्ध गौतम स्वामी से है। यह भी एक विचारणीय बात है कि श्वेताम्बर परम्परा जिसे दृष्टिवाद श्रुत का उच्छेद मानती है उसी दृष्टिवाद श्रुत के अग्रायणीय पूर्व से कषाय पाहुड पट्खडागम-महाबन्ध आदि सिद्धान्त ग्रन्थो की रचना हुई है। यानी जिस श्रुत का श्वेताम्वर परम्परा मे लोप हुआ, उस श्रुत की धारा दिगम्बर परम्परा में सुरक्षित है। और दिगम्बर परम्परा जिस अग-श्रुत का लोप मानती है उसका सकलन श्वेताम्वर परम्परा मे प्रचलित है।

श्रुतविच्छेद का मूल-कारण—

इस श्रुत-विच्छेद का एक ही कारण है वस्त्र। महावीर स्वय निर्वस्त्र परम निर्ग्रन्थ थे। यह दोनो परम्पराओ को मान्य है। उनके अचेलक धर्म की सगति आपवादिक वस्त्र को औत्सर्गिक मानकर नही बैठायी जा सकती। जिन कल्प्य आदर्श मार्ग था, इसकी स्वीकृति दशवैकालिक, आचाराग आदि में होने पर भी जव किसी भी कारण से एक वार आपावादिक वस्त्र घुस गया तो उसका निकलना कठिन हो गया। इतना ही नही जम्बू स्वामी के वाद जिन कल्प का उच्छेद मान कर इस काल मे जिन कल्प धारण करने वालो की 'निह्नवी' कहकर निन्दा की जाने लगी†। एक वस्त्र के साथ ही साथ पात्र आदि उपधियो की सख्या वढकर चौदह तक जा पहुँची। प्रसिद्ध विद्वान् पडित बेचरदास जी ने ठीक ही लिखा है कि "किसी वैद्य ने सग्रहणी के रोगी को दवा के रूप मे अफीम सेवन करने की सलाह दी थी, किन्तु रोग दूर होने पर भी जैसे उसे अफीम की लत पड जाती है, और वह उसे नही छोडना चाहता वैसे ही दशा इस आपवादिक वस्त्र की हुई है।" (जैन साहित्य में विकार पृ० ४०)

यह निश्चित है कि भगवान् महावीर को कुल-परम्परा से अपने पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ की आचार-परम्परा प्राप्त थी। यदि पार्श्वनाथ की परम्परा मे साधुओ के लिए वस्त्र की स्वीकृति होती तो महावीर स्वय नग्नता को साधुत्व का अनिवार्य व्यावहारिक रूप न देते और न स्वय नग्न दिगम्वर रहकर ही साधना करते। चातुर्याम पार्श्वनाथ का था। उसमे अहिंसा, सत्य और अचौर्य के साथ अपरिग्रह तो दोनो को स्वीकृत ही था। प्रश्न ब्रह्मचर्य के पृथक् मानने न मानने का था। जव पार्श्व शिष्य स्त्री का परिग्रह किये विना ही अनाचार मे लिप्त होने लगे तव यह आवश्यक हुआ कि ब्रह्मचर्य

† जैन-दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन पृ० १।

को स्वतत्र भाव से महाव्रत माना जाय। अत पाच महाव्रत के रूप में महावीर का शासन प्रचलित हुआ। सर्वप्रथम महावीर ने जब दीक्षा ली और सर्वसावद्ययोग का त्याग कर समस्त परिग्रह को छोड वाहर भीतर की गाँठ खोल परमनिर्ग्रन्थ वने तव उनने लेशमात्र भी परिग्रह अपने पास नही रक्खा था। यदि पार्श्वनाथ के सिद्धान्त मे वस्त्र की गुजाइश होती और उसका अपरिग्रह के साथ मेल होता तो महावीर को सर्वप्रथम साधक अवस्था में ही उसके त्याग की न तो तुक ही थी और न आवश्यकता ही। महावीर के देवदूष्य की कल्पना करके वस्त्र की अनिवार्यता और औचित्य की सगति वैठाना आदर्श मार्ग को नीचे ढकेला है।

अस्तु, हमें तो यहाँ यह देखना है कि श्वेताम्वर परम्परा-सम्मत आगमो में, और दिगम्वर परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थो मे जैन-दर्शन के क्या वीज मौजूद है ?

जैन-दर्शन के मुख्य-स्तम्भ—

अनेकान्त दृष्टि, स्याद्वाद भाषा और उत्पादादि त्रयात्मक परिणामवाद एव स्वतत्र आत्मद्रव्य की सत्ता इन चार महान् स्तम्भो पर जैन-दर्शन का भव्य प्रासाद खडा हुआ है और इन चार मुद्दो के उल्लेख दिगम्वर, श्वेताम्वर सिद्धान्त-ग्रन्थ और आगमो में प्रचुरता से पाये जाते है। हमे जैन-दार्शनिक साहित्य का सामान्यावलोकन करते समय आज तक के उपलब्ध सभी परम्पराओ के साहित्य को ध्यान में रखकर ही काल-विभाग इस प्रकार करना होगा‡।

१	सिद्धान्त आगमकाल	वि० ५ वी तक—
२	अनेकान्त स्थापनकाल	वि० ५ वी से ८ वी तक—
३	प्रमाण व्यवस्था युग	वि० ८ वी से १७ वी तक—
४	नवीन न्याय युग	१८ वी से

युगो का यह विभाजन प्रो० दलसुखजी ने किया है।

दि० सिद्धान्त ग्रन्थो मे पट्खडागम, महाबन्ध, कषायपाहुड और कुन्दकुन्दाचार्य के पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि मुख्य है। पट्खडागम के कर्त्ता आचार्य भूतवलि और पुप्पदत है एव कषाय पाहुड के रचयिता है गुणधर आचार्य। आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोक प्रज्ञप्ति में (गाथा ६६ से ८२) भगवान् महावीर के निर्वाण के वाद की आचार्य-परम्परा और उसकी ६८३ वर्ष की काल-गणना वताई है।†

‡ "मण परमोहि पुलाए आहारा खवग उवसमे कप्पे।
सजमतिय-केवलसिज्झणा जबुम्मि वुच्छिण्णा ॥२५९३॥" विशेषा भा० ०

†. जिस दिन भगवान् महावीर को मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधर ने केवलज्ञान पद पाया। जव गौतमस्वामी सिद्ध हो गये तव सुधर्मा स्वामी केवली हुए। सुधर्मा स्वामी के मोक्ष जाने के वाद जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए। इन केवलियो का काल ६२ वर्ष है। इनके वाद नन्दि, नन्दिमित्र अपराजित, गोवर्धन और महावाहु ये पाच श्रुतकेवली हुए। इन पाँचो का काल १०० सौ वर्ष होता है। इनके वाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयनाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, वुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म

इस प्रकार ६८३ वर्ष के बाद ही धवला और जयधवला के उल्लेखानुसार धरसेनाचार्य को सभी अगो और पूर्वों के एकदेश का ज्ञान आचार्य-परम्परा से प्राप्त हुआ। जबकि नन्दि सघ की प्राकृत पट्टावली से इस बात का समर्थन नही होता, उसमें लोहाचार्य तक का काल ५६५ वर्ष दिया है। इसके बाद एक अग के धारियो में अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदत और भूतबलि इन पाच आचार्यों को गिनाकर उनका काल क्रमश २८, २१, १६, ३०, और २० वर्ष दिया है। इस हिसाब से भूतबली और पुष्पदन्त का समय ६८३ वर्ष के भीतर ही आ जाता है। विक्रम सवत् १५५६ में लिखी गई बृहत् टिप्पणिका† नाम की सूची में धरसेन द्वारा वीर-निर्वाण सवत् ६०० में बनाये गये "जोणि-पाहुड" ग्रथ का उल्लेख है। इससे भी उक्त समय का समर्थन होता है‡। यह स्मरणीय है कि भूतबली पुष्पदन्त ने दृष्टिवाद के अन्तर्गत द्वितीय अग्रायणी पूर्व से षट्खडागम की रचना की है। और गुणधराचार्य ने ज्ञानप्रवाद नामक पाचवें पूर्व के दश में वस्तु—अधिकार के अन्तर्गत तीसरे पेज्ज दोष प्राभृत से कषाय पाहुड की रचना की है। इन सिद्धान्त ग्रथो में जैन-दर्शन के मूल मुद्दे आत्मद्रव्य, अनेकान्त दृष्टि, उत्पादादि त्रयात्मक परिणामवाद और स्याद्वाद तथा उसके परिवारभूत नय आदि के सूक्ष्मबीज बिखरे हुए हैं। स्थूल रूप से इनका समय वीर-निर्वाण सवत् ६१४ यानी विक्रम की दूसरी शताब्दी (वि० स० १४४ और ईसा की प्रथम (सन् ८७) शताब्दी सिद्ध होता है। ×

युगप्रधान आचार्य कुन्द-कुन्द का समय विक्रम की ३ री शतादी के बाद तो किसी भी तरह नही लाया जा सकता, क्योकि मरकरा के ताम्रपत्र में कुन्दकुन्दान्वय के ६ आचार्यों का उल्लेख है।

ये ११ ग्यारह आचार्य क्रमश. दश पूर्व के धारियो में विख्यात हुए। इनका काल १८३ वर्ष है। इसके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाच आचार्य ११ ग्यारह अंग के धारी हुए। इनके बाद भरत क्षेत्र में कोई ११ ग्यारह अंग का धारी नहीं हुआ। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशो बाहु और लोह ये चार आचार्य आचाराङ्ग के धारी हुए। ये सभी आचार्य ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के एक देश के ज्ञाता थे। इनका समय ११८ वर्ष होता है। अर्थात्, गौतम गणधर से लेकर लोहाचार्य पर्यन्त कुल काल का परिणाम ६८३ वर्ष होता है।

तीन केवलज्ञानी—६२ वर्ष
पाँच ५ श्रुतकेवली—१०० सौ वर्ष
ग्यारह अंग और दश पूर्व के धारी—२२० वर्ष
चार आचाराङ्ग के धारी—११८ वर्ष
कुल ६८३ वर्ष

हरिवंश पुराण, धवला जयधवला, आदि पुराण तथा श्रुतावतार आदि में भी लोहाचार्य तक के आचार्यों का काल यही ६८३ वर्ष दिया गया है।

(देखो, जयधवला प्रथमभाग प्रस्तावना—पृष्ठ ५४७–५०)

---

† योनि प्राभृतम् वीरात् ६०० धारसेनम् (बृहट्टिपणिका जैन स्त० सं० १–२ परिशिष्ट)

‡ देखो धवला प्रथमभाग प्रस्तावना —पृ० २३–३०

× धवला प्रथम भाग —पृ० ३५ और जयधवला प्रस्तावना—पृ० ६४

यह ताम्रपत्र सवत् ३८८ में लिखा गया था। उन ६ आचार्यों का समय यदि १५० वर्ष भी मान लिया जाय, तो शक सवत् २३८ में कुन्दकुन्दान्वय के गुणनन्दि आचार्य मौजूद थे। और कुन्दकुन्दान्वय प्रारम्भ होने का समय स्थूल रूप से यदि १५० वर्ष मान लिया जाता है तो लगभग विक्रम की १ पहली और २ री शताब्दी कुन्दकुन्द का समय निश्चित होता है। डाक्टर उपाध्याय ने इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी ही अनुमान किया है।† आचार्य कुन्द-कुन्द के पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, समयसार आदि ग्रथो में जैन-दर्शन के उक्त चार मुद्दो के न केवल बीज ही मिलते हैं, किन्तु उनका विस्तृत विवेचन और सागोपाग व्याख्यान भी उपलब्ध होता है। जैसा कि इस ग्रथ के उन-उन प्रकरणो से स्पष्ट होगा। सप्तभगी नय, निश्चय-व्यवहार, पदार्थ, तत्व, अस्तिकाय आदि सभी विषयो पर आ० कुन्दकुन्द की सफल लेखनी चली है। अध्यात्मवाद का अनूठा विवेचन तो इन्ही की देन है।

श्वे० आगम ग्रथो में भी उक्त चार मुद्दो के बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं।‡ "इसके लिए विशेष रूप से भगवती, सूत्र कृताग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानाग, समवायाग और अनुयोग द्वार मुख्य हैं।

भगवती सूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरो में नय, प्रमाण सप्तभगी, अनेकान्त वाद आदि के दार्शनिक विचार हैं।

सूत्र कृताग में भूतवाद, ब्रह्मवाद का निराकरण करके पृथक् आत्मा तथा उसका नानात्व सिद्ध किया है। जीव और शरीर का पृथक् अस्तित्व बताकर कर्म और कर्मफल की सत्ता सिद्ध की है। जगत् को अकृत्रिम और अनादि अनन्त प्रतिष्ठित किया है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद का निराकरण कर विशिष्ट क्रियावाद की स्थापना की गई है। प्रज्ञापना में जीव के विविध भावो का निरूपण है।

राजप्रश्नीय में श्रवण केशी ने राज प्रदेशी के नास्तिकवाद का निराकरण अनेक युक्तियो, और दृष्टान्तो से किया है। नन्दीसूत्र जैन-दृष्टि से ज्ञानचर्चा करनेवाली अच्छी रचना है। स्थानाग और समवायाग में की रचना बौद्धो के अगुत्तर निकाय के ढग की है। इन दोनो में भी आत्मा, पुद्गल ज्ञान, नय, प्रमाण आदि विषयो की चर्चा आई है। उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा यह मातृका त्रिपदी स्थानाग में उल्लिखित है जो उत्पाद आदि त्रयात्मकता के सिद्धान्त का निरपवाद प्रतिपादन करती है। अनुयोग द्वार में प्रयाण और नय तथा तत्वो का शब्दार्थ प्रक्रिया-पूर्वक अच्छा वर्णित है। तात्पर्य यह कि जैन-दर्शन के मुख्य स्तम्भो के, न केवल बीज किन्तु विवेचन भी इन आगमो में मिल जाता है।

ऊपर मैंने जिन चार मुद्दो की चर्चा की है उन्हें सक्षेप में ज्ञापकतत्त्व या उपायतत्त्व और उपेयतत्व इन दो भागो में बाँटा जा सकता है। विषय प्रवेश के इस प्रकरण में इन दोनो की दृष्टि से जैन-दर्शन का लेखा-जोखा कर लेना उचित है।

---

† प्रवचनसार की प्रस्तावना

‡ देखो 'जैन-दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन'

ज्ञापक-तत्त्व—

सिद्धान्त-आगम काल मे मति, श्रुति, अवधि, मन. पर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान मुख्य-तया ज्ञेय के जानने के साधन माने गये है। इनके साथ ही नयो का स्थान भी अधिगम के उपायो में है। आगमिककाल में ज्ञान की सत्यता और असत्यता (सम्यक्त्व एव मिथ्यात्व) बाह्य पदार्थों को यथार्थ जानने या न जानने के ऊपर निर्भर नही थी, किन्तु जो ज्ञान आत्म-सशोधन एव मोक्षमार्ग में उपयोगी सिद्ध होते थे वे सच्चे और जो मोक्षमार्गोपयोगी नही थे वे झूठे कहे जाते थे। लौकिक दृष्टि से शत-प्रतिशत सच्चा ज्ञान यदि मोक्षमार्गोपयोगी नही है, तो वह झूठा और लौकिक दृष्टि से मिथ्याज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी है तो वह सच्चा कहा जाता था। इस तरह सत्यता और असत्यता की कसौटी वाह्य पदार्थों के अधीन न होकर मोक्षमार्गोपयोगिता पर निर्भर थी। इसीलिए सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सच्चे और मिथ्या दृष्टि के सभी ज्ञान झूठे कहलाते है। वैशेषिक सूत्र में विद्या और अविद्या शब्द के प्रयोग वहुत कुछ इसी भूमिका पर है।

इन पाँचो का प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप में विभाजन भी पूर्वयुग में एक भिन्न ही आधार से था। वह आधार था आत्ममात्र-सापेक्षत्व अर्थात् जो ज्ञान आत्ममात्र-सापेक्ष थे वे प्रत्यक्ष तथा जिनमें इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित होती थी वे अप्रत्यक्ष। लोक में जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहते है वे ज्ञान आगमिक परम्परा में परोक्ष थे।

कुन्द-कुन्द और उमास्वाति—

आ० उमास्वाति या उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म का आदि सस्कृत ग्रन्थ है। इसमें जीव-अजीव आदि सात तत्त्वो का विस्तार से विवेचन है। जैन-दर्शन के सभी मुख्य मुद्दे इसमे सूचित है। इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी है। इनके तत्त्वार्थसूत्र और आ० कुन्द-कुन्द के प्रवचन-सार में ज्ञान का प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदो में विभाजन स्पष्ट होने पर भी उनकी सत्यता और असत्यता का आधार तथा लौकिक प्रत्यक्ष को परोक्ष कहने की परम्परा जैसी की तैसी चालू थी। यद्यपि कुन्द-कुन्द के पचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार और समयसार ग्रन्थ तर्कगर्भ आगमिक शैली में लिखे गये है, फिर भी इनकी भूमिका दार्शनिक की अपेक्षा आध्यात्मिक ही है।

पूज्यपाद—

तत्त्वार्थसूत्र पर तत्वार्थाधिगमभाष्य स्वोपज्ञ समझा जाता है। इसमें भी दर्शनान्तरीय चर्चाएँ नही के बरावर है। आ० पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नाम की सारगर्भ टीका लिखी है जिसमें तत्त्वार्थ के सभी प्रमेयो का विवेचन है। इनके इष्टोपदेश समाधितन्त्र आदि ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टि से ही लिखे गये है। हाँ, जैनेन्द्र व्याकरण में आदि सूत्र इनने 'सिद्धिरनेकातात्' ही वनाया है।

समन्तभद्र-सिद्धसेन

जब बौद्ध-दर्शन में नागार्जुन, वसुबधु, असग तथा बौद्ध-न्याय के पिता दिग्नाग का युग आ गया और दर्शनशास्त्रियो में बौद्धदार्शनिक के तार्किक अश या परपक्ष खडन का प्रारभ हो चुका था, उस

समय जैन-परम्परा में युग-प्रधान स्वामी समन्तभद्र और न्यायावतारी सिद्धसेन का उदय हुआ। इनके सामने सैद्धान्तिक एव आगमिक परिभाषाओ और शब्दो को दर्शन के चौखटे में बैठाने का महान् कार्य था। इस युग में जो धर्म-सस्था प्रतिवादियो के आक्षेपो का निराकरण कर स्व-दर्शन-प्रभावना नही कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे में था। अत परचक्र से रक्षा के लिए अपने दुर्ग, स्वत सवृत करने के महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ इन दो महान् आचार्यो ने किया।

स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इनने आप्त की स्तुति करने के प्रसग से आप्त मीमासा युत्यानुशासन और वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र में एकान्तवादो की आलोचना के साथ ही साथ अनेकान्त का स्थापन, स्याद्वाद का लक्षण, सुनय-दुर्नय की व्याख्या और अनेकान्त में अनेकान्त लगाने की प्रक्रिया बताई। इनने † वुद्धि और शब्द की सत्यता और असत्य का आधार मोक्षमार्गोपियोगिता की जगह वाह्यार्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति को वताया है। 'स्वपरावभासक वुद्धि प्रमाण है,' यह प्रमाण का लक्षण स्थिर किया तथा अज्ञान निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा को प्रमाण का फल वताया। इनका समय ४ थी और ५ वी शताब्दी का मध्यभाग है। आ० सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतिसूत्र में नय और अनेकान्त का गभीर, विशद और मौलिक विवेचन तो किया ही है पर उनकी विशेषता है न्याय के अवतार करने की। इन्होने प्रमाण के स्वपरावभासक लक्षण में 'वाधवर्जित' विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया।

इनन ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता की जगह धर्मकीर्ति की तरह मेयविनिश्चय को रखा। यानी इन आचार्यों के युग से 'ज्ञान' दार्शनिक क्षेत्र में अपनी प्रमाणता वाह्यार्थ की प्राप्ति या मेयविनिश्चय से ही सावित कर सकता था। आ० सिद्धसेन ने न्यायावतार में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद किये हैं। इस प्रमाणात्रित्ववाद की परम्परा आगे नही चली। इनने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो के स्वार्थ और परमार्थ भेद किये। अनुमान और हेतु का लक्षण करके दृष्टान्त-दूषण आदि परार्थानुमान के समस्त परिकर का निरूपण किया है।

पात्रकेशरी और श्रीदत्त—

जव दिग्नाग ने हेतु का लक्षण 'त्रिलक्षण' स्थापित किया और हेतु के लक्षण के साथ शास्त्रार्थ की पद्धति पर ही शास्त्रार्थ होने लगे तव पात्रस्वामी ने त्रिलक्षण-कदर्थन और श्रीदत्त ने जल्पनिर्णय ग्रयो में हेतु का अन्यथानुपत्ति रूप से 'एक लक्षण' स्थापित किया और वाद का सागोपाग विवेचन किया।

जिनभद्र और अकलंक—

आ० जिनभद्र गणिक्षमाश्रमण (ई० ७ वी सदी) अनेकान्त नय आदि का विवेचन करते हैं तथा प्रत्येक प्रमेय में उसे लगाने की पद्धति भी वताते हैं। इनने लौकिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को, जो अभी तक परोक्ष कहा जाता था और इसके कारण व्यवहार मे असमजसता आती थी, सव्यवहार प्रत्यक्ष सज्ञा दी ‡। अर्थात् आगमिक परिभाषा के अनुसार यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष ही है, पर लोक-व्यवहार

† आप्तमीमासा (का० ८७)

‡ विशेषा० भाष्य गा० ६५

के निर्वाहार्थ उसे सव्यवहार प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह सव्यवहार शब्द विज्ञानवादी बौद्धो के यहाँ प्रसिद्ध रहा है।

भट्ट अकलक देव (ई० ७ वी) सचमुच जैन प्रमाणशास्त्र के सजीव प्रतिष्ठापक हैं। इनने अपने लघीयस्त्रय (का० ३, १०) में प्रथमत प्रमाण के दो भेद करके फिर प्रत्यक्ष के स्पष्ट रूप से मुख्य प्रत्यक्ष और साव्यावहारिक प्रत्यक्ष ये दो भेद किये हैं। परोक्ष प्रमाण के भेदो में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को अविशदज्ञान होने के कारण स्थान दिया। इस तरह प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा यहाँ से प्रारम्भ होती है।

यद्यपि अनुयोगद्वार, स्थानाग और भगवती सूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणो का निर्देश है, यह परम्परा न्यायसूत्र की है। तत्त्वार्थभाष्य में इस परम्परा को 'नयवादान्तरेण' रूप से निर्देश करके भी स्वपरम्परा रूप से स्पष्ट स्वीकार नही किया है और न उत्तरकालीन किसी जैनग्रथो में इनका कुछ विवरण या निर्देश ही है। समस्त उत्तरकालीन जैन दार्शनिको ने अकलक द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण-पद्धति को ही पल्लवित और पुष्पित करके जैन-न्यायोद्यान को सुवासित किया है।

उपाय-तत्त्व—

उपाय तत्त्वो में महत्त्वपूर्ण स्थान नय और स्याद्वाद का है। नय सापेक्ष दृष्टि का नामान्तर है और स्याद्वाद भाषा का वह निर्दोष प्रकार है, जिसके द्वारा अनेकान्त वस्तु के परिपूर्ण और यथार्थ रूप के अधिक से अधिक समीप पहुँचा जा सकता है। आ० कुन्द-कुन्द के पचास्तिकाय में सप्तभगी का हमें स्पष्टत प्रथम उल्लेख मिलता है। यद्यपि भगवती सूत्र में जिन अनेक भगजालो का वर्णन है उनमें से प्रकृत सातभग छाँटे जा सकते हैं। स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमासा में इसी सप्तभगी का अनेक दृष्टियो से विवेचन है। उसमें सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, द्वैत-अद्वैत, दैव-पुरुषार्थ, पुण्य-पाप आदि अनेक प्रमेयो पर इस सप्तभगी को लगाया गया है। सिद्धसेन के सन्मति में अनेकान्त और नय का विशद वर्णन है। आ० समन्तभद्र ने विधेय वाद आदि रूप से सात प्रकार का पदार्थ ही निरूपित किया है। दैव और पुरुषार्थ—जो विवाद उस समय दृढमूल था—उसके विषय में स्वामी समन्तभद्र ने स्पष्ट लिखा है कि न तो कोई कार्य केवल दैव से होता है और न केवल पुरुषार्थ से। जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अभाव में फल प्राप्ति हो वहाँ दैव की प्रधानता माननी चाहिये और पुरुषार्थ को गौण तथा जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से कार्य सिद्ध हो वहाँ पुरुषार्थ को प्रधान और दैव को गौण।

इस तरह समन्तभद्र और सिद्धसेन ने 'नय सप्तभगी' अनेकान्त आदि जैन-दर्शन के आधारभूत पदार्थों का सागोपाग विवेचन किया। इन्होने उस समय के प्रचलित सभी वादो का नय दृष्टि मे जैन-दर्शन में समन्वय किया और सभी वादियो में परस्पर विचार-सहिष्णुता और समता लाने का प्रयत्न किया। इसी युग मे न्यायभाष्य, योगभाष्य, शावरभाष्य आदि भाष्य रचे गये हैं। यह युग भारतीय तर्कशास्त्र के विकास का प्रारम्भ युग था। इसमें सभी दर्शन अपनी-अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। अपने

तर्कशास्त्र पैना रहे थे। सबसे पहला आक्रमण बौद्धो की ओर से हुआ जिसके सेनापति थे नागार्जुन और दिग्नाग। तब वैदिक दार्शनिक परम्परा में न्यायवार्तिककार उद्योत' मीमासा श्लोक वार्तिककार कुमारिलभट्ट आदि ने वैदिक दर्शन के सरक्षण में पर्याप्त प्रयत्न किये। आचार्य मल्लवादि ने द्वादशार नयचक्र ग्रन्थ में विविध अगो द्वारा जैनेतर दृष्टियो के समन्वय का सफल प्रयत्न किया। यह ग्रन्थ आज मूल रूप में उपलब्ध नही है। इसकी सिंहगणि क्षमाश्रमणकृत वृत्ति उपलब्ध है। इसी युग में सुमति श्रीदत्त, पात्रस्वामि आदि आचार्यों ने जैन-न्याय के विविध अगो पर स्वतन्त्र और व्याख्या ग्रन्थो का निर्माण प्रारम्भ किया।

विक्रम की ७ वी और ८ वी शताब्दी दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। इस समय नालन्दा के विश्वविद्यालय के आचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति का सपरिवार उदय हुआ। शास्त्रार्थों की धूम मची हुई थी। धर्मकीर्ति ने सदलबल प्रबलतर्कबल से वैदिक दर्शनो पर प्रचण्ड प्रहार किये। जैन दर्शन भी आक्षेपो से नही बचा था। यद्यपि अनेक मुद्दो में जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन समानतन्त्रीय थे, पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञान-वाद आदि बौद्धवादो का दृष्टिकोण ऐकान्तिक होने के कारण दोनो में स्पष्ट अन्तर या विरोध था। और इसीलिए इनका प्रबल खण्डन जैन-न्याय के ग्रन्थो में पाया जाता है। धर्मकीर्ति के आक्षेपो के उद्धारार्थ इसी समय प्रभाकर, व्योम शिव, मण्डनमिश्र, शकराचार्य, भट्ट जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, शालिक-नाथ आदि वैदिक दार्शनिको का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होने वैदिक दर्शन के सरक्षण के लिये भरसक प्रयत्न किये। इसी सघर्ष के युग में जैन न्याय के प्रस्थापक दो महान् आचार्य हुए। वे हैं—अकलक और हरि-भद्र। इनके बौद्धो से जमकर शास्त्रार्थ हुए। इनके ग्रन्थो का बहुभाग बौद्ध-दर्शन के खण्डन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदि का खण्डन अकलक के सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, प्रमाण-सग्रह, अष्टशती आदि प्रकरणो में पाया जाता है। हरिभद्र के शास्त्र-वार्ता समु-च्चय, अनेकान्त-जयपताका, अनेकान्तवाद प्रवेश आदि में बौद्ध-दर्शन की प्रखर आलोचना है। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। जहाँ वैदिक दर्शन के ग्रन्थो में इतर मतो का नय और स्याद्वाद पद्धति से विशिष्ट समन्वय भी किया है इस तरह मानस अहिंसा की उस उदार दृष्टि का परिपोषण किया है। हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, धर्मसग्रहणी आदि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

यहाँ यह लिखना अप्रासगिक नही होगा कि चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, मीमासक आदि मतो के खण्डन में धर्मकीर्ति ने जो अथक श्रम किया है उससे इन आचार्यों का उक्त मतो के खडन का कार्य बहुत कुछ सरल बन गया था।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रज्ञाकर गुप्त, कर्णकागोमि, शान्त रक्षित, अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक टीका, प्रमाण वार्तिकालकार, प्रमाण वार्तिक स्ववृत्ति टीका, तत्त्वसग्रह, वादन्याय टीका, हेतु-विन्दु टीका आदि ग्रन्थ रच चुके और इनमें कुमारिल, ईश्वरसेन, मडनमिश्र आदि के मतो का खण्डन कर चुके और वाचस्पति, जयन्त आदि उस खण्डनोद्धार के कार्य में व्यस्त थे, तब इसी युग में अनन्त-

वीर्य ने बौद्ध-दर्शन के खण्डन में सिद्धिविनिश्चय टीका बनाई । सिद्धसेन दिवाकर का सन्मतिसूत्र और अकलकदेव के सिद्धिविनिश्चय को जैन-दर्शन के प्रभावक ग्रन्थो मे स्थान प्राप्त है । आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्ट सहस्री, आप्त परीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्य शासन परीक्षा, युक्त्यनुशासन टीका जैसे जैन न्याय के मूर्धन्य ग्रन्थो को बनाकर अपना नाम सार्थक किया । इसी समय उदयनाचार्य , भट्टश्रीधर आदि वैदिक दार्शनिको ने वाचस्पति मिश्र के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया । यह युग विक्रम की ८ वी, ९ वी सदी का था । इसी समय आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुख सूत्र की रचना की, यह जैन न्याय का आद्य सूत्र-ग्रन्थ है, जो आगे के सूत्र-ग्रन्थो के लिए आधार आदर्श सिद्ध हुआ ।

विक्रम की दसवी सदी मे आचार्य सिद्धर्षिसूरि ने न्यायावतार पर टीका रची ।

विक्रम की ११–१२ वी सदी को जैन-दर्शन का एक प्रकार से मध्याह्लोत्तर युग समझना चाहिए । इसमें वादिराज सूरि ने न्यायविनिश्चय विवरण और प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल मार्तण्ड, न्याय-कुमुद जैसे बृहत्काय टीका ग्रन्थो का निर्माण किया । शान्ति सूरि ने जैन-तर्क वार्तिक, अभय देवसूरि ने सन्मति तर्क टीका, जिनेश्वर सूरि का प्रमाण लक्षण, अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द सूरि की प्रमाण मीमासा, वादिदेव सूरि का प्रमाण नयतत्त्वालोकालकार और स्याद्वाद रत्नाकर, चन्द्रप्रभ सूरि का प्रेमयरत्नकोष, मुनिचन्द्र सूरि का अनेकान्त-जयपताका टिप्पण आदि ग्रन्थ इसी युग की कृतियाँ हैं ।

तेरहवी शताब्दी में मलयगिरि आचार्य एक समर्थ टीकाकार हुए । इसी तरह मल्लिषेण की स्याद्वाद मजरी की रत्नप्रभ सूरि की रत्नाकरावतारिका, चन्द्रसेन की उत्पादादिसिद्धि, रामचन्द्र गुणचन्द्र के द्रव्यालकार आदि ग्रन्थ लिखे गये ।

१४ वी सदी मे सोमतिलक की षड्दर्शन समुच्चय टीका, १५ वी सदी में गुणरत्न की षड्-दर्शन समुच्चय बृहद्वृत्ति, राजशेखर की स्याद्वाद-कलिका आदि, त्रैविद्यदेव का विश्वतत्त्व प्रकाश आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये । धर्मभूषण की न्यायदीपिका भी इसी युग की कृति है ।

विक्रम की तेरहवी सदी में गगेशोपाध्याय ने नव्यन्याय की नीव डाली और प्रमाण प्रमेय को अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड दिया । सत्रहवी शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय जी ने नव्य-न्याय की परिष्कृत शैली में अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया और उस युगन्त विचारो का समन्वय तथा नव्यढग से परिष्कृत करने का आद्य और महान् प्रयत्न किया । विमलदास की सप्तभगिनी तरगिणी नव्यशैली की अकेली और अनूठी रचना है । अठारहवी सदी में यशस्वत् सागर ने सप्तपदार्थी आदि ग्रन्थो की रचना की ।

इस तरह अकलकदेव के प्रतिष्ठापित प्रमाणशास्त्र पर अनेको विद्वच्छिरोमणि आचार्यों ने ग्रन्थ लिखकर जैन-दर्शन के विकास में जो भगीरथ प्रयत्न किये हैं, उनकी एक झलक मात्र दिखाई गई है । इसी तरह आपके उत्पादादि त्रयात्मक स्वरूप तथा आत्मा के स्वतन्त्र तथा अनेक आपकी सिद्धि उक्त

आचार्यों के ग्रन्थो में बराबर पाई जाती है। मूलत जैनधर्म आचार-धर्म-प्रधान है। इसमें तत्त्वज्ञान का उपयोग भी आचारशुद्धि के लिए ही है। यही कारण है कि तर्क जैसे शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यो ने समन्वय और समता के स्थापन में किया है। दार्शनिक कटाकटी के युग में भी इस प्रकार की समता और उदारता तथा एकता के लिए प्रयोजक समन्वय दृष्टि का कायम रखना अहिंसा के पुजारियो का ही कार्य था। स्याद्वाद के स्वरूप तथा उसके प्रयोग की विधियो के विवेचन में ही जैनाचार्यों ने उसके ग्रन्थ लिखे है। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करने में जैन-दर्शन का अकेला और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार सूक्तियाँ अन्यत्र कम मिलती है। यथा—

नवबीजाकुर-जलदा रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

अर्थात् जिसके ससार को पुष्ट करने वाले रागादि दोष विनष्ट हो गये है, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो उसे नमस्कार है।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह ॥

अर्थात् मुझे महावीर से राग नही है और न कपिल आदि से द्वेष, जिसके भी युक्तियुक्त वचन हो उसकी शरण जाना चाहिए।

जैन-दर्शन

पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, आचार्य स्या० वि०, काशी

प्रचलित पद्धति के अनुसार भारतीय दर्शन के दो मुख्य भाग किये जाते हैं—एक आस्तिक दर्शन और दूसरा नास्तिक दर्शन। जो दर्शन वेद को प्रमाण मानकर प्रचलित हुए हैं, उनकी गणना आस्तिक दर्शनों में की जाती है। ऐसे दर्शन मुख्य रूप से छ हैं—साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमासा और उत्तर मीमासा। और जो वेद का प्रामाण्य स्वीकार नही करते, उनकी गणना नास्तिक दर्शन में की जाती है। ऐसे दर्शन तीन हैं—जैन, बौद्ध और चार्वाक।

किन्तु भारतीय दर्शनो का यह श्रेणी-विभाजन 'नास्तिको वेदनिन्दक'—जो वेद की निन्दा करता है वह नास्तिक है, नास्तिक शब्द की इस व्याख्या पर निर्भर है। पाणिनि सूत्र 'अस्ति नास्ति दिष्ट मति ४।४।६०' का व्याख्यान करते हुए काशिकाकार ने 'परलोकोऽस्तीति यस्य मति स आस्तिक। तद्विपरीतो नास्तिक।' 'जो परलोक को मानता है वह आस्तिक है और जो उसे नही मानता वह नास्तिक है' यही व्याख्या आस्तिक और नास्तिक शब्द की की है। भट्टोजी दीक्षित ने भी उसीका अनुसरण किया है। इस व्याख्या के अनुसार जैन-दर्शन भी अन्य वैदिक दर्शनो की तरह कट्टर आस्तिक दर्शन है, क्योंकि वह आत्मा, परलोक और मुक्ति वगैरह का अस्तित्व मानता है। बौद्ध-दर्शन में यद्यपि आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है तथापि परलोक, निर्वाण वगैरह का अस्तित्व वह भी मानता है। अत भारतीय दर्शनो में एक चार्वाक दर्शन को छोडकर शेष सभी दर्शन आस्तिक हैं।

अत भारतीय दर्शन का प्रचलित श्रेणि-विभाग केवल सम्प्रदायपरक है। यथार्थ में तो उसके दो ही विभाग हो सकते हैं—एक श्रमण दर्शन और दूसरा ब्राह्मण दर्शन। क्योकि अतिप्राचीन काल से भारत में दो परम्पराएँ चली आती हैं—एक श्रमण-परम्परा और दूसरी ब्राह्मण-परम्परा। वेद-विरोधी दर्शन श्रमण-परम्परा के अनुगामी हैं और वेदानुगामी दर्शन ब्राह्मण-परम्परा के। सम्भवत इसीसे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'येषाञ्च विरोध शाश्वतिक' इस पाणिनिसूत्र के वार्तिक का व्याख्यान करते हुए 'श्रमण-ब्राह्मणम्' उदाहरण दिया है।

एक समय निरीश्वरवादी साख्य दर्शन भी श्रमण-परम्परा का ही अनुयायी था। किन्तु बाद मे उसे ब्राह्मण-दर्शन में सम्मिलित कर लिया गया। और इस तरह आज श्रमण-परम्परा के अनुयायी दो ही दर्शन शेष हैं।

ब्राह्मण-दर्शनो में न्याय, वैशेषिक, साख्य और उत्तर मीमासा दर्शनो में ज्ञान-मीमासा के साथ ज्ञेय-मीमासा को प्रधानता दी गई है। परन्तु योग और श्रमण-परम्परा के अनुगामी बौद्ध-दर्शन

में चारित्र-मीमासा को प्रधानता दी गई है । इस तरह भी उक्त भारतीय दर्शन इस दृष्टि से दो भागो में विभक्त है—एक ज्ञेय मीमासा प्रधान और दूसरे चरित्र मीमासा प्रधान । किन्तु जैन-दर्शन में ज्ञेय-मीमासा और चारित्र-मीमासा को अथवा विचार और आचार को समान स्थान दिया गया है । इसलिए उसकी तत्त्व-समीक्षा एक ओर जीव और अजीव का कथन करके जगत् का स्वरूप दर्शाती है तो दूसरी ओर चारित्र का निरूपण करके उसके अन्तिम साध्य मोक्ष का मार्ग बतलाती है ।

जैन-दर्शन का मूल—

प्रत्येक विशिष्ट दर्शन के मूल में उसके प्रवर्तक की एक खास दृष्टि होती है जो उस दर्शन की आधारभूत होती है । जैन-दर्शन भारतीय दर्शनो में एक विशिष्ट दर्शन है अत उसके प्रवर्तक तीर्थंकरो की एक खास दृष्टि उसके मूल में है । वह दृष्टि है अनेकान्त और अहिंसा की । जितना भी जैन विचार है वह सब अनेकान्त दृष्टि के आधार पर अवलम्बित है और जितना भी जैन आचार है उस सबके मूल में अहिंसा है ।

अनेकान्त और अहिंसा—

किन्तु अनेकान्त और अहिंसा ये दो भिन्न दृष्टियाँ नही है किन्तु एक ही दृष्टि के दो नाम या दो रूप है । वही दृष्टि जब विचार क्षेत्र में प्रवेश करती है तो अनेकान्त के नाम से कही जाती है और जब वह आचार के क्षेत्र में अवतरित होती है तो अहिंसा के नाम से पुकारी जाती है । अत जहाँ अनेकान्त दृष्टि है वही अहिंसा है और जहाँ अहिंसा है वही अनेकान्त दृष्टि है । अथवा अनेकान्त ही अहिंसा है और अहिंसा ही अनेकान्त है । जैन-दर्शन के इस आधारभूत तत्त्व को हृदयङ्गम कर लेने से जैन-दर्शन की तत्त्व-व्यवस्था और आचार-व्यवस्था को समझने में कोई कठिनाई नही रह जाती ।

१. द्रव्य—

जैनधर्म एक द्रव्य पदार्थ को ही मानता है और उसे इस रूप में मानता है कि उसके मानने पर दूसरे पदार्थों के मानने की आवश्यकता नही रहती । आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में द्रव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वय धुवत्त सजुत्त ।
गुणव च सपज्जाय ज त दव्व तिबुच्चति ।।३।।

अर्थात् —जो गुण और पर्याय से सहित है तथा अपने अस्तित्व स्वभाव को न छोडकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सयुक्त है, उसे द्रव्य कहते है ।

यही लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र मे भी किया है । इस लक्षण में गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहा है । जैसे जीव एक द्रव्य है, उसमें सुख ज्ञान आदि गुण पाये जाते है, और मनुष्य नारक आदि पर्याय पाये जाते है जिनके कारण द्रव्य अपने सजातीय द्रव्यो से मिलते हुए और विजातीय

द्रव्यो से भिन्न प्रतीत होते हैं, उन्हें गुण कहते है, और जो सदा स्थिर न रहकर प्रतिक्षण वदलता रहता है उसे पर्याय कहते हैं। ये गुण और पर्याय द्रव्य के ही आत्मस्वरूप है, इसलिए ये किसी भी हालत में द्रव्य से पृथक् नही होते। अर्थात् ऐसा नही है कि गुण पृथक् हैं पर्याय पृथक् हैं और उनसे द्रव्य कोई पृथक् पदार्थ है। किन्तु सदा से द्रव्य गुणपर्यायात्मक ही है।

द्रव्य को गुण और पर्याय का आधार वतलाने के सिवाय उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से भी सहित वतलाया है। जैसे मिट्टी से घट वनाते समय मिट्टी का पिंडरूप पर्याय नष्ट होता है, घट पर्याय उत्पन्न होता है और मिट्टी कायम रहती है। ऐसा नही है कि पिंड पर्याय का नाश पृथक् समय में होता है और घट पर्याय की उत्पत्ति पृथक् समय में होती है। किन्तु जिस समय में पहले पर्याय का नाश होता है उसी समय में उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है। और इस तरह प्रतिसमय पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होते हुए भी द्रव्य ध्रुव रहता है। अत द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सयुक्त है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और उसमें प्रतिसमय परिवर्तन होता रहता है, किन्तु परिवर्तन के होते हुए भी वस्तु अपने स्वभाव को नही छोड देती। जैसे एक बालक धीरे-धीरे वढता हुआ युवा हो जाता है और फिर युवा बूढा हो जाता है। बचपन से युवापन और युवापन से वुढापा एकदम नही आ जाता किन्तु वच्चे में प्रतिसमय जो परिवर्तन होता रहता है वही समय पाकर युवापन के रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्रतिसमय होनेवाला परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि उसे हम देख नही पाते। इस परिवर्तन के होते हुए भी उस वच्चे में एक ऐसी एकरूपता बनी रहती है जिसके कारण हम उसे वडा होने पर भी पहचान लेते हैं। यदि ऐसा न मानकर वस्तु को सर्वथा नित्य ही मान लिया जाय तो उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकेगा। और यदि केवल अनित्य ही मान लिया जाय तो वह क्षणिक हो जायगी। अत द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाला है। चूँकि द्रव्य में गुण ध्रुव होते है और पर्याय विनाशशील अत द्रव्य को गुणपर्याय का आधार कहो या उत्पाद विनाश ध्रौव्यात्मक कहो एक ही वात है। द्रव्य के इन दोनो लक्षणो में कोई भेद नही है। किन्तु एक दूसरे का व्यजक है।

२. स्याद्वाद—

जव वस्तु का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है तब सभी वस्तुएँ नित्यानित्य सिद्ध होती हैं। जैन दृष्टि से न कोई वस्तु नित्य है और न कोई वस्तु सर्वथा अनित्य। आकाशादि जो नित्य कहे जाते हैं उनमें भी प्रतिसमय उत्पाद व्यय हो रहा है और दीपक आदि जो अनित्य प्रतीत होते हैं वे भी द्रव्य रूप से ध्रुव हैं, क्योकि द्रव्य का नाश नही होता। ऐसी स्थिति में किसी को नित्य ही और किसी को अनित्य ही कहना वस्तुस्थिति के विरुद्ध है। हाँ, प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है पर्याय रूप से अनित्य है।

इसी तरह कोई भी वस्तु केवल सत् नही है। केवल सत् या सर्वथा सत् का मतलव होता है जो किसी भी तरह से असत् न हो। किन्तु यदि वस्तु को केवल सत् ही माना जायगा और किसी

भी रूप से असत् न माना जायगा तो सब वस्तुएँ सब रूप से हो जायँगी और किसी भी वस्तु का कोई प्रतिनियत असाधारण स्वरूप नही रहेगा। उदाहरण के लिये घट (घडा) और पट (कपडा) ये दो वस्तु है। घट भी वस्तु है और पट भी वस्तु है। किन्तु हम जब किसी से घट लाने को कहते है तो वह घट ही लाता है, पट नही लाता। पट लाने को कहते है तो वह पट ही लाता है, घट नही लाता। इससे सिद्ध होता है कि पट-पट ही है, घट नही है और घट घट ही है, पट नही है। न घट पट है, न पट घट है। किन्तु है दोनो। परन्तु दोनो का अस्तित्व अपनी-अपनी मर्यादा में ही सीमित है—उसके बाहर नही है। यदि वस्तुओ में वह मर्यादा न रहे तो घट पट की तो बात ही क्या, किन्तु सभी वस्तुएँ सब रूप हो जायँगी। क्योंकि वस्तु का वस्तुपना दो बातो पर कायम है—एक स्व-रूप का ग्रहण, दूसरे पर-रूप का अपोहन (त्याग)। जैसे घट का घटत्व तभी तक कायम है जब तक वह अपने स्वरूप को अपनाये हुए है और अपने से भिन्न जो पट आदि अन्य वस्तुएँ है उनके स्वरूप को नही अपनाता। और यह तभी बन सकता है जब उस घट में उसके अतिरिक्त सब वस्तुओ का अभाव माना जाय, क्योकि जिसका भी अभाव उसमें नही माना जायगा उसीका उसमें सद्भाव मानना होगा और ऐसा होने से वे वस्तुएँ एक हो जायँगी। अत प्रत्येक वस्तु स्व-रूप की अपेक्षा से ही सत् है और पर-रूप की अपेक्षा से ही अर्थात् (अन्य वस्तु के स्वरूप) की अपेक्षा से असत् है।

जब हम किसी वस्तु को सत् कहते है तो हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि उस वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से ही वह सत् है। अपने से अन्य वस्तुओ के स्वरूप की अपेक्षा से ससार की प्रत्येक वस्तु असत् है। देवदत्त का पुत्र ससार भर के मनुष्यो का पुत्र नही है और न देवदत्त ससार भर के पुत्रो का पिता है। क्या इससे यह नतीजा नही निकलता कि देवदत्त का पुत्र पुत्र है और नही भी है, इसी तरह देवदत्त का पिता पिता है भी और नही भी है? सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नही है।

अत यह मानना पड़ता है कि वस्तु एक रूप नही है, वह सत् है तो असत् भी है; नित्य है तो अनित्य भी है। इसी का नाम अनेकान्त है। किन्तु इसका यह मतलब नही है कि जैन-दर्शन में वस्तु का कोई निश्चित स्वरूप नही है। ऊपर के स्पष्टीकरण से यह भ्रम दूर हो जाता है। व्यवहार में भी हम परस्पर-विरोधी दो धर्म एक ही वस्तु मे पाते है। जैसे—भारत स्वदेश भी है और विदेश भी, देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी। इसमें कोई अनिश्चितता नही है। क्योकि भारतीयो की दृष्टि से भारत स्वदेश है और विदेशियो की दृष्टि में विदेश है। यदि भारतीय भारत को स्वदेश ही समझते है तो वे केवल अपने दृष्टिकोण से ही भारत को देखते है और इसलिए उनका भारत दर्शन एकागी है। वस्तु के पूर्ण दर्शन के लिए सब दृष्टिकोणो को दृष्टि में रखना आवश्यक है, उसके बिना पूर्ण सत्य के दर्शन नही हो सकते।

अनेकान्तात्मक या अनेक धर्मात्मक वस्तु को जानने के दो साधन है—एक ज्ञान और दूसरा शब्द। ज्ञान से तो जानने वाला स्वय ही जानता है और शब्द के द्वारा दूसरो को बतलाता है। किन्तु ज्ञान में और शब्द में एक बडा अन्तर है। ज्ञान अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक समय में जान सकता है किन्तु शब्द एक समय में वस्तु के किसी एक धर्म का ही आशिक व्याख्यान कर सकता है। अत

परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक-धर्मात्मक वस्तु के होने पर यह समस्या उत्पन्न हुई कि अनेकान्तवाद का प्रकाशन कैसे हो ? क्योकि शब्द तो एक समय मे वस्तु के एक ही धर्म को कह सकता है और उसके सुनने वाले को गलतफहमी हो सकती है । अत यह आवश्यक समझा गया कि अनेकान्त का द्योतक अथवा सूचक 'स्यात्' शब्द प्रत्येक वाक्य के साथ व्यक्त या अव्यक्त रूप से सम्बद्ध रहे, क्योकि उसके बिना अनेकान्त का प्रकाशन नही हो सकता । 'स्यात्' शब्द का अर्थ है कथचित् या किसी अपेक्षा से । जब हम कहते हैं वस्तु स्यात् नित्य है, तब उसका मतलब होता है कि वस्तु सर्वथा नित्य नही है, किन्तु एक दृष्टि से नित्य है ।

जैन-दर्शन के मूल तत्व या द्रव्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि जैन-दर्शन यह स्वीकार नही करता कि सृष्टि किसी विशेष समय मे उत्पन्न हुई है । एक ऐसा समय था, जब सृष्टि नही थी, सर्वत्र शून्य था, उस महाशून्य में केवल सृष्टिकर्ता अकेला विराजमान था और उसी शून्य से किसी समय उसने इस ब्रह्माण्ड को बनाया । इस प्रकार का मत दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त भ्रमपूर्ण है । असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती ।

३ द्रव्य के भेद—

जैन-धर्म ने इस विश्व के मूलभूत तत्त्वो को दो भागो में विभाजित किया है—एक जीव-तत्त्व और दूसरा अजीव या जड तत्त्व । अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इस तरह यह ससार इन छ तत्त्वो से बना है । इन छहो को छ द्रव्य कहते हैं । इन छ द्रव्यो के सिवाय ससार में अन्य कुछ भी नही है—जो कुछ है उस सबका समावेश इन्ही छ द्रव्यो मे हो जाता है—

आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव अथवा आत्मा का स्वरूप इस तरह बतलाया है ।

अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण अलिग ग्गहण जीव मणिद्दिट्ठ सठाण ॥८०॥

जीव द्रव्य मे न रस है, न रूप है, न गध है और न स्पर्श है, न शब्द-रूप ही है । इन्द्रियो के द्वारा इसे जाना नही जा सकता । यह सब आकारो से रहित है—इसका गुण चेतना है ।

आशय यह है कि आत्मा अमूर्त्तिक है और रस रूप गध स्पर्श शब्द आकार ये सब मूर्त्तिक पुद्गल द्रव्य के गुण या अवस्थाएँ हे । अत. आत्मा इन सब से रहित है । इसका गुण केवल चेतना अर्थात् जानना-देखना है । इसे इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जा सकता, जो अनुभवी हैं वे ही अवाच्य शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव कर सकते हैं । यह केवल अनुभवगम्य है, इसे वचन के द्वारा कहा भी नही जा सकता ।

जो टूटे-फूटे बने-बिगडे, वह सब पुद्गल द्रव्य है । मोटे तौर पर हम जो कुछ देखते है, छूते हैं, सूँघते हैं, खाते हैं, वह सब पुद्गल द्रव्य है । इसीसे पुद्गल का लक्षण रूप रस गध और स्पर्श वाला बतलाया है । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारो पुद्गल द्रव्य हे ।

पुद्गल के दो भेद है परमाणु और स्कन्ध । पुद्गल के सबसे सूक्ष्म अविभागी अश को परमाणु कहते है और परमाणुओ के मेल से बने पृथ्वी आदि को स्कन्ध कहते है। मूल पुद्गल द्रव्य परमाणु है जो दूसरो के मेल के बिना स्वय कायम रहता है, बाकी सब स्कन्ध हैं ।

धर्म और अधर्म द्रव्य से मतलब पुण्य और पाप नही लेना चाहिए—ये दोनो भी दो स्वतत्र द्रव्य है जो जीव और पुद्गलो के चलने और ठहरने में सहायक है। छः द्रव्यो में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो निष्क्रिय हैं । इनमें हलन-चलन नही होता । शेष जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय है । इन दोनो द्रव्यो को जो चलने में सहायक है वह धर्म द्रव्य है और जो ठहरने में सहायक है वह अधर्म द्रव्य है । यद्यपि चलने और ठहरने की शक्ति जीव और पुद्गल में है किन्तु धर्म और अधर्म की सहायता के बिना न कोई चल सकता है और न कोई ठहर सकता है । ये दो द्रव्य ऐसे है जिन्हें जैन धर्म के सिवाय अन्य किसी धर्म ने नही माना । ये दोनों आकाश की तरह ही अमूर्त्तिक है और समस्त लोक में व्याप्त है ।

जो सभी द्रव्यो को स्थान देता है उसको आकाश कहते हैं । यह द्रव्य अमूर्त्तिक है और सर्वव्यापी है । इसे अन्य धर्म वालो ने भी माना है किन्तु जैनो की मान्यता में उनसे कुछ अन्तर है । जैन धर्म में आकाश के दो भेद माने है—एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश । सर्वव्यापी आकाश के मध्य में लोकाकाश है और उसके चारो ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है । लोकाकाश में छहो द्रव्य पाये जाते है और अलोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य ही पाया जाता है ।

४. सात-तत्त्व—

जो प्रत्येक वस्तु के परिवर्तन में सहायक है उसे काल द्रव्य कहते है। यद्यपि परिणमन करने की शक्ति सभी पदार्थों में है किन्तु बाह्य निमित्त के बिना उस शक्ति की व्यक्ति नही होती । जैसे कुम्हार के चाक में घूमने की शक्ति मौजूद है किन्तु कीली की सहायता के बिना वह नहीं घूम सकता। सब वस्तुओ के परिवर्तन में सहायक काल द्रव्य है । इस प्रकार जैन धर्म में छ. द्रव्य माने गये है ।

यद्यपि द्रव्य छ है किन्तु धर्म का सम्बन्ध केवल एक जीव द्रव्य से है क्योकि उसीको दु खो से छुडाकर उत्तम सुख प्राप्त कराने के लिए ही धर्म की आवश्यकता है और दुखो का मूल कारण उसी के द्वारा बाँधे गये कर्म हैं जो अजीव यानी जड़ हैं ।

अत जब धर्म का लक्ष्य जीव को सब दु खो से छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त कराना है और दु खो का मूल कारण जीव के द्वारा बाँधे गये कर्म है तो दु.खो से छूटने के लिए नीचे लिखी बातों की जानकारी होना जरूरी है—

(१) उस वस्तु का क्या स्वरूप है जिसको छुटकारा दिलाना है ?
(२) कर्म का क्या स्वरूप है ?
(३) वह जड कर्म जीव तक कैसे पहुँचता है ?
(४) और पहुँचकर कैसे जीव के साथ बँध जाता है ?

इन चारो बातो का ज्ञान होने से ससार के कारणो का पूरा ज्ञान हो जाता है। अब उनसे छुटकारा पाने के लिए तीन बातो को जानना जरूरी है—

(५) नवीन कर्म-बध को रोकने का क्या उपाय है ?
(६) पुराने बँधे कर्मों को कैसे नष्ट किया जा सकता है ?
(७) इन उपायो से जो मुक्ति प्राप्त होगी वह क्या वस्तु है ?

इन सात बातो की ठीक-ठीक जानकारी होना प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है। इन्ही को सात तत्त्व कहते हैं। तत्त्व यानी सारभूत पदार्थ ये ही हैं। जो इन्हें नही जानता, सभव है वह बहुत ज्ञानी हो, किन्तु वास्तव में उपयोगी तत्त्वो का ज्ञान उसे नही है।

उक्त सात तत्त्वो का नाम है—जीव, अजीव, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष। इनमें से जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है। तीसरा तत्त्व आश्रव है जो जीव में कर्म-मल के आने को सूचित करता है। कर्मों के आने के द्वार को आश्रव कहते हैं। जीव और कर्म के परस्पर बँधने को बध कहते हैं। आश्रव और बध ये दोनो ससार के कारण हैं।

पाँचवाँ तत्त्व सवर है। आश्रव के रोकने को सवर कहते हैं। अर्थात् नये कर्मों का जीव में न आना ही सवर है और पहले बँधे हुए कर्मों का धीरे-धीरे जीव से अलग होना निर्जरा है। सवर और निर्जरा ये दोनो मुक्ति के कारण हैं। समस्त कर्म बधन से जीव के छूट जाने को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। जो जीव सब बधनो से छूट जाता है वही मुक्त जीव है।

५. प्रत्येक आत्मा परमात्मा है—

जैनधर्म जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है जिन अर्थात् विजेताओ के द्वारा उपदिष्ट हुआ है। वे जिन अर्थात् तीर्थंकर मानव थे। उन्हें जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ था वह किसी ईश्वर की कृपा या ईश्वरीय पुस्तक द्वारा प्राप्त नही हुआ था, बल्कि उन्होने उसे अपने पुरुषार्थ के द्वारा सब प्रकार की वासनाओ पर विजय प्राप्त करके अपने अनुभव के आधार पर अपने ही अन्तर आत्मा से प्राप्त किया था। क्योकि प्रत्येक तीर्थंकर साधारण जीवन से उन्नति करते-करते ही तीर्थंकर बनता है। ये मानव तीर्थंकर ही जैनधर्म के ईश्वर हैं। वे मनुष्य रूप में ईश्वर नही हैं जैसा कि वैदिकधर्म में राम और कृष्ण को माना जाता है, बल्कि ईश्वर हुए मनुष्य हैं। जैनधर्म मे उनका वही स्थान है जो अन्य धर्मो में ईश्वर का है।

किन्तु वह जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता नही है, केवल आदर्श है। यहाँ यह बतला देना उचित और आवश्यक है कि जैनधर्म किसी अनादि सिद्ध ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करता और न वह इस जगत् को किसी का बनाया हुआ ही मानता है। इस दृष्टि से वह निरीश्वरवादी है और यदि जगत्-कर्तृत्व का निषेध नास्तिकता है तो जैनधर्म को अवश्य नास्तिक कहा जा सकता है। किन्तु आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, परलोक आदि को मानने के कारण वास्तव में वह नास्तिक नही है।

वह आत्मा को बौद्धो की तरह केवल सस्कारो का एक पिण्ड नही मानता, बल्कि एक स्वतन्त्र अखण्ड अविनाशी पदार्थ मानता है। उस आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आदि अनन्त गुण है। ये गुण सब आत्माओ में समान है इसलिए सब आत्माएँ समान है। किन्तु जैसे सोना खान से अशुद्ध ही निकलता है उसी प्रकार सब आत्मा भी अनादिकाल से कर्मों के बधन में पडकर अशुद्ध रहते है। और जैसे सोने को शुद्ध करने की प्रक्रिया के द्वारा सोने में से मैल दूर हो जाने पर सोना शुद्ध हो जाता है वैसे ही आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया के द्वारा बधन से छूटने पर प्रत्येक आत्मा शुद्ध होकर परमात्मा बन सकती है।

जैसे मल के दूर हो जाने पर सोने के स्वाभाविक गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते है वैसे ही शुद्ध होने पर आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि गुण भी पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते है। और, जैसे बिल्कुल शुद्ध होने पर सब स्वर्ण एक से ही रूप-रग के हो जाते है वैसे ही शुद्ध होने पर सभी आत्माएँ समान होती है। शुद्ध होने पर उनके गुण धर्म में कोई अन्तर नही रहता। ससार अवस्था में जो प्रत्येक आत्मा के स्वाभाविक गुणो में हीनाधिकता पाई जाती है वह अपने अपने कर्मबध के कारण पाई जाती है। कर्मबध दूर हो जाने पर सब एक से ज्ञाता द्रष्टा हो जाते है और आत्मा से परमात्मा बन जाते है। ये परमात्मा ही जैनधर्म के आदर्श है। उनकी दो अवस्थाएँ होती है। पहली अवस्था को सकल परमात्मा या जीव-मुक्त कहते है। क्योकि उस अवस्था में यद्यपि आत्मा सशरीर होता है किन्तु राग-द्वेष और मोह की दुर्गम घाटी को पार कर चुकने के कारण यह पूर्ण ज्ञानी और वीतराग हो जाता है और इसलिए सकल परमात्मा हो जाने पर वह जनता को जनता की ही भाषा मे अपने अनुभवो से अवगत कराता है। वह ससार के प्राणियो को उनके असली स्वरूप का भान कराता है और बतलाता है कि जिस मार्ग पर चलकर मैने परमात्मपद प्राप्त किया है उस मार्ग पर चलने से प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बन सकता है। इस उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी से प्रार्थना करने की या किसीके आगे गिडगिडाने की जरूरत नही है किन्तु अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखकर खड़े होने की आवश्यकता है। अस्तु,

सकल परमात्मा इस प्रकार जगत् के प्राणियो को हित का उपदेश देने में ही अपना शेष जीवन बिताते है। उनकी उपदेश-सभा को समवशरण कहते है। क्योकि उसमें पशु-पक्षियो तक के लिये जाने की रुकावट नही होती—वे भी उनके उपदेश को सुनकर कल्याण कर सकते है।

आयु के अत में सर्वोत्कृष्ट ध्यान के द्वारा शेष बचे अघाति कर्मों को नष्ट करके तथा शारीरिक बधन से भी मुक्त होकर सकल परमात्मा विकल परमात्मा बन जाते है और लोक के ऊपर सिद्धशिला पर विराजमान रहकर सदा आत्मसुख में मग्न रहते है। वे न किसी का भला करते है न बुरा, न निंदा सुनकर अप्रसन्न होते है न स्तुति सुनकर प्रसन्न।

वेदान्त के सिवाय अन्य वैदिक दर्शन भी आत्मा की मुक्ति मानते है। किन्तु मुक्त हुए आत्माओ को वे ईश्वर के समान नही मानते। क्योकि ईश्वर तो सबका कर्त्ताधर्त्ता है। उसकी इच्छा से कृपा से क्या

नही हो सकता ? उसके अनुग्रह से ही आत्मा की मुक्ति होती है। तब वह ईश्वर के समान कैसे हो सकती है ? किन्तु जैनधर्म के अनुसार परमात्मत्व ही सबसे ऊँचा पद है—वही आत्मा का सबसे ऊँचा लक्ष्य है। प्रत्येक आत्मा उस पद को अपने प्रयत्न से ही प्राप्त कर सकती है और इस तरह जो आज भिखारी है कल वही भगवान बन सकता है। इस तरह जैनधर्म मनुष्य को देव बनाकर उसे पूजक से पूज्य बनाता है। इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के स्थान मे उसने निष्कलक मनुष्य की प्रतिष्ठा की है और वही उसकी उपासना का अर्थ है।

जैनधर्म में जो तीर्थंकरो की पूजा वदना आदि की जाती है वह उन्हें रिझाने के लिए नही की जाती, किन्तु उनके पुण्य गुणो के स्मरण से मनुष्य का चित्त पापरूपी कालिमा के धुल जाने से पवित्र हो जाता है।
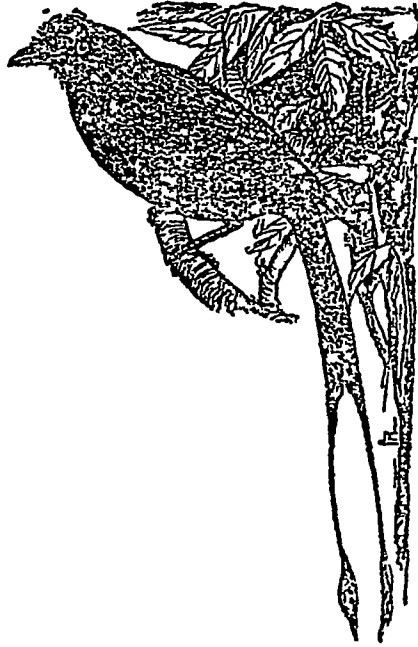
जैन-दर्शन की विशेषताएँ

श्री रामदेव त्रिपाठी

जैन-धर्म की प्राचीनता—

वहुत दिनो तक विद्वानो में यह भ्रम फैला हुआ था कि जैनधर्म कोई स्वतन्त्र मार्ग नही, अपितु वह बौद्धधर्म की शाखामात्र है । वात यह है कि जैनधर्म की वहुत-सी वातें, जैसे ईश्वर और वेद के प्रति अनास्था, ससार को दु खमय मानकर निवृत्ति-मार्ग का अवलम्बन, अहिंसा पर अधिक जोर आदि, बौद्धधर्म से इतना अधिक मिलती हैं कि इतिहास से अपरिचित व्यक्ति सहज ही इस भुलावे में पड जाता है । किन्तु, आधुनिक अनुसन्धानो ने इस भ्रम को अव सर्वथा दूर कर दिया है । जैनो में परम्परा से चौवीस तीर्थंकरो अर्थात् धर्म-प्रवर्तको की प्रसिद्धि चली आ रही है । इनमें से अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर गौतम बुद्ध के समकालीन होते हुए भी अवस्था में उनसे कही अधिक वडे थे । इतना ही नही, इनके तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भी "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया" के अनुसार निर्विवाद एक ऐतिहासिक पुरुष थे । जैन जनश्रुति पार्श्वनाथ का समय महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले वताती है । ऐसी अवस्था में इसमें कोई सन्देह नही रह जाता कि जैनधर्म बौद्धधर्म से वहुत प्राचीन है और इसलिए उससे एक भिन्न सत्ता रखता है । वल्कि वौद्ध-साहित्य में इस वात की भी चर्चा आयी है कि स्वय गौतम अपने आरम्भिक तापस जीवन में जैन साधुओ के लिए वताये गये नियमो का अनुसरण करते थे । सच तो यह है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन ही नही, किन्तु वैदिक या हिन्दूधर्म के साथ ही साथ विकसित हुआ । ऋषभ और अरिष्टनेमि की चर्चा ऋग्वेद में स्पष्ट आयी है । इन दोनो की गणना चौवीस तीर्थंकरो में है और ऋषभ तो प्रथम तीर्थंकर हैं ही । ऋषभ की कथा विष्णुपुराण में भी आयी है । भागवत पुराण तो इन्हें नारायण का एक अवतार तक मान लेता है । ऋषभ की जीवनी, योग और तपस्या पर उनके अधिकार का जो वर्णन इन दोनो पुराणो मे आता है, हम देखते हैं कि जैन-साहित्य में भी वैसा ही वर्णन दिया गया है । वेद का कोई भी विद्वान् आसानी से यह समझ सकता है कि वैदिक साहित्य के आरम्भ से अन्त तक, सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् सभी शाखाओ में दो विचारधाराएँ समानान्तर रूप से चली आती हैं । इनमें से कभी एक प्रवल हो गयी है, कभी दूसरी । एक यज्ञ में पशुओ के वलिदान को अनिवार्य धर्म वतलाती है तो दूसरी इसे घोर पाप कहकर निन्दनीय ठहराती है । यह अहिंसा ही जैनधर्म की आधारशिला है । अत प्रत्यक्ष है कि आरम्भ से ही प्रवृत्तिमार्गी ब्राह्मणधर्म के पशु-वलि वाले सिद्धान्त और अहिंसाधर्म, जिसे हम जैनधर्म का पर्याय कह सकते हैं, में परस्पर सघर्ष चला आ रहा है ।

वैदिक-साहित्य और जैन-धर्म—

आश्चर्य तो तब होता है जब हम वेद मे ही इन दोनो मार्गों का उपदेश पाते हैं। एक ओर "सर्व मेघे सर्वं हन्यात्" कहकर हमें पशुवलि की छट मिल रही है तो दूसरी ओर "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" की आज्ञा देकर हमें भूतमात्र की हिंसा से विरत किया जा रहा है। कर्मकाण्डी मीमासक इस विरोध का समाधान यह भले ही दे ले कि यज्ञ के अतिरिक्त किसी भी उद्देश्य के लिए प्राणि-हिंसा वर्जित है, यज्ञ के लिए नही, पर निष्पक्ष अनुसन्धानार्थी को यह उत्तर सन्तुष्ट न कर सकेगा। बात यही तक समाप्त नही होती है। विश्वामित्र और वशिष्ठ की प्रतिद्वन्द्विता तथा शुन शेप की कथा जो ऋग्वेद में पायी जाती है, वह भी इसी ओर संकेत कर रही है। ब्राह्मण लोग पशुवलि के समर्थक थे और क्षत्रिय लोग अहिंसा धर्म के। वशिष्ठ और विश्वामित्र का सघर्ष इन्ही दोनो पक्षो के सघर्ष का चित्र उपस्थित करता है। संहिताकाल से ब्राह्मणकाल में आते-आते यह सघर्ष और भी प्रबल हो जाता है। भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि कुरु-पञ्चाल देश में ब्राह्मणो की चलती थी और कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म का आदर था, तथा पूर्वीय प्रदेशो में क्षत्रियो के नेतृत्व मे पशुवलि का घोर विरोध किया जा रहा था। पूर्व और पश्चिम के आर्यों में यह मतभेद क्योकर हुआ यह भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इतिहासज्ञो का कहना है कि भारतवर्ष में आर्यलोग एक बार ही एक ही टुकडी में नही आये, अपितु वे दो टुकडियो में बँटकर दो काल में यहाँ आये। पूर्वागत आर्यों की संस्कृति और रहन-सहन में भारत की प्राचीन जातियो के सम्पर्क आदि से बहुत परिवर्तन हो गया था, अत पीछे से आये आर्यलोगो के आचार-विचार से उनका आचार-विचार दूर जा पडा था। परिणामत इन दोनो वर्गों में आपस में नही पटा और परागत आर्यों ने पूर्वागत आर्यों को सुदूर-पूर्व और दक्षिण में खदेड दिया। यही कारण है कि मनुस्मृति धर्मग्रन्थ, जिसे परागत आर्यों के नेता ब्राह्मणो ने वनाया है, एक स्वर से यह घोषित करते हैं कि विन्ध्याचल के दक्खिन और प्रयाग के पूर्व म्लेच्छ देश है, आर्यों का वास तो केवल सरस्वती नदी से पूर्व, प्रयाग से पश्चिम और विन्ध्यपर्वत से दक्षिण मे है। यह सीमा मोटे तौर पर कुरु-पञ्चाल देश की ही वतायी है। ब्राह्मण-ग्रन्थो में पूर्व के देशो से कोशल, काशी, विदेह, और मगध का ग्रहण होता है। गंगा की घाटी के इस उपजाऊ भाग में सहज ही परागत आर्य बढना चाहते थे; किन्तु उनके नेता ब्राह्मण लोग उन्हें इन म्लेच्छ देशो में जाने से रोकते थे। शतपथब्राह्मण में कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मणों को काशी, कोशल, विदेह और मगध की तरफ नहीं जाने का उपदेश दिया गया और कारण ये वताये गये है—

(१) पूर्व के आर्यों में अव पहली पवित्रता नही रह गयी है। उन्होंने वेद मे वताये गये यज्ञ आदि धर्मों को छोड दिया है। इतना ही नही, उनमे एक नये धर्म का भी प्रचार हो रहा है, जिसके अनुसार यज्ञ आदि कर्मकाण्ड और पशुबलि से दूर रहना ही सच्चा धर्म वताया जाता है। इसलिए कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मणो को वहाँ नही जाना चाहिये, अन्यथा वहाँ उनकी धार्मिक कट्टरता में शिथिलता आ जायगी और इस भाँति उनके सिद्धान्त के अपमान के द्वारा परम्परा या उनका भी अपमान होगा।

(२) पूर्वीय देशो का सामाजिक सघटन भी कुरु-पञ्चाल मे प्रचलित सामाजिक सघटन से विल्कुल भिन्न है। कुरु-पञ्चाल में समाज में सर्वोपरि स्थान ब्राह्मण को दिया गया है और क्षत्रिय, वैश्य तथा

शूद्र तीनो इसके नीचे माने गये है, परन्तु पूर्व में क्षत्रिय लोग ही सर्वोच्च स्थान पाते है और ब्राह्मणो को उनसे निकृष्ट समझा जाता है। इस कारण से भी कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मणो को वहाँ जाकर अपनी शान में बट्टा नही लगाना चाहिये।

(३) पूर्व-पश्चिम के आर्यों में इस गहरे मतभेद का एक तीसरा कारण भी वाजसनेयि सहिता में पाया जाता है। पूर्व के आर्यों ने वैदिक यज्ञमार्ग का परित्याग किया था, समाज में पुरोहित या ब्राह्मण-वर्ग की सर्वश्रेष्ठता मानने से इनकार किया था, इतना ही भर नही, उनकी भाषा भी विकृत हो गयी थी। पूर्वीय आर्य शुद्ध सस्कृत नही बोल सकते थे। सस्कृत की अपनी खास ध्वनियो का उच्चारण इन लोगो को नही आता था, पर कुरु-पञ्चाल के वासी इनका सही-सही उच्चारण बडी सफाई से करते आ रहे थे। सस्कृत की ध्वनियाँ और शब्द इन पूर्वियो के मुँह में पडकर अत्यन्त भ्रष्ट हो जाते थे, जिन्हें पश्चिमीय लोग बडी घृणा की दृष्टि से देखते थे। उदाहरणार्थ पूर्वीय आर्य सस्कृत के 'र' के स्थान पर बराबर 'ल' बोला करते थे, जैसे, राजा का उच्चारण ये लाजा करते थे। इससे सहज ही यह अनुमान होता है कि पूर्वीय देशो में सस्कृत के बदले एक ऐसी भाषा प्रचलित हो गयी थी, जिससे आगे चल कर पाली और प्राकृत भाषाओ का विकास हुआ। इनमें पाली को बौद्धो ने अपनी धार्मिक भाषा बनाया और प्राकृत में जैनो के धर्मग्रन्थ लिखे गये। इन भाषाओ को पश्चिमीय आर्य अपभ्रश कहते तथा इन्हें बोलने वालो को म्लेच्छ नाम देते थे। कुरु-पञ्चाल के शुद्ध सस्कृत-भाषी आर्यों के लिए इस अपभ्रश भाषा और उनके बोलने वालो के प्रति अनादर बुद्धि स्वाभाविक थी। पतञ्जलि ने अपने महा-भाष्य व्याकरण पढने का एक यह भी कारण बताया है कि हम शुद्ध सस्कृत जानकर म्लेच्छ भाषा के प्रयोग को छोड़ें और इस भाँति म्लेच्छ होने से बचें (तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छित वै नापभाषित वै म्लेच्छो वा एष यदपशब्द । म्लेच्छा माभूमेत्यध्ययेय व्याकरणम्") ।

उपनिषद् और जैन-धर्म

अब हम सहिताकाल और ब्राह्मणकाल से आगे बढकर उपनिषद् काल में पहुँचते है, तो देखते है कि धर्म की इन दो व्याख्याओ में महान् अन्तर पड जाता है। उपनिषदो का विकास पूर्वी आर्यों में हुआ, जिनके नेता क्षत्रिय थे, अत इनमें कर्मकाण्ड और प्रवृत्तिमार्ग को नीचा दिखाकर ज्ञानकाण्ड और निवृत्तिमार्ग की महिमा गायी गयी है। उपनिषद् का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविद्या और तपश्चरण के द्वारा आत्मशुद्धि ही सर्वसम्मति से सर्वश्रेष्ठ धर्म ठहरायी जाती है और प्राचीन सिद्धान्त यज्ञ, पशुबलि आदि को सदा के लिए निकृष्ट स्थान मिल जाता है। फल यह होता है कि इस काल में आर्य सस्कृति का केन्द्र पश्चिम न होकर पूर्व और ब्राह्मणो की कुटी न होकर राजाओ के प्रासाद हो जाते है। कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मण भी इस समय उपनिषद् के नवीन सिद्धान्त आत्मविद्या की दीक्षा लेने के लिए बडे कुतूहल से पूर्व के राजाओ के पास दौड पडते है। थोडे ही दिनो में जिसे वे कुधर्म कहकर पुकारते थे, उसे ही ग्रहण करने वे बिना किसी हिचकिचाहट के स्वय जाने लगते है। अपने को पवित्र समझने वाले कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मण जिस याज्ञवल्क्य को केवल पूर्वीय ब्राह्मण होने के कारण घृणा की दृष्टि से देखते आ रहे थे, उसे ही इस काल का सर्वश्रेष्ठ पुरुष समझा जाता है। ये याज्ञवल्क्य और इनके आश्रयदाता

जनक अपनी विद्वत्ता और प्रभाव से उपनिषद् की आत्मविद्या का प्रवल समर्थन कर पुराने कर्मकाण्ड और पशुबलि-प्रधान धर्म को अमान्य हराते हैं ।

इस तरह आत्मविद्या का यह सिद्धान्त ही, जो पशुवलि के विरोध और अहिंसावाद के झण्डे को लेकर आगे वढा, जैनधर्म से अनुप्राणित है । जैनधर्म के प्रवर्तक इस युग के सभी तीर्थंकर—ऋषभ से लेकर महावीर तक क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए, एक भी ब्राह्मण वश में उत्पन्न नही हुआ । श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तीर्थंकर महावीर की जीवनी के सम्वन्ध में एक वडी विचित्र घटना कही जाती है । पहले महावीर एक ब्राह्मणी के गर्भ में ही आये थे, किन्तु इन्द्र ने जिनके जिम्मे भावी तीर्थंकरो का सारा प्रबन्ध था, सोचा कि जैनधर्म के तीर्थंकर के लिए ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा होना अप्रतिष्ठा की वात होगी । अत उन्होंने बदल कर महावीर को एक क्षत्राणी के गर्भ में रख दिया । इस आख्यान में चाहे जितना भी सत्याश हो, पर इतना सुनिश्चित है कि तीर्थंकरो को क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होना ही अभीष्ट है, अन्य कुलो में नही ।

अत उपर्युक्त निष्कर्षों से यह सुविदित है कि अहिंसावादी जैनधर्म भी उतना ही पुराना है, जितना स्वय वेद । हाल की हरप्पा और महेञ्जोदाडो की खुदाई ने तो और भी अधिक आश्चर्यजनक प्रमाण सामने ला दिये है । इन जगहो से निकली मोहरो और सिक्को पर अकित चित्र जैन तीर्थंकरों की आकृति से मिलते हैं । इनका यदि सम्यक् अध्ययन हो तो प्राचीन भारत के धार्मिक और सामाजिक सघटन पर पूरा प्रकाश पड सकेगा । जैन-परम्परा तो यहाँ तक कहती है कि वेद भी पहले अहिंसा धर्म के ही पोषक थे । राजा वसु के समय मे आकर दो आचार्यों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता की वजह से ही उन्हें यज्ञपरक बनना पडा । जैनो का कहना है कि जो लोग मास खाना चाहते थे उन्होने वेद की गलत व्याख्या कर पशुबलि को धर्म का एक अनिवार्य अग वना दिया, इसलिए अहिंसा धर्म के अनुयायी जैनो को वेद पर अविश्वास कर अपने आगमो पर ही निर्भर रहने की नौवत आयी । यह जानकर और भी कुतूहल होता है कि लगभग यही कहानी महाभारत में भी मिलती है । उसमें भी राजा वसु को ही वेदो की भ्रान्त व्याख्या कर पशुवलि को वेदविहित घोपित करने का दोषी वताया गया है । दोनो पक्षो के साहित्य में समान रूप से इस घटना का उल्लेख अवश्य ही एक महत्त्वपूर्ण वात है । कम से कम यह अनुमान तो हम कर ही सकते है कि वेदो में पहले कुछ ऐसे भी अश थे, जो अहिंसा का जोरदार समर्थन करते थे, भले ही वे आज प्राप्य नही है, अन्यथा जैनो के इस विश्वास का क्या आधार होगा कि पहले वेद भी अहिंसाधर्म के ही पोपक थे ? जिस प्रकार हिन्दू यह मानते हैं कि उनका वेद नित्य है, सृष्टि के आदि में सर्वज्ञ ऋषि मुनि आकर केवल ससार के उपकार के लिए उसको फिर से प्रकाश में ला देते हैं, ठीक उसी भाँति जैनो का कहना है कि उनका अहिंसाधर्म नित्य है, जव-जव लोग उसे भूलने पर आते है तो दयालु तीर्थंकरगण उत्पन्न होते है और फिर से उसकी याद दिला देते हैं ।

भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन का स्थान—

भारतीय विद्वान् दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायो को दो विभागो में बाँटते है—वैदिक और अवैदिक । जो दर्शन वेदो के प्रामाण्य को निर्विरोध स्वीकार करता है, उसे वैदिक कहते है और जो

उन पर विश्वास नही करता है उसे अवैदिक । इन्ही दोनो विभागो का नाम क्रमश आस्तिक और नास्तिक भी है जो अधिक प्रसिद्ध है । आस्तिक दर्शनो में साख्ययोग, न्याय-वैशेषिक और मीमासा-वेदान्त की गणना होती है तथा नास्तिक दर्शनो में जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शन और चार्वाक-दर्शन के नाम आते हैं । किन्तु यह आस्तिक और नास्तिक का विभाग कोई महत्त्व नही रखता है । अभी हम ऊपर देख आये है कि जैनो को किस कारण वेद और वैदिक क्रियाकाण्ड पर से अपनी आस्था हटानी पडी । अहिंसाधर्म और वैदिक कर्मकाण्ड मे परस्पर ऐसा विरोध है कि एक को मानने वाला दूसरे को मान ही नही सकता । इसलिए यह एक सीधी बात है कि जैनदर्शन वेद की सीमा से बाहर चला आया है । लेकिन इसी कारण इसे नास्तिक दर्शन कहना भ्रमजनक है, विशेषत अग्रेजी में इसका अनुवाद 'एथीस्टिक स्कूल' तो और भी भ्रान्त है । 'एथीस्ट' उसे कहते है जो सृष्टि का आरम्भ किसी पुरुष-विशेष से नहीं मानता, यही 'एथीस्ट' का शब्दार्थ है । और यह सिद्धान्त साख्य दर्शन का भी है । साख्य भी इस सृष्टि की रचना किसी व्यक्ति-विशेष स्रष्टा के हाथ से नही मानता । अत इस अर्थ में साख्य-दर्शन भी जैनदर्शन की पक्ति में आ जाता है और उसे भी नास्तिक दर्शन कह सकते है ।

पतञ्जलि का योगदर्शन भी, जिसे कपिल के निरीश्वर साख्य की तुलना मे सेश्वर साख्य भी कहा जाता है इसी तरह सृष्टिवाद का विरोध करता है । योगदर्शन का ईश्वर केवल योगमार्गियो का आदर्शमात्र है । वही इस पूर्णता का प्रतीक है, जहाँ तक मनुष्य को पहुँचना है । अधिक से अधिक वह मुमुक्षुओ के मार्ग से विघ्नो को हटा सकता है, सृष्टि से तो उसे कोई सम्बन्ध नही । योग के उदासीन ईश्वर और यहूदियों के सृष्टिकर्त्ता जेहोवा में आकाश और पाताल का अन्तर है । न्याय-वैशेषिक दर्शनो में यद्यपि ईश्वर को सृष्टि और सहार का कर्त्ता माना गया है, पर इनकी 'सृष्टि' और अग्रेजी का 'क्रियेशन' एक ही वस्तु नही है । न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है कि जीवन और भूतचतुष्टय के परमाणु सभी वैसे ही नित्य है, जैसे आकाश आदि । अत परमात्मा अपनी तरफ से एक भी परमाणु न तो पैदा करता है और न नष्ट करता है । वह केवल इनके सयोग-वियोग का दिशा-निर्धारण करता है, अन्यथा विश्व का कण-कण सदा से रहता आया है और सदा रहा करेगा । इस तरह न्याय-वैशेषिक की सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता की कल्पना अग्रेजी 'क्रियेशन' और 'क्रियेटर' से बिल्कुल भिन्न पदार्थ है । पूर्व मीमासा तो सृष्टिकर्त्ता का नाम भी नही लेती । सृष्टिवाद के विरोध में वह निरीश्वर साख्य के समकक्ष ही हो जाती है । जैसे साख्य सृष्टि का मूलकारण अचेतन प्रकृति को बतलाता है, वैसे ही पूर्वमीमासा भी सृष्टि के विकास का आदि कारण अचेतन कर्म को ही मानती है, उसकी दृष्टि में कर्म से बढकर कोई पदार्थ ही नही । और नास्तिक दर्शनो का मूर्धन्य उत्तरमीमासा या वेदान्त तो सृष्टि के सिद्धान्त को और भी नही मानता । उसके अनुसार यह सारा स्थूल ससार एकमात्र परब्रह्म का प्रपच है अर्थात् इस विश्व की सृष्टि नही होती, केवल विवर्त या विकास होता है । इस भाँति इन दर्शनो से तुलना करने पर जैनदर्शन में इनसे कोई विशेष अन्तर नही दिखाई देता । सृष्टिवाद के विरुद्ध होते हुए भी जैनदर्शन योग की तरह एक सर्वज्ञ परमात्मा की कल्पना करता है, जिसे वह मानव जीवन का आदर्श मानता है । पूर्वमीमासा की तरह यह भी कर्म को ही ससार का हेतु स्वीकार करता है । प्रत्येक जीव को उसके वास्तविक रूप में परमात्मा समझने में वह वेदान्त दर्शन की तुलना में चला

आता है। इस तरह आस्तिक-नास्तिक का विभाग सकीर्ण हो जाता है। जैसा कि हरिभद्र सूरि के 'षड्दर्शन समुच्चय' के व्याख्याता गुणरत्न का कहना है हम आस्तिक शब्द का अभिप्राय अधिक से अधिक वह ले सकते हैं कि आत्मा सच है, यह ससार सच है, इस ससार से मोक्ष भी सच है और मोक्ष का मार्ग भी सच है। जो दर्शन इन बातो पर विश्वास करता है उसे आस्तिक कहना चाहिये और शेष को नास्तिक। इस परिभाषा के अनुसार जैनदर्शन भी आस्तिक दर्शनो में आ जाता है। नास्तिक दर्शनो मे केवल चार्वाक दर्शन और सभवत अनात्मवादी बौद्धदर्शन रह जाते हैं। यदि आस्तिक का अर्थ जन्मान्तरवादी किया जाय तब तो बौद्धदर्शन भी आस्तिक दर्शन मे ही अन्तर्भूत हो जायगा, केवल चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन कहला सकेगा। इस तरह आस्तिक-नास्तिक की चाहे जो भी व्याख्या हो, पर साख्य, मीमासा आदि दर्शनो से अलग कर जैनदर्शन को नास्तिक दर्शनो की श्रेणी में नही बिठाया जा सकता। हाँ, इसे अवैदिक दर्शन तो अवश्य कहा जा सकता है, क्योकि जैनो के अहिंसाधर्म और वैदिक कर्मकाण्ड की पशुबलि को परस्पर विरुद्ध मानना स्वाभाविक हो जाता है।

जैनों के उपास्य—

इस तरह जैनदर्शन यद्यपि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को नही मानता, पर परमात्मा के समकक्ष एक ऐसे आदर्श पुरुष को स्वीकार करता है, जो कर्म के सारे बन्धनो से मुक्त और अनन्त पवित्रता, अनन्त-ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति आदि गुणो से युक्त रहता है। अनन्त गुणो का भण्डार यह पुरुष राग-द्वेषादि की विजय करने के कारण जिन कहलाता है और उसको आदर्श मानने वाला धर्म जैनधर्म के नाम से पुकारा जाता है। साराश यह है कि मनुष्य का आदर्श मनुष्य-भिन्न कोई शक्ति नही, अपितु एक आदर्श मनुष्य ही है जो हर तरह की पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है। इस दु खमय ससार से छुटकारा चाहने वालो को उसीको आदर्श मानकर उसीके मार्ग पर चलना चाहिए। इसे जैनागम में सिद्ध परमेष्ठी कहा गया है, इसके नीचे चार और परमेष्ठी हैं। इनमें दूसरे अर्हत् परमेष्ठी हैं जो स्वय जीवन्मुक्त रहते हुए तीर्थंकर नाम कर्म के कारण ससारी प्राणियो को कर्त्तव्य मार्ग का उपदेश देते हैं। इन्हें जैनलोग अवतारो या पैगम्बरो के नाम मानते हैं। इसके बाद आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी का स्थान आता है। जैन सम्प्रदाय में साधक अपनी साधना की विभिन्न दशाओ में इन्ही पाँचो को आदर्श मानकर आगे बढता है।

जैन-श्रुतियां—आगम—

जैन सम्प्रदाय में भी अपने आगम ग्रन्थो को बडे आदर की दृष्टि से देखा जाता है, परन्तु यथार्थ ज्ञान के अन्य साधनो से विरोध पडने पर वह किसी भी उक्ति को आदरणीय नही समझता। उसके धर्मग्रन्थ भी सर्वज्ञ, हितोपदेशी और वीतरागी से प्रकाशित हुए है। उनका उद्देश्य भी स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति करना ही है, अत उनमें भी पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है। उनका विषय भी सत्यासत्य का विवेक ही है। सर्वज्ञ से प्रकाशित होकर पीढी-दर-पीढी चली आ रही हैं। इनके आचार्य को गणधर कहते हैं जो महावीर के प्रधान शिष्य सुधर्मा इस युग के अन्तिम गण-धर हुए हैं। इन आगमो को अग, पूर्व, प्रकीर्ण इन तीन विभागो में बाँटा जाता है। इनमें प्रथम विभाग

अर्थात् अग के १२ , पूर्व के १४ तथा प्रकीर्ण के १६ उप-विभाग हैं । विभाग की एक दूसरी पद्धति भी है, जिसके अनुसार इन्हें चार शाखाओ में रखते है, वे ये हैं—

(१) प्रथमानुयोग—इसमें तीर्थंकरो, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि ६३ शलाका-पुरुषो की जीवनियाँ हैं ।

(२) चरणानुयोग—इसमें गृहवासी और त्यागियो के कर्त्तव्यो का निर्देश है, जिन्हें क्रम से अणुव्रत और महाव्रत कहते हैं ।

(३) करणानुयोग—इसमें विश्व एव विश्व के उपादानो का वर्णन है ।

(४) द्रव्यानुयोग—इसमें अध्यात्मविद्या और मूलतत्त्वो का विवेचन है (पदार्थविद्या) ।

जैन-दर्शन की समन्वयात्मकता—

जैन-दर्शन की सबसे बडी विशेषता है उसकी सहिष्णुता और समन्वयप्रियता । जहाँ अन्य दर्शन एक दूसरे के सिद्धान्त के खण्डन में ही अपनी अधिक शक्ति लगा देते हैं, वहाँ जैन-दर्शन सभी दर्शनो की उक्ति में कुछ न कुछ सचाई पाता है । सचाई से उसे इतना प्रेम है कि वह धूलिकण में से भी छानकर सचाई निकालने में नही हिचकिचाता । विपक्ष के प्रति विरोध भावना उसमें नही है । किसी भी सिद्धान्त को वह सिर्फ इसलिए अमान्य नही ठहरा सकता कि कोई विपक्षी दर्शन उसे अपना सिद्धान्त समझता है । परिणाम यह होता है कि वह अपने प्रतिपाद्य विषय को भिन्न-भिन्न आचार्यों के अनुभवो से सहायता लेकर सर्वांगीण बना देता है । इसलिए और दर्शनो का दृष्टिकोण एकागी मिलता है, पर जैन-दर्शन की दृष्टि समूहावलम्बनात्मक और समन्वयात्मक बनी रहती है । उदाहरण के लिए, हम देखते है कि भागवत आदि मार्ग एकमात्र भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति मानते है, पूर्वमीमासा आदि केवल कर्म को ही मुक्ति के लिए पर्याप्त बताती है, वेदान्त आदि तत्त्वज्ञान मात्र से परमपुरुषार्थ की सिद्धि को स्वीकार करते है, पर जैन-दर्शन मोक्ष के लिए सम्यक् विश्वास, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, जो क्रमश भक्ति, ज्ञान और कर्म के प्रतिनिधि है, तीनो को अनिवार्य कहता है । उसके अनुसार जिस प्रकार रोगी को चिकित्सक की कुशलता, औषध की उत्तमता पर विश्वास, दवा के सेवन की विधि का ज्ञान और उसका नियमित सेवन, ये तीनो मिलकर ही रोगमुक्त कर सकते हैं, उसी प्रकार मुमुक्षु को गुरु के वचनो और श्रुतियो पर विश्वास, उनके प्रतिपाद्य विषयो का ज्ञान और तदनुसार आचरण य तीनो मिलकर ही ससार से मुक्त कर सकते हैं । भक्ति, ज्ञान और कर्म का ऐसा समन्वय हमें गीता को छोड और कही नही मिलता । इन तीनो को जैन-दर्शन 'तीन रत्न' कहकर पुकारता है ।

जैन-प्रमाण-विज्ञान—

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वभाव ही है सर्वज्ञता । केवल कर्म का पर्दा पड जाने से आत्मा अल्पज्ञ बनी हुई है । जैसे-जैसे यह कर्म का आवरण हटता जाता है, मानव की ज्ञानसीमा बढती

जाती है और अन्त में वह सर्वज्ञ हो जाता है। ज्ञान दुनिया की वस्तुओ को दिखला भर देता है, नयी कल्पनाएँ नही करता। दुनिया स्वय सच है। वेदान्तियो का उसे माया समझना और बौद्धो का विज्ञान-स्वरूप या शून्य समझना भ्रान्तिपूर्ण है। जिस तरह प्रकाश से अतिरिक्त प्रकाश्य वस्तुओ की सत्ता है, वैसे ही ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय वस्तुओ की सत्ता है। यह ज्ञान पाँच तरह का होता है—मति, श्रुति, अवधि, मन पर्याय और केवल ज्ञान। जिसे और दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान कहते हैं, वह मति के अन्तर्गत है। श्रुति का अर्थ है शब्दज्ञान, अर्थात् किसीसे सुनकर जानना। अपने से भिन्न देश और काल की वस्तु को जानना अवधिज्ञान है। दूसरे के मन की वात को समझना मन पर्याय है। ज्ञान की वह विशुद्धावस्था, जिस पर किसी तरह का आवरण नही रहता, जो पूर्णता को प्राप्त है, केवलज्ञान कहलाती है। इनमें मति और श्रुति को परोक्ष कहा जाता है और शेष को प्रत्यक्ष। यह प्राय उल्टा मालूम होगा, पर वात यह है कि जैन-दार्शनिक प्रत्यक्ष उसे कहते हैं, जिसे आत्मा बिना किसी साधन के साक्षात् जान सके। अत जिस ज्ञान मे इन्द्रिय आदि अवान्तर साधनो की आवश्यकता वनी रहती है उसे वे परोक्ष (अक्षण परम्) कहते हैं। अत दर्शनकारो का जो यौगिक अथवा आर्षज्ञान है, उसे ही ये प्रत्यक्ष कहते है, शेष प्रत्यक्ष—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को ये परोक्ष कहते हैं।

जैन-दर्शन की सवसे बडी देन, उसकी अपनी मौलिक चिन्तना का फल है, जिसे स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहा जाता है। अनेकान्तवाद का यह कहना है कि हम किसी भी वस्तु के किसी भी अश को केवल एक ही विध्यात्मक (Positive) रूप से नही कह सकते, वल्कि उसका एक निषेधात्मक (Negative) रूप भी है। जैसे केवल 'घडा है' हमारा यह कहना कोई अर्थ नही रखता, क्योकि मिट्टी का घडा है, पर सोने या चाँदी का नही, पीला घडा है, पर लाल, काला नही। यहाँ घडा है, पर वहाँ घडा नही, इस समय घडा है, पर पहले-पीछे नही। इस तरह घडे की स्थिति हजारो उपाधियो से सीमित है। मतलव यह है कि कोई भी वस्तु स्व-द्रव्य, स्व-भाव (आकार), स्व-क्षेत्र (देश) और स्व-काल में है, पर परद्रव्य, परभाव, परक्षेत्र और परकाल में नही है। इस प्रकार किसी वस्तु के विषय में हम है और नही है, दोनो कह सकते हैं। विध्यात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) दोनो तरह का वर्णन ही किसी पदार्थ का पूरा चित्र हमारे सामने उपस्थित कर मकता है। एकागी वर्णन से हम वस्तु का सिर्फ एक प्रकार (Aspect) ही जान सकेंगे। किन्तु एक ही वस्तु के विषय में 'है' और 'नही है' दोनो परस्पर-विरोधी वातें हो जाती हैं, जो हमारी समझ के वाहर हैं। अत इस दृष्टि से युगपत् निरूपण करने में असमर्थता होने के कारण सभी पदार्थ अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी हो जाते हैं। इस तरह किसी भी वस्तु की सत्ता को हम सात प्रकार से प्रकट कर सकते है।

(१) स्यात् घट अस्ति।
(२) स्यात घट नास्ति।
(३) स्यात् घट अस्ति च नास्ति च।
(४) स्यात् घट अवक्तव्य।
(५) स्यात् घट अस्ति च अवक्तव्यश्च।

(६) स्यात् घट नास्ति च अवक्तव्यश्च ।
(७) स्यात् घट अस्ति च, नास्ति च, अवक्तव्यश्च ।

इसे ही सप्तभगी नय कहते है; क्योकि सात ही प्रकार हैं जिनसे हम किसी भी वस्तु की स्थिति को बता सकते हैं, इनसे कम या अधिक हम नही कर सकते । स्यात् यहाँ सन्देह-सूचक नही, किन्तु कथञ्चित् किसी सुनिश्चित दृष्टिकोण का सूचक है । इस प्रक्रिया में स्यात् शब्द लगा है, इसलिए इसे स्याद्वाद कहते है और नानात्मक होने से अनेकान्तवाद । सक्षेप में हम यह कह सकते है कि हमारी सत्ता उपाधिग्रस्त है । बिना किसी उपाधि का नाम लिये हम किसी सत्ता का वर्णन नही कर सकते । ये उपाधियाँ नाना हैं, अत प्रत्येक सत्ता में एक तरफ से एकत्व और दूसरी तरफ से नानात्व जुडा हुआ है । घट घट से तो अभिन्न है, पर पट, मठ आदि अगणित वस्तुओ से वह भिन्न है और इस अभेद और भेद दोनो के प्रतियोगियो के पूर्ण ज्ञान से ही घट का पूर्ण ज्ञान हो सकता है । इसलिए जैन-दर्शन का कहना है कि एक वस्तु के ज्ञान के लिए सभी वस्तुओ का ज्ञान अपेक्षित है । उसका सिद्धान्त है कि—

एको भाव सर्वथा येन दृष्ट सर्वे भावा. सर्वथा तेन दृष्टा ।
सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा एको भाव सर्वथा तेन दृष्ट. ।।

यदि हम थोडी सूक्ष्मता से सोचें तो सहज ही हमारी समझ मे यह बात आ जायगी कि दुनिया की सारी चीजे परस्पर इस तरह सम्बद्ध हैं कि एक का सम्यग्ज्ञान तभी सभव है जब हम सभी को सम्यक् जान लें । इस श्लोक का भाव यह है कि एक के ज्ञान के लिए सबका ज्ञान अपेक्षित है और सबके ज्ञान से ही एक का ज्ञान सभव है । पतञ्जलि ने भी सभवत वस्तुओ की परस्पर-सबद्धता (Relativity) को सोचकर ही "एक. शब्द सम्यग् ज्ञात सुप्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" कहा था । बात यह है कि एक शब्द का सम्यग्ज्ञान और प्रयोग तभी सभव है जब हमे और शब्दो का भी सम्यक् ज्ञान और प्रयोग मालूम हो जाय । अत अन्य दर्शनो के एकान्तवाद की तुलना में जैन-दर्शन का यह अनेकान्तवाद अवश्य ही एक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान है । बे-समझी या ईर्ष्या से केवल हँस कर इसकी खिल्ली उडाना उचित नही । वास्तव मे 'अनेकान्तात्मक वस्तु' अर्थात् दुनिया का प्रत्येक पदार्थ नानारूपधारी है, दृष्टियो के भेद से वह असख्य स्वरूपो मे हमारे सामने आता है, इस सिद्धान्त की सचाई का अनुभव हम अपने नित-प्रति के व्यवहार में करते हैं ।

जैन-पदार्थ-विज्ञान—

जैनो के समन्वयात्मक दृष्टिकोण और अनेकान्तवादी प्रमाण-विज्ञान के अनुरूप ही उनका पदार्थ-विज्ञान भी है । एक ओर वैदिक दर्शन 'त्रिकालाबाधित सत्यम्' की घोषणा करते हैं तो दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन 'यत् क्षणिक तत् सत्' कहकर उसका तीव्र प्रतिवाद करता है । हम देखते है कि दोनो दो छोर पर खडे होकर ताल ठोकते हैं । एक कहता है कि जो सदा एकरस बना रहे वह सत्य है ('नाभावो विद्यते सत ' कह कर गीता भी इसीका समर्थन करती है), तो दूसरा कहता है कि जो क्षण-क्षण बदले वह सच है । अजीब तमाशा है । जैन-दर्शन एक रागद्वेष-हीन निर्णायक की भाँति आकर यह समझौता

उपस्थित करता है कि "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्" अर्थात् सत् न तो एकान्त ध्रुव अर्थात् स्थायी होता है और न एकान्त क्षणिक। जो उत्पत्ति और विनाश से गुजरता हुआ भी स्थिर बना रहे, उसे ही सत् कहते हैं। जैनो की यह तत्त्व-परिभाषा भी एक अद्भुत वस्तु है, इसका जोड हमें हीगल की तत्त्वपरिभाषा में ही मिलता है। उसका भी कहना है कि सिन्थेसिस से ग्रथित और समन्वित थीसिस और एन्टीथीसिस् ही वस्तुओ का सच्चा स्वरूप है। इस तरह तत्त्वो की द्वन्द्वात्मकता का साक्षात्कार जैनो ने हीगल के दो-ढाई हजार वर्ष पहले कर लिया था।

इसी तरह द्रव्य की परिभाषा करते हुए जैन-दर्शन कहता है—"गुणपर्ययवद् द्रव्यम्"। अर्थात् जिसमें गुण, पर्याय या परिणाम दोनो हो उसे द्रव्य कहते हैं। गुण का अर्थ है वह विशेषता जो स्थायी वनी रहे, जैसे सोने की चमक, लालिमा आदि, और पर्याय कहते हैं रूपान्तर में परिणति को, जैसे सोने का कभी कुण्डल, कभी अगूठी आदि वन जाना। सोने के चाहे जितने भी आभूषण हम वनाते जायें, उसकी चमक, लालिमा आदि एक-सी वनी रहेगी। सत् की परिभाषा में कहा गया ध्रौव्य अर्थात् स्थिरता इसी गुण को वताती है और उत्पाद-व्यय इसी पर्याय को लक्षित करते हैं। इस प्रकार किसी भी वस्तु का स्वात्मगुण (Intrinsic quality) स्थायी बना रहता है, किन्तु उसके भिन्न-भिन्न परिणामो का (Modifications) उत्पत्ति-विनाश होता रहता है। इसलिए प्रत्येक वस्तु को हम नित्य और अनित्य, दोनो कह सकते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनियो के द्रव्य के गुण और पर्याय नैयायिको के गुण-पर्याय की तरह द्रव्य से भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही। द्रव्य से उनका तादात्म्य है, क्योकि जैनधर्म वेदान्त की तरह ही धर्म-धर्मी में सर्वथा भेद नही मानता। विचार में धर्म धर्मी से भिन्न भले ही हो, पर सत्ता में दोनो एक है। इस तरह से जैनो की भेद मे अभेद वाली अनेकान्तात्मक नीति के कारण गुण और पर्याय द्रव्य से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, अत. वे अलग स्वतन्त्र पदार्थ नही।

इस द्रव्य को पहले दो भागो में बाँटते हैं—अस्तिकाय—वहुप्रदेशी (विस्तार वाला Volume और अनस्तिकाय—एक प्रदेशी या असम्बद्ध-प्रदेशी (विस्तार रहित)। दूसरी श्रेणी में केवल काल की गणना है। पहले अर्थात् अस्तिकाय को फिर दो भागो में विभक्त किया जाता है—जीव—चेतन और अजीव—अचेतन। जीव का स्वाभाविक गुण है ज्ञान, वह कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है। इसके भी दो भेद है—मुक्त और वद्ध। वद्ध के भी दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। दूसरी कोटि मे पाँच प्रकार के स्थावर हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। त्रस के चार भेद है—द्वीन्द्रिय जीव, त्रीन्द्रिय जीव, चार इन्द्रिय जीव और पाँच इन्द्रिय जीव। पचेन्द्रिय जीव के दो भेद है—समनस्क—मन-सहित और अमनस्क—मन-रहित। अजीव द्रव्य को चार भागो मे वाँटा जाता है—पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। पुद्गल द्रव्य और जीवद्रव्य दोनो ही क्रियाशील हैं, शेष द्रव्य निष्क्रिय है। इस विश्व के समस्त व्यापार जीव और पुद्गल के घात-प्रतिघात पर ही अव-लम्बित हैं। इस पुद्गल के भी दो भेद हैं—परमाणु रूप और स्कन्ध—सघात रूप। धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलो को चलने में, अधर्म द्रव्य ठहरने में सहायता देता है तथा आकाश द्रव्य धर्मरत द्रव्यो

(६) स्यात् घट नास्ति च अवक्तव्यश्च ।
(७) स्यात् घट अस्ति च, नास्ति च, अवक्तव्यश्च ।

इसे ही सप्तभगी नय कहते हैं, क्योकि सात ही प्रकार हैं जिनमे हम किसी भी वस्तु की स्थिति को बता सकते हैं, इनसे कम या अधिक हम नही कर सकते । स्यात् यहाँ सन्देह-सूचक नही, किन्तु कथञ्चित् किसी सुनिश्चित दृष्टिकोण का सूचक है । इस प्रक्रिया में स्यात् शब्द लगा है, इसलिए इसे स्याद्वाद कहते है और नानात्मक होने से अनेकान्तवाद । सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि हमारी सत्ता उपाधिग्रस्त है । बिना किसी उपाधि का नाम लिये हम किसी सत्ता का वर्णन नही कर सकते । ये उपाधियाँ नाना है, अत प्रत्येक सत्ता में एक तरफ से एकत्व और दूसरी तरफ से नानात्व जुडा हुआ है । घट घट से तो अभिन्न है, पर पट, मठ आदि अगणित वस्तुओ से वह भिन्न है और इस अभेद और भेद दोनो के प्रतियोगियो के पूर्ण ज्ञान से ही घट का पूर्ण ज्ञान हो सकता है । इसलिए जैन-दर्शन का कहना है कि एक वस्तु के ज्ञान के लिए सभी वस्तुओ का ज्ञान अपेक्षित है । उसका सिद्धान्त है कि—

एको भाव सर्वथा येन दृष्ट सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टा ।
सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा एको भाव सर्वथा तेन दृष्ट ॥

यदि हम थोडी सूक्ष्मता से सोचें तो सहज ही हमारी समझ मे यह बात आ जायगी कि दुनिया की सारी चीजें परस्पर इस तरह सम्बद्ध हैं कि एक का सम्यग्ज्ञान तभी सभव है जब हम सभी को सम्यक् जान लें । इस श्लोक का भाव यह है कि एक के ज्ञान के लिए सबका ज्ञान अपेक्षित है और सबके ज्ञान से ही एक का ज्ञान सभव है । पतञ्जलि ने भी सभवत वस्तुओ की परस्पर-सबद्धता (Relativity) को सोचकर ही "एक शब्द सम्यग् ज्ञात सुप्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" कहा था । बात यह है कि एक शब्द का सम्यग्ज्ञान और प्रयोग तभी सभव है जब हमें और शब्दो का भी सम्यक् ज्ञान और प्रयोग मालूम हो जाय । अत अन्य दर्शनो के एकान्तवाद की तुलना मे जैन-दर्शन का यह अनेकान्तवाद अवश्य ही एक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान है । बे-समझी या ईर्ष्या से केवल हँस कर इसकी खिल्ली उडाना उचित नही । वास्तव मे 'अनेकान्तात्मक वस्तु' अर्थात् दुनिया का प्रत्येक पदार्थ नानारूपधारी है, दृष्टियो के भेद से वह असंख्य स्वरूपो में हमारे सामने आता है, इस सिद्धान्त की सचाई का अनुभव हम अपने नित-प्रति के व्यवहार मे करते है ।

जैन-पदार्थ-विज्ञान—

जैनो के समन्वयात्मक दृष्टिकोण और अनेकान्तवादी प्रमाण-विज्ञान के अनुरूप ही उनका पदार्थ-विज्ञान भी है । एक ओर वैदिक दर्शन 'त्रिकालाबाधित सत्यम्' की घोषणा करते है तो दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन 'यत् क्षणिक तत् सत्' कहकर उसका तीव्र प्रतिवाद करता है । हम देखते है कि दोनो दो छोर पर खडे होकर ताल ठोकते हैं । एक कहता है कि जो सदा एकरस बना रहे वह सच है ('नाभावो विद्यते सत' कह कर गीता भी इसीका समर्थन करती है), तो दूसरा कहता है कि जो क्षण-क्षण बदले वह सच है । अजीब तमाशा है । जैन-दर्शन एक रागद्वेष-हीन निर्णायक की भाँति आकर यह समझौता

उपस्थित करता है कि "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्" अर्थात् सत् न तो एकान्त ध्रुव अर्थात् स्थायी होता है और न एकान्त क्षणिक। जो उत्पत्ति और विनाश से गुजरता हुआ भी स्थिर बना रहे, उसे ही सत् कहते हैं। जैनो की यह तत्त्व-परिभाषा भी एक अद्भुत वस्तु है, इसका जोड हमें हीगल की तत्त्वपरिभाषा मे ही मिलता है। उसका भी कहना है कि सिन्थेसिस से ग्रथित और समन्वित थीसिस और एन्टीथीसिस् ही वस्तुओ का सच्चा स्वरूप है। इस तरह तत्त्वो की द्वन्द्वात्मकता का साक्षात्कार जैनो ने हीगल के दो-ढाई हजार वर्ष पहले कर लिया था।

इसी तरह द्रव्य की परिभाषा करते हुए जैन-दर्शन कहता है—"गुणपययवद् द्रव्यम्"। अर्थात् जिसमे गुण, पर्याय या परिणाम दोनो हो उसे द्रव्य कहते है। गुण का अर्थ है वह विशेषता जो स्थायी बनी रहे, जैसे सोने की चमक, लालिमा आदि, और पर्याय कहते हैं रूपान्तर में परिणति को, जैसे सोने का कभी कुण्डल, कभी अगूठी आदि बन जाना। सोने के चाहे जितने भी आभूषण हम बनाते जायँ, उसकी चमक, लालिमा आदि एक-सी बनी रहेगी। सत् की परिभाषा में कहा गया ध्रौव्य अर्थात् स्थिरता इसी गुण को बताती है और उत्पाद-व्यय इसी पर्याय को लक्षित करते हैं। इस प्रकार किसी भी वस्तु का स्वात्मगुण (Intrinsic quality) स्थायी बना रहता है, किन्तु उसके भिन्न-भिन्न परिणामो का (Modifications) उत्पत्ति-विनाश होता रहता है। इसलिए प्रत्येक वस्तु को हम नित्य और अनित्य, दोनो कह सकते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनियो के द्रव्य के गुण और पर्याय नैयायिको के गुण-पर्याय की तरह द्रव्य से भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही। द्रव्य से उनका तादात्म्य है, क्योकि जैनधर्म वेदान्त की तरह ही धर्म-धर्मी में सर्वथा भेद नही मानता। विचार मे धर्म धर्मी से भिन्न भले ही हो, पर सत्ता में दोनो एक है। इस तरह से जैनो की भेद में अभेद वाली अनेकान्तात्मक नीति के कारण गुण और पर्याय द्रव्य से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, अत वे अलग स्वतन्त्र पदार्थ नही।

इस द्रव्य को पहले दो भागो में बाँटते हैं—अस्तिकाय—बहुप्रदेशी (विस्तार वाला Volume और अनस्तिकाय—एक प्रदेशी या असम्बद्ध-प्रदेशी (विस्तार रहित)। दूसरी श्रेणी में केवल काल की गणना है। पहले अर्थात् अस्तिकाय को फिर दो भागो में विभक्त किया जाता है—जीव—चेतन और अजीव—अचेतन। जीव का स्वाभाविक गुण है ज्ञान, वह कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है। इसके भी दो भेद है—मुक्त और बद्ध। बद्ध के भी दो भेद है—त्रस और स्थावर। दूसरी कोटि में पाँच प्रकार के स्थावर हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। त्रस के चार भेद है—द्वीन्द्रिय जीव, त्रीन्द्रिय जीव, चार इन्द्रिय जीव और पाँच इन्द्रिय जीव। पचेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं—समनस्क—मन-सहित और अमनस्क—मन-रहित। अजीव द्रव्य को चार भागो में बाँटा जाता है—पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। पुद्गल द्रव्य और जीवद्रव्य दोनो ही क्रियाशील है, शेष द्रव्य निष्क्रिय है। इस विश्व के समस्त व्यापार जीव और पुद्गल के घात-प्रतिघात पर ही अव-लम्बित हैं। इस पुद्गल के भी दो भेद हैं—परमाणु रूप और स्कन्ध—सघात रूप। धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलो को चलने में, अधर्म द्रव्य ठहरने में सहायता देता है तथा आकाश द्रव्य धर्मरत द्रव्यो

को रहने की जगह देता है। जैनो के धर्म और अधर्म द्रव्य पुण्य-पाप से भिन्न वस्तु है। ये दोनो द्रव्य प्रेरणा करके किसी को चलाते या ठहराते नही है, किन्तु जिस तरह मछली के चलने के लिए पानी का रहना अनिवार्य है, उसी भाँति सक्रिय द्रव्यो की गति के लिए धर्म की सत्ता आवश्यक है। इसी तरह से जैसे पेड की छाया यात्री के विश्राम में सहायक होती है, वैसे ही अधर्म भी वस्तुओ के गत्यवरोध मे निमित्त होता है। जैनो का कहना है कि यदि गति और स्थिति के नियामक धर्म और अधर्म न रहें तो ससार का यह रूप ही न रह जाय, सारा ससार परमाणुओ में छिन्न-भिन्न होकर अनन्त आकाश में विखर जाय। इस तरह सारा विश्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ द्रव्यो से चल रहा है।

जो वद्ध या ससारी जीव है, उनकी चार जातियाँ हैं—(१) नारक, नरक में निवास करने वाले, (२) तिर्यक्—पशु-पक्षी, कीडे, मकोडे, पेड-पौधे, जल-अग्नि-वायु आदि, (३) मनुष्य और (४) देव—देवगति में (स्वर्गों में) रहने वाले। इन वद्धजीवो के शरीर दो प्रकार के होते हैं—(१) औदारिक या स्थूल शरीर, (२) कर्म शरीर या सूक्ष्म शरीर। यो तो जैनागम में औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाँच भेद वतलाये गये है। जैनो का सिद्धान्त है कि कार्माण—कर्मशरीर भी पौद्गलिक होता है। राग-द्वेष आदि वासनाओ से आत्मा से जाकर ये कर्मपुद्गल चिपक जाते हैं और इस तरह कर्मशरीर—सूक्ष्म शरीर की सृष्टि होती है। कर्मपुद्गलो का जीव से आकर चिपक जाना वन्ध है और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण कर्मपुद्गलो का आना आस्रव है। यदि जीव अपनी वासनाओ पर अधिकार कर ले तो नये कर्मपुद्गलो का उसकी ओर आना वन्द हो जायगा, इसी स्थिति का नाम सवर है। तात्पर्य यह है कि आस्रव का न होने देना सवर है। जो कर्मपुद्गल पहले से सचित है, उन्हें योग निरोध, इन्द्रिय निरोध तथा ध्यान, समाधि द्वारा निर्जीर्ण करना, निर्जरा है। निर्जरा की स्थिति द्वारा ही जीव कर्मवन्धन को तोडकर हल्का—स्वतन्त्र वनता है। जव सारे के सारे कर्मपुद्गल विनष्ट हो जायँगे तो जीव कर्मशरीर से मुक्त होकर आवागमन और सुख-दुख से परे हो जायगा। इस अवस्था मे जीव अपने वास्तविक रूप को पा अर्थात् अनन्त आनन्द, ज्ञान-शक्तिमय होकर लोक के अग्रभाग में इस प्रकार जा पहुँचेगा, जिस प्रकार खाली घडा पानी के ऊपर आ जाता है। जैन-दर्शन में इस भाँति जीव, अजीव, आस्रव, वध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व माने जाते है। यदि इन सातो तत्त्वो में हम सुख और दुख के कारण पुण्य और पाप को जोड दें, तो ये ही नौ जैन-दर्शन में पदार्थ नाम से पुकारे जायेंगे। इस जैन-दर्शन में पाँच अस्तिकाय, छ द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थ माने जाते है। इन भिन्न-भिन्न सज्ञाओ को ठीक-ठीक नही समझने से ही वहुत से पाठक खीझ कर यहाँ तक कह वैठते है कि जैन-दर्शन में पदार्थों की सख्या कही कुछ मिलती है और कहीं कुछ।

ऊपर कही गयी सारी वातो का साराश यही है कि राग-द्वेष आदि वासनाओ के उद्रेक से ही जीव को अनादिकाल से वन्धन में फँसना पडा है और फलस्वरूप तरह तरह के दुख भोगने पड रहे है। यदि हम राग-द्वेष से रहित हो जायें तो हमें इस दुख में शरीर से अपने आप मुक्ति मिल जायगी। इस तरह सारे जैन-दर्शन की सार्थकता आस्रव और सवर के सिद्धान्तो को समझाने में है।

जैन-आचार-विज्ञान—

अब प्रश्न यह उठता है कि इस वासना को नष्ट कैसे किया जाय ? मोक्ष के लिए कौन-सा मार्ग पकडा जाय ? जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है , जैन-दर्शन मुक्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इस रत्नत्रय को अनिवार्य वताता है। इसके लिए घर का त्याग अनिवार्य नही है। जगल में फिरते हुए भी सासारिक भोग की ओर उन्मुख साधुओ से गृहस्थ रहकर भी विषयो से विरक्त जन कही बढकर हैं। घर पर रहे या जगल में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचो व्रतो का पालन आवश्यक है। इन्ही का पालन जब भिन्न-भिन्न परिस्थितियो से सीमित होता है तो उसे अणुव्रत कहते हैं। यह गृहियो के लिए विहित है। यहाँ तक सफलता मिल जाने के बाद घर का त्याग कर योगी हो जाना चाहिये। इसके बाद उक्त पाचो व्रतो को हर परिस्थिति में विना किसी अपवाद के पूरी सूक्ष्मता के साथ निबाहना चाहिये। इस प्रकार पाँच पापो का पूर्णतया त्याग महाव्रत कहलाता है। इन महाव्रतो के अलावा त्यागियो को अपने मन, वाणी और कर्म पर पूरा अधिकार करना चाहिये। उनकी एक भी क्रिया निरर्थक नही होनी चाहिये। वासनाओ पर विजय कर लेने के कारण उनके व्यवहार और हृदय से कठोरता एकदम दूर हो जानी चाहिये। ऐसा दृढ सयमी आदर्श पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। जैन-दर्शन देवो की अपेक्षा भी ऐसे योगी पुरुषो को उत्कृष्ट मानता है। देवो के स्वर्ग का सुख नश्वर है, पर मोक्ष तो अनन्त है, अत मोक्ष चाहनेवाले देवो को भी मानवो की भाँति इन व्रतो का पालन करना होगा।

ध्यान देकर देखने से पता चलता है कि जैनो का सारा धर्म, सारा आचार शास्त्र अहिंसा पर केन्द्रित है। पाँचो व्रतो में अहिंसा को प्रथम स्थान देना भी उसके इस महत्त्व को सूचित कर रहा है। वस्तुत झूठ वोलना, चोरी आदि में भी दूसरे प्राणियो को दुख पहुँच ही जाता है, अत वाकी चार व्रतो मे भी अहिंसा समान रूप से ग्रथित है। इसलिए जैनलोग अहिंसा के पालन पर इतना जोर देते हैं। बौद्धो के अहिंसा धर्म से इनका अहिंसा धर्म वहुत भिन्न है। वौद्ध लोग स्वय प्राणी की हत्या करने में ही हिंसा मानते है, पर मास-विक्रेता से खरीद कर मास खाने में वे कोई पाप नही मानते। किन्तु जैन लोग स्वय हिंसा करना, दूसरे के द्वारा की जाती हुई हिंसा में साक्षात् या परम्परया सहायक होना तथा दूसरो से की जाती हिंसा को सह लेना या स्वीकृति देना, सव कुछ वर्जित मानते हैं। इसके अतिरिक्त हिंसा प्राण लेना ही नही, किन्तु अग-भग करना, मारना, पीटना, क्लेश पहुँचाना या अन्य किसी तरह से किसी को मन, वचन और काम से कष्ट देना मानी जाती है। पशुओ को तनिक भी कष्ट देना महान् पाप माना गया है। इस प्रकार जैनो का अहिंसा धर्म ससार के लिए आदर्श है। मानवता की सुरक्षा इसी अहिंसाधर्म से हो सकती है।

यहाँ यह कह देना अप्रासगिक न होगा कि जिस तरह विश्व के किसी भी धर्म के प्रवर्तक के आदर्श में और उसके अनुयायियो के वास्तविक आचार में क्रमश गहरी खाई पडती जाती है, उसी तरह अहिंसा धर्म वहुत कुछ दोषपूर्ण होता जा रहा है।

वैदिक दर्शन ने भी जैन-दर्शन के अनेक सिद्धान्तो को ज्योका त्यो ले लिया है। महाभारत का 'अहिंसा परमो धर्म' वाक्य स्पष्टत जैनो का है। जैन-दर्शन का दृष्टिकोण वडा लोकोपयोगी है। वेद और ईश्वर को न मानने पर भी अपने आगम और पचपरमेष्ठी पर उसकी अटूट भक्ति और श्रद्धा है। यह दर्शन बौद्ध और अद्वैतवादियो की तरह दुनिया को काल्पनिक, शून्य या मायामय कहकर जीवन-सग्राम से भागना नही सिखाता। उसे इस ठोस धरती पर पूरा विश्वास है। भक्ति, ज्ञान और कर्म की त्रिवेणी को वह दुनिया के लिए आवश्यक मानता है। इसीलिए वहुत अधिक फैलकर भी सूखे ज्ञान की माला जपनेवाला बौद्धधर्म भारत की हरी-भरी सरस भूमि से वाहर निकाल दिया गया, पर जैन-धर्म आज भी यहाँ फल-फूल रहा है। जैन-दर्शन पृथ्वी की उपेक्षा कर स्वर्ग और मोक्ष की ओर आँखें लगाये रहने को नही कहता। वह मनुष्यो को वन्दी समझ कर देवताओ के जीवन के लिए नही ललचाता। उसका कहना है कि,—"तुम मानव, केवल मानव और सच्चे मानव वनो, क्योकि यह प्रकृति का साम्राज्य एकमात्र मानव के कल्याण के लिए ही वना है।"
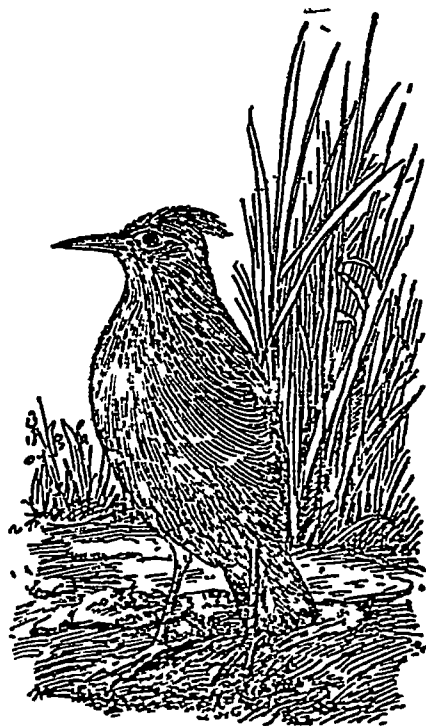
जैन-दर्शन में आत्मतत्त्व

पं० श्रीवंशीधर जैन, व्याकरणाचार्य शास्त्री, बीना

१. जैन-दर्शन के प्रकार—

प्रचलित दर्शनो में से किसी-किसी दर्शन को तो केवल भौतिक दर्शन और किसी-किसी दर्शन को केवल आध्यात्मिक दर्शन कहा जा सकता है, परन्तु जैन-दर्शन के भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार स्वीकार किये गये हैं।

विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओ के अस्तित्व, स्वरूप, भेद-प्रभेद और विविध प्रकार से होने वाले उनके परिणमन का विवेचन करना 'भौतिक दर्शन' और आत्मा के उत्थान, पतन तथा इनके कारणो का विवेचन करना 'आध्यात्मिक दर्शन' है साथ ही भौतिक दर्शन को 'द्रव्यानुयोग' और आध्यात्मिक दर्शन को 'करणानुयोग' भी कह सकते हैं। इस तरह भौतिकवाद, विज्ञान (साइन्स्) और द्रव्यानुयोग ये सब भौतिक दर्शन के और अध्यात्मवाद तथा करणानुयोग ये दोनो आध्यात्मिक दर्शन के नाम हैं।

२. जैन-संस्कृति में विश्व की मान्यता—

'विश्व'[१] शब्द को कोष-ग्रन्थो मे सर्वार्थवाची शब्द स्वीकार किया गया है अत विश्व शब्द के अर्थ मे उन सब पदार्थों का समावेश हो जाता है जिनका अस्तित्व सभव है। इस तरह विश्व को यद्यपि अनन्त[२] पदार्थों का समुदाय कह सकते है परन्तु जैन-सस्कृति में इन सम्पूर्ण अनन्त पदार्थों को निम्न-लिखित छ[३] वर्गों में समाविष्ट कर दिया गया है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

---

(१) (देखिये—अमरकोष–तृतीयकाण्ड-विशेष्यनिघ्नवर्ग श्लोक–६४, ६५)

(२) अनन्त शब्द जैन-संस्कृति में संख्याविशेष का नाम है। इसी तरह आगे आनेवाले संख्यात और असंख्यात शब्दो को भी संख्याविशेषवाची ही माना गया है। जैन-सस्कृति में संख्यात के संख्यात, असख्यात के असख्यात और अनन्त के अनन्त-भेद स्वीकार किये गये हैं। (इनका विस्तृत विवरण–तत्त्वार्थ राजवार्तिक सूत्र ३८ अध्याय प्रथम में देखिये।)

(३) "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला", "जीवाश्च" और "कालश्च" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १, ३ व ३८)

इनमें से जीवों[4] की सख्या अनन्त है, पुद्‌गल भी अनन्त है, धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनो एक-एक है तथा काल असख्यात है। इन सब को जैन-सस्कृति में अलग-अलग द्रव्य[5/1] नाम से पुकारा गया है क्योकि एक प्रदेश[5/2] को आदि लेकर दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशो के रूप में अलग-अलग इनके आकार पाये जाते है या बतलाये गये है।

जिस द्रव्य का सिर्फ एक ही प्रदेश होता है उसे एक प्रदेशी[6] और जिस द्रव्य के दो आदि सख्यात, असख्यात या अनन्त प्रदेश होते है उसे बहुप्रदेशी[7] द्रव्य माना गया है। इस तरह प्रत्येक जीव तथा धर्म और अधर्म ये तीनो द्रव्य समान असख्यात[8] प्रदेशो के रूप में बहुप्रदेशी द्रव्य है, अनन्त[9] पुद्‌गल सिर्फ एक प्रदेश वाले द्रव्य है और अनन्त[10] पुद्‌गल दो आदि सख्यात, असख्यात तथा अनन्त[11] प्रदेशो के रूप में बहुप्रदेशी द्रव्य माने गये है। इसी प्रकार आकाश को अनन्त प्रदेशो के रूप में बहुप्रदेशी और सपूर्ण कालो में से प्रत्येक काल को एकप्रदेशी[12] द्रव्य स्वीकार किया गया है। यहाँ पर इतना ध्यान और रखना चाहिये कि सपूर्ण काल द्रव्य असख्यात[13] होकर भी उतने है, जितने कि प्रत्येक जीव के या धर्म अथवा अधर्म द्रव्य के प्रदेश बतलाये गये है।

---

(४) यद्यपि विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की सख्या ही अनन्त है लेकिन अनन्त संख्या के अनन्त-भेद होने के कारण जीवो की सख्या भी अनन्त है और पुद्‌गलो की संख्या भी अनन्त है इसमें कोई विरोध नहीं आता।

(५/१) "द्रव्याणि" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र २)

(५/२) "जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं। त खुपदेशं जाणे" ।।२७।। (द्रव्यसग्रह में)
श्री नेमिचन्द्राचार्य

(६) "एक प्रदेशवदपि द्रव्य स्यात् खण्डवर्जित स यथा"
(पचाध्यायी अध्याय १, श्लोक ३६)

(७) "प्रथमो द्वितीय इत्पाद्यसख्यदेशास्ततोऽप्यनन्ताश्च।
अंशा निरशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्यायाख्यास्ते ।।२५।। (पचाध्यायी अध्याय १)

(८) "असख्येया. प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ८)

(९) "नाणो." (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ११)
यहाँ पर "अणु एक प्रदेशी द्रव्य है" यही अर्थ ग्रहण किया गया है।
"एक प्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात् खण्डवर्जितः स यथा।
परमाणुरेव शुद्ध कालाणुर्वा यत· स्वत. सिद्धः ।।३६।। (पचाध्यायी अध्याय १)

(१०) "संख्येयासंख्येयाश्च पुद्‌गलानाम्" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १०)
यहाँ पर च शब्द से अनन्त सख्या का भी ग्रहण किया गया है।

(११) "आकाशस्यानन्ता." (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ९)

(१२) देखिये टिप्पणी न० ९ "कालाणु र्वा यत. स्वत. सिद्ध"

(१३) "ते कालाणू असंख्य दव्वाणि" ।।२२।। (द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य)

इन सव द्रव्यो में से आकाश द्रव्य सवसे वडा और सब ओर से असीमित विस्तार वाला द्रव्य है तया वाकी के सव द्रव्य इसी आकाश के अन्दर ठीक मध्य में सीमित होकर रह रहे हैं[1]। इस प्रकार जितने आकाश के अन्दर उक्त सव द्रव्य याने सब जीव, सव पुद्गल, धर्म, अधर्म, और सब काल विद्यमान है उतने आकाश को लोकाकाश और शेष समस्त सीमारहित आकाश को अलोकाकाश नाम से पुकारा गया है[2]। यहाँ पर भी इतना ध्यान रखने की जरूरत है कि आकाश के जितने हिस्से में धर्म द्रव्य अथवा अधर्म द्रव्य का जिस रूप मे वास है वह हिस्सा उसी रूप मे लोकाकाश का समझना चाहिये। इस तरह लोकाकाश के भी धर्म अथवा अधर्म द्रव्य के समान ही असख्यात प्रदेश सिद्ध होते है तथा धर्म और अधर्म द्रव्यो की ही तरह सम्पूर्ण अनन्त जीव द्रव्यो, सपूर्ण अनन्त पुद्गल द्रव्यो तथा सपूर्ण असख्यात काल द्रव्यो का निवास भी आकाश के इसी हिस्से मे समझना चाहिये।

धर्म और अधर्म इन दोनो द्रव्यो की वनावट के वारे में जैन-ग्रन्थो में लिखा है कि जब कोई मनुष्य ययासभव अपने दोनो पैर फैलाकर और दोनो हाथो को अपनी कमर पर रखकर सीधा खडा हो जावे, तो जो आकृति उस मनुष्य की होती है वही आकृति धर्म और अधर्म दोनो द्रव्यो की समझनी चाहिये। यही सवव है कि लोक को पुरुष के आकार वाला बतलाया गया है और जहाँ तक ब्रह्माण्ड या परब्रह्म भी लोक को इसीलिए ही कहते हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य की वनावट[3] के वारे मे जैन-ग्रन्थो में यह भी लिखा है कि इन दोनो द्रव्यो की ऊँचाई चौदह रज्जु, मोटाई उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु और चौडाई पूर्व-पश्चिम नीचे विल्कुल अन्त में सात रज्जु, ऊपर क्रम से घटते-घटते मध्य मे सात रज्जु की ऊँचाई पर एक रज्जु, फिर इसके ऊपर क्रम से वढते-वढते साढे तीन रज्जु की ऊँचाई पर पाँच रज्जु तथा उसके भी ऊपर क्रम से घटते-घते विल्कुल अन्त में साढे तीन रज्जु की ऊँचाई पर एक रज्जु हैं।

जव कि धर्म और अधर्म द्रव्यो की वनावट के समान ही लोकाकाश की वनावट है तो इसका मतलव यही है कि लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर धर्म और अधर्म द्रव्यो का एक-एक प्रदेश साथ-साथ वैठा हुआ है[4] तथा इसी तरह लोकाकाश के उस उस प्रदेश पर धर्म और अधर्म द्रव्यो के प्रदेशो के साथ-साथ एक-एक काल द्रव्य भी विराजमान[5] है। इस तरह सम्पूर्ण असख्यात काल द्रव्य मिलकर धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य तथा लोकाकाश की वनावट का रूप धारण किये हुए हैं।

---

(१) "लोकाकाशेऽवगाह" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १२)

(२) "षड् द्रव्यात्मा स लोकोऽस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा" ॥२२॥ (पंचा० अ० २)

(३) देखिये—(तत्त्वार्थ राजवार्तिक में तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय पाचवां, सूत्र ३८ का व्याख्यान)

(४) "धर्माधर्मयो. कृत्स्ने" (तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सूत्र १२)

(५) "लोयायास पदेशे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाण रासीमिव ते कालाणू असंख दव्वाणि ॥२२॥
(द्रव्यग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य)

इन चारो द्रव्यो में से आकाश द्रव्य तो असीमित अर्थात् व्यापक होने की वजह से निष्क्रि है ही, साथ ही शेष धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और सपूर्ण काल द्रव्यो को भी जैन-सस्कृति में निष्क्रिय[1] द्रव्य ही स्वीकार किया गया है अर्थात् इन चारो प्रकार के द्रव्यो मे हलन-चलन रूप क्रिया का सर्वथा अभाव है। ये चारो ही प्रकार के द्रव्य अकप स्थिर होकर ही अनादि काल से रहते आये है और रहते जायेंगे। इनके अतिरिक्त सभी जीव और सभी पुद्गल द्रव्यो को क्रियावाले द्रव्य स्वीकार किया गया है और यह भी एक कारण है कि जिस प्रकार धर्मादि द्रव्यो की बनावट नियत है उस प्रकार जीव द्रव्य और पुदगल द्रव्यो की बनावट नियत नही है। प्रत्येक जीव यद्यपि धर्म या अधर्म अथवा लोकाकाश के बराबर प्रदेशो वाला है और कभी-कभी कोई जीव अपने प्रदेशो को फैलाकर समस्त[2] लोक में व्याप्त होता हुआ उस आकृति को प्राप्त भी कर लेता है। परन्तु सामान्य रूप से प्रत्येक जीव छोटे-बडे जिस शरीर मे जिस समय पहुँच गया हो, उस समय वह उसी की आकृति[3] का रूप धारण कर लेता है। पुद्गल द्रव्यो मे यद्यपि एक प्रदेशी सभी पुद्गल क्रियावान् होते हुए भी नियत आकार वाले है परन्तु अवगाहन-शक्ति की विविधता के कारण दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशो वाले पुद्गलो के आकार नियत नही है। यही वजह है कि दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशो वाले अनन्तो पुद्गल लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में भी समा कर रह रहे हैं। यद्यपि सामान्य रूप से प्रत्येक जीव का निवास लोकाकाश के असख्यात वें भाग क्षेत्र में माना गया है, परन्तु परस्पर अव्याघात शक्ति के प्रभाव से एक ही क्षेत्र में अनन्तो जीव भी एक साथ रहते हुए माने गये है।

प्रत्येक जीव चेतना-लक्षण वाला है और चेतनारहित[4] होने के कारण धर्म, अधर्म, आकाश और सपूर्ण काल द्रव्यो को अजीव माना गया है। इसी प्रकार सभी पुद्गल रूपी माने गये है अर्थात् सभी पुद्गलो में रूप, रस, गध और स्पर्श ये चार गुण पाये जाते हैं। यही कारण है कि इनका ज्ञान हमे स्पर्शन, रसना, नासिका और नेत्र इन बाह्य इन्द्रियो से यथायोग्य होता रहता है[5]। पुद्गलो के अतिरिक्त सब जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और सब काल इन सभी को अरूपी स्वीकार किया गया है अर्थात् इनमें रूप, रस, गध और स्पर्श इन चारो गुणो का सर्वथा अभाव पाया जाता है अत इनका ज्ञान भी हमें उक्त बाह्य इन्द्रियो से नही होता है। यद्यपि अनन्तो पुद्गलो का ज्ञान भी हमें बाह्य इन्द्रियो से नही होता

---

(१) "निष्क्रियाणि च" (तत्त्वार्थ अ० ५, सूत्र ७)

(२) केवल समुद्घात के भेद लोकपूरण समुद्घात में।
मूल शरीर को न छोड़ते हुए आत्मा के प्रदेशो का शरीर से बहिर्गमन को समुद्घात कहते हैं।

(३) "अणुगुरुदेहपमाणो" ॥१०॥ (द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य)

(४) "रूपिण. पुद्गला.", "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला."
(तत्त्वा० अ० ५, सूत्र ५ व २३)

(५) इन्द्रियग्राह्य होने से ही पुद्गल द्रव्यो को मूर्त और इन्द्रिय ग्राह्य न होने से ही शेष सब द्रव्यो को अमूर्त भी माना गया है।
(देखिये—पचाध्यायी अध्याय २, श्लोक ७)

है परन्तु इससे उन पुद्गलो मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अभाव नही मान लेना चाहिये। कारण कि इन गुणो का सद्भाव रहते हुए भी इन पुद्गलो मे पायी जाने वाली सूक्ष्मता ही उक्त बाह्य इन्द्रियो से उनका ज्ञान होने में बाधक है। इसी तरह शब्द का ज्ञान जो हमें बाह्य कर्ण इन्द्रिय से होता है इससे शब्द की पौद्गलिकता ही सिद्ध होती है।

जीव द्रव्यो के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में इस लेख में आगे विचार किया जायगा। शेष द्रव्यो के अस्तित्व और स्वरूप के विषय मे यहाँ पर विचार किया जा रहा है—

जिनका स्वभाव पूरण और गलन का है[१] अर्थात् जो परस्पर सयुक्त होते-होते बडे से बडे पिण्ड का रूप धारण कर लें और पिण्ड में से वियुक्त होते-होते अन्त मे अलग अलग एक-एक प्रदेश का रूप धारण कर लें, उन्हें पुद्गल कहा गया है। ऐसे स्थूल पुद्गल तो हमें सतत दृष्टिगोचर हो ही रहे हैं लेकिन सूक्ष्म से सूक्ष्म और छोटे से छोटे पुद्गलो के अस्तित्व को भी—जिनका ज्ञान हमें अपनी बाह्य इन्द्रियो से नही हो पाता है—विज्ञान ने सिद्ध करके दिखला दिया है। अणुबम और उद्रजनबम आदि पदार्थ उन सूक्ष्म और छोटे पुद्गलो की अचिंत्य शक्ति का दिग्दर्शन करा रहे हैं।

जब कि सब जीव और सब पुद्गल क्रियाशील द्रव्य है तो जिस समय कोई जीव या कोई पुद्गल क्रिया करता है और जब तक करता रहता है उस समय और तब तक उसकी उस क्रिया में सहायता करना धर्म द्रव्य का स्वभाव है[१]। इसी तरह कोई जीव या कोई पुद्गल क्रिया करते-करते जिस समय रुक जाता है और जब तक रुका रहता है उस समय और तब तक उसके ठहरने में सहायता करना अधर्म द्रव्य का स्वभाव है[२]। यद्यपि जैन-सस्कृति में जीव और पुद्गल द्रव्यो को स्वत क्रियाशील माना गया है परन्तु यदि अधर्म द्रव्य नही होता तो गतिमान् जीव और पुद्गल द्रव्यो के स्थिर होने का आधार ही समाप्त हो जाता और यदि धर्म द्रव्य नही होता तो ठहरे हुए जीव और पुद्गलो के गतिमान् होने का भी आधार समाप्त हो जाता, अत जैन-सस्कृति में धर्म और अधर्म दोनो द्रव्यो का अस्तित्व स्वीकार किया गया है और यही सबब है कि मुक्त जीव स्वभावत ऊर्ध्व गमन करते हुए भी ऊपर लोक के अग्रभाग में जैन मान्यता के अनुसार इसलिये रुक जाते हैं क्योकि उसके आगे धर्म द्रव्य का अभाव है[३]।

सब द्रव्यो को उनकी निज-निज आकृति के अनुसार अपने उदर में समा लेना आकाश द्रव्य का स्वभाव है।[४] प्रत्येक द्रव्य का लम्बे, चौडे, मोटे, गोल, चौकोर, त्रिकोण आदि विभिन्न रूपो में दृष्टि-

---

(१) "अणव. स्कन्धाश्च", "भेद सघातेभ्य उत्पद्यन्ते", "भेदादणु"

(१) "गइपरिणयावधम्मो पुग्गलजीवाण गमण सहयारी" ॥१७॥
(द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य)

(२) "ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गल जीवाण ठाण सहयारी" ॥१८॥
(द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य)

(३) "धर्मास्तिकायाभावात्" (तत्त्वा० अ० १, सूत्र ८)

(४) "आकाशस्यावगाहः" (तत्त्वा० अ० ५, सूत्र १८)

गोचर होता हुआ छोटा वडा आकार हमे आकाश के अस्तित्व को मानने के लिये वाध्य करता है अन्यथा आकाश द्रव्य के अभाव मे सब वस्तुओ के परस्पर विलक्षण आकारो का दिखाई देना असभव हो जाता ।

इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक जीव, प्रत्येक पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश स्वत परिणमन-शील द्रव्य माने गये है परन्तु इन सबके उस परिणमन का क्षणिक विभाजन करना काल द्रव्य का स्वभाव है[1] अर्थात् द्रव्यो की अवस्थाओ में जो भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ता का व्यवहार होता रहता है अथवा कालिक दृष्टि से जो नये-नये या छोटे-वडे का व्यवहार वस्तुओ में होता है इस सब की वजह से हमें काल द्रव्यो के अस्तित्व को मानने के लिये भी वाध्य होना पडता है ।

आकाश द्रव्य एक क्यो है ? इसका सीधा सादा उत्तर यही है कि वह सीमारहित द्रव्य है । 'सीमारहित' इस शब्द का व्यापक रूप अर्थ होता है और 'सीमासहित' इस शब्द का व्याप्य रूप अर्थ होता है तथा व्यापक द्रव्य वही होगा जिससे वडा कोई दूसरा द्रव्य न हो अत. आकाश द्रव्य का एकत्व अपरिहार्य है और इस आकाश की वदौलत ही दूसरे द्रव्यो को ससीम कहा जा सकता है ।

धर्म और अधर्म इन दोनो द्रव्यो को भी जैन-सस्कृति में जो एक-एक ही माना गया है उसका कारण यह है कि लोकाकाश में विद्यमान समस्त जीव द्रव्यो और समस्त पुद्गल द्रव्यो को गमन में सहायक होना धर्म द्रव्य का काम है और ठहरने में सहायक होना अधर्म द्रव्य का काम है । वे दोनो काम एक, अखण्ड और लोकाकाश भर में व्याप्त धर्म द्रव्य और इसी प्रकार एक, अखण्ड और लोकाकाश भर में व्याप्त अधर्म द्रव्य के मानने से सिद्ध हो जाते है । अत. इन दोनो द्रव्यो के भी अनेक भेद स्वीकार नही करके एक-एक[2] भेद ही इनका स्वीकार किया गया है ।

काल द्रव्य को अणुरूप (एक प्रदेशी) स्वीकार करके उसके लोकाकाश के प्रमाण विस्तार में रहने वाले असख्यात भेद स्वीकार करने का अभिप्राय यह है कि काल द्रव्य से सयुक्त होने पर ही वस्तु में वर्तमानता का व्यवहार होता है और यदि किसी वस्तु का काल द्रव्य से सयोग था, अब नही है तो उस वस्तु में भूतता का तथा यदि किसी वस्तु का आगे काल द्रव्य से संयोग होने वाला हो, तो उस वस्तु में भविष्यत्ता का व्यवहार होता है । अब यदि काल द्रव्य को धर्म और अधर्म द्रव्यो की तरह एक अखण्ड लोकाकाश भर में व्याप्त स्वीकार कर लेते है तो किसी भी वस्तु का कभी भी काल द्रव्य से असयोग नही रहेगा । ऐसी हालत में प्रत्येक वस्तु सतत और सर्वत्र विद्यमान ही मानी जायगी, उसमें भूतता और भविष्यत्ता का व्यवहार करना असगत हो जायगा । लेकिन जब काल द्रव्यो को अणु रूप से अनेक मान लेते है तो जितने काल द्रव्यो से जिस वस्तु का जब सयोग रहता है उन काल द्रव्यो की

(१) "वर्तनापरिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" (तत्वा० अ० ५, सू० २२)
(२) "आ आकाशादेक द्रव्याणि" (तत्त्वा० अ० ५, सूत्र ६)
इस सूत्र में धर्म, अधर्म और आकाश को एक-एक ही बतलाया गया है ।

अपेक्षा उस वस्तु में तव वर्तमानता का व्यवहार होता है और जिनसे पहले सयोग रहा है किन्तु अब नही है उनकी अपेक्षा भूतता का तथा जिनसे आगे सयोग होने वाला है उनकी अपेक्षा भविष्यत्ता का व्यवहार भी उस वस्तु में सामञ्जस हो जाता है। जैसे एक ही व्यक्ति में एक ही साथ हम "यहाँ है, पहले वहाँ था, और आगे वहाँ होगा" इस तरह वर्तमानता, भूतता और भविष्यत्ता का जो व्यवहार किया करते हैं उसका कारण यही है कि जहाँ के काल द्रव्यो से पहले उसका सयोग था उनसे अब नही है। अब दूसरे काल द्रव्यो से उसका सयोग हो रहा है और आगे दूसरे काल द्रव्यो से उसका सयोग होने की सभावना है। इस प्रकार जब दूसरे अणुरूप भी द्रव्य पाये जाते हैं और उनमे भी भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ता का व्यवहार होता है तो इनमें यह व्यवहार काल की अणुरूप स्वीकार किये विना सभव नही हो सकता है अत काल द्रव्य को अणुरूप मानकर उसके लोकाकाश के प्रमाण असख्यात भेद मानना ही युक्तिसगत है।

इस तरह से अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असख्यात काल इन सब द्रव्यो के समुदाय का नाम ही विश्व है क्योकि इनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु विश्व में शेष नही रह जाती है। ये सब द्रव्य यद्यपि अपने-अपने स्वतन्त्र रूप में अनादि हैं और अनिधन[1] हैं फिर भी अपनी-अपनी अवस्थाओ के रूप में परिणमनशील[2] हैं अत सब वस्तुओ के परिणमनशील होने की वजह से ही विश्व को 'जगत्' नाम से भी पुकारा जाता है क्योकि 'गच्छतीति जगत्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जगत् शब्द का अर्थ 'परिणमनशील वस्तु' स्वीकार करने का ही यहाँ पर अभिप्राय है।

३—द्रव्यानुयोग मे आत्म-तत्त्व—

ऊपर जैन-सस्कृति के अनुसार जितना कुछ विश्व के पदार्थों का विवेचन किया गया है वह सब विवेचन द्रव्यानुयोग की दृष्टि से ही किया गया है। उस विवेचन में विश्व के पदार्थों में जीवद्रव्य को भी स्थान दिया गया है इसलिए यहाँ पर द्रव्यानुयोग की दृष्टि से उसका भी विवेचन किया जाता है।

जीव द्रव्य का ही अपर नाम "आत्मा" है। इसका ग्रहण स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन वाह्य इन्द्रियो से न हो सकने के कारण "विश्व के पदार्थो मे आत्मा को स्थान दिया जा सकता है या नही ?"—यह प्रश्न प्रत्येक दर्शनकार के समक्ष विचारणीय रहा है। इतना होते हुए भी हम देखते हैं किसी भी दर्शनकार ने स्वकीय (स्वय अपने) अस्तित्व को अमान्य करने की कोशिश नही की है। वह ऐसी कोशिश करता भी कैसे ? क्योकि उसका उस समय का सवेदन (अनुभवन) उसे यह वतलाता रहा कि वह स्वय दर्शन की रचना कर रहा है इसलिए वह यह कैसे कह सकता था कि "उसका निजी कोई अस्तित्व ही नही है ?"

---

(१) तत्व सल्लाक्षणिक सन्मात्रं वा यत स्वत. सिद्धम् ।
तस्मादनादिनिधन स्वसहाय निर्विकल्प च ।।८।। (पंचाध्यायी अध्याय १)

(२) वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामी ।।८६।। (पंचाध्यायी अध्याय १)

यही बात सभी सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के विषय में कही जा सकती है अर्थात् कोई भी सज्ञी पचेन्द्रिय जीव अपने अस्तित्व के विषय में सदेहशील नही रहते हैं। कारण कि जिस समय जो कुछ वे करते हैं उस समय उन्हें इस बात का अनुभवन होता ही है कि वे अमुक कार्य कर रहे हैं। इस तरह जब वे अपने अनुभव के आधार पर स्वय अपने को यथासमय उस कार्य का कर्ता स्वीकार करते रहते है तो फिर वे ऐसा सदेह कैसे कर सकते है कि "उनका अपना कोई अस्तित्व है या नही ?" यहाँ पर अस्तित्व का अर्थ ही आत्मा का अस्तित्व है।

प्रश्न—यद्यपि यह बात ठीक है कि सभी सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो को सतत स्वसवेदन (अपना अनुभवन) होता रहता है परन्तु शरीर के अन्दर व्याप्त होकर रहने वाला "मैं" शरीर से पृथक् तत्त्व हूँ—ऐसा सवेदन तो किसी को भी नही होता है अत यह बात कैसे मानी जा सकती है कि "शरीर से अतिरिक्त "आत्मा" नामका कोई स्वतन्त्र तत्त्व है ?"

उत्तर—जितने भी निष्प्राण घटादि पदार्थ है उनकी अपेक्षा प्राण वाले शरीरो मे निम्न-लिखित तीन विशेषताएँ पायी जाती हैं—

(१) निष्प्राण घटादि पदार्थ दूसरे पदार्थों का ज्ञान नही कर सकते है जब कि प्राणवान् शरीरो में दूसरे पदार्थों का ज्ञान करने की सामर्थ्य पायी जाती है।

(२) निष्प्राण घटादि पदार्थ स्वत कोई प्रयत्न नही कर सकते है जब कि प्राणवान् शरीरो को हम स्वत प्रयत्न करते देखते हैं।

(३) निष्प्राण घटादि पदार्थों में "मै सुखी हूँ या दु खी हूँ, मै गरीब हूँ या अमीर हूँ, मै छोटा हूँ या बडा हूँ" आदि रूप से स्वसवेदन[1] नही पाया जाता है जब कि प्राणवाले शरीरो में उक्त प्रकार से स्वसवेदन करने की यथायोग्य योग्यता पायी जाती है।

इस प्रकार निष्प्राण घटादि पदार्थों और प्राणवान् शरीरो में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की समानता पायी जाने पर भी प्राणवान् शरीरो में जो परपदार्थज्ञातृत्व, प्रयत्नकर्तृत्व और स्वसवेदकत्व ये तीन विशेषताएँ पायी जाती हैं उनका जब घटादि निष्प्राण पदार्थों में सर्वथा अभाव विद्यमान है तो इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राणवान् शरीरो के अन्दर किसी ऐसे स्वतन्त्र पदार्थ की सत्ता स्वीकृत करनी चाहियें जिसकी वजह से ही उनमे (प्राणवान् शरीरो मे) उक्त प्रकार से ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये विशेषताएँ पायी जाती हैं तथा जिसके अभाव के कारण ही निष्प्राण घटादि पदार्थों में उक्त विशेषताओ का भी अभाव पाया जाता है। इस पदार्थ को ही 'आत्मा' नाम से पुकारा गया है।

---

(१) अस्ति जीवः सुखादीनां स्वसंवेदनसमक्षतः।
यो नैव स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥५॥ (पंचाध्यायी अध्याय २)

तात्पर्य यह है कि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये तीनो ही प्राण शब्द के वाच्य हैं। ये जिस शरीर में जब तक विद्यमान रहते हैं तब तक वह शरीर प्राणवान् कहलाता है तथा जब जिस शरीर में इनका सर्वथा अभाव हो जाता है तब वह शरीर तथा जिन पदार्थों मे इनका सतत अभाव पाया जाता है वे घटादि पदार्थ निष्प्राण कहे जाते हैं। हम देखते हैं कि शरीर के विद्यमान रहते हुए भी कालान्तर मे उक्त प्राणो का उसमे सर्वथा अभाव भी हो जाता है अत यह मानना अयुक्त नही है कि वे शरीर से ही उत्पन्न होने वाले धर्म नही है तो जिसके वे धर्म हो सकते है, वही 'आत्मा' है।

प्रश्न—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचो भूतो (पदार्थों) के योग से ही शरीर का निर्माण होता है और तब उस शरीर मे उक्त प्राणो का प्रादुर्भाव अनायास ही (अपने आप ही) हो जाता है। यही कारण है कि शरीर मे पृथ्वी तत्त्व का मिश्रण होने से हमे नासिका द्वारा गन्ध का ज्ञान होता रहता है क्योकि गन्ध पृथ्वी का गुण है, जल तत्त्व का मिश्रण होने से हमें रसना ारा रस का ज्ञान होता रहता है क्योकि रस जल का गुण है, अग्नि तत्व का मिश्रण होने से नेत्रो द्वारा हमें रूप का ज्ञान होता रहता है क्योकि रूप अग्नि का गुण है, वायु तत्त्व का मिश्रण होने से हमे स्पर्शन द्वारा स्पर्श का ज्ञान होता रहता है, क्योकि स्पर्श वायु का गुण है और इसी तरह आकाश तत्त्व का मिश्रण होने से हमे कर्णो द्वारा शब्द का ग्रहण होता रहता है क्योकि शब्द आकाश का गुण है।

उत्तर—पहली बात तो यह है कि "शब्द आकाश का गुण है" इस सिद्धान्त को शब्द के लिए कैद कर लेने वाले विज्ञान ने आज समाप्त कर दिया है। इसलिए शब्द का ज्ञान करने के लिये शरीर मे अब आकाश तत्त्व के मिश्रण को स्वीकार करने की आवश्यकता नही रह गयी है। इसके अलावा शब्द में जब घात-प्रतिघात रूप शक्ति पायी जाती है तो इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि शब्द आकाश का या दूसरी किसी वस्तु का गुण न होकर अपने आप में द्रव्य रूप ही हो सकता है क्योकि गुण में वह शक्ति नही पायी जाती है कि वह स्वय असहाय होकर किसी दूसरे पदार्थ का घात कर सके अथवा दूसरे पदार्थ से उसका घात हो सके। और यदि शब्द को कदाचित् गुण भी मान लिया जाय, तो फिर आकाश के अलावा वह किसका गुण हो सकता है? इसका निर्णय करना असभव है यही कारण है कि जैन-सस्कृति में शब्द[1] को रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला पुद्गल द्रव्य ही मान लिया गया है तथा जैन-सस्कृति की यह मान्यता तो है ही, कि पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु इन चारो ही तत्त्वो मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारो ही गुण विद्यमान रहते हैं अत रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान करने के लिये शरीर में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन पृथक्-पृथक् चारो तत्त्वो के सयोग की आवश्यकता नही रह जाती है। इतना अवश्य है कि शरीर भी घटादि पदार्थों की तरह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला एक पुद्गल पिण्ड है और जिस प्रकार घटादि पदार्थ निष्प्राण है उसी प्रकार यह शरीर भी अपने आप में निष्प्राण ही है, फिर भी जब तक इस शरीर के अन्दर आत्मा विराजमान रहती है तब तक वह प्राणवान् कहा जाता है।

---

(१) अप्यर्थ. कोऽपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोऽनतिक्रमात् ॥६७॥ (पचाध्यायी अध्याय २)

दूसरी बात यह है कि उक्त प्राण रूप शक्ति जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन सब में या इनमें से किसी एक में स्वतन्त्र रूप से नही पायी जाती है तो इन सव के मिश्रण से वह शरीर मे कैसे पैदा हो जायगी ? यह बात समझ के बाहर की है। कारण कि स्वभाव रूप से अविद्यमान शक्ति का किसी भी वस्तु में दूसरी वस्तुओ द्वारा उत्पाद किया जाना असभव है। इसका मतलब यह है कि जो वस्तु स्वभाव से निष्प्राण है उसे लाख प्रयत्न करने पर भी प्राणवान् नही बनाया जा सकता है। अत शरीर के भिन्न-भिन्न अगो को कोई कदाचित् अलग-अलग पृथ्वी आदि तत्त्वो के रूप मे मान भी ले, तो भी उस शरीर में स्वभाव रूप से असभव स्वरूप प्राणशक्ति का प्रादुर्भाव कैसे माना जा सकता है ? इसलिए विश्व के समस्त[1] पदार्थों में चित् (प्राणवान्) और अचित् (निष्प्राण) इन दो परस्पर-विरोधी पदार्थों का मूलत भेद स्वीकार करना आवश्यक है।

तीसरी बात यह है कि कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते हैं जिनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान करने की योग्यता होने पर भी शब्द-श्रवण की योग्यता का सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते हैं जिनमें रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान करने की योग्यता होने पर भी शब्द-श्रवण और रूप-पहण की योग्यता का सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमे रस और स्पर्श का ज्ञान करने की योग्यता होने पर भी शब्द, रूप और गन्ध का ज्ञान करने की योग्यता का सर्वथा अभाव रहता है। इसी प्रकार कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते हैं जिनमें केवल स्पर्श-ग्रहण की ही योग्यता पायी जाती है, शेष योग्यताओ का उनमें सर्वथा ,अभाव रहता है ऐसी हालत में इन शरीरो में यथासभव पचभूतो के मिश्रण का अभाव मानना अनिवार्य होगा। अब यदि पचभूतो के मिश्रण से शरीर में चित्शक्ति का उत्पाद स्वीकार किया जाय तो उक्त शरीरो में चित्शक्ति का उत्पाद असभव हो जायगा, लेकिन उनमें भी चित्शक्ति का सद्भाव तो पाया ही जाता है।

चौथी बात यह है कि सपूर्ण शरीर में एक ही चित्शक्ति का उत्पाद होता है या शरीर के भिन्न-भिन्न अगो में अलग-अलग चित्शक्ति उत्पन्न होती है ? यदि सपूर्ण शरीर में एक ही चित्शक्ति का उत्पाद होता है तो नियत रूप से स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श का ही, रसना इन्द्रिय द्वारा रस का ही, नासिका द्वारा गन्ध का ही, नेत्रो द्वारा रूप का ही और कर्णों द्वारा शब्द का ही ग्रहण नही होना चाहिये। यदि शरीर के भिन्न-भिन्न अगो में पृथक्-पृथक् चित्शक्ति उत्पन्न होती है तो हमें स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण द्वारा एक ही साथ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का ग्रहण होते रहना चाहिये। लेकिन यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जिस काल मे हमें किसी एक इन्द्रिय से ज्ञान हो रहा हो, उस काल में दूसरी सब इन्द्रियो से ज्ञान नही होता है।

यदि कहा जाय कि चित्शक्ति का धारक स्वतत्र आत्मा का अस्तित्व शरीर में मानने से नियत अगो द्वारा ही रूपादिक का ज्ञान क्यो होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि भिन्न-भिन्न अगो के सहयोग से ही आत्मा अपनी स्वाभाविक चित्शक्ति के द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया करती है अत-

---

(१) ततः सिद्धं यथावस्तु यत्किञ्चिच्चिज्जडात्मकम् ॥६६॥ (पचाध्यायी अध्याय २)

सब अगो के विद्यमान रहते हुए भी, जिस ज्ञान के अनुकूल अग का सहयोग जिस काल मे आत्मा को प्राप्त होगा, उस काल मे वही ज्ञान उस आत्मा को होगा, अन्य नही ।

पाँचवी वात यह है कि पचभूतो के सयोग से शरीर में चित्शक्ति का उत्पाद मान लेने पर भी हमारा काम नही चल सकता है। कारण कि ज्ञान की मात्रा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान कर लेने मे ही समाप्त नही हो जाती है। इन ज्ञानो के अतिरिक्त स्मरण, एकत्व और सादृश्य आदि के ग्रहणस्वरूप प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शब्द-श्रवण अथवा अगुल्यादि के सकेतो के अनन्तर होने वाला अर्थज्ञानरूप आगमज्ञान (शब्दज्ञान) ये ज्ञान भी तो हमें सतत होते रहते हैं। इस तरह इन ज्ञानो के लिये किन्ही दूसरे भूतो का सयोग शरीर मे मानना आवश्यक होगा ।

यदि कहा जाय कि ये सब प्रकार के ज्ञान हमे मन द्वारा हुआ करते है तो यहाँ पर प्रश्न होता है कि शरीर तथा मन दोनो में एक ही चित्शक्ति का उत्पाद होता है या दोनो में अलग-अलग चित्-शक्तियाँ एक साथ उत्पन्न हो जाया करती है अथवा मन मे स्वभाव रूप से चित्शक्ति विद्यमान रहती है ?

पहले पक्ष को स्वीकार करने पर मन से ही स्मरणादि ज्ञान हो सकते है, स्पर्शन आदि वाह्य इन्द्रियो से नही, इसका नियमन करने वाला कौन होगा ?

दूसरे पक्ष को स्वीकार करने पर जिस काल मे हमें स्पर्शन आदि वाह्य इन्द्रियो से ज्ञान होता रहता है उसी काल में हमे स्मरणादि ज्ञान होने का भी प्रसग उपस्थित हो जायगा, जो कि अनुभव के विरुद्ध है ।

तीसरा पक्ष स्वीकार करने पर "पचभूतो के सम्मिश्रण से शरीर मे चित्शक्ति का प्रादुर्भाव होता है" इस सिद्धान्त का व्याघात हो जायगा ।

यदि कहा जाय कि स्वाभाविक चित्शक्ति-विशिष्ट मन को स्वीकार करने से यदि काम चल सकता है तो आत्मतत्व को मानने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैन-सस्कृति मे एक तो मन को भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण विशिष्ट पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया गया है, दूसरे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और वहुत मे पचेन्द्रिय जीव ऐसे पाये जाते है जिनके मन नही होता है। इसलिए चित्शक्ति विशिष्ट-आत्मतत्त्व को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है । यह आत्मा ही मन तथा स्पर्शन आदि इन्द्रियो के सहयोग से पदार्थों का यथायोग्य विविध प्रकार से ज्ञान किया करता है ।

तात्पर्य यह है कि जितने सज्ञी[1] पचेन्द्रिय जीव है उनके मन तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पाँचो इन्द्रियाँ विद्यमान रहती है अत वे इन सवकी सहायता से पदार्थो का ज्ञान किया करते है। जो जीव असज्ञी पचेन्द्रिय होते है उनके मन नही होता, उनमे केवल उक्त पाँचो इन्द्रिया ही

(१) "सज्ञिन समनस्का" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र २४)

विद्यमान रहती है अत वे मन के बिना इन पाँचों इन्द्रियों से ही पदार्थों का ज्ञान किया करते हैं। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवो के मन और कर्ण इन्द्रिय के अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ, त्रीन्द्रिय जीवों के मन तथा कर्ण और ने इन्द्रियो के अतिरिक्त तीन इन्द्रियाँ , द्वीन्द्रिय जीवो के मन तथा कर्ण, नेत्र और नासिका इन्द्रियां को छोड कर शेष दो इन्द्रियाँ ही पायी जाती हैं ए॰ एकेन्द्रिय जीवों के मन, तथा कर्ण, नेत्र, नासिका और रसना के अतिरिक्त सिर्फ एक स्पर्शन न्द्रिय ही पायी जाती है इसलिए ये सब जीव उन-उन इन्द्रियों से ही पदार्थों का ज्ञान किया करते हैं।

इस प्रकार प्राणवान् शरीरों में जो "परपदार्थज्ञातृत्व" शक्ति पायी जाती है वह शरीर का धर्म न होकर आत्मा का ही धर्म है—ऐसा मानना ही उचित है। इसी तरह प्राणवान् शरीरो में जो "प्रयत्नकर्तृत्व' शक्ति पायी जाती है उसे भी शरीर का धर्म न मानकर आत्मा का ही धर्म मानना चाहिये क्योकि परपदार्थज्ञातृत्व शक्ति जिन युक्तियों द्वारा शरीर की न होकर आत्मा की ही सिद्ध होती है उन्ही युक्तियो द्वारा प्रयत्नकर्तृत्व शक्ति भी शरीर की न होकर आत्मा की ही सिद्ध होती है।

प्रयत्न के जैन-संस्कृति मे तीन[2] भेद माने गये हैं—मानसिक, वाचनिक और कायिक। इनमें से मानसिक प्रयत्न को वहाँ पर 'मनोयोग', वाचनिक प्रयत्नो को 'वचनयोग' और कायिक प्रयत्न को 'काय-योग' कहकर पुकारा गया है। मन का अवलम्बन लेकर होने वाले आत्मा के प्रयत्न को मनोयोग कहते हैं, इसी प्रकार वचन (मुख) और काय का अवलम्बन लेकर होने वाले आत्मा के उन-उस यत्न को क्रम से वचनयोग और काययोग कहते हैं।

वचनो को बोलने का नाम ही आत्मा का वाचनिक यत्न है और शरीर के द्वारा प्रतिक्षण हमारी जो प्रशस्त और अप्रशस्त प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं उन्ही को आत्मा का कायिक प्रयत्न समझना चाहिये। मानसिक प्रयत्न का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

मन पौद्गलिक पदार्थ है, यह बात तो हम पहले ही बतला चुके हैं। वह मन दो प्रकार का है—एक मस्तिष्क और दूसरा हृदय। जितना भी स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शब्द (श्रुत) रूप ज्ञान हमें होता रहता है वह सब मस्तिष्क की सहायता से ही हुआ करता है अत ये सब ज्ञान आत्मा के मानसिक ज्ञान कहलाते हैं। इसी प्रकार जितने भी क्रोध, अहकार, माया, लोभ, लिप्सा, भय, सक्लेश आदि मोह के विकार तथा यथायोग्य मोह का अभाव होने पर क्षमा, मृदुता, सरलता, निर्लोभता, तुष्टि, निर्भयता, विशुद्धि आदि गुण हमारे अन्दर प्राप्त होते रहते हैं वे सब मन की सहायता से ही हुआ करते हैं अत उन सब को आत्मा के मानसिक प्रयत्नो मे अन्तर्भूत करना चाहिये।

इन तीनो प्रकार के प्रयत्नों मे से सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के तो ये सब प्रयत्न हुआ करते हैं, लेकिन असज्ञी पचेन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय जीवो के सिर्फ वाचनिक और कायिक

(१) "वनस्पत्यन्तानामेकम्", कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि"
(तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र २२, २३)

(२) "कायवाङ्मन. कर्मयोग." (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र १)

प्रयत्न ही हुआ करते हैं क्योंकि मन का अभाव होने से इन जीवो के मानसिक प्रयत्न का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवो के सिर्फ कायिक प्रयत्न ही होता है, कारण कि उनमें मन के साथ साथ बोलने का साधनभूत मुख का भी अभाव पाया जाता है अत उनके मानसिक और वाचनिक प्रयत्न नहीं होते हैं। द्वीन्द्रियादिक जीव चलते-फिरते रहते हैं इसलिए उनके शारीरिक प्रयत्नो का तो पता हमें चलता ही रहा है, परन्तु एकेन्द्रिय वृक्षादिक जीवो की जो शरीर-वृद्धि देखने में आती है वह उनके शारीरिक प्रयत्न का ही परिणाम है।

यह बात हम पहले बतला आये हैं कि जितने भी सज्ञी पचेन्द्रिय प्राणी हैं, उन्हे पदार्थों का ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय स्वसवेदन अर्थात् "अपने अस्तित्व का भान" सतत होता रहता है, परन्तु सज्ञी पचेन्द्रिय प्राणियों के अतिरिक्त जितने भी असज्ञी पचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय प्राणी हैं उन्हे मन का अभाव होने के कारण यद्यपि पदार्थ-ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो की तरह अपने अस्तित्व का भान नही होता है अर्थात् "मैं अमुक पदार्थ का ज्ञान कर रहा हूँ" अथवा "मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ" ऐसा ज्ञान उन्हें नही हो पाता है, फिर भी उस समय उनकी उस ज्ञान-रूप या उस क्रिया-रूप परिणति होते रहने के कारण उस परिणति का अनुभवन तो उन्हे होता ही है अन्यथा चीटी आदि प्राणियो को अग्नि आदि के समीप पहुँचने पर यदि उष्णताजन्य दुख-रूप सामान्य अनुभवन न हो तो फिर वहाँ से वे हटते क्यो हैं ? इसी प्रकार शक्कर आदि अनुकूल पदार्थों के पास पहुँचने पर यदि मिठासजन्य सुख-रूप सामान्य अनुभवन उन्हे न हो, तो वे उन पदार्थों से चिपटने क्यों हैं ? इससे यह बात सिद्ध होती है कि एकेन्द्रिय आदि सभी प्राणियो को यथायोग्य स्वसवेदन होता ही है। एक बात और है कि जैन-दर्शन में प्रत्येक ज्ञान को स्वपरप्रकाशक स्वीकार किया गया है, अत एकेन्द्रिय आदि सब प्राणियो के स्वसवेदकत्व का सद्भाव अनिवार्य रूप से मानना पडता है। इतनी विशेषता है कि एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवो का जो स्वसवेदन होता है उसे जैन-सस्कृति में 'कर्मफलचेतना'[1] नाम से पुकारा गया है, क्योंकि इन जीवो मे मन का अभाव होने के कारण कर्ता, कर्म, क्रिया और फल का विश्लेषण करने की असामर्थ्य पायी जाती है तथा सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के स्वसवेदन को 'कर्मचेतना'[2] नाम से पुकारा गया है, कारण कि मन का सद्भाव होने से इन जीवो मे कर्ता आदि के विश्लेषण करने की सामर्थ्य विद्यमान रहती है। इन्ही सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो में से ही जो जीव हित और अहित की पहचान करके पदार्थज्ञान अथवा प्रवृत्ति करने लग जाते हैं उनके स्वसवेदन को 'ज्ञानचेतना'[3] के नाम से पुकारा जाने लगता है।

---

(१) चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात् कर्मफलचेतना ॥१६५॥ (पचाध्यायी अध्याय २)
(उत्तरार्ध)

(२) अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ॥१६५॥ (पचाध्यायी अध्याय २)
(पूर्वार्ध)

(३) एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वत ॥
शुद्धा शुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञान चेतना ॥१६४॥
सत्य शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना ॥
असत्यवबफला तत्र सैव वन्धफलान्यथा ॥२१७॥ (पचाध्यवी अध्याय २)

प्राणवान् शरीरो मे होने वाला यह स्वसवेदन भी पूर्वोक्त युक्तियो के आधार पर शरीर का धर्म न होकर आत्मा का ही धर्म सिद्ध होता है अत जैन-सस्कृति में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल की तरह आत्मा का भी परपदार्थज्ञातृत्व, प्रयत्नकर्तृत्व और स्वसवेदकत्व के आधार पर स्वत सिद्ध और अनादिनिधन अस्तित्व माना गया है ।

४—करणानुयोग में आत्मतत्व—

हम देखते है कि प्रत्येक प्राणी दु ख से डरता है और सुख की चाह करता है। यही कारण है कि जिन दार्शनिको ने आत्मा के अस्तित्व को नही माना है उन्होने भी "महाजनो येन गत स पन्था." के रूप में जगत् को सुख के साधनो पर चलने का उपदेश दिया है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के अस्तित्व के बारे में विवाद हो सकता है, परन्तु जगत् के प्रत्येक प्राणी को जो सुख और दु ख का अनुभवन होता रहता है इस अनुभवन के आधार पर अपनी सुखी और दु खी हालतो की सत्ता मानने से कौन इन्कार कर सकता है ? इसलिए ऊपर जो द्रव्यानुयोग की अपेक्षा स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्व के अस्तित्व की सिद्धि करने का प्रयत्न किया गया है इतने मात्र से ही हमारे प्रयत्न की इतिश्री नही हो जाती है। इसके साथ ही आखिर हमें यह भी तो सोचना है कि सुखी और दु खी हालतें आत्मा की ही मानी जायें या आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध ही नही है ? और यदि इन हालतो को आत्मा की हालते मान लिया जाय तो क्या ये हालतें आत्मा की स्वत सिद्ध हालतें हैं या किन्ही दूसरे कारणो से ही आत्मा में इनकी उत्पत्ति हो रही है ? और क्या ये नष्ट भी की जा सकती हैं ?

वेदान्त दर्शन में इन सुख और दु ख रूप हालतो को आत्मा की हालतें नही स्वीकार किया गया है वहाँ पर तो आत्मा को सत्, चित् और आनन्दमय ही स्वीकार किया गया है। सुख और दु ख "जिनका अनुभवन हमें सतत होता रहता है" ये सब माया के रूप है और मिथ्या हैं तथा इनसे आत्मा सदा अलिप्त रहती है ।

जैन-सस्कृति में भी आत्मा को वेदान्त दर्शन की तरह यद्यपि सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ही माना गया है परन्तु सतत प्रत्येक प्राणी के अनुभवन में आने वाले सुख और दु ख को जहाँ वेदान्त दर्शन में मिथ्या स्वीकार किया गया है वहाँ जैन-सस्कृति में इन्हें स्वसवेदन-प्रत्यक्ष होने की वजह से उसी आनन्द गुण के विकारी परिणमन माना गया है। जैन-दर्शन में वेदान्त दर्शन की अपेक्षा आत्मतत्त्व की मान्यता के विषय में यही विशेषता है । जैन-सस्कृति में आत्मा के आनन्द गुण के इन विकारी परिणमनो का कारण आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ अनादि[1] सयोग माना गया है और साथ ही वहाँ यह भी स्वीकार किया गया है कि पुद्गल द्रव्य के सयोग को आत्मा से सर्वथा पृथक् किया जा सकता है तथा आनन्द गुण के सुख-दु ख रूप विकारो को भी नष्ट किया जा सकता है ।

---

(१) यथानादि स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गल.
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ।।३५।।
(पंचाध्यायी अध्याय २)

इस प्रकार स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्व को स्वीकार करने के साथ-साथ जैन-सस्कृति मे यह भी स्वीकार किया गया है कि आत्मा अनादिकाल से परतत्र (बद्ध है,) परन्तु स्वतत्र (बन्धरहित) हो सकता है, अशुद्ध है परन्तु शुद्ध हो सकता है, मोह, राग तथा द्वेष आदि विकारो का घर है, परन्तु ये सब विकार दूर किये जा सकते हैं, ससारी है परन्तु मुक्त हो सकता है, अल्पज्ञानी है परन्तु पूर्ण ज्ञानी हो सकता है। इसी तरह कभी तिर्यक्, कभी मनुष्य, कभी देव और कभी नारकी होता रहता है, परन्तु इन सबसे परे सिद्ध भी हो सकता है।

यदि जैन-सस्कृति के द्रव्यानुयोग पर दृष्टि डाली जाय तो मालूम होता है कि आत्मा की बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदि के विषय में कुछ भी जानकारी देने में वह सर्वथा असमर्थ है। कारण कि द्रव्यानुयोग सिर्फ द्रव्य के स्वरूप का ही प्रतिपादन कर सकता है और द्रव्य का स्वरूप वही हो सकता है जो उस द्रव्य में सतत विद्यमान रहता हो अत आत्मा का स्वरूप स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति को ही माना जा सकता है। आनन्द यद्यपि मुक्तात्माओ में तो पाया जाता है, परन्तु ससारी आत्माओ मे उसका अभाव रहता है। इसी तरह बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदि कोई भी अवस्था आत्मा का स्वरूप नही हो सकती है। कारण, यदि ससारी आत्मा में अबद्धता और शुद्धि आदि अवस्थाओ का अभाव है तो मुक्तात्माओ में बद्धता और अशुद्धि आदि अवस्थाओ का अभाव रहता है। इसलिए द्रव्यानुयोग की दृष्टि से जब आत्मतत्व के बारे में कुछ निर्णय करना हो तो वह निर्णय यही होगा कि आत्मा स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति स्वरूप का धारक है। कारण कि यह स्वरूप ससारी और मुक्त दोनो प्रकार की सब आत्माओ मे पाया जाता है। यही कारण है कि द्रव्यानुयोग की दृष्टि में एकेन्द्रिय से लेकर समस्त ससारी आत्माएँ और समस्त मुक्त आत्माएँ समान मानी गयी हैं, क्योकि समस्त ससारी और सिद्ध आत्माएँ सब काल और सब अवस्थाओ में स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति-रूप स्वरूप से रहित नही होती हैं। लेकिन इसका यह भी मतलब नही कि यदि द्रव्यानुयोग आत्मा की बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदि का प्रतिपादन नही करता है तो ये सब आत्मा की अवस्थाएँ नही मानी जा सकती हैं। कारण कि यदि इन्हें आत्मा की अवस्थाएँ नही माना जायगा तो ससारी और मुक्त का भेद समाप्त हो जायगा और इस तरह मुक्ति के लिये प्रयास करना भी निरर्थक हो जायगा। इसी तरह ससारी जीवो में भी "अमुक जीव एकेन्द्रिय है और अमुक जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय अथवा सज्ञी पचेन्द्रिय है, अमुक जीव मनुष्य है अथवा तिर्यक्, नारकी या देव है" इत्यादि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमगम्य विविधताओ का लोप कर देना होगा। हमारे अन्दर कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया, कभी लोभ, कभी मोह, कभी काम, कभी सुख और कभी दुख आदि अवस्थाओ का जो सतत अनुभवन होता रहता है इसे गलत मानना होगा तथा अच्छे-बुरे कामो का जीवन में भेद करना असभव हो जायगा या तो अहिंसा आदि पुण्य कर्मों की कीमत घट जायगी अथवा हिंसा आदि पाप कर्मों की कीमत बढ जायगी। इस प्रकार समस्त ससार का प्रतीतिसिद्ध और प्रमाणसिद्ध जितना भेद है सब निरर्थक हो जायगा। इसलिए जैन-सस्कृति में द्रव्यानुयोग के साथ करणानुयोग को भी स्थान दिया गया है और जिस प्रकार द्रव्यानुयोग वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादक होने के कारण आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक है उसी प्रकार करणानुयोग

को आत्मा की उक्त प्रकार की विविध अवस्थाओ का प्रतिपादक माना गया है। अर्थात् आत्मा की बद्धता आदि का ज्ञान हमें द्रव्यानुयोग से भले ही न हो परन्तु करणानुयोग से तो हमें उनका ज्ञान होता ही है अत जिस प्रकार द्रव्यानुयोग की दृष्टि से आत्मा स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति-विशिष्ट है उसी प्रकार वह करणानुयोग की दृष्टि से बद्ध और अबद्ध आदि अवस्थाओ को भी धारण किये हुए है। लेकिन ये बद्ध आदि दशाएँ आत्मा की स्वत सिद्ध अवस्थाएँ नही है, बल्कि उपादान-निमित्त और सहकारी कारणो के सहयोग से ही इनकी निष्पत्ति आत्मा में हुआ करती है। आत्मा अनादि काल से परा-वलम्बी बनी हुई है इसलिए अनादि काल से ही बद्ध आदि अवस्थाओ को प्राप्त किये हुए है और जब तक परावरम्बी बनी रहेगी तब तक इन्ही अवस्थाओ को धारण करती रहेगी, क्योकि बद्ध आदि अवस्थाओ का परावलम्बन कारण है। लेकिन जिस दिन आत्मा इस परावलम्बन वृत्ति को छोडने मे समर्थ हो जायगी उस दिन वह बन्ध-रहित अवस्थाओ को प्राप्त कर लेगी। अत हमें आत्मा की स्वावलम्बन-शक्ति के जागरण के लिए अनुकूल कर्तव्य-पथ को अपनाने की आवश्यकता है जिसका उपदेश हमें जैन-सस्कृति के चरणानुयोग से मिलता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक सस्कृति के हमें दो रूप देखने को मिलते है—एक दर्शन और दूसरा आचार। जैन-सस्कृति के भी यही दो रूप बतलाये गये है। इनमें से पहले रूप यानी दर्शन को पूर्वोक्त प्रकार से द्रव्यानुयोग और करणानुयोग इन दो भागो में विभक्त कर दिया गया है और दूसरे रूप याने आचार का प्रतिपादन चरणानुयोग में किया गया है।

इस प्रकार चित्शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्व का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हुए उसकी अनादिकालीन पौद्गलिक परतत्रता से होने वाली विविध प्रकार की विकारी अवस्थाओ से छुटकारा पाने के लिये प्रत्येक व्यक्ति आत्मा की स्वावलम्बन वृत्ति के जागरण के साधनभूत अहिंसा आदि पाच व्रत रूप अथवा क्षमा आदि दश धर्म रूप कर्तव्यपथ पर आरुढ हो। आत्मा के विषय में यही जैन-सस्कृति का रहस्य है।
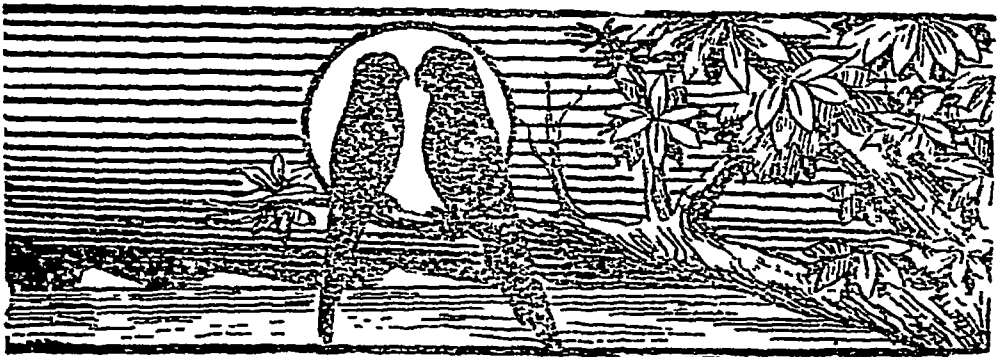
जैन दर्शन का प्रतिपाद्य विषय—जीव

पं० श्री मूलचन्द, न्याय-साहित्य-शास्त्री

प्रस्ताविक—

विश्व मे दो प्रकार के पदार्थ है—जड और चेतन अथवा जीव और अजीव। इन्ही दो पदार्थों की लीला से यह ससार चलता है। जो जन्म लेते हैं, मरते हैं, बढ़ते है, सुख-दुख का अनुभव करते हैं, विविध इच्छाएँ जिनमे प्रसूत होती है, इनकी पूर्ति मे जो सतत सचेष्ट रहते है, वे सव जीव हैं। वृक्ष भी वढते है, मरते हैं, जन्म लेते हैं, सुख-दुख आदि का अव्यक्त रूप से अनुभव करते है अत इनमें भी जीव है। यह वात विज्ञान-विशारद डा० जगदीशचन्द्र वसु ने अपने अनुसधानो द्वारा जगत के समक्ष सप्रमाण सिद्ध कर दी है। जीव से भिन्न अजीव है। घट-पट आदि पदार्थों की तरह जीव का प्रत्यक्ष नही होता है, क्योकि यह स्वरूपत अमूर्तिक है। दृष्टिगोचर होने वाले पौद्गलिक सभी पदार्थ मूर्तिक माने गये हैं। रूप, रस, गध, स्पर्श ये गुण जिनमें पाये जाते हैं, वे मूर्तिक हैं। जीवात्मा मे ये गुण नही हैं। अत यह मौलिक स्वरूप की अपेक्षा अमूर्तिक माना गया है और इसीलिए वह किसी भी इन्द्रिय का विषय नही होता है।

आत्मा का परिमाण—

अन्य कितने ही सिद्धान्तो मे सिद्धान्तकारो ने इसे व्यापक माना है। किन्तु जैन-दर्शन एकात रूप से ऐसा नही मानता है। उसकी ऐसी मान्यता है कि आत्मा का स्वभाव सकोच-विस्तार वाला है। इस कारण कर्मबधन अवस्था में उसे छोटा-बडा जितना भी शरीर प्राप्त होता है उसके वरावर हो जाता है[1]। मोक्ष अवस्था में जिस शरीर से मुक्त होता है उससे कुछ न्यून रहता है। जैन-न्याय-ग्रन्थो में आत्मा की व्यापकता और अणुपरिमाणता दोनो का निषेध करके उसे मध्यम परिमाण वाला वतलाया गया है, वह इसी अपेक्षा से वतलाया गया है। शरीर भी सव जीवो का एक-सा नही होता है। किसी का सबसे बडा और किसी का सबसे छोटा होता है तथा किसी का मध्यम परिमाण वाला होता है। जैन शास्त्रो मे हमे इसका जितना विशद और स्पष्ट वर्णन मिलता है उतना अन्यत्र नही।

---

१ अणुगुरु देहपमाणो उवसहारप्प सप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्चणयदो असखदेसोवा॥ (द्रव्यसंग्रह।)

जितना आकाश क्षेत्र शरीर द्वारा घेरा जाता है उसका नाम अवगाहना है। यह अवगाहना सबसे छोटी लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीव की होती है तथा सबसे बडी स्वयभूरमण समुद्र के अन्दर रहने वाले महामत्स्य की। इसीसे अवगाहना के छोटे-बडे पने का अनुमान किया जाता है। प्रत्यक्ष से भी हमें ऐसा ही प्रतीत होता है कि लोक में ऐसी अवगाहना वाले भी जीव है, जो बडी कठिनाई से देखे जाते है या जिन्हे देखने के लिए खुर्दबीन की आवश्यकता होती है। वर्तमान वैज्ञानिको का ऐसा मत है कि यह समस्त लोकाकाश रूप पोल जीवो से भरी हुई है। उनकी खोज में थेकसस नामक जन्तु इतना अधिक सूक्ष्म बतलाया गया है कि ऐसे जन्तु सुई के अणुभाग में एक लाख से भी अधिक समा जाते है। जैनशास्त्रो में ऐसा वर्णन सूक्ष्म जीवो का देखने में आता है। परस्पर में जीवो की अवगाहना में इतना अन्तर पडने का कारण उनके प्रत्येक के साथ लगे हुए कर्म है। इसलिए उनके अनुसार जिस जीव को जैसा शरीर मिलता है तब उसकी वैसी अवगाहना हो जाती है। कारण कि जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह निमित्त के अनुसार प्रदीप[1] के प्रकाश की तरह सकोच और विस्तार को प्राप्त होता रहता है। यद्यपि मूलत जीव लोकाश के बराबर असख्यात प्रदेशी है यह अवस्था उसे केवल समुद्घात की दशा मे अपने आत्म प्रदेशो द्वारा समग्र लोकाकाश को व्याप्त कर लेने पर प्राप्त होती है।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि जैन-शास्त्रो में मूलत जीव को असख्यात-प्रदेशी—लोकाकाश के बराबर व्यापक स्वरूप वाला मानते हुए भी कर्मबन्धन रूप परतत्र दशा मे उसे मध्यम परिणाम वाला भी—अव्यापक भी माना है।

आत्म-अस्तित्व की सिद्धि—

जिस प्रकार इन्द्रियो से घट-पट आदि भौतिक पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उस प्रकार से आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता फिर उसका अस्तित्व अपने और पराये के लिए कैसे हो सकता है? इसके लिए समाधान इस प्रकार है कि अजीव पुद्गल का अश-परमाणु जैसे अपने कार्यों द्वारा प्रतीति मे आता है, उसी प्रकार यह आत्मतत्त्व भी कारण व्यापार द्वारा प्रतीति में आता है। कारण का व्यापार देखने से कर्त्ता का अनुमान होता है। जिस प्रकार रथ को सचालित करने वाला सारथी होता है उसी प्रकार शरीरादि को सचालित करने वाली आत्मा है। शरीर में जितनी क्रियाएँ होती है चाहे वे बुद्धिपूर्वक हो चाहे अबुद्धिपूर्वक है। इनका अधिष्ठाता आत्मा है। जिस प्रकार मिट्टी के अभाव मे घट रूप कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती, उसी प्रकार आत्मा रूप अधिष्ठाता के बिना कोई भी शारीरिक, वाचनिक और कायिक व्यापार नहीं होता हे। इस तरह दूसरे के चैतन्य को हम अनुमान द्वारा जान सकते है तथा अपने ही द्वारा हम अपनी आत्मा का प्रत्यक्षीकरण अनुभव-प्रमाण द्वारा कर सकते है। मै सुखी हूँ, मै दुखी हूँ, मै जानता हूँ, मै देखता हूँ इत्यादि प्रकार का जो अन्तरग मे अपने आपकी ओर झुकता हुआ बोध होता है वह आत्मा को ही विषय करता है, क्योकि ऐसा बोध आत्मा के ही सहारे से होता है। बिना आत्मा के ऐसा बोध नही हो सकता है। अन्यथा अचेतन शरीरादिक मे भी ऐसा बोध

१. प्रदेश सहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्। मोक्षशास्त्रे अ० ५० सू० १६

होना चाहिये । मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, इस प्रकार का व्यवहार शरीर को आश्रित करके होता है, वह आत्मा का उपकारी होने से ही शरीर में उपचार से होता है ।

यहाँ यह आशका नही करनी चाहिये कि जब यह अह प्रत्यय अन्याश्रित ही होता है तो "आत्मा के नित्य विद्यमान रहने से सदा ही अह प्रत्यय होते रहना चाहिे । परन्तु यह सदा तो होता नही है, कादाचित्क होता है । अत जो कादाचित्क होगा वही इसका कारण होगा, नित्य आत्मा नही" । क्योकि आत्मा का लक्षण उपयोग माना गया है । यह उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का होता है । साकार ग्रहण का नाम ज्ञान और निराकार ग्रहण का नाम दर्शन है । अह प्रत्यय भी एक प्रकार का उपयोग है । कर्मों के क्षयोपशमादि की विचित्रता से इन्द्रिय, मन एव आलोक आदि की सहायता मिलने पर यह उपयोग रूप अह प्रत्यय उत्पन्न होता है । जैसे बीज अकुरोत्पादन रूप नित्य शक्ति से समन्वित रहता है, परन्तु जब तक उसे बाहरी साधन सामग्री नही मिलती है तब तक वह अकुर को उत्पन्न नही करता है, मिलने पर ही करता है । बस, इसी तरह आत्मा के सदा विद्यमान रहने पर भी यह अह प्रत्यय सहायको की सहायता नित्य न मिलने से आत्मा में सदा न होकर कभी-कभी होता है । अत इसका और कोई भौतिक कारण नही है, केवल आत्मा ही एक कारण है ।

न्याय-सूत्र के तृतीय अध्याय में गौतम ने आत्मा का सविस्तर वर्णन किया है । वहाँ पर उन्होने आत्मसिद्धि के विषय मे "दर्शनस्मरणाभ्यामेकार्थनिर्णयात्" ऐसा प्रमाण दिया है कि नेत्र के द्वारा हम जिस पदार्थ को देखते हैं, उसी पदार्थ को स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा छूते हैं । इस तरह इन दोनो इन्द्रियो से जो ज्ञान उत्पन्न होते है उनका आश्रय एक है या दो ? यदि द्रष्टा और स्पृष्टा ये दो व्यक्ति जुदे-जुदे माने जायें तो "जिसे मैंने देखा था उसी को मैं छू रहा हूँ" इस प्रकार का जो एकत्वावमर्शक ज्ञान–प्रत्यभिज्ञान होता है वह नही हो सकता । क्योकि ऐसा ज्ञान छूने वाले और देखने वाले व्यक्ति की एकता में ही होता है, अनेकता में नही । अनेकता में द्रष्टा को स्पृष्ट ज्ञान एव स्पृष्टा को दृष्टज्ञान नही है । अन्य दृष्ट पदार्थ को दूसरा स्मरण कैसे कर सकता है ?

ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया––

पदार्थ को जानने और देखने की शक्ति आत्मा में ही है, भौतिक शरीरादि मे नही । विज्ञान का कहना है कि मनुष्य जब किसी पदार्थ का निरीक्षण करता है तो उसका चित्र उसकी आँख की पुतली के अन्दर बन जाता है और फिर वह धीरे-धीरे मस्तिष्क तक पहुँच जाता है । मस्तिष्क तक उसे पहुँचाने में भीतर के सूक्ष्म तन्तु सहायता देते हैं । परन्तु यदि वह व्यक्ति अन्यमनस्क है या किसी विचारधारा में ओत-प्रोत है तो वह उस समय आँखो के समक्ष उपस्थित होते हुए भी इस पदार्थ के ज्ञान से वचित ही रहता है यद्यपि इस स्थिति में भी उस पदार्थ का चित्र आँखो की पुतली में बनता है । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देखने वाला पदार्थ इन्द्रियो से भिन्न ही है । जो इनसे भिन्न है वही आत्मा है । जैन-दर्शन में यह बात युक्तिपुरस्सर सिद्ध की गई है कि आत्मा, शरीर द्रव्येन्द्रिय एव द्रव्यमन से भिन्न है । आँखें देखती हैं । शरीर छूने पर किसी पदार्थ को जानता है । यह व्यवहार ही

आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। जिस प्रकार एक मकान के अन्दर रहा हुआ व्यक्ति खिडकियों द्वारा बाहर के पदार्थों को देखता और जानता है, उसी प्रकार इस शरीर रूपी मकान के अन्दर स्थित आत्मा इन्द्रियरूपी खिडकियो द्वारा बाहर के पदार्थो को जानता और देखता है। अत जिस प्रकार खिड-कियो से देखने और जानने वाला व्यक्ति मकान और खिडकी से भिन्न भूत है उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियो से भिन्न भूत देखने और जानने वाला आत्मा पृथक् भूत ही है तथा उनसे सर्वथा स्वतन्त्र सत्ताशील है। इसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय के साथ यदि आत्मा उपयुक्त नही है तो उस-उस इन्द्रिय के समक्ष उपस्थित पदार्थ भी नही देखा व जाना जा सकता है। इससे यह ज्ञात होता है कि इन सबसे भिन्न कोई ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है कि जिसका इन्द्रियो के साथ उपयोग मिलने पर मनुष्य निकटवर्ती इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थ को देखता व जानता है।

इस शरीर में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनसे क्रमश रूप, रस, गन्ध, वर्ण (रूप) और शब्द का बोध होता है। साख्यो ने इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ, नैयायिक आदिको ने बाह्येन्द्रियाँ एव जैन-दर्शनकारो ने द्रव्येन्द्रियाँ कहा है। नेत्र से केवल रूप का ही ग्रहण होता है, रसा-दिक का नही। इसी तरह स्पर्शन इन्द्रिय से केवल ठढा, कडा, नरम, गरम, आदि ८ प्रकार का स्पर्श जाना जाता है, रूप रसादिक नही। इन्द्रियो का यह स्वभाव है कि वे जिस विषय के साथ सम्बद्ध होती हैं, उसका प्रकाशन करती हैं। जैन-दर्शन की मान्यतानुसार चक्षु, इन्द्रिय पदार्थ से सम्बद्ध नही होती है, फिर भी उसका प्रकाशन करती है। बाकी चार इन्द्रियाँ अपने विषयभूत पदार्थों का अपने साथ सबध होने पर या सयोग होने पर ही उनका प्रकाशन करती हैं। सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वाले नैयायिक, वैशेषिको ने चक्षु-इन्द्रिय को भी प्राप्यकारी माना है। उनका इसके विषय में कहना है कि "चक्षुइन्द्रिय से जब हम पदार्थरूप का ग्रहण करते हैं तो वह चक्षुइन्द्रिय वहाँ तक जाती है और उसके रूप का सस्कार लेकर लौटती है। चाक्षुष प्रत्यक्ष के सिवाय अन्य प्रत्यक्षो में यह बात नही है। कर्ण इन्द्रिय से जब हमें शब्द का बोध होता है तो वह शब्द स्वय ही वायु में लहराता हुआ हमारे कान के पास तक आ पहुँचता है। श्रोत्रेन्द्रिय उसे ग्रहण करने अपने अधिष्ठान से बाहर नही जाती। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय आदि के साथ भी यही बात लागू होती है। कारण कि इन इन्द्रियो के विषय भी अपने को विषयभूत करने वाली इन्द्रियो के साथ सम्पर्क होने पर ही जाने जाते हैं, असम्पर्क अवस्था में नही। इस तरह न्याय वैशेषिक की मान्यतानुसार समस्त इन्‍ि याँ प्राप्यकारी हैं।

जयन्तभट्ट आदि आचायो के मतानुसार विषय को पाकर सस्कार ग्रहण करना ही प्राप्यकारित्व है और इस तरह की प्राप्यकारिता सब इन्द्रियो में है। भले ही चक्षु अपने विषय के पास जाय और शेष इन्द्रियाँ न जायँ। साख्य, जैमिनीय इत्यादि सभी वैदिक दार्शनिको ने अपनी-अपनी प्रक्रिया के अनुसार पाँचो इन्द्रियो को प्राप्यकारी माना है। चक्षु और मन को जैन-सम्प्रदाय, चक्षु एव श्रोत्र और मन को बौद्ध-सम्प्रदाय अप्राप्यकारी मानता है। जिन आँख, कान आदि को हम प्रत्यक्ष देखते हैं वे वास्तविक इन्द्रियाँ नही हैं ये तो इन्द्रियो के अधिष्ठाता मात्र हैं। इन इन्द्रियो के आकार रूप में परिणमित हुए आत्मा के प्रदेश ही वास्तविक इन्द्रियाँ हैं। जैन-सिद्धान्त ने निर्वृत्ति, उपकारण, लब्धि और उपयोग के भेद से प्रत्येक इन्द्रिय को चार विभागो में विभक्त किया है, जैसा कि न्याय दर्शन कहता है कि देखने

की जो इन्द्रिय है वह कृष्णताराग्रवर्ती है–आँख की पुतलियो में रहती है–हम पुतली को तो देख सकते हैं, किन्तु यथार्थ इन्द्रियो को नही देख सकते हैं। इसी तरह श्रोत्र इन्द्रिय का अधिष्ठान श्रोत्रकुहर, घ्राणेन्द्रिय का नासिका, रसना का जिह्वा, स्पर्शन का शरीर का चमडा है। हम इन्हें देख सकते है किन्तु सुनने की इन्द्रिय को, सूघने की इन्द्रिय को, चखने की इन्द्रिय को एव छूने वाली इन्द्रिय को नही देख सकते हैं। केवल अनुमान द्वारा ही उनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार न्याय अथवा सब दर्शनो की मान्यता में जिन कर्ण शष्कुली, अक्षिगोलक कृष्णतारा आदि बाह्य आकारो को इन्द्रियो का अधिष्ठान माना गया है उसीको जैन-परिभाषा में बाह्यनिर्वृत्ति कहा गया है तथा इन अधिष्ठानो में स्थित जिन्हें वास्तविक अतीन्द्रिय इन्द्रिय माना है, उन्हें आभ्यतर निर्वृत्ति कहा है। निर्वृत्ति का अर्थ रचना है। यह बाह्य और आभ्यतर के भेद से दो प्रकार की है। इन्द्रियाकार–रचना का नाम बाह्य-निर्वृत्ति है और यह पौगद्‌गलिक—भौतिक विकार मानी गई है। साख्यमत के अनुसार इन इन्द्रियो का उपादान कारण अहकार माना गया है। वेदान्तियो का भी यही मत है। न्यायवैशेषिक के मतानुसार इन्द्रियो के कारण पचभूत हैं। बौद्धो के यहाँ इनका कारण रूप स्कध है। इस तरह हमें यह समझने में देर नही लगती है कि आत्मा इन्द्रिय स्वरूप नही है, किन्तु वह तो इनसे भिन्न एक स्वतत्र सत्ताशाली पदार्थ है। अहकार, पचभूत एव रूपस्कध ये सब इन्द्रियो के उपादान जड है। इन्द्रियो में जानने की शक्ति एव जानने रूप व्यापार का नाम लब्धि और उपयोग है, यह भावेन्द्रिय है।

मन का स्वरूप और कार्य—

मन भी दार्शनिको लिए विचार का विषय रहा है। बौद्ध-दर्शन में आत्मतत्त्व से अलग इसे नहीं माना है, किन्तु उसके स्थान में उसने मन माना है। जैन मान्यतानुसार मन के द्रव्य मन और भाव मन के भेद से दो भेद हैं। द्रव्य मन हृदयप्रदेशवर्ती और अष्ट पाँखुडी वाले कमल के आकार के जैसा है। भाव मन ज्ञानरूप होने से मतिज्ञान आदि की तरह आत्मगत माना गया है। द्रव्य मन के विषय में श्वेताम्बर-परम्परा दिगम्बर-परम्परा से मतभेद रखती हैं। वीर्यान्तिराय एव नो इन्द्रियावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा से आत्मा की विशुद्धि रूप भाव मन है। इसमें दोनो परम्पराएँ सहमत हैं। गुण-दोष आदि का विचार एव स्मरणादि करने के सम्मुख हुए आत्मा के जो मनोवर्गणा नामक जडद्रव्य सहायक होते हैं वे ही द्रव्य मन है। जैसे देखती तो आँख है पर देखने में उसे सहायक चश्मा होता है इसी तरह विचारक तो आत्मा है पर विचार करने में द्रव्य मन आत्मा को सहायता पहुँचाता है। यह द्रव्य मन मनोवर्गणाओ से उत्पन्न होने के कारण पौद्‌गलिक माना गया है। तथा आत्मा इस द्रव्यमन से सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार हमें ये मन के दो भेद जैन-दर्शन में देखने को मिलते हैं उस प्रकार अन्य दर्शनो में नही। द्रव्य मन का स्थान हृदय जिस प्रकार दिगम्बर जैन-परम्परा मानती है, उसी प्रकार अन्य कितने ही वैदिक मतानुयायी भी मानते हैं।

मन आत्मा के द्वारा प्रेर्य है। यह बात न्यायवैशेषिक आदि दर्शनो को भी सम्मत है। मन के स्वरूप का जहाँ विचार किया गया है वहाँ स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यदि मन के माध्यम विना ही स्वतत्र रूप से इन्द्रियाँ ज्ञानोत्पादन करने में स्वतत्र होती तो एक साथ ही अनेक ज्ञान उत्पन्न

हो जाते । किन्तु ऐसा होता नही है । एक समय में एक ही ज्ञान होता है । ज्ञान के इस अयौगपद्य से सूचित होता है कि प्रत्येक शरीर में एक मन रहता है । इस कथन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा के द्वारा प्रेर्य उस मन का जिस इन्द्रिय के साथ सम्वन्ध होगा वही इन्द्रियजन्य ज्ञान उस समय होगा ।

आत्मा का स्वभाव ज्ञानात्मक—

दीपक का स्वभाव जिस प्रकार प्रकाशात्मक होता है उसी प्रकार जैन-दर्शन में आत्मा का स्वभाव ज्ञानात्मक माना है; यद्यपि आत्मा को ज्ञानात्मक मानने में भी अन्य दर्शनो के लिए परस्पर में मतभेद है; फिर भी ज्ञानरहित इसे किसी ने भी नही माना है । न्याय वैशेषिको की ऐसी मान्यता है कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप नही है, किन्तु वह ज्ञान का अधिकरण है । एक सम्वन्व ऐसा है जो आत्मा और ज्ञान को नित्य जोड़े रहता है । इस सम्वन्ध का नाम समवाय है । ससारी आत्माओ का ज्ञान अनित्य और परमात्मा—ईश्वर का ज्ञान नित्य है । मुक्ति होने पर ज्ञान का सर्वथा अभाव हो जाता है । साख्य सिद्धान्त में प्रकृति तत्त्वजन्य वुद्धितत्त्व माना गया है अत यह स्वभावत अचेतन है । चेतन पुरुष के ससर्ग से ही इसे चेतन मान लिया गया है अत. यह आत्मा का स्वभाव नही है । योग-दर्शन की भी यही मान्यता है । मीमासको का कहना है कि आत्मा ज्ञान-सुखादिक रूप नही है । ज्ञान-सुखादिक उसमें समवाय सम्वन्ध से ही रहते हैं । एक जैन-दर्शन ही ऐसा दर्शन है जो आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानता है । यदि आत्मा का ज्ञान स्वभाव न माना जाय तो उसमें स्वभावत जडत्व आने का प्रसंग आयगा । जिनकी ऐसी मान्यता है कि आत्मा में ज्ञान समवाय सम्वन्व से रहता है उनके लिए जैन-दार्शनिको ने ऐसा कहा है कि जव समवाय सम्वन्ध स्वय एक है तो उसमें यह विशेषता कैसे आ सकती है कि वह ज्ञान का सम्वन्ध आत्मा से ही करावे अन्य आकाशादिक पदार्थों के साथ न करावे तथा ऐसा कहना कि आत्मा और ज्ञान को एक माना जाय तो दु खजन्य प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञान के नाश होने पर आत्मा के विशेष गुण वुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार के उच्छेद होने से आत्मा का भी अभाव हो जाना चाहिये ; क्योकि जैनमत में आत्मा इन गुणो से भिन्न है । कारण कि जैन-दर्शन ने इन गुणो को आत्मा का स्वभावगुण नही माना है । अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ही आत्मा के अपने स्वरूप हैं । सुख-दु खादि आत्मा के विशेष गुण अवश्य है, किन्तु ये आत्मस्वरूप नही हो सकते । गुण दो प्रकार के होते हैं—१ स्वभावगुण[1] और २. विभावगुण । जल में शीतलता जल का स्वभाव गुण है । अग्नि की उष्णता अग्नि का स्वभाव गुण है । परन्तु जव अग्नि के सम्वन्ध से जल में उष्णता आ जाती है तो वह उष्णता उसका विभावगुण वन जाती है; क्योकि यह उसमें पर के निमित्त से आती है । जव निमित्त हट जाता है तो यह उष्णता भी उससे दूर हो जाती है । इसी तरह मोहनीय कर्म का सद्भाव-उदय जव तक जीवात्मा के वना रहता है, तभी तक वह आत्मा दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म के चक्कर में गोते खाता रहता है । ज्यो ही यह आत्मा से हट जाता है कि ये गुण भी जल की उष्णता की भाँति आत्मा से पृथक् हो जाते हैं । उष्णता के अभाव में जिस प्रकार जल का अभाव नही होता है उसी प्रकार इन

१. वैशेषिको ने आत्मा के ९ गुण तथा नैयायिकों ने ६ गुण माने हैं ।

विभाव गुणो के अभाव में आत्मा का भी उच्छेद नही हो सकता है। बुद्धि और सुख के विषय मे जैन-दार्शनिको का कथन है कि बुद्धि शब्द ज्ञान का वाचक है। यह ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार है। आदि के चार क्षान ज्ञायोपशमिक हैं—ज्ञानावरणीय कर्म के एक देश क्षय और उपशम से उत्पन्न होते हैं। क्षायोपशमिक अवस्था में कर्म का सद्भाव रहता ही है। मनत उसका नाश नही होता है। केवल ज्ञान क्षायिक ज्ञान है। इसमें अपने प्रतिपक्षी का सर्वथा अभाव हो जाता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म का पूर्ण नाश हो जाता है तो ज्ञानावरणीय कर्म के एक देश के सद्भाव मे होनेवाले ज्ञानो का अभाव हो जाता है अत केवल ज्ञान अवस्था मे जैन-परम्परा इन बुद्धिरूप क्षायोपशमिक ज्ञानो का अभाव मानती है और केवल ज्ञान का जो कि क्षायिक ज्ञान है, सद्भाव मानती है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान स्वभाव मानने पर भी उनका सर्वथा विच्छेद जैन-दर्शन अंगीकार नही करता है। तथा किसी अपेक्षा यह भी उसे मान्य है। केवल ज्ञान रूप विशेषण-विशिष्ट आत्मा जब बन जाती है तो इसके पहले वही आत्मा जो मतिज्ञान आदि विशेषणो से विशिष्ट थी वह नही रहती अत. इस विशेष पर्याय की अपेक्षा उसका उच्छेद मानने में कोई दूषण भी नही है।

सुख-स्वभाव—

इसी तरह सुख का भी सर्वथा अभाव जैन-दार्शनिको ने नही माना है। इस विषय मे उनकी ऐसी मान्यता है कि सुख से जब विषयादिक सुख ग्रहण किया जाता है तब तो वह आत्मा का निजगुण नही माना जा सकता है। कारण कि सुख भी वेदनीय कर्म के निमित्त से होने के कारण विभावगुण ही माना जायगा। वेदनीय कर्म का अभाव होते ही ऐसे सुख के अभाव में आत्मा का अभाव नही हो सकता है। हाँ, एक सुख ऐसा होता है जो अक्षय, अभेद एव निरतिशय है। वही आत्मा का निजगुण माना गया है। जैन-परम्परा इस सुख का कभी विनाश नही मानती है। इसी तरह आत्मा का भी गुण कभी विनाशी नही माना गया है। कारण कि वहाँ इसे मतिज्ञान का ही भेद माना गया है। मतिज्ञान आत्मा का निज स्वाभाविक गुण नही है। प्रयत्न को अवश्य वीर्यान्तराय के अभाव से उद्भूतवीर्य लब्धिरूप माना है और यह आत्मा का निजगुण है।

इस विवेचन से केवल इतना ही प्रदर्शित करने का अभिप्राय है कि आत्मा का निजगुण ज्ञान है। इस मान्यता मे किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नही होती है तथा ज्ञान एव सुख के उच्छेद से मुक्ति का लाभ आत्मा को होता है, ऐसी मान्यता जैन-मान्यता से विपरीत है।

यद्यपि न्याय, वैशेषिक, मीमासक सिद्धान्त इन बुद्धि, सुख-दुःख आदि गुणो को आत्मा में मानते हैं। तथा साख्य, योग वेदान्त आदि दर्शन इन्हें अत करण के धर्म मानते हैं। परन्तु जैनमत इन्हे आत्मगत धर्म मानकर भी उन्हें उसका निज स्वाभाविक गुण नही मानता है, यह बात भी इस विवेचन से सुस्पष्ट हो जाती है तथा इन नवगुणो का अत्यन्त उच्छेद ही आत्मा की मुक्ति है ऐसा जो सिद्धान्त न्याय, वैशेषिको का है वह सिद्धान्त जैन-सिद्धान्त-मान्य मुक्ति के साथ कहाँ तक समन्वयात्मक बैठता है यह विषय भी फलित हो जाता है।

अनेक आत्माएँ—

वेदान्त सिद्धान्त जिस प्रकार जीवात्मा के सिद्धान्त को मानता है उस प्रकार जैन-सिद्धान्त इस सिद्धान्त को नही मानता है । वह तो साख्य एव नैयायिको की तरह अनेकान्तवादी सिद्धान्त है । इसके मतानुसार ससार में जितने शरीर है चाहे वे स्थावर जीवो के हो या त्रस जीवो के हो प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न है । यहाँ उपाधिभेद से भिन्नता नही है जैसी वैदान्तिको ने मानी है । न्याय सिद्धान्त का जिस प्रकार यह कथन है कि "जीवस्तु प्रतिशरीर भिन्न" उसी प्रकार यहाँ भी "जीवो णेगविहो" यह बतलाया गया है । जीवो के[1] ससारी और मुक्त के भेद से दो भेद है । जन्म-मरण आदि के चक्कर में जो पडे हुए हैं वे सब ससारी जीव हैं । इस चक्कर से जो छूट चुके है, आवा-गमन जिनका सदा के लिए बन्द हो गया है वे मुक्त जीव हैं । त्रस और स्थावर के भेद से, जिनके विषय में पीछे कहा जा चुका है, ससारी जीव अनेक हैं । इन्ही जीवो की अपेक्षा अर्थात् इनके उत्पत्ति स्थानो की अपेक्षा ही चौरासी लाख योनियाँ ससार के अतर्गत मानी गयी हैं । प्रत्येक आस्तिक सिद्धान्तकारो ने इन्हें अपनाया है ।

कर्त्ता-भोक्ता—

जैन सिद्धान्त में जीव को कर्ता-भोक्ता माना गया है । साख्य सिद्धान्त जीवात्मा को कर्त्ता नही मानता है, किन्तु भोक्ता मानता है । हम इसके विपरीत नैयायिको में यह देखते है कि वहाँ जीव को कर्त्ता और भोक्ता दोनो माना है । परन्तु इस कर्तृत्व और भोक्तृत्व में वहाँ हमें यह मान्यता देखने में आती है कि जीव जब तक शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है तभी तक उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व गुण रहते हैं । परन्तु जब वह शारीरिक बधन से मुक्त हो जाता है तब उसमे ये नही रहते । जैन-परम्परा इस कर्तृत्व और भोक्तृत्व को और ससारी मुक्त इन दोनो ही अवस्थाओ में मानती है । कर्तृत्व और भोक्तत्व को उसने दो नयो को लेकर जीव के साथ घटित किया है । वे दो नय व्यवहार और निश्चय हैं । व्यवहार की अपेक्षा यह जीव पौद्गलिक ज्ञानावरणादिक कर्मों का कर्त्ता होता है तथा शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से अपने शुद्ध ज्ञानादिक भावो का कर्त्ता होता है । इसी तरह व्यवहार नय से सासारिक अवस्था मे यह जीव पौद्गलिक कर्मों के फलभूत सुख-दुःख आदि का कर्त्ता और निश्चय नय की अपेक्षा अपने अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन का भोक्ता है ।

—— o ——

१ पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहार दो दु णिच्चय दो
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाण ॥ द्रव्यसग्रह ॥

जैन दर्शन में परोक्षज्ञान

प्रो० श्री राजेंद्र प्रसाद, एम० ए०, पटना

प्रमाण के भेद—

जैन दार्शनिको के अनुसार प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रमाण से प्रमा यानी सत्य-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। प्रत्यक्षज्ञान की विशेषता यह है कि वह विशद होता है, इसके द्वारा ज्ञात वस्तु का प्रकाशन स्पष्ट रूप से होता है। इसलिए जैन आचार्यों ने 'स्पष्ट प्रतिभासत्व' को प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाया है। प्रत्यक्षज्ञान की विशदता या स्पष्टता का अर्थ है अन्य सहायक ज्ञान का अभाव। अर्थात् प्रत्यक्ष-ज्ञान को किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नही रहती है, इसकी प्राप्ति के लिये ज्ञाता को किसी तरह के पूर्व ज्ञान या माध्यम की आवश्यकता नही पडती। जब मै देखता हूँ कि 'आग जल रही है, तो इस ज्ञान को पाने के लिए मुझे किसी अपर ज्ञान की जरूरत नही पडती, इसीलिए ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष की सज्ञा दी जानी चाहिये, परन्तु जैनदर्शन में आत्मज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना है, इन्द्रियज्ञान को नही।

परोक्ष का स्वरूप—

परोक्षज्ञान प्रत्यक्ष का उल्टा है—इसका लक्षण है अविशद प्रतिभासत्व। यह सदा अस्पष्ट होता है, इसकी सिद्धि के लिये एक दूसरे ज्ञान का सहारा लेना पडता है, इसमें ज्ञानान्तर की सापेक्षता सदा वर्तमान रहती है। जब मै सामने की पहाडी से धुआँ निकलते देखकर यह अनुमान करता हूँ कि पहाडी में अग्नि है तो यह पहाडी के अग्निमान् होने का ज्ञान परोक्ष है, क्योकि इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए पहले धुएँ का ज्ञान होना आवश्यक है—इसके अभाव में अग्नि का ज्ञान नही होगा अतएव अग्नि का ज्ञान परापेक्ष है, पर की अपेक्षा से होने के कारण ही इसे अविशद या अस्पष्ट कहा जाता है। वे सभी ज्ञान, जिन्हें किसी भी तरह के पूर्वज्ञान या पूर्वानुभव की अपेक्षा रहती है, परोक्ष के अन्तर्गत रखे जाते हैं।

जैनो के परोक्ष ज्ञान की परिभाषा बौद्धो की परिभाषा से मेल नही खाती। उनके अनुसार परोक्षज्ञान वह है जो केवल सामान्य को विषय करता है। सभी वस्तुओ के दो गुण होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य परोक्ष प्रमाण का विषय है। सामान्यमात्रविषयत्व परोक्ष प्रमाण का लक्षण है। न्यायदीपिका में श्री अभिनव धर्मभूषण इस मत का खण्डन करते हुए कहते है कि बौद्धो की परिभाषा

मान लेने पर तो परोक्ष प्रमाण की प्रमाणता ही स्थिर नही रह सकती। क्योंकि प्रमाण मात्र का यह धर्म है कि वह सामान्य और विशेष दोनो को विषय करता है। अतएव बौद्धो का लक्षण असभव दोष से दूषित है। "प्रत्यक्षस्येव परोक्षस्यापि सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वेन तस्य लक्षस्यासम्भवित्वात्" (न्यायदीपिका) केवल किसी एक को विषय करना अप्रमाणता का द्योतक है। अतएव परोक्ष प्रमाण का लक्षण केवल सामान्य को विषय करना कदापि नही हो सकता। प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष के भी सामान्य और विशेष—दोनो ही विषय हैं। अतएव बौद्ध परिभाषा को स्वीकार करना उचित नही है।

परोक्ष के भेद—

अविशदता या अस्पष्टता को परोक्ष प्रमाण का लक्षण मानकर जैन तार्किको ने इसके पाँच भेद किये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क-अनुमान और आगम (तत् पञ्चिविधम् स्मृति प्रत्यभिज्ञानम् तर्क-अनुमानम् आगमश्चेति—'न्यायदीपिका')। इन सबोको ज्ञानान्तर की अपेक्षा रहती है। परोक्ष ज्ञान के कारण भूत ज्ञान कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष और कभी प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो रहते हैं।

स्मृति-ज्ञान की प्रमाणता—

स्मृतिज्ञान का विषय कोई अनुभूत-पदार्थ रहता है और इस ज्ञान की अभिव्यक्ति 'वह' शब्द के द्वारा होती है। जब कभी किसी वस्तु का अनुभव होता है तो उस अनुभव के फलस्वरूप एक धारणा बनती है। यह धारणा आत्मा में एक प्रकार का सस्कार पैदा करती है जो भविष्य में अनुकूल स्थिति होने पर अनुभूत विषय का स्मरण करा देता है। अनुभूत विषयो के सस्कार आत्मा में सदा वर्तमान रहते है, किन्तु वे सुप्त रहते हैं। ये ही सुप्त सस्कार स्मृति के अवरोधक कारणो के ह्रास और अनुभूत विषय के पुनर्दर्शन या उसीके समान किसी अन्य वस्तु के दर्शन होने पर प्रबुद्ध हो अतीत वस्तु का स्मरण कराते हैं। अतएव पूर्व अनुभव के जाग्रत सस्कार स्मृति ज्ञान के कारण हैं। बिना पूर्वानुभव के स्मृति नही हो सकती, अपरिचित वस्तु का स्मृतिज्ञान असम्भव है। पूर्व अनुभव की अपेक्षा होने से ही स्मृतिज्ञान की गणना परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत होती है। आज से कुछ दिनो पहले हमने देवदत्त को देखा, इस अनुभव का सस्कार हमारे मन में तभी से वर्तमान था। आज जब हम पुन देवदत्त को देखते हैं या उसके समान या उससे सम्बन्धित किसी को देखते हैं तो वह पुराना सस्कार जाग्रत हो भूतकाल में देखे गये देवदत्त की याद दिलाता है और हम कह उठते हैं, "यह वह देवदत्त है" या "यह आदमी उस देवदत्त के समान है।" देवदत्त को 'वह' या 'उस' शब्द से सबोधित करने का अर्थ है कि हम उससे पूर्व परिचित है। स्मृतिज्ञान सदा इसी तरह से व्यक्त किया जाता है। स्मृतिज्ञान भी और ज्ञानो की तरह सदा सत्य नही होता, इसके भी आभास होते हैं जिनकी गिनती अप्रमाणो में होती है। जब हम किसी अनुभूत वस्तु को उसी रूप में याद करते हैं, जिस रूप में हमने उसका अनुभव किया था, तो हमें यथार्थ स्मृतिज्ञान होता है, किन्तु जब स्मृत वस्तु अनुभूत से भिन्न होती है, तो ऐसे स्मरण को स्मृत्याभास कहते हैं।

जैन दार्शनिको के अतिरिक्त अन्य कोई भारतीय दार्शनिक स्मृति को प्रमाण नही मानते हैं। न्याय, वैशेषिक, मीमासक, बौद्ध आदि सबो का यही कहना है कि स्मृति अप्रमाण है, क्योंकि स्मृति के

द्वारा ज्ञात वस्तु का ही ज्ञान होता है—जो वस्तु पहले से ज्ञात है उसे पुन याद कर जानने से हमारे ज्ञान की वृद्धि नही होती। स्मृति पूर्व अनुभव के द्वारा गृहीत वस्तु को ही आत्मा के सामने पुन प्रस्तुत करती है, इसलिए गृहीतग्राही होने के कारण इसकी प्रमाणता स्वीकार नही की जा सकती।

जैन दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि गृहीतग्राही होने से कोई भी ज्ञान अप्रमाण हो सकता है। प्रमाण की परिभाषा में ही उन्होने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि प्रमाण अपूर्वार्थ (अगृहीत वस्तु) को विषय करता है। स्मृति भी गृहीतग्राही होने से अप्रमाण हो जायगी, किन्तु जैन दार्शनिको ने यह दिखलाया है कि सूक्ष्म विवेचन करने पर स्मृति पर गृहीतग्राहित्व का आरोप मिथ्या ठहरता है। स्मृति पर गृहीत-ग्राहित्व का आरोप तभी सत्य होता जबकि अनुभव और स्मृति, दोनो के विषय एक होते, किन्तु दोनो के विषय भिन्न हैं। अनुभव वर्तमान वस्तु को ग्रहण करता है, जिसकी अभिव्यक्ति 'यह' के द्वारा होती है, और स्मृति भूतकालीन वस्तु को ग्रहण करती है जिसकी अभिव्यक्ति 'वह' के द्वारा होती है। गृहीतग्राही होने के लिए स्मृति को भी वर्तमान वस्तु (जो अनुभव का विषय है) को विषय करना चाहिये था, किन्तु भूतकालीन वस्तु को विषय करने के कारण स्मृति और अनुभव में विषय भेद है और विषय भेद होने से स्मृति अगृहीतग्राही प्रमाणित होती है जिससे इसकी स्वतत्र प्रमाणता सिद्ध होती है। दूसरे, प्रमाणता का नियामक अविसवाद है। जो ज्ञान विसवाद रहित है, जिसका विरोध कोई अन्य प्रमाण नही करता—वह प्रमाण है। स्मृति भी प्रत्यक्ष आदि की तरह विसवाद रहित है, अतएव अविसवादी होने से अन्य प्रमाणो की तरह यह भी प्रमाण है। विसवादी होने पर स्मृति नही बल्कि स्मृत्याभास होता है जो अन्य प्रमाणाभासो की तरह अप्रमाण है। तीसरे, जब हम जानी हुई वस्तु को जानने के कारण स्मृति को अप्रमाण कहते हैं तो इस विशेषता के अनुसार कभी-कभी प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायगा। कभी-कभी अनुमान के द्वारा जानी हुई वस्तु के विषय में पूर्णतया निश्चित ज्ञान पाने के लिए हम उसी वस्तु को प्रत्यक्ष का विषय बनाते हैं। रसोई घर से धुएँ को आते देखकर हम यह अनुमान करते हैं कि रसोई घर में आग जल रही है। इस अनुमानजन्य ज्ञान को और भी सुदृढ करने के लिए हम रसोई घर में जाकर अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। अब यदि ज्ञात वस्तु का ज्ञान प्रदान करने से कोई प्रमाण अप्रमाण हो सकता है तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायगा, क्योकि उपर्युक्त उदाहरण में प्रत्यक्ष अनुमान के द्वारा पहले से ज्ञात विषय का ज्ञान कराता है। किन्तु प्रत्यक्ष की अप्रमाणता कोई भी स्वीकार नही करता। अतएव जब प्रत्यक्ष प्रमाण है तो स्मृति को अप्रमाण मानना न्याय-सगत नही है। स्मृति की प्रमाणता की चौथी समर्थक युक्ति यह है कि विस्मरण, सशय, विपर्यय आदि मिथ्याज्ञानो का निवारण स्मृति के द्वारा होता है, मिथ्याज्ञान का निराकरण प्रमाण का ही कार्य है। इस-लिए भी स्मृति को प्रमाण मानना आवश्यक है।

प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता—

प्रत्यवमर्श, सज्ञा, प्रत्यभिज्ञा आदि प्रत्यभिज्ञान के कई नाम हैं। अनुभव और स्मरण से उत्पन्न होने वाला सकलपनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। स्मृति के लिये पूर्वानुभव की अपेक्षा रहती है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान के लिए अनुभव और स्मृति दोनो की आवश्यकता पडती है। प्रत्यभिज्ञान के विषय पूर्व

ओर उत्तर की दशाओ में विद्यमान रहनेवाले एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य (असमानता), प्रतियोगित्व (दो वस्तुओ का विशेष) दूरत्व आदि है। जब कोई आदमी जिनदत्त को एक बार देखता है और फिर कुछ दिनो के बाद देखने पर उसे पहचान कर कहता है 'यह वही जिनदत्त है' या पहले से गाय का ज्ञान रखते हुए जगल में उसी के समान एक पशु को देखकर कहता है 'गाय के समान गवय है' या भैसा को देखकर कह उठता है कि भैसा गाय से भिन्न होता है, या दो वस्तुओ के विषय में कहता है कि क ख का प्रतियोगी है, या क ख से दूर है, तथा उसके ये सभी वाक्य प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान के उदाहरण है। पहले उदाहरण में प्रत्यभिज्ञान का विषय पूर्व और उत्तर की दशाओ में वर्तमान जिनदत्त के व्यक्तित्व की एकता है, दूसरे में पूर्व अनुभूत गाय और वर्तमान कालीन गवय की समानता, तीसरे में पूर्व अनुभूत गाय और वर्तमान भैसा की भिन्नता, चौथे में प्रतियोगित्व और पाँचवें में दूरत्व है। पहले प्रकार के प्रत्यभिज्ञान को एकत्व प्रत्यभिज्ञान, दूसरे को सादश्य प्रत्यभिज्ञान, तीसरे को वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञान कहते है। इसी तरह प्रत्यभिज्ञान के और भी भेद किये जा सकते है। सभी तरह के प्रत्यभिज्ञान में अनुभव और स्मृति के सकलन की आवश्यकता पडती है। पहले उदाहरण में ज्ञाता को जिनदत्त का पूर्वानुभव रहता है, उसे वह पुन देखता है और देखकर पूर्व परिचय को स्मरण करता है और तब वह कहता है 'यह वही जिनदत्त है'। यहाँ पर 'यह' वर्तमान अनुभव का विषय है और 'वही' स्मृति का। दोनो के मिश्रण से भूत और वर्तमान कालो में विद्यमान एकता का ज्ञान होता है। दूसरे उदाहरण में भी पूर्व परिचित गाय की स्मृति और वर्तमान गवय की तात्कालिक अनुभूति के मिश्रण से दोनो के बीच वर्तमान सादृश्य का ज्ञान होता है। विश्लेषण करने पर सभी प्रकार के प्रत्यभिज्ञान में अनुभव और स्मृति का सकलन मिलेगा।

अन्य कई भारतीय दार्शनिको ने जैनो के प्रत्यभिज्ञान विषयक मत को अस्वीकार किया है। सबसे तीव्र आक्षेप बौद्धो का है, वे प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नही मानते। उनके इस मत का आधार क्षणिक-वाद है। क्षणिकवादी बौद्धो के अनुसार कोई वस्तु पूर्व और उत्तर के क्षणो में एक नही रहती। पहले क्षण की वस्तु दूसरे क्षण में दूसरी हो जाती है, अतएव एकत्व नाम की कोई चीज सत्य नही है। पहले क्षण का 'क' दूसरे क्षण में 'क' २ हो जाता है। जबकि एकत्व मिथ्या है, तो इसको विषय करने वाला ज्ञान अवश्य ही अप्रमाण है। रस्सी की जगह सर्प का ज्ञान कराने वाला ज्ञान अप्रमाण है, उसी तरह एकत्व के अभाव में एकत्व का ज्ञान कराने वाला प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है। जहाँ कही ऐसा लगता है कि यह वही है, वहाँ एकत्व नही, बल्कि सादृश्य है। उत्तर क्षण की वस्तु पूर्व क्षण की वस्तु के स्दृश है और इसी सदृशता को भूल से एकत्व समझ कर ज्ञाता कहता है कि 'यह वही है'। बौद्धो की इस आलो-चना का आधार उनका क्षणिकवाद होने से जैन दार्शनिको ने इसका खडन क्षणिकवाद के खडन द्वारा किया है। वे कहते है कि वस्तुओ में परिवर्तन होते है, किन्तु इन परिवर्तनो के साथ-साथ वस्तु की तात्त्विक एकता बनी रहती है।

कुछ विचारको का कहना है कि प्रत्यभिज्ञान नाम का कोई एक प्रमाण नही है, बल्कि जिसे हम प्रत्यभिज्ञान कहते है वह दो प्रमाण—प्रत्यक्ष, और स्मरण का जोडमात्र है। क्योकि इस तरह के ज्ञान के 'यह' अश का ज्ञान प्रत्यक्ष से और 'वही' अश का ज्ञान स्मरण से होता है। इसलिए प्रत्यक्ष

और स्मरण के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञान को एक अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है । इसके उत्तर में जैनाचार्यों का कहना है कि प्रत्यभिज्ञान दोनो का जोडमात्र नही, वल्कि दोनो का मिश्रण होते हुए भी दोनो से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण है, क्योकि प्रत्यक्ष से वर्तमान को जान सकते है और स्मरण से भूत को, वर्त्तमान और भूत की एकता, समानता, असमानता आदि का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से हो सकता है न स्मरण से । अतएव प्रत्यभिज्ञान का विषय प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय से भिन्न है, और विषय भेद न होने से प्रत्यभिज्ञान को स्वतत्र प्रमाण मानना गलत नही है । अतएव प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मरण की अपेक्षा रखते हुए भी उन दोनो से भिन्न एक स्वतत्र प्रमाण है ।

प्रत्यभिज्ञान और वैशेषिक दर्शन--

वैशेषिक दर्शन के अनुयायी एकत्व प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष का एक भेद मानते है । उनका कहना है कि प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रियो के होने पर होता है और नही होने पर नही होता है, इसलिए यह भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है । प्रत्यभिज्ञान भी इन्द्रियो के होने पर होता है नही होने पर नही होता है इसलिए यह भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है । जैनो के अनुसार यह मत गलत है, क्योकि प्रत्यक्ष से केवल वर्तमान का ज्ञान हो सकता है, भूत और वर्तमान की एकता का नही, जो कि प्रत्यभिज्ञान का विषय है । इसके उत्तर में वैशेषिक मत की पुष्टि करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते है सचमुच इन्द्रियाँ सामान्य दशा में वर्त्तमान मात्र का ज्ञान कराती है किन्तु कई विशेष दशाओ में सस्कार और स्मरण आदि सहकारियो की सहायता पा भूत और वर्त्तमान अवस्थाओ मे विद्यमान एकत्व का भी ज्ञान करा सकती है । अजन आदि की सहायता से आँखें वैसी वस्तुओ को देख लेती है जिन्हें सामान्यतया वे देख नही पाती । इसी तरह स्मरण की सहायता से पूर्व और उत्तर की दशाओ में वर्तमान एकत्व का भी ज्ञान प्रत्यक्ष से हो सकता है । इस उत्तर का भी जैन आचार्यों ने खडन किया है । उनका कहना है कि सहकारियो के मिल जाने पर भी किसी-भी प्रमाण से वैसी वस्तु का ज्ञान नही हो सकता है जो उसका विषय नही है । अविषय को विषय करना किसी भी प्रमाण के लिए किसी भी दशा में सभव नही है । आँख का विषय रूप है, अजन आदि की सहायता से भी आँख की गति रूप में ही हो सकती है, रस आदि किसी अविषय में कदापि नही । दूसरे, प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान अस्पष्ट होता है—ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखता है, इसलिए भी इसे प्रत्यक्ष नही माना जा सकता ।

नैयायिकादि-दर्शन और प्रत्यभि-ज्ञान--

नैयायिक और मीमासक सादृश्य-और वैसादश्य –प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानते है किन्तु उन्हें उपमान की सज्ञा देते है । उनके विरुद्ध जैन तार्किको का कहना है कि सादृश्य या वैसादृश्य के ज्ञान में प्रत्यभिज्ञान का लक्षण (अनुभव और स्मृति का सकलन) वर्तमान है, अतएव उन्हें भी प्रत्यभिज्ञान ही मानना चाहिये । सादृश्य या वैसादृश्य रहने से यदि उसका दूसरा नामकरण किया जाय तो प्रतियोगित्व, दूरत्व आदि को विषय करने वाले सभी प्रमाणो को अलग-अलग नाम देने पडेंगे, जो कि अनावश्यक हैं । वात यह है कि ये सभी विना किसी खीच-तान के प्रत्यभिज्ञान के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते है, क्योकि प्रत्यभिज्ञान का सामान्य लक्षण सवो में वर्त्तमान है ।

तर्क का स्वरूप और प्रमाणता—

तर्क के चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि कई नाम हैं। तर्क व्याप्ति ज्ञान को कहते हैं।[1] दो वस्तुओ के बीच एक विशेष सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यह सम्बन्ध नियत साहचर्य का है। जब दो वस्तुओ का साहचर्य सर्वदेश और सर्वकाल में वर्तमान रहता है, जिसमें कभी व्यभिचार (अपवाद) नही होता, ऐसे व्यभिचार रहित सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। इस तरह का सम्बन्ध धूम और अग्नि का है। धूम के साथ अग्नि सदा रहती है —जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि भी रहती है। इस सम्बन्ध में कभी अपवाद नही होता। कभी भी धूम विना अग्नि के नही पाया जाता। ऐसे सम्बन्ध को अविनाभाव भी कहते हैं। अविनाभाव सम्बन्ध वैसी वस्तुओ में होता है जो एक दूसरे के विना रह ही नही सकती है। दो वस्तुओ के बीच स्थित अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कराने वाला प्रमाण तर्क कहलाता है साध्य और साधन में व्याप्ति का होना अनुमान का आधार है, और चूँकि व्याप्ति का ज्ञान तर्क से होता है, तर्क की प्रमाणता महत्वपूर्ण है।

तर्क-विषयक जैनमत वैदिक न्याय के तद् विषयक मत से नितान्त भिन्न पडता है। तर्क को एक स्वतन्त्र प्रमाण नैयायिक नही मानते, न इसे अप्रमाण ही कहते हैं। उनके अनुसार तर्क स्वतन्त्र प्रमाण नही, किन्तु प्रमाणो का अनुग्राहक या सहायक है, यह प्रमा की उत्पत्ति नही करता, वल्कि प्रमाण से प्राप्त ज्ञान के विषय में सन्देह का निवारण कर उक्त ज्ञान की पुष्टि में सहायक होता है।

जैन दार्शनिक तर्क को स्वतत्र प्रमाण मानते है। उनका कहना है कि तर्क की प्रमाणता सत्य है, क्योकि इससे प्राप्त ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से वाधित नही होता, कोई भी प्रमाण तर्क का विरोध नही करता। यह अगृहीतग्राही है, क्योकि व्याप्ति का—जो तर्क का विषय है—ज्ञान अन्य किसी भी प्रमाण से गृहीत नही होता। व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष से नही हो सकता, क्योकि प्रत्यक्ष वर्तमान तक ही सीमित रहता है—जब कि व्याप्ति सभी जगह और सभी समय (भूत, वर्त्तमान, भविष्य) के विषय में लागू रहती है। प्रत्यक्ष के द्वारा हम केवल अभी सामने के धूम और अग्नि को जान सकते है, सभी धूम और अग्नि के सम्बन्ध को नही। कुछ दार्शनिको का कहना है कि व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष से अकेले नही मिल सकता, लेकिन स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की सहकारिता पाने पर प्रत्यक्ष व्याप्तिज्ञान का साधक वन सकता है। प्रत्यक्ष के द्वारा निस्सन्देह हम वर्त्तमान धूम और अग्नि को ही जान सकते है, किन्तु इसके साथ-साथ पहले के देखे गये धूम अग्नि के उदाहरणो को स्मृति के सहारे याद कर और प्रत्यभिज्ञान के द्वारा यह जान कर कि पहले और आज के धूम-अग्नि सभी सजातीय है, हम सभी धूम अग्नि के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए जबकि एक विशेष प्रकार का प्रत्यक्ष (स्मरण और प्रत्यभिज्ञान से सहित प्रत्यक्ष) ही व्याप्तिज्ञान का साधक है, तो इसके लिए एक नवीन प्रमाण (तर्क) को स्वीकार करना अनावश्यक है। इस आक्षेप का खडन जैन दार्शनिको ने उसी ढग से किया है जैसा कि प्रत्यभिज्ञान पर लाये गये ऐसे आक्षेप का उन्होने किया था। वे कहते है कि हजार सहकारियो के होने पर भी कोई प्रमाण अविषय का ज्ञान नही दिला सकता—'सहकारिसहस्रसमवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तेरयोगात् (न्यायदीपिका)'

व्याप्ति का ग्रहण अनुमान से भी नही हो सकता । यदि हम मान लें कि व्याप्ति अनुमान से गृहीत होती है, तो दो बातें हो सकती हैं—व्याप्ति का ग्रहण उसी अनुमान से होता है जिसकी यह व्याप्ति है, या किसी दूसरे अनुमान से ? यदि पहला विकल्प सत्य है, तो अन्योन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर व्याप्ति अनुमान पर आधारित होती है, और स्वय अनुमान व्याप्ति पर, अर्थात् दोनो को एक दूसरे पर आश्रित होना पडता है । दूसरा विकल्प मानने पर अनवस्था दोष होता है, क्योंकि दूसरे अनुमान की व्याप्ति के ग्रहण के लिये तीसरे अनुमान की आवश्यकता होगी, तीसरे की व्याप्ति के लिये चौथे की, इस तरह इस प्रक्रिया का कही अन्त नही हो सकेगा । अतएव अनुमान से व्याप्ति ग्रहण की कल्पना करना उचित नही है । व्याप्ति ग्रहण आगम आदि अन्य प्रमाणो से भी नही हो सकता, क्योंकि उनके भी विषय भिन्न हैं ।

बौद्ध-दर्शन और तर्क-प्रमाण—

बौद्ध दार्शनिक भी तर्क को प्रमाण नही मानते । उनके अनुसार व्याप्तिज्ञान (जिसके लिए जैन लोग तर्क की आवश्यकता बतलाते हैं)—निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा होता है—तर्क नाम के किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही पडती । श्री अभिनव धर्मभूषण ने बौद्धो के इस मत का विश्लेषण कर सिद्ध किया है कि उनकी युक्ति तर्क की अप्रमाणता नही सिद्ध करती । वे कहते हैं कि जिस विकल्प से व्याप्ति मिलती है वह प्रमाण होगा या अप्रमाण ? अप्रमाण तो होगा ही नही, क्योंकि उस हालत में उसके द्वारा गृहीत व्याप्ति भी अप्रमाण हो जायगी । यदि वह प्रमाण है, तो प्रत्यक्ष होगा या अनुमान, क्योंकि बौद्धो के अनुसार ये ही प्रमाण हैं । प्रत्यक्ष तो यह हो ही नही सकता, क्योंकि अस्पष्ट है और अनुमान भी नही हो सकता, क्योंकि हेतुज्ञान की आवश्यकता नही पडती । अतएव व्याप्तिज्ञान का साधक प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है, जिसे तर्क की सज्ञा दी गई है ।

इन्ही युक्तियो के आधार पर जैन दार्शनिको ने तर्क को स्वतत्र प्रमाण माना है । उनके अनुसार तर्क के लिए प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान तीनो की अपेक्षा रहती है । यही ज्ञानान्तर की अपेक्षा इसे परोक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट कराती है । किन्तु तीनो के मिश्रण से उत्पन्न होने पर भी तर्क उनका समुदायमात्र नही है । मीमासक तर्क को प्रमाण मानते हैं, किन्तु उसका नाम ऊह रखते हैं ।

आगम-प्रमाण—

आप्त के वचनो से होने वाले अर्थज्ञान का नाम आगम है । आगम को श्रुतज्ञान भी कहते हैं । आगम ज्ञान का आधार आप्त है और आप्त वह है जो सर्वज्ञ (सभी वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान रखनेवाला) वीतराग (रागाद्वेष से मुक्त) और परम हितोपदेशी (शुद्ध चित्त से सबो को परमहित का उपदेश देने वाला) होता है । सर्वज्ञ होने से आप्त के वचन कभी असत्य नही हो सकते, वीतराग होने से राग-द्वेष आदि ज्ञान को कलुषित करनेवाली कुप्रवृत्तियो मे दूषित नही होते, और परम हितोपदेशी होने से आप्त उनका प्रकाशन सत्य रूप में करता है, किसी को धोखा देने की इच्छा न होने से

सत्य ज्ञान को छिपाने या दूसरे रूप में व्यक्त करने की प्रवृत्ति नही होती। ऐसे पुरुषो के वचनो की व्याख्या कर उनके अन्तर्गत स्थित अर्थ या तात्पर्य को ग्रहण करना आगम प्रमाण है। आगम ज्ञान केवल वचनो से नही, बल्कि किसी भी तरह के सकेतो (अक्षर या अन्य कोई सकेत जिनके द्वारा मन का भाव दूसरो पर व्यक्त किया जा सकता है) के माध्यम से हो सकता है। धर्मग्रथो के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान ही आगमज्ञान है।

चार्वाको ने आगम को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रक्खा है। वे कहते हैं कि शब्दो को सुनना या पढना, जिसके द्वारा आगम-ज्ञान होता है, दोनो ही प्रत्यक्ष के भेद हैं—सुनना, श्रावण प्रत्यक्ष है, और पढना चाक्षुष प्रत्यक्ष। इसके उत्तर में जैन-दार्शनिको का कहना है कि आगम प्रत्यक्ष नही है, क्योकि प्रत्यक्ष शब्दो के सुनने या पढने मात्र तक सीमित, है जबकि आगम-ज्ञान सुनने या पढने मात्र से नही, बल्कि सुने गये या पढे गये शब्दो के तात्पर्य समझने से होता है। नैयायिक आगम को प्रमाण मानते है, किन्तु उनके द्वारा किया गया आगम का लक्षण भ्रान्ति-पूर्ण है। आगम की प्रमाणता के लिये आप्त का सर्वज्ञ, वीतराग और परम हितोपदेशी होना अनिवार्य है, 'किन्तु नैयायिको का आप्त सर्वज्ञ नही है। नैयायिक ज्ञान को अस्वसवेदी —अपने से नही, वल्कि दूसरे ज्ञान से ज्ञात होने वाला मानते हैं। किन्तु ऐसा मानने पर ज्ञान का ज्ञान होना ही असम्भव हो जायगा। एक ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की, दूसरे के लिए तीसरे ज्ञान की आवश्यकता पडती जायगी, और इस आवश्यकता का कही अन्त न होने से अनवस्था दोष हो जायगा। अतएव नैयायिको के आप्त को अपने ज्ञान का ज्ञान नही हो सकता; इस-लिए कि वह सर्वज्ञ नही है, क्योकि सर्वज्ञता के अन्तर्गत ज्ञान का ज्ञान भी आता है।

आगम ज्ञान की निष्पत्ति शब्दो से अर्थ ग्रहण करने पर होती है। शब्दो से अर्थ का ज्ञान सकेत से होता है। वाक्य के रूप में सजे हुए शब्दो से समुचित ज्ञान मिलता है। वाक्य आपस में अपेक्षा रखने वाले शब्दो का निरपेक्ष समूह है, जैसे—'दूध लाओ' वाक्य में 'दूध' और 'लाओ' दोनो शब्द एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं और इस वाक्य के अर्थ को समझने के लिए किसी दूसरे वाक्य की अपेक्षा नही है। शब्दो के परस्परापेक्ष और शब्दसमूह के निरपेक्ष होने पर ही वाक्य से अभीप्सित अर्थ का ज्ञापन हो सकता है।

आगम के बाद परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत अनुमान आता है, किन्तु जैनाचार्यों की अनुमान विषयक चर्चा इतनी विस्तृत है कि उसका प्रतिपादन एक स्वतत्र निबध के बिना सम्भव नही है।

जैनेतर दर्शनों में स्याद्वाद

पं० श्री हीरालाल जैन, शास्त्री

जैनेतर दर्शनो में तद्विषयक विद्वानो ने स्याद्वाद को कहाँ तक और किस रूप में अपनाया है इस बात के बताने के पूर्व "स्याद्वाद" शब्द का लक्षण समझ लेना आवश्यक है, क्योकि उसी लक्षण के सहारे ही हम अजैन दर्शनो में स्याद्वाद का अन्वेषण कर सकेगे।

स्याद्वाद का स्वरूप—

स्याद्वाद शब्द एकान्त या सर्वयापन का निषेधक और अनेकता का सूचक है। स्याद्वाद का अर्थ होता है—पदार्थ का भिन्न-भिन्न दृष्टियो से (अपेक्षाओ से) परीक्षण कर निर्णय करना। क्योकि सर्वथा एक ही दृष्टि से पदार्थ का सर्वाङ्ग निर्णय नही हो सकता। इसीलिए जैनाचार्यो ने सबसे प्रथम "सिद्धिरनेकान्तात्" अर्थात् "वस्तु तत्त्व की सिद्धि अनेकान्त-स्याद्वाद से ही हो सकती है" अन्यथा नही, की घोषणा की।

अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, कथचित्वाद और स्याद्वाद ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथचित्' किसी अपेक्षा से होता है। सस्कृत भाषा के अनुसार 'स्यात्' यह अन्वय है और वह अनेकान्त का द्योतक एव सर्वथापन का निषेधक है। जैसा कि विद्यानन्द स्वामी ने कहा है—

स्यादिति शब्दोऽनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुर्नविधिविचारप्रश्नादिद्योती तथा विवक्षापायात्॥
अष्टसहस्री पृ० २८६।

अकलक देव ने भी स्याद्वाद का पर्यायवाचक अनेकान्त का लक्षण इस प्रकार किया है—
'सदसन्नित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्त। अष्टशती पृ० २८६।

पचास्तिकाय की टीका में अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है—
'सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतक कथचिदर्थे स्याच्छब्दो निपात।'

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध देवागम स्तोत्र में स्याद्वाद का क्या सुन्दर लक्षण किया है—
स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि।
सप्तभगनयाक्षेपो हेयादेय विशेषक॥

स्याद्वाद सर्वथा एकान्त का त्याग—निषेध करके कथञ्चित् अपेक्षा भेद से वस्तुतत्त्व का निर्णय करता है और वही ही सप्तभगी रूप नयो की अपेक्षा से स्वभाव और परभाव द्वारा वस्तु में सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और सामान्य-विशेष की व्यवस्था का प्रतिपादन करता है ।

स्याद्वाद की उपयोगिता—

वस्तु के यथार्थ स्वरूप निर्णय के लिए स्याद्वाद का उपयोग सर्वप्रथम है । विना इसके वस्तु का निर्णय नही हो सकता । यदि हम किसी वस्तु को उसके किसी एक धर्म की मुख्यता से एक ही रूप मे मान लें और उसके समस्त धर्मों का अपलाप कर दें, तो ससार का व्यवहार तक नही चल सकता, वस्तु का निर्णय तो वहुत दूर की वात है । उदाहरणार्थ—यदि हम किसी मनुष्य को 'मामा' कहते हैं, तो क्या वह ससार के सभी मनुष्यो का मामा है ? उत्तर में कहना पडेगा कि नही । किसी की अपेक्षा से वह चाचा भी है, किसी की अपेक्षा से भाई भी है । इसी प्रकार एक अखण्ड अनन्त धर्म रूप वस्तु को भी किसी एक धर्म की मुख्यता से उसे एक रूप कहना अयुक्त है, किन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से उसे नाना रूप ही मानना सर्वथा न्यायसगत है ।

इतनी प्रारम्भिक भूमिका के वाद अब मै अपने विषय पर आता हूँ । और भिन्न-भिन्न दर्शनो के ग्रन्थो का अवतरण देकर यह दिखाने का यत्न करूँगा कि भारतीय प्रसिद्ध जैनेतर विद्वानो ने भी "स्याद्वाद" का अपने यहाँ कहाँ तक उपयोग किया है ।

नित्यानित्य विचार—

जैन-दर्शन की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु द्रव्य अपेक्षा नित्य एव पर्याय अपेक्षा अनित्य है । पर्याय-उत्पाद और व्यय स्वभाव वाली होती है जो कि वस्तु में अनित्यता सिद्ध करती है । साथ ही उत्पाद व्यय से वस्तु में हमें उसकी स्थिति की ध्रुवता का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है । यही स्थिरता ध्रुवता वस्तु में नित्य धर्म का अस्तित्व सिद्ध करती है । इस प्रकार सक्षेप में वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हुआ करती है । जैसा कि उमास्वामी ने कहा है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ।"

पतञ्जलि महाभाष्य—

महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य के पशपशाह्निक में जैन-दर्शन के उक्त सिद्धान्त का निम्न-लिखित शब्दो में कितना अच्छा विवेचन किया है—

द्रव्य नित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्त पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्यरुचका क्रियन्तेरुचकाकृतिमुपमृद्यकटका क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिका क्रियन्ते, पुनरावृत्त. स्वर्णपिण्ड पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्त खदिरागारसदृशे कुण्डले भवत आकृतिरन्याचान्याच भवति द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।

मीमांसा श्लोक-वार्तिक—

मीमासा दर्शन के उद्भट विद्वान कुमारिलभट्ट ने भी पदार्थों के इस उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप को स्वीकार किया है, देखिये—

१ वर्द्धमानकभगे च, रुचक क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिन शोक, प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन ॥
२. हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥
३. न नाशेन बिना शोको, नोत्पादेन बिना सुखम् ।
स्थित्या बिना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता ॥

मीमासा श्लोकवार्तिक पृ० ६१९ श्लोक स० २१, २२, २३ ।

कुमारिलभट्ट का उक्त सिद्धान्त जैन-दर्शन के तो अनुकूल है ही, साथ ही वह वर्णनशैली मे भी स्वामी समन्तभद्राचार्य का कितना अधिक अनुकरण करता है, यह देवागमस्तोत्र के निम्नलिखित श्लोको से स्पष्ट विदित हो जाता है । पाठको को इस बात का ध्यान रहे कि कुमारिलभट्ट से स्वामी समन्तभद्र तीन-चार शताब्दी पूर्व हो चुके है । इससे निश्चित है कि स्वामी समन्तभद्र के समन्त-भद्र-स्याद्वाद का प्रभाव उस समय के सभी दर्शनो पर पडा था । अस्तु, वे श्लोक ये है—

१ घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥
२ पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥६०॥ देवागमस्तोत्र

गभीर निरीक्षण से पाठक यह अनुभव किये बिना न रहेंगे कि स्वामी समन्तभद्र के सूत्रात्मक श्लोको की व्याख्या रूप ही कुमारिलभट्ट ने व्याख्यान किया है ।

सत्-असत्-विचार—

सम्पूर्ण चेतन और अचेतन पदार्थ, स्वरूप से—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् है और पर-रूप से—परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से असत् स्वरूप है । जैसे घट अपने द्रव्य पुद्गल मृत्तिका, क्षेत्र इस स्थान, काल वर्तमान एव भाव लाल काला आदि की अपेक्षा से तो है—सत् स्वरुप है–और वही पर से–अन्य पटादिक के द्रव्य क्षेत्र काल भाव से –नही है, असत् रुप है । दोनो में से किसी एक रूप मानने से वस्तु या तो सर्वात्मक हो जायगी, अथवा लोक-व्यवहार का अभाव हो जायगा । इसलिए दोनो रूप ही वस्तु को मानना आवश्यक है । इसीलिए श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि—

सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

इस श्लोक का अन्तिम चरण बहुत महत्त्व का है, आचार्य कहते हैं कि यदि उभयात्मक वस्तु न मानोगे, तो पदार्थ की व्यवस्था ही नही हो सकती है।

वैशेषिक-दर्शन—

महर्षि कणाद ने अन्योन्याभाव के निरूपण में भी उक्त उभय रूप वस्तु को ही स्वीकार किया है—

सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत्।

वैशेषिक दर्शन अ० ९ आ० १ सूत्र ४, ५

उपस्कार—यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवह्रियते, तत्र तादात्म्याभाव प्रतीयते। भवति हि असन्नश्वो गवात्मना। असत् गौरश्वात्मना, असन् पटो घटात्मना इत्यादि। पृ० ३१३

भाष्य—तदेव रूपान्तरेण सदप्यन्येन रूपेणासद् भवतीत्युक्तम्॥ पृ० ३१५

न्याय-दर्शन—

गौतम ऋषि के न्याय-सूत्रो पर अनेको प्राचीन एव अर्वाचीन टीकाएँ उपलब्ध है जिसमे वैदिक वृत्ति मे "कर्म से उत्पन्न होने वाले फल उत्पत्ति के पूर्व सत् है अथवा असत्?" इस प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि 'उत्पादव्ययदर्शनात्' न्या० ४–१–४९

व्याख्या—प्राङ् निष्पत्ते सदसदिति चानुवर्तते फलसम्बन्धात् पूर्ववत् निष्पत्ते प्राक् फल कार्यं, सदसदिति वेदितव्यम्। कुत उत्पादव्ययदर्शनात्, तदुत्पत्तिविनाशयोरुपलभ्यमानत्वात्। चेदुत्पत्ते प्राक् कार्यमसद् भवेत् न जातूत्पद्येत्। असत शशश्रृंगादेरुत्पत्त्यदर्शनात्। सच्चेत् न कदाचिद्विनश्येत्। पुरस्तात् सत पश्चादपि सत्त्वनियमेन विनाशासभवात्। उत्पद्यते विनश्यति च कार्यं, तस्मात् भवति प्रतिपत्तिर्नून-मेतदुत्पत्ते प्राक् नासदस्ति, नापि सत्, किन्तु सदसदिति॥४९॥ वैदिकी वृत्ति॥

पाठक स्वय अनुभव करेगे कि कितने उत्तम प्रकार से वृत्तिकार ने सत्-असत्-उभयात्मक वस्तु को स्वीकार किया है, जो कि जैन-दर्शन के बिल्कुल अनुरूप ही है।

भेदाभेद-विचार—

द्रव्य से पर्याय, गुण से गुणी अथवा धर्म से धर्मी कथचित् अपने सज्ञा लक्षणादि से भिन्न है, और आधारादि की अपेक्षा अभिन्न है। यह जैन-दर्शन का प्रसिद्ध कथन है। इसीको स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ, भेदाभेदौ न सवृती।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया॥३६॥

एक वस्तु में किसी दृष्टि से भेद एव किसी दृष्टि से अभेद प्रमाणसिद्ध ही है, काल्पनिक नही। हाँ, इनमें कभी कोई प्रधान तो दूसरा गौण हो जाता है।

वेदान्त-दर्शन—

व्यास-प्रणीत ब्रह्म-सूत्रो पर भास्कराचार्य-रचित भाष्य मे भेदाभेद का विचार करते हुए "युक्ते शब्दान्तराच्च" (२-१-१८) सूत्र पर लिखा है—

अवस्था तद्वतोश्च नात्यन्तभेदो नहि शुक्ल-पटयोर्धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेद , किन्तु एकमेव वस्तु, नहि निर्गुण नाम द्रव्यमस्ति, न हि निर्द्रव्यो गुणोऽस्ति, तयोपलब्धे , उपलब्धिश्च भेदाभेदव्यवस्थाया प्रमाण प्रमाणव्यवहारिणाम् तथा कार्यकारणयोर्भेदाभेदावनुभूयेते, अभेदधर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेद स एव तरगाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते। न हि तरगादय पाषाणादिषु दृश्यन्ते। तस्यैव ता शक्तय , शक्ति-शक्तिमतोश्चानन्यत्वमन्यत्व चोपलभ्यते। पृ० १०१

अद्वैतवाद—

अद्वैत जैसे अभिन्नवाद में भी भेदाभेद की चर्चा का स्पष्ट वर्णन देखने मे आता है। विद्या-रण्य स्वामी अपने ग्रन्थ में कार्यकारण का विचार करते हुए लिखते हैं—

स घटो नो मृदो भिन्नो, वियोगे सत्यवीक्षणात्।
नाप्यभिन्न पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात्॥ श्लोक ३५५

कितने स्पष्ट शब्दो में भेदाभेद को स्वीकार किया है।

सामान्य-विशेष-विचार—

यद्यपि साख्य, अद्वैतवादी एव और भी अनेक मत सामान्य रूप ही पदार्थ को स्वीकार करते है और बौद्धादिक विशेष रूप ही पदार्थ को स्वीकार करते है, किन्तु अनुभव, तर्क एव आगम बताता है कि यथार्थ मे पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक उभयरूप हैं। एक रूप मानने पर दोनो का ही अभाव सिद्ध हो जाता है। इसीलिए आचार्यों ने पदार्थ को सामान्य-विशेषात्मक उभयरूप माना है—

सामान्य-विशेषात्मा तदर्थो विषय। परीक्षामुख अ० ४ सू० १

अर्थात्—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है। इसी बात का उल्लेख पत-ञ्जलि-भाष्य में भी है। जैसे—सामान्य-विशेषात्मनोऽर्थस्य। समाधिपा० सू० ७
सामान्य-विशेषसमुदायो द्रव्यम्। (विभू० सू० ४४)

कुमारिलभट्ट ने भी सामान्य विशेष रूप वस्तु को स्वीकार किया है। यथा—

सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च, व्यावृत्यनुगमात्मिका।
जायते द्व्यात्मकत्व न, विना सा च न सिद्धयति॥५॥

अन्योन्यापेक्षिता नित्य, स्यात्सामान्यविशेषयो ।
विशेषाणाञ्च सामान्य, ते च तस्य भवन्ति हि ॥६॥
निर्विशेष हि सामान्य, भवेच्छशविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वाच्च, विशेषास्तद्वदेव हि ॥७॥
तदनात्मकरूपेण, हेतू वाच्याविमौ पुन ।
तेन नात्यन्तभेदोपि, स्यात्सामान्यविशेषयो ॥ (पृ० ५४६, ४७, ४८)

इन उद्धरणो से यह बिल्कुल स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जैन-दर्शन के स्याद्वाद-मार्तण्ड की प्रखर किरणें सर्व ही दर्शनो में निराबाध रूप से प्रकाशित हो रही हैं ।
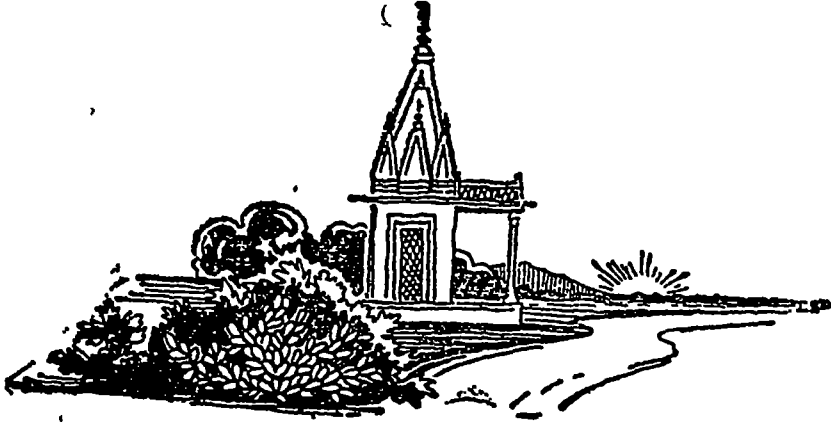
जैन-दर्शन में मन की स्थिति

एस० सी० घोषाल, एम० ए०, बी० एल०

प्रस्ताविक—

इस लघु लेख की भूमिका में जैन-दार्शनिको की दृष्टि मे मन के इन्द्रिय होने, न होने की सभावनाओ पर विचार करना है। हिन्दू दर्शनो से इसका कहाँ तक तुलनात्मक सम्बन्ध है, इसका विवेचन करना भी अप्रासगिक न होगा।

वैदिक साहित्य और मन—

वैदिक साहित्य में वर्णित प्रारम्भिक प्रसगो में मन को इन्द्रिय के रूप में ग्रहण नही किया गया था। अथर्ववेद (काण्ड २१, अनुवादक १ ६ ५) में हम पाते हैं कि—

"इमानि यानि पचेन्द्रियाणि मन षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा सश्लिष्टानि" अर्थात् "ये पाच इन्द्रिय मन के साथ छ होकर ब्रह्म के द्वारा मेरे हृदय में उडेली गयी हैं।"

यहाँ पर सिर्फ पाँच ही इन्द्रियो के होने का उल्लेख है। जब मन का इनसे योग होता है यह छ हो जाती हैं।

उत्तर (बाद के) दार्शनिको ने मन को इन्द्रिय मे प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा में तर्कपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा कि "मन के साथ छ" होने का अर्थ मन का इन्द्रिय होना ही है। लेकिन मीमासा-दर्शन में वेदो के अनुवाद की प्रणाली का सविस्तर आख्यान मिलता है। उसमें यह सापेक्ष वर्णित है कि हम वेदो में "यजमान पचमा इडा भक्षयन्ति" का आदेश पाते हैं अर्थात् "पाँचो यज्ञभाव सहित इडा (बुद्धि) का भक्षण करती हैं।" यहाँ पर चार, चार प्रकार के ऋत्विक् पुजारी हैं और पाचवाँ यजमान है। अत यह कभी नही कहा जा सकता कि "यजमान के साथ मिलकर पाच" में यजमान भी एक ऋत्विक् (वेद करानें वाला) है। यजमान हमेशा पुजारी से भिन्न है। कल्पना की किसी भी सीमा में वह पुजारियो की कोटि में समाविष्ट नही किया जा सकता।

इस शृखला में एक अन्य उदाहरण उद्धृत किया जाता है—"वेदानध्यापयामान महाभारत-पचमान्" अर्थात् "उसने महाभारत के साथ मिलाकर पाँच वेद सिखलाया।" यह विदित है कि महा-

भारत वेद नहीं है अत "महाभारत के साथ मिलाकर पाँच" कथनमात्र से महाभारत को कभी वेद नही कहा जा सकता ।

अत उपर्युक्त तर्क द्वारा "मन के साथ पाँच इन्द्रियाँ छ हुई" से मन को कभी इन्द्रिय नही समझना चाहिये ।

धर्मराजध्वरिन्द्र-लिखित वेदान्त परिभाषा में एक वर्णन है कि "न तावदन्त करणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति" अर्थात् "कोई प्रमाण नहीं है कि मन (अन्त करण) इन्द्रिय है ।" "यजमान-पचम" और "महाभारत-पचम" के वर्णन के उपयुक्त उदाहरण उद्धृत किये जाते है और लेखक "मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति", गीता १५ (७) उद्धृत करने के वाद लिखता है—मन के साथ छ होने में कोई विरोध नही खडा होता, यद्यपि मन को इन्द्रिय के अग के रूप में नही समझा जाय । इन्द्रिय के अगो मे केवल इसी प्रकार के एक अग के लिए सख्याओ की पूर्णता को रोकने का कोई दृढ आदेश नही है ।" इसको स्वीकार करने के लिए कथा-उपनिषद् से एक उद्धरण रखा जाता है—

"इन्द्रियेभ्य परोह्यर्थ अर्थेभ्यश्च पर मन ।" अर्थात् "कर्म इन्द्रियो के अगो के परे है, मन इन्द्रिय के परे है ।"

वास्तव में यह वडा मनोरजक प्रसंग है कि अन्त करण को मन मानकर वेदान्त परिभाषा का लेखक दूसरे रूप में मन को इन्द्रिय के रूप में मान लेता है । कर्म का अर्थ है इन्द्रिय और जव स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रवण इन्द्रियाँ वहिरिन्द्रियाँ कही जाती है तव मन को अन्तरिन्द्रिय कहा गया है ।

वेद मे हमलोग यह भी पाते है—"एतस्माद् जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च ।" अर्थात् "ईश्वर से प्राण, मन और सभी इन्द्रियो की उत्पत्ति हुई है ।" वेदो में प्राणो की या के वारे में पर्याप्त विचार-धाराएँ है । लेकिन इससे यह पता लगता है कि मन का सभी इन्द्रियो से भिन्न होने का ही उल्लेख है ।

वेदान्त-सूत्र और मन—

शकराचार्य ने वेदान्त-सूत्र (सूत्र २ ४ ६–१७) नाम के अपने भाष्य में प्राण और मन के वारे में विभिन्न श्रुतियो की विचार-धाराओ की व्याख्या की है । उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राणो की सख्या ग्यारह है, इन्द्रियाँ दस हैं और एक अन्त करण (जिसको आत्मा कहा गया है) है ।

"दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश आत्मशब्देनात्रान्त-करण परिगृह्यते ।" वेदान्त-सूत्र (२ ४ १७) पर अपने भाष्य में वे कहते है कि यद्यपि मन को इन्द्रियो से भिन्न उल्लेख किया जाता है पर स्मृतियों के आदेश से इसको इन्द्रिय ही मानना चाहिये ।

(स्मृतौत्वेकादशेन्द्रियाणीति मनसोऽपीन्द्रियत्वम् श्रोत्रादिवत् सगृह्यते)"

मनुसहिता (२ ८९–९२) से लिये गये निम्नलिखित उद्धरण से स्मृतियो का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा—

"प्राचीन मुनियो द्वारा उललिखित ग्यारह इन्द्रियो का मै क्रम से वर्णन करूँगा। पाँच तो कर्णेन्द्रिय (श्रवण), स्पर्श, दृष्टि, स्वाद और गध है। ये हो पायु, उपस्थ, हाथ, पैर और आवाज को लेकर दस वनती है। पाँच कर्णेन्द्रिय आदि ज्ञानेन्द्रिय कही जाती है और पाँच पायु आदि कर्मेन्द्रिय। ग्यारहवाँ मन है जो अपने गुण के कारण दोनो प्रकार है।"

गीता और मन—

गीता मे मन को इन्द्रिय के रूप मे स्वीकार किया गया है। जैसा कि (१०–२२) मे वर्णित है "मै इन्द्रियो के बीच मन हूँ" जिसका अर्थ हुआ कि इन्द्रियो मे सबसे अच्छा। जैसे—

"वेदाना सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासव।
इन्द्रियाणा मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।

सांख्य-सूत्र ौर मन—

साख्य सूत्र २–२६ में हमलोग पाते है—"उभयात्मकमत्र मन" अर्थात् "मन दोनो प्रकार का है" (ज्ञानेन्द्रिय उसी तरह कर्मेन्द्रिय)। साख्य-कारिका २७ मे हम यही विचार देखते हैं।

गौतम-दर्शन में मन की स्थिति—

गौतम ने अपने न्याय मे इन्द्रियो की गणना करते हुए पाँच इन्द्रियो त्वक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ को छोड दिया है और केवल पाच इन्द्रियो अर्थात् स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रवण पर ही विचार किया है। हिन्दू न्याय दर्शन में मन को इन्द्रिय माना गया है, पर उपर्युक्त उल्लिखित ढग से इसको पाँच इन्द्रियो से भिन्न बताया गया है। यह वर्णित है कि वास्तविक इन्द्रियाँ स्पर्श, स्वाद आदि अपने निश्चित कर्मों में स्थिर है। उदाहरण के लिये घ्राणेन्द्रिय केवल गध का ही ज्ञान प्राप्त कर सकती है, स्वाद और दृष्टि का नही। पर मन अपनी सभी अवस्थाओ और गुणो में प्रत्येक कर्मों मे अपने को लगा सकता है। मन में अन्य इन्द्रियो के सदृश केवल एक ही विशेष गुण नही है। वात्स्यायन न्याय-सूत्र ११–८ के अपने भाष्य मे इसको इस तरह उद्धृत करते है—

"भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणाना चैषामिन्द्रियभाव इति। मनस्तु अभौतिक सर्व-विषयञ्च, नास्य स्वगुणस्येन्द्रियभाव इति। सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिञ्चास्य युगपज्ज्ञाना-नुत्पत्तिकारण वक्ष्याम इति। मनश्चेन्द्रियभावान्न वाच्य लक्षणान्तरमिति तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति।"

उद्योतकर भी अपने न्यायवार्तिक में इसी विचार का प्रतिपादन करते है—

"मन सर्वविषय स्मृतिकारणसयोगाधारत्वात् आत्मवत् सुखग्राहकसयोगाधिरणत्वात् समस्ते-न्द्रियाधिष्ठातृत्वात् ।"

जैन-दर्शन और मन—

अब हमलोग देखें कि जैन-दर्शन का इस सम्बन्ध में क्या विचार है। हिन्दू न्याय की तरह जैन-तर्क भी विश्वास करता है कि इन्द्रियाँ पाँच हैं (द्रव्य और भाव के अनुसार विभाजित)

हेमचन्द्र की प्रमाण-मीमासा मे हम पाते हैं कि—

"स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसघ्राणचक्षु श्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि।"

जैन-तर्क मे मन को अनिन्द्रिय या इन्द्रिय-नही कहा गया है इससे यह नही अनुमान लगाना चाहिये कि मन इन्द्रिय नही है। हेमचन्द्र कहते हैं कि मन सभी कर्म करता है—

सर्वार्थग्रहण मन (प्रमाण-मीमासा १ १ २५) अर्थात् यह सिर्फ स्पर्श का ही कर्म नही करता, जैसा कि स्पर्शेन्द्रियाँ करती हैं, वल्कि यह सभी काम करता है जो अन्य इन्द्रियाँ करती हैं। मन को अनिन्द्रिय और इन्द्रिय-नही कहा गया है ("सर्वे न तु स्पर्शनादीना स्पर्शादिवत् प्रतिनियता एवार्था गृह्यन्ते तेनेति सर्वार्थग्रहण मनोऽनिन्द्रियमिति नो इन्द्रियमिति चोच्यते ।")

अकलक देव ने सूत्र १—१४ पर अपने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है—"मन को अनि-न्द्रिय कहा जाता है ।"

(अनिन्द्रिय मनोऽनुदरावत्) भाष्य मे उसकी इस प्रकार व्याख्या की गई है—

"मनोऽन्त करणमनिन्द्रियमित्युच्यते। कथ इन्द्रियप्रतिषेधेन मन उच्यते ? यथाऽनुदरा कन्या इति नास्या उदर न विद्यते, किन्तु गर्भभारोद्वहनसमर्थोदराभावादनुदरा। तयानिन्द्रियमिति नास्येन्द्रियत्वाभाव , किन्तु चक्षुरादिवत् प्रतिनियतदेशविषयावस्थानाभावादनिन्द्रिय मन इत्युच्यते ।

अर्थात् मन को अन्त करण या अनिन्द्रिय कहा जाता है। क्योंकि मन को इन्द्रिय वर्णित किया गया है ?

यह नही सोचना चाहिये कि मन इन्द्रिय नही है। हमलोग उस स्त्री को जिसमे गर्भ-धारण की शक्ति नहीं होती, कहते हैं कि यह "विना पेट की औरत है।" इसका यह अर्थ नही कि वास्तव में उसको बिलकुल पेट नाम की चीज ही नहीं, बल्कि वह गर्भ धारण करनेमे असमर्थ है। अत 'अनिन्द्रिय' शब्द के व्यवहार से यह नहीं समझा जाय कि मन इन्द्रिय नहीं है। बल्कि मन को किसी विशेष कर्म को सम्पन्न करने की प्रवृत्ति नहीं है जैसा कि आंख केवल देख सकती है। उस प्रकार मन की प्रवृत्ति नहीं होती, अत उसे अनिन्द्रिय कहा जाता है।

मन और अन्य इन्द्रियो की विभिन्नता इस रूप मे निरुपित की जाती है । चक्षुरिन्द्रिय आदि इन्द्रियो की अवस्था कर्मों के सम्पर्क में आकर प्रभाव ग्रहण करती हैं । लेकिन मन इस तरह वस्तुओं के निकट सम्पर्क मे आकर प्रभाव ग्रहण नही करता ।

अत. जैन तर्क का दृष्टिकोण हिन्दू दर्शन के समान ही मन के इन्द्रिय होने की सभावना के निरूपण में है । यद्यपि जैन-तर्क मन को इन्द्रिय रूप मे स्वीकार करता है, पर इसकी सज्ञा इन्द्रिय-नही या ईषत्-इन्द्रिय (लघु इन्द्रिय) देता है । क्योकि यह अन्य इन्द्रियो की तरह आँख को ग्राह्य नही है । जैन-मत के अनुसार इसका सचालन समुन्नत आत्मा के स्वरूप से होता है जिसमें मन पर्याय अर्थात् दूसरो के विचारो का ज्ञान है ।

हिन्दू शास्त्रो में वर्णित प्राचीन मत वैदिक साहित्य मे उपलब्ध होते हैं जिसमें मन को इन्द्रिय नही माना गया है । स्मृतियाँ या मन का निरूपण करने वाली अन्य दार्शनिक प्रणालियाँ मन को इन्द्रिय रूप में ही ग्रहण करती हैं । वैदिक साहित्य मे इन्द्रियो की सख्या पाँच है, स्मृति और साख्य दर्शन मे ग्यारह है (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन) । हिन्दू न्याय दर्शन मे सिर्फ पाँच ज्ञानेन्द्रियो और एक मन को ही इन्द्रिय के रूप मे स्वीकार किया गया है ।

जैन तार्किको का दृष्टिकोण हिन्दू न्याय दर्शन द्वारा वर्णित दृष्टिकोण के ही सदृश है । वे मन को इन्द्रिय के रूप में मानते हैं, पर उसका अन्य इन्द्रियो से अन्तर स्पष्ट करते समय इसको अपने विशेष, अनुपम गुण के फलस्वरूप अनिन्द्रिय या इन्द्रिय-नही की सज्ञा देते हैं । मन मे सभी वस्तुओ, कर्मों को ग्रहण करने की क्षमता है—जबकि अन्य इन्द्रियाँ इस क्षेत्र में किसी विशेष कार्य का ही सपादन करती हैं अत निरपेक्ष हैं ।

पदार्थ के सूक्ष्मतथ्य का विवेचक—नयवाद

श्री अजितकुमार शास्त्री, देहली

प्रस्ताविक—

मानव-जीवन को सुखी और स्व-पर-हितकारी बनाने के लिए अनेक दर्शनो का प्रणयन हुआ है। उन दर्शनो का कलेवर दो भागो से सम्पन्न है—१–सिद्धान्त, २–आचरण।

विश्व में बहुत-से दर्शन भूतकाल में प्रकाश में आये और भूत में ही विलीन भी हो गये, जिन दर्शनो का अस्तित्व इस समय भी है, उन सब में भी इन दोनो का समावेश पाया जाता है।

जैन-दर्शन की उत्पत्ति और उसकी आचार-मीमांसा—

भारतीय दर्शनो में अनेक दृष्टिकोणो से जैन-दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है। जैन-दर्शन का उदय भगवान् ऋषभदेव से हुआ जो कि सबसे प्रथम धर्म-उपदेष्टा माने गये है, इसी कारण उनका नाम 'आदिब्रह्मा आदिनाथ या अग्रजिन' भी प्रसिद्ध है।

जैन-दर्शन में आचरण की दृष्टि से जो सूक्ष्म विवेचन है वह न केवल बहुत सुन्दर है अपितु अनुपम भी है। आत्मा ससार चक्र में पड़कर किन क्रियाओ से अपना पतन करता है और किन क्रियाओ के आचरण से उसका उत्थान होता है? धार्मिक आचरण का मूल अहिंसा क्या है तथा पापाचरण की नीव हिंसा का वास्तविक रूप क्या है? ससार की व्यापक अशान्ति का मूल परिग्रह क्या बला है? और विश्व-शान्ति का अमोघ साधन अपरिग्रह का क्या रूप है? कैसे, कितना, कहाँ। किसमें इसका विकास होता है? इत्यादि जिज्ञासाओ का सन्तोषजनक समाधान जैन-सिद्धान्त देता है।

अनन्त शक्तियो का पुञ्ज यह आत्मा दीन-हीन सासारिक योनियो में आवागमन क्यो करती है और पूर्ण शुद्धि पाकर यह परमात्मा कैसे बन जाती है? इन प्रश्नो का उत्तर जैन-सिद्धान्त ने बहुत स्पष्ट दिया है। कर्म-सिद्धान्त का श्रेणीबद्ध विवेचन जैन-सिद्धान्त के सिवाय अन्यत्र कही न मिलेगा। साधारण आत्मा किन-किन आचरणो से पूर्ण शुद्ध-बुद्ध होकर परमात्म-पद प्राप्त करती है? इस विकास का क्रमबद्ध विवरण जैन-सिद्धान्त ही सदा से बतलाता आ रहा है।

जैन-दर्शन का पदार्थ-विज्ञान—

जिस तरह जैन-दर्शन में आचरण-प्रक्रिया का विशद विवेचन है उसी प्रकार जैन-दर्शन में पदार्थ-विज्ञान का सिद्धान्त भी विश्व के समस्त दर्शनो में अद्वितीय स्थान रखता है। यह जगत् क्या है?

कब कहाँ इसका आदि है और कहाँ इसका अन्त है, या नही है ? इसकी उत्पत्ति, स्थिति, विनाश का क्या सत्य रूप है ? जड पदार्थ कौन से, कितने है ? पुद्गल, परमाणु, स्कन्ध, शब्द किस तरह बनते-विगडते है ? आकाश, काल आदि क्या कुछ है ? चेतन पदार्थ क्या है, तथा पदार्थों के सही जानने की और उनके यथार्थ विवेचन की निर्विवाद प्रक्रिया क्या है ? इत्यादि जटिल गुत्थियो को भी जैन-दर्शन ने अच्छी तरह सुलझा कर दार्शनिक ससार के समक्ष जो यथार्थ अनुभव रखा है, यदि जिज्ञासु विद्वान् उसे अवगत कर ले तो दर्शनो की ऊवड-खावड भूमि सुन्दर समतल वन कर ज्ञान की क्रीडा-स्थली बन सकती है। किन्तु खेद, विश्व समस्याओ के सुन्दर समाधान रूप जैन-दर्शन को विश्व अभी तक नही समझ पाया !

पदार्थों के विज्ञान पर यदि विचार करे तो वह दो प्रकार का है—१-स्वय जाननेरूप, २-दूसरो को प्रतिपादन करने रूप । जानना मन तथा त्वचा, रसना, नासिका, नेत्र एव कानो द्वारा होता है और प्रतिपादन (कहना, जताना) केवल रसना इन्द्रिय द्वारा । हमारी रसना (जीभ) दो कार्य करती है —१-भोज्य पदार्थ का रस-ज्ञान कराती है और २—किसी भी इन्द्रिय या मन द्वारा जानी हुई बात दूसरो को कह डालती है ।

जानने और कहने में महान् अन्तर है । एक क्षण में जितना ज्ञान लिया जाता है उस एक क्षण की जानी हुई वात को कोई भी व्यक्ति न तो उतनी देर में (एक क्षण में) कह सकता है, और न अधिक समय में भी उस जानी हुई पूरी वात को कह सकता है । हमने एक घण्टे तक एक मेला देखा, उस मेले में कुछ मनोरञ्जन के दृश्य थे, कुछ ज्ञान-सचय (भाषण आदि) के दृश्य थे, पुरुष-स्त्रियो की भीड की रेल-पेल थी, दूकानो की चहल-पहल थी और हजारो परिचित-अपरिचित व्यक्तियो से मिलने, वार्तालाप करने, देखने का सयोग था । अब यदि हम उस मेले के एक घटे के देखे हुए विवरण को कहना चाहें तो कई दिनो में भी न तो कह सकते हैं और न सारी वातो को—सारी चेष्टाओ को कह ही सकते हैं । दूर की वात जाने दीजिए, आप एक सेव को खाकर यदि उसका यथार्थ अनुभूत स्वाद वतलाना चाहें तो हजारो यत्न करने पर भी उसे नही वतला सकते । अनन्तवली सर्वज्ञ तीर्थंकर स्वय जितना जानते हैं उसके अनन्तवें भाग वे अपनी वाणी द्वारा जनता को बतला पाते हैं ।

जानी हुई वात को पूरी तरह न कह सकने के भी दो विशेष कारण है—१-जितने ज्ञान-अश हैं उनके वाचक उतने शब्द नही हैं, इस कारण बहुत-सी जानी हुई बातें कही नही जा सकती। तदनुसार जब कि सेव के अनुभूत यथार्थ रस-आस्वाद के प्रतिपादक शब्द है ही नही, तब भला वह कहा भी कैसे जावे ? २-एक समय में ज्ञान जितना जान लेता है, रसना (जिह्वा) में इतनी शक्ति नही कि वह उतने ज्ञान-अश को एक ही समय में कह सके । सडक पर दौडते हुए हमने अनेक वाहन (मोटर, ताँगा, बैलगाडी, साइकिल आदि) एक सेकड में एकदम देख लिये, किन्तु उस देखने को जब हम किसी के सामने कहेंगे तो एक-एक वाहन को क्रम से (सिलसिलेवार) कहते जायेंगे, इस तरह उस एक सैकड के ज्ञान को अनेक मिनटो में कह पावेंगे फिर भी देखी हुई बहुत-सी चीजें (मनुष्य, पशु, मकान, सड़क, दुकान, पेड़, पक्षी आदि) कहने से छूट जायेंगी ।

साराश यह है कि ज्ञान का वचन द्वारा प्रतिपादन सिलसिलेवार (क्रमश) होता है और अधूरा होता है।

जानने-रूप-ज्ञान के भेद और नय—

जानने रूप ज्ञान के दो भेद है—१-सर्वांश-ग्राही, २-अश-ग्राही। जो पदार्थ के समग्र अंशो को परिवर्तनीय (पर्याय) तथा अपरिवर्तनीय (द्रव्य) जानता है, वह सर्वांश-ग्राही ज्ञान है। जो पदार्थ के किसी एक परिवर्तनशील—पर्याय, अथवा अपरिवर्तनशील–द्रव्य अश को जानता है वह अश-ग्राही ज्ञान है, जैन-दर्शन में इस अश-ग्राही ज्ञान का नाम नय रखा गया है।

पदार्थ का जितना भी आशिक ज्ञान है, वह सब नय कहा जाता है। यदि कोई व्यक्ति नय को ही ज्ञान या प्रमाण (सर्व-अश-ग्राही बोध) मान बैठे तो वह एक विवाद का अथवा असत्य जानने का कारण बन जाता है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय—

आत्मा का द्रव्य रूप से विचार किया जावे तो वह अजर-अमर अविनाशी है—जल, अग्नि, वायु, शस्त्र आदि कोई भी पदार्थ उसको नही नष्ट कर सकता। उसके ज्ञान दर्शन आदि गुण सदा उसके साथ रहते हैं, बचपन का ज्ञान न केवल बुढापे तक रहता है बल्कि अन्य जन्म तक बना रहता है। आत्मा में ऊपर से शरीर भले ही बदल जावे किन्तु आत्मा में कुछ तब्दीली नही आती—कुछ परिवर्तन नही आता। ऐसा जानना द्रव्य-विषयक (द्रव्यार्थिक) नय है।

यदि आत्मा को मनुष्य आदि किसी योनि-विशेष की अपेक्षा विचारा जाय तो ऐसा जानना भी ठीक है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीर (पर्याय) धारी आत्मा जन्म-मरणशील है—यानी मनुष्यादि के रूप में आत्मा किसी दिन पैदा होता है, तो वही आत्मा एक दिन मर जाता है, तदनन्तर अन्य योनि में जन्म लेता है और वहाँ भी सदा जीवित नही रहता, किसी न किसी दिन अपना जीवन समाप्त करके मर जाता है। ऐसा जानना पर्याय-विषयक (पर्यायार्थिक) नय है।

दर्शनकारो में से कुछ दर्शनकार द्रव्यार्थिक नय को ही पूर्ण ज्ञान का रूप देकर आत्मा को सर्वथा नित्य मान बैठे है और कुछ दर्शनकार केवल पर्यायार्थिक नय को प्रमाण मानकर आत्मा को क्षणिक या अनित्य ही मान बैठे हैं।

वास्तविक निर्णय किया जाय तो आत्मा एक दृष्टि से अविनश्वर—अमर है और अन्य दृष्टि से नश्वर—जन्म-मरणशील भी है।

ऐक्सरे से यदि शरीर के भीतर की हड्डियो का फोटो आता है तो इसका यह अर्थ नही कि शरीर में खून, मास, चर्म, नसें आदि अन्य चीजें है ही नही। अथवा यदि अन्य केमरे से शरीर का ऊपरी ही चित्र आता है तो इसका यह अर्थ नही कि शरीर के भीतर रक्त, मास, हड्डी आदि चीजें नही पाई

जाती। इसी तरह जिस (द्रव्यार्थिक) केमरे ने आत्मा का अपरिवर्तनशील फोटो लिया है उस केमरे की दृष्टि से आत्मा अजर-अमर अविनाशी है और जिस (पर्यायार्थिक) केमरे ने आत्मा का परिवर्तनशील फोटो लिया है उस फोटो में आत्मा जन्म-मरणशील विनश्वर दिखाई पडता है। इस तरह आत्मा अविनश्वर भी है और आत्मा विनश्वर भी।

एक मेले के चित्र भिन्न-भिन्न स्थानो से और भिन्न-भिन्न दिशाओ से लिये जावें, तो उन सबमें सारे मेले का अक्स तो आवेगा, परन्तु भिन्न-भिन्न रूप से आवेगा। अत वे परस्पर भिन्न होते हुए भी अपने-अपने रूप से ठीक हैं।

अनामिका (चौथी) अगुली कनिष्ठा (पाचवी) अगुली की अपेक्षा बडी है, किन्तु वही अनामिका अगुली मध्यमा (तीसरी बीच की) अगुली से छोटी भी है। इस तरह अनामिका छोटी भी है और बडी भी है। प० श्री जवाहरलाल नेहरू स्व० प० मोतीलालजी नेहरू की दृष्टि से पुत्र हैं किन्तु इन्दिरा गान्धी की अपेक्षा पिता हैं और राजीव सजीव की दृष्टि से नाना भी हैं।

नयवाद और 'भी' का प्रयोग—

इस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणो से पदार्थों को भिन्न-भिन्न अश रूप से जानना ही नय है। इस नय रूप में अन्य दृष्टिकोणो की सभावना जतलाने के लिए 'भी' शब्द का प्रयोग होना चाहिये—नेहरूजी पुत्र भी हैं, पिता भी हैं और नाना, भाई आदि भी हैं। यदि नय में 'ही' का प्रयोग किया जाय तो उस पदार्थ के अन्य सम्भावित सही दृष्टिकोणो का निषेध हो जाता है, उस दशा में वही नय एकान्त हठ का रूप लेकर असत्य ज्ञान का द्योतक सिद्ध हो जाता है। नेहरूजी पिता ही हैं—इसका अर्थ हुआ कि वे श्री मोतीलालजी की अपेक्षा पुत्र, किन्तु श्रीमती विजयालक्ष्मी की अपेक्षा भाई न माने जा सकेंगे, जो कि सरासर गलत होगा।

इस तरह नयवाद यदि परस्पर अन्य दृष्टिकोणो की अपेक्षा लेकर 'भी' के रूप में प्रयुक्त होता है तो वह सत्य ज्ञानाश होता है और ससार के सभी विवाद शान्त कर सकता है, क्योकि विवाद (झगडे) तभी होते हैं जबकि मनुष्य अन्य व्यक्ति के दृष्टिकोण (Point of view) को गलत मान बैठते हैं। नयवाद यदि अन्य दृष्टिकोणो की उपेक्षा करके 'ही' (ऐसा ही है) के रूप में प्रयोग किया जाय तो वही विवाद का मूल बन जाता है और असत्य जानकारी का रूप धारण कर लेता है।

स्यद्वाद और नयवाद—

वचन ज्ञान का अपूर्ण रूप होता है जैसा कि पूर्व मे बताया गया है, अत जितना भी वचन प्रयोग है सब नय रूप है। नयवाद को बोलते समय 'स्यात्' (किसी दृष्टिकोण की अपेक्षा) शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' शब्द लगाने से यह सिद्ध हो जाता है कि हमने जिस दृष्टिकोण से पदार्थ जाना है वह आशिक है—अधूरा है, अन्य दृष्टिकोणो की अपेक्षा उसका सही अन्य रूप भी है। यो परस्पर अपेक्षा रखकर वचन का प्रयोग करना ही 'स्याद्वाद' है। जैसे—

१—स्यात् प० जवाहरलाल नेहरू पिता हैं (अपनी पुत्री इन्दिरा की अपेक्षा से)।

२—स्यात् पडित नेहरू जी पिता नही है (अपने पिता, बहिन, धेवते आदि की अपेक्षा से)।

३. स्यात् पडित नेहरू जी पिता भी है तथा पुत्र, भाई, नाना भी हैं।

४ स्यात् पडित नेहरू अवक्तव्य (न कहे जा सकने योग्य) हैं, क्योंकि कोई भी ऐसा शब्द नहीं जो एक ही साथ उनके पिता, पुत्र, भाई, नाना आदि सभी सम्बन्धो को कह सके।

५ स्यात् प० नेहरू अवक्तव्य (एक ही शब्द द्वारा उनके सभी रिश्ते नही कहे जा सकते अत अनिर्वचनीय) होते हुए भी अपनी पुत्री की अपेक्षा पिता हैं।

६—स्यात् प० नेहरू अवक्तव्य होते हुए भी अपने पिता, बहिन आदि की अपेक्षा पिता नही हैं।

७—स्यात् पण्डित नेहरू अवक्तव्य होते हुए भी, पिता हैं भी और पिता नही भी हैं।

इस तरह किसी एक दृष्टिकोण के सूचक 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करके नयवाद सात प्रकार की धाराओ से एक ही पदार्थ के विषय में कहा जा सकता है, इन सात धाराओ का ही दूसरा नाम सप्तभंगी है।

प्रत्येक पदार्थ में अस्ति (है), नास्ति (नही है) आदि अनेक धर्म (अन्त) भिन्न-भिन्न अपेक्षा से पाये जाते हैं, अत प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त (अनेक धर्म) रूप है।

अनेकान्त रूप पदार्थ का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से जानना नयवाद है और उसको सही रूप से वचन द्वारा प्रकट करना 'स्याद्वाद' है, उस स्याद्वाद की समस्त (सातो) सम्भावित वचन-धाराएँ 'सप्तभंगी' है।

इसी नय के नैगम, सग्रह आदि तथा सद्भूत, असद्भूत व्यवहार निश्चय आदि और भी अनेक भेद हैं।

नयवाद का विशेष विवरण बहुत विस्तृत है, सक्षिप्त रूप इतना ही है। यदि दार्शनिक विद्वान् इस नयवाद को अवगत कर लें तो पदार्थ-निर्णय में वे बहुत सफल हो सकते हैं।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् श्री आइन्स्टाइन ने अपना सबसे आधुनिक आविष्कार यही नयवाद–स्याद्वाद या अपेक्षावाद (रैलेटिविटी) के रूप में ससार के सामने रखा है, किन्तु जैन-सिद्धान्त इस आविष्कार को हजारो वर्ष पहले ससार के समक्ष रख चुका है।
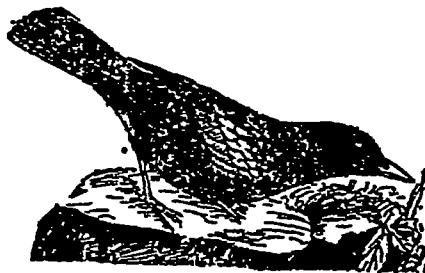
जैन-दर्शन में पुद्गल-द्रव्य और परमाणु-सिद्धान्त

श्री दुलीचन्द्र जैन, एम-एस-सी०, एम० डी०

जगत के रहस्य और दर्शन—

प्रागैतिहासिक काल से ही जगत् मनुष्य के समक्ष एक पहेली बना हुआ है। जगत् के सर्वश्रेष्ठ और विचारशील प्राणी—मनुष्य ने सूर्य और चन्द्र की प्रथम किरणो का दर्शन आतक, आश्चर्य और रहस्य के ही रूप में किया होगा, और इसीलिए वेदो में ऋषि-मुनि प्रकृति के सुन्दर अगो—चन्द्र, सूर्य, वरुण, विद्युत् आदि की स्तुति करते हुए मिलते हैं। आगे चलकर मनुष्य के मस्तिष्क में जगत्-स्रष्टा की कल्पना प्रस्फुटित हुई और यह जिज्ञासा भी हुई होगी कि यह जगत् किन तत्त्वो से निर्मित है। भारतीय दर्शनकारो के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चभूतो के सिद्धान्त, यूनानी दार्शनिको का मिट्टी जल, अग्नि, और वायु इन तत्त्वो का सिद्धान्त, जैन-दार्शनिको का जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ द्रव्यो (Fundamental realities of Universe) का सिद्धान्त, इत्यादि उपर्युक्त प्रश्न के ही उत्तर हैं। प्रकृति (Matter) की आन्तरिक रचना के विषय में भी उन दार्शनिको ने विचार किया और कणाद व डैमोक्रिटस आदि कतिपय विचारको ने प्रकृति (Matter) के परमाणु-सिद्धान्त (Atomic Theory) को भी प्रस्तुत किया। जैन-दार्शनिको ने भी इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया है। हैम्वर्ग विश्वविद्यालय (जर्मनी) के डा० शुब्रिङ्ग (Schubring) ने एक भाषण में कहा था कि जैन-विचारको ने जिन तर्कसम्मत और सुसम्बद्ध सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया वे आधुनिक विज्ञानवेत्ताओ की दृष्टि में भी अमूल्य एव महत्त्वपूर्ण हैं। विश्व-रचना के सिद्धान्त के साथ ही साथ उच्चकोटि के गणित और गणितज्योतिष भी मिलते हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति का उल्लेख किये बिना भारतीय ज्योतिष का इतिहास अधूरा रहेगा।१

जैन विचारको के इन सिद्धान्तो का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ जाता है कि वे आज से सहस्रो वर्ष पूर्व अन्वेषित हुए थे। आधुनिक विद्वान् परमाणुवाद के सिद्धान्त का उद्गम कणाद और

---

1 'He who has a thorough knowledge of the structure of the world can not but admire the inward logic and harmony of gain ideas Hand in hand with the refined cosmographical ideas goes a high standard of astronomy and mathematics A history of Indian astronomy is not conceivable without the famous Surya Pragyapti

यूनानी दार्शनिको से मानते हैं, किन्तु यदि पाश्चात्य विद्वानो को जैन-दर्शन-साहित्य के अध्ययन का अवसर मिलता तो परमाणु सिद्धान्त का उद्गम भगवान् पार्श्वनाथ से माना जाता जो कणाद से भी बहुत दिन पहले हुए थे ।

(आधुनिक इतिहास वेत्ताओ ने भ० पार्श्वनाथ (८४२ ई० पू०) को प्रथम ऐतिहासिक पुरुष और जैनधर्म का प्रचारक स्वीकार किया है ।)†

जैन-सिद्धान्त और द्रव्य—

जैन-सिद्धान्त विश्व को छ द्रव्यो से निर्मित मानता है, १ जीव (soul), २ पुद्गल (Matter & Energy), ३ धर्म (Medium of motion for souls and matter), ४ अधर्म (Medium of rest), ५ आकाश (space) और ६ काल (time)[१]। ये छ द्रव्य विश्व के मूलतत्त्व (Fundamental realities) हैं । यह अविनाश्य है, ध्रुव है, नित्य है । इनका कभी विनाश सभव नही जैसा कि द्रव्य की परिभाषा में अतर्निहित है—द्रव्य का लक्षण सत् है । सत् उसे कहते हैं जिसमें पर्यायो की दृष्टि से उत्पाद और व्यय होते हो और गुणो की दृष्टि से जो ध्रौव्य सहित हो ।[१] वस्तु के एक पर्याय (modification) का नाश होना व्यय है और नवीन पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद है, किन्तु पर्याय बदलते हुए भी वस्तु के वस्तुत्व, अस्तित्व आदि गुणो का अचल रहना ध्रौव्य है । जैसे लकडी जलकर राख हो जाती है । इसमें लकड़ी रूप पर्याय का व्यय होता है और क्षाररूप पर्याय का उत्पाद होता है, किन्तु दोनो अवस्थाओ में वस्तु का अस्तित्व अचल रहता है, उसके प्राङ्गारत्व (Carbon) का विनाश नही होता, यह ध्रौव्य गुण है ।

द्रव्यविषयक उपर्युक्त सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए ही जैन-सिद्धान्त में जगत्कर्त्ता की कल्पना को निराधार कहा गया है । द्रव्य अविनाशी हैं, ध्रुव हैं और इसीलिए उनका शून्य में से निर्माण सभव नही, क्योकि अनित्य वस्तुओ की ही उत्पत्ति संभव है ।[२] नित्य (अविनाशी) द्रव्य न तो अपने अस्तित्व को खोकर अभाव रूप ही हो सकता है और न शून्य (अभाव Unreal) में से उत्पन्न ही

† Cosmology Old & New by Prof. G R Jain

१ जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं ।

आचार्य कुन्दकुन्द (पञ्चास्तिकाय)

२. अज्जीव पुण्णेयो पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्त सेसादु ॥

(आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (द्रव्यसंग्रह)

१. सद्द्रव्यलक्षम् —उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।

आचार्य उमास्वाति (तत्वार्थसूत्र, अध्याय ५)

२ (द्रव्याणि) नित्यावस्थितान्यरूपाणि, रूपिण पुद्गलाः ।

आचार्य उमास्वाति (तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५)

हो सकता है। पुद्गल पर जीव अथवा पुद्गल का प्रभाव पडने से उसमें केवल पर्यायो का ही परिवर्तन सम्भव है। जैन-धर्म का यह द्रव्यो की नित्यता का सिद्धान्त विज्ञान का प्रकृति की अविनश्वरता का नियम (Law of Indestructibility of Matter) है। इस नियम को १८ वी शताब्दी के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लैव्हाइजियर (Lavoisier) ने इन शब्दो में प्रस्तुत किया था—कुछ भी निर्मेय नही है और प्रत्येक क्रिया मे अन्त में उतनी ही प्रकृति (Matter) रहती है जितने परिमाण में वह क्रिया के आरम्भ में रहती है। केवल प्रकृति (matter) का रूपान्तर (modification) हो जाता है। †

जगत् और पुद्गल—

जैन दार्शनिको ने पुद्गलो को भी विश्व के उपर्युक्त छ मूल तत्त्वो में परिगणित किया है। इस पुद्गल (Matter and energy) अथवा प्रकृति और ऊर्जा को मूर्त्तिक द्रव्य भी कहा गया है। मूर्त्तिक उसे कहते है जिसका अस्तित्व हमारी इन्द्रियो द्वारा ज्ञात हो सके। विश्व में हम जो कुछ देखते हैं अथवा जो कुछ इन्द्रिय-गम्य (perceptible) है वह सब पुद्गल है। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' में पुद्गल की परिभाषा इस प्रकार की है—पुद्गल उसे कहते है जो रूपी-मूर्त्तिक हो, अर्थात् जिसमें रूपादि पाये जावे।[१] स्पष्ट शब्दो में, स्पर्श, रस, गध और वर्ण ये चार गुण जिसमें पाये जावें उसे पुद्गल कहते है।[२] स्पर्श आठ प्रकार का होता है—१ स्निग्ध, २ रूक्ष, ३ मृदु, ४ कठोर, ५ उष्ण, ६ शीत, ७ लघु (हल्का), ८ गुरु (भारी)। रस ५ प्रकार का होता है—१ मधुर, २ अम्ल, ३ कटु, ४ तिक्त, ५ कषायला। गन्ध दो प्रकार की है—१ सुगध, २ दुर्गंध। वर्ण पाँच प्रकार का माना गया है—१ कृष्ण, २ रक्त, ३ पीत, ४ श्वेत, ५ नील।

इन गुणो के विषय में यह नियम है कि जिस वस्तु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चारो में से एक भी गुण होगा उसमें प्रकट अप्रकट रूप से शेष तीन गुण भी अवश्य ही होगे। यह भी सभव है कि हमारी इन्द्रियो से किसी वस्तु के सभी गुण अथवा उनमें से कुछ गुण लक्षित न हो सकें। जैसे कि उपस्तु किरणें (Infra red rays) जो कि अदृश्य तापकिरणें है, वे हमलोगो की आँखो से लक्षित नही हो सकती, किन्तु उल्लू और बिल्ली की आँखें उन किरणो की सहायता से देख सकती है। कुछ

---

† "Nothing can be created and in every process there is just as much substance (quantity of matter) present before and after the process has taken place There is only a change or modification of matter

—Law of Indestructibility of Matter as defined by Lavoisier

१. रूपिणः पुद्गला', रूपं मूर्त्तिः रूपादिसंस्थानपरिणामः, रूपमेषामस्तीति रूपिण मूर्त्तिमन्त'।

—सर्वार्थसिद्धिः अध्याय ५

२. स्पर्शरसगधवणवन्तः पुद्गलाः।

—आचार्य उमास्वाति (तत्वार्थ सूत्र, अध्याय ५)

ऐसे आचित्रीय पट (photographic plates) आविष्कृत हुए हैं जो इन किरणों से प्रभावित होते हैं जिनके द्वारा अंधकार में भी आचित्र (photographs) लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार अग्नि की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती, किन्तु गन्धग्रहण-प्रक्रिया (Tele-olefaction phenomenon) से स्पष्ट है कि गंध भी पुद्गल का (अग्नि का भी) आवश्यक गुण है। एक गन्धवाहक यन्त्र (Tele-olefactory cell) का भी आविष्कार हुआ है जो गन्ध को लक्षित भी करता है। यह यन्त्र मनुष्य की नासिका की अपेक्षा बहुत सग्रहण (sensitive) होता है और १०० गज दूरस्थ अग्नि को लक्षित करता है। इसकी सहायता से फूलों आदि की गन्ध एक स्थान से ६५ मील दूर दूसरे स्थान को तार द्वारा या बिना तार के ही प्रेषित की जा सकती है। स्वयचालित अग्नि शमक (Automatic fire-control) भी इससे चालित होता है। इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि बहुत से पुद्गलों की गंध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती, किन्तु और अधिक सग्रहण (sensitive) यन्त्रों से वह लक्षित हो सकती है।

पुद्गल की उपर्युक्त परिभाषा के विषय में एक प्रश्न और भी उपस्थित हो सकता है। वह यह कि जैन-सिद्धान्तकारों ने वर्ण को पांच ही प्रकार का क्यों माना जबकि सौर वर्णपट (solar spectrum) में सात वर्ण होते हैं और प्राकृतिक अप्राकृतिक वर्ण(natural & pigmentory colours) बहुत से होते हैं। इसका उत्तर यह है कि वर्ण से उनका तात्पर्य सौर वर्णपट के वर्णों अथवा अन्य वर्णों से नहीं है प्रत्युत पुद्गल के उस मूल गुण (fundamental property) से है जिसका प्रभाव हमारी आंख की पुतली पर लक्षित होता है और हमारे मस्तिष्क में रक्त, पीत, कृष्ण आदि आभास कराता है। अप्टिकल सोसाइटी ऑफ अमेरिका (Optical Society of America) ने वर्ण की निम्नलिखित परिभाषा दी है—वर्ण एक व्यापक शब्द है जो आंख के कृष्ण पटल (Retina) और उससे सबद्ध शिराओं की क्रिया से उद्भूत आभास को सूचित करता है। रक्त, पीत, नील, श्वेत, कृष्ण इसके उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं[१]।

पंचवर्णों का सिद्धान्त

पञ्चवर्णों का सिद्धान्त इस प्रकार समझाया जा सकता है। यदि किसी वस्तु का ताप बढाया जाय तो सर्वप्रथम उसमें से अदृश्य (dark) ताप-किरणें (heat rays) निस्सरित (emitted) होती हैं, उसके अनन्तर वह रक्त वर्ण किरणें छोड़ती है। और अधिक ताप बढाने से वह पीत वर्ण-किरणें छोड़ती है और फिर उसमें से श्वेत वर्ण किरणें निस्सरित होती हैं। यदि उसका ताप और अधिक बढाया जाय तो नीलवर्ण किरणें भी उद्भूत हो सकती हैं। श्री मेघनाद शाह और बी० एन० श्रीवास्तव

---

१ "Colour is the general term for all sensations, arising from the activity of retina and its attached nervous mechanisms It may be examplified by the enumeration of characteristic instances such as red, yellow, blue, black and white.

—प्रो० घासीराम जी द्वारा लिखित Cosmology Old & New से उद्धृत

ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कुछ तारे नील-श्वेत रश्मियाँ छोड़ते है, इससे स्पष्ट है कि उनका तापमान बहुत अधिक है[1]। तात्पर्य यह कि ये पाँच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण है जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानो (temperatures) पर उद्भूत हो सकते है और इसलिए पुद्गल के मूल गुण (fundamental properties) है। वैसे जैन विचारको ने वर्ण के अनन्त भेद माने है। हम सौर वर्णपट के वर्णो मे (spectral colours में) देखते है कि यदि रक्त से लेकर कासनी (violet) तक तरङ्ग-प्रमाणो (wavelengths) की विभिन्न अवस्थितियो (stages) की दृष्टि से विचार किया जाय तो इनके अनन्त होने के कारण वर्ण भी अनन्त प्रकार के सिद्ध होंगे, क्योकि यदि एक प्रकाश-तरङ्ग (light-wave) प्रमाण (length) में दूसरी प्रकाश-तरङ्ग से अनन्तवें भाग (infinitesimal amount) भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरङ्गें दो विसदृश वर्णों को सूचित करती है। इस प्रकार जैन-दार्शनिको की पुद्गल की परिभाषा तर्क व विज्ञान-सम्मत सिद्ध होती है।

जैन-सिद्धान्त सब पुद्गलो को परमाणुओ से निर्मित मानता है। यह परमाणु बहुत सूक्ष्म है, अविभाज्य है। इन्हें पुद्गल के अविभाग प्रतिच्छेद भी कहा जाता है। परमाणु का लक्षण व उसके विशिष्ट गुण (characteristics) इस प्रकार परिगणित किये जा सकते है—[2]

(१) सभी पुद्गलस्कन्ध परमाणुओ से निर्मित है और परमाणु पुद्गल के सूक्ष्मतम अश है।

(२) परमाणु नित्य, अविनाशी और सूक्ष्म है। वह दृष्टि द्वारा लक्षित नही हो सकते।

(३) परमाणु में कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श (स्निग्ध अथवा रूक्ष, शीत अथवा उष्ण) होते है।

(४) परमाणु के अस्तित्व का अनुमान उससे निर्मित पुद्गल स्कन्ध रूप कार्य मे लगाया जा सकता है।

सामान्यत पुद्गल स्कधो में चार स्पर्श होते है। स्निग्ध, रूक्ष में से एक, शीत, उष्ण मे से एक, मृदु, कठोर मे से एक, लघु, गुरु में एक, किन्तु परमाणु के सूक्ष्मतम अश होने के कारण मृदु, कठोर व लघु-गुरु का प्रश्न नही उठता इसलिए उसमें केवल दो स्पर्श माने गये है।

---

१ Some of the stars shine with a bluish-white light which indicates that their temperatures must be very high
—M. N. Saha & B N Shrivastava.

२ कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यो भवेत्परमाणु ।
एकरसगधवर्णो द्विस्पर्श कार्यलिङ्गश्च ॥
—स्वामी अकलंकदेव (तत्वार्थ राजवार्तिक अध्याय ५, सूत्र २५)

परमाणु और स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया—

जैन-सिद्धान्त में परमाणुओ के व स्कन्धो के बन्ध से स्कन्ध बनने के भी निश्चित और सुसम्बद्ध नियम है। वे इस प्रकार है —[1]

(१) पुद्गल स्कन्ध भेद, सघात और भेद-सघात इन तीन प्रक्रियाओ द्वारा उत्पन्न होते हैं। भेद का अर्थ स्कन्धो का विघटन है। इस प्रक्रिया में एक स्कन्ध में से कुछ परमाणु विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्धो से मिल जाते हैं। सघात का अर्थ स्कन्धो का सयोजन (मिलना) है। भेद-सघात का अर्थ इन दोनो प्रक्रियाओ का एक साथ होना है।

(२) अणु की उत्पत्ति केवल भेद-प्रक्रिया से ही हो सकती है।

(३) पुद्गल में स्निग्ध और रूक्ष दो प्रकार के गुण होते हैं। इन गुणो के कारण ही बन्ध होता है। कुछ स्निग्ध गुण वाले परमाणु का दूसरे रूक्ष गुण वाले परमाणु से बन्ध हो सकता है, अथवा स्निग्ध गुण वाले परमाणुओ का भी परस्पर बन्ध सभव है और इसी प्रकार रूक्ष गुण वालो का भी।

(४) केवल एकाक (जघन्य unit) स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण वाले परमाणुओ का बन्ध नही होता अर्थात् जो परमाणु सर्वजघन्य शक्तिस्तर (least energy level) पर होते हैं उनका बन्ध नही होता।

(५) साथ ही जो परमाणु अथवा स्कन्ध समशक्ति-स्तर (equal energy level) पर होते हैं अर्थात् जिनमें स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणो की सख्या समान होती है उनका बन्ध नही होता।

(६) केवल उन्ही परमाणुओ का बन्ध होता है जिनमें स्निग्ध और रूक्ष गुणो की सख्या में दो एकाको (absolute units) का अन्तर होता है। जैसे ४ स्निग्ध गुणयुक्त परमाणु अथवा स्कन्ध का ६ स्निग्ध गुणयुक्त परमाणु व स्कन्ध से बन्ध सभव है, अथवा छ रूक्ष गुणयुक्त परमाणु से बन्ध सभव है।

(७) बन्ध की प्रक्रिया में सघात से उत्पन्न स्कन्ध में स्निग्ध अथवा रूक्ष में से जो भी गुण अधिक सख्या में होते हैं, नवीन स्कन्ध उसी गुण रूप होता है। जैसे एक स्कन्ध १५ स्निग्ध गुण-युक्त स्कन्ध और १३ रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से बना तो नवीन स्कन्ध स्निग्ध-रूप होगा। आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि यदि किसी अणु (atom) में से एक विद्युदणु (Electron ऋणाणु) निकाल लिया जाय तो वह विद्युतप्रभृत (positively charged) और यदि एक विद्युदणु जोड दिया जाय तो वह विद्युतप्रभृत (negatively charged) हो जाता है।

---

१. भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते। भेदादणुः। स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः, न जघन्य गुणानाम्, गुणसाम्ये सदृशानाम्, द्व्यधिकादिगुणानां तु, बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च।

—आचार्य उमास्वाति (तत्वार्थ सूत्र, अध्याय ५)

यह नियम प्रयोग सिद्ध सत्य है अथवा नही यह नही कहा जा सकता, किन्तु यह बहुत महत्व-पूर्ण बात है कि जैन विचारको का ध्यान इस प्रकार के सूक्ष्म अणुओ के बन्ध-सम्बन्धी नियमो को प्रस्तुत करने की ओर आकृष्ट हुआ ।

पुद्गल का वर्गीकरण

जैनाचार्यों ने पुद्गल का वर्गीकरण भी बडी वैज्ञानिकता से किया है । उन्होने सामान्यत पुद्गल को दो वर्गों में विभक्त किया है—(१) अणु और (२) स्कन्ध ।[1] अणु अथवा परमाणु की परिभाषा लिखी जा चुकी है । स्कन्ध अणुओ के सघात को कहते हैं । स्कन्धो के छ वर्ग किये गये है —

(१) स्थूलस्थूल—इस वर्ग में ठोस पदार्थों को रखा गया है, जैसे लकडी, पत्थर, धातुएँ आदि ।

(२) स्थूल—इस वर्ग में द्रवपदार्थ सम्मिलित हैं, जैसे जल, तेल आदि ।

(३) स्थूल सूक्ष्म—इसमे प्रकाश-ऊर्जा (Energy या शक्ति) को रखा गया है, जैसे प्रकाश, छाया, तम आदि ।

(४) सूक्ष्म स्थूल—इसमें उद्जन (hydrogen), जारक (oxygen) आदि वातिएँ (gases) परिगणित है । साथ ही ध्वनि ऊर्जा (sound energy) आदि अदृश्य ऊर्जाएँ भी सम्मिलित है ।

(वर्गीकरण में प्रकाश-ऊर्जा के अनन्तर वातियो (gases) को रखा गया है । भार (weight) की दृष्टि से वातिएँ प्रकाश-ऊर्जा की अपेक्षा अधिक स्थूल (denses) है, किन्तु वर्गीकरण का आधार घनत्व (density) नही दृष्टिगोचर होना न होता है । प्रकाश, विद्युत् आदि ऊर्जाएँ आँखो से देखी जा सकती है और वातिएँ नही । इस प्रकार दृश्य और अदृश्य की दृष्टि से इनका वर्गीकरण किया गया है । जो चक्षु इन्द्रिय के द्वारा लक्षित हो सकती है वे स्थूल-सूक्ष्म वर्ग में परिगणित है और जो शेष स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियो के विषय (उनके द्वारा लक्षित होने वाली) है वे सूक्ष्म-स्थूल वर्ग मे परिगणित है ।)

(५) सूक्ष्म—इस वर्ग मे और भी अधिक सूक्ष्म स्कन्ध आते है जो हमारी विचार-क्रिया जैसी क्रियाओ के लिए अनिवार्य है । हमारे विचारो और भावो का प्रभाव इन पर पडता है और इनका प्रभाव हमारी आत्मा और अन्य पुद्गलो पर पडता है । इन्हें कर्मवर्गणा कहा जाता है ।

(६) सूक्ष्म-सूक्ष्म—इस वर्ग में अत्यधिक सूक्ष्म अणु जैसे विद्युदणु (electron), विद्युदणु (position), विद्युत्कण (proeon) आदि सम्मिलित है ।[2]

---

१. अणव स्कन्धाश्च ।

—(आचार्य उमास्वाति, तत्वार्थसूत्र अध्याय ५)

२. अतिस्थूला. स्थूला स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्म स्थूलाश्च ।
सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति धरादयोभवन्ति षड्भेदा ॥

पुद्गल के इस वर्गीकरण में प्रकृति और ऊर्जा (Matter & Energy) दोनो ही सम्मिलित है। क्योकि, पुद्गल की परिभाषा के अनुसार ऊर्जा भी पौद्गलिक सिद्ध होती है। ऊर्जा मे भी स्पर्श, रस, गध, वर्ण गुण होते है। प्रकाश जो ऊर्जा का ही एक पर्याय है, पौद्गलिक है, क्योकि उसमे रूप होता है और जैनधर्म के इस सिद्धान्त के अनुसार, कि जिस वस्तु में रूप, रस, गध, स्पर्श इन चारो में से कोई एक भी गुण होता है, उसमे प्रकट अप्रकट रूप से तीन गुण भी अवश्य ही होना चाहिए, प्रकाश में स्पर्श, रस व गध गुण भी सिद्ध होते है यद्यपि वे इतने सूक्ष्म है कि हमारी स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय उन्हें लक्षित नही कर पाती। अभी तक वैज्ञानिक लोग ऊर्जा (Energy) को पौद्गलिक नही मानते थे, परन्तु सापेक्षवाद के सिद्धान्त (Theory of Relativity) और विद्युदणु सिद्धान्त (Theory of Electronic structure) के अनुसन्धान के अनन्तर यह सिद्ध हो गया है कि विद्युदणु (Electron) जो पुद्गल (Matter) का सार्वभौम अनिवार्य तत्त्व (Universal Constituent) है, वह एक विद्युत्कण है और इस प्रकार यह सर्वसम्मत है कि प्रकृति और ऊर्जा (Matter & Energy) एक ही है। मात्रा (Mass) और ऊर्जा (Energy) के बीच का सम्बन्ध निम्न समीकरण से स्पष्ट है —

ऊर्जा = मात्रा (प्रकाश की गति)

रैस्टलैस यूनीवर्स (Restless universe) के लेखक मैक्स वार्न (Max Born) महोदय ने लिखा है कि सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार मात्रा अर्थात् प्रकृति (Matter) व ऊर्जा (Energy) अनिवार्य रूप से एक ही है। ये एक ही वस्तु के दो रूपान्तर है। मात्रा (Mass अर्थात् प्रकृति या Matter) ऊर्जा (Energy) के रूप में और ऊर्जा मात्रा के रूप में रूपान्तरित भी की जा सकती है।[1]

इससे स्पष्ट है कि जैन-दार्शनिको का प्रकृति और ऊर्जा (Matter & Energy) दोनो को पुद्गल का पर्याय (Modifications) मानने का सिद्धान्त युक्तिसगत, तथ्यपूर्ण व विज्ञान-सम्मत है।

भूपर्वताद्या भणिता अति स्थूलस्थूला इति स्कन्धा. ।
स्थूला इति विज्ञेया सर्पिर्जलतैलाद्या. ।।
छायातपाद्या. स्थूलेतरस्कन्धा इति विजानीहि ।
सूक्ष्मस्थूला इति भणिता. स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च ।।
सूक्ष्मा भवति स्कन्धप्रायोग्या. कर्मवर्गणस्य पुन· ।
तद्विपरीता. कन्धा अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ।।

—आचार्य कुन्दकुन्द (नियमसार)

1 According to this theory (Theory of Relativity) mass and energy are essentially the same—Max Born (Restless Universe)

पुद्गल के पर्याये-छायातमादि—

जैन दार्शनिकों ने छाया, तम, शब्द को भी पुद्गल के पर्यायो मे परिगणित किया है।[1] साधारणत विचारकों ने प्रकाश को तम का अभाव मान लिया है, किन्तु जैन-दार्शनिकों ने तम का लक्षण दृष्टि-प्रतिवन्ध-कारण व प्रकाश-विरोधी इस प्रकार किया है।[2] तम प्रकाश का प्रतिपक्षी (Antithesis) है और वस्तुओं की अदृश्यता का कारण है। तम मे वस्तुएँ दिखाई नही देती। आधुनिक विज्ञान भी तम को अभावात्मक अर्थात् प्रकाश के अभाव-रूप नही मानता। जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है कि तम (darkness) मे भी उपस्तु ताप-किरणो (Infra-red heat rays) का सद्भाव रहता है जिनसे उल्लू और विल्ली की आँखें और कुछ विशिष्ट (special) आचित्रीय पट (photographic plates) प्रभावित होते हैं। इस प्रकार तम का दृश्य प्रकाश (visible light) से भिन्न अस्तित्व है, वह प्रकाश के अभाव-रूप नही।

छाया—

छाया को भी जैनधर्म पुद्गल का ही पर्याय मानता है। विज्ञान की दृष्टि मे अणुवीक्षो (lenses) और दर्पणो (mirrors) के द्वारा निर्मित प्रतिविम्व (Images) दो प्रकार के होते हैं—(१) वास्तविक (Real) और (२) अवास्तविक(virtual)। इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि ये ऊर्जा (प्रकाश) के ही रूपान्तर हैं। ऊर्जा ही छाया (shadow) एव वास्तविक अवास्तविक प्रतिविम्वो (real & virtual images) के रूप में लक्षित होती है। व्यतिकरण पट्टियो (Interference bands) पर यदि एक गणना यन्त्र (Counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी (dark band) में से भी प्रकाश वैद्युत रीति से (photo-electrically) विद्युदणु (electrons) निसरित होते हैं यह सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि काली-पट्टी केवल प्रकाश के अभाव-रूप नही, उसमें भी ऊर्जा होती है और इसी कारण विद्युदणु निकलते हैं। काली पट्टियो के रूप में जो छाया होती है वह छाया (shadow) भी ऊर्जा का ही रूपान्तर है।

जैन-शास्त्रो मे छाया (shadows & images) के वनने की प्रक्रिया का भी सम्यक् निर्देश किया गया है। छाया प्रकाश के आवरण के निमित्त से होती है।[3] आवरण (obstruction अवरोधक) का एक अर्थ अपारदर्शक कायो (opaque bodies) का प्रकाश पथ में आ जाना है।

---

१ सद्दो वन्धो सुहुमो थूलो सठाण भेदतम छाया।
उज्जोदा दवासथ्या पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥
—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (द्रव्यसग्रह)

२. तमो दृष्टिप्रतिवन्धकारणं प्रकाशविरोधि।
—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि)

३ छाया प्रकाशवरणनिमित्ता, साद्वेधा, वर्णादिविकारपरिणता, प्रतिबिम्ब मात्रात्मिका चेति।
—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५ सूत्र २४)

इस प्रकार की छाया को अंग्रेजी में 'शैडो' (shadow) कहते हैं। यह तम के अन्तर्गत आ जावेगी और इस प्रकार यह प्रकाश की अभावात्मिका नही अपितु पुद्गल का रूपान्तर सिद्ध होती है। दूसरे प्रकार का आवरण दर्पणो (mirrors) और अणुवीक्षो (lenses) का प्रकाश-पथ मे आना है। इनसे वास्तविक और अवास्तविक (Real & virtual) दो प्रकार के प्रतिविम्ब (images) बनते हैं। यह दो प्रकार के कहे गये है—(१) वर्णादि विकार परिणत (२) प्रतिविम्बमात्रात्मक। वर्णादिविकार परिणत छाया वास्तविक प्रतिविम्ब हैं जो विपर्यस्त (inverted) हो जाती है और जिनका प्रमाण (size) बदल जाता है। यह प्रतिविम्ब प्रकाश-रश्मियो के वस्तुत मिलन से बनते हैं और प्रकाश का ही पर्याय होने के कारण स्पष्ट रूप से पौद्गलिक हैं। प्रतिविम्ब मात्रात्मिका छाया में अवास्तविक प्रतिविम्ब (virtual images) सम्मिलित होगे, जिनमें केवल प्रतिविम्ब ही रहता है, प्रकाश-रश्मियो के वस्तुत (actually) मिलने से यह प्रतिविम्ब नही बनते। आशय यह कि छाया के विषय मे भी जैनसिद्धान्त में सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

प्रकाश का वर्गीकरण भी सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। प्रकाश को दो वर्गों मे विभक्त किया गया है—(१) आतप, (२) उद्योत। आतप सूर्यादि के निमित्त से होने वाले उष्ण प्रकाश को कहते हैं और उद्योत चन्द्रमा, जुगनू आदि के शीत प्रकाश को कहते हैं।[1] तात्पर्य यह कि आतप में ऊर्जा का अधिकाश ताप-किरणो (heat energy) के रूप मे प्रकट होता है और उद्योत में अधिकाश ऊर्जा प्रकाश किरणो (light-energy) के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार का वर्गीकरण पुरातन विचारको की सूक्ष्मदृष्टि और भेदशक्ति (discriminative power) का परिचायक है।

शब्द—

जैन सिद्धान्त में शब्द को भी पौद्गलिक माना है। उसे पुद्गल का ही पर्याय या रूपान्तर स्वीकार किया गया है। वैशेषिक दर्शन शब्द को आकाश का गुण स्वीकार करता है, किन्तु आधुनिक विज्ञान के प्रयोगो से यह स्पष्ट है कि शब्द पौद्गलिक है, आकाश का गुण नही। शब्द एक स्कन्ध के दूसरे स्कन्ध से टकराने से उद्भूत होता है। यह मत आधुनिक विज्ञान के मत से बहुत अधिक मिलता है।[2] शब्द का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है[3]—

---

१. आतप आदित्यादि निमित्त उष्णप्रकाशलक्षण.।
उद्य ग्तश्चन्द्रमणिखद्योतादिप्रभव. प्रकाश ॥
—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५)

२. शब्दस्कन्धप्रभवः स्कधः परमाणुसघसघातः।
स्पष्टेषु तेषु जायते, शब्द उत्पादको नियतः ॥
—आचार्य कुन्दकुन्द (पञ्चास्तिकाय)

३ शब्दो द्वेधा भाषालक्षणविपरीतत्वात्।
भाषात्मक उभयथा अक्षरिकृतेतर विकल्पत्वात्।
अभाषात्मको द्वेधा प्रयोग विस्रसानिमित्तत्वात् ॥
—तत्रवैस्रसिको बलाहकादिप्रभव.।
—प्रयोगश्चतुर्धा तत वितत घनसौषिरभेदात्।
—स्वामी अकलंकदेव (तत्वार्थराजवार्तिक, अध्याय ५)
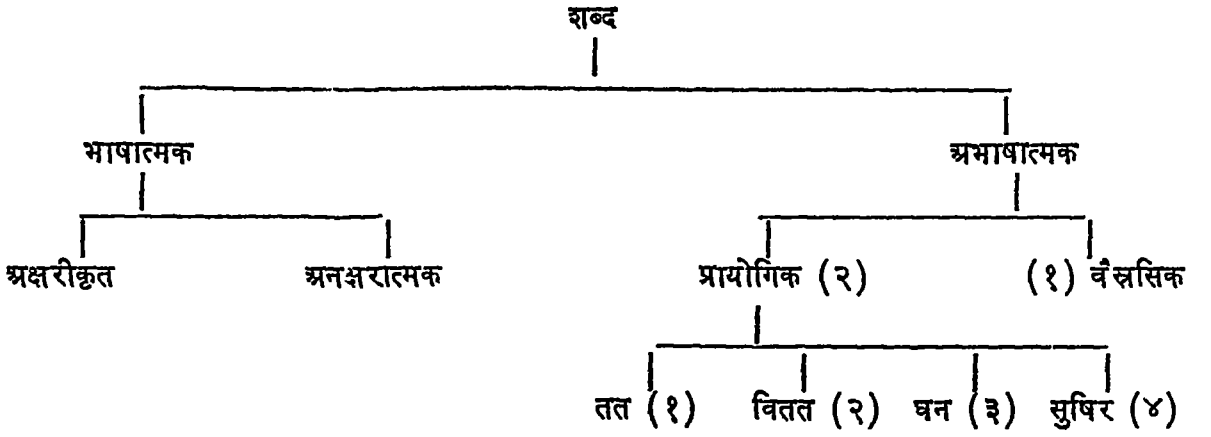
(१) वैस्रसिक—इस वर्ग में मेघगर्जन जैसे प्राकृतिक प्रक्रियाओ से उद्भूत होने वाले शब्द परिगणित होते है।

(२) प्रायोगिक वे शब्द हैं जो वाद्ययन्त्रो से उत्पन्न किये जाते हे।

(३) तत वे शब्द हैं जो चर्मतनन आदि झिल्लियो के कम्पन (vibrations of membranes) से उत्पन्न होते हैं, जैसे तबला, भेरी आदि से उत्पन्न शब्द।[1]

(४) वितत वे प्रायोगिक शब्द है जो वीणा आदि तन्त्रयन्त्रो (stringed instruments) में तन्त्रो के कम्पन (vibrations of strings) से उद्भूत होते है।[2]

(५) घन वे शब्द है जो ताल, घण्टा आदि घन वस्तुओं के अभिघात से उत्पन्न होते हैं। जिह्वाल यन्त्रो (reed instruments हारमोनियम आदि) से उद्भूत होने वाले शब्द भी इस वर्ग में सम्मिलित है।[3]

(६) सुषिरशब्द वंश, शख आदि में वायु-प्रतर के कम्पन (vibrations of air columns) से उद्भूत होते है।[4]

आधुनिक विज्ञान शब्द (ध्वनि sound) को दो विभागों में विभक्त करता है—(१) कोलाहल (noises) और (२) सगीत ध्वनि (musical sound)। इनमें से कोलाहल वैस्रसिक वर्ग में गर्भित हो जाता है। सगीत ध्वनियो (musical sounds) का उद्भव चार प्रकार से माना गया

१. चर्मततननिमित्तः पुष्करभेरीदर्दुरादिभवस्ततः।
—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र २४)
२. तन्त्रीकृतवीणासुघोषादिसमुद्भवो विततः।
३. तालघण्टालालना द्यभिघातजो घन.।
४. वंशशंखादिनिमित्त. सौषिरः।
—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र २४)

है—(१) तन्त्रो के कम्पन (vibrations of strings) से, (२) तनन के कम्पन (vibrations of membranes) से, (३) दण्डो और पट्टिकाओ के कम्पन (vibrations of rods-and plates) व जिह्वाल (reed) यन्त्रो के कम्पन से और (४) वायु-प्रतरो के कम्पन (vibrations of air columns) से। यह चारो क्रमश प्रायोगिक वर्ग के वितत, तत, घन और सुषिर भेद है। इस प्रकार पुद्गल और उसके रूपान्तरो (modificationsया पर्यायो) से सम्बद्ध सिद्धान्त जैन-विचारको की सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि के प्रतिफल प्रतीत होते है।

पुद्गल के पूर्व-लिखित वर्गीकरण में सूक्ष्मसूक्ष्म नामक छठे वर्ग में दो परमाणुओ के वन्ध से वने स्कन्ध तक सम्मिलित हो सकते हैं, परमाणु नही। इस वर्ग में विद्युदणु (electron), उद्युदणु (positron), उद्युत्कण (proton), निद्युत्कण (neutron) आदि सम्मलित है, क्योकि जैन-सिद्धान्त के अनुसार यह पुद्गल के परमाणु—अविभाग प्रतिच्छेद (Ultimate particles)—नही है, कारण यह कि, जैन-दार्शनिको का यह मत है कि परमाणु स्कन्व-रूप अवस्था में ही कार्यकारी होता है। यह कण कार्यशील है इसलिए स्कन्ध (composite) ही है, परमाणु (non-composite) नही। स्कन्धो के इस वर्गीकरण में विद्युत्कण (negatrons) भी रखे जावेंगे जिनके अस्तित्व की सभावना मैक्सवार्न महोदय ने अपनी पुस्तक रेस्टलेस यूनीवर्स मे पृष्ठ २६६ पर इन शब्दो में प्रकट की है—

सभवत विद्युत्कणो (negatrons) का भी अस्तित्व है, यद्यपि अभी तक कोई उनके अनुसधान मे सफल नही हुआ है, और सम्भवत विश्व में ऐसे भाग होगे जहाँ वे अधिक सख्या में है। वहाँ उद्युदणु (positrons) विद्युत्प्रभृत न्यष्टियो (negatively charged nuclei) के चारो ओर चक्कर लगाते होगे। (जैसे कि हमारी पृथ्वी की प्रकृति में (matter) उद्युत्प्रभृत न्यष्टियो (positively charged nuclei) के चारो ओर विद्युदणु (electrons) चक्कर लगाते है।) इस प्रकार की प्रकृति और हमारी पृथ्वी की प्रकृति में वहुत अधिक अन्तर नही होगा।[१]

साराश यह कि कुछ विद्युदणुओ और उद्युदणुओ के सघात (Combination) से निर्मित एक विद्युत्कण (negatron) के मिलने की सभावना है। इसी प्रकार उद्युत्कण (proton) भी उद्युदणुओ और विद्युदणुओ (positron & electrons) के सघात से निर्मित प्रतीत होता है। निद्युत्कण (neutron) समसख्या में विद्युदणुओ और उद्युदणुओ के मिलने से वना हुआ स्कन्ध प्रतीत होता है। रेस्टलेस यूनीवर्स में दूसरे प्रकार से इसकी सभावना प्रकट की गई है—

---

१ Perhaps negative protons (negatrons) also exist, no one has succeded in finding them yet. And perhaps there are regions in the universe where they are in excess These positive clectrons (positrons) circulate round negative nuclei Matter of that kind, would not greatly differ from our matter.

—Restless Universe (Max Born) page 266.

उद्युत्कण (proton) + विद्युदण् (electron) = निद्युत्कण (neutron)
निद्युत्कण + उद्युदणू = उद्युत्कण
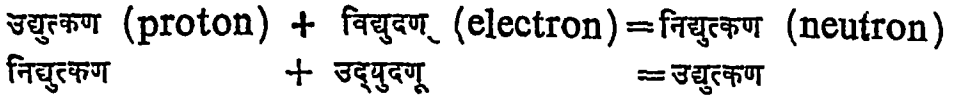
और इस प्रकार केवल उद्युदणु और विद्युदणु ही पुद्गल के अविभाग प्रतिच्छेद (ultimate particles) प्रतीत होते हैं ।

परमाणु-सिद्धान्त के सम्बन्ध में विशेष—

जैन-दार्शनिको के पुद्गल और परमाणु सिद्धान्त के विषय में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होने अन्य भारतीय दर्शनो के विपरीत, पुद्गल (Matter & Energy) को एक ही प्रकार का माना है, सब पुद्गलो की आतरिक रचना में कोई भेद नहीं माना, अपितु उनको एक ही प्रकार के तत्व (परमाणु-स्निग्ध अथवा रूक्ष में से कोई एक गुणयुक्त) से निर्मित स्वीकार किया। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, स्वर्ण, पारद आदि को एक ही पुद्गल के रूपान्तर (पर्याय या modifications) स्वीकार किया। आचार्य उमास्वाति जो ईसा की प्रथम शती के लगभग हुए थे, उन्होने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—पुद्गलस्कध किसी बड़े स्कध के टूटने से (भेद से) अथवा छोटे-छोटे स्कधो के सघात से उत्पन्न होते हैं। इस सघात (combination) के मूलकारण परमाणुओ के स्निग्ध रूक्ष गुण हैं।[1] तात्पर्य यह कि जगत् में जितने भी भिन्न-भिन्न प्रकार के पुद्गल सीसा, सुवर्ण, गधक आदि दृष्टि में आते हैं (अथवा अन्य किसी इन्द्रिय से गृहीत होते हैं) वे सब स्निग्ध और रूक्ष गुणो से युक्त परमाणुओ के बन्ध से उत्पन्न होते हैं और उनके रचना-तत्व एक ही होने के कारण सब पुद्गल एक ही प्रकार के हैं। प्रकृति (Matter) की विद्युदणु सबन्धी रचना (electronic structure) के अनुसन्धान के पूर्व वैज्ञानिक पुद्गल को भिन्न-भिन्न प्रकार का मानते थे। एक तत्त्व (element) की प्रकृति (Matter) को दूसरे तत्त्व की प्रकृति से भिन्न प्रकार की मानते थे। किन्तु, विद्युदणु सिद्धात के अनुसन्धान से यह सिद्ध हो गया है कि सब तत्त्वो की प्रकृति एक ही प्रकार की है। वैज्ञानिक अब सब प्रकृति (Matter) को विद्युदणु और उद्युदणुओ से निर्मित स्वीकार करते हैं। इससे पुद्गलो का आधारभूत तत्त्व एक ही है, जैनधर्म का यह सिद्धान्त विचार और तथ्यपूर्ण सिद्ध होता है।

इतना ही नही, पुद्गल की वैद्युदिक अन्त रचना (electronic structure) की ओर भी जैन-विचारको की दृष्टि गई है और पुद्गल-परमाणु में रहने वाले स्निग्ध और रूक्षगुणो से उनका तात्पर्य विद्युत् और उद्युत् प्रभार (negative & positive charges of electricity) से ही रहा है। ईसा की छठी शताब्दी में प्रणीत आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में लिखा है—विद्युत् और मेघगर्जन स्निग्ध रूक्ष गुणो के निमित्त से होते हैं।[2] आधुनिक विज्ञान भी यह स्वीकार करता

---

१. भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते। स्निग्धरूक्षत्वाद् बंध.।
—आचार्य उमास्वाति (तत्वार्थ सूत्र अध्याय ५) सूत्र २६, ३३

२. स्निग्धरूक्षनिमित्तो विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादि विषयः (वैस्रसिक. शब्द)।
—आचार्यपूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५, सूत्र २४)

है कि विद्युत और उद्युत् प्रभार (अथवा घन और ऋण विद्युत्) के विसर्जन (मोचन discharge) से विद्युत् और मेघगर्जन होते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्निग्ध और रूक्षगुण शब्दो का प्रयोग उद्युत् और विद्युत् प्रभार (positive & negative charges) के ही अर्थ में हुआ है।

कई वैज्ञानिको का अनुमान है कि आविष्कृत विद्युदणु (electron), उद्युदणु(positron), निद्युत्कण (neutron), उद्युत्कण (proton) आदि में से केवल विद्युदणु और उद्युत्कण एवं निद्युत्कण (neutron) और उद्युत्कण (proton) में से कोई एक पुद्गल के अविभाग प्रतिच्छेद (ultimate particles) प्रतीत होते हैं।[1] जैनसिद्धान्त की दृष्टि से विद्युदणु और उद्युदणु भी स्निग्ध और रूक्ष गुणयुक्त स्कन्धो के सघात से उत्पन्न स्कन्ध हैं। इसका आशय यह नही कि विद्युदणु और उद्युदणु क्रमश. केवल रूक्ष और केवल स्निग्ध गुणो से युक्त स्कन्धो के बन्ध से निर्मित है अपितु इसका तात्पर्य यह है कि उद्युदणु स्निग्ध और रूक्ष दोनो प्रकार के गुणो से युक्त स्कन्ध हैं और इसी प्रकार विद्युदणु भी, किन्तु उद्युदणु में दो एकांक (absolute units) स्निग्ध गुण अधिक होते हैं और विद्युदणु में दो रूक्ष गुण अधिक होते हैं। इनमें बन्ध की प्रक्रिया इस प्रकार समझायी जा सकती है। "क्ष" रूक्ष गुणवाला स्कन्ध (क्ष × क) रूक्ष गुण युक्त स्कन्ध से सघटित हुआ। इस प्रकार (कक्ष—क) रूक्ष गुण वाला स्कन्ध बन गया। (क्ष—क) स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध और (क्ष—क) स्निग्ध गुणवाले स्कन्ध के सघात से २ क्ष गुणवाला एक स्निग्ध स्कन्ध बना। (रक्ष—२) रूक्ष स्कन्ध से २ क्ष स्निग्ध स्कन्ध सघटित हो गया। इस प्रकार दो एकाक रूक्ष गुण (two absolute units of negative charge) युक्त स्कन्ध विद्युदणु (electron) निर्मित हो गया। यह स्निग्ध और रूक्ष स्कन्धो के बन्ध का उदाहरण है। न्यष्टि (nucleus) में रहनेवाला उद्युत्कण (protons) स्निग्ध स्कन्धो के परस्पर बन्ध के उदाहरण हैं।

बन्ध के पूर्वोल्लिखित नियमो में से एक यह है कि केवल दो एकाक (absolute units) स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणो का अन्तर होने पर ही स्कन्धो का बन्ध होता है। इस प्रकार बध हो जाने पर स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणो में से जिनकी सख्या दो एकाक अधिक होती है नवीन स्कंध भी उसी रूप होता है। तात्पर्य यह कि जितने भी स्कन्ध बनेंगे उनमें केवल दो एकाक गुणो का अन्तर होगा। आधुनिक शब्दावली में उनमें केवल दो एकाक प्रभार (two absolute units of charge) होता है। इन गुणो का एकाक इनका वह सूक्ष्मतम अश है जिसके दो भाग नही किये जा सकते। इस दृष्टि से विद्युदणु, उद्युदणु, उद्युत्कण आदि में केवल दो एकाक प्रभार होना चाहिए क्योकि वह सब ऐसे

---

1 The existance of the first four (electron, positron, proton, neutron) is firmly established, two light ones (the electron and the positron) and the two heavy ones, proton and neutron. These are too many for it is likely that the combination of a proton and an electron, a neutron and a positron will give a neutron, a proton. Either neutron or proton must be composite.

—Max Born (Restless Universe) page 266.

स्कन्धो से निर्मित हैं जिनमे स्निग्ध और रूक्ष गुणो की सख्या का अन्त दो एकाक रहा है। इसके अनुसार इन सब में सम मात्रा में प्रभार होना चाहिए। हम देखते हैं कि आधुनिक अनुसन्धान से यह बात सम्मत है। यद्यपि विद्युदणु (electron) और उद्युत्कण (proton) में मात्रा (mass) का अन्तर है (उद्युत्कण विद्युदणु से १८५० गुणित भारी है) फिर भी प्रभार की मात्रा (amount of charge) समान होती है। इससे जैनधर्म का उपर्युक्त सिद्धान्त तथ्यपूर्ण सिद्ध होता है।

उपर्युक्त नियमो में विसदृश (स्निग्ध रूक्ष गुणवाले) अणुओ के बध के विषय में दो मत हैं। एक मत के अनुसार स्निग्ध और रुक्ष गुणो की समसख्या वाले विसदृश अणुओ का भी बन्ध नही होता। बध के लिए दो एकाको का अन्तर होना अनिवार्य है चाहे स्कध सदृश (एक ही प्रकार के गुणयुक्त) हो अथवा विसदृश (भिन्न प्रकार के गुणयुक्त)। दूसरे मत के अनुसार सदृश गुणयुक्त परमाणु या स्कन्धो का बन्ध तो सख्या मे दो का अन्तर होने पर ही होता है किन्तु विसदृश गुणयुक्त परमाणुओ या स्कधो का बन्ध गुणो की सख्या में दो का अन्तर होने पर अथवा गुणो की सख्या समान होने पर हो सकता है। नियुदणु (nutrino) और नियुत्कण (neutron) जिनमे विद्युत् और उद्युत् प्रभार (negative & positive charge) समान होते हैं, इनके निर्माण की प्रक्रिया दूसरे मत के आधार से ही समझायी जा सकती है।

पुद्गल की आन्तरिक रचना के विषय में जैन-सिद्धान्तकारो के एक और विचार की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। एक स्थल पर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है कि पुद्गल द्रव्य-स्कन्ध (आधुनिक अणु atom) में अणुसमूह और वातियो (gases) आदि पुद्गलो में व्यूहाणु (molecules) चलित-क्रियाशील—होते हैं[1]। यह आधुनिक प्रवंगिकीय सिद्धान्त (Dynamical theory) और विद्युदणुसिद्धान्त (Electronic theory) की ओर सकेत है। पुद्गल की इस क्रिया का भी वर्गीकरण किया गया है। क्रिया दो प्रकार की मानी गई है—(१) विस्रसा क्रिया (२) प्रयोग निमित्ता क्रिया[2]। विस्रसा क्रिया प्राकृतिक होती है—विना किसी बाह्य निमित्त कारण से। इस प्रकार की क्रिया न्यष्टि (nucleus) के चारो ओर विद्युदणुओ (electrons) की होती है। वातियो (gases) में व्यूहाणुओ (molecules) की क्रिया भी विस्रसा कही जा सकती है। प्रयोग-निमित्ता क्रिया बाह्यशक्ति व कारणो से उत्पन्न होती है।

परमाणु और स्कन्ध के बन्धाबन्ध के नियम-सम्बन्धी प्रकरण में यह उल्लिखित है कि भेद, सघात और भेद-सघात इन तीन प्रक्रियाओ से पुद्गल स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। भेद का अर्थ यह है स्कन्ध में से कुछ परमाणु विघटित हो जाते हैं और दूसरे स्कन्ध में मिल जाते हैं। सघात की प्रक्रिया में एक स्कन्ध के कुछ अणु दूसरे स्कन्ध के कुछ अणुओ के साथ सघटित हो जाते हैं और इस प्रकार

---

१. पोग्गलदव्वम्हिअणुसखेज्जादीहवंति चणिदाहु।
—गोम्मटसार जीवकाण्ड (गाथा ५९२)

२. पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया। विस्रसा प्रयोगनिमित्ता च।१६।
—स्वामी अकलंकदेव (तत्वार्थराजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र ७)

वे अणु दोनो स्कन्धो से समान रूप से संवद्ध रहते हैं। भेद-संघात का अर्थ भेद और संघात इन दो प्रक्रियाओ का एक साथ होना है। इस प्रक्रिया (भेद-सघात) में एक स्कन्ध के कुछ अणु दूसरे स्कन्ध से मिलकर दोनो स्कन्धो से समान रूप में सम्बद्ध रहते है। सघात और भेद-संघात में अन्तर यह है कि सघात में सघटित होकर समान रूप से दोनो स्कन्धो से सम्बद्ध रहनेवाले अणु किसी भी स्कन्ध (आधुनिक अणु atom) से विच्छिन्न नही होते (भेद प्रक्रिया नहीं होती); किन्तु भेद-सघात में एक ही स्कन्ध के अणु विघटित होकर सघटित रूप से दोनो स्कन्धो से सबद्ध हो जाते है।

आधुनिक विज्ञान अणुओ (atoms) के मिलने से व्यूहाणु (molecules) बनने के तीन प्रकार मानता है—(१) विद्युत्संयुजता (electro valency), (२) सहसंयुजता (Covalency), (३) विसहसंयुजता (Coordinate covalency)। विद्युत्संयुजता (electro valency) में एक अणु के बाह्यकक्षीय कवच (outermost orbital shell) के कुछ विद्युदणु (electrons) उससे विच्छिन्न होकर दूसरे अणु (atom) के बाह्यकवच (outermost orbital shell) के विद्युदणुओ से मिल जाते हैं। जैसे क्षारातु (sodium) के बाह्यतम कवच पर एक विद्युदणु रहता है और नीरजी (chlorine) के बाह्यतम कवच पर सात विद्युदणु रहते हैं। एक स्थायी रचना (stable structure) में शिथिराति (neon) की भाति बाह्यतम कवच (shell) पर आठ विद्युदणु रहना चाहिए। जब व्यूहाणु (molecule) बनता है तो नीरजी के सात बाह्यतम कवच पर रहने वाले विद्युदणुओ में क्षारातु (sodium) के अणु (atom) के बाह्यतम कवच का एक विद्युदणु (electron) मिल जाता है और इस प्रकार नीरजी (chlorine) के अणु के कवच की रचना मदाति (argon) के कवच की भाति हो जाती है और क्षारातु (sodium) के बाह्यकवच की रचना भी शिथिराति (neon) के कवच की भाँति रह जाती है। यह बात इस चित्र से स्पष्ट हो जावेगी—
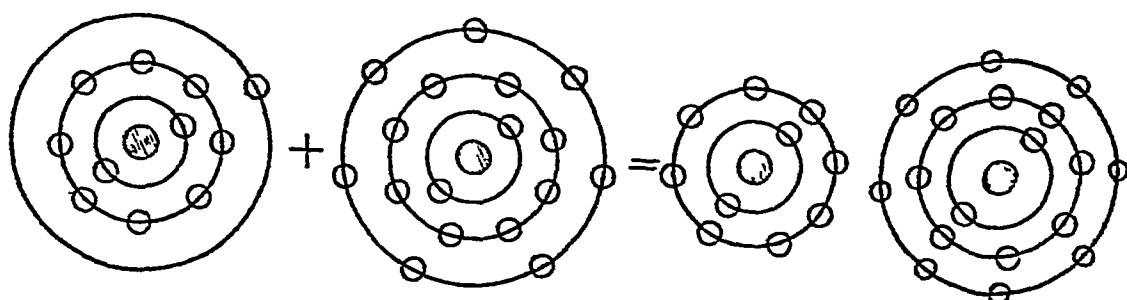
क्षारातु (Sodium) नीरजी (Chlorine) क्षारातुनीरेय (Sodium chloride)

सहसंयुजता (covalency) में एक अणु (atom) के बाह्य कवच के विद्युदणु दूसरे अणुओ के बाह्य कवच के विद्युदणुओ से मिलकर स्थायी रचना बना लेते है और इस प्रकार सब अणुओ

के वाह्यकवच की रचना जड (अक्रिय) वातियो (inert gases) के विन्यास (Configuration) की भाँति हो जाती है। जैसे प्राङ्गार (carbon) के एक अणु से उद्जन (hydrogen atom) के चार अणु (atoms) इस प्रकार मिलते हैं :—
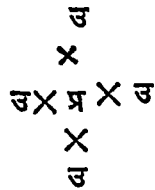
उ=उद्जन (hydrogen) का एक अणु
प्र=प्राङ्गार (corbon) का एक अणु

```
     उ
     ×
  उ× प्र ×उ
     ×
     उ
```

हसपद (×) से चिह्नित चार विद्युदणु (electrons) प्राङ्गार के वाह्यतम कवच के हैं। इनमे प्रत्येक उद्जन-अणु (hydrogen atom) से आये चार विद्युद्णु मिल गये हैं जो ( ) विन्दु से सूचित किये गये हैं। इस प्रकार यह आठ विद्युदणु प्राङ्गार अणु के विन्यास (configuration) को शिथिराति (neon) के विन्यास की भाँति वना देते हैं। उद्जन के अणुओ में भी यही आठ विद्युदणु दो-दो विभक्त हो जाते हैं और इस प्रकार उद्जन के अणुओ की आकृति (configuration) भी यानाति (helium) नामक अक्रियावाति (Inert gas) के अणु की आकृति के अनुरूप हो जाती है। इस प्रकार विद्युदणुओ के सहविभाजन (sharing) द्वारा बध होता है।

तीसरे प्रकार की विसहसयुजता (coordinate covalency) में यह दोनो की प्रक्रियाएँ होती हैं। उसमें एक ही अणु के वाह्य कवच के कुछ विद्युदणु सक्रमित (transferred) होते हैं और फिर दोनो अणुओ मे सहविभाजित (shared) हो जाते हैं। इस प्रकार दोनो अणुओ की रचना जडवातियो (Inert gases) की रचना के अनुरूप हो जाती है —

⁚ देय युगल (lone pair)

```
  ∘∘          ××           ∘∘    ××
⁚ अ ⁚→         व   ×  →  ⁚ अ ⁚   व  ×
  ∘∘          ××   ×       ∘∘    ××  ×
```
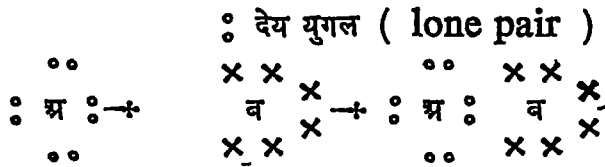
अ=दाता (doner)
व=भोक्ता (accepter)

इसमे 'अ' के दो विद्युदणु 'व' की ओर सक्रमित (transferred) हो गये है और इन दो अणुओ के मिल जाने से 'व' का विन्यास (configuration) जडवातियो के अनुरूप हो गया है। किन्तु, साथ ही यह दो अणु (electrons) 'अ' के साथ भी सहविभाजित (shared) है और इन्ही के द्वारा 'अ' की रचना भी जडवातियो के विन्यास (configuration) के अनुरूप होती है। इस प्रकार इस प्रक्रिया में विद्युदणुओ का सक्रमण (transfer) और सहविभाजन (sharing) दोनो ही होते है।

भेद, संघात और भेद-संघात इन तीनो प्रक्रियाओ के ही नामान्तर प्रतीत होते हैं। भेद का एक और प्रकार होता है। वह है पुद्गलो की गलन (खडन या disintegration) प्रक्रिया। वाह्य और आभ्यन्तर कारणो से स्कन्ध (अणु atom) का गलन (विदारण, खडन, disintegration) होना भेद है[1]। तेजोद्गरण (Radioactivity) की प्रक्रिया के कारण को इसके आधार पर समझाया जा सकता है। यह प्रक्रिया अणु (atom) की आन्तरिक रचना से सम्बद्ध है इसलिए इसका कारण आन्तरिक है। आधुनिक विज्ञान का भी यही अभिमत है। तेजोद्गरक तत्वो से निस्सरित होने वाली रश्मियो के गुणो के अनुसन्धानो के पश्चात् यह सिद्ध हो गया है कि तेजोद्गरण (Radioactivity) अनिवार्यत. एक न्यष्टि (nucleus) से सवद्ध प्रक्रिया है।[2] खण्डन क्रिया (disintegration phenomenon) जिसमें किरणातु आदि (Uranium etc.) के कुछ अ-कण (£-particles) विगलित हो जाते हैं भेद का एक अच्छा उदाहरण है।

पुद्गल (Matter & Energy) में अनन्त शक्ति होती है इसकी ओर भी जैन-दार्शनिको का ध्यान आकृष्ट हुआ है। कई स्थलो पर पुद्गल की इस अनन्त शक्ति का उल्लेख मिलता है। एक परमाणु यदि तीव्र गति से गमन करे तो काल के सबसे छोटे अश एक 'समय' में लोक (universe)के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है। जैन-सिद्धान्त के अनुसार यह दूरी २.०१६+१०[२२] मील है। इस कथन से परमाणु की अनन्त शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिको के अनुसन्धानो द्वारा भी यह सिद्ध हो गया है कि पुद्गल में अनन्त शक्ति होती है। एक ग्राम (gram) पुद्गल में ९×१० २० अर्ग (erg) ऊर्जा (energy) होती है। इतनी शक्ति ३००० टन (८४००० मन)कोयला जलाने पर मिल सकती है। मात्रा (mass) और ऊर्जा के विषय में यह समीकरण दिया ही जा चुका है.—

ऊर्जा=मात्रा (प्रकाश की गति) [२]
इससे स्पष्ट है कि पुद्गल में अनन्त शक्ति होती है।

जैन-सिद्धान्त में पुद्गल (matters) की पूरण और गलन क्रियाओ (combination and disintegration phenomena)की ओर भी पर्याप्त सकेत मिलते हैं। पुद्गल की परिभाषा एक अन्य रीति से भी की जाती है। जिनमें पूरणक्रिया और विगलन क्रिया (combination

---

१. द्वितय निमित्तवशाद् विदारणं भेदः।

—आचार्य पूज्यपाद (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५)

2 Soon after the nature of the rays given out by the radio-active substances had been established, it was realised that radioactivity is essentially a neuclear property

—Essentials of Physical Chemistry.
(Bahl & Tuli) page 200.

and disintegration) सम्भव हो वे पुद्गल हैं।[1] अर्थात् एक स्कन्ध दूसरे स्निग्ध रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से मिल सकता है और इस प्रकार अधिक स्निग्ध रूक्ष गुणो वाला स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है। यह पूरण-क्रिया है। अथवा एक स्कन्ध में से कुछ स्निग्ध रूक्ष सयुक्त स्कन्ध विच्छिन्न हो सकता है। यह विगलन क्रिया है। गत शताब्दी के वैज्ञानिको का यह मत था कि तत्व (elements) अपरिवर्त्तनीय हैं। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के रूप में परिवर्तित (transformed) नही हो सकता है किन्तु नये अनुसधानो तेजोद्गरण (Radioactivity) आदि से यह सिद्ध हो गया है कि तत्त्व (elements) परिवर्तित (transformed) हो सकते हैं। किरणातु (Uranium) के एक अणु (atom) में से जब तीन अ-कण (£ particles) विच्छिन्न हो जाते हैं तो वह एक तेजातु (radium) के अणु के रूप में परिवर्तित हो जाता है और तेजातु का एक अणु (atom) ५ अ-कणो (£ particles) से विच्छिन्न हो जाता है तो सीसा (lead) का एक अणु शेष रह जाता है। यह विगलन क्रिया (disintegration) है। विज्ञान के क्षेत्र में पूरणक्रिया (combination) के भी कई उदाहरण मिलते हैं। भूयाति (nitrogen) के एक अणु (atom) की न्यष्टि(nucleus) मे जब एक अ-कण (£ particle) मिल जाता है तो एक जारक (oxygen) का अणु बन जाता है। लघ्वातु (lithium) और विडूर (beryllium) में भी इसी प्रकार पूरण क्रिया सभव है।

पुद्गल का परिणमन और अवगाहना—

जैन-सिद्धान्त द्वारा मान्य पुद्गल के सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के सिद्धान्तो की वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझाया जा सकता है। जैनसिद्धान्त के अनुसार लोक (Universe) जिसमें पुद्गलद्रव्य आदि स्थित हैं उसमें असख्यात प्रदेश (आकाश के एकाक-absolute units of space) होते हैं। किन्तु, पुद्गल अनन्तानन्त (infinite in number) हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनन्तानन्त (infinite) पुद्गल (Matter) असख्यात (countless) प्रदेशवाले लोक में कैसे स्थित हैं, जब कि एक प्रदेश आकाश का वह अश है जिसमें एक ही परमाणु स्थित हो सकता है। इस प्रश्न के उतर में आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि में कहा है कि सूक्ष्म परिणमन और अव-गाहन शक्ति के योग से परमाणु—और स्कन्ध भी, सूक्ष्म रूप परिणत हो जाते हैं और इस प्रकार एक ही आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु रह सकते हैं।[2] इसी बात को नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्ती ने

---

१. पूरयन्ति गलन्ति इति पुद्गला.।
पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गताः ।
तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र ६—१४
छव्विह संठाणं बहुविह देहेहिं पूरदि गलदित्तिपोग्गलो ।—धवला

२. सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात्परमाण्वादयोहि सूक्ष्मभावेनपरिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते, अवगाहनशक्तिश्चैषामव्याहतास्ति, तस्मादेकस्मिन्नपिप्रदेशेऽनन्तानन्ताव-स्थान न विरुध्यते ।
—सर्वार्थ सिद्धि ।

आकाश के छोटे से छोटे भाग (smallest unit of space) 'प्रदेश' की परिभाषा करते हुए कहा है—कि पुद्गल का एक अविभाग प्रतिच्छेद परमाणु-आकाश के एक प्रदेश (unit space) को घेरता है, किन्तु उसी प्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु भी स्थित हो सकते हैं।[1] यह कैसे सभव हो, इस प्रश्न का उत्तर यह है। यद्यपि परमाणु के विभाग नहीं हो सकते, किन्तु परमाणु में और स्कन्धो में भी सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति यह दो प्रक्रियाएँ सभव हैं। अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु अथवा स्कन्ध जितने स्थान में स्थित होता है उतने ही स्थान में अन्य परमाणु व स्कन्ध भी रह सकते हैं। (जैसे एक ही कमरे में कई विद्युद्दीपो (lamps) का प्रकाश समा सकता है। (जैन सिद्धान्त में प्रकृति (matter) और ऊर्जा (Energy) को एक ही माना है) । सूक्ष्म-परिणमन की क्रिया का अर्थ है कि परमाणु में सकोच हो सकता है। उसका घनफल कम हो सकता है, वह सूक्ष्म रूप परिणत हो सकता है। इस प्रकार वह कम स्थान घेरता है। सूक्ष्म परिणमन-क्रिया आधुनिक विज्ञान के आधार पर समझायी जा सकती है। अणु (Atom) के दो अग होते हैं एक मध्यवर्त्ती न्यष्टि (nucleus) जिसमें उद्युत्कण और विद्युत्कण (protons & neutrons) होते हैं और दूसरा वाह्यकक्षीय कवच (orbital shells) जिनमें विद्युदणु (electrons) चक्कर लगाते हैं। न्यष्टि (nucleus) का घनफल पूरे अणु (atom) के घनफल से बहुत ही कम होता है। और जब कुछ कक्षीय कवच (orbital shells) अणु से विच्छिन्न (disintegrated) हो जाते हैं तो अणु का घनफल कम हो जाता है। यह अणु विच्छिन्न अणु (stripped atoms) कहलाते हैं। ज्योतिष सम्बन्धी अनुसन्धानो से यह पता चलता है कि कुछ तारे ऐसे हैं जिनका घनत्व हमारी पृथ्वी की घनतम वस्तुओ से भी २०० गुणित, है एडिंग्टन ने एक स्थल पर लिखा है कि एक टन (२८ मन) न्यष्टीय पुद्गल (nuclear matter) हमारी वास्कट के जेब में समा सकती है। एक तारे का घनत्व जिसका अनुसन्धान कुछ ही समय पूर्व हुआ है ६२० टन अथवा १७३६० मन प्रति घन इन्च है। इतने अधिक घनत्व का कारण यही है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओ (stripped atoms) से निर्मित है। उसके अणुओ (atoms) में केवल न्यष्टियाँ ही है, कक्षीय कवच (orbital shells) नही। जैन-सिद्धान्त की भाषा में इसका कारण अणुओ का सूक्ष्म परिणमन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म के पुद्गल और परमाणु सम्बन्धी बहुत से सिद्धान्तो को वैज्ञानिक आधार पर समझाया जा सकता है। जैनाचार्यों के मतानुसार इनका मूल स्रोत एक विशिष्ट अलौकिक ज्ञान परम्परा है, किन्तु यदि हम उन्हें दार्शनिक विचार-विमर्श और चिन्तन के प्रतिफल भी स्वीकार करें तो भी पुद्गल और परमाणु-सम्बन्धी यह सिद्धान्त अमूल्य और वैज्ञानिक हैं और इनमें से अधिकाश प्रयोग-सिद्ध सत्य भी।

---

१. जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु वठ्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणठ्ठानदाण रिहं ॥
—द्रव्य संग्रह

—o—

जैन धर्म में काल द्रव्य की वैज्ञानिकता

श्री नन्दलाल जैन बी० एस-सी०

जैन-धर्म और आधुनिक विज्ञान—

आज का जगत् प्रगतिशील है। विज्ञान इस प्रगति में पूर्ण रूप से सहायक । इसलिए हम इस युग को "वैज्ञानिक" भी कहने लगे है। आज के इस युग मे मनुष्य प्रत्येक स्थल पर वैज्ञानिकता देखने को उत्सुक है। यदि कही वैज्ञानिकता का उसे अभाव प्रतीत होता है, तो वह उस तरफ से उपेक्षित होने लगता है। धर्म भी आज ऐसा ही स्थल है, जहाँ आज लोग प्रत्यक्ष वैज्ञानिकता न देख उसके प्रति उपेक्षित होते जा रहे हैं। इसलिए धर्म और विज्ञान के विषय में हमें कुछ विचार कर लेना चाहिए।

हम देखते है कि आज विज्ञान की दृष्टि सिर्फ भौतिक जगत् में सीमित है। अभौतिक (अमूर्तिक पदार्थ या शक्ति) क्षेत्र में किये गये अभी तक के समस्त वैज्ञानिक प्रयत्न असफल ही सिद्ध हुए कहना चाहिए। फलत आज भी विज्ञान इस विषय मे कोई निर्णय नही देता। हमारे सामने आत्मा, गति-माध्यम (धर्म), स्थितिमाध्यम (अधर्म), आकाश एव काल द्रव्य है, जो सरूपी है। गतिमाध्यम (Ether) को छोड अन्य पदार्थो के विषय मे विज्ञान अभी तक कोई निर्णय स्थिर रूप से नही दे सका है। गति-माध्यम के विषय में भी Ether के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन नही हो सका है। दूसरी बात यह है कि विज्ञान के द्वारा प्रकाश मे आई हुई सभी बाते सत्य ही हो, यह कोई नियम नहीं है। विज्ञान के सिद्धान्त हमेशा बदलते रहते है, और कहीं २ तो उनमें विरोध भी पाया जाता है। उदाहरण स्वरूप हम Plotemy एव Copericus के इन सिद्धान्तो को लेते है।

धर्म और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन—

(१) सूर्य पृथ्वी के चारो तरफ चक्कर लगाता है, पर पृथ्वी स्थिर है।
(२) पृथ्वी चक्कर लगाती है एव सूर्य स्थिर है।

दोनो ही सिद्धान्त परस्पर-विरोधी है। वास्तविक सत्य क्या है, हम नहीं कह सकते। सत्य का पता लगाने का कोई तरीका हमारे पास नही है। पर हम यह भी नही कह सकते कि दोनो ही सिद्धान्त झूठे है। अलबर्ट आइन्सटाइन के "सापेक्षता सिद्धान्त" ने इस दिशा में काफी समाधान पेश किया है,

परन्तु फिर भी वास्तविक सत्य का पता नही। इसके आधार पर सूर्य पृथ्वी की अपेक्षा से, एव पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गतिशील हैं। फिर कोई विरोध नही। तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक सिद्धान्तो की सत्यता आपेक्षिक ही माननी चाहिए, वास्तविक नही। और इसीलिए हम धर्म और विज्ञान को एक स्तर पर नही रख सकते। धर्म मूर्तिक पदार्थों के अतिरिक्त अमूर्तिक पदार्थों का भी निरूपण करता है। वह जितना ही आध्यात्मिक है, उतना ही भौतिक है। आखिर भौतिकता से ही तो वह आध्यात्मिकता की ओर बढता है। इसीलिए मानव के लिए धर्म विज्ञान की अपेक्षा ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। धर्म चिर-सुख प्राप्ति का कारण है, विज्ञान द्वारा प्रस्तुत सुख अचिर और विनाशी है। धर्म और विज्ञान का साम्य आज भौतिक-विवेचन में ही सम्भव है, अभौतिक या आध्यात्मिक में नही। इस भौतिक विवेचन में जो धर्म जितना ही ज्यादा साम्ययुक्त होगा, उतना ही वह जन-गण के लिए ग्राह्य होगा।

भ० महावीर द्वारा उपदिष्ट जैनधर्म और उसके सिद्धान्त इसी कोटि मे आते हैं। आज की वैज्ञानिक-प्रगति की दृष्टि से देखा जावे, तो जैनधर्म काफी आगे है। भौतिक जगत् की मूल शक्तियो के विषय में विज्ञान अभी पूर्ण रूप नही ले सका है। फिर भी आज यह स्पष्ट है कि जिन पदार्थों की सत्ता को आज वैज्ञानिक अनुभव करने लगे हैं वे जैनधर्म में पहले से ही निर्दिष्ट हैं। श्रीजगदीशचन्द्र वसु के सिद्धान्त ने जैनधर्म के एक इसी तरह के सिद्धान्त की पुष्टि की है। धर्म एव अधर्म द्रव्य के अतिरिक्त कालद्रव्य भी आज वैज्ञानिको के मस्तिष्क का केन्द्र बना हुआ है।

भौतिक जगत एवं काल-द्रव्य—

जैन धर्म का भौतिक जगत्-जीव तथा पाँच प्रकार के अजीव (धर्म, अधर्म, आकाश, काल, एव पुद्गल) इस प्रकार—छ द्रव्यो से निर्मित हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शनो को छोड अन्य किसी दर्शन में काल को उतनी महत्ता नही दी गई है, जितनी जैन-दर्शन में। काल-द्रव्य की समस्या पर वैज्ञानिको, दार्शनिको और गणितज्ञो—सभी का ध्यान गया है, परन्तु जैन-दर्शन का निरूपण सबसे ज्यादा सारभूत है। चूँकि जैनमत के अनुसार "काल" अमूर्त है, इसीलिए विज्ञान इसकी सत्ता के विषय मे चुप हो, यह बात नही। आधुनिक विज्ञान 'समय' के कार्यकलाप के आधार पर उसे द्रव्य रूप से मानने का अनुभव करने लगा है, पर अभी तक उसे सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नही किया है। एडिंग्टन का यह कथन—

Time is more Physical reality than matter एव हैनशा का यह वाक्य—

These four elements (space, matter, TIME and medium of motion) are all seperate in our mind We can't imagine that one of them could depend on another or be converted into another"

उपर्युक्त निर्देश में प्रमाण है। भारतीय प्रोफेसर एन आर. सेन भी इसी पक्ष मे है। जैनधर्म के अनुसार द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक होता है। कालद्रव्य मे भी ये तीनों पाये जाते हैं, व्यवहारकाल और निश्चलकाल इसीके परिणाम हैं। द्रव्य की यह परिभाषा आधुनिक विज्ञान के आधार परसिद्ध है। विज्ञान के शक्ति-स्थिति (Conservation of energy) तथा वस्तु-अविनाशित्व (Law of

Indestructibility of matter) एव Transformation of Energy आदि सिद्धान्त स्पष्ट निर्देश करते हैं कि नाशवान् पदार्थ में ध्रुवत्व है। डेमोक्राइट्स का अभिमत इस विषय के लिए काफी है।

"Nothing can never become something, something can never become nothing."

कालद्रव्य की ध्रौव्यता वाचकपद "वर्तना" है और उत्पाद-व्ययत्वसूचक "समय" है। (वर्तना-परिणाम ....एव सोऽनतसमय ॥ (तत्वा० सूत्र ६) । कालद्रव्य के अस्तित्व के विषय में जैनधर्म का बहुत ही गम्भीर तर्क है। उसके अनुसार काल

"सर्वद्रव्य वर्तना निमित्तभूत" (प्रवचनसार)
दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ (द्र० सग्रह)

—प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यैकवृत्ति रूप परिणाम . . . . सहकारिकारणसद्भावे दृष्ट। यस्तु सहकारिकारण, स काल (पचास्तिकाय)।

'काल पदार्थों के परिणमन में कारण-स्वरूप है'। यह उसके परिणमन में, परिवर्तन में, वैसे ही सहायक है, जैसे कुम्हार के मिट्टी-वर्तन-निर्माण-चक्र में पत्थर। यह पत्थर चक्र मे गति स्वय पैदा नही करता, अपितु गतिमान् बनाने में सहायक मात्र होता है। कालद्रव्य के बिना जगत् का विकास रुक जायगा। "समय" के अभाव में वस्तुओ की उत्पत्ति और विनाश, आश्चर्यजनक लैम्प के अभाव में, अलादीन के शानदार महल के समान, होने लगेगा। फ्रेंच दार्शनिक वर्गसन का कथन है कि "जगत् के विकास में काल एक खास कारण है। बिना कालद्रव्य के परिणमन और परिवर्तन कुछ भी नही हो सकते।" यह कथन जैनमत से ही बिलकुल मिलता-जुलता है। इस सबके आधार पर हम यही कह सकते है कि "काल" भी एक द्रव्य है।

काल-निरूपण

जैनधर्म के अनुसार, काल दो तरह का है—(१) निश्चय (२) व्यवहार। असख्य अविभागी कालाणु जो लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में फैले हुए है, निश्चय काल हैं। उन कालाणुओ में परस्पर बध की शक्ति नही है, वे परस्पर मिलकर "स्कन्ध" नही बना सकते। वे "रयणाण रासीमिव" प्रत्येक आकाश प्रदेश में स्थित हैं। ये कालाणु अदृश्य, अमूर्त और स्थिर (निष्क्रिय) हैं। कालाणु में परस्पर बध (मिलन-शक्ति) का अभाव कालद्रव्य को "अस्तिकायत्व" से वचित करता है। कालद्रव्य में अस्तित्व (सत्ता, Existence) तो है, पर कायत्व (विस्तरण-शक्ति, मिलन-शक्ति, Extension) नही है। यह विस्तार विशेष दो प्रकार का है—(१)उर्ध्व-प्रचय (२) तिर्यक्प्रचय।

"समय विशिष्ट वृत्ति प्रचयस्तदूर्ध्वप्रचय ॥ प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक् प्रचय ॥ (प्रव० सार)

"काल" को छोड अन्य सब द्रव्यो में दोनो प्रचय पाये जाते है—अतीत, अनागत, वर्तमान काल के अनन्त समयो में होनेवाला परिणमन ऊर्ध्वप्रचय एव सख्य, असख्य एव अनन्त प्रदेशो के कारण

तिर्यक् प्रचय होता है। कालद्रव्य में, समय मात्र होने के कारण ऊर्ध्वप्रचय है, प्रदेशों के अभाव से तिर्यक् प्रचय नहीं, क्योंकि द्रव्य एक प्रदेशी है। उसके ऐसा होने मे कारण—

जास ण संति पदेसा, पदेसमेत्त व तत्त्वदो णादु। सुण्ण जागतमत्थ" है। व्यवहार काल को समय कहते हैं। (सोऽनत समय)। समय का अर्थ परिणमन, क्रिया, परत्वापरत्व से लिया जाता है। यह व्यवहार काल अपने अस्तित्व के लिये (Determination of its measure) निश्चय काल के अधीन है, इसलिए "परायत्त" है। व्यवहारकाल का खुलासा "पचास्तिकाय" मे स प्रकार है—

"समओ णिमिसो कट्ठा, कला य णाली तदो दिवा रत्ती।
मासो दु अयण सवच्छरोत्ति कालो परायत्तो॥

.....एव विवो हि व्यवहारकाल केवल कालपर्यायमात्रत्वेनावधारयितुमशक्यत्वात्परायत्त इत्युपमीयते॥'

व्यवहार और निश्चय काल में यह विशेषता है कि प्रथम तो सादि एव सान्त होता है, जबकि द्वितीय अनत होता है। निश्चयकाल का लक्षण वर्तना (continuity) है जिसे "ध्रौव्यत्व" कहते हैं।

"प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैक समया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना" ॥
उपर्युक्त निरूपण आधुनिक विज्ञानवेत्ता भी स्वीकार करते हैं। निश्चय काल के अस्तित्व के बारे में भी वे अब यो कहने लगे हैं—

"Whatever may be time de jure (व्यवहार)" the Astronomer Royal's time is de facto (निश्चय)" (ऐडिंग्टन)

एक प्रदेशी होने से ही काल द्रव्य में ध्रौव्यत्व है, इसे भी वर्गसन यो स्वीकार करता है " The continuity of time is due to the Spatialisation or (absence of Extensive magnitude (कायत्व) of the durational flow" काल का ऊर्ध्व प्रचयत्व भी इसीसे लोग स्वीकार करते है (Mono-dimensionalism) आइस्टाइन का सिद्धान्त, "लोकाकाशस्य यावन्त प्रदेशा तावन्त एव कालाणवो निष्क्रिया ऐकैकाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोक व्याप्य स्थिता" को पूर्ण रूप से मानता है। यही ऐडिंग्टन के इस कथन से भी ज्ञात होता है —

"You may be aware that it is revealed to us in Einstine's theory that space and time are mixed in rather a strange way

Both space and time vanish away into nothing if there be no matter. We can't conceive of them without matter It is matter in which originate space and time and not universe of preception"

जैनधर्म में भी अलोकाकाश मे पदार्थों के अभाव से कालाणु का भी अभाव है। "अकायत्व" को एडिंग्टन इन शब्दो मे स्वीकार करता है —

I shall use the phrase time's arrow to express this one way property of time which has no analogue in space"

काल की "अनन्तता" भी एडिंग्टन आइस्टाइन की Cylinder theory के आधार पर मानता है।

"The world is closed in space-dimensions (लोकाकाश) but it is open at both ends to time dimensions"

इस प्रकार काल-द्रव्य का जो निरूपण जैनमत में है, उसे वैज्ञानिक स्वीकार करने लगे हैं।

काल द्रव्य के कार्य—

"वर्तना परिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" यह सूत्र जैन मत का, इस विषय में निरूपण करता है। काल वस्तुओ के अस्तित्व को कायम रखने में, परिणन में, परिवर्तन में क्रिया में, समय की अपेक्षा छोटे-बडे (जैसे बाल, वृद्ध इत्यादि) होने में सहायक है। इस सूत्र में निश्चय और व्यवहार दोनो कालो का कार्य निर्दिष्ट है।

दव्वपरिवट्ट रूवो, जो सो कालो हवेइ ववहारो
परिणामादी लक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ।।१।।

यह गाथा इसी सूत्र का विशेषार्थ है, जो स्पष्ट है। तात्पर्य यह कि काल जगत् के परिवर्तन, परिवर्धन, अस्तित्व एव उत्पाद व्ययात्मकत्व होने में सहायक है। काल-द्रव्य भी स्वय परिवर्तित और परिवर्धित होता है जैसे उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी (उन्नति व अवनतिशील काल)। स परिवर्तन में भी काल ही स्वय कारण है। यदि काल के परिवर्तन में और कोई दूसरा कारण हो, तो "अनवस्था" हो जावेगी इसलिए काल स्वतत्र है एव परिवर्तन में सहायक होना उसका कार्य है। इस विषय में पूर्वोवत वर्गसन का मत ही काफी प्रमाण है।

कालका माप—

सबसे छोटा काल का प्रमाण "समय" है। उसकी परिभाषा यह है—वह समय जो एक परमाणु (या कालाणु) अपने पास के दूसरे (consecutive) परमाणु के पास तक पहुँचने में लेता है, "समय" कहलाता है। ऐसे अनन्त समयो में व्यवहार काल विभक्त है जिस प्रकार भार का माप "परमणु-भार" या आकाश का "प्रदेश" है, उसी तरह काल का माप "समय" है। सबसे बडे काल का प्रमाण "महाकाल" का है, जो उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी काल—दोनो के प्रमाण के योग के बराबर है। उसका प्रमाण है—

४१६४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२२९२०००००० ....

(कुल ७७ अक) Jain Cosmology G. R. Jain

और सबसे छोटा काल-प्रमाण "समय" है ।

कालाणु वर्तमान विज्ञान के भौतिक समय के World wide Instants ही समझने चाहिये । शेष प्रमाण तो विज्ञान मानता ही है ।

इस प्रकार हम देखते है कि जैनाचार्यों ने जिन कारणो से काल की सत्ता एव द्रव्यत्व निर्देश किया है, वे ही कारण, एव वे ही कार्य जो जैनमत में कहे गये हैं, आज का विज्ञान स्वीकार करता है—परन्तु फिर भी काल का स्वतन्त्र द्रव्यत्व (Substanciality like matter, ether etc)स्वीकार नही करता । और जैनधर्म में काल निरूपण की महत्ता का मुख्य आधार यही है कि उसने काल को एक स्वतत्र द्रव्य की हैसियत से बताया है, और उसे जगत् के विकास का एक आवश्यक अग बताया है । वैशेषकादि दर्शन जैनमत के इस व्यवहार काल तक ही रह गये है, उससे आगे नही बढ सके हैं ।

विज्ञान की आधुनिक प्रगति को देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि भविष्य में धर्म (Ether) अधर्म (Gravity) के समान काल का भी स्वतत्र द्रव्यत्व विज्ञान स्वीकार कर लेगा ।
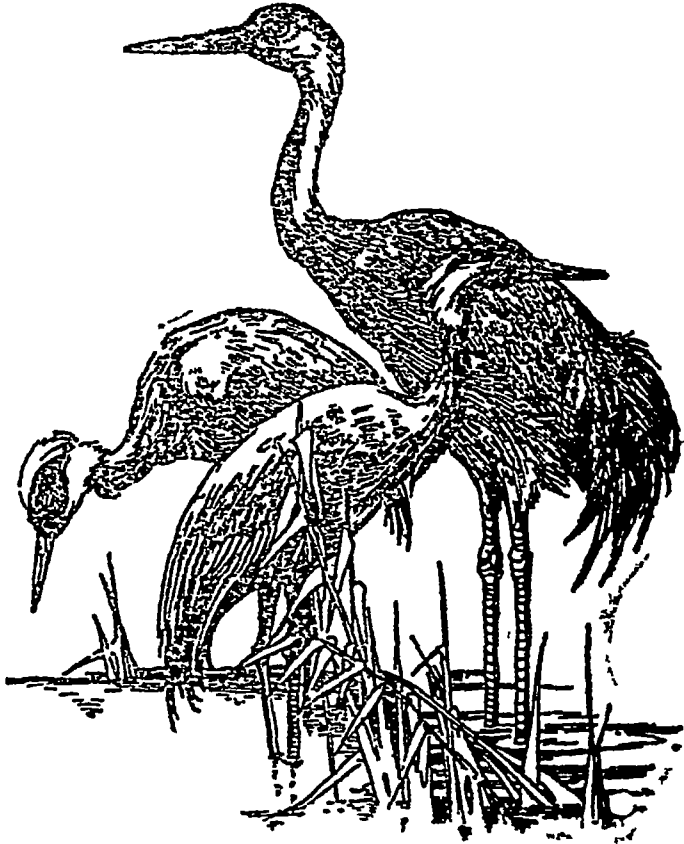
आचार्य विद्यानन्द और उनकी तर्क-शैली

न्यायाचार्य श्री दरबारीलाल, कोठिया

जैन-परम्परा मे विद्यानन्द नाम के अनेक विद्वान् हो गये है ।[1] किन्तु प्रस्तुत निबन्ध में तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक, अष्टसहस्री आदि सुप्रसिद्ध एव उच्चकोटि के दार्शनिक एव न्याय ग्रन्थो के प्रणेता तार्किकचूडामणि आचार्य विद्यानन्द और उनकी तर्कशैली पर ही कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है ।

१—परिचय—

आचार्य विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्यो का अपने ग्रन्थो में उद्धरणादि रूप से उल्लेख करने वाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो के समुल्लेखो तथा विद्यानन्द की स्वय की रचनाओ पर से जो उनका सक्षिप्त किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है उसे यहाँ देने के लोभ का हम सवरण नही कर सकते ।

(क) कार्यक्षेत्र—

सर्वप्रथम हम विद्यानन्द की उन प्रशस्तियो को लेते है जो उन्होने अपने ग्रन्थो के आदि अथवा अन्त मे श्लेष रूप में दी हुई है । इन प्रशस्तियो में विद्यानन्द ने अपने समकालीन दो गग-नरेशो— शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और उसके उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) का उल्लेख किया है[2] । गग राजाओ का राज्य वर्तमान मैसूर प्रान्त के उस बहुभाग में था, जिसे 'गङ्गवाडि'

---

१. देखो, लेखक द्वारा सम्पादित-अनूवादित और वीरसेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर) द्वारा प्रकाशित 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना पृष्ठ–५ ।

२. यथा–(क) जीयात्सज्जनताश्रयः शिव-सुधाधारावधान-प्रभुः,
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्र-प्रतापान्वितः ।
प्रोर्जज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानतः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिल-मल-प्रज्वालन-प्रक्षमः ।।

—तत्त्वार्थ श्लो० प्रश० प० ।

प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसा की चौथी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी तक रहा और आठवी शती में श्रीपुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वाधिकारी) के राज्य-काल में वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखो और दानपत्रो से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जैन-धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्दि ने, कहते है, इसकी स्थापना में भारी सहायता की थी और पूज्यपाद देवनन्दि आचार्य इसी राज्य के गग-नरेश दुर्विनीत (लगभग ई० ५००) के राजगुरु थे। अत आश्चर्य नही, कि ऐसे जिन शासन और जैनाचार्य भक्त राज्य में आचार्य विद्यानन्द ने बहुवास किया हो और निर्विघ्नता के साथ वहाँ रहकर अपने बहु समय-साध्य विशाल ग्रन्थो का प्रणयन किया हो। अत विद्यानन्द के उपर्युक्त प्रशस्ति लेखो से उनके साहित्यिक कार्यों तथा जैन-शासन के प्रचार कार्यों का क्षेत्र उक्त गगराजाओ की राज्यभूमि 'गगवाडि' प्रदेश (वर्तमान मैसूर प्रान्त) प्रतीत होता है और यही प्रदेश उनकी जन्मभूमि भी रहा हो, तो कोई आश्चर्य नही है, क्योकि उनका समग्र जीवन इसी प्रदेश में बीता जान पडता है। अस्तु।

इस प्रशस्ति पद्य में विद्यानन्द ने 'शिव-मार्ग'—मोक्षमार्ग का जयकार तो किया ही है, किन्तु उन्होने अपने समय के गंगनरेश शिवमार द्वितीय का भी जयकार एवं यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय पश्चिमी गंगवंशी श्रीपुरुष का उत्तराधिकारी और उसका पुत्र था, जो ई० सन् ८१० के लगभग राज्याधिकारी हुआ था।

(ख) शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधिया श्रीसत्यवाक्याधिपः।

(ग) विद्यानन्दबुधैरलङ्कृतमिदं श्री सत्यवाक्याधिपैः।—युक्त्यनुशासनालंकार प्रश०।

(घ) जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपा. शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः॥ —प्रमाण-परीक्षा

(ङ) विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै। —आप्तपरीक्षा

इनमें 'सत्यवाक्य' पद द्वारा शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) के उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) का उल्लेख किया गया है।

(च) अष्टसहस्री के निम्न प्रशस्ति-पद्य में भी 'सत्यवाक्य' का निर्देश किया गया प्रतीत होता है—

येनाऽशेष-कुनीतिवृत्ति-सरितः प्रेक्षावतां शोषिताः,
यद्वाचोऽप्यकलक-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थसार्थ-द्युतः।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्,
विद्यानन्द-घन-प्रदोऽनघधियां स्याद्वाद-मार्गाग्रणी.॥

यहाँ 'यद्वाचोऽप्यकलंक-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थ सार्थ-द्युत.' और 'अनघधियां विभु' ये दो पद खास तौर से विद्वानो के लिए विचारणीय है। ये दोनों ही पद 'सत्यवाक्य' के अर्थ में प्रयुक्त किये गये जान पडते है और उस हालत में 'अष्ट सहस्री' की रचना भी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम के राज्य समय में की गई मालूम होती है। इस पद्य के सारे ही पद ऐसे है जो स्वामी समन्तभद्रयतीन्द्र के अतिरिक्त किसी राजा विशेष में लगते है और वह राजा विशेष यहाँ सत्यवाक्य (राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम) के अतिरिक्त अन्य और कोई नहीं जान पड़ता।

(ख) समय—

उपर्युक्त उल्लेखो से यह भी ज्ञात हो जाता है कि आ० विद्यानन्द उक्त गग-नरेश शिवमार द्वितीय और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम के समकालीन है और इसलिए उनका समय इन राजाओ का काल है। अर्थात् ई० सन् ७७५ से ८४० उनका अस्तित्व समय अनुमानित होता है। जैसा कि हमने विस्तार के साथ अन्यत्र[1] विचार किया है।

(ग) साधु-जीवन और चारित्र-पालन—

विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य, सूक्ष्म-प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, गम्भीर विचारणा, अद्भुत अध्ययनशीलता और अपूर्व तर्कणा आदि के सम्वन्ध में इसी लेख में हम आगे विचार करेगे। उससे पूर्व हम उनके उच्च चारित्र-पालन के बारे में भी कुछ कहना आवश्यक समझते है।

आचार्य विद्यानन्द ने यद्यपि चारित्र-सम्वन्धी कोई स्वतत्र ग्रन्थ नही रचा और यदि रचा भी हो तो वह उपलब्ध नही है, जिस पर से उनके चारित्र-पालन के सम्वन्ध में कुछ विशेष जाना जाता, फिर भी उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री-गत व्याख्यानो से उनके निर्दोष और सुदृढ चारित्र-पालन पर अच्छा प्रकाश पडता है। यहाँ हम उदाहरणस्वरूप उनके तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक-गत दो महत्व-पूर्ण विचारों को प्रस्तुत करते हैं :—

१ तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक (पृ० ४५२) में तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के ११ वें सूत्र के व्याख्यान में जब उन्होने पूर्व-परम्परानुसार दुख शोक आदि असातावेदनीय रूप पापास्रव के कारणो का समर्थन किया तो उनसे प्रश्न किया गया कि जैन-साधु जो काय-क्लेश, अनशन, आतापन आदि दुश्चर तपो को तपते है उनसे उन्हें भी दुखादि होना अवश्यम्भावी है और ऐसी हालत में उनके भी असाता-वेदनीय रूप पापास्रव होगा। अत कायक्लेशादि तपो का उपदेश युक्त नही है। और यदि युक्त है तो दुखादि को पापास्रव का कारण बतलाना असगत है? विद्यानन्द इस प्रश्न का अपने पूर्वज पूज्यपाद, अकलकदेव आदि की तरह आर्षसम्मत समाधान करते हुए कहते है कि जैन-साधुओ को कायक्लेशादि तपश्चरण करने में द्वेषादि कषाय रूप परिणाम उत्पन्न नही होते, वल्कि उसमें उन्हे आनन्द आता है। जिन्हे उनके करने मे सक्लेश होता है और आनन्द नहीं आता—उन्हें भार तथा आपद मानते है उन्ही के वे दुखादिक पापास्रव के कारण है। यदि ऐसा न हो तो स्वर्ग और मोक्ष के जितने भी साधन है वे सब दुख रूप ही है और इसलिए इतर साधुओ के भी उनके करने से पापास्रव होगा। अत सक्लेशपरिणामयुक्त दुखादि ही पापास्रव के कारण है।[2]

---

१. देखो, 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना पृष्ठ ४७–५४।

२. ऐसा ही आर्षसम्मत व्याख्यान विद्यानन्द ने 'अष्टसहस्री' (पृ० २६०) में स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा-गत 'विशुद्धि सक्लेशाग' इस ९५ वीं कारिका का किया है।

प्रतिभामूर्ति विद्यानन्द सूक्ष्मप्रज्ञा के अतिरिक्त स्वतन्त्रचेता और उदार-विचारक भी थे। प्रकट है कि अकलंकदेव[1] और उनके अनुगामी माणिक्यनन्दि[2] तथा लघु अनन्तवीर्य[3] आदि ने प्रत्यभिज्ञान के अनेक (दो से भी अधिक) भेद बतलाये हैं। परन्तु विद्यानन्द[4] अपने ग्रन्थों में प्रत्यभिज्ञान के एकत्व प्रत्यभिज्ञान और सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान ये दो ही भेद प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार एक उदाहरण उनके उदार विचारों का भी हम नीचे प्रस्तुत करते हैं —

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक (पृ० ३५८) में आ० विद्यानन्द ने ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व आदि जातियों की व्यवस्था गुणों व दोषों से बतलाते हुए लिखा है कि ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व आदि जातियाँ सम्यग्दर्शनादि गुणों तथा मिथ्यात्वादि दोषों से व्यवस्थित हैं, नित्य जाति कोई नहीं है। जो उन्हें अनादि, नित्य, सर्वगत और अमूर्तस्वभाव मानते हैं वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों से बाधित है। इस तरह उन्होंने अपने उदार विचारों को उपस्थित किया है और यह उनकी जैन-तर्कग्रन्थों के लिए अपूर्व देन है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उनके इस कथन को ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८२–४८७) तथा न्याय कुमुदचन्द्र (पृ० ७६८–७७९) में पल्लवित एवं विस्तृत किया है।

यहाँ यह भी उल्लेख योग्य है कि विद्यानन्द अत्यन्त प्रामाणिक और श्रेष्ठतम व्याख्याकार भी थे। उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ, स्वामी समन्तभद्र, अकलंकदेव आदि के पद-वाक्यादिकों का अपने ग्रन्थों में जहाँ-कहीं व्याख्यान एवं मर्मोद्घाटन का अवसर आया है उनका उन्होंने बड़ी प्रामाणिकता एवं ईमानदारी से व्याख्यान किया है।[5]

उनके ग्रन्थों में प्रचुर व्याकरण के सिद्धि प्रयोग अनूठी पद्यात्मक काव्य-रचना, तर्कगर्भ वाद-चर्चा, प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शी जिन-शासन-भक्ति उन्हें उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि अद्वितीय वादी महान् सिद्धान्ती और सच्चा जिन-शासनभक्त सिद्ध करने में पुष्कल प्रमाण हैं। वस्तुतः विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ्मय में—कम से कम जैन परम्परा में तो—कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। यही वजह है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियाँ उत्तर-वर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादी देवसूरि, हेमचन्द्र, लघुसमन्तभद्र, अभिनव धर्म भूषण, उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिए पथ-प्रदर्शक एवं अनुकरणीय हुई हैं। माणिक्य-नन्दि का परीक्षामुख जहाँ अकलंकदेव के वाङ्मय के आधार से रचा गया है वहाँ विद्यानन्द की प्रमाण-परीक्षादि तार्किक रचनाओं का भी वह आभारी है और उनका उस पर उल्लेखनीय प्रभाव है।[6]

---

१. देखो, लघीय० का० २१, । २ परीक्षामुख ३–५ से ३–१० । ३ प्रमेयरत्न० ३–१० । ४ तत्त्वार्थ श्लोकवा० पृ० १९०, अष्ट स० २७९, प्रमाण परीक्षा पृ० ६९ ।

५. देखो, तत्त्वार्थ श्लोकवा० पृ० २४०, २४२, २५४ आदि तथा अष्टस० पृ० ५, १६८, २६० आदि और प्रमाण-परीक्षा पृ० ६८, ६९ आदि ।

६. देखो, 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना पृ० २८ ।

वादिराज सूरि (ई० १०२५) ने लिखा है[1] कि 'यदि विद्यानन्द अकलकदेव के वाङ्मय का रहस्योद्घाटन न करते तो उसे कौन समझ सकता था।' प्रकट है कि आ० विद्यानन्द ने अकलकदेव की अष्टशती के तात्पर्य को अपनी अष्टसहस्री द्वारा उद्घाटित किया है। पार्श्वनाथ चरित में विद्यानन्द के तत्त्वार्थालंकार (तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक) तथा देवागमालंकार (अष्टसहस्री) की प्रशसा करते हुए उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है[2] कि 'आश्चर्य है कि विद्यानन्द के इन दीप्तिमान् अलकारों की चर्चा करने-कराने और सुनने सुनाने वालों के भी अगों में कान्ति आ जाती है—उन्हें धारण करने वालों की तो वात ही क्या है।' प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादि देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण के ग्रन्थ भी विद्यानन्द के तार्किक ग्रन्थों से उपजीव्य हैं। उन्होंने उनके ग्रन्थों से स्थल-के-स्थल उद्धृत किये हैं और अपने ग्रन्थों को उनसे अलकृत कर उन्हें गौरव प्रदान किया है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री को, जिसके सम्बन्ध में विद्यानन्द ने स्वय कहा है[3] कि 'हजार शास्त्रों को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए उसीसे ही समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान हो जावेगा', पाकर यशोविजय भी इतने विभोर एव मुग्ध हुए हैं कि उन्होंने उस पर 'अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण' नाम की नव्य-न्याय शैली-प्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या भी लिखी।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आ० विद्यानन्द उच्चकोटि के प्रभावशाली दार्शनिक एव तार्किक विद्वान् थे और उनकी अनूठी रचनाएँ भारतीय दर्शन-साहित्याकाशके दीप्तिमान् नक्षत्र हैं।

यहाँ विद्यानन्द की उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं का कुछ परिचय दे देना अनुचित न होगा। विद्यानन्द के निम्न ९ ग्रन्थ हैं। इनमें ३ तो टीका-ग्रन्थ हैं और शेष ६ उनके स्वतन्त्र एव मौलिक हैं।

१ विद्यानन्द महोदय, २ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र-टीका), ३ अष्टसहस्री (देवागम-टीका), ४ युक्त्यनुशासनालकार (युक्त्यनुशासन-परीक्षा) ५ आप्त-परीक्षा, ६ प्रमाण-परीक्षा, ७ पत्र-परीक्षा, ८ सत्यशासन-परीक्षा और ९ श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र।

१ विद्यानन्द महोदय—यह आ० विद्यानन्द की सम्भवत आद्य रचना है, क्योंकि उत्तरवर्ती प्राय सभी ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है[4] और सूचनाएँ दी गई हैं कि 'विस्तार से 'विद्यानन्द

---

१. देखो, न्याय विनिश्चय विवरण (लि० प० ३८२) गत वह पद्य, जो इसी लेख में पहले उद्धृत किया जा चुका है।

२. 'ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरङ्गेषु रिङ्गति ॥श्लो० २८॥

३. 'श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमय सद्भावः ॥ अष्ट० पृ० १५७।

४. 'इति परीक्षितमसकृद्विद्यानन्दमहोदये'। —तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २७२, '. . अवगम्यताम् ॥ यथागम प्रपञ्चेन विद्यानन्द महोदयात्। तत्त्वा० पृ० ३८५। इति तत्त्वार्थालंकारे विद्यानन्द महोदयेन च प्रपञ्चत. प्ररूपितम्।' —अष्ट० स० पृ० २९०। 'देवागम-तत्त्वार्थालंकार-विद्यानन्द महोदयेषु च तदन्वयस्य व्यवस्थापनात्।'—आप्त-परीक्षा पृ० २६२।

महोदय' से जानना चाहिए।' किन्तु दुर्भाग्य से आज यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नही। विक्रम की १३ वी शताब्दी तक इसका पता चलता है। विद्यानन्द के चार सौ वर्ष बाद होनेवाले वादी देवसूरि ने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' में इसका नामोल्लेखपूर्वक उसकी पक्ति दी है।[1] इस उल्लेख से जहाँ इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि एव महत्ता प्रकट है वहाँ उसका १३ वी शती तक अस्तित्व भी सिद्ध है। इसकी खोज होनी चाहिए।

२ तत्वार्थश्लोकवार्तिक—यह आ० गृद्धपिच्छ (उमास्वाति अथवा उमास्वामि) रचित तत्त्वार्थ-सूत्र पर लिखी गई पाण्डित्यपूर्ण विशाल टीका है। जैन वाङ्मय की उपलब्ध कृतियो में यह एक बेजोड रचना है और तत्वार्थसूत्र की टीकाओ में प्रथम श्रेणी की टीका है। कुमारिल भट्ट ने जैमिनिसूत्र पर मीमासा श्लोकवार्तिक लिखा है। विद्यानन्द ने उसीके जवाब में इस टीका को रचा है।

३ अष्टसहस्री—यह स्वामी समन्तभद्र के देवागम (आप्त-मीमासा) स्तोत्र पर रचा गया महत्व-पूर्ण टीका-ग्रन्थ है। विद्यानन्द ने अपने पूर्वज भट्टाकलकदेव द्वारा 'देवागम' पर ही लिखी गई गहन दुरूह रचना 'अष्टशती' को इसमें अनुस्यूत एव आत्मसात् करके अपनी प्रतिभा से उसके प्रत्येक पद-वाक्यादिका हृदयस्पर्शी मर्मोद्घाटन किया है।

४. युक्त्यनुशासनालकार—यह भी स्वामी समन्तभद्र के तर्कगर्भ 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्र पर लिखी गई उनकी मध्यम परिमाण की सुन्दर एव विशद टीका है।

५ आप्त-परीक्षा (स्वोपज्ञ टीकासहित)—स्वामी समन्तभद्र ने जिस प्रकार 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस तत्वार्थसूत्र के मङ्गलाचरण पद्य पर उसके व्याख्यान रूप में आप्तमीमासा लिखी है उसी प्रकार आचार्य विद्यानन्द ने उसी पद्य के व्याख्यान रूप में आप्त-परीक्षा रची है और साथ ही उसपर स्वोपज्ञ टीका भी लिखी है। इसमें ईश्वर, कपिल, सुगत और ब्रह्म की परीक्षापूर्वक अर्हन्त जिन को आप्त सिद्ध किया गया है। रचना बडी सुबोध व महत्त्वपूर्ण है।

६ प्रमाण-परीक्षा—इसमें दर्शनान्तरीय प्रमाणो के स्वरूपादि की आलोचना करते हुए जैन-दर्शन-सम्मत प्रमाण के स्वरूप, सख्या, विषय और फल का अच्छा वर्णन किया गया है।

७. पत्र-परीक्षा—यह विद्यानन्द की गद्य-पद्यात्मक लघु तर्क-रचना है। इसमे जैन दृष्टि से पत्र (अनुमान प्रयोग) की व्यवस्था की गई है और अन्यदीय पत्र मान्यताओ में दोष दिखाये गये हैं।

८ सत्यशासन-परीक्षा—यह विद्यानन्द की अन्तिम रचना जान पडती है, क्योकि यह अपूर्ण उपलब्ध है। इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनो (मतो) की परीक्षा करने की प्रतिज्ञा की गई है। परन्तु उनमें से ६ की पूरी और प्रभाकर शासन की अधूरी परीक्षा मिलती है। प्रभाकर शासन का शेषाश,

---

१. "महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते' इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्।"—पृ० ३४६।

तत्त्वोपप्लव परीक्षा और अनेकान्त शासन-परीक्षा इसमें अनुपलब्ध हैं। यह कृति भी अन्य कृतियो की तरह ही विद्यानन्द की तर्कणाओ से ओत-प्रोत है और बहुत ही विशद है।

९ श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र—यह श्रीपुर के पार्श्वनाथ (पार्श्वनाथ के सातिशय प्रतिबिम्ब) को लक्ष्य मे रखकर रचा गया विद्यानन्द का भक्तिपूर्ण स्तोत्र-ग्रन्थ है। कपिलादि की आलोचना करते हुए पार्श्वनाथ को आप्त सिद्ध किया गया है। इसमे कुल ३० पद्य हैं। २९ पद्य तो ग्रन्थ-विषय के प्रतिपादक हैं और अन्तिम ३० वाँ पद्य उपसहारात्मक है। समन्तभद्र के देवागम की तरह यह तर्कपूर्ण सुन्दर स्तोत्र है।

२—तर्क-शैली—

आचार्य विद्यानन्द श्रेष्ठ तार्किक विद्वान् हैं। सहेतुक विवेचन-शैली तर्कशास्त्रियो के लिए मनोरजक है।

इनके उपलब्ध सभी ग्रन्थ दार्शनिक एव न्यायविषयक हैं। इनमें उन्होंने जो अद्भुत तर्क-शैली प्रस्तुत की है वह सूक्ष्म और तीक्ष्ण तर्कणाओ से ओत-प्रोत होते हुए भी इतनी विशद और प्रसाद एव प्रवाह-गुणयुक्त है कि विद्वान् पाठक उस पर मुग्ध हुए विना नही रहता। विद्यानन्द की विचारपूर्ण तर्कशैली पर अपने उद्गार प्रकट करते हुए बनारस के प्रसिद्ध दार्शनिक स्वर्गीय प० अम्बादासजी शास्त्री ने कहा था कि 'विद्यानन्द की असाधारण तर्कणा एव गहन विचारणा अत्यन्त प्रशसनीय है। उन्होंने ईश्वरकर्तृत्व की जैसी विशद, सबल एव तर्कपूर्ण समालोचना की है वैसी अन्य किसी ने की हो, अब तक देखने मे नही आई। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि विद्वानो ने भी ईश्वरकर्तृत्व की आलोचना की है, किन्तु वह आलोचना विद्यानन्द की आलोचना की समता नही करती। विद्यानन्द तो दण्ड लेकर ईश्वर के पीछे पड गये। 'आप्त-परीक्षा' उनकी इस विषय की एक बेजोड रचना है। नि.सन्देह निष्पक्ष व्यक्ति उनकी तर्कशैली की प्रशसा करेगे [१]।'

जैन तार्किक प० सुखलालजी विद्यानन्द के तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक की तर्कणाओ एव गहन विचारणाओ की तारीफ करते हुए लिखते हैं [२] कि 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में जितना और जैसा सबल मीमासक दर्शन का खण्डन है वैसा तत्त्वार्थसूत्र की दूसरी किसी भी टीका में नही। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक मे चर्चित हुए कोई भी मुख्य विषय छूटे नहीं; बल्कि बहुत से स्थानो पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ जाती है। कितनी ही बातो की चर्चा तो श्लोकवार्तिक मे बिल्कुल अपूर्व ही है। राजवार्तिक मे दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक मे इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैनवाङ्मय में जो थोडी-बहुत कृतियाँ महत्व रखती हैं उनमे की दो कृतियाँ 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' भी हैं।

१ शास्त्री जी का एक मौखिक भाषण, जिसे न्यायालकार प० वशीधर जी इन्दौर ने सुनाया।

२ देखो, तत्त्वार्थसूत्र सविवेचन की 'परिचय' प्रस्तावना पृ० ९२।

तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बरीय साहित्य मे से एक भी ग्रन्थ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके, ऐसा दिखाई नही देता ।'

न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजी प्रोफेसर (बौद्ध-दर्शन) हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस ने विद्यानन्द की तार्किक कृतियो और उनकी प्रसन्न तर्कशैली की प्रशसा करते हुए लिखा है [1] कि 'तर्क ग्रन्थ के अभ्यासी, विद्यानन्द के अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एव प्रसन्न भाषा में गूथे गये युक्तिजाल से परिचित होगे । उनके प्रमाण परीक्षा, पत्र-परीक्षा और आप्त-परीक्षा प्रकरण अपने अपने विषय के वेजोड निवन्ध हैं । ये ही निवन्ध तथा विद्यानन्द के अन्य ग्रन्थ आगे वने हुए समस्त दि० श्वे० न्यायग्रन्थो के आधारभूत हैं । इनके विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि० श्वे० न्यायग्रन्थो पर अपनी अमिट छाप लगाये हुए हैं । यदि जैनन्याय के कोषागार से विद्यानन्द के ग्रन्थो को अलग कर दिया जाय तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायगा । '

उक्त विद्वानो के इन उद्गारो से स्पष्ट है कि तीक्ष्णवुद्धि विद्यानन्द की तर्क-निष्णात प्रमेय-प्रतिपादन-शैली कितनी आकर्षक तथा मुग्ध करने वाली है । उनकी इस अपूर्व तर्कशैली के दो उदाहरण देखिए —

१ (क) 'कस्यचिद् दुष्टस्य निग्रह शिष्टस्य चानुग्रहं करोतीश्वर प्रभुत्वात्, लोकप्रसिद्धप्रभुवत् । न चैव नानेश्वरसिद्धि , नाना प्रभूणामेकमहाप्रभुतन्त्रत्वदर्शनात् । तथा हि विवादाध्यासिता नाना प्रभव एक-महाप्रभुतन्त्रा एव नाना प्रभुत्वात् । ये ये नाना-प्रभवस्ते ते अत्रैकमहाप्रभुतन्त्रा दृष्टा , यथा सामन्त-महा-सामन्तमाण्डलिकादय एकचक्रवर्तितन्त्रा , प्रभवश्चैते चक्रवर्तीन्द्रादय , तस्मादेकमहाप्रभुतन्त्रा एव । योऽसौ महाप्रभु स महेश्वर इत्येकेश्वरसिद्धि । स च स्वदेहनिर्माणक रोऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरत्वात्, यो योऽन्य-देहिना निग्रहानुग्रहकर स स स्वदेहनिर्माणकरो दृष्ट , यथा राजा, तथा चायमन्यदेहिना निग्रहानुग्रहकर, तस्मात्स्वदेहनिर्माणकर इति सिद्धम् ।

तच्च न परीक्षाक्षमम्, महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपपत्ते. । तथा हि-यदि हीश्वरो देहान्तराद्विनाऽपि स्वदेहमनुध्यानमात्रादुत्पादयेत् तदाऽन्यदेहिना निग्रहानुग्रहलक्षण कार्यमपि प्रकृत तथैव जनयेदिति तज्जनने देहाधानमनर्थक स्यात् । यदि पुनर्देहान्तरादेव स्वदेह विदधीत तदा तदपि देहान्तरमन्य-स्माद् देहादित्यनवस्थिति स्यात् । तथा चापरापरदेहनिर्माण वोपक्षीणशक्तिकत्वान्न कदाचित्प्रकृत कार्यं कुर्यादीश्वर '—आप्त-प० पृ० ६६–६७ ।।

(ख) 'किञ्च सन्नेव वा नियोग स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधि-वाद एव । द्वितीय पक्षे निरालम्बनवाद । तृतीय पक्षे तूभयदोषानुषङ्ग । चतुर्थपक्षे व्याघात —सत्त्वास-त्त्वयो परस्परव्यवच्छेदरूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्ते , सकृदेकत्रोभयप्रतिषधायोगात् ।

—अष्टस० पृ० ८ ।

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ३, किरण ११ ।

कितनी प्रसन्न विशद अर्थगर्भ, प्रवाहयुक्त और तर्कपूर्ण शैली है ! शका और समाधान कितने व्यवस्थित और सरल तरीके से प्रस्तुत किये गये हैं ! इसी तरह अपने समग्र ग्रन्थो में उन्होने इस मोहक एव प्रबोधजनक शैली को अपनाया है ।

२ दूसरा उदाहरण भी देखिए—(क) कुमारिल भट्ट ने मीमासा-श्लोकवार्तिक मे सर्वज्ञ का निषेध करते हुए लिखा है कि 'सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नही, इसमें क्या प्रमाण है ? यदि दोनो को सर्वज्ञ माना जाय तो उनके उपदेशो में परस्पर विरोध क्यो ? इसलिए कोई सर्वज्ञ नही है ।' यथा—

सुगतो यदि सर्वज्ञ कपिलो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेद कथ तयो. ॥

तर्कनिष्णात विद्यानन्द कुमारिल के इस प्रचण्ड आक्षेप का तर्कपूर्ण करारा उत्तर देते हुए लिखते हैं कि 'इस तरह श्रुति भी प्रमाण नही हो सकती । हम पूछते है कि भावना श्रुतिवाक्य का अर्थ है, नियोग नही—इसमें क्या नियामक है ? यदि दोनो श्रुतिवाक्य के अर्थ है तो भट्ट और प्रभाकर दोनो खतम हो जाते है । इसी तरह नियोग श्रुति वाक्य का अर्थ है, विधि (ब्रह्म) नही, इसमे क्या प्रमाण है ? यदि दोनो श्रुतिवाक्य के अर्थ है तो भट्ट और वेदान्ती दोनो नष्ट हो जाते है ।' यथा—

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्ट-प्रभाकरौ ॥
कार्येऽर्थे चोदनाज्ञान स्वरूपे किन्न तत्प्रमा ।
द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनौ ॥

(ख) कुमारिल ने सर्वज्ञ के निषेध के सिलसिले में ही मीमासा-श्लोकवार्तिक मे एक दूसरी जगह लिखा है कि 'सद्भावसाधक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणो में से कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ का साधक नही है । अत अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है ।' यथा—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभि ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्ग वा योऽनुमापयेत् ॥
नचागमविधि कश्चिन्नित्य सर्वज्ञबोधन ।
न च मन्त्रार्थवादाना तात्पर्यमवकल्प्यते ॥ इत्यादि ।

तर्क विशारद विद्यानन्द कुमारिल के इस सबल आक्रमण का तर्कयुक्त प्रबल जवाब देते हुए कहते है कि 'सर्वज्ञ का साधक सबसे बडा प्रमाण यही है कि उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्षादि से वस्तु का सद्भाव सिद्ध होता है । अत उनसे सर्वज्ञ का अभाव नही हो सकता । अभाव-प्रमाण भी सर्वज्ञ का निषेधक सम्भव नही है, क्योंकि जहाँ निषेध्य का निषेध (अभाव) करना होता है उसका ज्ञान होने पर और जिसका निषेध करना होता है उसका स्मरण होने पर ही नियम से 'नही है' ऐसा ज्ञान अर्थात् अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है । लेकिन न तो किसी प्रमा-

णादि से समस्त संसार का ज्ञान सम्भव है, जहाँ सर्वज्ञ का निषेध करना है और न सर्वज्ञ का पहले अनुभव है तब उसका स्मरण कैसे हो सकता है? क्योंकि अनुभवपूर्वक ही स्मरण होता है। अत. अभाव प्रमाण का उदय न हो सकने से वह भी सर्वज्ञ का अभाव नही साध सकता। इसलिए सर्वज्ञ का कोई बाधक न होने से वह नियम से सिद्ध होता है।' यथा—

प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दन् त्रिकाल भुवनत्रयम्।
रहित विश्वतत्त्वज्ञैर्न हि तद् बाधक भवेत्॥
नानुमानोपमानार्थापत्त्याऽऽगमबलादपि।
विश्वज्ञाभावससिद्धि तेषा सद्विषयत्वत॥

. . ..

अभावोऽपि प्रमाण न निषेध्याधारवेदने।
निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तिताज्ञानमञ्जसा॥
न चाशेषजगज्ज्ञान कुतश्चिदुपपद्यते।
नापि सर्वज्ञसवित्ति पूर्व तत्स्मरण कुत॥

येनाऽशेषजगत्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम्।—आप्त-प० पृ० २२३–२२५

कुमारिल प्रभाकर धर्मकीर्ति प्रज्ञाकर आदि मीमासक तथा बौद्ध-दार्शनिको ने जैन-दर्शन पर जो-जो प्रचण्ड आक्षेप तथा आक्रमण किये है उन सबके विद्यानन्द ने इसी प्रकार अपनी सन्तुलित एव गम्भीर तर्कशैली में प्रबल तथा मर्मस्पर्शी जवाब दिये है। कुमारिल और धर्मकीर्ति जैसे प्राज्ञ ग्रन्थकार तो कही-कही परपक्षखण्डन मे अपना सन्तुलन भी खो बैठे है और दूसरे दार्शनिको को उन्मत्त, अज्ञानी अश्लीलवक्ता आदि गालियो की वर्षा करते हुए भी देखे जाते है; किन्तु सूक्ष्मविवेकी विद्यानन्द की तर्कगर्भा विचारणा में ऐसी कोई चीज दृष्टिगोचर नहीं होती। नि सन्देह यह विद्यानन्द की सबसे बडी विशेषता है जो बहुत कम तार्किको में पाई जाती है। मीमासको और वेदान्तियो की भावना, नियोग और विधि की दुरूह चर्चा जो जैन वाङ्मय के लिए विद्यानन्द की अपूर्व देन है, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक तथा अष्टसहस्री में अत्यन्त गम्भीर और प्राञ्जल भाषा में विस्तार के साथ प्रस्तुत करके विद्यानन्द ने विद्वानो के लिये न केवल सुन्दर ज्ञान-भण्डार प्रदान किया है अपितु एक अच्छा आदर्श भी उपस्थित किया है। यही कारण है कि उत्तरवर्ती जैन तार्किको पर उनकी तर्कशैली का अमिट प्रभाव पड़ा है।

अन्त में हम यह कहते हुए अपने निबन्ध को समाप्त करते है कि विद्यानन्द की उज्ज्वल कीर्ति और प्रभाव में जहाँ उनकी यह प्रसन्न तर्कशैली कारण है वहाँ तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रो और देवागम की कारिकाओं की विशाल एव विस्तृत व्याख्याएँ भी उसमें चार चाँद लगाती हैं और इसलिए आचार्य विद्यानन्द और उनकी अमर रचनाएँ दोनो जैन वाङ्मय में गौरवास्पद है।

कौगाली तालुका होपानेहल्ली जिला देवाली से प्राप्त भगवान महावीर की मूर्त्तियां
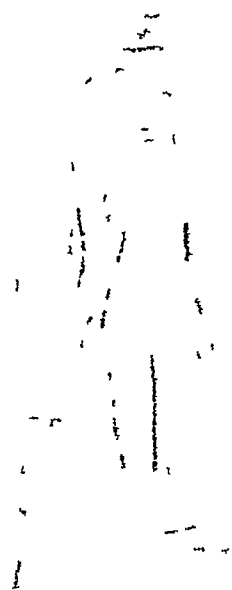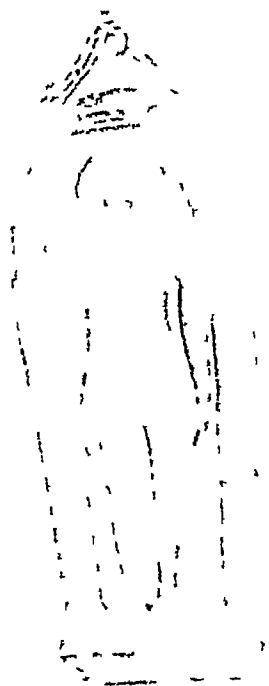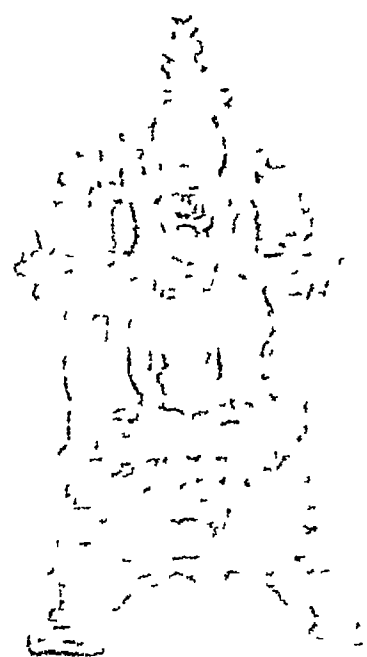
भारतीय-दर्शन-क्षेत्र में जैन-दर्शन की देन

प्रो० विमलदास कोंदिया, एम० ए०, एल०-एल० बी०

भारतीय-दर्शन के दो स्रोत—

भारतीय दर्शन में इतिहासानुक्रम को देखना एक बडी ऐतिहासिक भूल है। भारतीय दर्शन के अनेक स्रोत हैं। उन स्रोतो का अध्ययन करना ही भारतीय-दर्शन का इतिहास और परिचय है। प्राकृतिक साधनो से सम्पन्न भारतीय क्षेत्र मे उत्पन्न होनेवाले जन-समूह के जीवन और जगत् की गुत्थियो को समझने और सुलझाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक प्रतीत होती है। ऐहिक सुख से परिपूर्ण या सासारिक दु खो से दु खित मनुष्य ही अध्यात्म और परलोक की चिन्ता करते हैं। उन्ही की अध्यात्म की ओर रुझान होती है। भारत में हमें दोनो प्रकार के मनुष्यो के द्वारा-जीवन, जगत्, परलोक और अध्यात्म के विषय में किये गये चिन्तनो का साहित्य मिलता है। इसमें दो धाराएँ मुख्य हैं।—(१) श्रमण-धारा (२) ब्राह्मण-धारा। वर्तमान युग के अधिकतर दार्शनिको ने ब्राह्मण-धारा को ही मूलस्रोत मानकर विचार किया है। यह उनका एक-पक्षीय चिन्तन है। किन्तु विधुशेखर भट्टाचार्य आदि विद्वान इस एक-पक्षीय चिन्तन को स्वीकार करने के लिए तैयार नही हैं।

इसमे कोई सन्देह नही कि ब्राह्मण-धारा ने भारतीय-दर्शन क्षेत्र में सबसे अधिक योगदान दिया है। उक्त धारा ने कई दार्शनिक सिद्धान्तो को जन्म दिया है और वह अबतक अक्षुण्ण रूप से चलती चली आ रही है। न्याय वैशेषिक, मीमासा, वेदान्त, शैव, शक्ति आदि दर्शन इसी की देन है। इसके अतिरिक्त आर्हत, बौद्ध, साख्य, आजीवक आदि और भी दर्शन है जिनको हम श्रमण-धारा की देन कह सकते है। यद्यपि इस प्रकार का वर्गीकरण पहले नही किया गया है किन्तु वर्तमान समय की खोजो ने हमें इस प्रकार के वर्गीकरण करने के लिए बाध्य किया है। जैन, बौद्ध तथा कही-कही ब्राह्मण साहित्य में भी हमें श्रमण तथा ब्राह्मण-धाराओ के स्पष्ट उल्लेख मिलते है। ब्राह्मण-धारा का मूल स्रोत है वेद और वेद से ही उन्हें भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो को तिपादन करने की प्रेरणा मिली है। वेद स्वय सग्रहीत-ग्रन्थ होने के कारण किसी एक निश्चित वाद के पोषक प्रतीत नही होते। उनमें हमें बहुदेवतावाद, एकत्ववाद, क्रियाकाण्ड, प्रकृति-पूजा,

जादू-टोना आदि अनेक प्रकार के सिद्धान्त मिलते है। उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने इन्ही को आधार मानकर अनेक मत स्थापित किए। वैदिक आर्य वेद अपने साथ लाए थे इसलिए उनमें हमें विशेष दार्शनिक मतभेदो का उल्लेख नही मिलता। उनका जब भारत में प्रवेश हुआ तो उन्हे यहां भारतीय आर्यों की एक भिन्न-प्रकार की सस्कृति और सभ्यता से परिचय मिला। यह सस्कृति और सभ्यता यहां के मूल-निवासी श्रमणो की थी। श्रमणो की कार्य-प्रणाली के केन्द्र थे काशी, कोशल, मगध, अग, वग और कलिंग। इनमें मगध ने सबसे अधिक भाग लिया है। श्रमणो के अनुसार मगध शाश्वत सस्कृति और सभ्यता का केन्द्र रहा है। वैदिक आर्यो ने अपनी सभ्यता का केन्द्र कुरु-पाञ्चाल को बनाया। सप्त-सिन्धु देश उनका प्रथम उपनिवेश था। इस हेतु से हम उनकी सभ्यता और सस्कृति को साप्तसिन्धवी सभ्यता और सस्कृति कह सकते है। द्रविड सस्कृति और सभ्यता भी यहां की मौलिक स्वतत्र सस्कृति थी, जो बहुत काल तक उत्तर भारतीय सस्कृतियो के प्रभाव से अप्रभावित रही। सर्वप्रथम श्रमणो ने वहां जाकर अपनी सस्कृति और सभ्यता का प्रचार किया। पश्चात् वैदिक लोग भी वहां पहुचे। 'तोल काप्यम्' में इसके प्रमाण मिलते है।

संस्कृतियों का संघर्ष-काल—

जहां तक ब्राह्मण और श्रमण सस्कृतियो का सम्बन्ध है, इनमें बहुत काल तक खीचातानी चलती रही। इस खीचतानी के फलस्वरूप ही वैदिक ऋषियो को औपनिषद क्षेत्र में उतरना पडा। पतञ्जलि ने इसका उल्लेख 'येषा च शाश्वतिको विरोध' इस पाणिनीय सूत्र की व्याख्या में 'अहि-नकुलम्,' 'श्रमण-ब्राह्मणम्' उदाहरण द्वारा किया है। यह उल्लेख श्रमण और ब्राह्मणो की उत्कट प्रतिद्वन्द्विता का सूचक है। उपनिषद्-साहित्य उस मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल का साक्षी है जब वैदिक चिन्तको को वैदिक सस्कृति की श्रमणो के आक्रमण से रक्षा की चिन्ता थी। साधारण जनता श्रमण-मार्ग को जानती थी। वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि उनको रूचिकर नही थे। नरमेध, पशुमेध, गोमेध मानसिक क्रान्ति के भयकर स्थल थे। जाति-जाति का भेद भी असह्य था। स्त्री और शूद्र का व्यवहार यहां के सामाजिक आचार के विरुद्ध था। इस प्रकार के वातावरण में औपनिषदिक साहित्य की रचना अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती है। यह वह समय था जब सर्वप्रथम वैदिक लोगो के हृदय में आत्म-चिन्तन की प्रेरणा उत्पन्न हुई। उन्होने 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्यादि का नारा लगाया। यथार्थ में अध्यात्मविद्या श्रमणो की निज चीज थी। वे आत्मा को स्वदेह-परिमाणरूप मानते थे। जब वैदिको में भी यह चर्चा चली तो उन्होने आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न विचार उपस्थित किये। किन्ही ने उसको विश्व-व्यापी कहा। किन्ही ने वट-कणिका मात्र कहा। अन्य ने अगुष्ठ-मान बतलाया तथा अन्य ने ब्रह्मवाद की नीव डाली। इन्ही भिन्न-भिन्न विचारधाराओ ने अनेक सिद्धान्तो को जन्म दिया। यह निर्विवाद तथ्य है कि भारतीय दर्शनो का जन्म आत्म-दर्शन और परलोक की समस्या के हल में है। ईश्वर आदि का विचार बहुत पीछे से यहां प्रविष्ट हुआ है। मुझे तो ईश्वरवाद विदेशियो की देन प्रतीत होता है। बहुत कुछ सम्भव है ईश्वरवाद का जन्म सेमेटिक सिद्धान्तो में मिले। इस विषय पर अनुसन्धान होने की आवश्यकता है।

जैन-दर्शन का योग-दान—

इस पृष्ठभूमि को लेकर हमें विचार करना है कि जैन दर्शन ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में कितना योगदान दिया है।

(१) आत्मज्ञान—अध्यात्मवाद की बुनियाद डालने का श्रेय यहाँ के तीर्थंकरो को है। तीर्थंकर आत्मा के विकास मे विश्वास करते थे। इन्होने स्वय आर्हन्त्य पद प्राप्त कर सिद्धत्व की प्राप्ति की। निगोदावस्था से लेकर चरम लक्ष्यतक पहुँचने की सुन्दर यात्रा का वर्णन तीर्थंकरोने ही अपने दिव्य-ज्ञान द्वारा किया और बतलाया कि इस विकास मे मुख्य हेतु सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। जिन आत्मीय गुणो को आज मनो-विज्ञान ने ससार के सामने रखा, उन्ही रहस्यो को तीर्थंकरो ने प्रतिपादन करके ससार के कल्याण के लिए मार्ग खोला। उन्होने कहा 'ज्ञान आत्मा है, आत्मा ज्ञान है।' "अरे ससार के जीवो! आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो, अन्य वस्तुओं के ज्ञान प्राप्त करने से कोई विशेष लाभ नही, क्योकि जो एक को जान लेते हैं वे सबको जान लेते हैं।" इस प्रकार की अध्यात्ममूलक शिक्षा तीर्थंकर परम देवो की थी। भौतिकवाद के स्तर से मनुष्य को ऊपर ले जाकर अध्यात्म के पथ पर चला कर चरम लक्ष्य तक पहुँचाना ही तीर्थंकरो के द्वारा प्रतिपादित धर्म का लक्ष्य था। इस देन का श्रेय कर्म-युग के प्रथम आर्य ऋषभ को है जो भारत का सर्व-प्रथम सस्कृत पुरुष था। अनन्तर इसी अध्यात्मवाद के अनेक रूप बन गये।

(२) त्रिरूप सत्—इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय भी जैन दर्शन के प्रवर्तको को है। 'वस्तु सत् है और वह त्रिरूप है' यह मन्तव्य अत्यन्त प्राचीन है—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है। इस व्यापक तत्व का लाक्षणिक-रूप ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश है। तीर्थंकरो ने कहा— 'भाव पदार्थ का नाश नही होता और अभाव का उत्पाद नही होता। वस्तुओ के गुण और पर्यायो मे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य देखने में आते है।' इस तथ्य का उल्लेख भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है। जैन-दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार की दार्शनिक परम्परा को जन्म देने का श्रेय आर्य कुन्दकुन्द को है। आर्य कुन्दकुन्द को मूल सघीय आचार्य होने के नाते इस तथ्य का ज्ञान था। उन्होने प्रस्थानत्रयी के समान प्राभृतचर्या द्वारा अनेक अतिभौतिक तत्वो का प्रतिपादन किया है। उनका विचार सत् के स्वरूप का प्रतिपादन कर उसको त्रिरूप बतलाना था। इसकी प्रतिष्ठापना उन्होने उच्च आध्यात्मिक स्तर पर की है। यह भारतीय दार्शनिक-चिन्तन का उत्कृष्ट नमूना है। अत इसके जन्म का श्रेय महाश्रमणो को है।

(३) परमाणुवाद—आज परमाणुवाद की चर्चा सर्वत्र है। एटम बाम्ब के अविष्कार ने जगत् को चकित और भयभीत किया है। क्या हम जानते हैं—इसकी खोज किसने की? विदेशीय तथा भारतीय विचार-इतिहासज्ञो का मन्तव्य है कि इसका अनुसधान भी तीर्थंकरो के मस्तिष्क की प्रयोगशाला में हुआ। वैशेषिको ने तथा ग्रीक दार्शनिको ने भी इसकी प्रेरणा यही से प्राप्त की। अर्हन्त परम देवने कहा—'अन्त ही जिसका आदि है, अन्त ही जिसका मध्य है, और अन्त ही जिसका अन्त है और जो इन्द्रियो से ग्रहण नही किया जा सकता ऐसा जो अविभागी पुद्गल द्रव्य है, उसको, अरे ससार के प्राणियो! परमाणु समझो।' इसी प्रकार परमाणु-वाद की नीव डालकर उसके स्वतत्र अस्तित्व को स्थापित कर द्वैतवाद की सृष्टि का श्रेय भी उन दिव्य पुरुषो को है जिन्होने जैन भौतिकवाद की स्थापना की। इन मूल परमाणुओ से उपलब्ध स्कन्धो से ही भौतिक जगत् की निर्मिति है। अत यह तत्व भी जैन दर्शन की महान् देन है।

(४) अनेकान्त—महाश्रमण भगवान समतभद्रने युक्त्यनुशासन मे लिखा है कि 'तत्व अनेकान्त स्वरूप है और वह अशेष रूप है।' इस दार्शनिक तथ्य ने नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भाव, अभाव, सत्, असत् आदि एकान्तवादो का निराकरण किया। अनेकान्त ने इनकी सापेक्षता सिद्ध की और बतलाया कि सत्य,

तत्व, यथार्थता एकान्त में न होकर अनेकान्त मे है । अनेकान्त तत्व ही विरोध, वैयाधिकरण्य, अनवस्था आदि दोषो से रहित हो सकता है । यह परगामम का बीज है । इसका प्रतिपादन जात्यन्ध व्यक्तियो के हस्ति के प्रतिपादन के समान नही है । इसमें समग्र एकान्त दृष्टियाँ समन्वित होती हैं तथा यह विरोध का विध्वंसक है । यह परम तथ्य है । जिसने अनेकान्त स्वरूप को जान लिया, वही केवल ज्ञानी है। इस प्रकार अपेक्षावाद की सृष्टि कर जैन-दर्शन ने विरोधी दार्शनिक क्षेत्रो में एक महान सामञ्जस्य के सिद्धान्त की नींव डाली । वर्तमान युग के रिलेटिविटी के सिद्धान्त के बीज इसमें पूर्ण रूप से मिल सकते हैं। जैन दर्शन की यह देन अपूर्व है। आचार्य सिद्धसेन ने इसको निखिल जगत् के गुरु के रूप में स्मरण किया है।

(५) स्याद्वाद—स्याद्वाद अनेकान्त-वाद से परिफलित सिद्धान्त है । जिस वस्तु-स्वरूप को हम भावरूप से जानते और देखते हैं उसी को शब्दो से जानना स्याद्वाद कहलाता है। इसी हेतु से स्याद्वाद को श्रुत कहा गया है। भगवान की वाणी को स्याद्वादमयी कहने का भी यही तात्पर्य है । वस्तुगत अनेक धर्मो का अपेक्षा की दृष्टि से विचार करना स्याद्वाद का कार्य है । इसमें 'स्यात्' शब्द की सार्थकता सर्वोपरि है । समन्तभद्र के शब्दो में 'स्यात्' शब्द सत्य का लाञ्छन है । व्यवहार में सत्य का प्रतिपादन स्याद्वाद को छोड़कर अन्य रूप में हो नही सकता। स्याद्वाद सकलादेश है, विकलादेश नय है । हम जगत् की धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक समस्याओ को सुलझाने मे स्याद्वाद से काम ले सकते हैं । भविष्य में राष्ट्रीय-निर्माण स्याद्वाद के सिद्धान्त पर ही अवलम्बित होना चाहिये । स्याद्वाद के सिद्धान्त पर आधारित ज्ञानतन्त्र सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होगा । इसके प्रयोग करने की आवश्यकता है । स्याद्वाद मनुष्य के अन्दर बौद्धिक सहानुभूति उत्पन्न करता है । विरोध को यह जड से उखाड़ देता है। मनुष्य स्याद्वादी होकर ही समाज-निर्माता बन सकता है । हमें इस जैन दर्शन की अपूर्व देन का जीवन क्षेत्र में उपयोग करना चाहिये ।

(६) नयवादः—नयवाद भी जैन-दर्शन की अद्भुत् देन है। अन्य दर्शनकारो ने प्रमाण शास्त्र पर तो विचार किया और उसके सिद्धान्त स्थापित किये किन्तु जहाँ तक नय पक्ष का सबंध है उस पर किसी ने विचार ही नहीं किया। इसी कारण से मैं गौतम और बौद्ध न्याय शास्त्र के ग्रन्थो को अधूरा समझता हूँ । वस्तु तत्व की विवेचना प्रमाण और नयो द्वारा होनी चाहिये । उमास्वामी ने 'प्रमाणनयैरधिगमः' यह सूत्र ठीक लिखा है। वह न्याय-पद्धति का प्रतिपादक प्रथम सूत्र है । नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय क्रम से नैयायिक, वेदान्त, व्यवहारवाद, बौद्ध, शब्दवाद, रूढिवाद, तथा अर्थ क्रियावाद के प्रतिपादक हैं। इनमें समग्र दार्शनिक सिद्धान्त समावेशित किये जा सकते हैं। नयो का वर्गीकरण निश्चय और व्यवहार से भी किया गया है। यह परम्परा कुन्दकुन्द की है । वेदान्त ने भी इसी को उत्तर में ग्रहण किया और परम-संग्रह को उत्कृष्ट तत्व मानकर ब्रह्माद्वैत की स्थापना की। इस नयवाद का उपयोग मनुष्य को अच्छे तनयो (पुत्रो) पर किये गये व्यवहार के समान करना चाहिये । तभी दार्शनिक क्षेत्र में कौटुम्बिक भावना उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार की कौटुम्बिक भावना के आधार पर आधारित दर्शन ही किसी लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं । अन्यथा दार्शनिक कलह जीवन और जगत् के क्षेत्र को गन्दा करके मनुष्यो को पथभ्रष्ट कराने में सहायक होगा। अतः हमें नयवाद का उपयोग करके दृष्टि-समता का भाव पैदा करना चाहिये । भारत का इसी में कल्याण है।

सप्तभंगी—सप्तभंगी का सिद्धान्त जैन दार्शनिक-चिन्तन का चरम-रूप है । अनैकान्तिक मस्तिष्क सप्तभंगी पर ही टिक सकता है। विचार-प्रगति का यह अन्तिम विकास है। यूरोप में जिस चीज को हेगेल ने

वतलाया । भारतीय दर्शनकारो मे सर्वप्रथम इसका उल्लेख कुन्दकुन्द ने किया । कुन्दकुन्द की 'सिय अत्थि, णत्थि' आदि गाथा प्रत्येक दार्शनिक के मुखपर रहती है । हेगेल ने विचार-गति के प्रवाह का उल्लेख करते हुए थीसिस, और एन्टी सिन्थेसिस के रूप में तत्व की व्यवस्था की । किन्तु जैन दार्शनिको ने अस्ति, नास्ति अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्तिनास्त्यवक्तव्यरूप सात भगो को स्थापित कर अपनी गणित शास्त्र-सम्बन्धी तथा विचार शास्त्र-सम्बन्धी प्रखरता का परिचय दिया । माध्य-मिको ने उसका विरोध किया और फलत शून्यता मे शरण लिया । इसका अर्थ यह है कि वे अज्ञेयवादी वन गये । अज्ञेयता की स्वीकृति ज्ञान का अपघात है, जिसको कोई दार्शनिक स्वीकार नही कर सकता । अत कहना पडता है कि सप्तभगीवाद भारतीय डाइलेक्टिक का सर्वोत्कृष्ट नमूना है । यह खोज जैन दर्शनकारो की ही है ।

(७) मोक्षतत्व —मोक्ष के सिद्धान्त का उद्गम भी जैन दार्शनिकको की देन है । वौद्ध दार्शनिको ने निर्वाण की स्थापना की । हिन्दू दार्शनिको ने निश्रेयस या ब्रह्म-प्राप्ति की स्थापना की । मोक्ष सिद्धान्त के उपदेश का श्रेय तीर्थंकरो को इसलिये है कि मोक्ष का सिद्धान्त जैन दर्शन मे ही वनता है। आखिर मोक्ष कर्मो से छुटकारा पाने का नाम ही तो है । जैनियो की वन्ध मोक्ष व्यवस्था सार्थक और सप्रमाण है । वन्ध के हेतुओ के अभाव और निर्जरा मे मोक्ष की अवाप्ति का सिद्धान्त कर्म सिद्धान्त पर आधारित है । इसकी व्याख्या जैन दार्शनिको ने की है । आत्मा जव वन्धनवद्ध है तव उस वन्धन से मुक्ति प्राप्त करना जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति मालूम पडती है । इसके अतिरिक्त जीव का अग्नि के समान ऊर्ध्वगमन स्वभाव भी जो उसे सतत ऊपर की ओर प्रेरित करता रहता है । जव अन्तिम ध्येय की प्राप्ति हो जाती है तव जीव अपने उत्कृष्ट स्वभाव सिद्धत्व मे स्थिर हो जाता है जो मुक्त जीवो की शास्वत अवस्था है । इस अवस्था के प्राप्त होने पर जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हो जाती है और जीव अपने अनन्त गुणो मे रमता हुआ शाश्वतिक आनन्द को प्राप्त हो जाता है । यह मोक्ष का सिद्धान्त आर्हती सस्कृति की परम देन है।

(८) कर्म सिद्धान्त —कर्म सिद्धान्त भी जैन तीर्थंकरो का प्राचीनतम सिद्धान्त है । कर्मलिप्त जीव अनादि काल से इस ससार में भ्रमण करता रहता है । यह कर्म-तत्व मीमासाको के अपूर्व से विलक्षण है । मन, वचन, काय के हलन-चलन से जो आत्मा में परिस्पन्द होता है उसके निमित्त से पौद्गलिक वर्गाणएँ कर्म रूप परिणमित हो जाती हैं । इसकी परम्परा अनादि होती हुई भी सान्त है, किसी-किसी मामले में यह अनादि और अनन्त भी है । किन्तु मोक्ष की दृष्टि से यह अनादि सान्त है । अन्यथा मोक्ष तत्व की स्थापना हो ही नही सकती । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म जीव की भिन्न-भिन्न शक्तियो को आवृत कर उनका विश्वास नही होने देते हैं । इसीलिये जीव ससार में परिवर्तन करता है । कर्म सिद्धान्त ने ही ईश्वर के सिद्धान्त को निरर्थक कर दिया । कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश वन्ध के विचार ने वहुत से दार्शनिको को चकित किया है । इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त के द्वारा ही हम चारित्र आदि के सिद्धान्त का विवेचन कर सकते हैं । अत कर्म सिद्धान्त भी तीर्थंकरो की मौलिक देन है ।

उत्कृष्टचारित्र—अनेक दार्शनिको का विचार है कि जैन और वौद्ध दर्शन चारित्र-निर्माण पर अधिक जोर देते हैं । उनका कहना वहुत हद तक ठीक है । जैन-दर्शन के अनुसार दर्शन और ज्ञान होने पर भी जव तक चारित्र की प्राप्ति नही होती तव तक मनुष्य अपने ध्येय पर नही पहुँच सकता । आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार मे

चारित्र को ही धर्म बतलाया है , क्यो कि समता चारित्र से उत्पन्न होती है । जब समता उत्पन्न हो गई तो मोह और क्षोभ स्वत दूर हो जायगे । आत्मा के स्वरूप में आचरण से लेकर यथाख्यात स्वरूप की प्राप्ति तक चारित्र बढ़ता रहता है । गुणस्थान क्रम चारित्र की वृद्धि का द्योतक है । चारित्र की उत्कृष्टता की प्राप्ति के लिए उन्होने अनेक प्रकार के दुर्धर तप तपने तथा सयम की आराधना करने का उपदेश दिया जो सर्वथा विलक्षण है । आज ससार में दर्शन और ज्ञान की तो वृद्धि है, किन्तु चारित्र की ओर लक्ष्य नही । हमारी अवनति का यही कारण है । कौन नही जानता कि चरित्र नष्ट होने से सब कुछ नष्ट हो जाता है । इसके लिए हमें सामाजिक चारित्र तथा व्यक्तिगत चारित्र दोनो की उन्नति करनी चाहिए । भारत अपने सदाचार से ही अपने मस्तिष्क को ससार के समक्ष ऊँचा उठा सका । आज चरित्रहीनता हमे कहाँ ले जा रही है, हम नही कह सकते । इसके लिए हमे अपना जीवन नियमित करना होगा । तभी हम उन्नति कर सकेंगे । हम अपने को आर्य कहलाने के अधिकारी तभी हो सकते हैं जब हमारा चरित्र ुण समुन्नत होगा । उत्कृष्ट चरित्र की शिक्षा भी इस हेतु से जैन-दर्शन की परम देन है ।

(९) **ध्यानः**—ध्यान या समाधि का मार्ग भी जैन दार्शनिको की देन है । कर्मों का दहन ध्यान की अग्नि मे ही होता है । यह सबसे उत्कृष्ट यज्ञ है । जैन तीर्थंकरो ने इसी प्रकार के यज्ञ किये न कि मूक, निर्बल पशुओ का घात किया । इसकी ही अभ्यास-अवस्था को सामायिक कहते है । यह सामायिक या ध्यान प्रत्येक मनुष्य को त्रिकाल करना चाहिए । मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मुझे कहाँ जाना है, मेरा क्या कर्तव्य है—इत्यादि प्रश्नो का ध्यान में ही हल मिल सकता है । आर्द्र, रौद्रध्यान ससार के बन्धन हैं । धर्म और शुक्ल ध्यान द्वारा ही आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है । पतञ्जलि ने भी यौगिक प्रक्रिया द्वारा ध्यानादिक का वर्णन किया है और स्वरूप प्राप्ति की शिक्षा दी है । किन्तु जैन समाधि और ध्यान की प्रक्रिया जिसका गुणस्थानो द्वारा विशेष अध्ययन किया जा सकता है, एक अपूर्व प्रक्रिया है जो सबसे अधिक आत्म-विकास की साधिका होती है। उसका उपदेश भी तीर्थंकरो ने दिया और यह भी जैन-दर्शन की अपूर्व देन है। इसीके समकक्ष प्रक्रिया हमें बौद्ध ग्रन्थो में भी मिलती है । इसका तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये । तुलनात्मक अध्ययन करने पर जैन-प्रक्रिया की छाप बौद्ध ध्यान प्रक्रिया पर अवश्य प्रतीत होगी ।

(१०) **अहिंसा**—जैन-दर्शन से यदि अहिंसा को अलग कर दिया जाय तो जैन दर्शन की आत्मा ही समाप्त हो जायगी । आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को परम ब्रह्म का स्वरूप कहा है अर्थात् आत्मा स्वभाव से अहिंसक है । यदि अनेकान्त दार्शनिक मूल सिद्धान्त है तो उसका व्यवहार रूप अहिंसा है । अहिंसा परम व्यवहार धर्म है । विश्व के जीवों का अस्तित्व अहिंसा के सिद्धान्त पर अवलम्बित है । ससार के सब प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता । इसलिये जीव-दया या जीव-रक्षा प्राणिमात्र का धर्म है। जैन-दर्शन योग्यतम के सरक्षण मे विश्वास नही करता । इसके विपरीत जैन-दर्शन का विश्वास है निर्वलतम के सरक्षण में । हिसा स्वघातिनी है । हिसा की परम्परा का नाश नही होता । जीव 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त के आधार पर ही जीवित रह सकते है । आज विज्ञान ने हमारे दिलो को हिला दिया है । एटम बाम्ब और हाइड्रोजन बाम्ब के आविष्कार हमारी हिंसा प्रवृत्ति की चरम सीमाएँ है । हम अहिंसा में ही विश्वास कर जीवित रह सकते हैं । अन्यथा हमारा विनाश प्रलय से भी भयकर सिद्ध होगा । महात्मा गाधी ने

इस युग मे जन्म लेकर भगवान् महावीर के एक शिष्य से प्रेरणा पाकर अहिंसा के अस्त्र का प्रयोग कर विश्व के सामने एक महान आदर्श रखा कि अहिंसा में ही जीवन और विश्व का कल्याण है। ससार में युद्ध प्रवृत्ति को समाप्त कर देना चाहिये। भविष्य का मनुष्य कुछ स्वार्थी व्यक्तियो के लिए अपनी जान देने के लिए कभी तैयार नही होगा। गान्धीजी ने स्वय एक हिन्दू के हाथ से गोली खा कर अपने को अहिंसा की वेदी पर चढा दिया। विश्व का इतिहास इसका साक्षी रहेगा। मनुष्य की दानवीय प्रकृति कहाँ तक कार्य कर सकती है इसका यह नमूना है। गान्धीजी चले गये किन्तु अहिंसा की विजय अवश्यम्भाविनी है। यदि ससार को दो युद्धो से सवक नही मिला तो तीसरा युद्ध अवश्य ही अहिंसा की विजय में विश्वास पैदा करेगा। अत इस अहिंसा के सिद्धान्त की उत्कृष्ट साधना जैन दर्शन की अमूल्य देन है जिसके मूल्य का विश्व अनुभव करत जा रहा है।

(११) **अपरिग्रहवादः**—अपरिग्रहवाद जैन दर्शन की अन्तिम देन है। भगवान स्वय नग्न थे और उन्होने निर्ग्रन्थ मार्ग का उपदेश दिया। परिग्रह की भावना अनेक दोषो की जननी है। लोभ, द्वेष, डाह आदि सब इसी के चट्टे-वट्टे हैं। आज हम देखते है कि हम किस प्रकार परिग्रह की तृष्णा बढाते जा रहे है। आज प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि ससार की सम्पत्ति मेरे घर में आ जाय। आज अमेरिका की परिग्रह की नीति से ससार क्षुब्ध है। ससार की वस्तुओ पर अधिकार कर दूसरो को शोषण करने की भावना पाप-भावना है। आवश्यकतानुसार परिग्रह रखकर हमारा उद्देश्य नैर्ग्रन्थ्य का होना चाहिये। प्राचीन काल में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सदृश व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को छोडकर त्याग के मार्ग में लगे और उत्कृष्ट ध्येय की प्राप्ति की। आज वैसे उदाहरण कहाँ हैं? जैन आचार्यों ने तिलतुष मात्र परिग्रह का निषेध किया है। मानव जाति को अपरिग्रहता की ओर झुकना चाहिये। ससार में न कोई कुछ लाया है और न ले जायगा। साठ-सत्तर वर्ष की अल्प स्थिरता के लिए शासन-शोषण की भावना गर्हणीय है। जगत् की वस्तुओ पर मानव मात्र का अधिकार है। अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुओ को अहिंसा की भावना के साथ-साथ उपयोग कर निष्परिग्रह होने की भावना रखनी चाहिये। जैनचारित्र का आदर्श अपरिग्रहवाद में है। विषम-वितरण इसी सिद्धान्त के परिपालन से दूर किया जा सकता है। पूँजीवाद के दोष भी इसीसे दूर हो सकते हैं। अत परिग्रह की मूर्छा कदापि नही करना चाहिये। वडे राष्ट्राधिनायको को इस पर विचार करना चाहिये। हम तो महारम्भो को भी मानव जाति के लिए हानिकारक समझते हैं। यथार्थ में मनुष्य अल्पारम्भ की भावना से ही पैदा होता है। इस प्रकार जैन दर्शन ने उत्कृष्ट अपरिग्रहवाद नीव डालकर एक महान् आदर्श उपस्थित किया है।

जैन-दर्शन की मान्यता—

इस लेख में मैंने अपने स्वचिन्तन से ये एकादश विशेषताएँ निकाली हैं, मैं जिनको समझता हूँ कि ये श्रमण-धारा की अपूर्व देन हैं। अन्य दर्शनो से ये वस्तुएँ सर्वथा भिन्न है, इसी कारण से इनका पार्थक्य पृथक प्रतीत होता है। जैन-दर्शन इस परम्परा को आज तक अक्षुण्ण रूप से चला रहा है। ये मगध सस्कृति और सभ्यता की शाश्वत भित्तियाँ हैं, जिनके ऊपर श्रमण-सस्कृति का भव्य-भवन निर्मित है। आचार्य समन्तभद्र ने, दया, दम, त्याग, समाधि, नय, प्रमाण आदि जैन दर्शन की विशेषताएँ वतलाई हैं

और उनको अद्वितीय कहा है। मेरे विचार मे तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उपर्युल्लिखित एकादश बातें ही विशेषता की द्योतक प्रतीत हुईं, जिनका सक्षिप्त रूप में दिग्दर्शन करा दिया गया है। भारतीय मस्तिष्क अ पूर्व है। यहाँ के तत्व-चिन्तको ने ससार को क्या-क्या दिया इसकी परिगणना करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु इतना अवश्य मानने योग्य है कि यहाँ की मूल सभ्यता का आधार अनेकान्त (सत्य) और अहिंसा रहे हैं। जब-जब लोगो ने सत्य और अहिंसा के विरोध में आवाज उठाई है उसका विरोध हुआ है। असत्य और हिंसा तो स्वय घातक है। इनपर आधारित कोई भी सस्कृति और सभ्यता चिरकाल-स्थायिनी नही रह सकती। भविष्य के भारत का भी हमें इन्ही तत्वो की आधार-शिला पर निर्माण करना है। देखें, समय हमारा कहाँ तक साथ देता है।

जैन-दर्शन में शब्द की स्थिति

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रस्ताविक—

शब्द और अर्थ क्या है ? इनका सम्बन्ध है या नही ? ये नित्य हैं या अनित्य ? यदि नित्य हैं तो इनका क्या स्वरूप है और अनित्य हैं तो क्या ? अर्थतत्व का ज्ञान कैसे और क्यो होता है ? अर्थ-तत्व का निर्णय किस प्रकार से और किन साधनो से किया जाता है ?—आदि प्रश्नो का समाधान वैयाकरणो के अतिरिक्त दार्शनिको ने भी किया है। शब्द सुदूर प्राचीन काल से ही दार्शनिको के लिए विचार का विषय रहा है। जैन दर्शनकारो ने भी शब्द और अर्थतत्व पर पर्याप्त ऊहा-पोह किया है। प्रमोत्पत्ति का प्रधान साधन शब्द ही है। अत इसके स्वरूप पर विचार करना दर्शन शास्त्र का एक अनिवार्य अग है।

स्वरूप—

जैन दर्शन में शब्द को पुद्गल का पर्याय या रूपान्तर माना गया है। इसकी उत्पत्ति स्कन्धो के परस्पर टकराने से होती है। इस लोक में सर्वत्र ुद्गलरूप शब्द वर्गणाएँ, अति सूक्ष्म और अव्याहत रुप से भरी हुई हैं। हम अपने मुह से ताल्वादि के प्रयत्न द्वारा वायु विशेष का निस्सरण करते हैं, यही वायु पुद्गल-वर्गणाओ से टकराती है, जिससे शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड में शब्द के आकाश गुणत्व का निराकरण करते हुए बतलाया गया है कि परमाणुओ के सयोग रूप स्कन्धो शब्दवर्गणाओ के सर्वत्र, सर्वदा विद्यमान रहने पर भी ये वर्गणाएँ शब्द रूप तभी परिणमन करती हैं, जब अर्थबोध की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न से प्रेरित परस्पर घर्षण होता है। वाद्यध्वनि तथा मेघ आदि की गर्जना भी वर्गणाओं के घर्पण का ही फल है। कुन्दकुन्द स्वामी ने शब्द स्वरुप का विवेचन करते हुए लिखा है——

सद्दो खंधप्पभवो खधो परमाणुसंगसघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियमा ।।———पञ्चास्तिकाय

शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। अनेक परमाणुओ के बन्ध को स्कन्ध कहते हैं। इन स्कन्धो के परस्पर टकराने से शब्द की उत्पत्ति होती है।

अत यह सिद्ध है कि शब्द पुद्गल का पर्याय है—पुद्गल स्वरूप है और इसकी उत्पत्ति स्कन्धो के परस्पर टकराने से होती है।

जब शब्द पुद्गल का पर्याय है तो यह किस गुण के विकार से उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय गुणो की विकृति—परिवर्तन से उत्पन्न होता है। पुद्गल में प्रधान चार गुण होते है—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। शब्द स्पर्श गुण के विकार से उत्पन्न होता है। भाषा वर्गणाएँ जो पुद्गल रूप है, उनमें पुद्गल के चारो प्रधान गुणो के रहने पर भी स्पर्श गुण के परिवर्तन से शब्द की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि शब्द कर्ण इन्द्रिय से स्पर्श करने पर ही अर्थबोध का कारण बनता है। आज के विज्ञान ने (sound) ध्वनि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो प्रक्रिया प्रस्तुत की है, उससे भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है। विज्ञान ध्वनि की उत्पत्ति में 'कम्पन' को आवश्यक मानता है। यह कम्पन स्पर्श गुण के परिवर्तन से ही सभव है। जैन दार्शनिको ने शब्द को गतिमान, स्थितिमान और मूर्तिक माना है। परीक्षण से भी उक्त तीनो गुण शब्द में सिद्ध है। अत शब्द पुद्गल का पर्याय है और स्पर्श गुण के विकारसे उत्पन्न होता है तथा इसमें पुद्गल के चारो गुणो में से स्पर्श गुण ही प्रधान रूप से व्यक्तावस्था में पाया जाता है।

नित्यानित्यत्व—

मीमासक का कहना है कि शब्द को अनित्य मानने से अर्थ की प्रतीति सभव नही, किन्तु शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, अत शब्द नित्य है। शब्द नित्य न हो तो स्वार्थ का वाचक नही हो सकता है। शब्द में वाचकत्व और अर्थ में वाच्यत्व-शक्ति है, अत शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमादि प्रमाणो से सिद्ध है। उदाहरण के लिए यो कह सकते है कि हमने किसी व्यक्ति से पानी लाने को कहा। शब्द अनित्य होता तो पानी शब्द कहने के साथ ही नष्ट हो जाता और श्रोता को अर्थ की प्रतीति ही नही होती तथा हम प्यासे ही बने रहते और सुननेवाला हमें कभी भी पानी लाकर नही देता। पर यह सब होता नही है, श्रोता हमारे कहने के साथ ही अर्थ बोध कर लेता है और जिस अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है श्रोता उसकी क्रिया को भी सम्पन्न कर देता है। अतएव शब्द नित्य है, अन्यथा अर्थबोध नही हो सकता था। अनित्य शब्द से अर्थ की प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति असभव है।

'यह घट है' इस शब्द की सदृशता इसी प्रकार के विभिन्न देशवर्ती शब्दो में पायी जाती है, अत यह सदृशता अर्थ का वाचक हो जायगी, नित्यता नही—यह आशका भी निरर्थक है, अत शब्द सदृशता से अर्थ का वाचक नही हो सकता, क्योकि शब्द में वाचकत्व एकत्व से सभव है, सदृशता से नही। न सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से अर्थ का निश्चय किया जा सकता है, क्योकि ऐसा मानने से शब्द-ज्ञान में भ्रान्ति-दोष आयगा। एक शब्द में सकेत होने पर दूसरे शब्द से अर्थ का निश्चय निर्भ्रान्त नही हो सकता, अन्यथा गृहीत सकेत गोशब्द में अश्व शब्द से गाय अर्थ का निश्चय भी अभ्रान्त हो जायगा। यदि शब्द के अवयवो के साम्य से शब्द में सदृशता स्वीकार की जाय तो यह भी असगत होगा, क्योकि वर्ण निरवयव होते हैं। गत्व से विशिष्ट गादि शब्दो में भी वाचकत्व नही बन सकता है, यत गादि सामान्य का अभाव है और सामान्य के अभाव के कारण शब्दो में नानात्व भी सभव नही। अतएव नित्य शब्द द्वारा ही अर्थबोध हो सकता है।

पतजलि ने 'ऋलृक' सूत्र की व्याख्या में जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और यदृच्छा शब्दो का विवेचन करते हुए जाति शब्दो को नित्य, क्रियावाचक शब्दो को अत्यन्त सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष, गुणवाचक शब्दो

अव्यवहार्य और स्वानुभूति-सवेद्य एव यदृच्छा शब्दो को लोक-व्यवहार का हेतु माना है। यदृच्छा शब्द भौतिक है, ये नित्य नही, प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।

कैयट ने इसी सूत्र की व्याख्या मे यदृच्छा शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व स्वीकार नही किया। ये इसे माया, अविद्या और अज्ञान का ही प्रपच मानते हैं।

नैयायिक और वैशेषिक शब्द को अनित्य मानते है। उनका सिद्धान्त है कि उत्पत्ति के तृतीय क्षण में शब्द का ध्वस हो जाता है, यह आकाश का गुणविशेष है। लौकिक व्यवहार मे वर्ण से भिन्न नाद ध्वनि को ही शब्द कहा जाता है।

बौद्ध अपोह—अन्य निवृत्ति रूप शब्द को मानता है तथा इस दर्शन में शब्द को अनित्य माना गया है।

प्रभाकर ने शब्द की दो स्थितियां मानी हैं— ध्वनि रूप और वर्ण रूप। दोनो रूप आकाश के गुण है। इनमे ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य है और वर्णात्मक शब्द नित्य।

जैन दर्शन मे उपर्युक्त सभी दर्शनो की आलोचना करते हुए शब्द को नित्या नित्यात्मक माना गया है। असल बात यह है कि जैन दर्शन मे विचार करने की दो पद्धतियाँ है—द्रव्यार्थिक नय या द्रव्यदृष्टि और पर्यार्यार्थिक या पर्याय दृष्टि। किसी भी वस्तु का विचार करते समय उपर्युक्त दोनो दृष्टियो में से जब एक दृष्टि प्रधान रहती है तब दूसरी दृष्टि गौण और दूसरी के प्रधान होने से पर पहली गौण हो जाती है। अत द्रव्य दृष्टि से विचार करने पर शब्द कथञ्चित् नित्य सिद्ध होता है, क्योकि द्रव्य रूप शब्द वर्गणाएँ सर्वदा विद्यमान रहती हैं और पर्यायदृष्टि की अपेक्षा से शब्द कथञ्चित् अनित्य हैं, क्योकि व्यक्ति विशेष जिन शब्दो का उच्चारण करता है, वे उसी समय या उसके कुछ समय पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। जैन दार्शनिको ने पर्यायापेक्षा भी शब्द को इतना क्षण-विध्वसी नही माना है, जिससे वह श्रोता के कान तक ही नही पहुँच सके और बीच में ही नष्ट हो जाय। एक ही शब्द की स्थिति कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक हो सकती है। यही कारण है कि जैन दार्शनिको ने शब्द को एकान्त रूप से नित्य या अनित्य माननेवाले पक्षो का तर्क-सगत निराकरण किया है। कुमारिल भट्ट के नित्यपक्ष की आलोचना करते हुए प्रभाचन्द्र ने बतलाया है कि अर्थ के वाचकत्व के लिए शब्द को नित्य मानना अनुपयुक्त है, क्योकि शब्द के नित्यत्व के बिना अनित्यत्व से भी अर्थ का प्रतिपादन सभव है। जैसे अनित्य धूमादि से सदृशना के कारण पर्वत और रसोई घर मे अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार गृहीत सकेतवाले अनित्य शब्द से भी सदृशता के कारण अर्थ का प्रतिपादन सभव है। यदि कार्यकारण एव सदृशता सम्बन्धो को वस्तुप्रतिपादक न माना जाय और केवल नित्यता को ही प्रधानता दी जाय तो सर्वत्र सभी पदार्थो को नित्यत्वापत्ति हो जायगी। अतएव कुमारिल भट्ट ने जो शब्द को नित्य माना है तथा शब्द की उत्पत्ति न मानकर उसका आविर्भाव एव तिरोभाव माना है, वह सदोष है। तर्क द्वारा शब्द कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक ही सिद्ध होता है। शब्द की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नही।

अर्थ-प्रतिपत्ति—

जैन दार्शनिको ने अर्थ में वाच्य रूप और शब्दो मे वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता मानी है। इस योग्यता के कारण ही सकेतादि के द्वारा शब्द सत्य अर्थ का ज्ञान कराते है। घट शब्द मे कम्बुग्रीवादि

वाले घडे को कहने की शक्ति है और उस घडे मे कहे जाने की शक्ति है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार का सकेत ग्रहण हो जाता है कि घट शब्द इस प्रकार के घट अर्थ को कहता है, वह व्यक्ति घट शब्द के श्रवण मात्र से ही जलधारण क्रिया को करनेवाले घट पदार्थ का बोध प्राप्त कर लेता है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने अर्थप्रतिपत्ति का निर्देश करते हुए कहा है—

सहजयोग्यता सकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः———परीक्षामुख

प्रभाचन्द्र ने शब्द और अर्थ के वास्तविक सम्बन्ध की सिद्धि में उपस्थित किये गये तर्कों का उत्तर देते हुए लिखा है कि यह सत्य है कि अर्थज्ञान के विभिन्न साधनो से अर्थ का ज्ञान समान रूप से स्पष्ट नही होता, कोई अधिक स्पष्ट रूप से वस्तु का ज्ञान कराते हैं और कोई नही। अग्नि शब्द से उतना अग्नि का स्पष्ट ज्ञान नही होता, जितना कि अग्नि के जलने से उत्पन्न दाह का। साधन के भेद से स्पष्ट या अस्पष्ट ज्ञान होता है, विषय के भेद से नही। अत अस्पष्ट ज्ञान करानेवाले साधन से ज्ञात पदार्थ को असत्य नही कह सकते। साधन के भेद से एक ही शब्द विभिन्न दशाओ में विभिन्न अर्थों के प्रकट करने की योग्यता रखता है।

शब्द और अर्थ की इस स्वाभाविक योग्यता पर मीमासक ने आपत्ति प्रस्तुत की है कि शब्द-अर्थ में यह स्वाभाविकी योग्यता नित्य है या अनित्य? प्रथम पक्ष में अनवस्था दूषण आयेगा और द्वितीय पक्ष मे सिद्ध साध्यतापत्ति हो जायगी। इस शका का समाधान करते हुए बताया गया है कि हस्त, नेत्र, अगुली सज्ञा सम्बन्ध की तरह शब्द का सम्बन्ध अनित्य होने पर भी अर्थ का बोध कराने मे पूर्ण समर्थ हैं। हस्त, सज्ञादि का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य नही है, क्योकि हस्त, सज्ञादि स्वय अनित्य हैं, अत इनके आश्रित रहनेवाला सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है। जिस प्रकार दीवाल पर अकित चित्र दीवाल के रहने पर रहता है और दीवाल के गिर जाने पर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शब्द के रहने पर स्वाभाविक योग्यता के कारण अर्थबोध होता है और शब्दाभाव में अर्थबोध नही होता। मीमासक के समस्त आक्षेपो का उत्तर प्रभाचन्द्र ने तर्कपूर्ण दिया है।

भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में शब्द और अर्थ की विभिन्न शक्तियो का निरूपण किया है। प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में शब्द और अर्थ की स्वाभाविक योग्यता का निरूपण करते हुए भर्तृहरि के सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध—

जैन-दर्शन शब्द के साथ अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध मानता है। यह स्वाभाविक है तथा कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक है। इन दोनो में प्रतिपाद्य प्रतिपादक शक्ति है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञाप्य-ज्ञापक शक्ति है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ में योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य-कारण आदि सम्बन्ध भाव नही है। शब्द और अर्थ में योग्यता का सम्बन्ध होने पर ही सकेत होता है। सकेत द्वारा ही शब्द वस्तुज्ञान के साधन बनते हैं। इतनी विशेषता है कि यह सम्बन्ध नित्य नहीं है तथा इसकी सिद्धि प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीनो प्रमाणो द्वारा होती है। —

सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्या ——प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ११६

जैन दार्शनिको ने नित्यसम्वन्ध, अनित्य सवध एव सम्वन्धाभाव का वडे जोरदार शब्दो में निराकरण किया है। प्रमेय कमलमार्तण्ड में प्रभाचन्द्र ने जो विस्तृत समालोचना की है, उसीके आधार पर थोडा सा इस सम्वन्ध मे विवेचन कर देना, अप्रासगिक न होगा।

वैयाकरण अर्थवोव शब्द से न मानकर शब्द को अभिव्यक्त करनेवाली सामूहिक ध्वनि विशेष से ही अर्थ वोव मानते है, और इसीका नाम उन्होने स्फोटवाद रखा है। इनका कहना है कि अर्थ मे निश्चित वाच्य शक्ति है और उसका वाचक स्फोट है। यदि वर्णों में वाचकत्व शक्ति स्वीकार की जाय तो वर्णो में यह वाचकत्व शक्ति न तो उनके समूहपने से सभव हो सकती है और न पृथक्पने से। पृथक्पने के मार्ग को स्वीकार करने में 'गौ' शब्द में से 'ग' वर्ण ही गाय पदार्थ का वाचक हो जायगा। 'औ' और विसर्ग का उच्चारण निष्फल ही होगा। यदि सामूहिक वर्णों को अर्थवोधक माना जायगा तो वर्णों की सामूहिकता ही एक काल में कैसे सभव हो सकेगी? क्योकि वर्ण अनित्य है। उनका उच्चारण क्रमश होता है तथा इनके उच्चारण स्थान भी निश्चित है और ये उच्चारण स्थान एक साथ अपना काम नही करते है। अत सामूहिक वर्ण अर्थ-वोव के हेतु नही हो सकते।

अनुग्राह्य और अनुग्राहक सम्वन्ध की अपेक्षा भी वर्णो में वाचकत्व शक्ति सिद्ध नही हो सकती, अत अनुग्राह्य-अनुग्राहक सम्वन्ध मूर्त मे होता है अर्थात् अनुग्राह्य वस्तु और अनुग्राहक वस्तु दोनो के सद्भाव में यह नियम घटित होता है। इनमे से प्रथम के सद्भाव में और द्वितीय के अभाव में या द्वितीय के सद्भाव में और प्रथम के अभाव में यह नियम किस तरह कार्यकारी हो सकेगा? ग, औ और विसर्ग में 'ग' 'औ' पूर्व वर्ण है और विसर्ग पर वर्ण है। इनमें पूर्व वर्ण 'ग' 'औ' इन दोनो का पर वर्ण विसर्ग की सद्भाव अवस्था में अभाव है। अत उपर्युक्त सम्वन्ध वर्णों में नही है।

पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्ण में जन्य-जनक सम्वन्ध भी नही है, जिसके आधार पर पर्व वर्ण और अन्त्य वर्ण का सम्वन्ध मानकर वर्णों की सामूहिकता एक काल में एक साथ वन सके और उस सामूहिकता की अपेक्षा वर्ण अर्थ के वाचक हो सके। अन्यथा वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होने लगेगी।

सहकार्य-सहकारी सम्वन्ध की अपेक्षा भी पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्णों का सद्भाव एक साथ एक काल मे नही माना जा सकता है, यत विद्यमानो में ही यह सम्वन्ध होता है। अन्त्य वर्ण के समय में पूर्व वर्ण अविद्यमान है, फिर इस सम्वन्ध की कल्पना इनमें कैसे सभव है। जिस प्रकार यह सम्वन्ध वर्णों में सभव नही, उसी प्रकार पूर्व वर्ण-ज्ञान और पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार मे भी नही वन सकता है। क्योकि पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कारपूर्व वर्ण ज्ञान के विपय की स्मृति में कारण हो सकता है, अन्य में नही। वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार से उत्पन्न स्मृतियाँ भी अन्त्यवर्ण की सहायता नही कर सकती, यत उनकी उत्पत्ति भी एक साथ सभव नही। क्रमश उत्पन्न स्मृतियो की उत्पत्ति भी असभव है। यदि सम्पूर्ण सस्कारो से उत्पन्न एक स्मृति अन्त्यवर्ण की सहायता करती है, यह माना जाय तो विरोधी घटपदार्थ अनेक पदार्थों के अनुभव से उत्पन्न सस्कार भी एक स्मृति-जनक हो जायँगे। निरपेक्ष वर्ण पदार्थवाचक नही हो सकते है, क्योकि पूर्व वर्णो का उच्चारण निरर्थक हो जायगा। अत किसी भी सम्वन्ध में ऐसी शक्ति नही है जिससे गौ आदि शब्दो द्वारा गवादि अर्थों की प्रतीति हो सके। पर, अर्थ की प्रतीति शब्दो द्वारा देखी जाती है, अत स्फोट नाम की शक्ति ही अर्थवोध का कारण

है। स्फोटवादी शब्द को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। यही ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय रूप है। स्फोट को भी नित्य, अखण्ड, अनिर्वचनीय और निर्लेप माना गया है।

जैन दर्शनकारो ने इस स्फोटवाद की विस्तृत समीक्षा करते हुए वताया है कि एक का अभाव अन्य वस्तु के सद्भावका कारण होता है। यह कारण उपादान हो अथवा निमित्त, पर कार्योत्पत्ति में सहायक अवश्य रहता है। प्रत्येक कार्य उपादान और निमित्त दोनो प्रकार के कारणो से उत्पन्न होता है। वलिष्ठ उपादान भी अकेला तव तक कार्य उत्पन्न नही कर सकता है, जव तक निमित्त सहायता नही करता है। शब्द की अन्तिम ध्वनि अर्थ प्रतीति में उपादान कारण है, पर यह उपादान अपने सहकारी पूर्व वर्ण की अपेक्षा करता है। यद्यपि अन्त्य वर्ण के समय में पूर्व वर्ण का सद्भाव नही है, फिर भी श्रूयमाण पूर्व वर्ण का अभाव तो अन्त्य वर्ण के समय में विद्यमान है। इस अभाव की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ प्रतीति में पूर्ण समर्थ है। जैसे आम्रवृक्ष की शाखा पर लगा हुआ आम अपने भार के कारण स्वय गिरकर अथवा दूसरे किसी कारण से च्युत होने पर वह अपना सयोग पृथ्वी से स्थापित करता है। इस सयोग मे उसके पूर्व सयोग का अभाव कारण है, अन्यथा पृथ्वी से उसका सयोग हो ही नही सकता। अतएव पूर्व वर्ण-ज्ञान के अभाव से विशिष्ट अथवा पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ की प्रतीति करा देता है।

पूर्व वर्ण विज्ञानोत्पन्न सस्कार प्रवाह से अन्त्यवर्ण की सहायता को प्राप्त करता है। प्रथम वर्ण और उससे उत्पन्न ज्ञान से सस्कार की उत्पत्ति होती है, द्वितीय वर्ण का ज्ञान और उससे प्रथम वर्ण ज्ञानोत्पन्न सस्कार से विशिष्ट सस्कार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्त्य सस्कार तक क्रम चलता रहता है। अतएव इस अन्त्य सस्कार की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ की प्रतीति मे जनक होता है।

शब्दार्थ की प्राप्ति में सवसे प्रमुख कारण क्षयोपशम् रूप शक्ति है, इसी शक्ति के कारण पूर्वा पर उत्पन्न वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार स्मृति को उत्पन्न करता है, जिसकी सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ प्रतीति का कारण वनता है। इसी प्रकार वाक्य और पद भी अर्थ प्रतीति में सहायक होते है।

जैन दर्शन में कथञ्चित्तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध शब्द और अर्थ का माना गया है, जिससे स्फोटवादी के द्वारा उठायी गयी शकाओ को यहाँ स्थान ही नही। भद्रबाहु स्वामी ने भी शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध की विवेचना करते हुए कहा है——

> अभिहाण अभिहेयाउ होइ भिन्नं अभिन्न च।
> खुर अग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उवयणसवणाणं ॥१॥
> विच्छेदो न वि दाहो न पूरणं तेन भिन्नतु।
> जम्हा य मोयगुच्चारणम्मिभतत्थेव पच्चओ होइ ॥२॥
> न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्नं तवत्थाओ।——न्यायावतार पृ० १३

शब्द——अभिधान अर्थ——अभिधेय से भिन्न और अभिन्न दोनो ही है। चूकि खुर, अग्नि और मोदक इनका उच्चारण करने से वक्ता के मुह और श्रोता के कान नष्ट या जल या भर नही जाते है, इसलिये तो अर्थ से

शब्द कथञ्चिद्भिन्न है और चूकि 'मोदक' शब्द से 'मोदक' अर्थ मे ही ज्ञान होता है और किसी पदार्थ में नही होता, इसलिये अपने अर्थ से शब्द कथञ्चित् भिन्न है।

शब्द के भेद—

शब्द के मूलत दो भेद है—भाषा रूप और अभाषा रूप। भाषा रूप शब्द भी दो प्रकार का है—अक्षर-रूप और अनक्षर रूप। मनुष्यो के व्यवहार में आनेवाली अनेक बोलियाँ अक्षररूप भाषात्मक शब्द है और पशुपक्षियो की टे-टे, मैं-मैं अनक्षर रूप भाषात्मक शब्द है। अभाषा रूप शब्द के दो भेद है—प्रायोगिक और स्वाभाविक। जो शब्द पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न होता है उसे प्रायोगिक और जो बिना पुरुष प्रयत्न के मेघादि की गर्जना से होता है उसे स्वाभाविक कहते है। प्रायोगिक के चार भेद है—तत, वितत, घन और सुषिर। चमडे को मढकर ढोल, नगारे आदि का जो शब्द होता है, वह तत है। सितार, पियानो और तानपुरा आदि के शब्द को वितत, घण्टा, झालर आदि के शब्द को घन एव वासुरी, शख आदि के शब्द को सुषिर कहते है।

उपसंहार—

जैन दर्शन मे शब्द को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसके बिना प्रमा ही सभव नही तथा सर्वज्ञ वचनो की प्रमाणता के अभाव मे आगम भी प्रमाण नही हो सकेगा। शब्द को जैन दार्शनिको ने आकाश गुण नही माना है, प्रत्युत पौद्‌गलिक सिद्ध किया है। शब्द की सिद्धि अनेकान्त के द्वारा मानी है। पूज्यपाद ने अपने व्याकरण के आरभ में—'सिद्धिरनेकान्तात्'' सूत्र लिखा है, जिसकी वृत्ति लिखते हुए सोमदेव ने वतलाया है—''**सिद्धि शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवत्यनेकान्तात्, अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्वानित्यत्व विशेषणविशेष्याद्यात्मकत्वात् दृष्टेष्टप्रमाणाविरुद्धत्वात्** अर्थात् शब्दो की सिद्धि अनेकान्त के द्वारा ही हो सकती है। अत प्रत्येक शब्द में नित्यत्व अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, विशेषण, विशेष्यत्व आदि अनेक विरोधी और अविरोधी धर्म पाये जाते है। जैन दर्शन शब्द के अर्थ विकास और प्रसार में स्वाभाविक योग्यता को ही कारण मानता है, परन्तु देश, काल आदि के प्रभाव के कारण शब्द के अर्थ में उत्तरोत्तर विस्तार होता रहता है। विद्यानन्दि स्वामी ने पुद्‌गल स्कन्ध रूप शब्द की सिद्धि सक्षेप में निम्न प्रकार की है—

> **न शब्द' खगुणो वाह्यकरणज्ञान गोचरः। सिद्धो गंधादिवन्नैव सोमूर्तद्रव्यमप्यतः॥**
> **न स्फोटात्मापि तस्यैव स्वभावस्या प्रतीतित.। शब्दात्मनस्सदा नाना स्वभावस्यावभासनात्॥**
> **अन्त' प्रकाश रूपस्तु शब्दे स्फोटो परे ध्वनि। यथार्थ गतिहेतु स्यत्तथा गंधादितोपरः॥**
> **गन्धरूप रसस्पर्श. स्फोट किं नोपगम्यते। तत्राक्षेप समाधान समत्वात्सर्वथार्थतः॥**

अत जैन दर्शन ने शब्द को आकाश गुण न मानकर पौद्‌गलिक माना है तथा शब्द और अर्थ का कथञ्चित् तादात्म्य सम्वन्ध सिद्ध किया है। स्फोट द्वारा अर्थबोध नही होता है, क्योकि वर्ण, ध्वनि, पद और वाक्य का स्फोट किसी भी दशा में सभव नही।

वेदान्त और जैन-धर्म की कतिपय समानताएँ

श्री टी० के० बी० एन० सुदर्शनाचार्य

दर्शन-शास्त्र क्या है ?—

अपनी मौलिक विशिष्ट दार्शनिकता के फलस्वरूप जैन-प्रणाली की मान्यता 'दर्शन-शास्त्र' नामक भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण प्रणालियो में एक है। इस प्रणाली की सुदीर्घ सीमा के भीतर भारतीय दर्शन के अनेकानेक विचार प्रसारो का समुचित समावेश है।

दर्शन-शास्त्र का साहित्यिक अर्थ विचारो का वैज्ञानिक दृष्टि से पर्यालोचन करना है। दो प्रकार के कर्तव्य निर्देश इसके सूत्रधार हैं—प्रथम कि व्यक्ति को अस्तित्व की विशेष दशाओ और विभिन्न अवस्थाओ की जटिलता के बीच वस्तुत सच्चे आनन्द की अनुभूति के लिये क्या करना चाहिये और दूसरा कि उन दशाओ की व्यापक सृष्टि से पूर्णत स्वतत्र हो जाने के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा क्या अनुभव करना चाहिये। कोई भी शास्त्र जो इन दोनो कर्तव्य निर्देशो के सम्बन्ध में वास्तविक मौलिक विचार-धाराओ की स्थापना करता है, 'दर्शन-शास्त्र' कहलाता है। इसी को 'विचार-शास्त्र' या 'मनन-शास्त्र' की भी सज्ञा देते है। इस परिभाषा से स्पष्टत व्यक्त होता जाता है कि अपने अभियानो के क्रम में यह दो विस्तृत विभागो में बँट जाता है—(१) कर्म से सबधित कर्तव्य-निर्देशो की उचित सिद्धि अर्थात् मनुष्य को अस्तित्व की कुछ विशेष अवस्था में आनन्दानुभूति उपलब्ध करने के लिये किन कार्यों की नियोजना करनी चाहिये और किन की नही और (२) वस्तुओ की तात्विक प्रवृत्ति की सत्यता के बारे में कर्तव्यनिर्देशो की उचित सिद्धि, जिसको मनुष्य प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अनुभवगम्य कर सके और उसको दुखो की विकरालता से पूर्णत मुक्ति मिल जाय और वह शाश्वत आनन्द की विपुलता का अनुभव करे। प्रथम विभाग को 'धर्म-मीमासा' भी कह सकते है। इसका नामकरण 'मोक्ष-दर्शन' भी होता है। पहले को धार्मिक जीवन और दूसरे को आत्मदर्शन या सिर्फ दर्शन के नाम रूप से सम्बोधित किया जायगा।

जैन-दर्शन की महत्ता—

साधारणतया धार्मिक और दार्शनिक अनेको प्रणालियो की एक लम्बी परम्परा का स्रोत वहता आया है पर वस्तुत. तत्व की झाँकी कुछ ही में मिलती हैं, जो महत्वपूर्ण है। ये विभिन्न प्रणालियाँ बिना एक दूसरे का पारस्परिक विरोध किये एक ही लक्ष्य की दिशा मे भिन्न और क्रमश कदम उठाती हैं, ऐसा

समझा जाना चाहिए। हमारे महाप्राज्ञ ऋषियो और मुनियो ने जिनको सार्वभौमिक अस्तित्व और प्रकृति की सत्यता के ज्ञान की सूक्ष्मतम अनुभूति तक थी, हमारे लिये अनेको दर्शन या प्रस्थान की प्रणालियो के रूप मे अपने साधनामय जीवन का निष्कर्ष छोड रखा है। इन्ही प्रणालियो की प्रोज्ज्वल सूची के बीच जैन दर्शन ने एक महत्वपूर्ण और प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया है। वाह्य पदार्थों के विवेक एव आत्मानुभूति द्वारा आनन्द की प्राप्ति कराने के कारण जैन दर्शन अन्य दर्शनो में अग्रगण्य है।

वेदों में आत्मा—

वस्तुत दर्शन शब्द उसी विज्ञान के लिये सार्थक है जो हमको चिर मुक्ति प्राप्त करने में और आत्मा की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान कराने में समर्थ बनावे। दर्शन की प्रत्येक प्रणाली ने इस दर्शन शब्द के सिद्धान्त का उत्थान किया है। उदाहरणार्थ, वृहदारण्यकोपनिषद्[1] कहता है कि आत्मा की निश्चय से अनुभूति करनी चाहिये और याज्ञवल्क सहिता[2] घोषित करती है "ध्यान के द्वारा आत्मा के पर्यवेक्षण में ही विशिष्ट गुण अवस्थित है।" मुण्डकोपनिषद्[3] में हम पाते हैं कि जब आत्मानुभूति हो जाती है तब हृदय की गाठ खुल जाती है, सभी शकाएँ दूर हो जाती हैं, कर्म शक्तियो का क्षय हो जाता है। इन उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त ने दर्शन शब्द की आत्मानुभूति पर जोर दिया है। जो वेदान्त में दर्शन की प्रक्रिया है वही जैनधर्म में भी सत्य है। दर्शन शब्द से जैन धर्म जिन गूढ विचारो का प्रतिपादन करता है उनका समुचित ज्ञान सुगमता से उपनिषद्-ग्रन्थो और प्रख्यात जैनाचार्यों के अमोघ वचनो की तात्विक विवेचनापूर्ण तुलना से प्राप्त किया जा सकता है।

आत्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुषो के साक्षात् अनुभवो के मार्मिक सकलन वैदिक ग्रन्थ मोक्ष उपलब्ध करने के लिए इन तीन स्तरो[4] को अपनाने की अनुमति प्रदान करते है, अर्थात् (१) पवित्र धर्म ग्रन्थो का सुनना (श्रवण)[5] (२) ऐसे धर्मग्रन्थो के विचारो पर विचार (मनन)[6] और (३) आत्मा के आत्मस्वरूप पर स्वतत्रविचार (निदिध्यासन)[7]।

---

१. आत्मा वारे द्रष्टव्यः (वृहद० उप० २, ४–५)

२. अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्। (यज्ञ, सहिता, पुस्तक १ श्लोक ८)

३. भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया.।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परापरे ॥ (मु०—उप० ॥ २–८)

४. न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रिय भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रिय भवति,
आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (वृहद०४, ४–५)

५. श्रवणं नाम वेदान्तशास्त्रयानि आत्मैकत्व विद्याप्रत्ततियादकानीति तत्वदर्शिन आचार्य न्याययुक्तार्थ ग्रहणम्।

६. एवमाचार्योपदिष्टस्यार्थस्य स्वात्मन्वेवमेव युक्तमिति हेतुत. प्रतिष्ठापन मननम्

७ एतद्विरोधि भेदवासनानिरसनायास्यैवार्थस्यानवरत भावना निदिध्यासनम् (श्री भाष्य १-१-१-पृ०२७)

जैन ग्रन्थ भी इसी के अनुरूप तीन स्तर[1] निर्धारित करते है।

वे है (१) उचित दृष्टि (सम्यक् दर्शन)[2], जो तीर्थंकरो या अर्हतो के अडिग एकान्त विश्वास मे निहित है। (२) पदार्थ, जैसा है, उसका वैसा ही उचित ज्ञान (सम्यक् ज्ञान),[3] (३) उचित कार्य (सम्यक् चारित्र)[4] जिसको सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के उपरान्त धारण किया जाता है। यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके उपयोगो से जीव को विरत कर शुद्धोपयोग आत्मा को लगाने की प्रक्रिया है। सम्यक् दर्शन और अन्य सभी स्पष्टत. निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है—

तत्वस्याव गतिर्ज्ञानं श्रद्धानं तस्य दर्शनम्।
पापारम्भ निवृत्तिस्तु चारित्रं वर्ण्यते जिनैः॥

(धर्मशर्माभ्युदय काव्य, श्लोक २१)

देखिये चन्द्रप्रभ चरित्र श्लोक १८-४ भी और पुरुषार्थसिद्धयुपाय २, २२, ३३, ३, ४०, २२२)

वैदिक ग्रन्थो के अनुसार जीवन की सर्वोत्कृष्ट दशा (परमपद) अहिंसा[5], सत्य भाषण[6], आर्जव[7] आदि के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

बोधायन के विचार—

भगवद् बोधायन महर्षि सर्वश्रेष्ठ दशा प्राप्त करने के लिए निदिध्यासन, ध्रुवनु-स्मृति आदि के द्वारा सात उपायो का सरल मार्ग निर्देश करते है ——

---

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः (मोक्षशास्त्र)
एवं सम्यग्दर्शनबोध चारित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति (पुरुषार्थ०—१-२०)

२. येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थित:, तेन रूपेणार्हता प्रतिपादिते तत्वार्थे विपरीताभिनिवेशरहितत्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् (योग देव ग्रन्थ,) जैसा कि सर्व दर्शन संग्रह में कहा है।
तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् (तत्वार्थाधिगमसूत्र)
रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेनवा॥ (सर्वसंग्रह पृ० ६२)

३—येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेनस्वभावेन मोहसंशयरहितत्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्।
यथाहु:—— यथावस्थिततत्वानां संक्षेपाद्विस्तरेणवा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः समम्यग्ज्ञानं मनषिणः।
तज्ज्ञान पंचविधं मतिश्रुतावधिमन. पर्यायकेवलभेदेन। (सर्वसंग्रह पृ० ६८)

४ ससरण कर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्धानस्य ज्ञानवत. पापागमनकारण क्रियानिवृत्तिः सम्यक् चारित्रम्
सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते (सर्व संग्रह पृ० ६५)

५— मां हिंस्यात्सवभूतानि। यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन (वृह उप ६-४-२२)

६— सत्येन लभ्य. (मु० उप, ३-५) सत्य वद (तैत्ति उप०)

७—शान्त उपासीत (चन उप० ३-१४-१) शान्तो दान्तः (वृह उप० ६-४-२३)
तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोक. (प्र० उप० १-१५-१६) तपसा ब्रह्मचर्येण (प्र० उप० १-१७)

तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रिया कल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यस्सम्भवानिर्वचनाच्च । (१) जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादनात् कायशुद्धिर्विवेक । अत्रनिर्वचनम्—आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः, सत्व शुद्धौ ध्रुवानुस्मृतिरिति । (२) विमोक कामानभिष्वङ्ग । शान्त उपासीतेति निर्वचनम् । (३) आरम्भण-सशीलन पुन पुनरभ्यास । निर्वचनम्-सदातद्भावभावित. । (४) पचमहायज्ञाद्यनुष्ठान शक्तित क्रिया । निर्वचनम—क्रियावानेष ब्रह्मविदा वरिष्ठ. । (५) सत्यार्जवदयादानाहिंसा कल्याणानि । निर्वचनम्-सत्येन लभ्य, तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोक इत्यादि । (६) देशकाल वैगुण्याच्छोकदस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज दैन्यमभास्वरत्व मनसाऽवसाद । तद्विपर्ययोऽनवसाद । निर्वचनम—नायमात्मा बलहीनेन लभ्य । (७) तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्ष (अति सतोषश्च विरोधीत्यर्थ) निर्वचनम्—शान्तो दात इति ।

जैन-दर्शन में आत्मा—

इसी तरह जैन धर्म के क्षेत्र की भी देन है । उसके अनुसार भी मोक्ष अहिंसा, सत्यभाषण, आर्जव और अन्य लक्षणो के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । ये सभी लक्षण निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है –

अहिंसासूनृतास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा: ।
नयत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् ।
चराणा स्थावराणा च तदहिंसा तं मतम् ।
प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते ।
तत्तथ्यमपि योऽतथ्यमप्रियं चाहितं च यत् ।
अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रत मुच्यते ।
बाह्याः प्राणा नृणामर्थो हरता तं हिताहिते
दिव्यौदरिककामानां कृतानुमतकारितैः ।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम् ।
सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।
यदसत्स्वपि जायेत मच्र्छया चित्तविप्लवः ।
भावनाभिर्भावितानि पंच भिः पंचधा क्रमात् ।
महा तानि लोकस्य साधयन्त्यव्ययं पदम् ।

(जैन आगम, जैसा कि सर्वसग्रह में है पृ० ६३)

तुलनात्मक विवेचन—

वैदिक ग्रन्थ और जैन ग्रन्थ कहते है कि आत्मा चेतन, कर्ता और उपभोक्ता है । निम्नलिखित उपनिषद के उद्धरण है, जिनमें आत्मा के स्वरूप का अच्छा सारगर्भित उल्लेख है——

एषहि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्र० उप० ४–६)
अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा मनसै वैं तान् कामान् पश्यन् रम्यते (चन० उप० ८–१२–४–५)

यही तथ्य दिखलाने के लिए जैन ग्रन्थो से भी उद्धरण उद्धृत किया जा सकता है ——
चेतना लक्षणो जीवः कर्त्ता भोक्ता स्वकर्मणाम्। (चन्द्रप्रभ चरित्र, श्लोक १८–४)

फिर हम निम्नलिखित श्लोक से जैन मान्यता के आधार पर आत्मा के गुणो का सुविस्तृत विवरण प्राप्त कर सकते हे ——

अमूर्तश्चेतनाचिह्नः कर्ता भोक्ता तनुप्रभः।
ऊर्ध्वगामी स्मृतो जीवः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः॥ (धर्मशर्माभ्युदय, श्लोक २१)
अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः।
परिणममाणो नित्यं ज्ञान विवर्तैरनादि सन्तत्या।
परिणामानाः स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च। (पुरुषार्थ सिद्धियुपाय, ९–१०)

अन्तिम मुक्ति प्राप्त कर लेने के वाद जैन ग्रन्थो में आत्मा के स्वरूप का वर्णन है —

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः।

तात्पर्य यह है कि आत्मा नित्य, निर्लिप्त, स्वभावत शुद्ध, अव्यावाधित, विशद परपद में स्थित और केवल ज्ञान रूप है। पर्याय की अपेक्षा से आत्मा की ससारावस्था सभव है। द्रव्य की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा सदा शुद्ध है।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकल विषय विषयात्मा।
परमानन्द निमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव॥

अभिप्राय यह है कि आत्मा कृतकृत्य, परमात्मा स्वरूप, समस्त प्रकार के कालुष्य से रहित, परमानन्द रूप, ज्ञानमयी और ज्ञाता-द्रष्टा है।

मोक्ष के स्वरूप का निरूपण करते हुए वैदिक ग्रन्थ कहते हैं—"आत्मा गुणो और अवगुणो के बन्धन से मुक्त हो सर्वोच्च पद पर चली जाती है।[1]" इसी तरह जैन ग्रन्थ भी अतिम मुक्ति के विचार को लिपिबद्ध करते है—"ऊपर चला जाना"। यथा ——

---

१. अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म लोकमभिसम्भवानि (चन० उप० ४–१–८१)

स एतं देवयानं पन्थानमापद्य अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं, स वरुण लोक स आदित्यलोकं, स इन्द्र लोकं, सप्रजा पतिलोकं, स ब्रह्मलोकं।

निश्शेषकर्मनिर्मोक्ष : स मोक्षः कथ्यते जिनै :।
ज्वालाकलापवद्दह्ने रूर्ध्वमेरण्ड बीजवत्।
तत· स्वभावतो याति जीव· प्रक्षीणबन्धनः।
लोकाग्र प्राप्य तत्रैव स्थिति बध्नाति शाश्वतीम्।
ऊर्ध्व धर्मास्तिकायस्य विप्रयोगान्न यात्यसौ।
तत्रानन्तमसम्प्राप्तमव्याबाधमसन्निमम्।

प्राग्देहात् किञ्चिद्वनोऽसौ सुख प्राप्नोति शाश्वतम् ।
(धर्मशर्माभ्युदय, श्लोक २१)

जैन-दर्शन में सप्तभंगी-न्याय—

जैन धर्म के आध्यात्मिक पक्ष के सम्बन्ध मे जैन धर्म के दर्शन में सप्तभगी न्याय एक प्रमुख स्थान रखता है।

वस्तु के सत्य या तथ्य का निरूपण करने के लिए जैनाचार्यों ने सप्तभगी न्याय का प्रयोग किया है। यह पद्धति आत्मा या अन्य किसी पदार्थ के सत्य का दर्शन कराने में पूर्ण समर्थ है। वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसके विभिन्न गुण और धर्मो का विवेचन एक दृष्टि से सभव नही। अत' इस न्याय द्वारा आत्मा का वास्तविक बोध करना चाहिये।

सप्तभगी न्याय विचार करने की एक प्रणाली है। इसके सात अग है। यथा —

तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगस्स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते।
क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगस्समुदायमाक्।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः।
आद्यावाच्य विवक्षायां पचमो भग इष्यते।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठ भग समुद्भवः।
समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भंग उच्यते।
घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि घटो यत।
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात्सदसत्त्वयो·।
अनैकान्तात्मक वस्तु गोचर' सर्वसविदाम्।
एक देश विशिष्टाऽर्थो नयस्य विषयो मत :।

(१) स्यादस्ति—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावापेक्ष या वस्तु कथञ्चित् रूप से अस्ति रूप है। जिस समय हम इस दृष्टि से वस्तु का अवलोकन करते है, उस समय हमारी दृष्टि अन्य धर्मों को गौण रूप से ग्रहण करती

है और उपर्युक्त धर्म की प्रधानता हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब हम आत्मा को वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से देखते हैं तो यह हमे कर्मबद्ध ससारी दिखलाई पडती है। इसके गुणो का कर्म के आवरण के कारण तिरोधान पाया जाता है। अत आत्मा अस्ति—कर्मबद्ध चतुर्गति स्थिति की अपेक्षा से।

(२) स्यान्नास्ति—परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जब कथन करते है तो यह दूसरा भग बनता है। अर्थात् जो आत्मा मनुष्य गति में है, वही आत्मा उसी समय नरक गति में नही है। अत इस दृष्टि से हम कह सकते है कि नरक गति की अपेक्षा से आत्मा नही है या जड़ पदार्थों की अपेक्षा आत्मा जड नही है।

(३) स्यादस्ति स्यान्नास्ति—यह तीसरा भग क्रमश प्रथम और द्वितीय भग को मिला देने पर बनता है। अर्थात् कथञ्चित् अस्ति-नास्ति है। जैसे ऊपर के उदाहरण में बताया गया है कि आत्मा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से मनुष्य गति में है और परद्रव्य क्षेत्रादि की अपेक्षा नरक गति में नही है अत यहाँ आत्मा मनुष्य गति में है और नरक गति में नही है, यह तीसरा भग बना।

(४) स्यादवक्तव्य—जब प्रथम और द्वितीय भग को एक साथ कहा जाता है, उस समय एक ही काल में उभय धर्म के निरूपण की शक्ति न होने के कारण वस्तु अवक्तव्य मानी जाती है। ऊपर के उदाहरण में यदि आत्मा की मनुष्य गति और नरक गति का एक साथ निरूपण करे तो कभी नही कर सकते है। क्योकि अस्ति-नास्ति का कथन क्रमश ही होता है युगपत् नही, अत चतुर्थ भग बनता है।

इस चतुर्थ भग को पहले, दूसरे और तीसरे के साथ मिलाने से पचम, षष्ठ और सप्तम भग बनते है।

(५) स्यादस्ति-अवक्तव्य—अस्ति को अवक्तव्य के साथ मिलाने से।

(६) स्यान्नास्तिम्-अवक्तव्य— नास्ति को अवक्तव्य के साथ मिलाने से।

(७) स्यादस्ति-नास्ति-अवक्त— अस्ति-नास्ति को अवक्तव्य के साथ मिलाने से।

स्यात्[१] उत्तम पुरुष है। यहाँ यह क्रियाविशेषण के रूप में व्यवहृत है। जिसका अर्थ है—"अशत या एक निश्चित अर्थ में—

(१) प्रथम कथन में एक वस्तु का अस्तित्व विचार के अन्तर्गत लिया जाता है। (२) दूसरे में, एक वस्तु का असत् रूप विचारा जाता है। (३) तीसरे में, सत् और असत् दोनो क्रम रूप में विचारे जाते है।

१. वाक्येष्वनेकान्तद्योति गम्य प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तिङन्तप्रतिरूपक.॥ (सर्व सग्रह पृ० ६३)

तदुक्तम्:—

स्याच्छब्दादप्यनेकान्त सामान्यस्यावबोधने।
शब्दान्तर प्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये॥इति (सप्त तरगिनीणी पृ० १६)

(४) कथन कहने की चौथी प्रणाली मे जो विचारा जाता है वह है अवक्तव्यता क्योकि उसी क्षण वस्तु क्या है और क्या नही है इसका विचार युगपत् किया गया है। (५) पाँचवें तरीके में, एक की अवक्तव्यता के निश्चित वाक्य के साथ उसी क्षण वस्तु क्या है और वस्तु क्या नही है। तो भी यह क्या है यह विचार के अन्तर्गत आता है। (६) छठे मे एक की अवक्तव्यता और उस क्षण वे गुण जो उसमें वर्तमान है कि निश्चित वाक्य के साथ वे गुण जो हिस्से से अनुपस्थित है विचार के अन्तर्गत लिये जाते है। (७) सातवें में, एककी अव्क्तव्यता और उसी क्षण वस्तु में वे गुण जो रहते है और वे जो नही रहते के निश्चित वाक्य के साथ वस्तु में उपस्थित और अनुपस्थित गुण एक के बाद दूसरे क्रम से विचारे जाते है।

सप्तभगी का यह सिद्धान्त वैदिक ग्रन्थो के भी कतिपय सिद्धान्तो से बहुत कुछ समानता रखता है।

वेद में सप्तभंगी का स्वरूप—

वैदिक और उपनिषद् ग्रन्थो में हम निम्नलिखित रूप से पाते है—"तब[१] न सत् था और न असत्"। "तब[२] न मृत्यु थी न अमरता"। "उसके अतिरिक्त कुछ नही था।[३]" "कौन[४] जान सकता है और कौन घोषित कर सकता है कि यह कब आया है। और इस विचित्र सृष्टि का साधन क्या है।" "इस ईश्वरीय एक को न कोई कार्य है न स्फूर्ति[५]।" "उसकी बुद्धि, शक्ति और स्फूर्ति स्वाभाविक है।" "वह[६] एक सत्ता सभी गुणो से पृथक् है। इसका कोई प्रारम्भ और अन्त नही है, और शाश्वत रूप से श्रेष्ठ और स्थायी है, उसको जानकर कोई भी मृत्यु से मुक्त हो जाता है।" "उसका वर्णन करने में शब्द असमर्थ है और उससे मुड जाते है।[७] मन भी उस तक नही पहुँच सकता।" वह आत्मा का वर्णन करता है— नही, नही[८]। वेद के ये वाक्य सप्तभगी न्याय से बिलकुल मिलते-जुलते है।

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् (ऋग० १०-१२९-१)
२. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि (ऋग० १०-१२९-२)
३. न तस्माद्वान्यन्न परः किञ्चनास।
४. को 'अत्या' वेद क इह प्रवोचत् कुत आयाता कुत इयं विसृष्टि (ऋग० १०-१२९-६)
५. एको देवः सर्व भूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष· सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च। (श्वे० उप० ६-११)
६. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्। अनाद्यनन्तं महत· परं ध्रुव निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥
७. यतो वायो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह (तै० Ar ९, ३१)
८. स एष नेति नेति आत्मा (Br. Ar UP ६-५-१५)
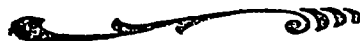
निरीश्वरवाद और जैन-धर्म

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

भारत में दर्शन-स्रोत—

हम कुछ ऐसा काम करने का प्रयास कर रहे हैं जिसे हम पूरा कर ही नही सकते। भारतीय आर्य सस्कृति में "अथातो धर्म जिज्ञासा" के कारण जितने धर्म या दर्शन पल्लवित तथा विकसित हुए हैं उनमें कौन धर्म तथा दर्शन कितना प्राचीन तथा कितना तत्वयुक्त है, यह कहना या समझाना किसी ज्ञानी और महा-पुरुष का ही काम है। भारतीय दर्शन के एक साधारण विद्यार्थी के नाते हम केवल थोडा बहुत जानने या समझने का प्रयासमात्र कर रहे हैं।

जब हम भारतकी इस महान् भूमि पर विकसित भिन्न दर्शनो की तालिका बनाने बैठते हैं तो हमें बुन्देलखड के दतिया-स्थित पीताम्बरापीठ के श्री स्वामी जी महाराज द्वारा प्रस्तुत यह सूची कुछ साधिकार प्रतीत होती है। उसके अनुसार हमारे अध्ययन के लिए नीचे लिखे दर्शन है —

१ जैन दर्शन २ बौद्ध दर्शन ३ चार्वाक दर्शन ४ वैशेषिक दर्शन ५ न्याय दर्शन ६ साख्य दर्शन ७ योग दर्शन ८ वैष्णव दर्शन ९ शैव दशन १० शाक्त दर्शन ११ व्याकरण दर्शन १२ मीमासा दर्शन १३. वेदान्त दर्शन।

"दुर्गा सप्तशती" के १३ अध्यायो की तरह हमारे ज्ञान की सम्पूर्णता के लिए ये १३ अध्याय एक नही अनेक जीवन के लिए अध्ययन की सामग्री है। यदि हम इनका कोई भी पहलू जान लेना चाहें तो बुद्धि चक्कर मे आ जाती है। ऐसा ज्ञान सस्कार से ही प्राप्त होता होगा—कोरे अध्ययन से नही। यहा पर यानी इस लेख में हम केवल निरीश्वरवाद पर कुछ थोडा-सा सोचना चाहते हैं। क्योकि हमारी सम्मति में जैन धर्म ससार का सबसे बड़ा निरीश्वरवादी धर्म है।

क्या ईश्वर है ?—

बडा टेढा प्रश्न है कि ईश्वर नाम की कोई चीज है भी या नही। वैदिक धर्म भी इसका सन्तोषप्रद उत्तर नही दे सका है। किसी ने उसे देखा नही। किसी ने निश्चित रूप से कहा नही कि वह किस प्रकार का है।

नाक, कान, आँखवाला है या निराकार है। उसके अनेक प्रकार के वर्णन के बाद भी फैसला न हो सका। केनोपनिषद् ने प्रश्न वाचक चिह्न से अपना काम शुरू किया और अन्त भी प्रश्न वाचक चिह्न में ही हुआ। शास्त्रो ने "है भी और नही भी है"—या "ऐसा है और ऐसा नही भी है" Neither this nor that कह कर पीछा छुडाया। जब जिज्ञासु प्रश्नो की झडी लगा देता है तो हम या हमारे शास्त्र यह कहकर छुट्टी पा जाते है कि "ईश्वर का बोध निजी अनुभव की बात है। वह तर्क से नही, अनुभव से सिद्ध होता है।" शास्त्र कह देता है कि— "ईश्वर प्रणिधानाद्वा"

पर, मानव तर्क से ही काम करना चाहते हैं। इस युग मे वैदिक धर्म के सबसे बडे प्रचारक या निरूपक शंकराचार्य भी हुए है। वे भी यह कही नही लिख गये कि ईश्वर से उनका साक्षात्कार हुआ। गायत्री मत्र जपते समय हम जिस प्रकाश पुञ्ज का आवाहन करते है, वह यदि प्रकाश पुञ्ज है तो यह भी उसका एक गुण हुआ। ईश्वर गुण-अवगुण से परे है। तम और प्रकाश की सत्ता ही उसमें समाप्त हो जाती है या हो जानी चाहिये। उस भगवान के लिए हमको कैसे जानकारी हो? शास्त्र मे भगवान की व्याख्या की है —

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य
भूतानामगतिम् गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्या च
स वाच्यो भगवानिति।।

यानी जो समूचे ऐश्वर्य का आगार हो, विद्या और अविद्या को जानता हो, प्राणियो की गति और अगति को जानता हो — वही भगवान है।

क्या ऐसा प्राणी हमारे बीच में नही आ सकता। यदि हाँ तो वह कभी आया है—यदि नही तो क्यो?
ऐसी शकाओ का उत्तर देने का हमारे शास्त्रो ने प्रयास किया है और बडी सुन्दरता से बडे व्यापक उत्तर दिये गये है। इस समूचे ब्रह्माण्ड का एक केन्द्र, एक सहारा, एक उद्गम, एक सूत्र तथा एक आश्रय मानना ही होगा। अन्यथा समची रचना का कोई आधार नही समझ में आवेगा और कारण, अकारण को सोचते-सोचते जन्म-जन्मान्तर बीत जायगे। एक—वाद ही वैदिक धर्म का सार तत्व है। सब कुछ एक ही स्रोत से प्रवाहित माना गया है।

वह केन्द्र, वह सर्वव्यापी ही परमात्मा है। ईश्वर है। वह सर्वगुण-सम्पन्न तथा निर्गुण भी है। ऐसे दुरगी ईश्वर की व्याख्या बडे सुन्दर शब्दो में श्वेताश्वेतोपनिषद् ने इस प्रकार की है —

एको देव सर्वभूतेषु गूढ,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष. सर्वभूताधिवास,
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।। —श्वेता० ६ ।११

यह साक्षी चेता परमात्मा ही सृष्टि के आदि में था और रहेगा। इसी सर्व-साक्षी भगवान को अद्वैत सिद्धान्तका आधार तथा मूल माना गया है। ऋग्वेद का नासदीय सूत्र ही वेदान्त की भित्ति है।

"नासदासीन्तो सदासीत्तदानो
नासीद् रजाने व्योमा परो यत्।
किमावरीव कुहकस्य शर्मन्तम्भ
किमासीद्गहन गभीरम्॥"

मनु भगवान ने भी अपनी स्मृति के पहले ही अध्याय के पाँचवें श्लोक में लिखा है —

आसीदिदं तमोभूत,
मज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय
प्रसुप्तमिव सर्वत॥

अस्तु, तात्पर्य यह कि सृष्टि की प्रथमावस्था में सत् असत् दोनो का अभाव था। प्रकृति ब्रह्म में स्वरूप स्थित थी। अन्तरिक्ष भी नही था। ऐसी अवस्था में किसने किसको आवृत किया, किस स्थान पर किया किसके उपभोग के लिए किया। मनु कहते हैं कि सृष्टि की प्रथमावस्था अधकार के सदृश थी। अज्ञात, तर्क लक्षण एव वुद्धि से रहित प्रगाढ निद्रा में थी। उस समय कौन था जो सव कुछ देख रहा था और करनेवाला था—वह था—वही "एको भूत, साक्षी चेता परमात्मा।"

वैदिक सिद्धान्त इस प्रकार ईश्वर की सत्ता तथा व्यापकता का ज्ञान कराता है। किन्तु, क्या इतना पर्याप्त है?

चार्वाक का मत—

सोचने विचारने की परेशानी को चार्वाक मत दूर कर देता है। वह सव काम हल्का कर देता है। इस मत के प्रवर्त्तक स्वय वृहस्पति कहे जाते हैं। इसका निचोड है कि ईश्वर नाम का कोई तत्व नही है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है। चारो तत्वो के भीतर, स्वभाव नामक नियामक वस्तु से ही ससार चलता है। आग का काम है गर्म करना और शीत से ठण्डक होती है।

"अग्निरुष्णो जल शीत
शीतस्पर्शस्तथाऽनिल।
केनेद चित्रित तस्मात्
स्वभवात्र न्व्यवस्थिन॥"

इस मत के अनुसार देह का क्षय यानी नाश हो जाना ही मोक्ष है। विषय इन्द्रिय के सयोग से जो सुख प्राप्त होता है, उसको भोगना चाहिये।

चार्वाक मत ने सब कुछ इस जगत के व्यवहार मे मान लिया और दृष्टि से परे की कोई सत्ता मानना अस्वीकार कर दिया। पर, इससे जिज्ञासु का मन नही भरा। जो सामने है, वही सब कुछ है, यह कैसे मान लिया जाय। परोक्ष में कही कुछ भी नहीं है— ऐसा छिछला विचार दिमाग में घर नही कर सकता।

विदेशी अनीश्वरवाद—

विदेशी अनीश्वरवाद भी चार्वाक इतना छिछला न रहा। पर, जिसे हम अग्रेजी में Atheist कहते हैं तथा जिसके मत को Atheism कहते हैं, वह एक नैतिक प्रतिक्रिया मात्र थी। धार्मिक यानी आध्यात्मिक प्रतिपादन नही था। अरिस्तू ने जिसको "अविचल प्रवर्त्तक" unmoved mover कहा था, ईसाई धर्म जिसे "अमर सत्, स्वयम्भु सर्वज्ञानी, आदि" माना था, दांते जिसके विषय में अपने "पैराडिजो" (Paradiso) में लिख गये थे उसे ही पश्चिमी धर्म गुरुओ ने सब नैतिकता का आधार घोषित कर दिया था।" जो धर्म है, वही नैतिकता है। नैतिकता धर्म का अग है। फेयरबाश (Feuerbach) आदि ने इसी "नैतिकता के स्रोत" को अस्वीकार कर दिया। हीगल (Hegel) जैसे पण्डितो ने मानवी सदाचार को दैवी वस्तु मानकर सांसारिक पदार्थ घोषित कर दिया। विदेशी नास्तिको के मत का निचोड है —

१ आदर तथा उपासना के लिये कोई महान् शक्ति नही है।
२ सर्व-व्यापी तथा सर्वज्ञ नामक कोई नही है।
३ ऐसा कोई सत्व या तत्व नही है जिसके भीतर "सब कुछ" समा सकता हो।
४ केवल सत्य ही सब कुछ है।

यह सत्य क्या है! सत्य नामक कौन-सी चीज है। विदेशी नास्तिक "समाज" को, समाज के अङ्ग व्यक्ति को ही आदर का पात्र मानते हैं। पर, समाज का अन्त, चाहे वह कितनो ही आदर्श रूप क्यो न ग्रहण करले, क्या होना चाहिए? व्यक्ति का सब कुछ क्या केवल इस ससार तक ही है— उसके वाद क्या होता है? यह सब विदेशी नास्तिक नही सोच सके। इसलिये उनका विचार शुद्ध भौतिक तथा सासारिक रहा। इसी से उनके विचारो का कोई दार्शनिक महत्व न हो सका।

शून्यवाद—

निरीश्वरवादी—एक प्रकार से हमारे नैयायिक भी कहे जा सकते हैं। पर, यहां पर हम मीमामा तथा न्याय दर्शन पर विचार नही कर सकेंगे। विषय की गूढता वढ जायगी और हमारे सम्हाले नही सम्हल सकेगी। ईश्वर की सत्ता अस्वीकार करनेवालो में वौद्ध धर्म वडा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। पर, इसका आधार ही शून्यवाद है। आरम्भ मे शून्य था और अन्त में शून्य रहेगा। भगवान वुद्ध को तपस्या से जिस "अभिवम्म" का वोध हुआ था, जिसका "विनय पिटक" मे वर्णन है तथा खुद्दक निकाय के उदान नामक ग्रन्थ में वोधिसुत के

प्रथम तीन सूत्रो में "एव में सुत्त"— में जिसका वर्णन है, उसकी विवेचना करने का यह स्थान नही है। पर उसका निचोड शून्य है। बीज से अकुर, अकुर से वृक्ष के अवयव उत्पन्न होते है। यदि बीज समाप्त हो जाय तो वृक्ष की सत्ता ही न होगी। इसी प्रकार इस जीव या आत्मा का हाल है। क्षिति, जल, तेज, वायु तथा आकाश और विज्ञान धातु से शरीर बनता है। इन धातु के समवाय से पिण्ड सज्ञा, नित्य सज्ञा, सुख सज्ञा, सत्य सज्ञा, पुद्‌गल सज्ञा—अहकार, ममकार सज्ञाएँ होती है। यही अविद्या है। अनर्थ का कारण है। ज्ञान से अविद्या का नाश होता है। अविद्या के नाश होते ही जीव पञ्च तत्वो के पाश से मुक्त हो जाता है और तभी उसका निर्वाण होता है। बौद्ध धर्म में जीव का "मोक्ष" नही होता। मोक्ष से अर्थ होगा "छुटकारा"—यानी छूट कर फिर भी रह जाना।" "निर्वाण" से अर्थ हुआ "बुझ जाना"—सदा के लिए समाप्त हो जाना। दीपक बुझ गया। बस, उस जीव का सदा के लिए अन्त हो गया।

किन्तु, शून्य का जब शून्य ही उद्देश्य है तो इतना चक्कर क्यो! यदि निर्वाण के बाद कही कुछ न रहा तो उसका परिणाम क्या हुआ? उद्देश्य यदि शून्य मान लिया जाय तो अविद्या की प्रधानता माननी पडेगी। विद्या होते ही निर्वाण हो जाता है। विद्या का अर्थ भी शून्य हो जायगा।

इतने सस्ते में हम महान् बौद्धधर्म को नही समझ सकते—पर हम तो केवल ईश्वर की पहेली ही लेकर चले है। उसके लिए इतना इशारा कर देना ही काफी होगा।

जैन-धर्म का तत्त्व—

जैनियो का निरीश्वरवाद इतना उदार तथा व्यापक है कि हमारे जैसे अ-जैनी तथा ईश्वरवादी के लिये वह ईश्वरवाद ही है—कई दृष्टियो से उससे ऊपर उठ जाता है। वेदान्त यदि एक वाद है, सब जीव या आत्मा को एक परब्रह्म का अश मानता है तो जैन धर्म अनेकान्तवाद है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव भिन्न भिन्न है। असख्य जीव है और ईश्वर जो व्याख्या हम "सर्व गुण सम्पन्न, सर्व व्यापक, सर्वज्ञानी, परमानन्द" के रूप में करते है, जैन मत से ऐसे असख्य ईश्वर है। जैन धर्म के अनुसार जीव छ प्रकार के होते है। एक दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियवाले तथा मन सहित पाँच इन्द्रियवाले। जिसमें चेतना हो, देखता, सुनता, और जानता हो, उसे जीव कहते है। एक इन्द्रिय वृक्ष लता आदि। दो इन्द्रिय शख, कौडी आदि। तीन इन्द्रिय चीटी, खटमल आदि। चार इन्द्रिय भ्रमर, मक्खी आदि। पाँच इन्द्रिय समुद्र के कुछ प्राणी तथा मन सहित पच इन्द्रिय हुई मनुष्य आदि।

जिनमें चेतन गुण नही है, वह अजीव तत्व कहलाता है। यह पाँच प्रकार का होता है। पुद्‌गल, धर्मास्ति काय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा काल। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध हो, उसे पुद्‌गल कहते है। गमन करना धर्म का, स्थिर करना अधर्म का, अवकाश देना आकाश का तथा परिवर्तन काल का गुण है। काल असख्य है। जीव और पुद्‌गल अनन्त है। अनन्त काल से चले आये है। जीव और पुद्‌गल में ही हलन-चलन क्रिया होती रहती है।

जीव पुद्‌गल के ससर्ग से पाप-पुण्य का भागी होता है। कोई दूसरा इसे फल या दण्ड या उपहार नही देता। वह स्वय अपने कर्म का फल भोगता है। इस जीव की दो अवस्थाएँ है—व्यवहार नय और निश्चय नय।

जो जीव व्यवहार नय में पड़ा रहता है, वही राग, द्वेष, मोह आदि से पीडित कष्ट उठाया करता है और पैदा होता और मरता रहता है। जो जीव निश्चय नय को प्राप्त कर लेता है, वही वीतराग होता है। बिना किसी देवी देवता के सहारे, केवल अपने बल से, राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर जीव "जिन" हो जाता है। यही जिन पूजनीय होता है। इसी "जिन" द्वारा कहा गया धर्म जैन धर्म कहलाता है। स्वभाव से जीव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त परमानन्दी तथा शान्त है। राग-द्वेष को पार कर वह मोक्ष प्राप्त करता है—ससार से छुटकारा पाकर परमानन्द तथा सर्वज्ञता के अपने स्वभाव को प्राप्त करता है।

"शुद्ध सचयेरम बुद्ध
जिण केवल णापा सहाउ"

परमात्मा की जो व्याख्या हम करते हैं, वही उस जीव को प्राप्त होती है। बधन के कारण के समाप्त होने से और निर्जरा (आत्मा से कर्म फल झड जाना) से समस्त कर्म फल छुट जाते हैं और जीव का मोक्ष होता है। तत्वसार में लिखा है —

अभावाद् बधहेतूना
सवर निर्जरा तथा।
कृत्स्नकर्म प्रमोक्षो हि
मोक्षमित्यभिधीयते ॥

यहाँपर हम जैन धर्म के स्याद्वाद या सप्त भगी नय का विवेचन नही करेंगे। हमने बहुत ही सक्षेप में उसके निरीश्वरवाद का वर्णन किया है। हमारे एसे ईश्वरवादी—साथ ही अद्वैतवादी के लिये इसमें अनेक दोष दीख पड़े, पर, इस निरीश्वरवाद में सब कुछ इतना सुन्दर है कि हमको कोई शिकायत न होनी चाहिये। जीव की ऐसी व्याख्या से हमारा परमात्मा ऐसी राग-द्वेष भरी सृष्टि को बनाने की जिम्मेदारी से बच गया। सृष्टि का उद्देश्य हरेक जीव को "जिन" बना देना हो गया। निर्वाण से "शून्य" का आभास समाप्त हो गया और पश्चिमीय नास्तिकों की तरह हम भौतिक सुख के बधन में ही नही पड़े रहे। जैनी निरीश्वरवाद इतना तर्कपूर्ण है कि उसका सहसा खण्डन करना कठिन है और ईश्वर भक्त के लिए जैनी "वीतराग" मूर्त्तिमान् मिलते हैं।

परम विद्वान् जैनी श्री हेमचन्द्राचार्य ने ईश्वर तत्त्व की एकता को बड़ी उदारता से जैने अपना ली लिया और हमको उसे न भूलना चाहिये। वे कहते हैं —

"भव बीजाकुर जनना रागाद्या क्षयमुपगता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥
यत्र तत्र समये यया तया योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुष स चेद् भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते।"

जैनाचार

पं० श्री हेमचन्द्र कौंदेय शास्त्री, न्याय-काव्यतीर्थ, प्रभाकर

जैन-धर्म की महत्ता—

जैनधर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक महान् धर्म है। इसकी प्राचीनता का सबसे बडा प्रमाण यह है कि इसके सभी नियम-उपनियम प्रकृति से अपना गठबन्धन किये हुए है—क्या तो दार्शनिक प्रणाली और क्या व्यावहारिक आचार व्यवस्था। दार्शनिक दृष्टि से जब हम विचार करते है तो जैनधर्म में वस्तु का स्वभाव ही धर्म कहा गया है "वत्थुसहावोधम्मो" ऐसा ही श्री कुन्दकुन्द भगवान् का वचन है। वह वस्तु-स्वभाव क्या है तथा उसका क्या धर्म है इस प्रश्न का उत्तर जैनाचार्यों ने स्पष्ट दिया है "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्" तथा 'सद्द्रव्यलक्षण' अर्थात् ससार में कोई भी जड या चेतन द्रव्य ऐसा नही है जिसमें उसकी उत्पत्ति, विनाश और ध्रुव अवस्था न पाई जाती हो। षड्द्रव्यो में जीव द्रव्य चेतन है और बाकी के पांच द्रव्य अचेतन है। इन छहो ही द्रव्यो में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सदा से होते आये हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और सदा काल होते रहेंगे। यही द्रव्य का द्रव्यत्व है और उसका त्रिकालवर्ती स्वभाव में स्थिर रहना है, यही उसका धर्म है। जीव द्रव्य ही को ले लीजिये। जीव का स्वभाव ज्ञान है। यह आत्मा से त्रिकाल में विमुक्त नही होता। चाहे जीव एक लघु कीट के रूप में हो अथवा एक मनुष्य के रूप में उसका ज्ञानस्वभाव उससे कदापि विमुक्त नही होता। जैन शास्त्रो के अनुसार सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव में भी अक्षर के अनन्त वें भाग ज्ञान विद्यमान है। इनके बीच ज्ञान के अनन्त भेद होते हैं परन्तु इन सभी ज्ञानो के अधिकारी जीव ही हैं। अजीव कदापि नही। अजीव द्रव्य का जड स्वभाव है। इन अजीव द्रव्यो में अनन्त काल से न तो ज्ञान का सम्बन्ध हुआ और न त्रिकाल में भी कभी ज्ञान का सम्बन्ध होनेवाला है। उनका जड स्वभाव कभी भी उनसे विमुक्त नही हो सकता है। अत यह सिद्ध होता है कि वस्तु स्वभाव का परिवर्तन करना असभव है और यह वस्तु स्वभाव ही धर्म है तथा वह अनादि अनन्त है। जैन आचार्यों ने इसी वस्तु स्वभाव रूप धर्म का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न दृष्टि से किया है और यह अबतक षड्दर्शन के दार्शनिक विद्वानो के लिए तर्क की कसौटी बना हुआ है।

तीर्थंकरों का आचार-निरूपण—

जैन धर्म मे काल परिवर्तन से प्रति युग मे २४ तीर्थंकरो की उत्पत्ति नियम से होती है। ये सभी तीर्थंकर जैन धर्म के सस्थापक न होकर केवल प्रसारक ही माने जाते है। इन्हें आचार्य, विद्वान् या परम्परागत शिष्यो

की तरह प्रवर्त्तक कहना ही उपयुक्त होगा, क्योंकि इनके द्वारा किसी नवीन मार्ग या धर्म का प्रतिपादन नही होता अपितु युगो से चले आये वस्तु-स्वरूप रूपधर्म की वास्तविकता का उद्धार करना ही इनका कर्तव्य होता है। इन तीर्थंकरो का यह वैशिष्ठ्य होता है कि ये वीतरागी अर्थात् हठवाद, पक्षपातवाद और एकान्तवाद से सर्वथा रहित होते है। वीतरागी के प्रचारेच्छा, गुरुत्वभाव, मतावलम्वी बुद्धि या अन्य कोई सघ निर्माणादि की अभिलाषा नही रहती है, अत उनके ारा प्रतिपादित वस्तुस्वभाव रूप धर्म के प्रतिपादन में किसी को भी सन्देह या भ्रम नही होता। "वक्तु प्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यं" और "वचन प्रामाण्याद्वक्तु प्रामाण्य" ये दोनो ही न्याय पूर्ण रूप से परिलक्षित हो जाते है। इसी वस्तुस्वभाव की जीत को प्राप्त करना-कराना जैनधर्म प्रवर्त्तको का मुख्य लक्ष्य रहा है और इस आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए जिन व्यावहारिक उपायो को साधको को काम में लाना पडा वे ही उपाय आत्मधर्म, जैनधर्म अथवा वीतराग-धर्म नाम से कहे जाते है। अथवा विभाव-स्थित आत्मा को स्वभाव-स्थित करनेवाले उपायो का नाम ही धर्म है और वह क्योकि अन्तरग, बहिरग शत्रुओ के विजेता 'जिन' द्वारा प्रवर्तित हुआ अत इसका नाम जैन धर्म है। ससार स्थित सभी आत्माएँ विभाव-स्थित है और वे अनन्त काल से विभाव को त्याग आत्मस्वरूप प्राप्त करती आई है अत यह सिद्ध हो जाता है कि जब से आत्मा विभाव को छोडकर स्वभाव में स्थित होने का उपाय करती आयी है यह उपाय भी तभी से चला आया है। क्योकि परमात्मा अनादि से है अत उस पद की प्राप्ति करानेवाला धर्म भी अनादि—है यह आगम और युक्ति से स्वय सिद्ध है।

जैनधर्म के भिन्न-भिन्न युगो में उत्पन्न तीर्थंकरो के जीवन में एक और विशिष्टता है कि कोई भी तीर्थंकर परम्परागत ज्ञान या क्रिया का तबतक प्रतिपादन नही करते जबतक वे उस कार्य पर स्वय आरूढ होकर उसमें परिपूर्ण नही हो जाते। छद्मस्थ ज्ञानी को धर्मोपदेशना का स्वतत्र अधिकार जैन शासन में नही है। अपूर्ण ज्ञानावस्था में तीर्थंकर मौन ही रहते है चाहे उन्हें कैवल्य प्राप्ति में सैकडो वर्ष लग जायें। कैवल्य प्राप्ति के उपरान्त ही उनकी दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश होता है और उसका ही अवलबन कर साधक मोक्षमार्ग का अनुसरण करता है। बिना साधना के कोई साधक लक्ष्य सिद्ध नही कर सकता है। जैन तीर्थंकर साधना के सच्चे प्रतीक है और उनकी साधना में उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्श एव सिद्धान्तो का पूर्णत सामजस्य पाया जाता है। आदर्शानुकूल सिद्धान्त और सिद्धान्तानुकूल आदर्श का होना जैनधर्म अथवा जैन तीर्थंकरो का अन्यत्र अप्राप्य सामजस्य है। कर्तृत्ववाद अथवा परकृत अनुग्रह, लाभालाभ को यहाँ कोई स्थान नही है। स्वय का पुरुषार्थ ही उद्देश्य प्राप्ति का मूल है। जैनधर्म में स्वभाव या धर्म की प्राप्ति माँगने से न होकर व्यक्ति-गत पुरुषार्थ से ही होती है। और यही जीव द्वारा कृत पुरुषार्थ मोक्षमार्ग या जैनधर्म कहलाता है। मुक्ति-कामिनी के वरण रूप महान लक्ष्य को प्राप्ति होने पर यह आत्मा कृतकृत्य, शुद्ध, परमात्मा, सिद्ध परमेष्ठी हो जाता है और उसे विभावरहित स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है।

जैन-धर्म में आचार का स्थान——

जैनधर्म में रत्नत्रय पर विशेष जोर दिया है "सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग" यह आगम का मूल सूत्र है। इसमें उमास्वामी महाराज ने मुक्ति और मुक्तिमार्ग सभी का प्रतिपादन कर दिया है। इसकी व्याख्या स्वरूप ही सम्पूर्ण मोक्ष शास्त्र का निरूपण किया है। इतना ही नही, परन्तु उत्तर-वर्ती आचार्य और विद्वानो ने इसी महान् सूत्र ग्रन्थ के ऊपर अनेक रचनाएँ की है जो किसी धर्मग्रन्थो के ग्रन्थो मे

कम नही है। वस्तु स्वभाव का ज्यो का त्यों श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन, है। वस्तु-स्वभाव को ज्यो का त्यों जान लेना सम्यक् ज्ञान है। ज्ञान द्वारा प्रतिपादित स्वस्तु स्वरूप (आत्मरूप) को प्राप्त कर लेना सम्यक् चारित्र है। यह रत्नत्रय की निश्चयात्मक कथनशैली है। इन्ही रत्नत्रयो का व्यवहारात्मक प्रतिपादन भी शैली है जो निश्चय स्वरूप की प्राप्ति में कारण होती है।

जैनधर्म पुरुषार्थ-प्रधान है अत जैन ग्रन्थो में आचार को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किसी भी धर्म के अन्तस्तल को जानने के लिए उसके आचार मार्ग को जानना विशेष रूप से वाछनीय है। आचार मार्ग के प्रतिपादन में ही धर्म का धर्मत्व सन्निविष्ट होता है। वास्तव में "आचार प्रथमो धर्म ' अर्थात् आचार ही प्रथम धर्म है। भारतीय धर्मों मे यह विशिष्टता है कि उनके दार्शनिक और व्यावहारिक रूपो में पूर्णत सामञ्जस्य पाया जाता है। दर्शन का सैद्धान्तिक मूल्य है और आचार मार्ग का व्यावहारिक। दर्शन और धर्म वही प्रामाणिक हैं जिनसे लौकिक और पारमार्थिक कल्याण की साधना हो। भारतीय धर्म केवल लौकिक कल्याण को ही महत्त्व नही देते हैं, परन्तु लौकिक कल्याण के साथ पारमार्थिक कल्याण का भी प्रश्न उनके सामने उपस्थित है। अत वे दर्शन और धर्म में एक ऐसी मैत्री स्थापित किये हुए हैं कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध तोड देने पर सारी व्यवस्था अव्यवस्थित हो जाती है। जैन दर्शन आध्यात्मिकता का प्रतिपादक है और जैन धर्म उसकी व्यावहारिकता का पोषक है। दर्शन और धर्म की यह भव्य झाँकी हमें जैनधर्म में विशेष रूप से दीख पडती है।

जैनधर्म का वाह्य कलेवर ही आचार है। तीर्थंकरो के द्वारा आचार की शुद्धता द्वारा ही ससार के दु खो का निवारण होता है। वे स्वय आचार की साधना द्वारा ससार दु ख से निवृत्त होते हैं और दु खित प्राणियो को दु खनिवृत्ति का उपदेश देते हैं। जिधर भी दृष्टि डालिये ससार में दु ख-समु की तुमुल तरगो का भयावह नृत्य हो रहा है। तीर्थंकरो को इस दु खजलधि को धर्मयान द्वारा पार करना है। दु ख, मोह, क्षोभ, शोक आदि से सतप्त आत्मा का उद्धार कर परमात्मपद की प्राप्ति कराना ही तीर्थंकरो का स्व-पर के लिए महान् पु - षार्थ है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है, वह अप्रकट रूप में परमात्मा है। कर्म-वेष्टित होने के कारण उसका ज्ञान स्वभाव रूप सूर्य प्रकट नही हो रहा है। यह आत्मा किसी का दास नही है। वह स्वरूप से स्वतत्र है और अपनी ही भूल के कारण ससार रूपी भयानक अटवी में भ्रमण कर रहा है। मोह रूप शत्रु ने इसे पराधीन कर दिया है। अपनी काषायिक वासना ने ही इसे ससारबद्ध कर रखा है। इस दासता से उन्मुक्त होने की प्रत्येक जीव की अभिलाषा है और इससे उन्मुक्त होने का यदि कोई सर्वोत्तम सर्वांगीण साधन है तो वह है जैन आचार मार्ग।

आचार का वर्गीकरण—

जैनधर्म में आचार दो विभागो में विभाजित है—मुनि आचार और दूसरा गृहस्थाचार। इनमें मुनि आचार साक्षात् मोक्ष का मार्ग है और गृहस्थाचार परम्परा से ! यदि कोई साधनसम्पन्न व्यक्ति मोक्षाभिलाषी होकर किसी धर्मोपदेशक निर्ग्रन्थ मुनि से धर्म-लाभ की याचना करे तो वे मुनि जैनधर्म की धर्मोपदेश प्रणाली के अनुसार उस मुमुक्षु को मुनि-आचार धारण करने का ही उपदेश देंगे। क्योंकि वह साक्षात् मोक्ष का कारण है । यदि वह धर्मेच्छुक उस मुनिव्रत को पालने में असमर्थता प्रकट करे तो वे उसे अस-

मर्थ प्राणियो के ग्रहण करने योग्य, किन्तु निर्ग्रन्थ मुनिपद की प्राप्ति मे कारीभृत गृहस्थाचार का उपदेश देंगे। शक्ति और उत्साह से पूर्ण व्यक्ति को समुचित दिक्षा देना धर्मोपदेष्टा के अधीन है।

जैन-मुनि का आचार—

मुनि आचार का प्रारम्भ २८ मूल गुणो से होता है। २८ से अधिक कम मूलगुण धारण करनेवाले मुनि-पद धारण नही कर सकते हैं। जैन मुनिमार्ग कठिन है और वह साधारण व्यक्तियो द्वारा साध्य नही है। ये २८ मूलगुण निम्न प्रकार हैं—१ अहिंसा महाव्रत २ सत्य महाव्रत ३, अचौर्य महाव्रत ४ ब्रह्मचर्य महाव्रत ५ परिग्रह त्याग महाव्रत ६ ईर्या समिति ७ भाषासमिति ८ एषणा समिति ९ आदान निक्षेप समिति १०. व्युत्सर्ग समिति ११ सामायिक १२ चतुर्विंशतिस्तव १३ वदना १४ प्रतिक्रमण १५ स्वाध्याय १६. कायोत्सर्ग १७ स्पर्शनेन्द्रिय विजय १८ रसनेन्द्रिय विजय १९ घ्राणेन्द्रिय विजय २० चक्षुरिन्द्रिय विजय २१ श्रोत्रेन्द्रिय विजय २२. अस्नानत्व २३. अदन्त धावन २४ भूमि शयन २५ नग्नत्व २६ केशलुचन २७. मूक भोजन २८. खडे भोजन।

इन अट्ठाईस मूल गुणो पर ध्यान देने से पता लगता है कि एक जैन मुनि अपनी मन, वचन, और काय की शक्तियो पर नियत्रण करते हुए आत्म स्वरूप में मग्न होने का पुरुषार्थ करता है। वैषयिक तृष्णा का दमन करता है और आत्म शक्ति को जागृत करता हुआ विकृति से प्रकृति की ओर झुकता जाता है। वह प्राकृतिक वन प्रदेशो में रहता है। वहाँ के पशु, पक्षी, नाले, झरने, वृक्ष, वेले और पाषाण ही उसके साथी होते हैं। वह रात्रि में शिला पर सोता है। चन्द्रमा की चाँदनी ही उसका दीपक होती है। प्राकृतिक गुफाएँ ही उसके घर हैं। सभी प्रकार के नगर और ग्राम के जीवन से सर्वथा अलग रहता हुआ वह स्वतत्र विचरण करता है। उसका राजनैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक जीवन से कोई सबध नही रहता है। ज्ञान अध्ययन और ध्यान ही उसकी निजी सम्पत्ति होती है। उनकी वृद्धि में वह सदा तल्लीन रहता है। एक जैन मुनि के परिकर का वर्णन योगी श्री शुभचन्द्र के शब्दो में देखिये—

> विंध्याद्रिर्नगर गुहा वसतिका शय्या शिला पार्वती,
> दीपाश्चन्द्रकरा मृगा सहचरा मैत्री कुलीनागना।
> विज्ञान सलिल पय सदशन येषा प्रशान्तात्मना,
> ते भव्या भव-पङ्क-निर्गम पथ -प्रोद्देशका सन्तु न ॥

साधारणत एक जैन मुनि की चर्चा इस प्रकार होती है। वह ब्राह्म मुहुर्त में जागता है और अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन अधिक से अधिक समय लगाकर करता है। जब उसकी मनोवृत्ति आत्म चिन्तन में नही जमती है तब वह स्वाध्याय, ग्रन्थ निर्माण, धर्मोपदेश, साधु परिचर्या, शास्त्र चिन्तन मे अपना उपयोग लगाता है। वह बाह्य में किसी छोटे-से प्राणी को भी प्राणबाधा नही पहुँचाता है। मयूरपिच्छ की कोमल पीछी से प्रत्येक स्थान का सशोधन कर ही गमनागमन करता है। त्रिकाल भावशुद्धिपूर्वक आत्मध्यानरत होता है। स्वप्न में भी किसी का अनिष्ट चिन्तन नही करता है। अपने विचारो को लौकिक विद्याओ द्वारा कलुषित नही करता। विचार निर्मलता के लिये वह सदा ही ससार, शरीर और भोगो के स्वरुप का चिन्तन

करता है। रात्रि में गमनागमन नही करता है। शरीर की विश्रान्ति के लिये स्वल्प जागरूक निद्रा लेता है। आचारपरिपालन की कामना से गृहस्थ के द्वारा सम्मानपूर्वक दिये हुए शुद्ध भोजन को ग्रहण करता है। जन-सघर्ष से अतिदूर प्रकृति की सौम्य छत्रच्छाया में वह एकान्त वास करता है। आत्म कल्याण के साथ वह लोक-कल्याण की सतत भावना करता है। "सर्वेऽपि सन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया।" यही उसकी आत्मध्वनि होती है। इन कार्यों के अलावा वह विद्वान निर्ग्रन्थ मुनि, व्याकरण, साहित्य, न्याय, धर्म, वैद्यक, ज्योतिष, राजनीति, काव्य आदि साहित्य का निर्माण करता है, जिससे आगामी धर्म सन्तति को स्थायी साहित्य की प्राप्ति होती है। यह जैन मुनियो के कठिन उद्योग का ही परिणाम है कि आज जो सर्वांगीण जैन साहित्य प्राप्त हो रहा है वह किसी भी धर्म के साहित्य से किसी प्रकार न्यून नही है। ऐसे वीतराग मुनियो के केवल शरीर दर्शन मात्र से आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। ससार के दुखित प्राणियो के लिये ये मुनि शान्ति के अग्रदूत और ज्ञान प्रकाशन के लिये ज्ञान स्तम्भ माने जाते हैं।

मुनियो के इन अट्ठाईस मूल गुणो के अलावा उत्तरवर्ती ८४ लाख उत्तर गुण हैं जिनमें मुनि आत्म ध्यान और तप के द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्तियो का विकास करता है और गुण स्थान प्रणाली में कर्म क्षय करता हुआ आर्हन्त्य पद से विभूषित होता है। यही जैन परमात्म पद है। इसके उपरान्त सिद्धावस्था तो अवश्यम्भावी प्राप्य विषय है। यह जैनाचार की आध्यात्मिक चरम सीमा है। यही जैनधर्म का प्राप्तव्य लक्ष्य है।

गृहस्थ का आचार—

जो व्यक्ति मुनि मार्ग का अनुसरण नही कर सकते उनके लिये देश, काल और शक्ति आदि की परिस्थितियो के अनुसार सुविधा देनेवाला सरल मार्ग गृहस्थ का आचार है, परन्तु यह साक्षात् मुक्ति का मार्ग न होकर क्रमश जीव की मुक्ति प्राप्ति का सहायक कारण है। सर्वप्रथम जैनधर्म में दीक्षित होने के लिये तीन बातो का साधन करना आवश्यक है—१. मिथ्यात्व त्याग (मुक्ति प्रापक मार्ग में अनास्था) २ अन्याय त्याग (अन्यायपूर्ण साधनो से आजीविका का अभाव) ३ अभक्ष्य त्याग (जीव हिंसोत्पन्न आहार का त्याग)। एक साधारण जैन गृहस्थ इन तीनो ही नियमो का पालन करता हुआ ८ मूल गुण और १२ उत्तर गुणो का पालन करता है। १ मद्यत्याग २ मास त्याग ३. मधुत्याग ४ वडफल त्याग ५ पीपल फल त्याग ६ अमर फल त्याग ७ कठूमर फल त्याग ८ पाकर फल त्याग, ये ८ मूल गुण हैं। १ अहिंसाणुव्रत २. सत्याणुव्रत ३ अचौर्याणुव्रत ४ ब्रह्मचर्याणु व्रत ५ परिग्रह परिमाणाणुव्रत ६ दिग्व्रत ७ देश विरत ८ अनर्थ दण्ड विरत ९ सामायिक १० प्रोषधोपवास ११ भोगोपभोग परिमाण १२ अतिथि सविभाग, ये १२ गृहस्थ के उत्तर गुण हैं। इन सभी व्रतो में जीवरक्षा परोपकार, परपीडाभाव न्यायपूर्वक आजीविका, सन्तोष, त्यागवृत्ति आदि गुणो की अभिवृद्धि का उपाय बताया गया है। शारीरिक स्वास्थ्य को दृष्टि में रखते हुए भोग विलास से निवृत्ति की ओर एक मुमुक्षु को अग्रसर किया गया है। इन व्रतो को निर्दोष धारण करने पर कोई भी गृहस्थ मुनिपद का आरोहण सरलता से कर सकता है।

उपर्युक्त व्रतो को साधन करनेवाले गृहस्थ की दैनिक चर्या निम्न प्रकार की होती है। वह देव, शास्त्र गुरु का पूर्ण विनयी भक्त होता है और शास्त्र प्रतिपादित षट्कर्मों को नित्यप्रति करता रहता है। १ देवपूजा २. गुरु उपासना, ३ स्वाध्याय ४ सयम ५ तप और ६ दान ये छ गृहस्थ के दैनिक षट्कर्म है। इनमें देवपूजा

आत्म शुद्धि का विशेष कारण है । स्वाध्याय धर्म की स्थिरता का हेतु है । दानकर्म लोकोपकार का मुख्य साधन है । जैन वर्ग इन कर्मों मे विशेष दृढता से तत्पर होता आया है । इसी कारण आज भी जैनो के विशाल चैत्य, चैत्यालय, विद्यालय, औषधालय, पाठशाला , भोजनालय विद्यमान हैं । ये धार्मिक सस्थाएँ विशाल सख्या मे होने के कारण जैन सस्कृति के विस्तृत प्रभाव को आज समूचे भारत पर प्रकट कर रही हैं । यदि जैन सस्कृति को भारतीय सस्कृति से अलग कर दिया जाय तो भारतीय सस्कृति अपूर्ण ही रहेगी । दक्षिण की स्थापत्य कला इसका स्पष्ट प्रमाण है ।

उक्त षट्कर्मों के पालन करने के कारण एक जैन गृहस्थ जहाँ वह अपने आत्म-कल्याण मे लगा हुआ है वहाँ वह दूसरे प्राणियो के हित में भी पूर्णत सतर्क है । उसकी विचार धारा अत्यन्त सरल और सौम्य होती है । जहाँ वह अपने देवाधिदेव से अपने कल्याणकी कामना करता है वहाँ वह लोकहित की कामना इस प्रकार करता हैं ।

> क्षेम सर्वप्रजाना प्रभवतु वलवान् धार्मिको भूमिपाल,
> काले काले च सम्यक्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
> दुर्भिक्ष चौर मारीक्षणमपि जगता मास्मभूज्जीव लोके,
> जैनेन्द्र धर्म चक्र प्रभवतु सतत सर्वसौख्य प्रदायि ।।

एक जैन गृहस्थ के आहार-विहार के सबध में इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि वह अपने आहार मे स्वादुभ्रष्ट, जीव सयुक्त, घुने हुए अन्न, फल और रसो को काम में नही लाता है । वह सदा ही ताजा, स्वादु और जीव रहित उत्तम आहार करता है । वह अपने स्वार्थ के लिये दूसरो का अहित नही करता है । उसकी सन्तोष-पूर्ण वृत्ति उसके गृहस्थ जीवन के सुखो का मूल कारण है ।

जैन-नगर की कल्पना—

उपर्युक्त जैनाचार का अवलोकन करते हुए हम एक जैन नगर का एक काल्पनिक चित्र खीचते हैं । वह नगर कैसा नगर हो सकता है जहाँ के निवासी कभी दूसरो का अहित न सोचते हो, असत्य न बोलते हो, चोरी नही करते हो, ब्रह्मचर्य से रहते हो, भाग्यलब्ध धन से सन्तुष्ट हो, न्यायपूर्वक आजीविका करते हो, अभक्ष्य पदार्थों के भक्षक न हो, परिश्रमी हो, शुद्ध आचार विचार वाले हो ।

जैनाचार का महत्त्व—

अत निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि भारतीय शास्त्रो में जिस सतयुग की महत्ता वर्णन की गयी है वह युग केवल जैनाचार के पालन करने से कुछ ही समय में इस विश्व मे लाया जा सकता है तथा भारत इन्ही गुणो के आधार पर अपने अतीत वैभव को पुन प्राप्त कर सकता है । वर्तमान मानव विषय-भोगो की प्रचण्ड अग्नि मे सन्तप्त हो रहा है । अतः जैनाचार के पालन द्वारा ही आज विश्व में शान्ति हो सकती है । त्रस्त मानव इसी से सुख लाभ कर सकता है ।

व्यावहारिक और दैनिक जीवन में जैनत्व का उपयोग

प्रो० श्री रामचरण महेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०,

प्रस्ताविक—

जैन-सम्प्रदाय मे जन्म ले लेने मात्र से किसी व्यक्ति को वास्तविक अर्थों में "जैन" नही कह सकते। जैन होने के लिए व्यक्ति के चरित्र में कुछ गुणो, कुछ विशेष भावनाओं, व्रतादि की आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने जैन-धर्म की पुनर्घटना के समय आचार-व्यवहार के जो नियम बताये थे उनका प्रत्येक जैन के लिए विशेष महत्त्व है। हम यह मानते हैं कि भगवान् महावीर ने इन नियमो का निर्माण करते समय साधुओ को दृष्टि मे रखा था। कारण यह था कि जैन धर्म के प्रारम्भिक दिनो में वही एक ऐसी सस्था थी जिसे व्यवस्थित कह सकते थे। साधारण व्यक्तियो में सास्कृतिक एव आध्यात्मिक जागृति नही हुई थी। जैन सम्प्रदाय में आधुनिक सगठन बाद की चीज है। प्रारभ में ये नियम साधु सस्था के लिये बने। तत्पश्चात् गृहस्थो के निमित्त भी कुछ नियम विनिर्मित किये गये। ज्यो ज्यो समय निकलता गया, त्यो त्यो गृहस्थो के लिए अनेक प्रकार के विधि-विधानो की आवश्यकता समझी गयी। मुनि और श्रावको के मूल गुणो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यहाँ हम इन व्यावहरिक जीवन सिद्धान्तो पर विचार करेगे।

पञ्चाणु-व्रत—

जैन शास्त्रो में प्रत्येक जैन के लिए पाँच अणुव्रतो का विधान है। इनके नाम इस प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। शेष सब विधान उन्ही के अन्तर्गत आते है। इनका अर्थ बडा व्यापक लेना चाहिये।

प्रथम अणुव्रत—

अहिसा का अर्थ कायरता नही। हिसा केवल जीव को मार देने का नाम ही नही है वरन् किसी प्राणीमात्र का जी दुखाना भी हिसा में सम्मिलित है। प्रत्येक प्राणी को जीने का अवसर देना मनुष्य

का कर्तव्य है। प्रारभ में केवल दैहिक कष्ट न देने का नाम अहिंसा रहा किन्तु जैन धर्म इससे आगे बढा हुआ है। उनके अनुसार कटुवचन, व्यग्य वाण या अपशब्द का उच्चारण भी हेय है।

अमृत चन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में इस प्रकार हिंसा अहिंसा का विवेचन किया है——

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजन भवत्येक ।
कृत्वा च परो हिंसा हिंसाफल भाजन न स्यात् ॥
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसा फलमेकमेव फल काले ।
अन्यस्य नैव हिंसा दिशत्यहिंसाफल विपुलम् ॥
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफल नान्यत् ॥
अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैं निजशक्त्या त्यज्यता हिंसा ॥

अर्थात् "एक मनुष्य हिंसा (प्राणिवध) न करके भी हिंसक हो जाता है अर्थात् हिंसा का फल प्राप्त करता है। दूसरा मनुष्य हिंसा करके भी हिंसक नही होता। एक की थोडी सी हिंसा भी बहुत फल देती है और एक की बडी भारी हिंसा भी थोडा फल देती है। किसी की हिंसा हिंसा का फल देती है और किसी की नही फल देती है। किसी को अहिंसा हिंसा का फल देती है और किसी की हिंसा अहिंसा का फल देती है। हिंस्य क्या है? हिंसक कौन है? हिंसा क्या है? और हिंसा का फल क्या है? इन बातो पर अच्छी तरह विचार करके जैन को हिंसा का त्याग करना चाहिये।"

हिंसा-अहिंसा बाह्य क्रिया नही किन्तु हमारे आन्तरिक भावो पर अवलबित है। इसलिए जैन शास्त्र कहते है— "वियोजयति चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते"। यह सभव है कि कोई किसी को मार डाले, फिर भी उसे हिंसा का पाप न लगे। कोई जीव मरे या न मरे, परन्तु जो मनुष्य प्राणिरक्षा का ठीक-ठीक प्रयत्न नही करता, वह हिंसक है और प्राणिरक्षा का उचित प्रयत्न करने पर भी केवल प्राणिवध से कोई हिंसक नही कहलाता।[1]

जीवन के लिए जो क्रियाएँ आवश्यक है उनके द्वारा प्राणिहिंसा हिंसा नही मानी जाती। जब तक जान बूझ-कर हिंसा न की जाय, उसे हिंसा नही कहते। अत प्रत्येक जैन का यह कर्तव्य है कि वह यथाशक्ति अहिंसाव्रत का पालन करे। अपने से हीन श्रेणी के पशु इत्यादि की हिंसा निरर्थक न होने दे, किसी का जी न दुखावे, शुद्ध जीवन व्यतीत करे। जैन सैनिक कर्तव्य के कारण युद्ध कर सकते है। जैन पुराणो में युद्ध और दिग्विजय के विस्तृत वर्णन आते है जिनसे स्पष्ट है कि युद्धो से किसी का जैनत्व नही नष्ट होता। अनेक जैनी क्षत्रिय

---

१ मरदुव जियदुव जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

हुए है और उनके साथ युद्ध की परम्परा भी लगी है । तीर्थंकर सरीखे धर्माधिकारी युद्ध करते रहे है। कर्तव्य हो जाने पर युद्ध अहिंसा के कारण नही रोका जा सकता। जैनधर्म सार्वधर्म होने पर क्षत्रियो का धर्म है।

द्वितीय अणु-व्रत—

दूसरा व्रत है– सत्य। जो उचित है, कल्याणकारी है, वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय है, वही सत्य है। सत्य का विवेक भी अत्यन्त कठिन है। इस नियम के अनुसार झूठ, कपट, चोरी, अनीति से अर्थोपार्जन, अतथ्य वोलना, धोखेवाजी सव जैन के लिए त्याज्य है। जैनाचार्यों ने जो सत्य की व्याख्या की है उससे भी यही स्पष्ट होता है। सर्वार्थसिद्धिकार कहते है—

"सच्छब्द प्रशसावाची न सदसद् प्रशस्तमिति यावत्। प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तम् विद्यामानार्थविषयवा अविद्यामानार्थविषयवा । उक्तं च प्रागेव अहिंसा प्रतिपालनार्थमितरद् व्रतमिति तस्माद्धिसा कर्म वचोऽनृतमिति निश्चेयम् ॥"

अर्थात् सत् शब्द प्रशंसावाची है, असत् अर्थात् अप्रशस्त। जो प्राणियो को दु ख देने वाला है, वह अप्रशस्त है, भले ही वस्तुस्थिति की दृष्टि से वह ठीक हो या न हो क्योकि अहिंसा के पालन के लिये यह द्वितीय व्रत है। इसलिये अनृत वोलनेवाला हिंसक हैं।

महाभारतकार कहते हैं—"सत्य (तथ्यपूर्ण) वोलना श्रेष्ठ है परन्तु सत्य की अपेक्षा हितकारी वोलना अच्छा है। जो प्राणियो के लिए हितकारी है, वही मेरा सत्य है।"

तृतीय अणु-व्रत—

तीसरा तत्त्व है—अचौर्य अर्थात् चोरी न करना। दूसरे की वस्तु विना उससे कहे ले लेना चोरी है। चोरी हर प्रकार से त्याज्य है। इससे हिंसा होती है क्योकि दूसरे का मन दुखता है, सत्य का हनन होता है। हमारे नित्य प्रति के जीवन में अनेक ऐसे कार्य हैं जो देखने में तो चोरी नही प्रतीत होते किन्तु वास्तव वे चोरी ही है। रिश्वत, काला वाजार, अपने कुटुम्वियो से छुपाकर कोई कार्य करना, गुप्त वातें मन में छिपाये रखना भी एक प्रकार की चोरी ही है। सागर धर्मामृत ४–४९ में लिखा है—

"स्वमपि स्वं मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पदम्। यदातदाऽऽदीयमानम्" अर्थात् कोई वस्तु यदि अपनी हो परन्तु यह वात आपको ज्ञात न हो, फिर भी उसे ले लेना चोरी है, क्योकि लेने में उसे अपनी समझ लिया है। चीज अपनी है या नही—इस भ्रम में पडकर भी वस्तु ग्रहण कर लेना एक प्रकार की चोरी ही है।

कन्याविक्रय, सूद, जुआ, सट्टा, लाटरी इत्यादि का नैतिक मूल्य नही है। इनके मूल में स्वार्थ और वेईमानी है। जुए और सट्टे से हम जनता और समाज का कुछ भला नहीं करते। मुफ्त में विना परिश्रम रुपया हडप लेना चाहते हैं। यह भी चोरी का एक रूप है। व्यापार जगत् में जैसे माल का वादा किया हो, वैसा

उसे न देना नैतिक अपराध है। श्रम से अनिच्छापूर्वक या छल से कुछ काम करा लेना भी चोरी का रूप है। छिपकर कोई खेल बिना टिकट लिये देख आना या रेल, मोटर इत्यादि में बिना पैसे खर्च किये सफर करना भी चोरी है। स्वार्थवश, द्वेषवश एक का श्रेय दूसरे को न देना, कृतज्ञता प्रकाश न करना भी चोरी के भिन्न-भिन्न रूप हैं। मानव मात्र को इस सबसे वचना चाहिये।

चतुर्थ अणु-व्रत—

जैन शास्त्रो में ब्रह्मचर्यका का उल्लेख मिलता है। भगवान् महावीर ने इस पर विशेष जोर दिया है। भगवान् पार्श्वनाथ के समय में ब्रह्मचर्य व्रत नही था। शायद उस समय इस व्रत को पृथक् स्थान प्राप्त नही हुआ था। जैन शास्त्रो के अनुसार पार्श्वतीर्थ के साधु भी ब्रह्मचर्य रखते थे, किन्तु उसे वे अपरिग्रहमें सम्मिलित करते थे। उनका विचार था—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्य तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुष ॥

अर्थात् जननेन्द्रिय सयम द्वारा मनुष्य देवताओ के गुण को प्राप्त हो जाता है। उसकी दैहिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियो का पूर्ण विकास हो जाता है।

"ब्रह्मचर्य का अर्थ है— "ब्रह्म मे विचरण करना अर्थात् अपने सयम, निग्रह, शुद्धाचरण द्वारा उसकी ओर मन, वचन, और कर्म द्वारा अग्रसर होना। आज का मानव जीवन की इस उच्च भूमिका में नही उठ पाया है। फिर भी उसे वीर्य रक्षा, जननेन्द्रिय का सयम, आत्मिकवल के सयम का व्रत ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्मचर्य वह तप है जिसके द्वारा मनुष्य उच्च ईश्वरीय जीवन व्यतीत कर सकता है। शुद्ध आचरण द्वारा वीर्य की मन, वचन, काय द्वारा रक्षा करते हुए जैन शास्त्रो में वर्णित सात्त्विक जीवन व्यतीत करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही सवसे श्रेष्ठ तपश्चर्या है। एक ओर चारो वेदो का फल और दूसरी ओर ब्रह्मचर्य का फल—दोनो में ब्रह्मचर्य का फल विशेष है। अपनी शक्ति और स्वतत्रता की तथा दूसरो की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य उपयोगी है।

पञ्चम अणु-व्रत—

"अपरिग्रह" अन्तिम अणुव्रत है। अपरिग्रह का अभिप्राय है समस्त धनधान्य का त्याग करना। साधारण व्यक्ति परिग्रह को पाप नही मानते। धन और वैभव के सचय को बुरा नही समझते। धन की महिमा खूव गायी जाती है। अपरिग्रह के अनुसार किसी को अति धन सग्रह नही करना चाहिये। अतिधन सग्रह करने से पूँजीवाद की वृद्धि होती है। मनुष्य धन के लालच में पड़कर शुभ-अशुभ विवेक-अविवेक का विचार नही करता। सग्रह की इच्छा इतनी बढती है कि मनुष्य धन, अन्न, गाय, भैस, जमीन, मकान, सोना चादी—न जाने क्या क्या सग्रह करने में लगा रहता है। भोग विलास में लिप्त होकर समाज के लिए शत्रु का काम करता है। सयम का कुछ महत्व नही रह जाता। धन मनुष्य को गुलाम वनाता है। सयम का अर्थ है कि वची हुई सामग्री दूसरो के काम आवे।

जैन शास्त्रो मे भोगोपभोग परिमाण को मूल व्रतो में नही गिना। इसे अपरिग्रह व्रत का सिर्फ सहायक कहा है। भगवान् महावीर ने अपरिग्रह और भोगोपभोग परिमाण व्रत में जो भेद बताया है और अपरिग्रह को जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है उससे उनकी अर्थशास्त्र की जानकारी स्पष्ट हो जाती है। वे पूंजीवादी प्रथा के खिलाफ थे। समाज में अर्थ का वितरण समान रूप से हो— यह उनका ध्येय था। अपरिग्रह व्रत का लक्ष्य साम्यवाद मालूम होता है। जैन शास्त्र साम्यवाद के पूर्ण पोषक है।

ऊपर लिखे पच महाव्रत के अतिरिक्त देश, काल और गुणो के अनुसार अन्य आवश्यक तत्त्वो का विवेचन इस प्रकार मिलता है। प्रत्येक गृहस्थ को इनका पालन करना चाहिये—

(अ) १–५ अणुव्रत (६) मद्यत्याग (७) मासत्याग (८) मधु त्याग—समन्तभद्र

(आ) १–५ अणुव्रत (६) शराव वन्दी (७) मास त्यागना (८) द्यूत त्यागना–जिनसेन

(इ) १–५ के अतिरिक्त मद्य, मास, मधु, उदम्बर—कूम्वर, वडफल—पीपल फल, पाकर फल का त्याग
—सोम देव

(उ) (१) मद्य त्याग (२) मास त्याग (३) मधु त्याग (४) रात्रि भोजन त्याग (५) उदम्वर आदि पांच फलो का त्याग (६) अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु को नमस्कार (७) जीव दया, (८) पानी छानकर पीना —आशाधर

निष्कर्ष—

उपरोक्त मीमासा से हम कह सकते है कि मानव मात्र को निम्न वातो का विशेष ध्यान रखना चाहिये—- (१) सब धर्मों मे एकता देखना (२) सर्व जाति समभाव (३) विवेक (४) प्रार्थना (५) शील (६) दान (७) मास त्याग (८) शराव छोड देना।
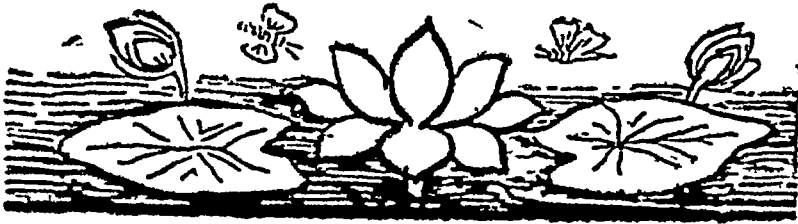
जैन दृष्टि से सम्पत्ति-विनियोग

श्री प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला एम० ए०, साहित्याचार्य आदि

'धनलोलुप कौन सा पाप नही करते[1]?'—यदि सर्वथा सत्य है तो प्रजापति ऋषभदेव ने ही असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य तथा शिल्प का स्वय उपदेश क्यो दिया[2]? प्राणी यदि एक क्षण भी शिथिल रहता है तो प्रमादी हो कर पाप सचय करता है। फलत जब तक वह सराग है तब तक उसे अपनी योग्यतानुसार षट् कर्मों में से कोई करना ही चाहिये। और जब वह लवलीन होकर किसी व्यवसाय में लग जाता है तो उसका अभ्युदय होना अनिवार्य है। उसे आज्ञा है कि यदि जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य परिग्रह से थोडा भी अतिरिक्त रखा तो हत्यारे के समान पापी (परिग्रही) हो जाओगे। प्रश्न उठता है कि क्या जैन इस विधि के आचरण की कोई व्यवस्था बताते हैं?

गुणव्रत—

नागरिक तीन कोटियो में विभाजित है। प्रारम्भिक श्रेणी का नाम पाक्षिक है। इसके लिए अनिवार्य है कि वह अष्ट मूलगुण का पालन करे। देश, काल तथा व्यक्ति आदि की दृष्टि से मूलगुणो को उसके प्रकार से गिनाया है। किन्तु बहुप्रचलित मुलगुणो में, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिमित परिग्रह की भी गिनती है अर्थात् इन पाचो को मोटे तौर से पालना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। तो इन पाचो मूल गुणो को जो बढावें उन्हें गुणव्रत[3] कहा है। दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत तथा भोगोपभोगपरिमाण व्रत[4] के भेद से वह तीन प्रकार का है। यत व्रतो के नाम ही इतने स्पष्ट

१—द्रष्टव्य जैनधर्म और सम्पत्ति शीर्षक लेख। वर्णी अभिनन्दन ग्रथ पृ० १७६—१६०।

२—स्वामी समन्तभद्र कृत स्वयंभू स्तोत्र, आदिजिनस्तोत्र श्लो० २।

आचार्य जिनसेन कृत आदि पुराण, अध्याय १६ श्लोक १७६—१८५।

३—"अनुवृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः

रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लो० ६७।

४—सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य ने दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थ दण्ड त्याग व्रत को गुण व्रत कहा। स्वामी समन्तभद्रादि, जटा सिंहनन्दि आदि आचार्यों ने आचार्य कुन्दकुन्द के समान ही वर्गीकरण किया है। जहा कुन्दकुन्दाचार्य समन्तभद्रादि ने भोगोपभोग परिमाण व्रत नाम रखा है वहां सूत्रकारने 'उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत' नाम दिया है। इनके टीकाकार पूज्यपाद उमास्वाति आदि ने भी इन्हीं पदों का भाष्य किया है।

है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने अथवा सूत्रकार ने परिभाषा करने की आवश्यकता नही समझी । किन्तु समय के साथ जब अज्ञान और शिथिलता वढी तो स्वामी समन्त-भद्र को इन गुणव्रतादि के भी स्पष्ट लक्षण करने पडे । स्वामी के मत से पाचो इन्द्रियो के भोग्य पदार्थों की सव दृष्टियो से अविकल सख्या निश्चित कर लेना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है । जो पदार्थ उपयोगी है उनकी सख्या में आसक्ति को घटाने के लिए यह आवश्यक है[1]। स्वामी ऐसा तार्किक आचार्य केवल परिभाषा, वह भी साध्य साधन रूप से, करके ही तृप्त नही हुए है अपितु श्रावक विसन्दिग्घ रूप से गृहीत व्रत का पालन करे इस दृष्टि से उन्होंने उसकी सागोपाग व्याख्या की है । उनके अनुसार "पाचो इन्द्रियो के विषय जिन्हें एक बार उपयोग करके फेंक देना पड़े वह भोग है तथा जिन्हें एक वार उपयोग में लाने के बाद पुन पुन उपयोग में लाया जा सके वे उपभोग है । भोगोपभोग व्रती को त्रस जीवो की हत्या से बचने के लिए एव मास, मधु तथा उन्मत्तता से वचने के लिए मद्य को भी छोडना चाहिये । जिनसे लाभ थोडा हो और अनर्थ अत्यधिक हो उन्हें भी छोड दे । मूल, हरे वेंरादि, नवनीत, निम्व-कुसुम, कैतक आदि को भी छोडे । जो हानिकर है उसे भी छोड दे तथा जो असेव्य है अथवा अप्राप्य होने के कारण उपयोग में नही आना है, उसे भी छोड दे क्योकि सकल्पपूर्वक छोडने पर ही व्रत होता है ।" विना अभ्यास के कैसे त्याग दे ? अथवा आज दुर्लभ तथा अनावश्यक है, कल सुलभ तथा आवश्यक हो जाय , तव क्या करे ? स्वामी कहते है "भोगोपभोग यम और नियम रूप से होता है । कतिपय पदार्थों का 'नियम' करो अर्थात् सीमित समय के लिए छोड दो और कुछ का 'यम' करो अर्थात् जीवन भर के लिए छोड दो। अर्थात् आज दिन या रात भर या मास भर, ऋतु या अयन पर्यन्त भोजन, सवारी, शय्या, स्नान, शुद्ध लेपादि, पुष्प, पान, वस्त्र, भूषण, रति, नृत्य, सगीत आदि का मैं त्याग करता हूँ यह नियम है ।" इस प्रकार व्रत, लेने के वाद "यदि विषयो की अपेक्षा करता है, उन्हें याद करता रहता है, भोगो की अति आकाक्षा करता है, त्याग कर भी पाप पदार्थों को पाने को आतुर है, तथा भोगते समय पदार्थ में अत्यधिक रस का अनुभव करता है तो उसके भोगोपभोग व्रत में अतिचार[2] आ जायगा[3]।" तात्पर्य यह कि केवल कमाने से ही मनुष्य परिग्रही नही होता है यदि उसकी अपनी भोगोपभोग सख्या निश्चित है तथा अन्तरग में परिमित परिग्रही बने रहने के लिए आवश्यक भोग-उपभोगो की स्पष्ट विस्तृत तालिका प्रत्येक व्यक्ति के मन में होनी ही चाहिये ।

अब शका होती है कि परिग्रह परिमाण के बाद भोग-उपभोग परिमाण भी कर लेने पर व्यक्ति जब तक सागार है तव तक अपना व्यवसाय सावधानी से करेगा ही । और जैसा कि प्रकृति का नियम

---

१ अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये । रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।१८२।

२ सूत्रकार के मत से सचित्ताहार, सचिलसम्बद्धाहार, सचित्तसम्मिश्राहार, अभिषवाहार तथा दुःपक्वा-हार ये पांच अतिचार हैं । तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७—३५ ।

३ रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लो० ८०—६० ।

है कि त्यागनेवाले के पीछे सम्पत्ति तथा राज्यादि दौडते हैं तदनुसार उसकी सम्पत्ति वढेगी तव वह 'कोटपालादि' क्रिया से कैसे वचेगा ?[१] अर्जित सम्पत्ति को कहाँ डाले ?

षट्कर्म—

युगाचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, क्या डाले ? उसके पास वचेगा ही क्या, यदि वह अपने नित्य कृत्यो को उतनी ही सावधानी से करे जितनी से असि-मसि आदि करता है ? आचार्य कहते हैं—"दान पूजावख सावय धम्मो ण सावया तेण विणा[२]।" दान और पूजा श्रावक के मुख्य धर्म हैं। इनके विना श्रावक नही होते। गृहस्थ के देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, विनय, तप और दान ये छ नित्यकर्म हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के मत से इनमे भी दान और पूजा मुख्य हैं। जिस जीवन में ये नही, न वह सम्यक् दृष्टि है और न श्रावक ही है। यही मूल मान्यता थी जिसके आधार पर उत्तर कालीन आचार्यों ने "दान यजन प्रधानो—श्रावक, स्यात्" लिखा है[३]।

श्रावक के छहो नित्य कर्म ऐसे हैं कि यदि वह केवल अपने ही अन्न-वस्त्र भर के लिए कमाये तो उनमें से एक भी न निभेगा। देव पूजा को लीजिये—यदि देवालय नही हैं तव तो इसके निर्माण में ही गृहस्थ की कमाई का वहुभाग जा सकता है। किसी तरह मन्दिर वना तो उसकी प्रतिष्ठा, विविध प्रकार ही विशिष्ट पूजाएँ आदि ऐसे विधान हैं कि इनके लिए ही साधन जुटाना जीवनव्यापी कार्य हो सकता है। पूजा जहाँ व्यक्ति के सामने महान् आदर्श को रखती है वहाँ उसे इस वात के लिए भी प्रेरित करती है कि वह अपनी न्यायोपात्त सम्पत्ति को अनासक्त भाव से व्यय करे। इस प्रकार वीतराग परम त्यागी पूज्य के आदर्श की ओर वह वढता है। जव पूजा के साथ दान मिल जाता है तव गृहस्थ की अधिकार्जन और परिग्रह परिमाण के विरोध की समस्या स्वयमेव सुलझ जाती है। क्योकि अर्जन की भाति त्यजन भी उसका कर्तव्य हो जाता है। वह देखता है कि रोग के समान उसे अपनी सम्पत्ति को अकेले ही नही भोगना है, अपितु उसके वुरे वहुधन को भला करने वाला पर-उपयोग भी है[४]।

दान का लक्षण—

यद्यपि कुन्दाकुन्दाचार्य ने अन्वयमुखेन दान की परिभाषा नही की है तथापि उनका "न दान, न धर्म, न त्याग, न भोग, (कुछ भी नही वचते हैं) जव यह आत्मा रूपी पतग लोभ रूपी अग्नि के मुख में पड जाता है और मर जाता है[५]।" अर्थात् जव तक लोभ है, तव तक सव शुभ-अशुभ

१—सागारधर्मामृत, अध्या० ५ श्लो० १८६—२३।
२—अष्ट प्राभृत, रयणसार गा० ११।
३—सागारधर्मामृत अध्याय १ श्लो० १५।
४—"स विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यो न तु य. स्वस्वंवोपभोग्यो व्याधिरिव। 'नीतिवाक्यायामृत, सुप्ताशं १।
५—षट्प्राभृत, रयणसार गा० १२–१३।

कर्म उसके आगे नि सार है । अतएव इस लोभ कषाय को परास्त करने के लिए "गृहस्थाचार के पालन में रत जो सम्यक् दृष्टि जिनेन्द्र की पूजा करता है, मुनियो को दान देता है तथा अपनी शक्ति के अनुसार (अन्य दानो को) देता है वह मोक्ष मार्ग रत होता है ।" अर्थात् लोभ कषाय को जीतना दान है । आचार्य का यह परम्परा-लक्षण उनके निश्चय नयानुसार कथन के ही अनुरूप है । दे कर भी यदि नामादि का भी लोभ रह गया तो कैसा दान ? क्योकि जहाँ लोभ है वहाँ परिग्रह अब्रह्मचर्य, चोरी, असत्य तथा हिंसा को आते कितना समय लगता है ?

सूत्रकार की दृष्टि में "अनुग्रह बुद्धि से इनका त्याग दान है" तथा विधि, द्रव्य, दाता तथा ग्रहीता के गुणो के कारण उसमें विशेषता आती है[1]। साधुवाद अथवा प्रत्युपकार की भावना के विना अपने विभव के द्वारा गुणी, गृहत्यागी साधुओ के कष्ट को दूर करना, उनके पैर वगैरह दवाना, अन्य सभी सेवाएँ करना वैयावृत्य अथवा दान है[2]। उत्तरकालीन समस्त लेखको ने इन्ही तीनो आचार्यो की परिभाषाओ को लेकर अपने लक्षण किये है । कुन्दकुन्दाचार्य के समान सूत्रकार ने भी वडी व्यापक परिभाषा की है तथा अतिथि सविभाग या मुनिवाद के व्यापक रूप में दान को स्वीकार किया है । आचार्य और सूत्रकार की दृष्टि में षोडश भावनाओ में आगत त्याग तथा दशधर्मों मे वर्णित त्याग भी था । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी उत्तर काल में मुनिदान पर ही जोर दिया गया है ।

लक्षणों के भाष्य—

टीकाकारो के अग्रणी पूज्यपादाचार्य अपनी सर्वार्थसिद्धि में सूत्रकार का भाष्य निम्नप्रकार से करते हैं—अपने तथा दूसरे का उपकार करने को अनुग्रह कहते है । स्व का अर्थ धन है । अतएव पुण्यसचय रूपी स्वोपकार तथा सम्यक् ज्ञान चारित्रादि की वृद्धि रूपी परोपकार के लिए अपनी सम्पत्ति का त्याग दान[3] है । श्वेताम्वर भाष्यकार आचार्य उमास्वाति ने भी "अपने तथा दूसरे के अनुग्रह के लिए अपनी सम्पत्ति, अन्न, पान, वस्त्रादि को पात्र में देना दान है[4]" अर्थ किया है । अर्थात् इन्होने भी मुनिदान पर जोर दिया है । भट्टा अकलक ने पूज्यपाद के प्रत्येक पद का विशेष भाष्य करते हुए यहाँ उपदेश दिया है कि अपने परिग्रह परिमाण आदि व्रतो के पालन रूपी स्वार्थ की दृष्टि तथा दूसरे की शरीरयात्रादि के लिए अपने धन का त्याग करना ही दान है[5]।

१—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७—३८ । तत्त्वार्थधिगम सूत्र ७—३३ ।

२—रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो० १११—११२ ।

३—सर्वार्थसिद्धि पृ० २१६ (निटवे, जैनमुद्रणालय, कोल्हापुर)

४—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य, पृ० १४६ (आर्हत्मत प्रभाकर माला, द्वितीय०)

५—तत्त्वार्थ राजवार्तिक पृ० २६२—३ (भारतीय जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था द्वारा सनातन जैन ग्रथमाला, ४ पुष्प)

दत्ति—

इन लक्षणो तथा भाष्यो के फलितार्थ पर जाने के पहिले दान के एक ऐसे रूप का विचार करना है जिस पर आचार्य जिनसेन, पण्डिताचार्य आशाधर जी आदि ने ही लिखा है । परन्तु यह दान-भेद प्राचीन ही रहा होगा । यदि ऐसा न होता तो वरागचरितकार जटाचार्य उसका विवेचन न करते । आचार्य जटा सिंहनन्दि भोग-भूमियो का वर्णन करते हुए भोग-भूमि में जन्म के कारण दान का विवेचन करते हैं । वे दान, दान की विशेषता भेदादि की चर्चा करने के बाद कहते है— "कुछ अनुदार प्रकृति लोग कन्या, भूमि, सोना, गाय, भैंस, आदि देने को भी प्रशसनीय दान कहते हैं । किन्तु अपने दोषो के कारण वीतराग ऋषियो ने उन्हें छोड दिया है । कन्या दान से राग की वृद्धि होती है । जहाँ राग है वहाँ द्वेष भी होगा, राग द्वेष से मोह बढेगा और मोह दूर होने पर विनाश निश्चित है । यदि अस्त्र देंगे तो वे दूसरे के दु खो के कारण होगे, सोने के कारण सदा भय बना रहेगा और विचारे गाय भैंस आदि मार, पीट बन्धन आदि दु खो को भरेंगे । गर्भवती स्त्री के समान पृथ्वी जोते बोये जाने पर महान हिंसा होती है । उस पर रहने वाले अनन्त प्राणियो का वध होता है इसलिए भूदान में कोई विशेषता नही है । किन्तु उचित देश काल में गुणी व्यक्ति को दिये जाने पर वह भी शुद्ध फल को देती है ।" इसके बाद वे दृष्टान्त देकर समझाते हैं और किसे देनेपर क्या उपयोग हो सकता है इत्यादि की व्याख्या करके दान का सागोपाग विश्लेषण करते हैं[1] । इस प्रकार जटाचार्य का भी कन्यादानादि के प्रति सहमत होना बताता है कि मुनिदान के अतिरिक्त दान भी श्रावक के कर्त्तव्य थे जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्य के " जो देई सत्तिरूपेन" पृथक् निर्देश से स्पष्ट है । यत यह वाक्य 'मुणिदान करेई" के बाद आता है' अतएव प्रतीत होता है कि मोक्षमार्ग में साधक अतिथि-सविभाग व्रत के अतिरिक्त अन्य दानो की व्यवस्था भी उन्ही से मिली थी ।

मुनिदान के अतिरिक्त अन्य दानो के लिए कतिपय आचार्यों ने दान शब्द का प्रयोग न करके 'दत्ति' शब्द का भी प्रयोग किया है । किन्तु पण्डिताचार्य ने पात्र दत्ति, समदत्ति, दयादत्ति, आदि भेदो को करके दत्ति और दान को पर्यायवाची ही माना है । पात्रदत्ति में उन्होने उत्तम, मध्यम, तथा जघन्य पात्रो को लिया है । समदत्ति में कन्या दानादि को रखा है तथा शेष दो तो अपने नाम से ही स्पष्ट हैं[2] । तात्पर्य यह कि दान का क्षेत्र इतना विशाल है कि यदि गृहस्थ लोभ से न हारे तो अनन्त सम्पत्ति कमाकर भी उसके परिग्रह परिमाण तथा भोगोपभोग परिमाण को निभा

१—कन्यासु भूहेमगवादिकानि केचित्प्रशंसन्त्यनुदारवृत्ता ।
स्वदोषतस्तानि विवर्जितानि व्यवृत्त दोषैर्ऋषिभिर्विशेषात् ।।३४।
कन्याप्रदानाविह रागवृद्धिर्द्वेषश्च रागाद्भवति क्रमेण ।
ताभ्यां तु मोहः परिवृद्धति मेति मोहप्रवृत्तौ नियतो विनाशः ।३५।
.... .दे कीच काले गुणवत्प्रवत्त फलावहं त भवतीति विद्धि ।३८।
(वरागचरित सर्ग ७)

२—सागार धर्मामृत अध्याय २, श्लोक ५०—७६ ।

सकता है। अर्थात् मनुष्य को सर्वदा पुरुषार्थ करना चाहिये और त्रिवर्ग की साधना करनी चाहिये। जो व्यक्ति पूजा, दान, आदि नही करते वे केवल 'अर्थ' की साधना करते है तथा अपने जीवन को नष्ट करते है। अन्य उत्तरकालीन आचार्यों ने इसी सार का प्रतिपादन किया है।

समदत्ति—

जो अहिंसा का पालक है वह दयादत्ति का तो पालन करता ही है, क्योकि इसके विना अहिंसा असभव है। पात्रदत्ति के विना ससार को पार पाना असभव है। अब विशेष विचारणीय है समदत्ति। पण्डिताचार्य आशाधरजी ने पात्रो को १—धर्मपात्र और २—कार्यपात्र के भेदो में बांटा है। परलोक में सुखादि मिलें इस लिए धर्मपात्रो को दान देना चाहिये तथा यहाँ सुख और कीर्ति के लिए कार्यपात्रो को दे[१]। इसके वाद कन्यादान का वर्णन है। अन्त में कहा है कि धर्म-अर्थ-काम में सहकारियो की यथायोग सेवा करे तो मनुष्य यहाँ तथा परलोक में आनन्द पाता है।[२] इसके आगे दयादत्ति तथा आश्रितो के भरण पोषण की विधि है।

सोमदेवाचार्य ने भी अपने उपासकाध्ययन[३] में दान का विस्तृत वर्णन किया है। समदत्ति के विषय में उनका नीतिवाक्यामृत अद्भुत है। सम्पत्ति की परिभाषा के बाद वे कहते है कि वही सच्चा धनी है जो धन का उपयोग भी आगम में कही विधि से करता है। वे आगे कहते है "जो धन से तीर्थ का सत्कार नही करता वह मधुच्छत्र के समान सर्वथा नष्ट हो जाता है[४]।

सोमदेवाचार्य के मत से धर्म तथा कर्म सहयोगी पुरुष तीर्थ है। इनके अतिरिक्त तादात्विक (विना विचारे आगत सम्पत्ति को खर्च करने वाला), मूलहर (पैत्रिक सम्पत्ति पर मौज उडानेवाला) तथा कदर्य (मजदूरादि सभी का पेट काट कर धन जोडनेवाला पूँजीपति) लोगो की सम्पत्ति सहज ही नष्ट हो जाती है[५]। अर्थात् जो सम्पत्ति को सार्थक करना चाहते है उन्हें धर्म तथा कर्म सहयोगियो के साथ अपने वैभव का विभाजन करना ही चाहिये।

दान का लौकिक कारण—

तादात्विक तथा मूलहर तो स्वयमेव अपनी सम्पत्ति नट-विटो में नष्ट कर देते है, कदर्य की सम्पत्ति भी या तो राजा लेता है या उत्तराधिकारी मूलहर बनके खा जाते है अथवा चोरो के काम

१—धर्मपात्राण्यनुग्राह्याण्यमुत्र स्वार्थसिद्धये।
कर्म पात्राणिचात्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ।५०।

२—धर्मार्थकामसध्रीची यथौचित्यमुपाचरन्
सुधीस्त्रिवर्गसम्पत्त्या प्रेत्य चेह च मोदते ।७४।

३—सोऽर्थस्य भाजन योऽर्थानुवन्धेनार्थमनुभवति ।२।

४—तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति ।४।
यशस्तिलक० उत्तरार्घ पृ० ४०३—४७।

५—नीतिवाक्यामृत–अर्थ समायोग

आती है । इसीलिए स्वामी कार्त्तिकेय ने कहा है कि जो लक्ष्मी को कमाता है और न भोगता है और न देता है वह अपने को ठगता है तथा उसकी पर्याय व्यर्थ है । क्योंकि लक्ष्मी कही भी नही ठहरती है । इसलिए लक्ष्मी का भोग करो तया दान दो[1]। धन कमाकर पृथ्वी में गाड दिया तो वह पत्थर समान है । जोडो और न भोगो, न दो तो वह दूसरे के वस्तु तुल्य हुई तया ऐसा व्यक्ति लक्ष्मी की दासता ही करता है[2]। इसी दृष्टि से समस्त आचार्यों ने लिखा है कि पुरुषो के साथ न जाने वाली लक्ष्मी को दान देकर समाप्त करना चाहिये ।

आज के युग में सम्पत्ति को लेकर जो निकृष्ट सघर्ष चल रहा है वह इसीलिए कि दान की परम्परा समाप्त हो गयी है । लोग भूल गये हैं कि जिस प्रकार अर्थ से राष्ट्र-विशेष या व्यक्ति विशेष की सर्व-प्रयोजन-सिद्धि है उसी प्रकार उनके लिए भी अर्थ अनिवार्य हैं जिन्हें उससे वचित किया जा रहा है । अतएव आवश्यकता इस बात की है कि लोभ-मरुस्थल में लुप्त दान-सरस्वती नदी को पुन समदत्ति का सबल प्रचार कर के प्रवाहित करना चाहिये, क्योंकि आज के युग में पात्रदत्ति तो भारत में इस काल में[3] है नही । न्याय से धन कमाने वाले को तया यों ही जन्मान्तर के पुण्य फल से[4] प्राप्त सम्पत्तिशाली को स्वयमेव उसका दान में विनियोग करना चाहिये, यह तभी हो सकता है जब मनुष्य सोचे--

वाह्या प्राणा नृणामर्थो हरता त हृता हि ते । और इस धन को देने वाले ने क्या नही दिया ?

१--ता भुजिज्जऊ लच्छी दिज्जउ दाणं दया पहाणेण । कार्तिकेयानुप्रेक्षा १२

२--'णय भुंजदि वेलाए चिंतावत्थो ण सुवदि रमणीये ।
सो दासत्त कुणादि विमोहिदो लच्छी तरुणीये ।१८।
कार्तिकेयानुप्रेक्षा ११--२०

३--पडुच्च पचमपाले भरहे दाग ण वि पि मोकवस्स । रमणसार गा० २८ ।

४--दाणीण दालिद लोहिन दिं हवेई महसिरियं ।
उहमाणं पुण्ण जिय कामाफलं जाव होई चिर ।२९।

जैन धर्म में नैतिकता का आदर्श

श्री अगरचन्द नाहटा

धर्म और नीति—

धर्म और नीति का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म आत्मा के आन्तरिक भावो से सम्बन्ध रखता है, नीति बाहर के आचार-व्यवहार से। बहुत बार धर्म एव नीति की विभाजक रेखा को ठीक से नही पहचानने के कारण नीति को ही धर्म की सज्ञा दे दी जाती है, पर जैनागमो में धर्म की व्याख्या करते हुए "वत्थु सहावो धम्मो" शब्दो द्वारा वस्तु के स्वभाव को ही धर्म माना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बाहरी दिखाव से उसका कतई सम्बन्ध नही, वह तो वस्तु के आन्तरिक भाव को ही पकडता है। इस आभ्यतर तुला से तौलने पर वर्तमान मे धर्म के नाम से पहचाने जाने-वाली बहुत सी बातो का नीति के अन्तर्गत समावेश हो जाता है ? नीति साधन है, धर्म साध्य है।

मनीषियो ने नीति की इस गडबडी को मिटाने के लिए ही धर्म-नीति एव लोक-नीति या राज-नीति के नाम से उसके दो विभाग कर दिये है। जिस व्यवहार का धर्म की ओर अधिक झुकाव है उसे धर्म-नीति एव जिसका लौकिक समाज-व्यवस्था की ओर झुकाव अधिक है उसे लोक-नीति या राजनीति कह सकते हैं। भारत धर्म - प्रधान देश है। आध्यात्मिक उन्नति ही हमारे पूर्वज ऋषि मुनियो का प्रधान लक्ष्य रहा है। अत राजनीति को निर्धारित करने में भी धर्म का आदर्श ही सामने रखा गया है। इस प्रकार नीति एव धर्म एक दूसरे से घुल-मिल-से गये है। धर्म से अविरोधी व्यवहार ही ग्राह्य माना गया है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। एक दूसरे के व्यवहार का प्रभाव समाज पर पडता है, अत समाज व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने व उन्नत करने के लिए सदाचार को प्रधानता दी गई है। सामाजिक सुव्यवस्था के लिए विद्वान् बनने या अधिक पढने लिखने की योग्यता की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी सदाचार की है। सदाचार की शिक्षा समुचित रूप से मिलती रहे इसीलिए प्रत्येक धर्म में कुछ ऐसे नियम बतलाये गये है जिनका पालन उस धर्म के प्रत्येक अनुयायी के लिए आवश्यक होता है। जैन धर्म में जीवन को आदर्श बनाने के लिए ऐसे अनेक नियम बतलाये गये हैं। उन्ही का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है।

जैन-धर्म का निर्धारित आदर्श—

नवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य हरिभद्र सूरिजी ने गृहस्थ के दो प्रकार के धर्मों का विवेचन "धर्म विंदु" नामक ग्रथ में किया है। वे हैं सामान्य धर्म, एव विशेष धर्म। इनमें से विशेष धर्म तो गृहस्थ-श्रावक के १२ व्रत ग्रहण रूप है और सामान्य धर्म मार्गानुसारी के ३५ गुणो के पालन रूप है। इन नियमो का श्रावक बनने की योग्यता की सूचक–भूमिका या पूर्व तैयारी के रूप में वतलाया गया है ? इन सब में नैतिक आदर्शों की ही प्रधानता है। अत यहाँ उनकी सूची मात्र दी जा रही है। विशेष विवेचन धर्मबिन्दु, श्राद्धगुण विवरण मार्गानुसारी के ३५ गुण आदि ग्रथो से जान लेना चाहिये।

गृहस्थ का जीवनादर्श—

१ न्याय से द्रव्य उपार्जन करना। । २ भले पुरुषो के आचार को प्रशसा करना। ३ अपने समान कुल और सदाचारवाले अन्य गोत्रीय से विवाह सम्बन्ध करना। ४ पाप से डरना। प्रसिद्ध देशाचार के अनुसार आचरण करना। ६ किसी का भी-विशेषत राजादि का अवर्णवाद नही करना। ७ अति प्रकट एव अति गुप्त न हो, अच्छे पडोसी हो ऐसे स्थान में रहना। ८ श्रेष्ठ आचरणवालो की सगति करना। ९ माता पिता की भक्ति करना, आज्ञानुयायी होना। १० उपद्रव वाले स्थान को त्याग देना। ११ निन्दनीय प्रवृत्ति नही करना। १२ आमदनी के अनुसार खर्च करना। १३ धन के अनुसार वेष-भूषा धारण करना। १४ बुद्धि के आठ गुणो से युक्त होना। १५ निरन्तर धर्म सुनना। १६ भोजन पाचन न हुआ हो, वहा तक अन्य भोजन नही करना। १७ समय कुसमय, पथ्यापथ्य का विचार कर भोजन करना। १८ धर्म अर्थ काम को अविरोधी रूप में साधना। १९ अतिथि, साधु एव दीन हीन की योग्यतानुसार सेवा सत्कार करना। २० दुराग्रह नही करना। २१ गुणो से पक्षपात रखना, गुणानुरागी होना। २२ देश कालानुसार चलना। २३ अपने बलाबल का विचार करके कार्य करना। २४ वयोवृद्ध, ज्ञान वृद्ध, गुण वृद्धो का आदर करना। २५ कुटुम्बादि पोष्यवर्ग का उचित पोषण करना। २६ पूर्वापर का विचार कर काम करना। २७ विशेषज्ञ बनना। २८ कृतज्ञ—किये हुए उपकार को सदा स्मरण रखना। २९ लोकप्रिय होना। ३० लज्जावान् होना। ३१ दयालु होना। ३२ सुन्दर एव सौम्यकृति। ३३ परोपकार करना। ३४ काम-क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन षट रिपुओ को जीतना। ३५ इन्द्रियो को वश मे करना—ये ३५ गुण प्रत्येक गृहस्थ में होने आवश्यक हैं।

इनमें सर्वप्रथम गुण बहुत ही उपयुक्त रखा गया है। गृहस्थाश्रम का सारा दारमदार नीति से द्रव्योपार्जन करना है। अनीति से आया हुआ द्रव्य अनीति के कार्यों मे प्राय खर्च होता है। साधारणत प्राणी अनुकरणप्रिय होता है अत एक की अनीति का असर सारे समाज पर पडता है। इसी प्रकार आमदनी के अनुसार खर्च करने आदि सभी नियम बहुत ही सुन्दर है। इससे गृहस्थाश्रम वडा सुन्दर बन सकता है।

धर्म तो वास्तव में एक ही सनातन सत्य है पर धर्म-पालन की योग्यता के भेद से जैन दर्शन मे साधुधर्म एव श्रावक धर्म, ये दो भेद वतलाये गये है । साधुओ का चरम लक्ष्य आत्मोद्धार है अत उनकी साधाना बडी कठोर रखी गई है । उनका लोक-व्यवहार के साथ कम से कम ताल्लुक रहता है अत उनके आचार-विचार वास्तविक धर्म के ही निकट होने चाहिये, पर साधारण गृहस्थ के लिए ससार की वहुत कुछ जिम्मेदारियाँ है । अत वह एक मर्यादा में रह कर ही धर्म का पालन कर सकता है । इसी वात को ध्यान में रखकर महाव्रत अर्थात् सर्व विरक्ति एव श्रावको के धर्म को अणुव्रत अर्थात् देश विरक्ति धर्म की सज्ञा दी गयी है। मुनियो के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह का पूर्णत पालन आवश्यक है। तव श्रावक के लिए ये नियम इस प्रकार रखे गये हैं—

१ निरपराधी प्राणी को सकल्प सहित न मारना ।

२ अनर्थकारक झूठ न वोलना । कन्या, भूमि, गायादि सम्वन्धी झूठ न बोलना। गाली गलौज न करना ।

३ राज्य से दण्ड मिले व लोग में निन्दा हो ऐसी वडी चोरी नही करना ।

४ पर स्त्री का सग परित्याग करना ।

५ मर्यादित जीवनोपयोगी वस्तुओ से अधिक का सग्रह न करना ।

६ इन नियमो को सुचारु रूप से परिपालन के लिए ३ गुण व्रत एव ४ शिक्षाव्रत मिलाकर श्रावक के १२ व्रत वतलाये गये हैं । इनमें नैतिकता कितनी कूटकूटकर के भरी पडी है यह इनके अतिचारो-दोषो की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है अत उन्हें यहाँ सक्षेप से वतलाया जाता है ।

प्रथम व्रत के ५ अतिचार—

१ किसी भी प्राणी को अपने इष्ट स्थान में जाते हुए रोकना वाधना ।
२ डडा या चावुकादि से प्रहार करना ।
३ कान, नाक, चमडी आदि अवयवो का भेदन छेदन न करना ।
४ मनुष्य या पशु आदि पर उसकी शक्ति से ज्यादा बोझ लादना ।
५ किसी के खान पान में रुकावट डालना ।

दूसरे व्रत के अतिचार—

१ सच्चा झूठा समझा कर किसी को उल्टे रास्ते डालना—मिथ्या उपदेश दोष है ।
२ किसी की विशेषत स्त्री की रहस्य की वात दूसरो के सामने प्रगट करना—रहस्योद्घाटन दोष है ।

३ मोहर-हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढी करना, खोटा सिक्का चलाना आदि—कूट लेख किया है ।

४ कोई धरोहर रख के भूल जाय तो उसकी भूल का लाभ उठाकर थोडी या बहुत धरोहर को हज्म कर जाना—न्यासापहार दोष है ।

५ आपस में प्रीति टूट जाय, इस ख्याल से एक दूसरे की चुगली खाना या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना—साकार मत्र भेद है ।

तृतीय व्रत के अतिचार—

१ किसी को चोरी करने के लिए स्वय प्रेरित करना या दूसरे के द्वारा प्रेरणा दिलाना अथवा वैसे कार्य में सम्मत होना—स्तेनप्रयोग दोष है ।

२ निजी प्रेरणा या सम्मति के विना कोई चोरी करके कुछ भी लाया हो उसे लोभवश लेना—स्तेन आहृतादान अतिचार है ।

३ राज्य निर्धारित आयात, निर्यातादि के करो को न देना, राज्य के नियमो का उल्लघन करना—विरुद्ध राज्यातिक्रम दोष है ।

४ न्यूनाधिक माप, बाँट, तराजू आदि से लेन देन करना—हीनाधिक मानोन्मान है ।

५ असली के वदले वनावटी, अच्छी के स्थान पर बुरी 'वस्तु' को चलाना या देना—प्रतिरूपक व्यवहार दोष कहलाता है ।

चतुर्थ व्रत के अतिचार—

१ निजी सन्तति के उपरान्त कन्यादान के फल की इच्छा से अथवा स्नेह सम्बन्ध से दूसरे की सन्तति का विवाह कर देना—पर विवाहकरण है ।

२ किसी दूसरे ने अमुक समय तक वेश्या या वैसी साधारण स्त्री को स्वीकार किया हुआ हो तो उसी कालावधि मे उस स्त्री का भोग करना—इत्वर परिगृहीतागमन है ।

३ वेश्या हो, या जिसका पति विदेश गया हो अनाथ विधवा हो, जो किसी पुरुष के कब्जे में न हो उसका उपभोग करना अपरिगृहीतागमन है ।

४ अस्वाभाविक रीति से जो सृष्टि-विरुद्ध काम का सेवन किया जाता है, वह अनग क्रीडा दोष है ।

५ वारवार उद्दीपन करके विविध प्रकार से काम क्रीडा करना—तीव्र कामाभिलाष है ।

पांचवां व्रत—

पाँचवे व्रत के अतिचारो में धन, धान्य, क्षेत्र, दास, दासी, गाय, भैंस, घोडे आदि जानवरो, सोना-चादी आदि धातुओ का जो परिमाण निश्चित किया हो उसका उल्लघन करना है । यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक का सग्रह न करे तो सभी के लिए वस्तुएँ सुलभ हो जायें

और, चोरबाजार, भूखे मर जाना आदि की नौबत ही नही आने पावे । उपर्युक्त अतिचार अर्थात् दोष है, जो श्रावक के लिए त्याज्य है ।

इसी प्रकार ८ वें अनर्थ दड व्रत में व्यर्थ के अनर्थ से वचने के लिए सचेत किया गया है—१ कामोद्दीपक, असम्य भाषण व परिहास नही करना, २ शारीरिक दुश्चेष्टाएँ न करना, ३ व्यर्थ का वकवास न करना, ४ अनावश्यक हिंसक अस्त्र-शस्त्र आदि पापकारी वस्तुएँ न रखना व दूसरो को न देना, आवश्यकता से अधिक वस्त्र आभूषण तेलादि का उपयोग न करना ।

गृहस्थ के लिए अन्य नियम—

जैनधर्म में जो व्यक्ति इन नियमो का पालन नही कर सकता हो उसे भी ७ व्यसनो का परित्याग तो अवश्य ही करने का विधान पाया जाता है । यथा—

द्यूत च मास च सुरा च वेश्या पापर्द्धि चौर्यं परदार-सेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके, घोरोतिघोरं नरक नयन्ति ।

अर्थात् १ जूआ खेलना, २ मास खाना, ३ शराव पीना, ४ वेश्यागमन करना, ५ शिकार खेलना, ६ चोरी करना, ७ परस्त्री सग करना—ये तो प्रत्येक जैन के लिए सर्वथा वर्ज्य हैं । १३वी शताब्दी के गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल ने अपने विशाल राज्य में इन नियमो का पालन करवाया था । इससे उन्होने जनता का नैतिक स्तर कितना ऊँचा उठाया था, यह प्रत्येक पाठक सहज में ही समझ सकते हैं । दया का प्रचार एव मास, मदिरा का त्याग करवाना जैनधर्मी का प्रधान कर्त्तव्य वन गया था । लाखो व्यक्तियो को उन्होने अनैतिक प्रवृत्तियो से हटाकर नीति के मार्ग में लगाया और सारे भारत में जहाँ कही भी वे पहुँच सके, जैन धर्म के सदाचार की छाप जनसाधारण पर अकित कर दी । यज्ञादि एव देवी वलि को वन्द करने और जीव-दया का असाधारण प्रचार करने का सारा श्रेय जैनाचार्यों को ही है । वैदिक धर्मानुयायियो पर भी इसका वहुत अच्छा प्रभाव पडा । आज भी मारकाट, चोरी एव अन्य महान् दुष्कर्म करनेवाले जैनधर्मानुयायियो में प्राय नही मिलते अर्थात् नैतिक आदर्श उनमें वहुत ऊँचे दर्जे का पाया जाता है । हाँ, एक वात को स्वीकार करना आवश्यक है कि जैनियो के व्यापार-प्रधान हो जाने से लोभवृत्ति वढ गई है। अत. व्यापारिक अनीति उनमें अधिक घुस गई है जिसके कारण वे वदनाम होते है, पर यह जैन धर्म से विरुद्ध ही है अत अधर्म ही है । जैन बन्धुओ को अपने गौरव को अक्षुण्ण वनाने के लिए ऐसे अनीति-कार्यों से शीघ्रातिशीघ्र हटने का प्रयत्न करना चाहिये ।

जैन धर्म मे सवसे अधिक जोर दिया गया है राग, द्वेष एव कषाय के विजय पर, क्योकि जैनो के आराध्य देव का नाम ही वीतराग देव है । वहाँ व्यक्ति-विशेष का कोई खास स्थान नही। जो भी वीतरागी हुए हैं व होनेवाले हैं सभी का आदर करना जैन धर्म का प्रधान आचार है। संसार में जितने अनर्थ होते हैं उनका मूल राग एव द्वेष या उसीके अवान्तर भेद-क्रोध, मान, माया,

लोभ है। इन चारो की सज्ञा जैन धर्म में कषाय रखी गई है जिसका भावार्थ है ससार की वृद्धि करनेवाले दुर्गुण। जितने अश में इनकी कमी होगी उतने अश में गुणो का विकास होना माना गया है। कषाय की तीव्रता मदता को लक्ष्य करके उसके ४ भेद किये गये है जिनमें प्राथमिक शुद्धि रूप सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए अन्तानुवन्धी का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होना अनिवार्य माना गया है। उस स्तर में पहुँचे विना वाहर से कोई जैसा भी भला दिखता हो, पर सम्यक्त्वी या जैनी होने की प्रथम भूमिका भी उसने प्राप्त नही की—यही जैनागमो की स्पष्ट उक्ति है। इसी प्रकार श्रावक धर्म धारण के लिए उससे हीन कोटि के कषाय अप्रत्याख्यानी एव साधु बनने के लिए प्रत्याख्यानी एव वीतराग होने के लिये सज्वलन—कषाय का क्षय होना जरूरी है। अर्थात् ये कषाय क्षय होते है तभी तदनुरूप गुणस्थान प्राप्त होते है। जैन धर्म में गुणस्थान आत्मा के क्रमिक विकार का विवेचन वडे ही मनोवैज्ञानिक रूप से किया गया है।

त्यागी मुनियो की वात जाने दीजिये—जैन मुनियो के जैसे कठिन एव पवित्र आचार विचार—जो जैनागमो में प्रतिपादित है—विश्व के किसी भी धर्म में नही मिलेंगे। फलत जैन साधु सस्था आज भी अन्य सभी धर्मों की साधु सस्था से अधिक आदर्श एव उच्च ही है पर जैन गृहस्थो के लिए भी जो नीति-मार्ग वतलाया गया है तदनुसार चला जाय तो गृहस्थ जीवन स्वर्ग-सा सुखकर एव सुन्दर बन जाय, पर खेद है कि हम लोभादि विषय कषायो के इतने अधिक अधीन हो चुके है कि हमारे कारण जैन धर्म का गौरव तिमिराच्छन्न है एव हम हास्यास्पद हो रहे है।

जैन-धर्म और नीति—

साहित्य समाज एव धर्म का दर्पण है। जो समाज या धर्म जैसा होता है साहित्य में तदनुरूप उसका स्वरूप प्रतिविम्वित पाया जाता है। तदनुसार जैन धर्म के नैतिक आदर्शों का पता उसके साहित्य से भली भाँति प्राप्त होता है। भोगो के प्रति आसक्ति एव अनैतिकता मानव का सस्कार-सा वन गया है। दुर्वासनाओ व दुराचारो को तनिक भी पनपने का अवकाश मिला कि वे कुसस्कार आकर उसपर सवार हो जाते है। अत उनसे वचने के लिए अच्छे विचारो एव सदाचारो के प्रति उसे आकर्षित करते रहना नितान्त आवश्यक है। अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान, पूजा, सामायिक, मुनि-सेवा स्वाध्यायादि का इसी में महत्त्व है कि हमारा अधिक से अधिक समय अच्छे वातावरण में व्यतीत होता रहे, ताकि बुरे विचारो एव कार्यों के लिए कमसे कम समय मिले। अधिक समय तक अच्छे वातावरण में रहने से उसकी सुवास जीवन में महक उठती है। इससे दुराचार रूपी दुर्गन्ध की ओर से उसका मन अपने आप खिच जायगा, उस ओर उसकी अरुचि हो जाने से प्रगति न हो सकेगी अत जो साहित्य मानवता को ऊँचा उठाने में सहायक हो, वास्तव में साहित्य की सज्ञा उसीके लिए सार्थक है। पर खेद है कि परवर्ती कतिपय विद्वानो ने उसे आलकारिक काव्यो में ही सीमित कर दिया है। जैनाचार्यों ने कुशलवैद्य की भाँति जनता की नाडी टटोली और अच्छे साहित्य-सर्जन के द्वारा उसकी उचित चिकित्सा करने का वडा भारी प्रयत्न किया। जवकि अन्य साहित्य में विलासिता की ओर झुकने की प्रेरणा मिलती है, तव जैन साहित्य में शृगारिक साहित्य का नामोनिशान नही है। प्रसगवश कही कुछ वर्णन आ गया तो अन्त में उसे वैराग्य की ओर ही मोड दिया गया है। हजारो जैन कथाओ को आप पढके देखिये, उसका उद्देश्य एक ही मिलेगा। सत्कर्म

द्वारा सुखो की प्राप्ति, बुरे कार्यो का दारुण दुखद परिणाम, अन्त में धर्माराधन ही एकमात्र सुख का उपाय—यही वात पद-पद पर विवेचित मिलेगी। शृगारिक लोक कथाओ—प्रेमवार्त्ताओ को भी उन्होने अपनाया है तो उनमें भी जैन धर्म के नैतिक आदर्शों की ओर स्थान-स्थान पर ध्यान आकर्षित करते रहे है एवं अन्त में चरित्र नायक को जैन मुनियो के पास श्रावक या साधु धर्म स्वीकार करवा कर उसे नैतिक आदर्श से ओतप्रोत कर दिया है। यह खूबी जैन विद्वानो की ही है।

विश्व में सवसे अधिक कुकर्म एव मानवता का पतन करने वाला कार्य विषय-विलास या भोगासक्ति है। उसको हटाने या कम करने के लिए तो जैन-साहित्य रामवाण औषधि है। अब्रह्मचर्य के कारण ही मनुष्य का शारीरिक एव मानसिक पतन होता है अत इससे हटने के लिए स्त्री के लिए स्वपति में सन्तोष एव पुरुष के लिए स्वपत्नी सन्तोष के लिए ही वैवाहिक प्रथा का जन्म हुआ, पर जहाँ तक दृष्टान्तो—कथाओ द्वारा इससे होते हुए लाभ एव परस्त्री-गमन व वेश्यागमन के दुष्परिणाम को जनता के हृदय पटल पर अकित नही किया जा सके। इस शील-धर्म के प्रति उनका आकर्षण नही वढता इसलिए सीता जैसी रमणियो के चरित्र बडे आदर्श ढग से चित्रित किये गये हैं जिससे तदनुरूप शीलपालन की प्रेरणा मिलती रहे। जैनधर्म में दान, शील, तप एव भाव—धर्म के चार आदर्श रखे गये हैं। इनमें से दान एव शील इन दो पर खूव जोर दिया गया है। इन्ही को लेकर सैकडो कथाओ सम्वन्धी हजारो कथा-ग्रथो का निर्माण हुआ है। दान धर्म के माहात्म्य की इन्ही कथाओ द्वारा जनता को उदारता एव दानशीलता का पाठ मिला है और शील कथाएँ तो इससे भी अधिक मिलती हैं जिन्होने लाखो स्त्री-पुरुषो को ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट एव विचलित होने से वचाया है। मानवता के नैतिक आदर्शों के प्रचार मे जैन-साहित्य ने वहुत वडा काम किया है। इस साहित्य ने पतनोन्मुख प्राणियो को ऊँचा उठाया है।

जैन धर्म में १७ पापस्थानक वतलाये गये है, जिनमें कलह करना, मिथ्या साक्ष्य देना, दोषारोपण करना, निन्दा करना, चुगली खाना को भी पाप स्थानो में सम्मिलित किया है। इनका नैतिक दृष्टि से भी वहुत महत्त्व है।

गृहस्थ-श्रावक के २१ गुणों में तुच्छ प्रकृति न रखना, लोकप्रिय, क्रूर न होना, पापभीरु, अशठ, लज्जावान्, दयालु, मध्यस्थ, गुणानुरागी, दीर्घदर्शी, विशेषज्ञ, वृद्धानुगत, विनीत, कृतज्ञ, परोपकारी आदि गुणो का समावेश है।

नीति के विना जीवन किसी काम का नही रहता। ससार की स्थिति व उन्नति नीति पर ही निर्भर है और आज तो अनीति वहुत अधिक मात्रा में फैल चुकी है अत नैतिक आदर्शों के पालन की परमावश्यकता है।

क्या राज्य-विरुद्ध आचरण करना चोरी है ?

डा० श्री जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०

आचौर्यव्रत के अतिचार—

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में अचौर्यव्रत के अतिचारो का वर्णन करते हुए लिखा है—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादान विरुद्ध राज्यातिक्रम हीनाधिक-मानोन्मान प्रतिरूपक व्यवहारा – (७ २७)

—अर्थात् स्तेन प्रयोग, स्तेन आहृत आदान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार—ये अस्तेय व्रत के अतिचार हैं ।

विरुद्ध राज्यातिक्रम के विभिन्न व्याख्यान—

विरुद्ध राज्यातिक्रम की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थभाष्यकार ने कहा है—"विरुद्धे हि राज्ये सर्वमेव स्तेययुक्तमादान भवति"—अर्थात् विरुद्ध राज्य होने पर कुछ भी ग्रहण करना चोरी समझा जाता है । सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिककार ने उक्त पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि विरुद्ध राज्य में अल्प मूल्य की वस्तुओ को अधिक मूल्य में वेचना विरुद्धराज्यातिक्रम है।

लेकिन यह विरुद्ध राज्य क्या है, और विरुद्ध राज्यातिक्रम पद में चोरी का समावेश कहाँ से हो गया जिससे इसे अचौर्यव्रत का अतिचार माना जाने लगा ?

इस प्रश्न का उत्तर बृहत्कल्प सूत्र और उसके भाष्य को अवलोकन करने से मिल सकता है ।

बृहत्कल्प सूत्र के "वैराज्य विरुद्ध राज्य" नामक प्रकरण में एक सूत्र है —

"नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा वेरज्ज—विरुद्धरज्जसि सज्ज गमण सज्ज आगमण सज्ज गमणागमण करित्तए ।" (१—३७)

—अर्थात् वैराज्य विरुद्ध राज्य में निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थिनियो को जल्दी-जल्दी आवागमन नही करना चाहिये । यदि वे ऐसा करेंगे तो प्रायश्चित्त के भागी होगे ।

वैराज्य—विरुद्धराज्य की व्याख्या करते हुए बृहत्कल्पभाष्य में वैराज्य के चार भेद वताये गये हैं —१ अणराय (अराजक) २ जुवराय (यौवराज्य), ३ वेरज्जय (वैराज्य), और ४ वेरज्ज (द्वैराज्य) ।

१ राजा के मरने पर जहाँ अभी तक किसी अन्य राजा या युवराज का राजपद पर अभिषेक नही हुआ हो उसे 'अणराय' शासन-प्रणाली कहते हैं। महाभारत में कहा है कि प्रचलित युग के आरम्भ में न कोई राज्य था, न राजा और न कोई व्यक्ति शासन कार्य के लिए नियुक्त किया गया था। परन्तु पारस्परिक अविश्वास के कारण इस प्रकार का धर्म का शासन बहुत समय तक न चल सका, और सर्वत्र अराजकता फैल गई। अराजकता के भय से घबराकर देवता लोग विष्णु भगवान के पास पहुँचे, उस समय उन्होने सर्वप्रथम पृथु को राजा नियुक्त किया। जैन ग्रथो में भी यही कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव के पूर्व कोई राजा या शासन-कर्त्ता नही था। नाभि महाराज ने उन्हें सर्वप्रथम राजा नियुक्त किया।

२ यदि कोई राजा किसी को युवराज पद पर अभिषिक्त करे, और वह युवराज किसी अन्य को युवराज पद न दे, उस शासन-प्रणाली को 'जुवराय' कहते हैं। इस प्रकार का शासनाधिकार सम्राट् खारवेल को उसके अभिषेक से पहले प्राप्त था। मालूम होता है, यह शासन उस दशा में होता था; जब एक राजा मर जाता था और उसका उत्तराधिकारी दूसरा राजा बहुत छोटा या नाबालिग होता था और शासन-कार्य किसी अभिभावक या निरीक्षण-मडल के हाथ होता था।

३ जब शत्रु राजा की सेना राज्य में उपद्रव कर राज्य-व्यवस्था को भग कर देती थी, उस समय की शासन-प्रणाली को 'वैराज्य' कहा जाता था। एतरेय ब्राह्मण में इस शासन-प्रणाली का उल्लेख मिलता है, और यह प्रणाली उत्तर मद्रो और उत्तर कुरुओ में प्रचलित थी (देखो, काशीप्रसाद जायसवाल, 'हिन्दू पॉलिटी'—हिन्दू राज्य-तत्र, प्रथम खड, पृ० १४८—९) कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी इस प्रणाली का जिक्र आता है। कौटिल्य ने अन्य आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए, द्वैराज्य और वैराज्य शासन प्रणालियो में से, प्रजा की सम्मति से किये जानेवाले वैराज्य को उत्तम बताया है। परन्तु कौटिल्य के अनुसार वैराज्य शासन-व्यवस्था में विजेता, जीवित शत्रु को उच्छिन्न करके बलपूर्वक उसका राज्य छीन लेता है और उसे दण्ड, कर इत्यादि से कष्ट पहुँचाता है, अथवा वह प्रजा का विश्वास-भाजन न बन सकने के कारण उसका सर्वस्व हरणकर चल देता है, अतएव वैराज्य प्रणाली श्रेयस्कर है।

४ जिस शासन-व्यवस्था में एक ही गोत्र के, राज्य के इच्छुक दो राजाओ की सेनाओ में परस्पर युद्ध होता रहता है उसे 'द्वैराज्य' शासन-प्रणाली कहते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार इस व्यवस्था में राज्य के दो स्वामी होते हैं, और दोनो में प्रतियोगिता या पारस्परिक सघर्ष होने से राज्य के नाश हो जाने का अन्देशा रहता है। यद्यपि कौटिल्य का मत है कि पिता-पुत्र या दो भाइयो में परस्पर दाय भाग को लेकर ही झगडा हो सकता है, योग-क्षेत्र उनका समान रहता है तथा राज्य-कार्य के चिन्तक अमात्यगण इस झगडे को शीघ्र ही शान्त कर सकते हैं। महाभारत से पता चलता है कि अवती में विन्द और अनुविन्द नामक दो राजाओ का राज्य था, और ये दोनो मिलकर शासन करते थे। ईसवी सन् की छठी सातवी शताब्दी में नेपाल में भी यह शासन-प्रणाली प्रचलित थी।

जिस शासन-प्रणाली मे एक से अधिक दलो का राज्य होता है, उसे 'विरुद्ध राज्य' शासन-प्रणाली कहते है, उदाहरणार्थ अधक-वृष्णियो की शासन-व्यवस्था ।

प्राचीन सूत्र आचाराग में भी अराज, गणराज, युवराज, द्वैराज्य, वैराज्य और विरुद्धराज्य नामक शासन-प्रणालियो का उल्लेख मिलता है (२ ३ १ सूत्र ३३९)।

वैराज्य अथवा विरुद्ध राज्य शासन-व्यवस्थाओ के रहते हुए जैन साधु-साध्वियो को भयकर कष्टो का सामना करना पडता था, यही कारण है कि उन्हे ऐसी हालत में गमनागमन का निषेध किया गया है । उदाहरण के लिए राजा के मर जाने पर जब राज्य में अराजकता फैल जाती थी तो उस समय आसपास के राजा नृपविहीन राज्य पर आक्रमण कर देते थे और दोनो सेनाओ में घोर युद्ध होता था । ऐसे समय नग्न जैन श्रमण गुप्तचर आदि समझकर पकड लिये जाते थे । उत्तराध्ययन टीका (२. पृ० ४७) से पता चलता है कि एक बार श्रावस्ति के राजा जितशत्रु दीक्षित होकर एकल विहार प्रतिमा से विहार करते हुए किसी 'वैराज्य' में पहुँचे और वहाँ राजपुरुषो ने उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड लिया और मार डाला । इसी प्रकार राज्य-सम्बन्धी उपद्रव होनेपर जैन श्रमणो को चोर, लुब्धक आदि के साथ राज्य छोडकर भागने के लिए विवश होना पडता था । ऐसी हालत में उन्हें बौद्ध, कापालिक आदि भिक्षुको का वेष धारण करना पड़ता था; कभी कुत्सित अन्न पर निर्वाह करना पडता था तथा सकट उपस्थित होने पर पलाशवन और कमल आदि के तालाब में छिपकर अपने प्राणो की रक्षा करनी पडती थी । कभी शासक राजा के अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण जैन श्रमणो को बहुत कष्ट उठाना पडता था । कितनी ही बार प्रद्विष्ट राजा उन्हें देश-निर्वासन कर देता था, उनका आहार-विहार बन्द कर देता था और उनके धार्मिक उपकरण छिनवा लेता था, लेकिन जैन श्रमण आपद्धर्म समझ कर इन सब बाधाओ को शातिपूर्वक सहन करते थे । सभवत ऐसी ही परिस्थितियो में जैन श्रमणो के लिए सल्लेखना का विधान बताया गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि मूल में वैराज्य या विरुद्ध राज्य-अतिक्रम का नियम निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियो के लिए था, जिससे वे सयम की रक्षा कर निर्विघ्नतया धर्म का पालन कर सकें । लेकिन आगे चल कर जब वैराज्य और विरुद्धराज्य की शासन-प्रणालियाँ न रही तो इनकी परम्परा विच्छेद होने से इन शब्दो क अर्थ भी लुप्त हो गया । जिससे उत्तरकालवर्ती जैन आचार्यों ने 'विरुद्ध राज्य' का भिन्नार्थ प्ररूपण कर उसे अचौर्यव्रत के अतिचारो के साथ जोड दिया, वस्तुत 'विरुद्ध राज्य' और चोरी का कोई सम्बन्ध नही मालूम होता ।

परम्परा-विच्छेद से अर्थ-विभिन्नता के उदाहरणो की जैन-ग्रथो में कमी नही । उदाहरण के लिए, "वज्जीविदेहपुत्त' विशेषण जैन-सूत्रो में राजा कूणिक (अजातशत्रु) के लिए प्रयुक्त हुआ है । लिच्छावियो की तरह वज्जि भी एक गण था जिसमें जैन परम्परा के अनुसार कूणिक उत्पन्न हुए थे, तथा उनकी माता चेलना विदेह की थी, इसलिए वे विदेहपुत्र कहे जाते थे । परन्तु द्वादशाग में से नवाग के ऊपर टीका लिखनेवाले अभयदेव सूरि वज्जी का अर्थ करते है वज्री अर्थात् इन्द्र । इसी प्रकार अधगवण्हि (अधक-वृष्णि) का अर्थ अभयदेव ने किया है बादरतेजस्कायिक प्राणी (अवगवण्हिणो त्ति अहिपा—वृक्षास्तेषा वह्नयस्तदाश्रयत्वेनेत्यह्निपवह्नयो बादर तेजस्कायिका इत्यर्थ —भगवती सूत्र १८–३, पृ० ७४५) ।

यही बात यदि "विरुद्धराज्य" के विषय में हुई हो तो क्या आश्चर्य है !

जैन-धर्म और वर्तमान संसार

डा० श्री कालिपद मित्र एम० ए०, डि० लिट्

प्रस्तावना—

वैदिक कर्म-काण्ड का अन्तिम स्वरूप, याज्ञिक विधि तथा वलिदान की नि सार पद्धति, पौरोहित्य और पुजारियो की निरकुशता इन सवो की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई और इन सवो ने आलोचको के विभिन्न समुदायो को प्रतिवाद के लिए प्रेरित किया । उत्तेजनापूर्ण सवसे पहली आवाज उपनिषदो के अन्तस्तल से उठी—जिन्होने बहुदेववाद का खडन और एकेश्वरवाद का समर्थन किया । अन्य विरोधियो ने आचार और अध्यात्म सम्बन्धी वैदिक धाराणाओ के विरुद्ध आवाज उठाई । हम इनके अनेक सम्प्रदायो के विषय में सुनते हैं, पाली-बौद्ध साहित्य में पुराण कस्यप, अजित केसकम्बली, सजय वेलट्ठिपुत्त, पकूधा कक्कायन, मक्खली गोसाल, निगन्थ नाथ पुत्त प्रसिद्ध है और आचाराग सूत्र तथा अन्य व्यवस्था सम्बन्धी जैन साहित्य में सैकडो भाष्यकार है । किन्तु उस समय की दो वुलन्द आवाजें गौतम बुद्ध और भगवान महावीर की ही थी । उनके क्रान्तिकारी उपदेश उस युग की पीडित जनता के हृदय में प्रतिध्वनित होने लगे और वे प्राचीन प्रचलन के ध्वस के लिए दो अत्यधिक वलशाली और गतिशील शक्ति सिद्ध हुए । समानता और प्रजातन्त्र का एक नया मार्ग खुला, जनता के सामाजिक और धार्मिक जीवन को एक नया रूप मिला । जाति प्रथा और सामाजिक भेदभाव की उग्रता नष्ट हो गई । प्राचीन प्रथाओ का अन्त कर दिया गया । कर्मकाण्ड की कृत्रिम पवित्रता खतम हो चली । जनता को उपदेश दिया गया कि वे अपने में आत्मनिर्भरता के गुण को विकसित करें । गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर ने जनता को जो धार्मिक उपदेश दिया वह सस्कृत में नही, विद्वानो की भाषा में नही—वल्कि उनकी मातृभाषा पाली और अर्द्धमागधी मे दिया ।

जैन-धर्म की विशेषता—

अव मैं जैन धर्म के विशिष्ट कर्तृत्वो पर ध्यान दूँगा । भगवान् महावीर ने जाति, धर्म, रग, और लिंग के सभी भेदो को मिटा दिया । सभी स्त्री-पुरुष समान हे, यहाँ तक कि नीच कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए योग्य है, क्योकि प्रत्येक आत्मा में व्रत और शुद्ध आचरण द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए अनन्त शक्ति विद्यमान है । व्यक्ति के कर्म पर उन्होने अत्याधिक जोर दिया है । कोई भी व्यक्ति अपने कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है । व्यक्ति अपने भाग्य का स्वय निर्माता है, उसको दूसरो पर निर्भर करने की आवश्यकता नही है ।

नारियां और जैन-धर्म—

स्त्रियाँ आध्यात्मिक ज्ञान और पूर्णता को प्राप्त करने के लिए योग्य हैं, महावीर ने स्त्रियो का उचित सम्मान किया और उन्हें अपने धर्म में दीक्षित किया । जैन धर्म में नारी को हेय तथा निन्द्य नही माना गया, वल्कि धर्म साधना द्वारा उसे भी अपना कल्याण करने का अधिकार दिया गया है ।

ईश्वर और जैन-दर्शन—

जैनधर्म ईश्वर को जीवन का उत्स, विश्व का कर्ता और गोचर जगत् का निर्देशक नही मानता है । इस प्रकार जैन तीर्थ करोने परावलम्बन के बन्धन से मनुष्य की बुद्धि को मुक्त कर दिया । भगवान् महावीर ने मनुष्यो को बतलाया कि वे अपने भाग्य के स्वय निर्माता है और अपने प्रयत्नो के द्वारा ही आध्यात्मिक विकास की चोटी पर पहुँच सकते हैं । इस उपदेश ने मनुष्यो में आत्म-गौरव का एक सुखद भाव भर दिया, उन्हें निर्भीक, वलवान् और स्वावलम्बी बनने को सिखलाया और उन में सद्‌कार्य करने की प्रेरणा को उत्तेजित किया ।

अहिंसा की नींव—

परमात्मा को दया के उत्स के रूप में मनुष्य को नही देखना है । उसे अपने ही कर्म का फल पाना है, उसे मनुष्यो के साथ अपने सम्बन्ध को ठीक कर रखना है, चूँकि वह स्वय जीना चाहता है इसलिए दूसरों को भी उसे जीने देना चाहिए । इसलिए सहानुभूति, मस्तिष्क की विशालता और सहिष्णुता पर आधारित पवित्र और न्याय-युक्त जीवन के आचरण के लिए व्यावहारिक आदेश के साथ कर्मवाद के विस्तृत सिद्धान्त का निरूपण किया गया । दूसरे शब्दो में, अहिंसा की नीव भली-भाँति और सच्चाई के साथ डाली गई ।

स्याद्वाद—

जैन धर्म की दूसरी विशिष्ट देन है स्याद्‌वाद और अनेकान्तमत। यह किसी विषय पर भिन्नमतित्व का प्रतिपादन करता है और सत्य की अन्यापेक्षा (Relativity) पर जोर देता है। विषयो की प्रकृति अत्यन्त उलझनमय होती है, न तो सम्पूर्णत हम किसी वस्तु को स्वीकार ही कर सकते हैं और न अस्वीकार ही । प्रत्येक विषय विरोध और प्रतिकूलताओ से भरा रहता है । किसी वस्तु को पूर्णत समझने के लिए अस्तित्व और अनस्तित्व, एक और अनेक, स्यायित्व और अस्थायित्व के विरोधो को निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिए । इसके अनुसार कोई भी निर्णय अपने तई या अपने आप में यथार्थ नही होता। चूकि प्रत्येक विचार में सत्यता होती है इसलिए धर्म की प्रत्येक पद्धति में कुछ न कुछ सत्यता अवश्य होगी । जब तक हम लोग यह दावा पेश करते रहेंगे कि सत्य हम ही लोगो में है और दूसरे लोग अधकार में टटोल रहे है तब तक हमलोगो को सत्य कभी भी प्राप्त नही होगा और फलत झगडो का भी

अन्त नही होगा। सत्य के सर्वांश पर अपने अधिकार का कोई भी दावा नहीं कर सकता। हम-लोगो के धर्म पर दूसरे लोग सहानुभूति-पूर्ण विचार रखें, इसके लिए हमलोगो को भी उचित है कि दूसरो के धर्म के प्रति हम विश्वास, सहिष्णुता और सम्मान का भाव बनाए रखें। अनेकान्त-वाद धार्मिक विचार की सभी पद्धतियो पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार पूर्वक और सश्लिष्ट रूप से विचार करता है।

शान्ति और सामंजस्य का संदेश—

अमृतचन्द्र, यशोविजय, सिद्धसेन दिवाकर, रहस्यवादी आनन्दघन सबो ने समझौता और सद्भाव पर जोर दिया है। श्री रामकृष्ण परमहम ने ठीक इसी प्रकार कहा है कि भिन्न मतमतान्तर उसे सर्वशक्तिमान् परमात्मा के पास पहुँचने के लिए केवल विभिन्न मार्ग है और स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने उपदेशो में इसी पर जोर दिया है। इस प्रकार स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद उस स्वमताभिमान का विरोधी है जो झगडा उत्पन्न करता है। यह शान्ति और सामञ्जस्य का सन्देश देता है, यह सिखलाता है कि हम लोग लडाई झगडे से अलग रहें। यदि यह सद्भावना एक बार फिर उत्पन्न हो जाय तो सभव है ससार के वर्तमान झगडे अधिकाश में नियन्त्रित हो जायें।

विकृति का प्रवेश—

धर्म अपनी प्रधान शक्ति को तभी तक कायम रखता है जब तक समाज की आवश्यकताएँ उससे पूर्ण होती हैं। जिस क्षण वह जीवन की वास्तविकता से अलग हो जाता है और अपने को समाज के बदलते हुए या बदले हुए वात्याचक्र के अनुरूप नही बना पाता, अपनी शक्ति को खोकर निष्फल बन जाता है। कालान्तर में जैन धर्मावलम्बी पतन को प्राप्त हुए और हिन्दुओ की तरह उन्होंने भी अपने लिए देवताओ का निर्माण किया और उनको अपनी अभिलाषाओ के अधीन बनाने के लिए ऐन्द्रजालिक उपायो का अन्वेषण किया—मन्त्र यन्त्र निकाले, यानी अपने मे तान्त्रिक विचारो को विकसित कर लिया। कर्म तो उनके लिए एक सिद्धान्त भर रह गया जिसके अनुसार मनुष्य के कार्य स्वतत्र नही होते, इस प्रकार उनकी पौरुषेय शक्ति और कार्यशीलता का अपहरण हुआ। विवेक और सत्य धर्म पर चमत्कार और अधविश्वास की विजय हुई।

जैन-धर्म की गतिशीलता—

इतिहास मे विदित है कि जैन धर्म गतिशील परिस्थितियो के अनुरूप अपने को बना सकता है—मताभिमान के बधन से अपने को मुक्त कर प्रवाहहीनता के सडन से ऊपर उठ सकता है और साम्राज्य भी स्थापित कर सकता है।

जैन-धर्म सबको प्रेरणा दे सकता है—

ठीक जिस प्रकार भगवान् महावीर ने उन तत्कालीन परिस्थितियो के विरोध में, जिन्होने समाज को सकुचित कर दिया था, अपनी एक पद्धति निकाली और समाज को नव जीवन दान किया उसी

प्रकार जैनियो को, और उसी वजह से सभी भारतीयो को भी चाहिए कि वे हमलोगो के धार्मिक उपदेशो से प्रेरणा प्राप्त करें। परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियो का निर्भिकता से सामना करें ताकि हमलोग पवित्र, निर्भीक और साहसी जीवन व्यतीत कर सकें।

जैन-धर्म : आर्थिक समस्याओं का सुन्दर समाधान—

आर्थिक जीवन के क्षेत्र में परिमित और परिग्रह का व्रत न केवल हम ही लोगो के, बल्कि ससार के आर्थिक पुनिनर्माण के कार्य पर प्रकाश डाल सकता है। ससार में मनुष्य को अपने पद और तत्कालीन आवश्यकताओ के अनुसार अपने अधिकारो को सीमित करना पडता है। इस सीमा के परे जो भी धन प्राप्त किया जाय उसे अपना न समझ कर अखिल समाज के कल्याण में लगा दिया जाय। वर्त्तमान ससार की परिस्थितियो पर यदि यह भली भाँति लागू कर दिया जाय तो आर्थिक समस्याओ के शातिपूर्ण समाधान के लिए एक कुजी मिल जायगी और उन तरीको को भी अपनाना नहीं पडेगा जो हिंसामूलक है तथा ऐसे वर्ग घृणा से उत्पन्न है जो सम्पत्ति को धराशायी कर देते है, समाज को क्रान्तिकारी ढग से छिन्न-भिन्न कर देते है तथा भावी सन्तान के लिए उत्तराधिकार में चिरन्तन सघर्ष और कलह का बीज छोड जाते है।

अहिंसा ही रक्षक है—

सभी मनुष्यो ने विनाशकारी गत दोनो विश्व युद्धो के विपज्जनक परिणामो का अनुभव किया है। विज्ञान ने मनुष्य को जो आणविक शक्ति दी है उसका उसने जीवन को नष्ट करने में उपयोग किया है। कहा जाता है कि विज्ञान ने एक ऐसी प्रक्रिया का पता लगाया है, जिसके द्वारा कोई प्रदेश पाँच मिनट में ही जीवन-विहीन किया जा सकता है। इसके विपरीत, अणु शक्ति यदि उचित रूप से व्यवहृत हो तो मनुष्य का कल्याण कर सकती है और उसकी अवस्था को अपरिमित रूप में समुन्नत बना सकती है। जब तक राष्ट्रीय तथा जातिगत उच्चम्मन्यता का हिंसात्मक भाव तथा बढती हुई अति घृणा का त्याग नही होता तब तक मानवता को नष्ट हो जाना पडेगा। केवल अहिंसा ही ससार को जीवन दे सकती है।

मानव धर्म की ओर हम अग्रसर हों—

भारत के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि हमलोग अपने दोषो के सुधार में तत्परता का भाव रखें तो हमलोगों का सामाजिक ढाँचा बहुत ही दृढ हो जायगा। यह हमलोगो का, विशेषकर बुद्धिमानो का, दायित्व है कि प्राचीन पद्धतियो के भग्नावशेष से एक ऐसी नई पद्धति को जन्म दिया जाय जो निश्चय ही हमलोगो के सामाजिक, आर्थिक यहाँ तक कि राष्ट्रीय समस्याओ के भी समाधान के लिए स्वभावत मानवधर्म का पोषक हो। युद्धरत दल तथा सम्प्रदायो के बीच "युद्ध रोको" की आज्ञा

देने में, आत्मघाती युद्धो को रोकने में तथा उनकी सयुक्त शक्तियो को मानव समुदाय के दु ख-दर्द को दूर करने की ओर लक्ष्य करने में हमलोगो को अवश्य ही समर्थ होना चाहिये ।

अमरता का संदेश—

इस समय की प्रधान आवश्यकता है सहिष्णुता और अहिंसा । प्राचीन काल में भारत ने देश-काल के अनुरूप अपने को बना लिया था तथा सामजस्य के भाव को प्रदर्शित किया था और समता और विषमता की सम्मिश्रित सस्कृति को जन्म दिया था । आज युद्धो में 'मारो, मारो' के बधिर कर देने वाले उच्च नारो के लगते रहने पर भी भारत अपनी आवाज बुलन्द कर सकता है और अमरता का सदेश दे सकता है । जैन-धर्म का अमर सन्देश विश्व को सुख-शान्ति देने वाला है । अहिंसा और अनेकान्त से ही जगत् सुखी हो सकता है ।

अहिंसा द्वारा स्वतन्त्रता की प्राप्ति—

विश्व के इतिहास में जो सबसे बड़ी घटना आज तक घट सकी है, और न अबतक जिसका कोई उदाहरण अथवा समानान्तर है, वह लगभग पाँच वर्ष पहले घटी थी । बहुत दिनो के बाद भारत ने पुन अपनी स्वतन्त्रता एक ऐसे अद्वितीय ढग से प्राप्त की जिसका पहले कभी प्रयोग नही हुआ था। वह अहिंसा का ढग था जिसका महात्मा गाँधी ने प्रचार और व्यवहार किया था । स्वतन्त्रता का आगमन और ब्रिटेन से उनका "भारत छोडो" की अपील का कार्यान्वियन १५ अगस्त १९४७ को हुआ । ये सारी घटनाएँ सद्भाव तथा अनुकूलता के वातावरण में बिना हिंसा के ही घटित हुईं । अनेक अधिकारी विद्वानो की राय है कि जैन-सिद्धान्त के अनुसार अहिंसा का जो भाव है वह महात्मा गाँधी में वास्तविक रूप से मूर्तिमान् हुआ था ।

इतिहास

और

साहित्य

तोरमान विषयक जैन उल्लेख

श्री एन० सी० मेहता, आइ० सी० एस०

प्रस्ताविक—

विक्रम स० १९८३ के आषाढ महीने के "जैन साहित्य सशोधक" गुजराती त्रैमासिक पत्र मे प्रकाशित जरात विद्यापीठ के मुनि जिनविजय जी के (रोमास) प्रमाणाधारित लेख के आधार पर मैं कुछ आवश्यक विवेचन करूँगा। उसके आधार ग्रंथ "कुवलयमाला' को उद्योतन सूरि उपनाम दाक्षिण्य चिन्ह् ने प्राकृत भाषा में मालवाड के "जाबालीपुर" नगर में चैत्र वदी १४ स० ६९९ में लिखकर समाप्त किया था। यह नगर पहले गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत था।

यह ग्रथ चम्पू के समान गद्य-पद्यमय है। इसका प्राकृत में दक्षिण महाराष्ट्र के अचलित शब्दो का प्रयोगबाहुल्य एव दक्षिणस्थित प्रदेशो के वर्णन को देखकर यह प्रतीत होता है कि उद्योतन जी इसी प्रान्त के सुरम्य अचल के निवासी थे अथवा बहुत दिनो तक यही प्रवास किया था। इनके एक गुरु ख्यातिप्राप्त जैन विद्वान् 'हरिभद्र सूरि' थे इन्होने १४०० से १४४० तक छोटे बड़े ग्रथो का निर्माण कर अपनी उज्ज्वल प्रतिभा को प्रदर्शित किया था। इनमें 'समारादित्य' एक सुविख्यात कथा है जिसमें उन्होने अपने मित्र के द्वेष के कारण अग्निशया के अध पतन का सफल और मार्मिक चित्रण किया है।

इसी ग्रथ के आधार पर उद्योतन ने 'कुवलयमाला' का निर्माण किया। जैनियो का कथा साहित्य अधिकतर दशवी शताब्दी के उपरान्त ही उपलब्ध है। ईसा के पश्चात् ऐसे दस ग्रथ भी प्राप्य नही हैं जिसको प्रथम सहस्राब्दी में निर्णयात्मक रूप से रक्खा जा सके और जैन कथाओ की प्राचीनता की वैज्ञानिक प्राप्ति हो। इसी उपयुक्त कारण से उद्योतन सूरि के इस ग्रथ की महत्ता अपनी निराली है। इस अपूर्व ग्रथ की केवल दो हस्तलिपियाँ ही प्राप्य हैं जो कुछ आवश्यक विशेषताओ मे परस्पर भिन्न हैं। उनमें से एक रविवार फाल्गुन वदी १ सवत् ११३९ को लिखित जैसलमेर' के भडार में सुरक्षित ताड़पत्र पर अकित है और दूसरी राज्य पुस्तकालय पूना में प्राप्त प्राय पन्द्रहवी शताब्दी की है।

उद्योतन ने अपने इस ग्रथ के अन्त मे अपने परिवार, गु , समय और अन्य परमावश्यक विषयो पर अच्छा प्रकाश डाला है, जो सक्षेप में नीचे उद्धृत है :—

जैन-उल्लेख—

(१) अत्थि पुहई पसिद्धा दोण्णि पहा दोण्णि चेय देसत्ति ।
तत्थत्थि पह णामेण उत्तरावह बुहजणाइण्णं ॥

(२) सुइदिअचारुसोहा विअसिअकमलाणणा विमलदेहा ।
तत्थत्थि जलहिदइओ सारिआ अह चदभाय त्ति

(३) तीरम्मि तीय पयडा पव्वइया णाम रयण सोहिल्ला
जत्थित्थि ठिए भुत्ता युदह सिरि तोररारण ॥

(४) तस्स गुरू हरिउत्तो आयरिओ आसि गुतवसओ ।
तीय णयरीय दिण्णो जेण णिवेसो तहिं काले ॥

(५) तस्स विसिस्सो पयडो महाकई देवउत्तणामोत्ति ।
.. सिवचन्द गणी य मयहरोत्ति ॥ (?)

(६) सो जिण वन्दणादेह कहवि ममतो कमेण सपत्तो ।
सिरिमिल्लमालणयरम्मि सठिओ कप्परुक्खोव्व ॥

(७) तस्स खमासमणगुणा णामेण जक्खयत्तगणिणामो ।
सीसो महई महप्पा आसि तिलोए वि पयडजसो ॥

(८) तस्स य बहुया सीसा तवसी रिअवयणलद्धिलपण्णा ।
रम्मो गुज्जरदेसो जहिं कओ देव हरएहिं ॥

(९) णागो विंदीभम्मड दुग्गो आयरिय अग्गि सम्मोय
छट्ठो वडेंसरो छम्मुहस्स य (व?) अणस्सते-आसि ॥

(१०) आगा सवण्पण (य) रे जिणालयं तेण णिम्मविय रम्म ।
तस्स मुह दसणेच्चिय अवि पसमइ जो भम्मत्थो (व्वो) वि ॥

(११) तस्स वि सीसो अन्नो तत्ताअरिओ त्ति णाम पयडगुणो ।
आसि तयतेयणिज्जि यपविगहमोहो (दिणयर व्व) ॥

(१२) (जो दूसम सलिलपवा हवेण ही रत्तगुणसहस्साण) ॥
सीलगविडलसालो लक्खण रुक्खो व्व निक्कपो ॥

(१३) सीसेण तस्स एसा हिरिदेवो दिण्णदसणमणेण ।
रइया कुवलयमाला विलसियदक्खिण इन्घेण ॥

(१४) दिण्णजहिच्छियकलओ वहु कित्ती कुसुमरेहि रामोओ ।
आयरियवीरभद्दो अत यावरो कप्परु क्खोव्व ॥

(१५) सो सिन्वन्तेण गुरु, जुत्तिसत्थेहि जस्स हरिभद्दो ।
बहुसत्थगयवित्थरपत्थारियपयडसव्वत्थो ॥

(१६) आसी तिकम्मानिरओ महादुवारम्मि खत्ति ओपयडो ।
उज्जोअणो त्ति णामतच्चिअ परिभमुजिरे तइआ ।।

(१७) तस्स णिपुत्तो मपइ णामिण वडेसरो त्ति पयडगुणो ।
तस्सुज्जोअणणामो तणओ अह विरइया तेण ।।

(१८) तुगमलघ जिण भवण मणहर सावयाइ्डल विसभ ।
जावालिपुर अठ्ठावय व अह अत्थि पुहईए ।।

(१९) तुग धवल मणहारिरयणपसरत धयवडाडो व ।
उसहजिणदायतण कराविय वीरभद्देण ।।

(२०) तत्थट्ठिएण अह चोद्दसीए चेतस्स कण्हवक्खम्मि ।
णिम्मविआ वोहिकरी भव्वाण होउ सव्वाण ।।

(२१) परमडमिडडिभगो पणईयणरोहणी कलाचदो ।
सिरिवच्छरायणामो णरहत्थी पत्थिवो जइआ ।।

(२२) को किर सच्चई तीर जिणवयणमदोअहिस्स दुत्तार ।
थोअमइणा वि वद्धा एसा हिरिदे विवयणेण ।।

(२३) जिणवयणाओ जण अहिय व विरुद्धय व ज वद्ध ।
त खमसु सठवेज्जसु मिच्छा अह दुक्कड तस्स

(२४) चडकुलापयवेण आयारय उज्जोअणेण रइया मे ।
सिवसतिवोहि मोक्खाण साहिया होउ भवियाण ।।

(२५) एय कह करेड ज पुण्ण पाविय भए विउल ।
साहुकिरिया सचित भवे भवे होउ मे तेण ।।

(२६) सगकाले वोलीणे वरिसाण सएहि सत्ते हि गएहिं ।
एगदिणेणूणेहि रइया अवरण्हवेलाए ।।

(२७) वण कइत्तणाहिमाणो ण कव्वणुद्धीए विरइगा एसा ।
धम्मकहत्तिणिवद्धा मादोसे काहिई इमीए ।।

इन गाथाओं का शब्दार्थ लिखना व्यर्थ है, अत भावार्थ दिया जा रहा है ।

(१) पृथ्वी पर दो ही विख्यात देश हैं। उत्तरपथ विद्वत्भूमि है ।

(२) चन्द्रभागा नदी इसके बीच से प्रवाहित है ।

(३) इसी के तट पर 'पव्वैया' नगर स्थित है जहाँ 'तोराया' निवास करते थे । (पूना प्रति के अनुसार तोरमान नरेश राज राजेश्वर थे)

(४) गुप्तवशज 'हरिगुप्त' उनके गुरु थे और ये भी वही के निवासी थे ?

(५) इनके शिष्य थे महाकवि 'देवगुप्त' और उनके शिष्य थे 'शिवचन्द्र गणी' ।

(६) वे तीर्थयात्रा करते हुए 'भिन्नमाल' पहुँचे ।

(७) त्रैलोक्य विख्यात यक्षदत्त ज्ञानी इनके प्रमुख शिष्य थे ।

(८) गुर्जर देश को सुशोभित एव अनेक मन्दिरों के निर्माण करने वाले उनके अनेक योग्य शिष्य थे ।

(९) उनमें नाग विन्दा, मम्मद, दुगा, अग्निशर्मा और वेदसार प्रमुख शिष्य थे ।

(१०) 'वेदसार' ने 'आगा सवणा' (आकाशवप्रा) में एक सुन्दर जैन मन्दिर बनवाया था ।

(११) इनके शिष्य थे तत्त्वाचार्य ।

(१२) इनके शिष्य थे 'दक्खिन इन्धा' की पदवी से विभूषित कुवलयमाला के ग्रथकार ।

(१३, १४, १५) जिनका सिद्धान्त शिक्षण हुआ आचार्य वीरभद्रजी के द्वारा तथा युक्तिशस्त्र अनेक ग्रथो के रचयिता श्री हरिभद्र जी ने पढाया ।

(१६) उस समय महादुवारा के प्रसिद्ध उद्योतन का राज्य था ।

(१७) उनके पुत्र सम्प्रति या वेदसार जी ही प्रस्तुत ग्रथकार के पिता थे ।

(१८, १९, २०) सुन्दर जिनालयो एव अनेक श्रावको से सुशोभित 'जावालिपुर' के श्री वीरभद्र द्वारा निर्मापित श्री ऋषभदेव मन्दिर में इन्होने चैत्र वदि चतुर्दशी को यह ग्रथ समाप्त किया ।

(२१) श्री वत्सराज राजा थे ।

(२४) चन्द्रकूलवशोद्भव उद्योतनाचार्य इसके लेखक हैं ।

(२६) शाकाब्द के ७०० वर्ष पूर्ण होने के एक दिन पूर्व इन्होने इस ग्रथ को अपराह्ण में समाप्त किया ।

यहाँ तोराराय या तोरमान का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह निश्चय ही वही हूणनरेश तोरमान हैं जिन्होने गुप्तो की नींव हिला दी थी। जहाँ हम को ज्ञात है कि इनके प्रसिद्ध पुत्र मिहिरकुल की राजधानी 'साकल' या आधुनिक सियालकोट थी, इनकी राजधानी के विषय में कुछ भी पता नहीं था, किन्तु इस ग्रथ से ज्ञात होता है कि इनकी राजधानी चन्द्रभागा नदी के तट पर पवैय्या नगर में थी।

सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना है तोरमान के गुरु के विषय में। इनके गुरु थे गुप्तवशीय हरिगुप्त। इस लेख से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि हरिगुप्त जैनमतावलम्बी थे। किन्तु क्या यह सभव है कि विकट हूणाधिपति पराजित गुप्त जैन गुरु के समक्ष नतमतस्तक होते? किन्तु यदि हरिगुप्त किसी भिन्न गुप्तवश के थे तो फिर वश के उल्लेख की आवश्यकता ही क्या थी? किन्तु यदि हम इस धृष्ट निष्कर्ष को मान लें कि तोरमान विजित गुप्त वशीय मनुग्र जैनी के शिष्य थे तब हमको यह भी मानना ही पडेगा कि विष्णूपासक गुप्तो के वश में कम से कम एक व्यक्ति तो ऐसा था ही जिसने कुलपरम्परागत विष्णु की उपासना को भगवान् महावीर के कठिन पथ के समक्ष त्याग दिया था। कुवलयमाला के ग्रंथकार ऊपर उद्धृत किये गये पाँचवें श्लोक में किसी देव गुप्त के विषय में कहते हैं जो थे

एक विख्यात कवि और हरि गुप्त के शिष्य । पूना की हस्तलिपि इनको बहुकला-कुशल सैद्धान्तिक मानते है । *कुवलयमाला की भूमिका मे गुप्तराजवशज एक राजर्षि देवगुप्त का वर्णन है जो त्रिपु-* रुचरित के रचयिता भी है । महाकवि देवगुप्त और राजर्षि देवगुप्त दोनो एक ही व्यक्ति है इसमें सन्देह नही किया जा सकता है । अब प्रश्न यह उठता है कि यह राजर्षि थे कौन ? सन् १९८४ मे कनिंघम साहब को अहिच्छत्र मे एक ताम्रमुद्रा प्राप्त हुई थी । जिस पर "महाराजदेवगुप्तस्य' एक ओर तथा दूसरी ओर अकित था सुज्ञात जैन चिन्ह पुष्पसहित एक कलश । यह शुभ चिन्ह आज भी जैनो के मध्य प्रचलित है तथा शुभावसरो मे निमन्त्रणो मे पाया जाता है । गुप्तमुद्राओ पर शासको की विश्वास परम्परा के अनुसार बैल घोड़ा, लक्ष्मी या धनुर्धारी योद्धा ही अकित होता है । कलश और पुष्प देवगुप्त के जैनधर्मावलम्बी होनेपर ही उपयुक्त होगे । शिलालेख के अनुसार देवगुप्त महाराज का समय पाँचवी शताब्दी का अन्त या छठी शताब्दी का प्रारम्भ निश्चित हुआ है। यह *उद्योतन सूरि के तोरराय के समकालीन हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त के समय से मिल जाता है* (tallies)।

यह प्रत्यक्ष है कि इस आदि काल मे भी प्राचीन गुजरात की राजधानी भिन्नमाल या श्रीमाल एक प्रसिद्ध जैनतीर्थ थी जहाँ देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र गणी चले गये थे । कुवलयमाला के अनुसार शिवचन्द्र के शिष्य ने अनेक जिनालयो का निर्माण कर गुजरात को शोभायमान कर दिया था—दूसरे शब्दो मे दक्षिण मे शैवधर्म से मुठभेड के पूर्व ही पश्चिम भारत में जैन-धर्म ने बहुत उन्नति की थी । प्राचीन दक्षिणपथ से इस धर्म का वास्तविक उन्मूलन नवी शताब्दी मे हुआ। दसवें श्लोक में आकाशवप्रा का उल्लेख है । यह आधुनिक 'वादनगर' हो सकता है । आकाशवप्रा अर्थ होता है वह नगर जिसके चतुर्दिक् कोट के स्थान पर आकाश होता है । कुमारपाल के शासनकाल में स० ११५७ ई० में ही आनन्दपुर के चारो ओरदीवालें बनी ।

१८ से २० श्लोको में उद्योतन जी ने जावालिपुर का वर्णन किया है जहाँ वे इस ग्रथ का निर्माण किये थे । यह नगर आज भी जोधपुर राज्य का प्रधान कार्यालय है और 'अन्हिलवाडपाटण' के चालुक्य राजाओ का एक मुख्य केन्द्र होने के लिए भी प्रसिद्ध है । उद्योतन जी का कथन है 'वत्सराज' के शासन काल में उन्होने यह ग्रथ लिखा था । ये नरहस्ति एव 'परभटभृकुटिभजक'कहे जाते थे और सभवत वे ही सुविख्यात 'प्रतिहार' राजा हुं जिन्होने प्राचीन गुजरात से प्रारम्भ कर अपना राज्य कन्नौज तक बढाया । तद्विषयक प्राचीनतम उल्लेख कुवलयमाला से पाँच वर्ष पश्चात् का है और जिनसेनाचार्यकृत हरिवश पुराण मे उपलब्ध है जिसका समय शाकाब्द ७०५ है ।

शक ७०५ में जब इन्द्रायुध उत्तर में राज्य करते थे ।

> शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिश पञ्चोत्तरेषूत्तरा
> पातीन्दायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाय।
> पूर्वां श्रीमेदवन्तिभूभृति नृपे वत्सधिराजेऽपरा
> सौर्या (रा) णामधिमडले (ल) जय-युते वीरे वराहेऽवति ।।

श्री वल्लभ का दक्षिण मे, अवन्तिराज का पूर्व में वत्सराज का पश्चिम में और जयवराह का गौर्देश में शासन था। वत्सराज के पौत्र मिहिरभोज के समय के शिलालेख से वत्सराज की महत्ता का और भी परिचय प्राप्त होता है। इन्होने भण्डीनरेशो से राज्य छीन लिया था ऐसा इस लेख में वर्णन है। यह भडीवश कन्नौज का वर्मावश हो सकता है। नागभट्ट के शासनकाल में अरबो के हमलो के कारण भिन्नमाल को त्याग कर पूर्व में ही जावालिपुर राजधानी बन चुकी थी। मारवाड में जावालिपुर या 'झालर' इस पद पर ६०० वर्ष तक रहा तथा १३११ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने इसको नष्ट भ्रष्ट कर दिया।

कुवलयमाला द्वारा प्राप्त सामग्री का तथ्य—

(१) प्रस्तुत ग्रथकार उद्योतन सूरि क्षत्रिय थे और उन्होने प्रतिहारवशी वत्सराज के शासनकाल मे इस ग्रथ की रचना की। इस समय भिन्नमाल के स्थान पर जावालिपुर ही राजधानी थी।

(२) उद्योतन प्रसिद्ध हरिभद्र के शिष्य थे।

(३) तोरराय या तोरमान उत्तरपथ के शासक थे और इनकी राजधानी चिनाब या चन्द्रभागा तट स्थित पवैय्या नगर में थी।

(४) यह तोरराय निस्सन्देह ऐतिहासिक हूणनरेश तोरमान ही है और इन्होने गुप्तवशोद्भव (सभवत शासक गुप्तवश) हरिगुप्त को अपना गुरु स्वीकार किया।

(५) हरिगुप्त के दूसरे शिष्य थे देवगुप्त। सभवत ये कन्नौज के हर्ष के भ्राता राज्यवर्द्धन द्वारा पराजित गुप्तनरेश हो सकते है। देवगुप्त जो पराजय के पश्चात् साधु हो गये होगे और सभवत इन्ही की मुद्रा सन् १८९४ ई० में कनिंघम साहब को मिली थी।

(६) हरिगुप्त और देवगुप्त दोनो ही जैनमतानलम्बी थे और यद्यपि तोरराय स्वय जैनी न रहे हो किन्तु इसमें सन्देह नही कि उनके ऊपर जैन गुरुओ का प्रभाव बहुत पड़ा होगा।

(७) आठवी शताब्दी पश्चिम भारत मे जैन धर्म का विशेष प्रचार एव प्रसार था क्योकि उस समय के पूर्व ही भिन्नमाल को जैन तीर्थों का केन्द्र माना जाता था।
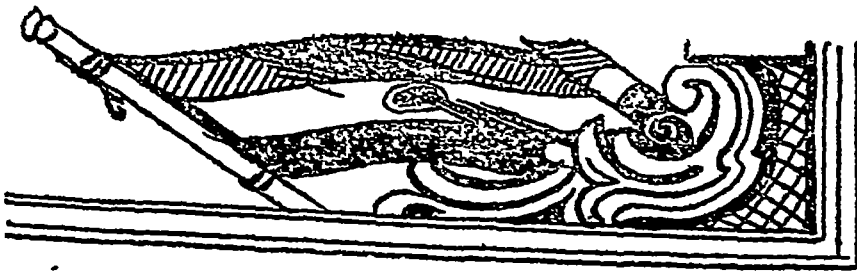
राजावली-कथा में जैन-परम्परा

श्री एस० श्रीकण्ठ शास्त्री, एम० ए०

देवचन्द्र का परिचय—

देवचन्द्र की 'राजावली कथा' एक कृति है जो सन् १८४१ ई० में पूर्ण हुई थी। इसका महत्त्व इस बात में है कि यह जैन मत की परम्परा, कर्णाटक में इसके इतिहास, कन्नड और संस्कृत के अन्तर्गत साहित्य और शासक राज्य वंश तथा समकालीन धर्मों पर प्रकाश डालती है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व अत्यन्त संदिग्ध है। किन्तु शोधकार्य के लिए इससे अनेक बातों का पता चलता है, अतएव सर्वथा काल्पनिक कहकर हम इसका परित्याग नहीं कर सकते।

देवचन्द्र और उसके दो बड़े भाई चन्दय्य और पद्मराज बोम्मराय नामक एक जैन ब्राह्मण की सन्तान थे जो गिरिपुर में गणक (Accountant) का कार्य करता था।

(वंशावली)
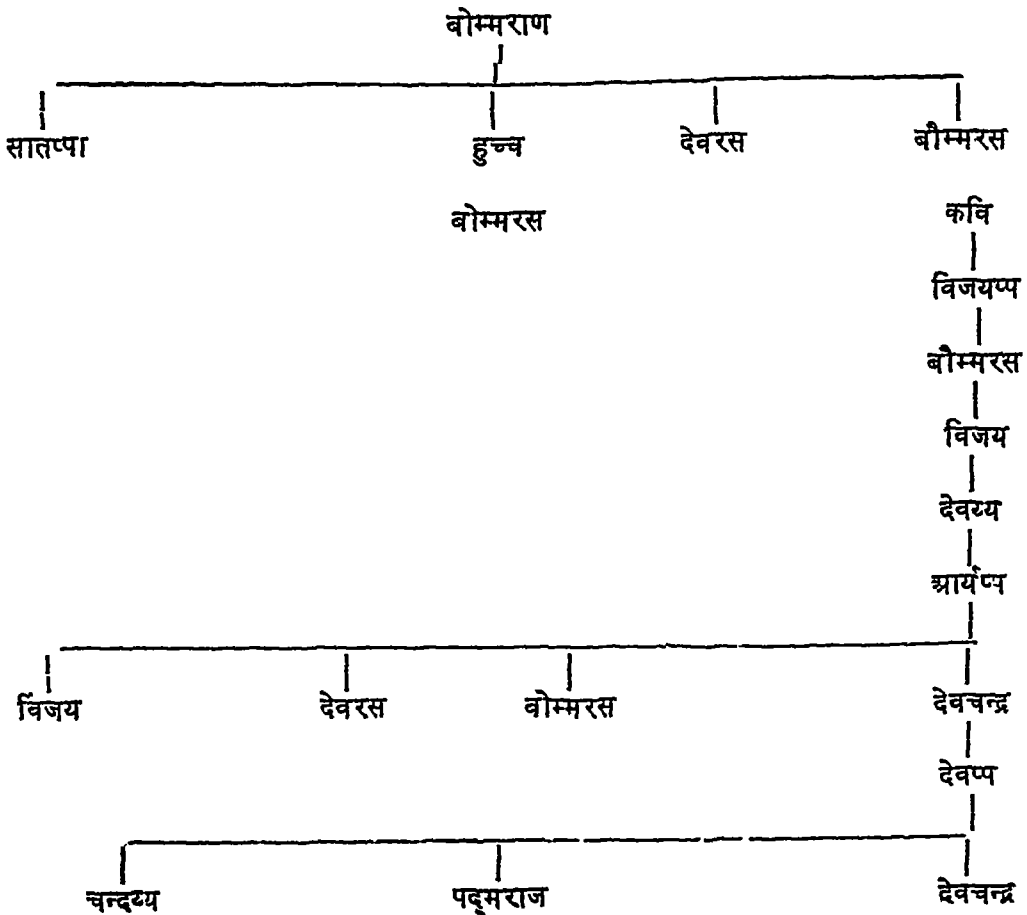
देवचन्द्र सन् १७७० ई० में पैदा हुआ और १४ वर्ष की उम्र से कविता करने लगा। २२ वर्ष (१७९२ ई०) की उम्र में उसने कन्नड में 'पूज्यपाद चरित' लिखा। कहा जाता है कि उस के बडे भाई पद्मराज ने भी उस पुस्तक के कुछ अश को लिखा था। इससे सिद्ध है कि उक्त कृति मे दोनो का सहयोग अवश्य रहा होगा। देवचन्द्र ने मुम्मुडी कृष्ण राजा उदेयर को 'राजा-वलि कथा' सन् १८४१ में दी थी। अतएव वह ७० वर्षों से अधिक अवश्य ही जीवित रहा होगा। 'राजावली' उसकी अन्तिम रचना थी। इसके पूर्व उसने राम कथावतार, सुमेरु शतक, भक्तिसार शतकत्रय, शास्त्रसार, लघुवृत्ति, प्रवचन सिद्धान्त, द्रव्य सग्रह, द्वादशानुप्रेक्षा कथा, ध्यान साम्राज्य, आध्यात्म विचार, कर्णाटिक सस्कृत वालनुडी इत्यादि लिखे थे। वह कहता है कि सरदार लक्ष्मण राव के साथ मेकेंजी जब कनक गिरि आया तव उसने उससे स्थानीय ऐतिहासिक महत्त्व के कागज-पत्रो को मागा। देवचन्द्र ने अपने 'पूज्यपाद चरित' को उसे दिखलाया। मेकेंजी उस कवि को कमरवल्ली से नागवेल तक अपने साथ ले गया और २५ रु० देकर उससे प्राचीन परम्पराओ का लिखित विवरण भेजने के लिए कहा। देवचन्द्र ने 'राजावली कथा' का श्री गणेश सन् १८०४ ई० में किया और उसको सन् १८३८ ई० में पूरा कर दिया। इस लिए इसके सकलन में उसने लगभग ३५ वर्ष लगाए। कामराज की रानी देवी रवा ने इस कृति के सम्वन्ध मे सुना और रचयिता से कहा कि मैसूर का इतिहास जोडकर इसे पूर्ण कर दिया जाय। कदाचित् सन् १८४१-४२ में कृष्ण राज उदयर तृतीय के सम्मुख यह उपस्थित किया गया।

ग्रन्थ-परिचय—

इस रचना में ११ अधिकार है। मै यहा 'राजावली कथा' के कतिपय उद्धरणो का अनुवाद और साराश दे देना चाहता हूँ, क्योकि सभव है यह इतिहास और साहित्य के जिज्ञासुओ के काम की चीज हो। ग्रन्थकार की कालानुक्रमणिका कभी कभी काल्पनिक जान पडती है और जैन दृष्टिकोण से लिखते समय वे वैष्णव और शैव्यो की कटु आलोचना कर बैठते है।

आरम्भ में ग्रथकार ने चौदह भुवन, चौसठ विद्या, चार वर्ण, अट्ठारह उपजातिया और एक सौ एक कुल, चारो वर्णों की विशेषताएँ, कुरुवश, हरिवश नाथवश, कश्यप के उग्रवश आदि, 'कुरुओ' ने हस्तिनापुर में राज्य किया, उग्रो ने काशी में राज्य किया, नाथो ने कुण्डिन में राज्य किया, और अयोध्या में सुप्रतिष्ठित सुवाहु, यशोवाहु, अजितजय आदि ने राज्य किया, इत्यादि विषयो पर लिखा है।

चौवीस तीर्थंकर, वारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, ग्यारह रुद्र आदि के कारण ये चारो परिवार प्रसिद्ध हो गये। इसके वाद, व्यास, कृष्ण, और दशावतार का उल्लेख किया गया है। जैन विधि तथा नन्दीश्वर पूजा जैसे पर्व का वर्णन किया गया है। मल्ली भट्ट ने मसकरी पुराण के आधार पर इस्लाम की कल्पना की और अपने गुरु पार्श्व भट्टारक के उपदेशानुसार मुल्ला शास्त्र की रचना की। महर्षि चाणक्य और नव नन्दो की कथा दी गई है। स्वामी भद्रबाहु उज्जैन में १२ वर्ष पर्यन्त अकाल पडने के भय से महाराज चन्द्रगुप्त के साथ देशान्तर चले जाते है।

इन्द्रपुर के वनुपाल के समय में सभी ब्राह्मण जैन थे किन्तु वाद में वे जैनधर्म को छोड कर अपने को वेदान्ती कहने लगे ।

शक सवत २०० में माधव भट्ट और कोल्लेगाल की श्री देवी को पूज्यपाद नामक एक पुत्र हुआ । मुडीगोन्डम का पाणिनि अपना व्याकरण लिख रहा था किन्तु इस को पूर्ण करने के पूर्व ही उसका अन्तकाल निकट आ गया और इसलिए उसने अपने मामा पूज्यपाद से उसको पूरा करने के लिए कहा पूज्यपाद ने न केवल जैनेन्द्र व्याकरण लिखा वल्कि पाणिनि व्याकरण की वृत्ति भी लिख डाली। नागार्जुन ने भी मामा या चचेरे भाई पूज्यपाद से सस्ते धातुओ को स्वर्ण में परिणत करने की कला सीखी । कनकगिरि हेमगिरि कहलाने लगा और पार्श्व जिन, पद्मावती और ब्रह्मा की मूर्त्तियाँ स्थापित हुई । सिद्ध नागार्जुन कुछ समय के लिए हेमगिरि में थे जहाँ कुछ राजाओ ने गोपाल स्थापित किया था और इसलिए वे श्री शैलम चले गये ।

चम्पकपुर के यशोधर ने अपने पुत्र श्रीधर को श्री शैल दिया जहाँ उसने तपस्या की और इसीलिए उस पर्वत का नाम श्री पर्वत और वाद में श्री शैल पडा । उसके दक्षिण में, एक बट वृक्ष के नीचे उसने सिद्धि प्राप्त की , इसलिए उस स्थान को सिद्ध वटम् कहते है । अमरावती इसलिए कहते हैं कि वहाँ चतुर निकाया केवल पूजा के लिए एकत्रित हुए थे । मल्लिका लताओ से आच्छादित एव अर्जुन वृक्ष के नीचे श्रीधर तपस्या कर रहा था और जब खेचर मल्लिका पुष्प से उस महात्मा की पूजा करने लगे तव उसे मल्लिकार्जुन कहने लगे । जब नागार्जुन वहाँ गये तव उन्होंने वहाँ एक देवता की स्थापना की जिसे अव मल्लिकार्जुन कहा जाता है ।

जैन-धर्म के पतन के कारण—

कल्याण पत्तन में चाणक राम के पुत्र सम्यक्त्व चूडामणि विज्जल अपनी रानी गुणवती और मत्री सम्बुद्धि के साथ राज्य करता था । इङ्गलेश्वर के निकट मणडिज का एक जैन ब्राह्मण शैव्य ब्राह्मण हो गया, लिङ्गभट्ट उसका पुत्र था । लिङ्गभट्ट के पुत्र का नाम मादिराज था । मादिराज और उसकी पत्नी मादला को एक पुत्री और एक पुत्र (वासव राज) उत्पन्न हुआ । वासव ने कालिका की उपासना की और कई सिद्धियाँ प्राप्त की । माता पिता के देहान्त के वाद वह ब्राह्मणो से घृणा करने लगा और अपनी वहन नागम्मा की शादी भी नही की । वासव और उसके भतीजे चेन्न वासव ने ६७०० वस्तियो को नष्ट कर दिया और वीर शैव्य मत का प्रचार किया। मारी विज्जल की माता गुप्तरूप से जैन धर्म का पालन करती थी और उसने अपने पुत्र तथा मत्री वुद्धिसागर से वासव के कार्यों का विरोध करने के लिए कहा ।

काची में राजा शिवकोटि के अनुज शिवयान ने एक करोड शिवलिङ्ग की स्थापना की। समन्तभद्र ने राजा को अपने धर्म में ग्रहण किया । अपने पिता के सन्यास ग्रहण के पश्चात् शिवकोटि का पुत्र श्रीकठ राज्य सिंहासन पर आरूढ हुआ ।

प्रभाचन्द्र स्वामी ज्वालामालिनी की पूजा करते थे और उन्होंने एक अकलपक और निष्कलमक नामक एक जैन ब्राह्मण के दो लडको को पढाया। उन्होंने बौद्धो और वीर शैव्यो को परास्त किया। तत्पश्चात् शुद्ध पुरा के भट्टाकलमक ने अकलमक सतक की रचना की।

शक सम्वत् ७८० मे जैन ब्राह्मणो को गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए श्रवणबेलगोला में लाया गया।

भोज-कालीन-अमर—

कुडूग नाडू मे कुडूग लूर का नाम था टेरकणाम्बी। नव चोल, वीर प्रताप, सन्तदेव, भूदेव, भीम, रूद्रवर्म और कालिकाल चोल शासित—इनमें से तीन जैन, दो शैव्य और दो वैष्णव थे। ब्रह्म राक्षस ने धर्म चोल को वन्दी बनाया। बन्दी धर्म चोल ने बहुत से जैन, शैव्य और वैष्णव मन्दिरो का निर्माण किया। देवपुर में उसको कारा से मुक्त किया गया।

पार्श्व पण्डित, लोकपालाचार्य आदि अपने शिष्यों के साथ हस्तिमल्लिसेनाचार्य तथा तीन गोत्रो के कुछ जैन ब्राह्मण पाण्डेय देश से आए और जगल देश में ठहरे। अन्य गोल के नौ ब्राह्मण कर्णाटक आए और अरि कुठार में ठहरे। वे लोग होयसल बल्लाल के अधीन कार्य कर रहे थे। जैनियों के ७०० परिवारो ने जाति प्रथा को भग किया और ५१५ परिवारो ने प्रायश्चित करने से इन्कार किया। किन्तु गेरू सोप्प, भट्कल आदि के अन्य १८५ परिवार सच्चे जैन बने रहे।

शालिग्राम में वैदिक धर्मानुयायी २१ बकरो की बलि चढाने जा रहे थे परन्तु जैन संत धर्माचार्य ने उनको बचा लिया। कुछ ब्राह्मण आटे का पशु बनाकर बलि के काम में लाने लगे। माध्वाचार्य ने माधव धर्म की स्थापना की।

कलिंग के राजा ने चोल की राजगद्दी हडप ली। पाचाल उसके राज्य को छोड कर उरुगल प्रताप रुद्र के पास चले गए और कठपुतली का नाच सीख कर उन लोगो ने कलिंग के राजा तथा उसके मन्त्रियो को मार डाला। विद्यानन्द नाम के एक जैन ब्राह्मण ने कठपुतली के नाच के स्थान पर महाभारत तथा रामायण को प्रतिष्ठित किया। जैनियो मे स्थानिक, विहार के समान कितने सम्प्रदाय चल पड़े। जैन क्षत्रियो में वग, चौट, अजिल, सावत, हेगाड सब अलग हो गए। कुभ कोणम में १२ जैन सम्प्रदाय थे। काची, चोल, केरल और पाण्ड्य देश में जैन ब्राह्मणो ने पाँच सम्प्रदाय क़ायम किये—उपाध्याय, पण्डित, नैगार आदि। इसी प्रकार वैश्यो के १४, कोगा लोगो के १४ और माल्याला लोगो के १२ सम्प्रदाय बने।

पाण्ड्य देश में वीर पाण्ड्य का पुत्र दक्षिण मथुरा में राज्य कर रहा था। जगमो ने कून पाण्ड्य को वीर शैव्य मत में दीक्षित किया। गोपाचार्य, गुणभ , यतीन्द्र के समान जैन ब्राह्मण भी थे, उसका पुत्र मल्लि पण्डित जो मन्त्री था, राजदरबार से आते समय एक उन्मत्त हाथी को पकड कर बगल कर दिया। तब से वह हस्तिमल्लिसेन के नाम से विख्यात हुआ। वह दो भाषाओं का कवि था (उभय भाषा कवि चक्रवर्ती) कुण पाण्डेय ने उस को लिङ्गायत बनने के लिए विवश किया। इसलिए वह पार्श्व पण्डित तथा अन्य पुत्रो को लेकर १२ गोत्रो के ब्राह्मणो तथा

५० शूद्र परिवारो के साथ केरल आया और विजयपत्तन में हरा। कुन पाण्ड्य ने पाण्ड्य देश में ९८५ तथा केवल मथुरा में ही ५० वस्तियो को नष्ट कर डाला। पाण्ड्यो के कुल देवता नेमिनाथ को छिपा दिया गया और कुसुमाण्डिणी का फिर से मीनाक्षी नाम रखा गया। वहाँ के आण्डियो ने जैनियो को वडा क्लेश पहुँचाया और भाले वर्छे का पर्व मनाया। (श्रमण सूलद हब्ब)

शकराचार्य नामक एक स्मार्त ब्राह्मण ने जैन गुरु से शिक्षा प्राप्त की और शुद्ध शैव्य होने के पश्चात् वह शृङ्गेरी में आया जहाँ उसने वसडी में जिन मूर्त्ति को छिपा दिया और उस देवी की पूजा की, जिसे अब सरस्वती कहते है। उसने अनेको भाष्य लिखे और उसके बहुत से लोग अनुगामी बन गए।

वल्लाल राजा ने उन जैन-परिवारो का वडा सम्मान किया जो पाण्ड्य देश से विजय मगल मे आए थे तथा छत्रत्रय पुर मे वस गये थे।

वल्लालो के परिवार मे एक वीर भूप था जो मदुरा का पाण्ड्य शासक हुआ। रत्नमौलि, किरीट पति विक्रम विजय विख्यात, सूर, सत्यन्धरा, ब्रह्म. सोमकृति उसके पूर्वज थे। वीर पाण्ड्य के पुत्र कून पाण्ड्य वीर शैव्य हो गया। उसकी गर्भवती रानी अचला कर्णाटक भेज दी गई। उस रानी के पुत्र सल ने दोर समुद्र पर शासन किया। बेटा होयसल देव ने वलकाड पर शासन किया और अरिकुमार में त्रिकुट वसडी को १०२९ दुर्मुखी, ज्येष्ठ बहुल, अर्कवार, तुलाराशि, वृहस्पति के रूप मे फिर से नया कर दिया। उसका आठवा मत्री एक माचिराज नामक वीर शैव्य था, जिसने कोललूर मे एक तालाव वनवाया। तालाब बनवाने का कार्य उसकी पत्नी सान्तवी ने पूरा किया और दिनकणाचारी द्वारा सान्तालेश्वर का एक मन्दिर बनवाया। सवत् ११०४ प्लव, वैशाख ५ को उसको वल्लाल द्वारा, एक अनुदान प्राप्त हुआ। उसने हुलिगर में चिन्न सोमेश्वर का तथा दम्पी में विरूपाक्ष का मन्दिर बनवाया। अभिनव पम्प ने 'जिनाक्षरमाला, 'मल्लिनाथ पुराण' और 'राम चरित' लिखा। वीर वल्लाल ने अपने अनुज वीर शैव्य सिन्धुर वल्लाल को टोण्डनुर का शासक वनाया। वादशाह की राजधानी पर प्रतिवर्ष शत्रुओ का आक्रमण हो रहा था। वादशाह की लडकी ने यह प्रतिज्ञा की कि वह उसीसे विवाह करेगी जो शत्रुओ के आक्रमण को रोक देगा। वल्लाल ने आक्रमण को रोक देने का वचन दिया किन्तु सुल्तान के सम्मुख सर झुकाने से इन्कार किया। सुल्तान क्रुद्ध हुआ और उसने नौकरो को आज्ञा दी कि वे वल्लाल को जान से मार डालें। तौ भी उन लोगो ने उसकी केवल एक अगुली काट ली और इसलिए उसको बेट्टु वल्लाल कह कर पुकारने लगे।

कथाओं की सार्थकता—

द्रविड देश में वैष्णव ब्राह्मण रामानुज पैदा हुआ जिसने विधाननगर में श्री वैष्णव मत का प्रचार किया। किन्तु वहा के जैनियो ने उन को हरा कर उनके सभी सम्मानो का अपहरण

कर लिया। इसलिए वे निराश होकर उपवास करने लगे। भगार और सिंगार नाम की उनकी दो पुत्रियाँ थी जिन्होंने उनको धीरज बँधाया और यह वचन दिया कि वे सभी जैनियो को श्री वैष्णव बना देंगी। वे नृत्य और सगीत मे परम प्रवीण होकर होयसल देश में आई। वल्लाल ने उनका स्वागत किया और उन्हे जैन धर्म की शिक्षा देने के लिए जैन कवियो को कन्नड तथा सस्कृत में रचना करने के लिए आज्ञा दी। मगल, रत्न, हुन्न, जन्न कर्णपार्य, मधुर, रजहस, नागवर्म केशव और नेमिचन्द्र ने कन्नड मे लिखा। वल्लाल के अधीनस्थ कर्मचारी क्षेमकर, दामोदर, पद्मनाभ ने भी अनेक पुराण लिखवाए। नय दिगम्बर दास, नूतन कविता विलास विशेषणो से युक्त नयसेनाचार्य ने 'धर्मामृत' लिखा। नेमिचन्द्र ने 'कादम्बरी' के साथ प्रतिस्पर्धा के लिए लीलावती लिखी। दीपन गुडी से आये हुए जैनियो मे से भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण अरिकुठार और दिरकणाम्त्री में बस गए। श्री वत्स गोत्र के पार्श्व पण्डित के पुत्र चन्द्रपार्य, चन्द्रनाथ, चन्दणार्य, आदि प्रसिद्ध हुए। चन्दापार्य के द्वितीय पुत्र ब्रह्मसूरि ने 'कैवल्यकार' लिखा। चन्द्रनाथ तथा छत्रत्रयपुर के कुछ अन्य लोग कनक गिरि में बस गए।

दिल्ली के बादशाह ने अपनी लडकी वरनन्दी का विवाह वल्लाल के साथ किया और उसे कर्णाटक भेज दिया। बगारम्भा और सिगारम्भा ने बादशाह से प्रार्थना की कि वे उनके पिता रामानुज तथा श्री वैष्णव लोगो को आमन्त्रित करें। राजा जैनियों से घृणा करने लगा और उसने रामानुज से दीक्षा ली। उसने टोण्डनूर मे ७०० वस्तियों को, हेडाटल मे १६ वस्तियों को, कलसवाडी में १०० वस्तियो को नष्ट कर दिया और जैनियो के पाँच मन्दिरो मे नारायण की स्थापना की। रामानुज को लोग "जैनेवा कठीरव" कहने लगे और इसी पदवी के साथ उन्होंने देश का भ्रमण किया और तिरुपति काशी आदि स्थानो में विष्णु की मूर्ति स्थापित की। उनके साथ में १००० पचम थे जिनका नाम तिरुकुल दास पडा।

उसने मेलुगोट मे जिनालय को जड से उखाड दिया। सवत् ११११ से १२०० तक चेलुक राज्य स्थापित किया गया। उसी समय अडागुर के निकट की धरती फट गई। वल्लाल ने हमीज चन्द्र मुनीश्वर से इसके निराकरण के लिए प्रार्थना की। मुनि ने एक कूष्माण्ड को अभिषिक्त कर पृथ्वी की दरार में रख दिया और पृथ्वी जुट गई। इसलिए उनका नाम पडा और वल्लाल जीव रक्षापाल कहलाया।

दिल्ली के सुल्तान ने वरनन्दी को भेजते समय यह आज्ञा दी कि एक एक गाउड के अन्तर पर ढोल रखे जायँ ताकि वह अपनी लडकी की दशा जान सके। वल्लाल की रानियाँ जब वरनन्दी के सौन्दर्य का मजाक उडाने लगी तब उसने ढोल को बजवाया। सुल्तान ने अपने प्रत्येक वजीर को १ लाख घोडा और १८ लाख पैदल सिपाहियो के साथ भेजा। चन्द्र पर्वत के पास मल्लिग सुदर, मल्लिग जुन्नर, मल्लिग वजीर ने वल्लाल का सामना किया। वरनन्दी पर्वत की एक खोह मे घुस कर मर गई। वल्लाल सात दिनो तक लडा पर विफल रहा और इसलिए एक दूसरी खोह में जाकर प्राणान्त कर लिया।

सिन्धु वल्लाल आदि वैष्णव हो गये । जैन वैश्य वेंकटपुर में वस गये । दास गौड, वणजिग, तिरुकुल, दास, चौपाल पृथक् सम्प्रदाय हो गए । देविहल्ली, केडदाराव, अडुगर, सावन्तन हल्ली और होनजर के श्रावको ने बगारम्म और सिर्गारिम्म को प्रचुर धन दिया और यह वादा कर कि हम लोग विष्णु वर्द्धन और रामानुज की पुजा करेंगे धर्म परिवर्तन से अपने को बचा लिया । इसलिए वे गौड कहलाए । उस समय तक कोई साम्प्रदायिक भेद नही था । रामानुज, शकर भट्ट और रूद्राराध्या के कारण सम्प्रदाय अलग अलग हो गए ।

वल्लालो के समय मे, सवत् १११२ से १२२० तक, बहुतेरे दण्डायको ने गवर्नर के पद से शासन का कार्य किया । केशव वल्लाल का महाप्रधान था । नीलगिरि में माधव और उसके वशजो ने वेट्टड कोट पर राज्य किया । माधव, भीम, माधव आदि ने वासुदेव का मदिर बनवाया । चन्दराण ने हेडटल में राज्य किया । गोविन्द, श्रीपति, देवराण और वेंकटपति ने उत्तर में राज्य किया । वेट्टड कोट गोविन्द (मचराण) पर नीलगिरि सोम द्वारा आक्रमण हुआ । फलत उसने (गोविन्दने) पर्वत के एक ऊँचे करारे से कूद कर आत्महत्या कर ली । हिरवेगुर के कूचिराज वैष्णव हो गए । इन दण्डायको ने १२५० तक राज्य किया । उसके वाद लक्ष्मणदेव राय राज्य करते रहे ।

विद्यानगरी में कृष्णराय ने राज किया । किरातो में प्रताप राय, हुस, प्रताप रुद्र, इम्माडी जगदेव, रामदेव, कप, सालुव कम्पिल राय और रामचन्द्र थे जिन्होने २०० वर्ष तक राज्य किया ।

इसके वाद मीमासक भर्तृहरि राज्य कर रहे थे । प्रजा ने कर के रूप में अपनी उपज के छठे हिस्से से अधिक देने से इन्कार किया जिसका परिणाम यह हुआ कि वे ससार से विरक्त हो गये और भर्तृहरि शतक लिखा । उन्ही के परिवार मे राजेन्द्र हुए—सारगधर जिनका लडका था ।

बेडस कम्पिल के प्रधान को कुम्मत से एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था राम । राम की विमाता प्रधान के साथ प्रेम करने लगी और उसने राम को मरवा डालने का प्रयत्न किया । किन्तु वह निकल भागा ।

बल्लाल परिवार के लोग उत्तर की ओर चले गए और विजयनगर मे वस गए । उनमे से कुछ कल्लगहल्लि, अरिकुठार, तलकड और मूगुर के प्रधान वन गए । चन्द्रवश के शासक कलुलि और हुल्लिनहल्लि में आकर रुक गए ।

कल्लगहलि के वीर सूर ने वासन्तिका देवी का नाम चामुण्डी रखा और महिमापुर नामक नगर वसाया । उसका दामाद उसका उत्तराधिकारी हुआ । वे तुरया है । उनका दावा है कि उनके पूर्वज ने एक वार वाढ में लौकी को पकड कर अपने प्राण वचाये थे और वह मृत्युजय कहलाने लगे । उसको उसकी पत्नी 'शक्ति' द्वारा सभी देवत्ता उत्पन्न हुए, इत्यादि । उसके वशज दक्षिण में निड्डुगनकोट, सिंग पट्टन और जानतकोट में आए । वे मारम्म की पूजा करते थे ।

वीर वल्लाल की मृत्यु के वाद दिल्ली के वादशाह ने वहुत सी जैन वसतियो को तोड डाला और मसजिदें वनवाई। चन्द्रद्रोण पर्वत पर वहुत से चैत्य तोड डाले गए, उनकी जगह पर फकीर रखे गए और निर्वाण मठ और फलनार मठ हिन्दुओ के लिए घोषित कर दिए गये और सवत् १३०५ मे कर और जमीन के जय अनुदान दिए गए। दिल्ली के वादशाह और उनकी रानी वस्त्र की सिलाई कर अपना जीवन-यापन करने लगी और अपने फकीरो को अथर्ववेद के मत्रो को पढा कर 'खादिर लिंग' के नाम से प्रसिद्ध किया। वे एक पैर पर लिंग, विभूति आदि धारण करते थे और दूसरे पर नाम आदि।

हरिहर राय ने शैव्य और वैष्णवो में मैत्री के लिए प्रयत्न किया। वीर वुक्क राय के समय में वेदान्ताचार्य और अपय्य दीक्षित में झगडा था।

वीर वुक्क ने तिरूमल ततय्य और अन्य श्री वैष्णवो को जैनियो के साथ एक समझौता करने पर राजी किया। सवत् १२९०, कीलक भद्रपद, शुदि १०, गुरुवार को जव जैनो और वैष्णवो मे झगडा हुआ तब आनेजेंडी, वेनुगोण्ड, कल्लेदपट्टण आदि के भक्तो ने भक्तो के विषय मे वुक्क के पास शिकायत की। वुक्क ने अपना निर्णय दिया कि कोविल तिरुमलय, पेरूमल कोविल, तिरुनारायण पुरान और अन्य स्थलो में दोनो दर्शनो के बीच कोई मतभेद नही है।

विकास—

विजयनगर में सोमशेखर राय तथा कुरुव कन्या दीपदमल्लि का पुत्र कृष्णदेव राय था जो एक वडे राज्य पर शासन कर रहा था देवराय का पुत्र कुमार हरिहर, देवराण और भुजग राय उसके आठ सामन्तो में से थे जो दक्षिण पर शासन करने के लिए भेजे गए थे। वे तेरकणम्वी में आए।

शक सवत् ६०० में एक क्षत्रिय लम्वकर्ण द्वारा कुडगनूर का नाम तेरकणम्वि रखा गया जिसने ५० वर्ष तक राज्य किया। उसके वाद गोण्डचोल २० वर्ष तक और पार्थिव राय ने ४० वर्ष तक राज्य किया। पार्थिव राय का पुत्र नरसिंह, नरसिंह का पुत्र अहोवल, अच्युत, अच्युत का दत्तक पुत्र पार्थिव राय, प्रताप रुद्र, चामदेव राय, वुक्क, मालव राय, प्रभुदेव तम्म, नारसराण, वीर नरसिंह ने भी राज्य किया। उसके वाद चिक्कराय, शिवन समुद्र के माधव राय, वेंकटपति, चन्द्रगिरि राय, गोविन्द राय आदि ने सवत् १३१० तक ६२० वर्ष तक राज्य किया।

त्रियम्वक राय ने भगवान् त्रियम्वक की स्थापना की और त्रियम्वकपुर वसाया। उसके वाद, आनेगोन्डी से आने वाले तीन व्यक्तियो में से देवराण राय उम्मर में वस गया। भुजग राय उसका पोता था। हरिहर राय कुडुगनाडु के तेरकणम्वी में था। उसका पुत्र वीर राय हरियनाडु का शासक वना। उसने कनकगिरि के विजय को मलेपुर दिया।

विजयनगर में एक वार दुर्भिक्ष पडा। अत दो राजकुमार दक्षिण को चले गए। उन लोगो ने तेरकणम्बी के राजा से पत्थर का एक तेल-मील तथा कुछ जमीन प्राप्त की। परवासुदेव के मदिर के निकट राम राय ने एक किला वनवाया। उम्मुर देवराण राय, तगडूर प्रभुराय, सोम समुद्र के सोम-

गोल्वर, वेट्टदपुर के पट्टराय, पेरियपट्टण के नञ्जराय, कल्लहल्लि के चेंगल्व राय, राघव, माधव आदि राज्य कर रहे थे जब कि कारुगहल्लि के राजा मैसूर तथा ३० अन्य गाँवो पर शासन कर रहे थे । तदनन्तर विजयनगर से आए हुए कृष्ण राय ने एक कुम्हार की लड़की के साथ विवाह किया । उसने पाँच गाँवो पर राज्य किया था । उसकी लडकी तुरियो के राजप्रासाद मे दासी का काम करती थी और तुरियो के साथ वलपूर्वक उसका विवाह होने वाला था । विजयनगर के यादव परिवार के दो राजकुमार आए और सभी शत्रुओ को मार कर, राजा उदयर ने उसके साथ विवाह कर लिया । किन्तु नायक ने राजा उदयर को मार डाला और उसकी गर्भवती पत्नी भाग निकली । सोम वश का अमिचन्द्र हडिनाडु तथा छ अन्य जिलो पर शासन कर रहा था । भानुकीर्ति उसके गुरु थे । कुन्दूर मठ मे नञ्जय नाम का एक व्यक्ति था जो नौकर की सहायता से अमिचन्द्र और भानुचन्द्र को मार कर नञ्जराज उदय के नाम से राज्य करने लगा । उसके पश्चात् उसका नौकर मादरस शासक वना किन्तु वह राक्षसो द्वारा मारा गया । वह प्रेत हो गया । उसकी पूजा करने वाले, सरगूर के उप्पलिग लोगो ने मादेश्वर नाम का मदिर वनवाया । याक्षी की मूर्ति धूल में फेंक दी गई और उसका नाम तिप्पादेवी रखा गया ।

तुलुव राजाओं मे नरसिंह, तम्म, नरसराण, वीर नरसिंह, कृष्ण और अच्युत राज्य कर रहे थे । तदनन्तर तिरुमल सदाशिव और राम राजय्य ने शासन किया और राम राजा का स्वर्गवास रक्ताक्षी, माघ शुक्ल १, श० १४८५ को हुआ । उसकी मृत्यु के वाद तिरुमल ने माघ शुक्ल ५ से ७ वर्ष, ५ मास और १२ दिन तक राज्य किया । आगिरस आषाढ वदि १२ से श्री रग ने राज्य किया और श्री रग पट्टण का निर्माण किया ।

वीरनगर मार नायक अनेको को तलवार के घाट उतार रहा था । उसके मन्त्री शन्तय्य ने गर्भवती रानी को जो वेट्टदपुर के वश की थी, मल्लहल्लि ले गया और वही उसकी रक्षा की । उस रानी का पुत्र राजा उदयर हुआ । जगम पुजारी के रक्षा करने के कारण उसको यह पदवी मिली ।

राजा उदयर ने हलपैंकरो की सहायता से मार नायक के अनुयायियो को मार डाला और स्वय शासक वन गया । डोड्ड शन्तय्य उसके मत्री थे ।

दक्षिण मे राघव राय, तम्म, अहोवल, वीर प्रभु, जगदेव, विजय, भुजग और गोपाल पाल्यागार के पद पर आरूढ होकर शासन कर रहे थे ।

आगिरस के श्री रगराय श्री रग पट्टण में ही रहे । वेंकटपति राय और चिक्कराय ने ३० वर्ष तक राज्य किया । रामदेव राय आनन्द आश्विन वदि ३ से आनेगोण्डी पर राज्य कर रहा था । श्री रगराय ने मैसूर के राजा गौड (राजा उदेयर) को बुला भेजा किन्तु उसने उसके सामने जाने से इन्कार कर दिया । उसके मत्री शन्तय्य ने श्री रगराय से कर्ज लिया और उसे पुरस्कार स्वरूप कई गाँव भी मिले । शन्तय्य खगेन्द्रमणि दर्पण मे पूर्ण निष्णात था । चतुर्मुख शान्ति ने नम्बिर नञ्जप्प को अपने धर्म में दीक्षित किया जिसने पचरत्न के रूप में आदीश्वर स्तोत्र की रचना की थी ।

राजा नृप ने श्री रगपट्टण को अपने अधिकार मे कर लिया और वहाँ का राजकुमार मैसूर में रखा गया और उसे २३ गाँव दिए गए ।

मूडविद्री में भैरस उदय राज्य कर रहा था । रत्नाकराचार्य कुछ समय के लिए लिङ्गायत हो गए । उन्होने वासवपुराण तथा अन्य वीर शैव्य रचनाएँ प्रस्तुत की। कल्लहल्लि में विजय भूपाल के मन्त्री के दो लडके थे जिनका नाम था नञ्जुण्डरस और मगरस । नजुण्ड कुमट रामनाथ की कहानी सुनकर वीर शैव्य बन गया और उसने 'कुमार राय सगत्य' लिखा ।

ब्रह्मसूरि उम्मट्टूर प्रधानो का प्रवन्धक था । हुगल ग्राम का विशालाक्ष पडित चिक्कदेव राय का मत्री वना । चिक्कदेव राय ने अपने पिता के 'निसिदिग' पर गुड्लु पेत के निकट परवासुदेव का मदिर वनवाया । उसने विभिन्न मतो के स्वत्वो की जाँच की । १६८४ ई० में रक्ताक्षी (जगम लोग) ने विद्रोह कर दिया, पर वे चिक्कदेव द्वारा दवा दिए गए । वीर शैव्यो ने विशालाक्ष पडित को जान से मार डाला । तिरुमलय्यगर मत्री वना । राजा नृप जलगिय सिंगाराचार्य का शिष्य था । पडक्षरी ने राजशेखर काव्य लिखा जिससे वह प्रसिद्ध हुआ । तिरूमलयगर वहुतो को श्री वैष्णव धर्म में दीक्षित करने लगे ।

चिक्कय्य और बोमरस जैसे कुछ जैन पडित नामधारी वन गए । कनकगिरि और मलेयूर को जो जैन अनुदान मिले थे वे जप्त कर लिए गए । जव चिक्कदेव उत्तर की ओर विजय के लिए निकला तव नगर पर शासन करने के लिए डोड्डु देवय्य को नियुक्त किया । उसने १७०० वसतियो को नष्ट कर दिया । किन्तु राजा ने उसके उपद्रव को रोक दिया और उसे वदी वना लिया । चिक्कदेव का तारण में देहान्त हो गया ।

डोड्डु कृष्ण राजा की रानी को किसी एक प्रेत ने पकड लिया । वे श्रावण वेलगोल गए तव उस प्रेत ने उनको छोडा और इसलिए उन्होने गोम्मटेश्वर को अनुदान दिया ।

चोल राजकुमारी पद्मावती से मथुरा के कून पाण्डेय का विवाह हुआ । ये दोनो वीर शैव्य हो गए । मथुरा का अमीराय भी वीर शैव्य था ।

वीर राजा के पुत्र कललि नजराज ने नजनगुड मदिर का वहिर्भाग वनवा दिया और वहुत-से वीर शैव्य पुराणो को लिखा ।

चिक्कदेव राय ने प्रत्येक जाति के उच्चम्मन्यता के स्वत्वो की जाँच की । इन जातियो में थे—पचाल, कुम्भकार, व्याघ, कुरुय, देवाङ्ग, ओक्कालिग, तेली, ग्वाला, उघरिग, केलासी, धोबी, ओड्ड, डोम्ब, होलेय, माडिग ।

मैसूर का इतिहास—

यदुवंश-हरिवंश की एकशाखा—विजयनगर से तीन राजकुमार आए। विजय राजा ने मैसूर में एक कुम्हार जाति की स्त्री से व्याह किया। तिम्म राज एक गाँव में रुक गया और शेष लोग गोव्वालिकर में रुके। देवराज ने हुल्लहल्लि के प्रधान, कृष्णजम्मणी की लडकी से विवाह किया। वल्लालो की कुलदेवी पद्मावती का नाम चामुण्डेश्वरी पडा। पहाड पर महाबालेश्वर का जो मदिर था वह कारूगहल्लि प्रधानो द्वारा वनाया गया था (४४४–४४८)। छ अगुली वाले चामराज ने वालिकर के देवराज की कन्या पद्ममणि से विवाह किया। उसके पुत्र चामराज ने कोट के प्रधान की लडकी अलकाजम्म से विवाह किया। तिम्म, कृष्ण और बोलचेम उसके सुपुत्र थे। कृष्ण ने केम्वल पर राज्य किया, तिम्म ने सिन्धुवल्ल के प्रधान की रक्षा की और नजागूड में 'विरूदन्तम्बर गण्ड की उपाधि प्राप्त की।

राजा नृप २३ गाँवो पर राज्य करता था। उसने बेट्टदपुर, नुल्लहल्लि, कलल, मूगूर, वेलुगलि आदि स्थानो की आठ राजकुमारियो से विवाह किया। चामराज ने जगदेव राय के हाथ से चेन्नपट्टण, मड्डुर, नागमगल ले लिया। मलेन्दुर वन्निराज जो पहले जैन था, बाद में वीर शैव्य बन गया और उसने एक आराध्य की लडकी अमृतमणि के साथ विवाह किया। उनसे चिक्कदेव राज उत्पन्न हुए। सिंगरार्य के पुत्र तिरुमलार्य, षडक्षरी और बोमरस के पुत्र विशालाक्ष पडित उस पुत्र के सहपाठी थे। चिक्कदेव कोविद शिखामणि हुआ, तिरुमलाचार्य विद्याविशारद हुआ, विशालाक्ष पडित साहित्य भारती हुआ और षडक्षरी कविशेखर हुआ।

निष्कर्ष—

चोल, वल्लाल, दण्डायक, साल, केडा, प्रवाल, जल सावंत आदि जैन बने रहे। कुछ जैन ब्राह्मणो ने अपने को उपाध्याय पडित, अर्चक, इन्द्र स्थानिक में विभाजित कर लिया। कुछ जैन क्षत्रिय चतुर्थ तथा पचम के नाम से विख्यात हुए। मोगर, सउड पाडिय, आदि पचमो के गुरु बन गये।
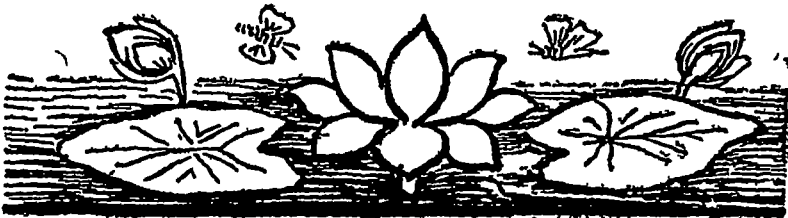
महाकोशल की प्राचीनता

मुनि श्रीकान्तिसागर, साहित्यरत्न

प्रस्ताविक—

महाकोशल प्रान्त में जैन सस्कृति का प्रचार कब से शुरू हुआ, उचित साधनो के अभाव में निश्चित कहना कठिन है, क्योकि तत्कालीन या परवर्ती साहित्य मे इस विषय पर प्रकाश डालने वाले उल्लेख अद्यावधि उपलब्ध नही हुए, न वैसे प्राचीन लेख ही मिले है। हाँ, मध्यप्रदेश के एकभाग बराबर विदर्भ से सम्बद्ध कुछ उल्लेख अवश्य ही प्राप्त है। नवागी टीकाकार से भिन्न मलधारी अभयदेव सूरिजी ने अतरीक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा बारहवी शती के पूर्वार्द्ध में की थी, एलिचपुर का राजा एल-याईल जैन धर्मानुयायी था। एलिचपुर उन दिनो जैन सस्कृति का अच्छा केन्द्र था। बडे-बडे धनपाल जैसे साहित्यसेवी रहा करते थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने व्याकरण में अचलपुर का प्रासंगिक उल्लेख किया है।

प्राचीनता के प्रमाण—

महाकोशल के अन्तर्गत सरगुजा राज्य मे लक्ष्मणपुर से १२ वें मील पर रामगिरि पर्वत पर जो गुफाएँ उत्कीर्णित है उनमें कुछ भित्ति चित्र भी पाये गये है। रायकृष्ण दासजी का मत है कि इनमें से "कुछ चित्रो का विषय जैन था"[१]। कारण कि पद्मासन लगाये हुए एक व्यक्ति का चित्र पाया जाता है। इस गुफा मे एक लेख भी उपलब्ध हुआ है। भाषा प्राकृत है। डा० ब्लाख के मत से इसका काल ईस्वी पूर्व ३ शती पडता है। इस प्रमाण से तो यही अनुमान होता है कि उन दिनो श्रमण सस्कृति का प्रभाव इस भू-भाग पर अवश्य ही रहा होगा। पद्मासन जैन तीर्थंकर की ही विशेष मुद्रा है। बौद्धो में इस मुद्रा का प्रचलन बहुत काल बाद में हुआ है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अशोक का एक स्तम्भ भी रूपनाथ में मिला है जिस पर उनकी आज्ञाएँ खोदी गई है। तो बौद्ध संस्कृति का प्रतीक रूपनाथ और जैन सस्कृति का रामगिरि (रामटेक नहीं, जैसा कि मिराशीजी मानते है') अत ईसवी पूर्व दूसरी शती मे जैन प्रभाव महाकोशल में था। परन्तु ईस्वी पूर्व ३ री शती से लगाकर ८ वी तक का जैन इतिहास अधकार मे है। जब कि बौद्ध सस्कृति की परम्परा की कडियाँ इस बीच भी ज्यो की

(१) भारत की चित्रकला पृ० १२

त्यो मिलती हैं। पातुर, भद्रावती की गुफाएँ एव श्रीपुर–सिरपुर (रायपुर) का राजवश तथा कलात्मक प्रतीक इसके गवाह हैं।

शिल्प स्थापत्य कला की विकसित परम्परा को समझने के लिए मूर्त्ति की अपेक्षा स्थापत्य अधिक सहायक हो सकते हैं। सम-सामयिक कलात्मक उपकरणो का प्रभाव स्थापत्य पर अधिक पडता है। महाकोशल मे प्राचीन जैन स्थापत्य वच ही नही पाये, केवल आरग का एक जैन मन्दिर वच गया है, वह भी इसलिए कि उसमें जैन-प्रतिमा रह गई है। यदि प्रतिमा न रहती तो इस कृति के प्रासाद का भी कभी का रूपान्तर हो चुका होता। इस मन्दिर की आयु भी उतनी नही है कि जो उपर्युक्त विशृखलित परम्परा की एक कडी भी वन सके। तात्पर्य कि यह १० वी शती का पूर्व का नही है। यहाँ पर जैन अवशेष प्रचुर परिमाण में विखरे पडे हैं, परन्तु जैन-तीर्थमाला या किसी भी ऐतिहासिक ग्रथ में आरग की चर्चा तक नही है। परन्तु ६ वी शती पूर्व वहाँ जैन-सस्कृति का प्रभाव अधिक था, पुष्टि-स्वरूप अवशेष तो हैं ही। एक और भी प्रमाण उपलब्ध है। वह यह कि आरग से श्रीपुर-सिरपुर जगली रास्ते से समीप पडता है। वहाँ पर भी जैन अवशेष बहुत वडी सख्या में मिलते हैं। इनकी आयु भी मन्दिर की आयु से कम नही है। ६ वी शताब्दी की एक धातु-मूर्ति भगवान् ऋषभदेव की मुझे यही से प्राप्त हुई थी यह इत पूर्व बौद्ध सस्कृति का केन्द्र था। मुझे ऐसा लगता है जहाँ बौद्ध लोग फैले वहाँ जैन भी पहुँच गये। यह पक्ति महाकोशल को लक्ष्य करके ही लिख रहा हूँ। आरग के मन्दिर को देख कर राय वहादुर डा० हीरालाल जी ने कल्पना की है कि यहाँ पर महामेघ वाहन खारवेल के वशजो का राज्य रहा होगा। इससे फलित होता है कि ६ वी शताव्दी तक तो जैन सस्कृति का इतिहास मिलता है, जो निर्विवाद है। परन्तु भित्ति-चित्र से लगाकर ८ वी शती के इतिहास-साधन नही मिलते। भारतीय इतिहास के गुप्तकाल में महाकोशल काफी ख्याति अर्जित कर चुका था। इलाहावाद का लेख और एरण के अवशेष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

उपलब्ध शिल्पकला के आधार से निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आठवी और नववी शताब्दी से जैन इतिहास प्रारम्भ होता है। गुफा-चित्रो में आठवी शती तक का भाग अधकारपूर्ण है। इसका कारण भी उचित अन्वेषण का अभाव ही जान पडता है।

कलचूरी और जैन-स्थापत्य—

कलचूरियो के समय जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य कला का अच्छा विकास हुआ। वे शैव होते हुए भी पर-मत-सहिष्णु थे, जैन-धर्म को विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे। कलचुरी शकरगण तो जैन-धर्म के अनुयायी थे, इनने कुल्पाक क्षेत्र में १२ गाँव भी भेंट चढाये थे। इनका काल ई० स० सातवी शती पडता है। महाकोशल में सर्वप्रथम कोकल्ल ने अपना राज्य जमाया। त्रिपुरी-तेवर—इनकी राजधानी थी। कलचूरियो का पारिवारिक सम्वन्ध दक्षिण राष्ट्रकूट शासको के साथ था। राष्ट्रकूटो पर जैनो का न केवल प्रभाव ही था वल्कि उनकी सभा में जैन विद्वान् भी रहा करते थे। महाकवि पुष्पदत राष्ट्रकूटो द्वारा ही आश्रित थे, अमोघवर्ष ने तो जैन-धर्म के अनुसार मुनित्व भी अगीकार किया था, ऐसा भी कहा जाता है। यद्यपि वहुरीवद आदि कुछेक स्थानो की जैन-मूर्त्तियो को छोडकर कलचूरि

काल के लेखन नही पाये जाते। बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो कलचूरिकालीन जैन-शिल्पकृतियो को छोड-कर शिलोत्कीर्णित लेख अत्यल्प ही पाये जाते है। परन्तु लेखो के अभाव में भी उस समय की उन्नति-शील जैन-सस्कृति के व्यापक प्रचार के प्रमाण काफी है। जैन मूर्त्तियो के परिकर एव तोरण तथा कतिपय स्तभो पर खुदे हुए अलकरणो के गभीर अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन पर कलचूरि-काल में विकसित तक्षण-कला का खूब ही प्रभाव पडा है। कुछेक अवशेष तो विशुद्ध महाकोशलीय ही है। कृतियाँ भिन्न भले ही हो, पर कलाकार तो वे ही थे या उनकी परम्परा के अनुगामी थे। निर्माण-शैली और व्यवहृत पाषाण ही हमारे कथन की सार्थकता प्रमाणित कर देते है। यहाँ के इस काल के जैन, बौद्ध और वैदिक अवशेषो को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ के कलाकार स्थानीय पाषाणों का उपयोग तो कलाकृतियो के निर्माण में करते ही थे, पर कभी-कभी युक्तप्रान्त से भी पत्थर मँगवाते थे। कलचूरिकाल की पत्थर की मूर्त्तियाँ अलग से ही पहचानी जाती है।

९ से १३ शती तक के जितने भी जैन अवशेष प्राप्त हुए है, उनमें से बहुतो का निर्माण त्रिपुरी और बिलहरी में हुआ होगा। कारण दोनो स्थानो पर जैन मूर्त्तियाँ आदि अवशेषो की प्रचुरता है। कैमोर के पत्थर की जैन-प्रतिमाएँ प्राय बिलहरी में मिली है और बिलहरी के ही लाल पत्थर के तोरण भी पर्याप्त मिले है। लाल पत्थर पानी से खराब हो जाता है, प्रक्षालन की सुविधा के लिए कला-कारो ने मूर्त्ति-निर्माण में कैमोर का भूरा और कोमल सचिक्कण पत्थर व्यवहृत किया।

उपसंहार—

प्रसगत सूचित करना आवश्यक जान पडता है, जिस प्रकार कलचूरियो के समय में महा-कोशल के भू-भाग में उत्तमोत्तम जैन कला-कृतियो का सृजन हो रहा था उसी समय जेजाकभुक्ति बुन्देल-खड में चदेलो के शासन में भी जैन-कला विकास की चोटी पर थी। आज की शासन-सुविधा के लिए जो भेद सरकार ने किये है, इससे महाकोशल और बुंदेलखड भले ही पृथक् प्रदेश जँचते हो परन्तु जहाँ तक सस्कृति और सभ्यता का सवाल है दोनो में बहुत ही साधारण अन्तर है—यानी जबलपुर और सागर जिले तो एक प्रकार से सभी दृष्टि से बुंदेलखडी ही है। सामीप्य के कारण कलात्मक आदान-प्रदान भी खूब ही हुआ है। मुझे बुन्देलखड में बिखरे हुए कुछेक जैनावशेषो के निरीक्षण का अवकाश मिला है, मेरा तो इस पर से यह मत और भी दृढ हो गया है कि कला के उपकरण और अलकरण तथा निर्माण-शैली में साधारण अन्तर है। अधिक अवशेष, दोनो प्रदेशो में एक ही शताब्दी में विकसित कला के भव्य प्रतीक हैं। बुन्देलखड के जैन अवशेषो का बहुत बडा भाग तो, वहाँ के शासको की अज्ञा-नता के कारण, बाहर चला गया परन्तु महाकोशल के अवशेष भी बहुत काल तक बच सकेंगे या नही?—यह एक प्रश्न है। दुर्भाग्य की बात है कि इतिहास और कला के प्रति अधिक रुचि रखने वाले कुछेक व्यक्ति सीमा पर है जो इन पवित्र अवशेषो का विक्रय किया करते है। यह अत्यन्त घृणित कार्य है। वे अपनी सस्कृति के साथ महा अन्याय कर रहे हैं।
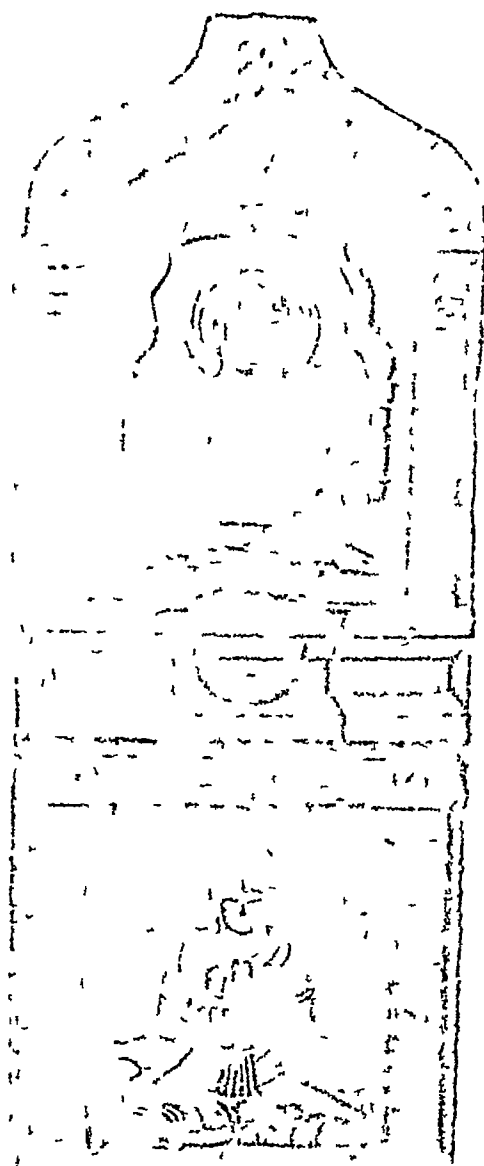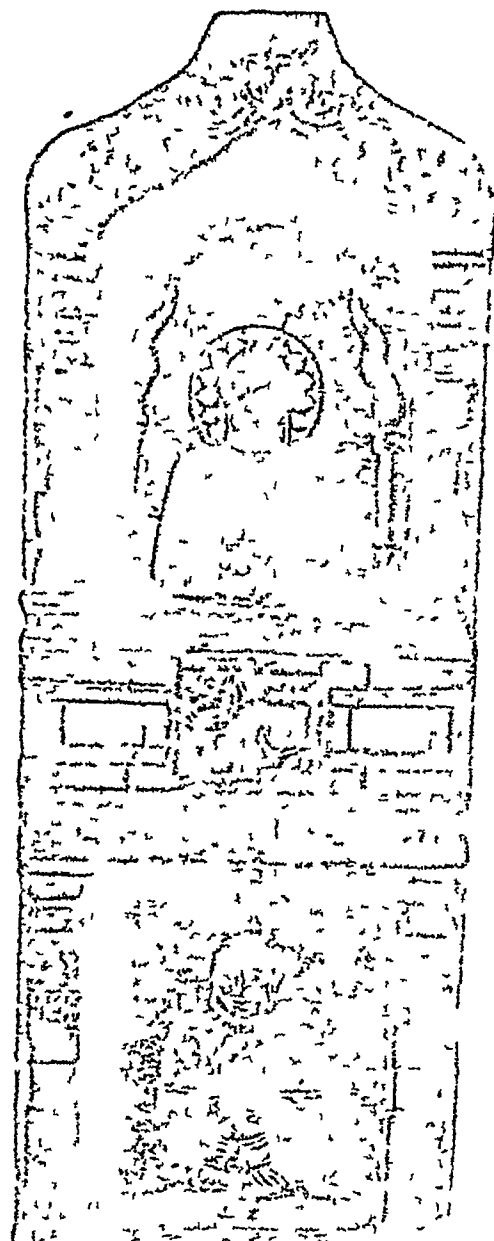
घन्नाभुलापाडु जिला कोडापट से प्राप्त जैन वास्तु-कला के अवशेष

धन्नाभुलापाडु जिला कोडापट से प्राप्त जैन वास्तु-कला के अवशेष
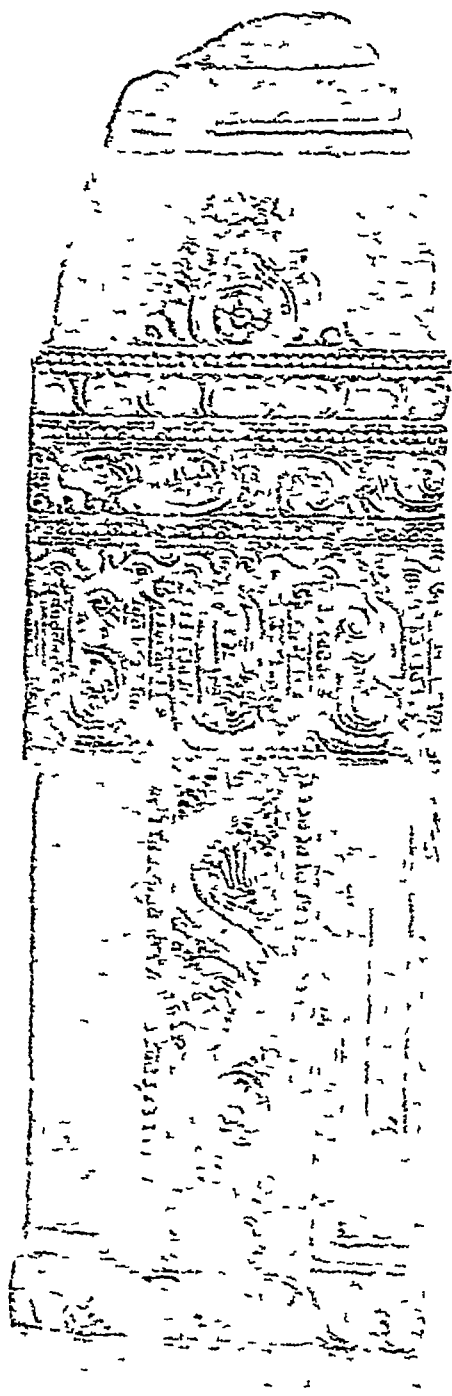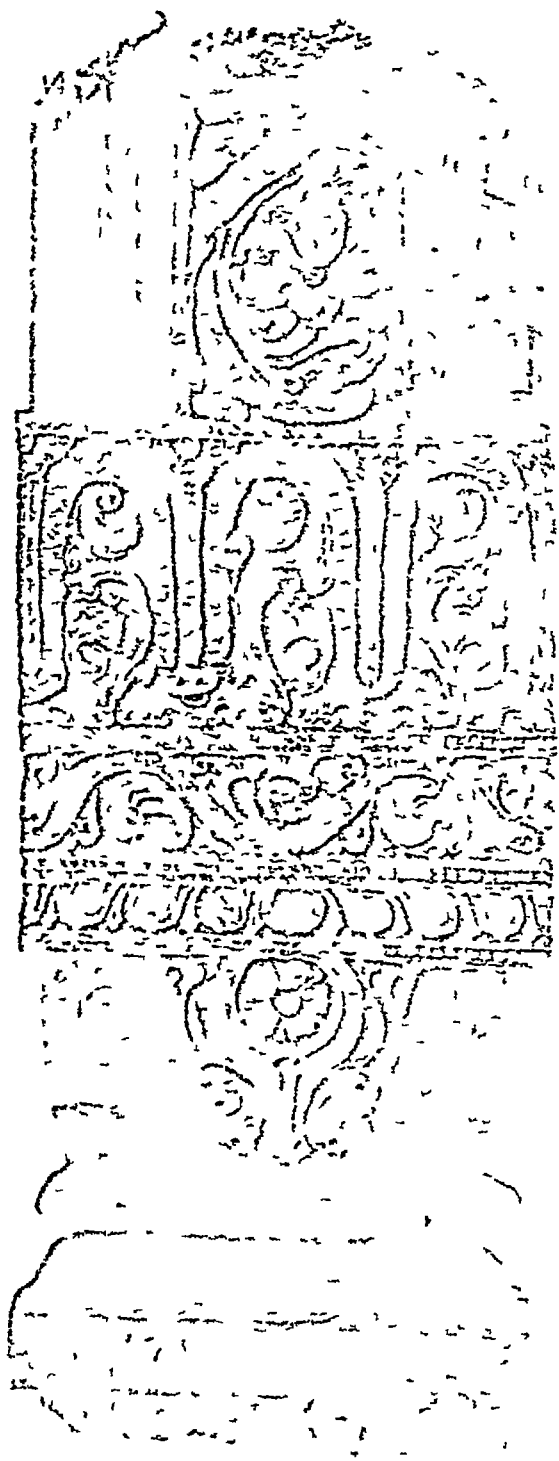
गोम्मटेश्वर

श्री अश्वघोष

स्थान और परिचय—

मैसूर राज्य मे श्रवणवेलगोला नामक स्थान में जैन देवता गोम्मटेश्वर की विशाल प्रस्तर-मूर्ति ससार की एक प्रेक्षणीय वस्तु है। सत्तावन फुट ऊँची पत्थर की यह बेजोड मूर्ति इन्द्रगिरि पहाडी पर १०–१२ मील दूर से ही दिखायी देने लगती है। मूर्ति पहले तो एक स्तम्भ की तरह दीखती है। परन्तु जैसे-जैसे पास आते हैं इसका आकार स्पष्टतर होता जाता है। अन्त में जब इसके निकटतम आकर पैरो के पास खडे होते है और आँखें ऊँची कर मस्तक की ओर देखने का प्रयत्न करते है तब ऐसा कोई ही विरला होगा जो इसकी विशालता से प्रभावित न हो। जैनियो के लिये तो इस मूर्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण धार्मिक स्थान है ही और वे इसकी स्तुति करे तो विशेष आश्चर्य की बात नही, परन्तु अन्य धर्मावलम्बी या नास्तिको को भी इसकी विशालता के निकट अपनी हीनता का ज्ञान हुए बिना नही रह सकता। धार्मिक श्रद्धा से नही तो कम से कम शिल्पकला का एक अप्रतिम उदाहरण होने के नाते हर मनुष्य का मस्तक इसके आगे नत हो जाता है। एक शिला से बनायी हुई ससार की यह सबसे ऊँची मूर्ति है।

श्रवणवेलगोला प्राचीन काल से दक्षिण में जैन-धर्म के अध्ययन का मुख्य केन्द्र था। जैन-धर्म के प्रसिद्ध आचार्य यहाँ रहा करते थे और धर्मग्रथो में यहाँ के एक मुनि का साँची में जाकर बुद्धो को शास्त्रार्थ में हराने का वर्णन आता है। यह स्थान दो छोटी पहाडियो के बीच सुन्दर हरे-भरे प्रदेश के बीच बसा हुआ है। एक पहाड़ी जिसे चन्द्रगिरि कहते हैं, भूमि से १७५ फुट ऊँची है। इस पर पुराने जैनमठ इत्यादि के अवशेष हैं और यहाँ पुरातन कालीन पत्थर की बारीक खुदाई के सुन्दर उदाहरण अभी अच्छी अवस्था में देखे जा सकते हैं। दूसरी पहाडी जिसे इन्द्रगिरि या विंध्यगिरि कहते है और जिस पर यह विशाल मूर्ति स्थापित है लगभग ४७० फुट ऊँची है। श्रवणवेलगोला की ऊँचाई समुद्र के धरा-तल से ३००० फुट से अधिक होने के कारण हवामान समशीतोष्ण और स्वास्थ्यकर है। चारो ओर सुन्दर हरे वृक्ष और खेत और दूर-दूर दिखने वाले नीलवर्ण पहाड प्राकृतिक दृष्टि से इस भाग की मनोहरता बढाते हैं।

दोनो पहाडियो के बीच एक पुराना सरोवर है। श्रवणबेलगोला नाम की उत्पत्ति तीन शब्दो, श्रमण (जैन साधु) वेल (खेत) और गोला (तालाब) से हुई बतलाते हैं।

मैसूर से यह स्थान ६२ मील उत्तर है। सबसे पास का रेलवे स्टेशन यहाँ से २२ मील है। आने-जाने के लिए मैसूर, हासनशीर तथा दूसरे मुख्य स्थानो पर भी बसो का प्रबन्ध है।

इन्द्रगिरि के ऊपर जाने के लिए पहाड काट कर लगभग ५०० सीढियाँ बनाई गई है। गोम्मटेश्वर की मूर्ति पहाडी की चोटी पर स्थित है। इसकी विशालता का अन्दाजा नीचे दी गई कुछ अगो की लम्बाई, चौडाई से भलीभाँति हो सकेगा।

मूर्ति का आकार—

मूर्ति की कुल ऊँचाई	५७ फुट।
कान के नीचे तक की ऊँचाई	५० फुट।
पैरो की लम्बाई	९ फुट।
पैर के अगूठे की लम्बाई	२ फुट ९ इच।
जांघ की आधी गोलाई	१० फुट।
कमर की आधी चौडाई	१० फुट।
हाथ के नीचे की ऊगली की लम्बाई	५ फुट ३ इच।

कमर दूसरे अगो के अनुपात में छोटी दिखती है। पीछे से जाघो तक चट्टान का आधार है, उसके ऊपर कोई आधार नही है। मूर्ति मटमैले पत्थर को काटकर बनायी गई है। किसी प्रकार का रग या पालिश इस पर नही है। दोनो पैरो और हाथो को लपेटती हुई माधवी लता कधो तक ऊपर जाती है। मुदी हुई ध्यानावस्थित आँखें है। ओठो पर मन्द मुसकान है। जैन-धर्म के सहिष्णुता, त्याग और इन्द्रियविजय के सिद्धान्तो का समन्वय कलाकार ने इस मूर्ति की मुद्रा में सफलता से किया है।

इतनी बडी मूर्ति इस पहाडो पर कही दूसरी जगह से बनाकर लाना असभव सा है। इसलिए यह अनुमान उचित है कि पहाडी की चोटी पर पडी हुई किसी विशाल शिला को काटकर यह वहीं बनायी गई है। जैन शिलालेखो, धर्मग्रथो और दूसरी प्राचीन पुस्तको के आधार से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मूर्ति की स्थापना लगभग सन् ९८३ में हुई होगी।

चैतन्य-गोम्मटेश्वर का परिचय—

गोम्मटेश्वर कौन थे? जैन-ग्रथो और शिलालेखो के अनुसार यह प्रथम तीर्थकर पुरुदेव के पुत्र थे और इनका नाम बाहुबली या भुजबली था। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम भरत था। दोनो भाइयो के मध्य साम्राज्य के लिए हुए सग्राम में बाहुबली विजयी हुए परन्तु उन्होंने हारे हुए भाई को साम्राज्य दे दिया और स्वय जगल में तपस्या के लिए चल दिये। उन्होने कर्म पर विजय पायी और गोम्मटेश्वर नाम से उनकी ख्याति हुई। ज्येष्ठ भ्राता भरत ने उनके स्मरणार्थ पौंदनपुर में एक

मूर्ति की स्थापना की । धीरे-धीरे इस स्थान में सर्प इत्यादि विषैले जगली जीव फैल गये और मूर्ति के दर्शन होना वन्द हो गया ।' ईसा की दशवी शताब्दी के उत्तरार्ध में गगवशीय राजा के मत्री चामुडराय ने इसकी ख्याति सुनी और मूर्ति के दर्शन के लिए वे चल दिये । यात्रा के कष्ट इनकी सामर्थ्य के वाहर होने के कारण उन्होने पौंडनपुर पहुँचने का इरादा छोड दिया और स्वय ही एक अद्वितीय मूर्ति वनवाने का निश्चय किया । चन्द्रगिरि से उन्होने इन्द्रगिरि पर एक वाण छोडा जो एक विशाल शिला पर जाकर लगा । इसी शिला को कटवाकर उन्होने भिक्षु अरिष्टनेमि के निरीक्षण में गोम्मटेश्वर की मूर्ति वनवायी ।

मूर्त्ति का महत्त्व—

एक हजार वर्ष पुरानी होने पर भी देखने में यह मूर्ति ऐसी मालूम होती है जैसे शिल्पी की छेनी से अभी-अभी निकली हो । खुले स्थान में होने के कारण वर्षा, धूप, सर्दी, गर्मी को सहन करने पर भी इतनी अच्छी अवस्था में यह मूर्ति रह सकी आश्चर्य की वात है । दाहिने गाल के नीचे अभी कुछ वर्ष हुए पुरातत्त्व-विभाग वालो को काली-सी छोटी रेखा दिखी है परन्तु उनका कहना है कि यह कोई अधिक चिंता की वात नही है और यह मूर्ति कम-से-कम एक हजार वर्ष तक और वहुत अच्छी हालत में रहेगी ।

मन्दिर में और भी कई पुरातन प्रेक्षणीय वस्तुएँ हैं । काले कठोर पत्थरो में खोदी हुई गोम्मटेश्वर के दोनो ओर रखी अलकारयुक्त यक्ष और यक्षी की ६ फुट ऊँची मूर्तियाँ, जैन तीर्थंकरो की मूर्तियाँ मन्दिर को छत पर किया हुआ खुदाई का काम इत्यादि वारीकी और परिश्रम के उत्कृष्ट उदाहरण हैं ।

मूर्ति के केवल पैरो की पूजा होती है । मस्तक की पूजा रोज करना असम्भव भी है । १२–१३ वर्ष के वाद एक वार मस्तक की पूजा होती है । इसके लिए महीनो पहिले से तैयारियाँ होती हैं । वल्लियो का एक वडा ढाचा मूर्ति के चारो ओर वनाया जाता है जिस पर चढकर मस्तक से अभिषेक होता है । यह दिवस जैन-जगत् में वडा ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

यह मूर्ति एक पत्थर से बनी विश्व की समस्त मूर्त्तियो से ऊँची है । मिस्र में भी जहाँ वहुत सी वडी और ऊँची मूर्त्तियाँ है एक पत्थर से वनी इतनी ऊँची मूर्ति कोई नही है । यह विश्व के आश्चर्य और चमत्कार की वस्तु है । प्रत्येक दर्शक इसके समक्ष पहुँच कर नतमस्तक हो जाता है । धन्य है उस शिल्पी को जिसने इस भव्य गौरवमूर्ति का सृजन किया और धन्य उस घडी को भी है, जिसमें यह निर्मित हुई ।

पारसनाथ किले के जैन-अवशेष

श्री कृष्णदत्त बाजपेयी, एम० ए०

स्थान और परिचय--

पारसनाथ किला विजनौर जिले के नगीना रेलवे-स्टेशन से लगभग बारह मील उत्तर-पूर्व की ओर है। नगीना के उत्तर बढापुर नामक नगर तक नौ मील मोटर-ताँगे योग्य सडक है। और वहाँ से तीन मील पूर्व कच्चे रास्ते से चल कर पारसनाथ पहुँचा जाता है। इस स्थान का नाम "पारसनाथ किला" कब और कैसे पडा, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। पारसनाथ नाम से हम इतना कह सकते हैं कि किसी समय यहाँ जैन तीर्थंकर भगवान् का कोई बडा मन्दिर रहा होगा। पार्श्वनाथ जी तेईसवे तीर्थंकर थे, जिनके नाम से सबधित उत्तर भारत में अनेक स्थान हैं। बिहार के हजारीबाग जिले में प्रसिद्ध सम्मेद शिखर को भी लोग "पारसनाथ पहाडी" के नाम से जानते हैं।

पारसनाथ किले के सम्बन्ध में एक जनश्रुति यह है कि "पारस" नामक किसी राजा ने यहाँ किला बनवाया था। यह भी प्रसिद्ध है कि यह स्थान श्रावस्ती के प्रख्यात राजा सुलहदेव के पूर्वजों का बहुत समय तक केन्द्र रहा। किले के जो भग्नावशेष यहाँ बिखरे पडे हैं, उनसे पता चलता है कि मध्य-काल में किसी शासक ने यहाँ अपना गढ बनाया था।

हाल में मुझे इस उपेक्षित स्थान को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। जगल के बीच स्थित होने के कारण किले का पूरा पर्यवेक्षण सभव नही हो सका, पर मैंने पुरानी इमारतो के अवशेष कई मील के विस्तार में बिखरे पाये। ईंटो के अलावे जगह-जगह पत्थर के कलापूर्ण खभे, सिर दल तथा तीर्थंकर मूर्तियाँ दिखाई दीं। कुछ शिला-पट्टो पर सगीत में सलग्न स्त्री-पुरुषो की मूर्तियाँ उकेरी हैं, अन्य पर कीर्तिमुख, लता-पुष्प आदि विविध अलकरण सुन्दरता के साथ दिखाये गये हैं। किले में अनेक जगह प्राचीन मदिरो आदि के स्थान स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। कुछ स्थानो पर इतने पेड और झाडियाँ हैं कि बिना उनकी सफाई हुए यह बता सकना कठिन है कि वहाँ कितने कलावशेष दबे पडे हैं।

थोडे दिन हुए, किले की जमीन को खेती के योग्य बनाने के लिए उसे कुछ शरणार्थियो को दे दिया गया। इन्होंने किले पर "काशी-वाला" नामक एक छोटी-सी बस्ती अब आबाद कर ली है। और पास का कुछ भूभाग साफ कर वहाँ खेती करने लगे हैं। इन्ही में सरदार रतन सिंह हैं। जिन्होने किले से एक अत्यन्त कलापूर्ण तीर्थंकर प्रतिमा प्राप्त की है। यह बलुए सफेद पत्थर की है और ऊँचाई

में दो फुट आठ इच तथा चौडाई में दो फुट है। तीर्थंकर कमलाकित चौकी पर ध्यान मुद्रा में आसीन है। उनके अगल-बगल नेमिनाथ जी तथा चद्रप्रभुजी की खडी हुई मूर्तियाँ हैं। तीनो प्रतिमाओ के प्रभा-मडल उत्फुल्ल कमलो से युक्त हैं। मूर्ति के घुंघराले बाल तथा ऊपर के छत्रत्रय भी दर्शनीय है। छत्रो के अगल-वगल सुसज्जित हाथी दिखाये गये हैं। जिनकी पीठ के पीछे कलापूर्ण स्तभ हैं। हाथियो के नीचे हाथो में माला लिये दो विद्याधर अकित है। प्रधान तथा छोटी तीर्थंकर प्रतिमाओ के पार्श्व में चौकी वाहक हैं।

मूर्त्तियों की विवेचना—

मूर्ति की चौकी भी काफी अलकृत है। बीच में चक्र हैं, जिसके दोनो ओर एक-एक सिंह दिखाया गया है। चक्र के ऊपर कीर्तिमुख का चित्रण है। चौकी के एक किनारे पर धन के देवता कुबेर दिखाये गये हैं और दूसरी ओर गोद में बच्चा लिये देवी अविका। चौकी के निचले पहलू पर एक पक्ति में ब्राह्मी लेख है जो इस प्रकार है।

(श्री विरद्धमान सामिदेव । सम् १०६७ गाप्ताम सुम्हम माथ प्रतिमा पुठपि।)

लेख की भाषा भ्रष्ट है। पहला अश 'श्री वर्द्धमान स्वामीदेव' होना चाहिए था। तीर्थंकर का नाम 'सुम्हभनाथ' लिखा है 'जो सभवनाथ के लिए ही प्रयुक्त प्रतीत होता है।

लेख का सवत् १०६७ सभवत विक्रम सवत् है यह मानने पर मूर्ति के प्रतिष्ठापन की तिथि १०१० ई० आती है। इस अभिलिखित मूर्ति तथा समकालीन अन्य मूर्तियो के प्राप्त होने से पता चलता है कि दसवी ग्यारहवी सदी में पारसनाथ किला जैन-धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो गया था। जान पडता है कि यहाँ एक वडा जैन विहार भी था। इस स्थान की खुदाई से विहार के अवशेष प्रकाश में आ जायेंगे। आशा है कि निकट भविष्य में पूरी जाँच की जा सकेगी। जिससे इस बात का पता चल सकेगा कि इस भूभाग पर जैन-धर्म किस रूप में विकसित होता रहा। साथ ही मध्यकालीन इतिहास की अन्य समस्याओं पर भी यहाँ की खुदाई से पर्याप्त प्रकाश पड सकेगा।
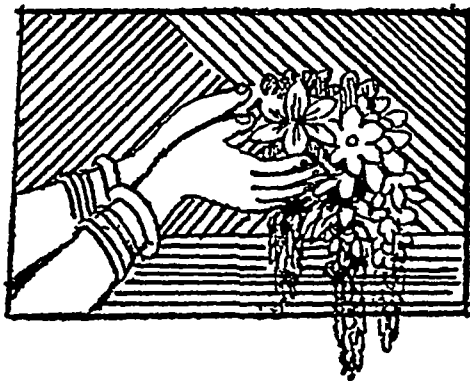
राजघाट से प्राप्त कतिपय जैन-मूर्तियाँ

डा० श्री मदनमोहन नागर एम० ए०, डी० लिट्०

प्राचीन मूर्त्तियों का स्थान और परिचय—

प्रस्तुत मूर्तियाँ काशीनगरी में गगातट पर स्थित राजघाट नामक प्राचीन स्थान से निकली हैं और इस समय प्रान्तीय सग्रहालय के पुरातत्त्व-विभाग में प्रदर्शित है। इनका समय गुप्तकाल अर्थात् पाँचवी-छठी शती है और ये ओजस्, मृदुलता तथा सजीवता से ओतप्रोत होने के कारण इस काल की कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ईस्ट इण्डियन रेलवे तथा पुरातत्त्व-विभाग के अधिकारियो द्वारा राजघाट के प्राचीन स्थान पर की गई खुदाई के फलस्वरूप यहाँ से बहुत-से मिट्टी के खिलौने, शीशे तथा अनेक प्रकार के पत्थर की गुरियाँ (bead), पौराणिक देवी-देवताओ की प्रस्तर-मूर्तियाँ आदि प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। किन्तु अभी तक उस स्थान से जैन-धर्म की मूर्तियो अथवा उससे सम्बन्धित अन्य अवशेषो के मिलने का पता नही चला था। प्रस्तुत मूर्तियो का महत्त्व इस अभाव के कारण और भी बढ जाता है, कारण उनके उक्त स्थान से प्राप्त होने से यह सिद्ध होता है कि वहाँ पर गुप्तयुग में निश्चय ही कुछ जैन-मतावलम्बी रहते थे जो मदिर आदि बनवा कर स्वतत्रतापूर्वक अपने धर्म का पालन करते थे। ये सभी मूर्तियाँ चुनार के पत्थर की बनी हैं और इनका विवरण निम्न प्रकार से है।

पार्श्वनाथ की मूर्त्ति—

न० १—भगवान् पार्श्वनाथ की खडी मूर्ति (रजिस्टर न० ४८ १८२, ऊँचाई १' ११" चौड़ाई १३॥" चित्र) पार्श्वनाथ खड्गासन या कायोत्सर्ग मुद्रा में सीधे खडे हैं। उनके मस्तक पर सात फण वाले सर्प की छाया है। यही सर्प उनका लाछन है। अगल-बगल ध्यान-मुद्रा में स्थित दो जिन दिखाये गये हैं। दाहिनी ओर यक्ष पार्श्वरत्न घट लिये तथा बायी ओर यक्षी पद्मावती बीजपूरा लिये स्थित हैं। ऊपर गगनचारी देव पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। सर्पफण के ऊपर एक त्रिछत्र रखा है जिस पर एक देव बैठा ढोलक बजा रहा है। मूर्ति की पीठिका पूर्ण विकसित कमल के फूलो तथा मुँहफेरे दो सिंहो से सुसज्जित है। चौकी के ऊपर बायो ओर यक्षी के समीप पूजन मुद्रा में एक स्त्री दर्शायी गई है। सभवत यह स्त्री इस मूर्ति की दात्री है अर्थात् इसी उपासिका की धर्मानुरक्ति से यह मूर्ति बनी थी।

पार्श्वनाथ जैनियो के २३ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। कथानको के अनुसार इनके पिता का नाम अश्वसेन तथा माता का नाम वामा था। इनका जन्म विशाखा नक्षत्र में काशी में हुआ था।

ये एक ऐतिहासिक महापुरुष प्रमाणित हो चुके हैं और इनका जन्मकाल महावीर स्वामी से २५० वर्ष पूर्व माना जाता है। मथुरा के ककाली टोले का बोद्धव स्तूप आरम्भ में इन्ही की उपासना के लिए निर्मित हुआ था। कथानको के अनुसार इन्होने पारसनाथ शिखर पर निर्वाण पद प्राप्त किया था।

पांच तीर्थंकरों की प्रतिमा—

न० २ शिलापट्ट (रजिस्टर न० ४८१८३ ऊँ० १' ११" चौ० १' चित्र) जिस पर यक्ष-यक्षियो से परिवेष्टित पाँच तीर्थ कर उत्कीर्ण हैं। दूसरी पक्ति के मध्य में जैन सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री आदिनाथ दिखाये गये हैं। बालो की लम्बी जटाएँ जो इनकी विशेषता है, इनके कधो पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड रही है। नीचे पद्मासन की कोर पर वृषभ जो इनका लाछन है दिखाया गया है। आदिनाथ—इन्हें ऋषभनाथ भी कहते हैं—जैनमत के सर्वप्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं। इनके पिता का नाम नाभि-राज तथा माता का नाम मारुदेवी था। इन्होने अयोध्या में जन्म लिया था और कैलाश पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था। कहा जाता है कि इनकी सेवा में ८४ गन्धर्व तत्पर रहा करते थे। आदिनाथ के दाहिनी ओर श्रेयासनाथ की मूर्ति बनी है। इनके पैरो के पास इनका लाछन गैंडा बना है। ये जैनधर्म के ११ वें तीर्थंकर माने जाते हैं और काशी के सिंहपुर नामक ग्राम में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम विष्णु और माता का नाम विष्णुद्री था। ६६ गन्धर्व इनकी सेवा में लगे रहा करते थे। इनके प्रधान यक्ष का नाम ईश्वर तथा प्रधान यक्षी का नाम मानवी है। जैन-कथानको के अनुसार इन्होने सम्मेदशिखर में निर्वाण प्राप्त किया था। आदिनाथ की मूर्ति की बायी ओर पार्श्वनाथ की मूर्ति ध्यान-मुद्रा में बनी हुई है। ऊपर सर्पफण बना हुआ है जो इनका चिह्न है तथा जिससे ये यहाँ पहचाने जा सके हैं।

मूर्ति की ऊपरी पक्ति में दाहिनी ओर भगवान् चन्द्रप्रभ ध्यान-मुद्रा में अकित हैं। नीचे पैर के पास इनका चिह्न अर्धचन्द्र उत्कीर्ण है जिससे हम इनके स्वरूप को पहचान सकते हैं। चन्द्रप्रभ जैन-धर्म के आठवें तीर्थंकर हैं। इनके पिता का नाम महासेन और माता का नाम लक्ष्मणा था। ये अनुराधा नक्षत्र में चन्द्रपुरी (चन्द्रावती बनारस के पास) नामक नगरी में उत्पन्न हुए थे। इनके प्रधान यक्ष का नाम विजय तथा प्रधान यक्षी का नाम ज्वाला है। मूर्ति मे बायी ओर जैनो के २२ वें तीर्थ कर श्री नेमिनाथ जी की मूर्ति बनी है। इनका लाछन शख उनके पैरो के पास पद्मासन पर बना हुआ है। कथानको के अनुसार नेमिनाथ के पिता का नाम समुद्रविजय तथा माता का नाम शिवदेवी था। इनका जन्मस्थान सौरिपुर (द्वारका) माना जाता है। इनके शासन यक्ष का नाम गोमेध तथा शासन यक्षी का नाम अम्बरदेवी है।

शिलापट्ट के निचले भाग पर जो पीठिका के सदृश है, कल्पवृक्ष के नीचे गोद में बालक लिये हुए जैनयक्ष और यक्षिणी उत्कीर्ण है। अगल-बगल जैन-समुदाय इनकी अभ्यर्चना कर रहा है। ऊपर गगनचारी देव पुष्पवृष्टि करते दिखाये गये है।

जैन मूर्तिकला में देवी-देवताओ का चित्रण अब तक आयागपट्टो, उकेरी मूर्तियो, उन्नत उकेरी मूर्तियो तथा सर्वतो भद्रिकाओ पर ही किया पाया गया है। कुछ शिलापट्ट और ऐसे प्राप्त हुए हैं किन्तु

उन पर चौबीसो तीर्थंकरो का चित्रण किया गया है। प्रस्तुत शिलापट्ट पर केवल पाँच ही तीर्थंकरो का चित्रण किया जाना बड़ा ही निराला प्रतीत होता है। इसका ठीक-ठीक अर्थ तो लगाना वडा ही कठिन है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार ने आदिनाथ भगवान को, जो जैन-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक थे, केन्द्र मानकर उन चारो तीर्थंकरो—सुपार्श्वनाथ, श्रेयासनाथ, पार्श्वनाथ तथा चन्द्रप्रभ—को दिखाने का प्रयत्न किया है जिनका जन्मस्थान काशी माना गया है। किन्तु इस मत के विपक्ष में है भगवान नेमिनाथ की मूर्ति जिनका जन्मस्थान काशी न होकर द्वारका पुरी था। मेरे विचार से कलाकार ने पार्श्व-नाथ तथा सुपार्श्वनाथ की मूर्ति का चित्रण समान होने के कारण दोनो को न बना कर एक के स्थान पर उनके निकटतम पूर्ववर्ती तीर्थंकर नेमिनाथ को चित्रित करना उचित समझा। इसके अतिरिक्त मूर्ति का उद्भव स्थान काशी होना भी इस बात के पक्ष में है कि प्रस्तुत शिलापट्ट में काशी से ही सबधित समस्त तीर्थंकरो का एक स्थान पर समष्टि रूप से चित्रण किया गया है।

अज्ञातनाम तीर्थंकरों की मूर्ति—

३ उकेरा हुआ पत्थर (रजिस्टर न० ४८१८४, ल० २' ४" चौडाई–१०" चित्र) जिस पर कायोत्सर्ग मुद्रा में एक तीर्थंकर स्थित है। खेद है कि मूर्ति का निचला भाग काफी घिस गया है जिसके कारण चरणचौकी पर बना हुआ उक्त तीर्थंकर का लाछन आदि जाता रहा। अत यह कहना कठिन है कि मूर्ति में किस तीर्थंकर का स्वरूप चित्रित किया गया है। किन्तु मूर्ति का ऊपरी भाग अब भी पूर्ण रूप से सुरक्षित है जिसके कारण इसकी सुन्दरता तथा कला का हमे पूर्ण रूप से परिचय प्राप्त होता है।

स्तम्भ में अजितनाथ—

४ स्तम्भ (रजिस्टर न० ४६५४ लम्बाई ३' १" चौडाई १०" चित्र) जिस पर खड्ग मुद्रा में स्थित श्री अजितनाथ की मूर्ति उकेरी हुई है। नीचे पीठिका पर दो हाथी उत्कीर्ण है जो अपनी सूँड में पूर्ण विकसित दोहरा सनाल कमल पकडे है। इसी पद्म के आसन पर भगवान् खडे दर्शाये गये है। भगवान् अजितनाथ जैनधर्म के दूसरे तीर्थंकर माने गये है। इनका जन्मस्थान अयोध्या है। इनके पिता का नाम जितशत्रु तथा माता का नाम विजयादेवी था। कथानको के अनुसार ९० यक्ष-यक्षिणी इनकी सेवा में रहते थे। इनमें प्रधान महायक्ष तथा अजितबला यक्षी है। कहा जाता है कि इन्होने ७२ लाख पूर्व तक तपस्या करके सम्मेद शिखर (पारसनाथ) पर निर्वाणपद प्राप्त किया था।
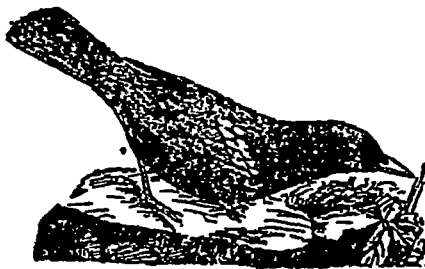
राजघाट से प्राप्त जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ
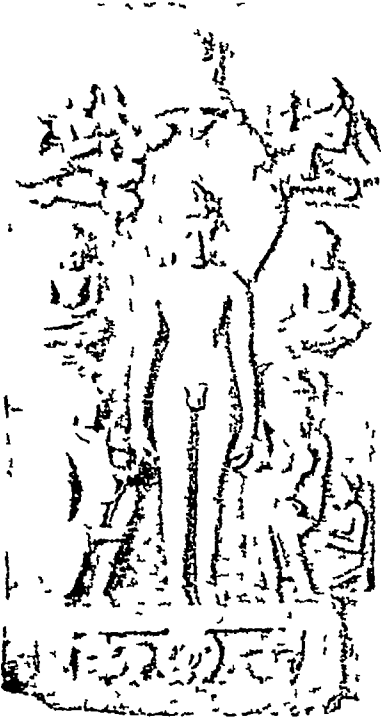
चित्र न १
भगवान पार्श्वनाथ [पृ० ३९०

चित्र न २
शिलापट्ट पर पाँच तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ
[पृ० ३९१
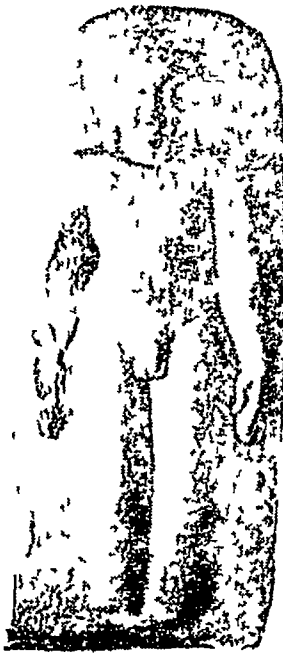
चित्र न ३
अज्ञात जैन तीर्थंकर प्रतिमा
[पृ० ३९२

चित्र न ४
स्तम्भ में भगवान अजितनाथ
[पृ० ३९०

कन्नड़-साहित्य में जैन चित्र-कला और शिल्प

श्री एस० शास्त्री

कन्नड़-साहित्य में कला—

कला को किसी भी भाषा या साहित्य की स्वीकृत दीवारें अपनी परिमिति के भीतर बाँध नही सकती । प्रत्येक साहित्य और भाषा में कला का विकास हुआ है और कला सम्बन्धी अपनी मौलिक सभावनाओ की भरमार है । कला की साँसो में गूँजने वाला सगीत विश्व-साहित्य के विगलित प्राणो को छेडता है और ससार की सभी साहित्यिक अन्तर्धाराओ का कला से तादात्म्य होता रहता है। सक्षेप में कला साहित्य का प्राण है जो प्राण जीवन के भौतिक आधार से लेकर आध्यात्मिक उत्कर्ष तक मानव को समान आनन्द से स्पन्दित कर देता है ।

कन्नड साहित्य में भी कला की अगो सहित अपनी मान्यता है । उस साहित्य की छाया में कला के सभी अगो का विकास एक प्रकार की साधना और धैर्य की सम्मिलित शक्ति के प्रसार से हुआ है । कला की अभिव्यजना की सीमा के भीतर कन्नड साहित्य पूर्णत समृद्ध है । कला की समस्त शैलियो का शारदीय मूल्याकन कन्नड साहित्य के उदार हृदय की जलती-वलती आकाक्षा है । जैन-कला की गभीर चेतना की छाप भी कन्नड साहित्य पर जीते-जागते रूप में पडी है । जैन-कला की गत्यात्मक विकास धारा के स्पर्श से कन्नड साहित्य ने अपने चिन्तन और साधना की गति दिशा को एक रूप दिया है । जैन चित्रकला और शिल्प की विभिन्न पाठशालाओ का प्रौढ अध्ययन कन्नड साहित्य के मनीषियो ने किया है । इस अध्ययन की गभीरता ने जैन चित्रकला और शिल्प के उद्घाटित तत्त्वो को युग की आँखो के समक्ष लाकर जैन कला को कला के मानदण्ड पर ऊँचा स्थान दिया है । चित्रकला की पारिभाषिक शब्दावलियो एव भाव-व्यजनाओ को अपनी साहित्यिक वल्लरियो से सजाकर जैन कला में अद्‌भुत कला की अलौकिक धारा का दर्शन कराया गया है । कन्नड साहित्य के इस महान कार्य से आज जैन चित्रकला और शिल्प उपकृत है ।

होयसल-काल में विकास—

होयसलकाल में जैन धर्म की विशेष उन्नति हुई । होयसल वश के राजाओ ने कला के नवीन मापदण्डो को प्रोत्साहित किया और कला के इतिहास में इसका नामकरण होयसल काल से विख्यात हो गया ।

ईसवी सन् ६ वी शताब्दी से १४ वी शताब्दी तक के समृद्ध काल क्षेप में कर्नाटक प्रदेश की जीवत भूमिपर क्या २ सामाजिक एव सास्कृतिक समुत्थान के आदर्श कार्यों की प्रतिष्ठा हुई इसका पूर्ण विवेचन कन्नड जैन साहित्य में प्राप्य है। उससे होयसल काल की शिल्प सम्बन्धी महान् कृतियो पर भी उचित प्रकाश की आरोपणा होती है। कन्नड लेखको के सुलझे मस्तिष्क द्वारा रचित काव्यो में उल्लेखित्र वर्णन पृष्ठो से यह स्पष्ट प्रकट है कि वे शिल्प कला और चित्र कला की प्रचलित शैलियो, रीति-नीतियो के अन्यतम पारखी थे और इसके विकास सूत्र को उन्होने पकडा। उनसे शिल्प शास्त्र-सम्बन्धी कतिपय ग्रंथो के रचना काल पर भी प्रकाश पडता है। छठी अथवा ७ वी शताब्दी की रचना मानसार से प्रारभ करके १८ वी शताब्दी की शिव तत्त्व रत्नाकर नामक रचना की लम्बी अन्तराय की खाई के बीच कला सम्बन्धी अनूठे ग्रथो की रचना की शृखला कर्नाटक देश में जुडती गयी। पर कही से भी ऐसी प्रतीति नही होती कि होयसल और चाल्युक्य राज्यकालीन शिल्पियो ने किन शास्त्रो का अनुकरण कर कला को प्राणवन्त रखा। इस प्रश्न का सहज उत्तर पाने के लिए तत्कालीन कन्नड जैन काव्यो का विशेष अध्ययन-क्रम अपेक्षित है।

अग्गल के उद्धरण——

१२ वी शताब्दी में कर्नाटक प्रान्त में अग्गल नामक एक जैन महाकवि हुए थे। इन्होने इग्लेश्वर के चन्द्रगुप्त को लक्ष्य कर चन्द्रप्रभु पुराण रचा था। इस ग्रथ का रचनाकाल चन्द्रप्रभु पुराण सवत् ११११ सोम्य को चैत्र सुदी एकादशी वृहस्पतिवार अर्थात् ३० मार्च सन् ११८६ है। इनके गुरु का नाम श्रीवेदय, माता का नाम वाचामविके एव पिता का नाम सन्तोष था। होयसल वश के शिलालेखो में विश्वकर्मा और नाडव्य का उल्लेख शिल्पाचारियो के रूप में हुआ है। कवि अग्गल ने अपने ग्रथ के अध्याय १ श्लोक १४४ में तत्कालीन शिल्पकार और विश्वकर्माओका उल्लेख करते हुए सफेद पके हुए चावलो से की जाने वाली सफेदी तथा चीन पट्ट पर अकित किये जाने-वाले विभिन्न प्रकार के चित्रो का उल्लेख किया है। १५ वें अध्यायो में तो विशेष रूप से चित्र कला की जातियो एव चित्राभासो का स्पष्टतया उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में तीन प्रकार की चित्र-विधियाँ बतायी गई हैं। श्रुतविधि, आत्मविधि और पटविधि। इसी अध्याय में कवि अग्गल ने ऋजु, ऋजुपरावर्ति, अर्थऋजु, अर्थऋजुपरावर्ति, साच्च, साच्चपरावर्ति, द्वयाघ्यक्षपरावर्ति और पारूपरावर्ति आदि अनेक तरह के चित्रो का उल्लेख किया है।

रसचित्र और धूलिचित्र का विस्तृत वर्णन करते हुए कवि अग्गल ने पुल्लक, पत्रक, बिन्दुक, धूम-वर्ति, उद्वर्ति, चित्रार्वात आदि भेद-प्रभेद किये हैं। रंगीन चित्रो के उदक, अर्थउदक और वर्णान्तक भेदो की नियोजना की है। अपने समय के कलाकारो की कला का सम्यक् विवेचन करते हुए कलिका, कटक, बाल शिखर, त्रिभग आदि चित्र भेदो द्वारा चित्रकला की मीमासा की है। कवि ने बताया है कि चित्रण में ग्रन्थिगर्भ, चलतालवट, पुदिउर, पोदरू, उत्तपालिकवि, वरलु पूर्वशाखा, पश्चिमशाखा, श्रम, अनुश्रम, गजकर्णिका, वहिकर्णिका विधियो का उपयोग किया जाना चाहिये। कवि सर्वतोभद्र नामक विधि को चित्रकला के लिए अधिक उपयोगी मानता है। भीति-चित्रो में सफेद

पुती हुई दीवालो पर गहरे रग से सतुलित रेखाओ द्वारा अकित करना चाहिये । यदि विशेष प्रकार के पलास्तर द्वारा दीवालो को चिकना कर लिया जाय तो कला की दृष्टि से भीति-चित्र मनोरम हो सकते हैं । धूलि-चित्रो में विशेष प्रकार के चावल एव आटे में रग मिश्रित कर धार्मिक स्वस्तिक आदि प्रतीको के रूप में चित्रो का निर्माण किया जाता है । ये धूलिचित्र धर्मोत्सवो के अवसरो पर तथा अन्य मागलिक अवसरो पर प्रयुक्त किये जाते हैं ।

तुलना—

कवि अग्गल के द्वारा प्रतिपादित चित्र कला की तुलना हम राज मानस उल्लास, नारद शिल्पशास्त्र एव ब्रह्मसूत्र से कर सकते हैं । पाशुसूत्र में चित्रकला की जिन आकृतियो की विवेचना की गई है प्राय वे सभी आकृतियाँ अग्गल की कला में अकित हैं । कवि अग्गल ने एक विशेष कार्य यह भी किया है कि उसने चित्र की ऊँचाई, लम्वाई, चौडाई आदि का प्रमाण भी स्पष्ट रूप से वतलाया है । उसने नाट्य शालाओ में होने वाले अभिनय के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्र एव उपयोग मे आनेवाले चित्रादि का उल्लेख किया है । यद्यपि मानसार में धूलिचित्र और रसचित्रो की जो विधियाँ निरूपित की गई हैं प्राय वे ही विधियाँ कवि अग्गल की कृति में भी हैं । कवि अग्गल ने चित्रो में रग भरने के सम्वन्ध में वताया है कि प्रत्येक आकृति में कलिक, कटक, वालशेखर, त्रिभग और भफरिक का रहना आवश्यक है । सभवत कवि ने इन कन्नड शव्दो द्वारा रगो के सम्वन्ध में अपना अभिमत प्रकट किया है । निस्सन्देह होयसल कालिक कवि अग्गल की चित्रकला सम्वन्वी जानकारी अद्भुत थी तथा उसने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन सभी कलाकृतियो का मन्थन किया था ।

वास्तु-कला—

कवि अग्गल मात्र चित्रकला के ज्ञाता नही थे अपितु इनका वास्तु-कला पर भी अपरिमित अधिकार था । प्रासाद व्याख्या करते हुए कवि ने लिखा है कि प्रासाद का सवसे वडा गुण उसका मनमोहक और शान्तिप्रद होना है । आराम और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी प्रासाद में ऊँचाई और लम्वाई, चौड़ाई के अनुसार खिडकियो तथा दरवाजो का रहना आवश्यक है । इन्होने महाप्रासाद, वैराज्य, पुष्पक, कैलाश, माणिक और त्रिविष्टप आदि प्रासादो के भेद किये हैं । वैराज्य प्रासाद चतुरस्र, पुष्पक त्रिस्र, कैलाश प्रासाद वृत्ताकार, माणिक प्रासाद वृत्त आयताकार और त्रिविष्टप प्रासाद अष्टास्र होता था । इन्होने ५७ प्रकार के राज-महलो का उल्लेख किया है । अन्य प्रकार से उन्होने पाँच तरह के प्रासाद वताये हैं—स्वास्थ्यक, वर्द्धमान, नन्द्यावर्त, सर्वतोभद्र और वलिभचन्द्र । इन्होने तीस प्रकार के चैत्यालयो अर्थात् मन्दिरो के भेद वताये हैं । मानस्तम्भ के सम्वन्ध में कवि लिखता है कि यह केवल गर्भगृह के सम्मुख ही नही होता वल्कि इसे मानदण्ड के रूप में रहना चाहिये । मानस्तम्भ, चतुरस्र एव ऊँचाई का दशाश भूमि के भीतर अर्थात् नीव में रहता है। मानस्तम्भ की मूर्त्तियाँ खड्गासन और पद्मासन दोनो ही प्रकार की हो सकती हैं । मूर्त्तियाँ श्वेत

या श्याम वर्ण के निर्दोष पाषाण की प्रतिपादित प्रमाणानुसार होनी चाहिये । मूर्त्तियाँ देखने में सुन्दर और भव्य होने के साथ शास्त्रीय दृष्टि से पूर्ण तया शुद्ध होनी चाहिये । कवि ने मूर्ति-कला के सम्बन्ध में भी कतिपय सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है ।

नगरो के निर्माण के सम्बन्ध में भी कवि ने पूर्ण ज्ञातव्य बातें प्रस्तुत की हैं । कवि कहता है कि नगर, ग्राम, कर्वट, मडम्ब खर्वट, द्रौण, पत्तन आदि का निर्माण विशेष २ विधियो के अनुसार होना चाहिये । आवास स्थानो की दूरी इतनी होनी चाहिये जिससे पर्याप्त वायु और स्वास्थ्य-वर्द्धक सूर्य की किरणो का प्रकाश प्राप्त हो सके । पत्तन और द्रौण में आवासो का श्रेणीवद्ध रहना अत्यावश्यक है ।

कवि अग्गल के पश्चात् जैन साहित्यकारो की अन्य रचनाओ में भी कला के उल्लेख मिलते हैं । वस्तुत जैनो द्वारा विरचित कन्नड साहित्य जहाँ साहित्य, व्याकरण और आचार की दृष्टि से अपना महत्त्व रखता है वहाँ कला की दृष्टि से भी समृद्धिशाली और महत्त्वपूर्ण है ।

मथुरा से प्राप्त जैन पुरातत्त्व

खड्गासन जिन मूर्ति
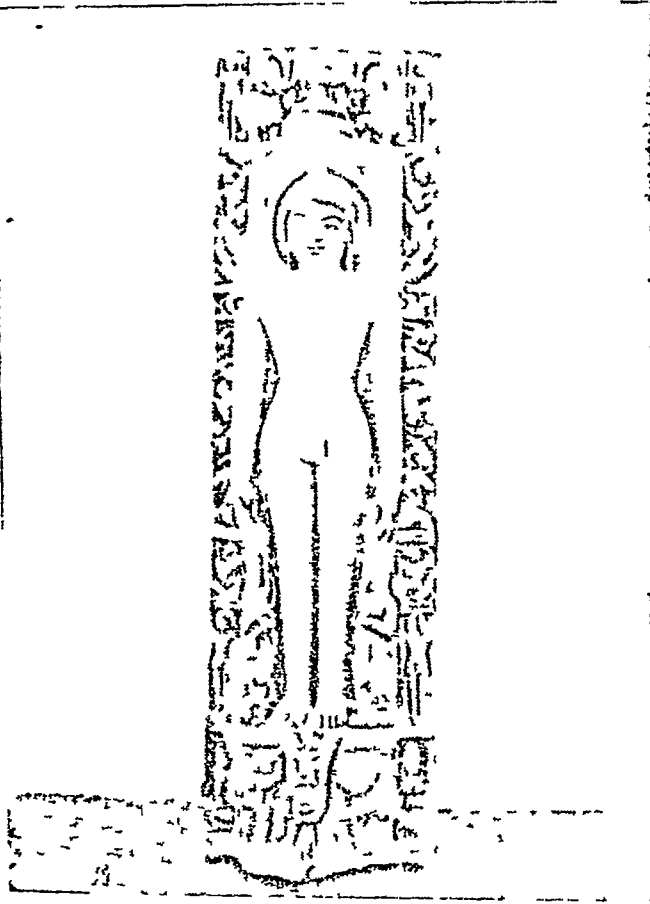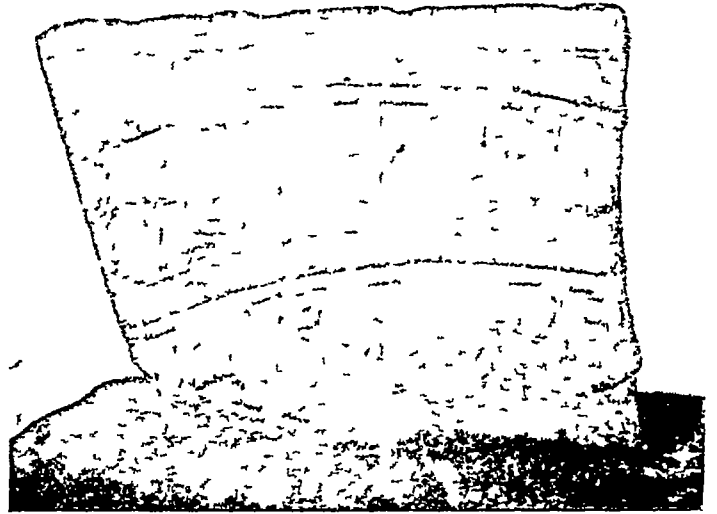
स्तूप की वनवासीजन पूजा करते हुए
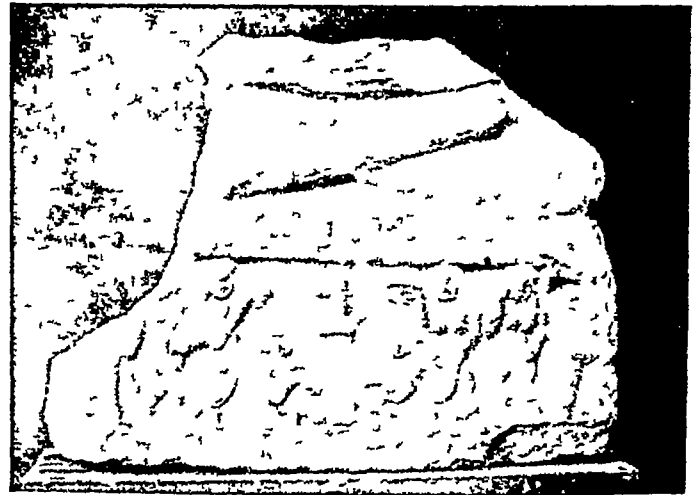
वर्द्धमान भगवान् के खुदे हुए चित्र का निचला भाग

अम्बिका देवी
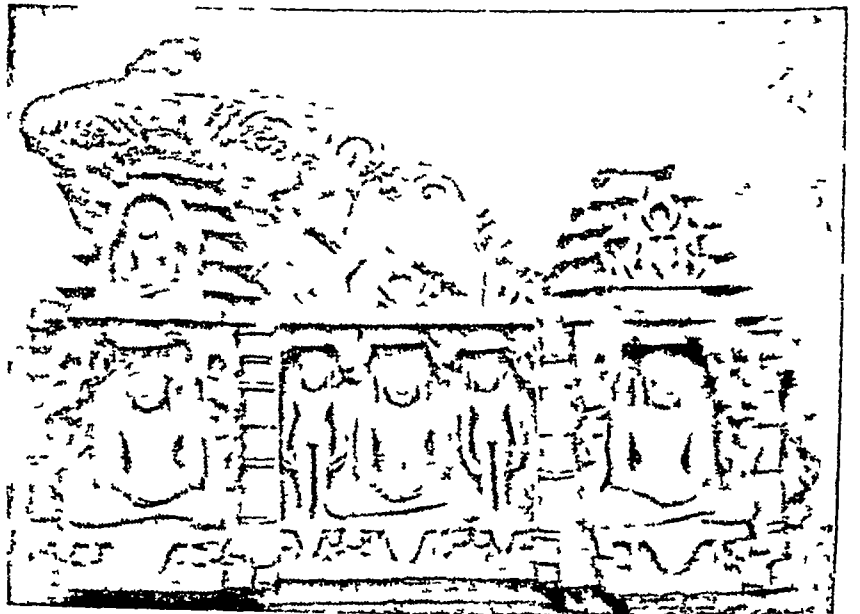
मथुरा स्तूप तोरण द्वार

मथुरापुरी कल्प

डा० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी०लिट्,

(आचार्य जिनप्रभ सूरि ने जैन तीर्थ-स्थानो के सम्बन्ध में "विविध तीर्थ-कल्प' नामक एक अति उपयोगी ग्रथ की रचना की थी। ये आचार्य मुहम्मद तुगलक (१३२५—१३५१) के समकालीन थे। 'विविध तीर्थ-कल्प' की रचना उसके वर्णन के अनुसार ई० १३२६ और १३३१ के बीच मे किसी समय[1] हुई होगी। जिनप्रभ सूरि ने स्वय मथुरा के स्तूपो का उद्धार कराया था। स० १३९३ (ई० १३३६) में रचित 'नाभिनन्दनोद्धार प्रवन्ध'[2] ग्रथ में लिखा है कि शत्रुञ्जयोद्धारक समर सिंह ने शाही परमान लेकर सघ और श्री जिनप्रभ सूरि जी के साथ मथुरा और हस्तिनापुर की यात्रा की थी[3]। जिनप्रभ सूरि ने अपने ग्रथ के मथुरा कल्प नामक भाग में मथुरा के जैन स्तूप की जो अनुश्रुति दी है वह इस प्रकार है—)

सातवें (सुपार्श्वनाथ) और तेइसवें (पार्श्वनाथ) जिनेश्वरो को जो जगत की शरण हैं, नमस्कार करके सज्जनो का मगल करने वाले 'मथुरा कल्प'[4] को कहता हूँ ।।१।।

जिस समय सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर थे उस समय धर्मरुचि और धर्मघोष नाम के दो आसक्तिरहित मुनिश्रेष्ठ हुए।

---

(१) नन्दानेकपशक्ति शीतगुमिते श्री विक्रमोर्वीपते-
वर्षे भाद्रपदस्य मास्यवरजे सौम्ये दशम्यां तिथौ।
श्री हम्मीर महम्मदे प्रतपति क्ष्मामंडलाखडले
ग्रंथोऽयं परिपूर्णतां समभजच्छ्रीयोगिनीपत्तने ।।

अर्थात् विक्रम संवत् १३८९ में भाद्रपद शुक्ल दशमी बुधवार के दिन यह ग्रथ योगिनीपुर नगर (देहली) में समाप्त हुआ। उस समय श्री हम्मीर महम्मद (मुहम्मद तुगलक) पृथ्वी पर राज्य कर रहे थे।

(२) यह ग्रंथ गुजराती अनुवाद सहित अहमदाबाद से छप चुका है।

(३) श्री अगरचद नाहटा कृत 'शासन प्रभावक श्री जिनप्रभ सूरि का संक्षिप्त जीवन चरित्र' पृ० ४, ११

(४) मूल ग्रथ प्राकृत भाषा में है।

वे मुनि छठे, आठवें, दसवें, बारहवें, या पखवारे तक का उपवास (भोजन का) रखते हुए एक महीने, दो महीने या तीन महीने, चार महीने तक का तपश्चरण करते और सज्जनो को प्रतिबोध करते थे। किसी समय उन्होने मथुरापुरी में विहार किया।

उस समय मथुरा बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी थी। पास मे बहती हुई यमुना जी अपने जल से उसे पखार रही थी। ऐसी सुन्दर प्राचीर से वह अलकृत थी, श्वेत पुते हुए घर, मन्दिर, बावडी, कुएँ, पुष्करिणी, जिनालय और बाजार उसकी शोभा बढा रहे थे और उसमें अनेक वेदपाठी चातुर्विद्य ब्राह्मण (प्रा० चाउविज्जविद्य) थे।

वहाँ के मुनिवर अनेक वृक्ष पुष्प फल लताओ से भरे हुए 'भूतरमण' नाम के बगीचे में आज्ञा लेकर ठहरे और उपवास के द्वारा उन्होने चातुर्मास्य बिताया। उस उपवन की स्वामिनी कुबेरा नाम की देवी उनके स्वाध्याय, तप और प्रशमादि गुणो को देखकर प्रसन्न हुई। रात मे प्रकट होकर उसने कहा—'भगवन्, आपके गुणो से मै बहुत प्रसन्न हूँ। आप कुछ वर मागिए।' उन्होने कहा—'हम लोग निस्सग है, कुछ नही चाहते।' यह कहकर उन्होने उसे धर्म का श्रवण कराकर श्राविका बना लिया।

अब कार्तिक शुक्ल अष्टमी की रात आने पर उन मुनिवरो ने कुबेरा से विदा मांगते हुए कहा—'हे श्राविके, (धर्म में) दृढ आस्था रखना और जिनो के वन्दन और पूजन में प्रवृत्त रहना। इस समय चौमासा बिताकर पारणा के लिए अब हम अन्यत्र जायगे। उसने दुखी होकर जवाब दिया—'भगवन्, यही इस उपवन में आप सब काल के लिए क्यो नही ठहर जाते?' साधुओ ने उत्तर दिया—

'साधु, पक्षी, भौंरे और गायो की बस्ती का शरद काल के मेघो की तरह कुछ ठिकाना नही।'

इस पर कुबेरा ने निवेदन किया—'यदि आपका ऐसा ही विचार है तो मुझे भी धर्मकार्य बताइए जिसे मै पूरा करूँ। देवो का दर्शन मोह का नाश करता है।' साधुओ ने कहा—'यदि तुम्हारा बहुत आग्रह है तो सब सघ के साथ हमें मेरु पर्वत पर ले चलो जिससे चैत्यो की वन्दना करे।' उसने कहा—'तुम दो जनो को मै वहाँ ले जाकर वदना करा सकती हूँ, किन्तु मथुरा सघ के ले चलने पर सम्भव है मिथ्यादृष्टि देव मार्ग में विघ्न करें।' साधुओ ने कहा—हमने तो आगमो की सामर्थ्य से ही मेरु का दर्शन कर लिया है। यदि सब को ले चलने की तुममें शक्ति नही है, तो हम ही दो जाकर क्या करेंगे?' इस पर देवी ने लज्जित होकर कहा—'यदि ऐसा है, तो मैं यही मेरु के आकार की प्रतिमाओ से अलकृत (मन्दिर) बना दूगी। उसमें सघ के साथ तुम लोग देव वन्दन करना।'

साधुओ के सम्मति देने पर देवी ने रात-रात में एक स्तूप बना कर खडा कर दिया। वह सोने का बना हुआ, रत्नो से जटित, अनेक देवो से घिरा हुआ (पारिवारिओ), तोरण, ध्वजा, मालाओ से अलकृत था। उसकी चोटी पर तीन छत्र लगे थे और वह तीन मेखलाओ (वेदिकाओ) से

मडित था । प्रत्येक मेखला में चारो ओर पाच प्रकार के रत्नो से बनी हुई मूर्त्तियाँ लगी थी । उसमें मूल प्रतिमा श्री सुपार्श्व स्वामी की प्रतिष्ठापित की गई ।

प्रात काल जब लोग उठे तो स्तूप को देखकर आपस में झगडने लगे । किसी ने कहा—'ये वासुकि सर्प के लाञ्छन वाले भगवान स्वयम्भू हैं ।' दूसरो ने कहा—'ये शेष की शय्या पर स्थित नारायण हैं ।' इसी तरह ब्रह्मा, धरणेन्द्र, सूर्य, चन्द्र को लेकर मतभेद होता रहा । बौद्धो ने कहा—'यह स्तूप नही किन्तु बुद्धाण्ड है ।' तब निष्पक्ष लोगो ने कहा—'कलह मत करो ।' यह स्तूप देव निर्मित (देवता से बनाया हुआ) है । वही देवता इसके विषय में सन्देह का निवारण करेंगे । अपने-अपने देवता की मूर्ति को चित्रपट पर लिखकर अपनी गोष्ठी के साथ ठहरो । जिसका देवता होगा उसीका पट रह जायगा । दूसरे पटो को स्वय देवता ही नष्ट कर देंगे । जैन सघ ने सुपार्श्व स्वामी का पट चित्रित किया । तब सबने अपने अपने देवता को चित्रपट पर चित्रित किया और अपने सघ के साथ उसका पूजन करके सब दर्शनिये लोग नवमी की रात भर गाते-बजाते रहे । आधी रात बीतने पर उद्दण्ड वायु तिनके ककड पत्थर फेंकती हुई चलने लगी । उसने सब पटो को तोड़ बहाया । प्रलय की तरह के उसके शोर से मनुष्य इधर-उधर भाग गए ।

अकेला सुपार्श्व का पट बचा रहा । लोग विस्मित हुए (और उन्होंने कहा)—'ये अर्हत देव हैं ।' तब उस पट को सारे नगर में घुमाया गया । उसीसे पट-यात्रा शुरू हुई ।

तब स्नान प्रारम्भ हुआ । कौन पहले अभिषेक कराए, इसके लिए श्रावको में झगडा होने पर बडे आदमियो ने कहा—'सबका नाम लिखकर गोलियो में बन्द करो, उनमें से जिसके नाम की गोली सबसे पहले कुमारी कन्या उठा लेगी, वही पहले अभिषेक कराएगा, चाहे वह दरिद्र हो या धनी हो ।' यह बात दशमी की रात को तय हुई ।

तब एकादशी के दिन दूध, दही, घी, कुकुम चन्दन आदि से भरे हुए सहस्रो कलश हाथ में लेकर लोगो ने अभिषेक कराया । देवो ने भी छिपे-छिपे उस अभिषेक में भाग लिया । आज भी उसी प्रकार देवता लोग यात्रा में पधारते हैं । जब क्रम से सब स्नान करा चुके तब उन्होंने पुष्प, धूप, वस्त्र, महाध्वजा, आभरण आदि चढाए । साधुओ को भी घी, गुड आदिक दिया गया ।

द्वादशी की रात को माला चढाई गई । इस प्रकार वे मुनीश्वर देव वदित सकल सघ को आनन्द पहुँचाकर, चौमासा बिताने के बाद दूसरी जगह पारण क्रिया करके अपने तीर्थ को प्रकाशमान बनाकर कर्ममल के क्षय से सिद्धि को प्राप्त हुए । उससे वह स्थान (मथुरा) सिद्धक्षेत्र बन गया । तब मुनियो के वियोग से खिन्न देवी भी नित्य जिन भगवान के चरणो मे रत रहकर अर्धपल्योपम की आयु भोग कर अपने पद से पहले मनुष्य-योनि में आई और फिर उत्तम पद (मोक्ष) को प्राप्त हुई । उसकी जगह जो देवी उत्पन्न होती है वही कुबेरा कहलाती है ।

उस कुबेरा देवी से रक्षित वह स्तूप बहुत काल तक उघाडा हुआ ही रहा । तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जन्म लेने तक यही दशा रही । तब मथुरा के राजा ने लोभ के वशीभूत होकर

मनुष्यो को बुलाकर कहा—'स्वर्ण और मणियो से बने हुए इस स्तूप को निकालकर मेरे भडार में जमा करो। तब लोगो ने लोहे के कुल्हाडो से स्वर्ण का स्तूप निकालने के लिये चोट लगाना शुरू किया पर कोई असर न हुआ। प्रहार करने वालो के शरीर में स्वय ही घाव होने लगे। उस पर विश्वास न करके राजा ने अपने हाथ से प्रहार किया। कुल्हाडा उछलकर राजा के सिर में लगा और सिर कट गया।

तब कुपित देवता ने प्रकट होकर जनपद-जनो से कहा—'ऐ पापियो, तुमने यह क्या किया ? राजा की तरह तुम भी नाश को प्राप्त होगे।' तब भयभीत होकर वे लोग धूप हाथ में लेकर देवता को मनाने लगे। देवी ने कहा—'यदि जिनालय की पूजा करोगे तभी इस उपद्रव से छूटोगे। जो जिनकी मूर्त्ति या सिद्धालय की पूजा करेगा उसीका घर स्थिर रहेगा अन्यथा गिर जायगा[1]। प्रतिवर्ष जिन भगवान के पट को नगर में घुमाना चाहिये और (राजा के पाप की स्मृति में) 'कुहाडा छह' की भी मनानी चाहिए। यहाँ जो भी राजा होगा उसे चाहिए कि जिन प्रतिमा की स्थापना करके तव भोजन करे अन्यथा वह जीवित न रहेगा। देवता की कही हुई उन सव वातो को सही प्रकार से लोगो ने करना शुरू कर दिया।

एक वार पार्श्वनाथ स्वामी केवली के रूप में विहार करते हुए मथुरा में आए। उन्होने समवशरण में धर्म का उपदेश दिया और दु षमा काल में आगे आने वाली दुरवस्थाओ का वर्णन किया। जब वे अन्यत्र चले गए तव कुवेरा ने सघ को बुलाकर कहा—'जिन भगवान कह गए हैं कि दु षमाकाल निकट है। लोक और राजा लोभी होगे। मैं भी प्रमाद के कारण वहुत दिन न जिऊँगी। इसलिए उघडे हुए इस स्तूप को सदा तक मैं न वचा सकूगी। इसलिए सघ की आज्ञा से इसे ईंटो से ढँक दूँगी। तुम लोग भी (स्तूप के) वाहर पत्थर का एक मन्दिर (शैलमय प्रासाद) वनवाओ और जो मेरे इस स्थान पर दूसरी देवी होगी, वह भीतर से स्तूप की पूजा करती रहेगी। तब सघ ने उस प्रस्ताव को वहुत गुण-सम्पन्न जानकर अपनी अनुमति दी और देवी ने वैसा ही किया।

(३)

तव वीर भगवान् के सिद्धि पाने के तेरह सौ वर्ष बाद वप्प भट्टि सूरि उत्पन्न हुए। उन्होने भी इस तीर्थ का उद्धार किया। पार्श्व जिन की पूजा कराई और पूजा को सदा जारी रखने के लिए उपवन, कूप और कोठार वनवा दिए और उसे चौरासी के सुपुर्द किया। सघ ने स्तूप की

---

१ इसके वाद एक वाक्य है—'तभी से छेद ग्रंथ में मथुरा के भवनो को मंगल चैत्य का—उदाहरण माना गया है।' यह सकेत 'वृहत्कल्पसूत्रभाष्य' (१।१७७६) की ओर है। उसमें लिखा है कि मथुरा में घर बनवाने के बाद दरवाजे की सिरदल पर सामने की ओर अर्हत्प्रतिमा की स्थापना मगल के लिए करते हैं। इसके कारण वह मकान 'मंगल चैत्य' कहलाता है। जिस घर में वह जिन प्रतिमा द्वार पर नहीं होती वह घर गिर जाता है। मथुरा के आसपास के छियानवे गावों में यही मान्यता है।

ईटो को खिसकती हुई (गिरती हुई) जानकर पत्थरो से परिवेष्टित करने के लिए स्तूप को खोलना शुरू किया। स्वप्न में देवता ने रोक दिया कि इसे मत उघाडो। तब देवता के वचन से वह नही खोला गया और सुघटित पत्थरो से परिवेष्टित कर दिया गया। इस स्तूप की आजतक देवता रक्षा करते हैं। सहस्रो प्रतिमाओ और देवलो से, एव आवास स्थानो और मनोहर गधकुटी से सयुक्त तथा चिल्लणिआ, अम्बा एव अनेक क्षेत्रपालादि देवो की मूर्त्तियो से अलकृत यह जिन भवन आज भी विराजमान है[१]।

(४)

इस नगरी मे भावी तीर्थंकर कृष्ण वासुदेव ने जन्म लिया। आचार्य आर्यमगु और हुडिय यक्ष का मन्दिर यहाँ है।

यहाँ पाँच स्थल हैं। यथा—अर्कस्थल, वीरस्थल, पद्मस्थल, कुशस्थल, महास्थल।

यहाँ पर बारह वन हैं, यथा—लोह जघवन, मधुवन, विल्ववन, तालवन, कुमुदवन, वन्दावन, भडीर-वन, खदिरवन, काम्यकवन, कोलवन, बहुलावन, महावन।

यहा पाँच लौकिक तीर्थ हैं, यथा—विश्रान्तिक-तीर्थ, असिकुड-तीर्थ, वैकुण्ठ-तीर्थ, कालिजर-तीर्थ, चर्कतीर्थ।

शत्रुञ्जय मे ऋषभनाथ, गिरनार मे नेमिनाथ, मरुकच्छ में मुनिसुव्रत, मोढरक मे महावीर, मथुरा में सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को नमस्कार करके, सौराष्ट्र में विहार करके जो ग्वालियर में राज्यभोग कर रहा है। ऐसे श्री आमराज से सेवित्त चरणकमलो वाले श्री बप्पभट्ट सूरि ने विक्रम सवत् ८२६ में श्री महावीर स्वामी के विम्ब की मथुरा में स्थापना की।

यहाँ श्री महावीर वर्द्धमान का आश्रय लेने वाले विश्वभूति अपरिमित सेना के साथ अन्त को प्राप्त हुए।

यहाँ बकयमुन राजा से मारे हुए दड नाम के मुनि को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ और उनकी पूजा के लिए स्वय इन्द्र आए।

यहाँ जित शत्रु नामक राजा के पुत्र कालवेशित मुनि अर्श रोग से पीडित मुद्गल गिरि मे अन्त को प्राप्त हुए।

यहाँ शखराज ऋषि के तप प्रभाव को देखकर सोमदेव नामका ब्राह्मण गजपुर मे दीक्षा लेकर स्वर्ग गये और काशी में हरिएसबल नामक मुनि से देवपूज्य हुआ।

---

(१) यह वाक्य डा० बूहलर के पाठ के अनुसार है, यथा—तुम्हेंहिं वि बाहिरे पासाओ सेलमइओ पुञ्जिअव्वो। 'सिंघी जैन ग्रथ माला में छपे हुए ग्रथ में पाठ इस प्रकार है'—तुम्हेंहि वि बाहिरे पास सामी सेलमइओ पुञ्जिअव्वो। अर्थात् तुम लोग स्तूप के बाहर पार्श्वनाथ स्वामी की पत्थर की प्रतिमा स्थापित करके उसका पूजन करो।

(२) डा० बूहलर ने 'मथुराकल्प' को मूल और अग्रेजी अनुवाद के साथ वियनानगर से १८९७ में A Legend of the Jaina Stupa at Mathura के नाम से प्रकाशित कराया था। सिन्धी जैन ग्रंथमाला में भी 'विविध तीर्थ कल्प' की मूल पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।

यहाँ उत्पन्न हुई निवृत्ति नामक राजकन्या को राजावेध करने वाले सुरेन्द्रदत्त ने स्वयवर में वरा।

यहाँ कुबेर दत्त ने कुबेर सेना नाम की माता को और कुबेरदत्त नाम के भाई को अट्ठारह नातियो के साथ प्रतिबोधित किया।

यहाँ श्रुतरूपी समुद्र में पारगत आर्य मगु ने यक्षरूप मे साधुओ का प्रतिबोव किया।

यहाँ कवल और संवल नाम के मुनिपुत्र जिनदास के ससर्ग से प्रतिबुद्ध होकर नागकुमार हुए।

यहा अग्निकापुत्र नाम के मुनि ने पुष्पचूला को प्रवज्या ग्रहण कराकर ससार-सागर से पार कराया।

यहाँ इन्द्रदत्त नाम के पुरोहित ने मिथ्यादृष्टि के कारण साधु के मस्तक पर पैर रक्खा और फिर श्रद्धापूर्वक गुरु-भक्ति के साथ उनकी प्रदक्षिणा की।

यहाँ इन्द्र ने आर्यरक्षित सूरि की वन्दना की।

यहा वस्त्र पुष्यमित्र, घृत पुष्यमित्र और दुर्वलित पुष्यमित्र नाम के आचार्यों ने विहार किया।

यहाँ भीषण दुर्भिक्ष के समय वारह वर्ष तक सब सघो को एकत्र कर आचार्य स्कदिल ने आगमो का अनुयोग (व्याख्या) किया।

यहाँ देव निर्मित स्तूप में एक पक्ष के उपवास द्वारा देवता की आराधना द्वारा जिनभद्र श्रमण ने दीमक से खाये हुए पन्नो के कारण त्रुटित महानिशीथ सूत्र को पूरा किया।

यहाँ साधुओं के तप से प्रसन्न होकर शासन देवता ने इस तीर्थ को सघ के कहने से अर्हत् पूजा का स्थान वना दिया और उसी देवी ने मनुष्यो को लोभ के परवश जानकर स्वर्ण के स्तूप को ढककर ईंटो का स्तूप वना दिया।

उसके वाद वप्पभट्टि के कहने से आमराज ने उसे पत्थरो से चिनवा दिया।

यहाँ शखराज और कलावती ने पाचवे जन्म में देवसुन्द और कनकसुन्दरी नाम से श्रमणोपासक वनकर राज्य श्री का भोग किया।

इस प्रकार यह मथुरा नगरी अनेक पुण्य-कार्यों की जन्मभूमि है। यहाँ नरवाहना कुबेरा देवी, सिंहवाहना अम्बिकादेवी और सारमेय वाहन क्षेत्रपाल तीर्थ की रक्षा करते हैं।

इस प्रकार इस मथुराकल्प का जिनप्रभसूरि ने कुछ वर्णन किया। परलोक की इच्छा करने वाले सज्जन इसका एक वार परायण करें।

मथुरातीर्थ की यात्रा से जो पुण्यफल होता है, वही एकाग्रमन से इस कल्प को सुनने से प्राप्त होता है।[1]

---

१ मथुरा तीर्थ की प्राचीनता के सम्बन्ध में दिगम्बर जैन ग्रंथो में भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। इस तीर्थ का प्रचार ई० पूर्व में ही था, इसे उत्तर मथुरा कहा गया है। ७ वीं और ८ वीं शताब्दी की रचनाएँ पद्मपुराण, हरिवंश और आदिपुराण में उत्तर मथुरा के वैभव की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। श्री श्रुतकेवली जम्बू स्वामी का निर्वाण भी चौरासी मथुरा में ही हुआ है। यहा के मन्दिरों के मूर्ति लेख १० वीं शताब्दी के मिलते हैं। —स०

प्राचीन तीर्थों की परिचयात्मक एक महत्वपूर्ण कृति

पं० श्री दरबारीलाल जैन, कोठिया, न्यायाचार्य

कृति-परिचय—

विक्रम सवत् १३ वी शताब्दी के सुविख्यात विद्वान् मुनि मदनकीर्ति की 'शासन चतुस्त्रिशिका'[1] जैन साहित्य की एक अमूल्य कृति है। यह एक छोटी सी किन्तु बडी महत्त्वपूर्ण एव मौलिक रचना है। इसमें कोई २६ तीर्थ-स्थानो—८ सिद्ध तीर्थ क्षेत्रो और १८ अतिशय तीर्थ क्षेत्रो का—परम्परा अथवा अनुश्रुति से यथाज्ञात इतिहास एक-एक स्वतत्र पद्यमे अति सक्षेप एव सकेत रूप में निबद्ध है।

विक्रम सवत् १३३४ में बन कर समाप्त हुए चन्द्रप्रभसूरि के प्रभावकचरित्र, विक्रम सं० १३६१ में रचे गये मेरुतुङ्गाचार्य के प्रवन्ध चिन्तामणि, विक्रम स० १३८९ में पूर्ण हुए जिनप्रभसूरि के विविध तीर्थकल्प और विक्रम स० १४०५ में निर्मित हुए राजशेखर सूरि के प्रबन्ध कोश (चतुर्विशति प्रबन्ध) में भी जैन तीर्थों के इतिहास की सामग्री पाई जाती है, पर विक्रम स० १२८५ के आसपास रची गई यह शासन चतुस्त्रिशिका उक्त चारो रचनाओ से प्राचीन होने के कारण जैन तीर्थों के ऐतिहासिक परिचय में विशेष रूप से उल्लेखनीय एव उपादेय है।

इसमें जिन २६ तीर्थ स्थानो और वहाँ के दिगम्बर जिनविम्बो के अतिशयो प्रभावो और माहात्म्यो का वर्णन किया गया है जो निम्न प्रकार है —

१ कैलास के श्री ऋषभदेव, २ पोदनपुर के श्री बाहुवली, ३ श्रीपुर के पार्श्वनाथ, ४ हुलगिरि अथवा होलागिरि के शखजिन, ५ धारा के पार्श्वनाथ, ६ बृहत्पुर के बृहद्देव (आदि नाथ), ७ जैन पुर (जैन विद्री) के दक्षिण गोम्मटदेव, ८ पूर्व दिशा के पार्श्व जिनेश्वर, ९ विश्व सेन नृप द्वारा समुद्र से निकाले शातिजिन, १० उत्तर दिशा के जिनविम्ब, ११ सम्मेदशिखर के बीस तीर्थकर, १२ पुष्पपुर (पटना) के पुष्पदन्त, १३ नागद्रह के नागह्रदेश्वरजिन, १४ सम्मेदशिखर की अमृतवापिका (जलकुण्ड), १५ पश्चिम समुद्र तट के श्री चन्द्रप्रभजिन, १६ छाया पार्श्व प्रभु, १७ श्री आदि जिनेश्वर, १८ पावापुर के श्री वीर जिन, १९ गिरनार के श्री नेमिनाथ, २० चम्पापुर के श्री वासुपूज्य, २१ नर्मदा के जल से

---

१ यह मेरे द्वारा सम्पादित होकर सन् १९४९ में वीर सेवा मन्दिर, सरसावा से प्रकाशित भी हो चुकी है।

अभिषिक्त श्री शाति जिनेश्वर, २२ अवरोध नगर ([1]आशारम्य या आश्रम) के श्री मुनिसुव्रत, २३ विपुलगिरि का जिनविम्व, २४ विन्ध्यगिरि के जिनचैत्यालय, २५ भेदपाट (मेवाड) देशस्थ नागफणी ग्राम के श्री मल्लि जिनेश्वर और २६ मालव देश के मगलपुर नगर के श्री अभिनन्दन जिन ।[2]

इसके सिवाय इसमें स्मृतिपाठक, वेदान्ती, वैशेषिक, मायावी, यौग, साख्य, चार्वाक और वौद्ध इन दूसरे शासनो द्वारा दिगम्वर शासन को कई वातो में अपनाने का भी प्रतिपादन किया गया है। यहाँ हम इस सुन्दर रचना के कुछ पद्यो को उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत करते हैं —

(क) पादाङ्गुष्ठनख प्रभासु भविनामाऽऽभान्ति पश्चाद्भवा
यस्यात्मीयभवा जिनस्य पुरत स्वस्योपवास प्रमा ।
अद्याऽपि प्रतिभाति पोदनपुरे यो वन्द्यवन्द्य स वै
देवो वाहुवली करोतु वलवद्दिग्वाससा शासनम् ।।२।।

(ख) पत्र यत्र विहायसि प्रविपुले स्थातु क्षण न क्षम
तत्राऽस्ते गुणरत्न रोहणगिरिर्यो देवदेवो महान् ।
चित्र नाऽत्र करोति कस्य मनसो दृष्ट पुरे श्रीपुरे
स श्री पार्श्वजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससा शासनम् ।।३।।

(ग) यस्या पाथसि नाम विशतिभिदा पूजाऽष्ठवा क्षिप्यते
मत्रोच्चारण-चन्चुरेण युगपन्निर्ग्रन्थरूपात्मनाम् ।
श्रीमत्तीर्थकृता यथायथमिय ससपनीपद्यते
सम्भेदामृतवापिकेयमवताद्दिग्वाससा शासनम् ।।१४।।

(घ) स्मार्ता पाणिपुटोदनादनमिति ज्ञानाय मित्र-द्विषो-
रात्मन्यत्र च साम्यमाहुरसकृन्नैर्ग्रन्थ्यमेकाकिताम् ।
प्राणि-क्षातिमद्वैवतामुपशम वेदान्तिकाश्चापरे ।
तद्विद्धि प्रथम पुराणकलित दिग्वाससा शासनम् ।। १५।।

(ङ) सौराष्ट्रे यदुवश-भूषण-मणे श्रीनेमिनाथस्य या
मूर्त्तिर्मुक्तिपथोपदेशनपरा शाताऽऽयुधाऽपोहनात् ।।
वस्त्रैराभरणैर्विना गिरिवरे देवेन्द्र-सस्था (स्ता) पिता
चिराभ्रान्तिमपाकरोतु जगतो दिग्वाससा शासनम् ।।२० ।।

---

१ देखो, निर्वाणकाण्ड गाथा २३ और मुनि उदयकीर्ति कृत अपभ्रंश निर्वाणभक्ति ।

२ इनके खोजपूर्ण ऐतिहासिक परिचय के लिए मेरे द्वारा सम्पादित शासन चतुर्स्त्रिशिका के परिशिष्ट (पृ० २९—५५) को देखिए ।

(क) पहले पद्य में वतलाया गया है कि पोदनपुर में वाहुवली स्वामी की विशालकाय एव प्रभावपूर्ण जिन प्रतिमा प्रतिष्ठित है जो दिगम्वर मुद्रा में विराजमान है और लोक में अपने प्रभाव द्वारा दिगम्वर शासन की महत्ता को प्रकट करती हुई ख्याति को प्राप्त है ।

(ख) दूसरे पद्य मे कहा गया है कि श्रीपुर नगर में भगवान् पार्श्वनाथ का जिनविम्व आकाश में अधर स्थिर रहता है जो दिगम्वर शासन की लोक में विशिष्ट जय करता हुआ वर्तमान है ।

(ग) तीसरे श्लोक में यह प्रतिपादन किया है कि सम्मेदगिरि की अमृतवापिका (जलमन्दिर के जलकुण्ड) की यह महिमा है कि उसमें भव्यजन सम्मेदगिरि से निर्वाण प्राप्त दिगम्वर मुद्राधारी वीस तीर्थकरो के नामो का समत्र उच्चारण करके उनके लिए अष्टद्रव्य चढाते है और अपनी विशिष्ट भक्ति प्रकट करते हैं ।

(घ) चौथे में कहा गया है कि स्मृतिपाठक, ज्ञान प्राप्ति के लिये हाथो पर रख कर भोजन करना, मित्र और शत्रु तथा अपने और पर में समता (एक-सा) भाव रखना, निर्ग्रन्थ (निर्वसन) रहना और एकाकी (अकेले) रहना इन वातो का कथन करते हैं । तथा वेदान्ती प्राणियो पर शान्ति (दया-भाव) रखना, किसीसे द्वेश नही करना और उपशमभाव (मन्द कषाय) रखना वतलाते है सो यह सव उनका पुराणप्रतिपादित दिगम्वरो का शासन है, क्योकि उक्त सव वातें दिगम्वर शासन में सर्वप्रथम और मुख्यतया वतलाई गई हैं और इसलिए स्मृति पाठको तथा वेदान्तियो ने भी दिगम्वर शासन को अपना कर उसके महत्व को प्रकट किया है ।

(ङ) पाँचवे पद्य में वतलाया गया है कि सौराष्ट्र (गुजरात) मे गिरनार पर्वतपर श्री नेमि-नाथ तीर्थंकर की मनोज्ञ एव शान्त दिगम्वर मूर्ति वनी हुई है जो इतनी भव्य और चित्ताकर्षक है कि लोग वहाँ जाकर उसके वडी श्रद्धा से दर्शनादि करते है और उसके मूकोपदेश को सुन कर चित्त मे वडी शान्ति एव निराकुलता प्राप्त करते हैं ।

इस तरह यह रचना जहाँ दिगम्वर शासन के प्रभाव की प्रकाशिका है वहाँ साथ मे इतिहास-प्रेमियो के लिए इतिहासानुसन्धान की कितनी ही महत्व की सामग्री को भी लिये हुए है और इसलिए इसकी उपादेयता तथा उपयोगिता इस विषय की किसी भी दूसरी कृति से कम नही है । इसका एक-एक पद्य स्वतत्र निवन्ध का विषय है, इसीसे इसका महत्व जाना जा सकता है ।

इसमे कुल ३६ पद्य हैं जो अनुष्टुप् छन्द में प्राय ८४ श्लोक जितने हैं । इनमे नम्वरहीन पहला पद्य अगले ३२ पद्यो के प्रथमाक्षरो से निर्मित है और जो अनुष्टुप् वृत्त में है । अन्तिम (३५ वाँ) पद्य प्रशस्ति पद्य है जिसमें रचयिता ने अपने नामोल्लेख के साथ अपनी कुछ आत्मचर्चा दी है और जो मालिनी छन्द में है । शेष ३४ पद्य गन्थ-विषय से सम्वद्ध हैं, जिनकी रचना शार्दूल विक्रीडित छन्द में हुई है । इन चौंतीस पद्यो में दिगम्वर शासन के प्रभाव और विजय का[1] प्रतिपादन होने से यह रचना 'शासनचतुस्त्रिशिका' अथवा 'शासन चौंतीसी' के नाम से प्रसिद्ध है ।

---

१ इसीसे प्रत्येक पद्य के अन्त में सर्वत्र 'दिग्वाससां शासनम्' पद निहित है ।

रचयिता का परिचय—

अब विचारणीय यह है कि इसके रचयिता मुनि मदनकीर्ति कब हुए हैं और वे किस विशेष अथवा सामान्य परिचय को लिये हुए हैं ? अत उक्त दोनो बातो पर विचार किया जाता है:—

समय—

(१) श्वेताम्बर विद्वान् राजशेखर सूरि ने विक्रम सवत् १४०५ में एक 'प्रबन्धकोश' लिखा है जिसका दूसरा नाम 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' भी है। इसमें २४ प्रसिद्ध पुरुषो—१० आचार्यो, ४ सस्कृत-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि-पण्डितो, ७ प्रसिद्ध राजाओ और ३ राजमान्य सद्गृहस्थो के प्रबन्ध (चरित) निबद्ध हैं। सस्कृत भाषा के ४ सुप्रसिद्ध कवि-पण्डितो में दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्ति के प्रख्यात शिष्य मुनि मदन-कीर्ति का भी इसमें एक प्रबन्ध है और जिसका नाम 'मदनकीर्ति-प्रबन्ध' है। इस प्रबन्ध मे मदनकीर्ति का परिचय देते हुए राजशेखर सूरि ने लिखा है —

"उज्जयिनी में दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्ति रहते थे। उनका मदनकीर्ति नाम का एक शिष्य था। वह इतना बडा विद्वान् था कि उसने पूर्व, पश्चिम और उत्तर के समस्त वादियो को जीत कर 'महाप्रामाणिक चूडामणि' के विरुद को प्राप्त किया था। कुछ दिनो के बाद उसके मन में यह इच्छा पैदा हुई कि दक्षिण के वादियो को भी जीता जाय। और इसके लिए उसने गुरु से आज्ञा मागी। परन्तु गुरु ने दक्षिण को 'भोगनिधि' देश बतला कर वहाँ जाने की आज्ञा नही दी। किन्तु मदनकीर्ति गुरु की आज्ञा को ठुकरा कर दक्षिण को चले गये। मार्ग में महाराष्ट्र आदि देशो के वादियो को जीतते हुए कर्णाटक देश पहुँचे। कर्णाटक देश में विजयपुर नगर के राजा कुन्तिभोज को अपनी विद्वत्ता और काव्य-प्रतिभा से चमत्कृत किया और उनके अनुरोध पर उनके पूर्वजो के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ लिखना स्वीकार किया। मदनकीर्ति एक दिन में पाँच सौ श्लोक बना लेते थे, परन्तु स्वय उन्हें लिख नही सकते थे। अतएव उन्होंने राजा से सुयोग्य लेखक की माँग की। राजा ने अपनी सुयोग्य विदुषी पुत्री मदनमजरी को उन्हें लेखिका के रुप में दिया। मदनमजरी पर्दा के भीतर से लिखती थी और मदनकीर्ति धारा-प्रवाह से बोलते जाते थे। कालान्तर में इन दोनो में अनुराग हो गया। जब गुरु विशालकीर्ति को यह मालूम हुआ तो उन्होंने उन्हें समझाने के लिए पत्र लिखे और शिष्यो को भेजा। परन्तु मदनकीर्ति पर उनका कोई असर न हुआ।

इस प्रबन्ध के कुछ आदि भाग को नमूने के तौर पर नीचे दिया जाता है —

"उज्जयिन्या विशालकीर्तिदिगम्बर। तच्छिष्यो मदनकीर्ति। स पूर्वपश्चिमोत्तरासु तिसृषु दिक्षु वादिन सर्वान् विजित्य 'महाप्रामाणिक चूडामणि' इति विरुदमुपार्ज्य स्वगुर्वलकृतामुज्जयिनीमागात्। गुरु-नवन्दिष्ट। पूर्वमपि जनपरम्पराश्रुततत्कीर्ति स मदनकीर्तिम् भूयिष्ठमश्लाघिष्ठ। सोऽपि प्रामोदिष्ट। दिनकतिपयानन्तर च गुरुं न्यगदीत्–भगवन् ! दाक्षिणात्यान् वादिनो विजेतुमीहे। तत्र गच्छामि। अनुज्ञा दीयताम्। गुरुणोक्तम्—वत्स ! दक्षिण मा गा.। स हि भोगनिधिर्देश। को नाम तत्र गतो दर्शन्यपि

न तपसो भ्रश्येत् । एतद्गुरुवचन विलध्य विद्यामदाध्मातो जाल कुद्दालनि श्रेण्यादिभि प्रभूतैश्च शिष्यै परिकरितो महाराष्ट्रादिवादिनो मदन् कर्णाटदेशमाप । तत्र विजयपुरे कुन्तिभोज नाम राजान स्वय त्रैविद्य-विद विद्वत्प्रिय सदसि निषण्ण स द्वारस्थनिवेदितो ददर्श । तमुपश्लोकयामास ।"

इस प्रबन्धगत वर्णन से दो बातें स्पष्ट हैं । एक तो यह कि मदनकीर्ति निश्चय ही एक सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं तथा वे दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्ति के सुविख्यात एव 'महाप्रामाणिक चूडामणि' की पदवी प्राप्त दिग्विजेता शिष्य थे और इन प्रवन्ध कोशकार राजशेखर सूरि(वि० स० १४०५) से पहले हो गये हैं । दूसरी बात यह कि वे विजयपुर नरेश कुन्तिभोज के समकालीन हैं और उनके द्वारा वे सम्मानित हुए थे । कुन्तिभोज का समय विद्वानो ने वि० स० १२६२ अनुमानित किया है[1] और इसलिये मदनकीर्ति का समय भी यही (वि० स० १२६२) होना चाहिए ।

(२) पण्डित आशाधर जी ने अपने जिन यज्ञ कल्प में, जिसे प्रतिष्ठा-सारोद्धार भी कहते हैं और जो विक्रम स० १२८५ मे बनकर समाप्त हुआ है, अपनी एक प्रशस्ति दी है । इस प्रशस्ति में अपना विशिष्ट परिचय देते हुए एक पद्य में उन्होने उल्लेखित किया है कि मदनकीर्ति यतिपति ने उन्हे 'प्रज्ञा-पुञ्ज' कहकर सम्बोधित किया था । वह पद्य इस प्रकार है—

> इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दित प्रीत्या ।
> प्रज्ञापुञ्जोऽसीति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ।।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि मदनकीर्ति यतिपति, पण्डित आशाधर जी के समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती हैं और विक्रम स० १२८५ के पूर्व वे अच्छी ख्याति पा चुके थे । और इसलिये यतिपति मुनियो के आचार्य माने जाते थे । अत इस उल्लेख सेभी मदनकीर्ति का समय उपर्युक्त अर्थात् वि० स० १२८५ का आस-पास सिद्ध होता है ।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि विशालकीर्ति ने, जो मदनकीर्ति के साक्षात् गुरु थे, पण्डित आशाधर जी से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था और जिसका उल्लेख स्वय पण्डित आशाधर जी ने अपने ग्रन्थो में किया है । अत मदनकीर्ति प० आशाधर जी (वि० स० १२८५) के समसामयिक सुनिश्चित हैं ।

(३) शासन चतुस्त्रिशिका मे एक जगह (३४ वे पद्य मे) मदनकीर्ति ने यह उल्लेख किया है कि आततायी म्लेच्छो ने भारत भूमि को रौंदते हुए जब मालव देश के मगलपुर नगर में जाकर वहाँ के श्री अभिनन्दन जिन की मूर्ति को भग्न कर दिया और उसके टुकडे-टुकडे हो गये तो वह तत्काल जुड गई और सम्पूर्णावयव बन गई तथा उसका एक बडा अतिशय प्रकटित हुआ । यही जिनप्रभ सूरि ने (वि० स० १३६४–१३८९) भी अपने 'विविधतीर्थकल्प' के 'अवन्तिदेशस्थ-अभिनन्दनदेवकल्प' नामक कल्प मे लिखा है । उसमें उन्होने यह भी बतलाया है कि यह घटना मालवाधिपति जयसिंह देव के राज्यकाल से कुछ वर्ष पूर्व हो ली थी और जब उसने अभिनन्दन जिनके उक्त आश्चर्यकारी अतिशय को

---

१ देखो, प्रेमीजीकृत 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० १३९ ।

सुना तो वह उनकी पूजा के लिए गया और पूजा करके श्री अभिनन्दन जिनकी देखभाल करने वाले अभयकीर्ति, भानुकीर्ति आदि मठपति आचार्यो (भट्टारकों) के लिए देवपूजार्थ २४ हलकी खेती योग्य जमीन दी तथा १२ हल की जमीन देवपूजकों के वास्ते प्रदान की ।[१]

इस उल्लेख में जिस मालवाधिपति जयसिंह देव की चर्चा की है वह द्वितीय जयसिंह देव जान पड़ता है, जिसे जैतुगिदेव भी कहते हैं और जिसका राज्य-समय वि० स० १२९० के बाद और वि० स० १३१४ तक बतलाया जाता है ।[२] पण्डित आशाधर जी ने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, सागारधर्मामृत टीका और अनगारधर्मामृतटीका ये तीन ग्रन्थ क्रमश वि० सं० १२९२, १२९६ और १३०० में इसीके राज्य-काल में बनाये हैं ।[३] जिनयज्ञ कल्प की प्रशस्ति (पद्य ५) में पण्डित आशाधर जी ने यहाँ जानने योग्य बात यह लिखी है कि 'म्लेच्छपति साहिबुद्दीन ने जब सपादलक्ष (सवालाख) देश (नागौर-जोधपुर के आस-पास के प्रदेश) कोससैन्य आक्रान्त किया तो वे अपने सदाचार की हानि के भय से वहाँ से चले आये और मालवा की धारा नगरी में आ बसे । इस समय वहाँ विन्ध्यनरेश (वि० स० १२१७ से वि० स० १२८९) का राज्य था ।' यहाँ पण्डित आशाधर जी ने जिस मुस्लिम बादशाह साहिबुद्दीन का उल्लेख किया है वह इतिहास-प्रसिद्ध शहाबुद्दीन गोरी है, जिसने वि० स० १२४९ (ई० सन् ११९२) में गजनी से उठा कर भारत पर हमला किया था और दिल्ली को फतह किया था तथा जिसका १४ वर्ष तक राज्य रहा । असम्भव नहीं कि इसी आततायी बादशाह अथवा उसके सरदारों ने ससैन्य उक्त १४ वर्षों में किसी समय मालवा के उल्लिखित धन-धान्यादि से भरपूर मंगलपुर नगर पर धावा मारा हो और हीरा-जवाहरातादि के मिलने के दुर्लोभ अथवा धार्मिक विद्वेष से वहाँ के लोकविश्रुत श्री अभिनन्दन जिन के चैत्यालय और जिनबिम्ब को तोड़ा हो तथा उसीका उल्लेख मदनकीर्ति ने "म्लेच्छै प्रतापागतै." शब्दो द्वारा किया हो । यदि यह ठीक हो तो यह कहा जा सकता है कि मदनकीर्ति ने इस शासनचतुस्त्रिंशिका को वि० स० १२४९ और वि० स० १२६३ या १३१४ के भीतर किसी समय रचा है और इसलिए उनका समय इन सवतों का मध्यकाल जानना चाहिए ।

इस ऊहापोह से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मदनकीर्ति वि० सं० १२८५ के पण्डित आशाधर जी कृत जिनयज्ञ कल्प में उल्लिखित होने से उनके समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती विद्वान् हैं, और इसलिए उनका वि० स० १२८५ के आस-पास का समय सुनिश्चित है ।

स्थान—

पहले कहा जा चुका है कि मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्ति के प्रमुख शिष्य थे और वादीन्द्र विशालकीर्ति ने प० आशाधर जी से धारा में रहते हुए न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था और इसलिए इन दोनों विद्वान् विशालकीर्ति तथा मदनकीर्ति धारा में ही रहते थे । राजशेखर सूरि ने भी उन्हें

१ देखें, विविध तीर्थ कल्प पृ० ५८ । २ देखें, जैन साहित्य और इतिहास पृ० १३४।
३ देखें, इन ग्रथोंकी अन्तिम प्रशस्तियां ।

उज्जयिनी के रहने वाले बतलाया है। अत मदनकीर्ति का मुख्य स्थान उज्जयिनी (धारा) ही समझना चाहिए।

योग्यता और प्रभाव—

राजशेखर सूरि के कथनानुसार ये वाद-विद्या में बड़े निपुण थे। चतुर्दिशाओ के वादियो को जीत कर इन्होने 'महाप्रामाणिक चूडामणि' की महनीय पदवी को प्राप्त किया था। ये उच्च तथा आशु कवि भी थे। कवित्व प्रतिभा इन्हें इतनी प्राप्त थी कि एक दिन में ५०० श्लोक रच डालते थे। विजयपुर के नरेश कुन्तिभोज को इन्होने अपनी काव्य प्रतिभा से चकित किया था और इससे वह वडा प्रभावित हुआ था। पण्डित आशाधर जी जैसे विद्वानो ने इन्हें 'यतिपति' के सम्मानास्पद विशेषण के साथ उल्लिखित किया है। इन बातो से इनकी योग्यता और प्रभाव का अच्छा परिचय मिलता है।

राजशेखर सूरि ने जो इनका चरित्र दिया है, सम्भव है, उसमें कुछ अतिशयोक्ति हो। पर ऐतिहासिक तथ्य का मूल्याकन इतिहास-प्रेमी अवश्य करेगे।

साहित्यिक-कार्य—

मुनि मदनकीर्ति की अब तक की खोज से एक ही रचना 'शासन-चतुस्त्रिशिका' उपलब्ध हुई है। इसके अतिरिक्त उन्होने और भी कोई ग्रन्थ रचा है या नही, यह अभी तक पता नही चला। किन्तु राजशेखर सूरि के उल्लेख से मालूम होता है कि उन्होने विजयपुर-नरेश कुन्तिभोज के पूर्वजो के सम्बन्ध में एक विशाल परिचय-ग्रन्थ लिखा है और जो आज अनुपलब्ध है। यदि वास्तव मे उनके द्वारा ऐसा कोई ग्रन्थ रचा गया है तो अन्वेषक विद्वानो को उसकी अवश्य खोज करनी चाहिए।
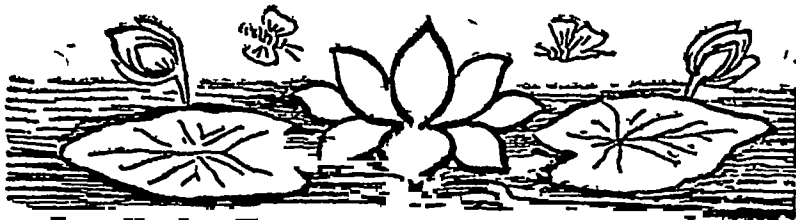
महाकवि स्वयम्भू

श्री राहुल सांस्कृत्यायन

प्रस्ताविक—

प्राकृत और अपभ्रंश सस्कृत से भिन्न भाषाएँ है, लेकिन भिन्न-भिन्न समय में इनके दोनो शब्दो के अर्थ भी भिन्न-भिन्न थे। महाभाष्यकार पतजलि (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का मध्य) अपने समय की साधारण बोलचाल को अपभ्रश कहते है, जो कि पाली तथा अशोक के अभिलेखो की भाषा रही होगी, अर्थात् जिसे हम प्राकृत भाषा कहते हैं, उससे भी पुरानी भाषा। लेकिन आज प्राकृत और अपभ्रश विलकुल स्पष्ट और अलग-अलग अस्तित्व रखनेवाली दो भाषाएँ समझी जाती है। एक का स्थान लेनेवाली दूसरी चीज,—जिनका सम्बन्ध आपस में औरस होता है,—अपने बीच विलकुल सीमा-रेखा नही रखती है। इसीलिये ठीक से कोई समय बतलाना आसान नही है, जब कि प्राकृत भाषा समाप्त होती है और उसका स्थान उसकी पुत्री अपभ्रश लेती है। कालिदास के समय की लोकभाषा अवश्य प्राकृत थी। पाँचवी शताब्दी में भी वह प्रचलित भाषा थी, लेकिन छठी शताब्दी के अन्त में पहुँचकर सन्देह होने लगता है। सातवी सदी में बाणभट्ट के अनुसार भाषा-कवि होने लगे थे, जिनमें से एक कवि ईशान का वाण ने नाम भी दिया है। वाण के भाषाकवि अपभ्रश के कवि ही रहे होगे। लेकिन, उस समय की अपभ्रश के काव्य अब नही मिलते। अपभ्रश के सबसे पुराने कवि के रूप में चौरासी सिद्धो में सर्वज्येष्ठ सरहपा या सरोरुहपाद आते है, जिनका काल असदिग्ध रूप से पालवशी राजा धर्मपाल का (७७०—८०६ ई०) है। स्वयम्भू भी इसी काल मे हुए थे। अपने रामायण (पउमचरिउ) की वीसवी सन्धि में उन्होने 'धुवराय रायवतइय" लिखा है। राष्ट्रकूटो में तीन धुवराय नाम के राजा हुए, जिनमें महान् विजेता धुवधारावर्ष ही यहाँ अभिप्रेत हो सकता है। धुवराय धर्मपाल का समकालीन और कन्नौज की शक्ति हथियाने मे उसका प्रतिद्वद्वी भी था। इस प्रकार स्वयम्भू आदिसिद्ध सरहपा के तरुण समकालीन माने जा सकते हैं, अर्थात्, ८ वी शताब्दी के अन्त होने के समय वह मौजूद थे।

स्वयम्भू का स्थान—

अपभ्रश का प्रथम महाकवि होने का श्रेय इस प्रकार स्वयम्भू को मिलता है। यह याद रखना चाहिये, कि उस समय अपभ्रश भाषा आज कल के तमिलनाड और उसके पास की कुछ भूमि को

छोडकर सारे भारत की शिष्ट भाषा थी । स्वयम्भू तेलगू और कन्नड भाषाओं की भूमि में रहते थे । अपभ्रंश कविता सिन्ध से ब्रह्मपुत्र और हिमालय तक ही नही, बल्कि सुदूर दक्षिण में गोदावरी और तुगभद्रा के किनारे भी आदृत थी । अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी हिन्दी क्षेत्र की आज की अनेक साहित्यिक और असाहित्यिक भाषाएँ ही नही, बल्कि सिन्धी, पजाबी, गुजराती, मराठी, उडिया, बगला और असमिया भी हैं । ये सभी अपभ्रंश-साहित्य को अपना कहने का दावा कर सकती हैं । यद्यपि जब अपभ्रंश भाषा के रूपो को नजदीक से मिलाकर हम देखते हैं, तो वह अवधी से और उसकी पडोसी कन्नौजी (रूहेलखडी) से ज्यादा मिलती है । दक्षिण पचाल सारे अपभ्रंश काल में उत्तरी भारत का शासन और सस्कृति का केन्द्र था । इसलिए वहाँ की शिष्ट भाषा का इतना मान बढना स्वाभाविक है ।

सरहपा, शबरपा जैसे दो ही सिद्ध स्वयम्भू से पहले के अपभ्रंश के ऐसे कवि मालूम होते हैं, जिनकी कृतियाँ मूल रूप में या तिब्बती अनुवाद में आज भी मिलती हैं ।

दोनो ही सिद्ध सस्कृत के भारी पण्डित थे । यह वह समय था, जब कि कवि मर्यादा इसकी आज्ञा नही देती थी, कि कोई अपनी पण्डिताई दिखलाने के लिए भाषा में सस्कृत के शब्दो को ठूँसने की कोशिश करे । शुद्ध सस्कृत या तत्सम शब्दो का लेना सारे अपभ्रंशकाल में महापाप समझा जाता था । कह सकते हैं, कि जब से तत्सम शब्दो का लेने का रवाज हुआ, तभी से हिन्दी ब्रज, अवधी आदि आधुनिक भाषाओ या उनके साहित्य का आरम्भ हुआ । स्वयम्भू को देखने पर हमें केशवदास याद आने लगते हैं । जहाँ तक कि काव्य-कला के ज्ञान गाम्भीर्य का सम्बन्ध है , भरत, भामह, दडी के अलकारशास्त्रो का स्वयम्भू ने अच्छी तरह अवगाहन किया था । सस्कृत के उस समय तक मौजूद काव्यो को उन्होने पूरी तौर से पढा था । पिंगल के छन्दो पर ही उनका अधिकार नही था, बल्कि देशी छन्दशास्त्र के भी वह आचार्य थे । बाण की कादम्बरी और हर्षचरित का उनके ऊपर, प्रभाव था । हरिषेण के काव्य से भी वह सुपरिचित थे, जैसा कि स्वयम्भू ने स्वय उसका नाम लेकर बतलाया है ।

ग्रन्थ-परिचय—

स्वयम्भू के तीन ग्रथ हमें उपलब्ध हैं । "पउमचरिउ" (पद्मचरित) यह रामायण का ही दूसरा नाम है, "रिट्ठणमिचरिउ" (अरिष्टनेमिचरित) महाभारत हरिवशपुराण की कथा का रूपान्तर है और "स्वयम्भू-छन्द" छन्दशास्त्रपर उनका एक अपूर्ण ग्रथ है । स्वयम्भू ने रामायण को तिरासवी सन्धि तक पहुँचाकर छोड दिया था । यद्यपि कथा के पूरा हो जाने से ग्रथ को अपूर्ण नही कहा जा सकता, लेकिन तो भी उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू ने सात सन्धियाँ लिखकर उसमें जोड दी । स्वयम्भू रामायण की सबसे पुरानी प्रति सवत् १५५१ ज्येष्ठ सुदी १० बुधवार को गोपाचल (ग्वालियर) में लिखकर समाप्त की गई थी । १५६४ ई० में लिखी यह प्रति गोस्वामी तुलसीदास के देहान्त १६२३ ई० (सवत् १६८० ई०) से ५९ वर्ष पहले लिखी गई थी । अभी अकबर के शासनकाल के आरम्भिक समय में भी स्वयम्भू रामायण के प्रेमी थे, तभी तो ग्वालियर में इसकी प्रति लिखी गई थी ।

अपभ्रंश साहित्य हिन्दी के लिए संस्कृत से भी ज्यादा महत्त्व रखता है, क्योंकि संस्कृत और हिन्दी के बीच मे पाली (प्राचीनतम प्राकृत), प्राकृत और अपभ्रंश की तीन पीढियाँ पडती है, जब कि अपभ्रंश हिन्दी की जननी और हिन्दी उसकी औरस पुत्री है। केवल कविता के ख्याल से ही दोनों की इतनी घनिष्ठता अपना महत्त्व नही रखती, बल्कि छन्दो में भी दोनो बिलकुल एक है। दोहा-चौपाई प्राकृत में नही मिलते, न उससे पहले के काव्यो मे उनका प्रयोग देखा जाता है। यह भी उल्लेखनीय बात है, कि गुजराती छोडकर हिन्दी क्षेत्र के बाहर अपभ्रंश की दूसरी उत्तराधिकारिणियाँ इन छन्दो को उत्तराधिकार के रूप में स्वीकार नही करती। हिन्दी कविता के विकास के इतिहास को हम समझ नही सकेंगे, यदि अपभ्रंश का अब भी काफी परिमाण मे मौजूदा काव्य-साहित्य हमारे सामने न हो। हमारे साहित्यिक ज्ञान की चतुरता और गभीरता जितनी ही बढती जायेगी, उतना ही अधिक हम अपभ्रंश-साहित्य के महत्त्व को समझेंगे।

अपभ्रंश का पद्य-साहित्य, जैन भडारो मे शताब्दियो से सुरक्षित कृतियो के प्रकाश में आ जाने से, अब काफी विशाल रूप में हमारे सामने है, लेकिन वही बात अपभ्रंश गद्य के बारे में नही कही जा सकती। अब ऐसा जान पड़ता है कि गद्य-साहित्य भी इन्ही भडारो से हमें मिलेगा। व्रत-कथाओ के पढने-सुनने का सभी धर्मों की तरह जैन नर-नारियो मे भी प्रचार है। और हरेक व्रत के लिए ऐसी कथाएँ सुगम भाषा में आज भी प्रचलित है। अपभ्रंश काल में इस तरह की कथाएँ अपभ्रंश भाषा में लिखकर पढी-सुनी जाती थी। जैन-भडारो में एकाध कथा-पुस्तकें मिली भी है,—न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्र शास्त्री ने ऐसी एक पुस्तक को मुझे एक समय दिखलाया था। आरा, जैसलमेर, पाटन, जैसे प्रख्यात और प्राचीन पुस्तक-भडारो मे ही इनके मिलने की सभावना नही है, बल्कि हिन्दी क्षेत्र के प्रत्येक बडे शहर में जो छोटे-मोटे जैन पुस्तक भडार है, उनमें भी अपभ्रंश में लिखी ये व्रत-कथाएँ मिल सकती है। कई जगहो में इन भडारो की जो ग्रंथ-सूचियाँ बनी है, उनमें प्राकृत और अपभ्रंश दोनो के ग्रंथो को प्राकृत समझ लिया गया है। तत्सम शब्दो में सर्वथा वर्जित और तद्भव शब्दो में एक सी दीखनेवाली इन दोनो भाषाओ का भेद समझना सबके बस की बात नहीं है। वस्तुत. इन दोनो भाषाओ का भेद क्रिया, रूपो, विभक्तियो और निपातो में मिलता है। हिन्दी भाषा के विकास के इतिहास के लिए अत्यन्त आवश्यक अपभ्रंश-गद्य की सामग्री की खोज के लिए हमें छोटे-मोटे जैन-भडारो में प्राकृत समझी जानेवाली सभी पुस्तको का फिर से अव-लोकन करना होगा।

चित्रण की विशिष्टता—

महाकाव्य की महत्ता उसके पूर्ण चित्रण के कारण है। जहाँ उसमें प्रकृति का सुन्दर और सम्पूर्ण चित्रण होता है, वहा उसमें तत्कालीन समाज का भी विशाल चित्रपट तैयार किया जाता है। यदि हम ८ वी सदी से १२ वी सदी के समाज का पूर्ण साक्षात्कार करना चाहते है तो इसके लिए अपभ्रंश के महाकाव्यो को देखना अनिवार्य हो जायेगा। ८ वी शताब्दी के लिए इस विषय में स्वयम्भू के दोनो महाकाव्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। १० वी शताब्दी के लिए यही काम महाकवि पुष्प-

दन्त के महाकाव्य करते है । हमारे यहा भी किसी समय ऐसे ऐतिहासिक कथाकार अवश्य होगे, जो स्वयम्भू और पुष्पदन्त के महाकाव्यो में भरी सामग्री को इस्तेमाल करके उस समय के ऊपर सुन्दर उपन्यास और कहानियाँ लिखेंगे।

स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू स्वय कवि थे यह हम बतला आये है। उनकी गृहिणी आदित्य देवी भी पण्डिता थी, कवि नही तो काव्यरस लेने में अपने पति के समान ही थी । उन्होने रामायण को अपने हाथ से लिखा था, यह द्वितीय अयोध्या काड (रामायण की ४२ वी सन्धि की समाप्ति के समय के इस पद्य से मालूम होता है ।

आइच्चएवि पडिमावमाए, आइच्च नामा ए।
वीअम उज्झा-कड सयभु-धारिणीए लहाविय ।।

रामायण की तरह स्वयम्भू का महाभारत "रिट्ठणमिचरिउ" भी दोहा-चौपाई में है । उन्होने आठ-आठ अर्धालियो के बाद एक-एक दोहा या दूसरा छन्द इस्तेमाल किया है । केवल दोहा-चौपाई (पज्झडिया) में ही तुलसी-रामायण और स्वयम्भूरामायण मे समानता नही है, बल्कि कितनी ही जगहो पर दोनो की उक्तियो में भी समानता मिलती है, लेकिन इसका यह मतलब नही, कि तुलसीदास ने स्वयम्भू के भावो को चुराया है । तुलसीदास ने भी रामचरितमानस शुरू करते अपनी हीनता प्रकट करते हुए कहा है "कबि न होहु नहि वचन-प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू" और स्वयम्भू भी उसी तरह कहते है ।

"बुह-यण सयभु पइ विण्णवइ । महु सरिसउ अण्ण नाहि कुकइ ।।
वायारणु क्याइ ण जाणियउ । णउ वित्ति-सुत्त वक्खाणियउ
णा णिसुणिउ पच महाय कब्बु । णउ भरहु ण लक्खुण छदु सब्बु ।।
णउ वुज्झिउ पिंगल-पच्छारु । णउ भामह—दडिय लकारु ।।
वेवसाय तो वि णउ परिहरमि । वरि रयडा वुतु कब्बु करमि ।।

छायानुवाद—

बुध-जन स्वयभू तो हि वीनवई । मोहि सरिसउ अन्य नाहि कुकवी ।।
व्याकरण किछ ना जानियऊ । ना वृत्ति-सूत्र बक्खानियऊ ।।
ना सुनेउ पाच महान् काव्य । ना भरत न लक्खन छन्द सर्व ।।
ना बूझेंउ पिंगल-प्रस्तारा । ना भामह दडि अलकारा ।।
व्यवसाय तऊ ना परिहरऊ । वरु रयडा कहेऊ काव्य करऊँ ।।

स्वयम्भू का महत्त्व—

लेकिन, अपनी सारी दीनता प्रकट करने पर भी तुलसी की तरह ही स्वयम्भू अति महान कवि थे । सस्कृत काव्य-गगन में जो स्थान कालिदास का है, प्राकृत में जो स्थान हाल ने प्राप्त किया, हिन्दी में तुलसी जिस स्थान पर है, अपभ्रश के सारे काल में स्वयम्भू वही स्थान रखते है । कवि माउरदेव (मयूरदेव) और पद्मिनी के सुपुत्र स्वयम्भू के जीवन के बारे में हम उसी तरह अन्धकार

में है, जिस तरह कालिदास और हाल के बारे में। तो भी, उनकी रामायण कवि-कर्म में अत्यन्त उत्कृष्ट कृति है।

गोस्वामी जी ने किष्किन्धाकाण्ड में पावस का वर्णन बडा सुन्दर किया है—

घन घमड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

स्वयम्भू ने भी पावस के वर्णन में उसी तरह कमाल किया है। ग्रीष्म राजा के ऊपर पावस राजा की चढाई के वर्णन में उनकी कुछ पक्तिया है—

अमर महाधनु गहि करे, मेघ गयदे चढेउ यसलुव्वा।
ग्रीष्म नराधिप कह ऊपर, पावस-राज कर दल सज्जा॥१॥
जनु पावस-नरेन्द्र गल-गर्जेऊ। धूली-रज ग्रीष्महि विसर्जेऊ॥
जपिय मेघवृन्द आ—लागेऊ। तडि करवाल प्रहारेहि भागेऊ।
जनु हि पराङ-मुख चलेऊ विशाला। उट्ठेउ हनहनत ऊष्णाला॥
धग-धग-धग धगंत उद्-धायउ। हस-हस-हस-हसत सजायउ।
ज्वल-ज्वल-ज्वल-ज्वलत प्रचलता। ज्वालावलिम फुलिग मलता।
धुमावलि-ध्वज-दड उठायेउ। वर-वादली खड्ग कड्ढायेउ।
झड-झड-झड-झडन्त प्रहरन्ता। तरुवर-रिपु भट-ठट भज्जता।
मेघ महागज-घट जिघटन्ता। जनु उष्णाला दीख भिडता।
पावस-राव तवहि आयता। जल-कल्लोल शाति प्रकटता।
अमर महद्धणु गहिय करे। मेह-गइन्दे यडिवि जस-नुद्धउ।
उप्परि गिभ णराहिवहा। पाउस - राउणाई सण्णद्धउ॥१॥
जे पाउस-णरिन्दु गल-गज्जिउ। धूली रउ गिभेण विसज्जिउ॥
गपिणु मेह विदि आलग्गउ। न तडि करवालु पहारे हि भग्गउ॥
ज वि वरम्मुहु चलिउ विसालउ। उट्ठिउ हणु-हणतु उण्हालउ॥
धग-धग-धग-धगतु उद्धाइउ। हस-हस-हस-हसतु सयाइउ॥
जल-जल-जल-जलन्तु पयलन्तउ। जालावलि-फुलित मेल्लतउ॥
धूमावलि-धय-दड भैप्पिणु। वर-वाउल्लि-खग्ग कड्ढेप्पिणु॥
झड-झड-झड-झडन्तु पहरन्तउ। तरुअर-रिउ भड-थड-भज्जतउ॥
मेह-महग्गय-धड विहडतउ। ज उण्डाहाउ दिट्ठ भिडतउ॥
पाउस-राउ ताव सपतउ। जल-किल्लोल-सति पयडतउ॥

श्रेय और कर्त्तव्य—

स्वयम्भू अव हमारे अमर कवि हैं। उनकी कृतियाँ काल के गाल में जाते-जाते बची, यह जैन साहित्य प्रेमियो की कृपा के ही कारण। उनकी रामायण भारतीय विद्या भवन (बम्बई) से प्रकाशित हो रही है, महाभारत भी प्रकाशित होना चाहिये। मूल में इन काव्यरत्नो के प्रकाशित होने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है, कि इनके सक्षिप्त केवल छायानुवाद प्रकाशित किये जाय, जिसमें कि अनेक हिन्दी कविता प्रेमी उससे लाभ उठा सके।

कन्नड़-साहित्य में जैन-साहित्यकारों का स्थान

श्री अणाराव, सेडवाल

प्रस्ताविक—

कन्नड साहित्य की सार्वमौलिक चेतना का दिग्दर्शन उसके प्राचीन साहित्य में तरगित साहित्यिक मूल्याकनो से आवेप्टित विचारधाराओ की समृद्ध राशि के उपभोग में ही होता है । इसका प्राचीन साहित्य चिरनवीन-सा दीखता है । इसके प्राचीन साहित्य में गभीर चिन्तन, समुन्नत हार्दिक प्रसार की झलक मिलती है, साहित्यिक मनीषियो की अथक साधना का जाग्रत् रूप मिलता है । इस साहित्य की व्यापकता की परिधि की रेखाएँ कावेरी से गोदावरी के सुरम्य अचल को समेटती थी । कन्नड प्रदेश की धरती जैसे कन्नड साहित्य की धडकनो से स्पन्दित थी, उसमें उगनेवाले पौधो में भावनाओ के फूल खिलते थे, जिसे देखकर कन्नड प्रदेश का प्रत्येक बेटा झूम उठता था, आत्मा डोलने लगती थी, मन गा उठता था । धरती और साहित्य के अपूर्व सामञ्जस्य की यह विकास रेखा सामाजिक चेतना को कितना बाँधती होगी, यह युग की साहित्यिक मान्यताएँ ही निर्धारित कर सकेंगी । कन्नड स्वाभाविक काव्य प्रयोग में प्रवीण लोगो का देश था,[1] धरती के कण-कण में काव्य के उच्छ्वासो का मन्द सगीत उमडता था । अत जिस साहित्य का प्राचीन इतिवृत्त इतना गौरवमय हो, जिसका स्वर्णिम अतीत विकास की चेतना में अगडाइयाँ ले रहा हो, उसका वर्त्तमान स्वरूप किसी साहित्य की उपादेयता को सशक्त बनाने के लिए मान्य और पूज्य है । जैन साहित्य, तीन महाकवियो और अनेक कवियो की काव्य रस धारा से तीन सौ वर्षों तक परिप्लावित हो कन्नड साहित्य की भाव-भूमि पर फूला-फला, उसकी छाया में साँस ली । यहाँ की मेदिनी वीर रस की सबल प्रेरणा से ओज और शौर्य की धारिका रही है । कन्नड साहित्य में क्षात्र युग कहलाने वाला सारा काल वीर रस से परिलुप्त है । गगराष्ट्रकूट, पल्लव, चोलो में वीर रस की कविता धारा से साम्राज्याधिपत्य की भावना का सादर उद्रेक हुआ । इस तरह प्राचीन कन्नड साहित्य से युग की सामाजिक चेतना अनुप्राणित रही ।

पूर्व-पीठिका—

कन्नड साहित्य का आरम्भकाल अति प्राचीन है । जैसा कि जैन कवियो का अनुमान है, इस साहित्य की उत्पत्ति प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के मुख से हुई । इसका लिपि निर्धा-

---

१ "कुरितोददेयुं काव्य प्रयोग परिणत मतिगल्"

रण उसी ने किया। यह प्राचीनत्व कन्नड साहित्य के प्रारम्भ काल की अपेक्षा उसके बारे में हमारे अज्ञान से ज्यादा सम्बन्ध रखता है। अत उस अज्ञात अपरिमित साहित्य की खोज में न भटक कर ज्ञात परिमित साहित्य पर ही दृष्टि का प्रक्षेप रखना युक्तिसगत है।

९ वी सदी में राष्ट्रकूट राजा नृपतुग के कन्नड साहित्य मदिर के वास्तुरचना क्रम से जैन साहित्य का उद्गम होता है। थोडे ही दिनो में कवि-चक्रवर्ती पप ने कन्नड साहित्य के ऐसे भव्य मन्दिर का निर्माण किया मानो साहित्य के वास्तुरचना क्रम के समझाने का मूर्त्त स्वरूप ही हो। महाकवि पंप के काव्य रम्य, मनोहर और सुन्दर कलाकृति ही नही बल्कि कन्नड साहित्य के तेज के प्रतीक हैं। निश्चय ही ऐसी कलाकृतियाँ शान्तप्रद, स्निग्ध, पवित्र और उदात्त वातावरण की अलौकिक देन है।

कन्नड ग्रान्थिक साहित्य के मिलने के पहले कन्नड-साहित्य क्षेत्र कितना विस्तृत था, उसकी रूप-रेखा क्या थी, इस सम्बन्ध में विशद विचार एकत्रित करने पर ही आगे के लिए विषय-विवेचन पर थोडा प्रकाश पडेगा।

'कविराज मार्ग' पुराने कन्नड साहित्य के बारे में प्रामाणिक कथन करता है। उसमें नृपतुग ने किसी हलगन्नड़ (पुरानी कन्नड) रामायण के कतिपय पद्यो का उदाहरण दिया है। इसके अतिरिक्त वह कहता है कि "मैं तिरूल गन्नड में (परिष्कृत कन्नड) लिख रहा हूँ"। इससे यह स्पष्टत उल्लेख मिलता है कि उसके पहले भी कन्नड साहित्य का अस्तित्व वर्तमान था जो हलगन्नड (पुराना कन्नड) कहलाता था। पुष्ट प्रमाण की प्रतीति उसके काव्यगत लक्षणो के ज्ञान से भी होती है। इन प्राचीन काव्यो का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि ये देशीय काव्य के लक्षण हैं—

"विताणमुम् वेदडे मेंदीगडिन नेगल्तेय कव्वदोल्"

अत उसके द्वारा प्रस्तुत यह हलगन्नड काव्य प्रकार का मार्मिक विवेचन है। इतना ही नहीं उसने अपने श्री विजय कवीश्वर पण्डित, चन्द्र, लोकपाल[1] आदि कवियो का ज्ञातव्य उल्लेख भी किया है। गद्य लेखको में उसके द्वारा लिखित निम्न नाम हैं—विमलोदय, नागार्जुन, जयबन्धु, दुर्विनीत[2] आदि। अत इससे कन्नड़ साहित्य के पू॰ अस्तित्व का पूर्ण पता चलता है और कवियो और गद्य-लेखको की प्रामाणिकता का योगदान तो इसमें है ही। कवि पम्प ने अपने पूर्वकालीन कवियो का उल्लेख करते हुए कहा है—

"श्रीमत् समन्तभद्र। स्वामिगल जगत् प्रसिद्ध परिमेष्ठी"
स्वामिगल पूज्यपाद। स्वामिगल पदगलीगे शाश्वत पदम्।"

अर्थात् समन्तभद्र, कवि परिमेष्ठी और पूज्यपाद का स्मरण किया है। इन तीनो में समन्तभद्र ने मूडवकहल्ली गाँव में तपस्या की थी। पूज्यपाद का जन्म स्थान कर्नाटक का कोल्लागालपुर और

१ परम श्री विनय विजयकवीश्वर पडित चंद्र, कोकपाला विगल।
निरतिशय वस्तु विस्तर। विरचनेस्वर्ज्ज तदाद्य काव्यक्कंदु।

२ विमलोद्य नागार्जुने। समेत जयबन्धु दुर्विनाता दिगली।
क्रमदोल नेग लिय गद्या। श्रणपड्डु गुरुता प्रतीतियेते टकोंडर्। (कविराज मार्ग)

इनका ननिहाल "मुदिगुडपेंवग्राम" में था। हमारे इस कथन की पुष्टि देवचन्द्र के 'राजावलि कथा' से भी होती है। कवि परिमेष्ठी सस्कृत और प्राकृत ग्रथो के कन्नड़ टीकाकार हैं।

दुर्गसिंह (ई० स० ११४५) ने श्री विजयर कवि मार्ग का उल्लेख करते हुए कन्नड साहित्य की समृद्धता की ओर सकेत किया है।

पूज्यपाद ने "जैनेन्द्र व्याकरण" में बताया है—"मैंने छ प्रसिद्ध व्याकरणकर्त्ताओ के मार्ग का अनुसरण किया है।" उन छ व्यक्तियो में समन्तभद्र का भी नाम है। पचम अध्याय में "झयो ह" इत्यादि सूत्र चतुष्टय को "समन्तभद्राचार्य मतेन भवति—तथा च उदाहृतम्" ऐसा लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि समन्तभद्र का एक व्याकरण भी है। अकलक भट्ट ने शाब्दिक न्यासकारो का वचन कहकर "यदाह भगवान् परमागम सूत्रकारोऽपि सद्द्रव्य लक्षणमिति" लिखा है। इससे भी स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्र का परमागम सूत्र सस्कृत में होगा। इसी का विजयन ने 'कविमार्ग' नाम से कन्नड में अनुवाद किया होगा। इसी 'कविमार्ग' को 'कविराज मार्ग' में बढाकर नृपतुग ने परम सरस्वती तीर्थावतार' नाम दिया होगा। यदि हमारे इस तर्क की पुष्टि किन्ही अन्य प्रमाणो से हो सके तो हम यह कह सकते हैं कि समन्तभद्र का कोई कन्नड व्याकरण भी रहा होगा।

हमारा यह दृढ विश्वास है कि सस्कृत के प्रसिद्ध जैन ग्रथ आदिपुराण और उत्तर पुराण जिन्हें सम्मिलित रूप में महापुराण कहा जाता है कन्नड कवि परिमेष्ठी के एक गद्य ग्रथ के आधार पर लिखे गये हैं। स्वय जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण में कहा है—

स पूज्य कविभिर्लोके कवीना परमेश्वर।
वागर्थ सग्रह कृत्स्नम् पुराणं य समग्रहीत्।

हमारा यह कथन निर्मूल नही है वल्कि इसकी पुष्टि उभय भाषा चक्रवर्ती कवि हस्तिमल्ल के विक्रान्त कौरवीय नाटक की प्रशस्ति से भी होती है। कवि ने लिखा है—

तच्छिष्य प्रवरो जातो जिनसेन मुनीश्वर।
यद्वाङ्मयम् पुरोरासीत् पुराण प्रथमम् भुवि।

इस पद्य से जिनसेन का पुराण जैन सस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम मालूम होता है। हमारा ख्याल है कि आठवी सदी के पूर्व त्रिषष्टिशलाका पुरुषो का चरित्र जैनो द्वारा सस्कृत में नही लिखा गया था। इसीलिए हस्तिमल्ल ने इसे प्रथम महापुराण कहा है।

चामुण्डराय ने (सन् ६७८) कवि परिमेष्ठी की स्तुति करते हुए वताया कि इन्होंने त्रिषष्टिशलाका पुरुषो का चरित्र कन्नड में लिखा है। अत हमारे उपर्युक्त कथन की सम्यक् सिद्धि हो जाती है कि सस्कृत साहित्य में जिनसेन का महापुराण ही प्रथम महापुराण है।

चरितपुराण दो लो दने । वरेदर वरेदिक्कीदर त्रिपष्टिशलाका ।।
पुरुषर पुराणम कवि । परमेश्वरन्ते जसके नोतरु मोल रे ।।

चामुण्डराय ने कवि परमेश्वर के जिस चरित्र पुराण के वारे मे लिखा है वह पद्यकाव्य होगा । उसीको उसका प्रधान काव्य समझकर नृपतुग ने इन्हें कन्नड पद्यकार माना है ।

कविराजमार्ग में उल्लिखित विमल अभ्युदय जयवन्धु के अतिरिक्त नागार्जुन, दुर्विनीत, वर्द्धनदेव आदि कवि भी प्रसिद्ध कन्नड साहित्यकार हैं । नागार्जुन ने पूज्यपाद चरित्र, दुर्विनीत ने (४७८ ई० स०) किरातार्जुनीय की कन्नड टीका और वर्द्धनदेव ने ९६ हजार श्लोक प्रमाण तत्त्वार्थ महाशास्त्र का कन्नड व्याख्यान लिखा है । कई शिलालेख भी कन्नड भाषा में उपलब्ध हैं जिनका समय ई० ७ वी शताब्दी है, उन्हें भी हम कन्नड़ के खण्डकाव्य कह सकते हैं । उदाहरणार्थ एक पद्य उद्धृत किया जाता है—

साधुगे साधु माधुर्यंगे माधुर्यम्
आदिप्प कलिगे कलियुग विपरीतन्
माधव नीतन् पेरनल्ल ।।

इस प्रकार आरम्भ से ही कन्नड साहित्य में जैन कवियो ने गद्य पद्य में महाकाव्य और खंडकाव्य रचे थे । काव्यो के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, गजशास्त्र, अश्वशास्त्र, आयुर्वेद, छन्दशास्त्र, व्याकरण-शास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेक शास्त्रो का प्रणयन कन्नड भाषा में किया है ।

आदि-पंप—

कन्नड साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि पप हैं । इनका समय ई० स० ९४१ है । उन्होने 'आदि पुराण' और 'भारत' ग्रथो की रचना की है । ये दोनो ग्रथ चम्पू काव्य हैं । उन्होने स्वय अपने सम्बन्ध में लिखा है—"मेरे विख्यात चिरनूतन, समुद्रवत् गभीर काव्य मेरे परवर्ती कवियो के लिए प्रमोदप्रद हैं ।" पप के वशज ैदिक धर्मानुयायी थे । उसके पिता अभिरामदेव राय ने यह कह कर जैन धर्म स्वीकार कर लिया था कि ब्राह्मण जाति के लिए भी कल्याणप्रद जैन धर्म स्वीकार करने योग्य है ।

पप ने आदि पुराण मे काव्य के अमृतानन्द के साथ धार्मिक सिद्धान्तो का निरूपण भी किया है। उन्होने आरम्भ में ही उद्देश्य वतलाते हुए लिखा है—"नेगलद् आदि पुराण दोलअरिउदु काव्य धर्मम् धर्ममुमम्" अर्थात् काव्यधर्म और धर्म दोनो ही इस ग्रथ से जाने जा सकते हैं । यद्यपि कवि पप मे कल्पनाशक्ति का प्राचुर्य दिखलाई पडता है पर तीर्थंकर चरित्र तक ही कथा वस्तु सीमित रह जाने के कारण वे उन्मुक्त रूप से अपनी कल्पना का प्रयोग नही कर सके हैं । इसी लिए जहाँ तहाँ नीरस वर्णन भी है ।

कवि का दूसरा ग्रंथ विक्रमाजुन विजय अर्थात् 'भारत' है । कवि ने इस ग्रथ मे काव्य तत्त्वो का निर्वाह अच्छी तरह से किया है । कल्पना की उडान और मनोरम दृश्यो का चित्रण प्राय सर्वत्र पाया जाता है । आख्यान में द्रौपदी को केवल अर्जुन की स्त्री ही माना गया है पच पाण्डवो की नहीं । नारी के नखशिख निरूपण में तो कवि सस्कृत के कवियो से अधिक बढ चढ कर है । स ग्रग्र की प्रमुख विशेषता उस सामन्तकाल में भी नारी की महत्ता का प्रदर्शन करना है । कवि ने द्रौपदी को एक अबला, पराश्रिता के रूप में ही चित्रित नही किया है बल्कि उसे स्वय सत्ता-शालिनी बतलाया है । वह अर्जुन के लिए जीवन का बरदान है, उसके कार्यों को प्रगति देनेवाली दैविक प्रेरणा है और है जीवन की सच्ची सगिनी ।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी पप के काव्य पूर्णत सफल हैं ।

ओडय्य (ई० स० ११७०)—

उन्होने "कब्बिगर काव" की रचना की है । भाषा और विषय के क्षेत्र में ये क्रान्तिकारी कवि हैं । उन्होंने अपने काव्य ग्रथो को केवल धर्म विशेष के प्रचार के लिए नही लिखा, प्रत्युत काव्य-रस का आस्वादन लेने के लिए ही काव्य का सृजन किया है । यदि इतिवृत, वस्तु व्यापार वर्णन, सवाद और भावाभिव्यजन की दृष्टि से इनके काव्य का परीक्षण किया जाय तो निश्चय ही इनका काव्य खरा उतरेगा ।

नयसेन—

१२ वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि नयसेन ने धर्मामृत, समय परीक्षा और धर्मपरीक्षा ग्रथो की रचना की है । धर्मामृत इनका श्रावक धर्म का प्रसिद्ध ग्रथ है । इन्होंने धारवाड जिले के मूलगुन्दा नामक स्थान को अपने जन्म से सुशोभित किया था । उत्तरवर्ती कवियो ने इन्हें 'सुकविनिकरपिक-माकन्द' 'सुकवि जनमन सरोज राजहस', और 'वात्सल्य रत्नाकर' आदि विशेषणो से विभूषित किया है । इनके गुरु नरेन्द्र सेन थे । धर्मामृत में कवि ने स्वय अपने समय के सम्बन्व में लिखा है—

गिरिशिखिवायुमार्गसख्ययो लावगगमिन्दी वर्त्तिवुस्तिरे ।
षट्कालयमल्नतिय नन्दवत्सरो मवत्सव विवशशिरद्, भाद्रपदमास
लमद् शुक्लपक्ष दल निरुभमप्य हस्तयुतार्कवारदोल् ।।

इससे स्पष्ट है कवि का समय ई० स० ११२५ है ।

भाषा शैली की दृष्टि से नयसेन ने सस्कृत-मिश्रित कन्नड का प्रयोग किया है । धार्मिकता के बन्धन में रहने के कारण कवि अपनी कल्पनाशक्ति का पूरा उपयोग नही कर पाया है ।

जन्न—

कन्नड साहित्य में जन्न, रन्न, पोन्न इन रत्नत्रय कवियो से कौन अपरिचित है । जन्न ने स० ११७० से लेकर १२३५ के बीच अनेक ग्रथो की रचना की है । यह येसल राजाओं का आस्थान

कवि था। इसे कवि चक्रवर्ती की उपाधि थी। पम की तरह जन्न भी शूर-वीर और लेखनी का धनी था। उत्तरवर्ती कवियो ने इसकी मुक्त कठ से प्रशसा की है। इसके 'यशोवरा चरित्र' और 'अनन्तनाथपुराग' प्रसिद्ध है। इतिवृत्त और कथा के मर्मस्थलो की विशेषता के कारण इनकी रचना चमत्कारपूर्ण है।

पौन्न, रन्न और कर्णपार्य कवियो ने भी कन्नड साहित्य में विकास के पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। चम्पू साहित्य के निर्माता तो जैन कवि ही है।

कर्णपार्य—

कर्णपार्य ने 'नेमिनाथ पुराण' (हरिवश) की रचना की है। इसमें समुद्र, पहाड, शहर, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वनक्रीडा, जलक्रीडा, रति, चिन्ता, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, युद्ध, जयप्राप्ति, इत्यादि का सविस्तर वर्णन किया है। विप्रलभ शृगार के वर्णन मे तो कवि ने अद्वितीयता प्रकट की है।

नेमिचन्द्र—

'अर्द्धनेमिपुराण' के रचयिता कवि नेमिचन्द्र भी १३ वी शताब्दी के कवियो में प्रमुख स्थान रखते हैं। उन्होने सस्कृत-मिश्रित कन्नड में सस्कृत छन्द लेकर अपने काव्य का निर्माण किया है। चम्पक शार्दूल वृत्त मे प्राय. समस्त ग्रथ लिखा गया है। अनुप्रास की छटा तो इतनी अधिक दिखलाई पडती है जिससे इनके समकक्ष कन्नड का शायद ही कोई कवि आ सकेगा।

गुणवर्म—

इन्होने पुष्पदन्त पुराण की रचना की है। यह ग्रथ इतिवृत्तात्मक होते हुए भी मर्मस्पर्शी भावनाओ से अछूता नही है। कवि ने अपना भाषा-विषयक पाण्डित्य तो दिखलाया ही है साथ ही साथ वर्णनात्मक शैली द्वारा विषय को भी नवीन रूप से प्रस्तुत किया है।

वन्धुवर्मा और रत्नाकर-वर्णी—

आध्यात्मिक साहित्य के निर्माताओ में उक्त दोनो कवियो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि रत्नाकर वर्णी ने 'भरतेशवैभव', 'रत्नाकरशतक', 'अपराजितशतक', 'त्रैलोक्येश्वर शतक' आदि ग्रथो की रचना की है। भरतेशवैभव का माधुर्य तो सस्कृत के गीतगोविन्द से भी वढकर के है। यह ग्रन्थ आज कन्नड प्रान्त मे लोगो का कण्ठहार वना हुआ है। तुलसीदास के रामचरितमानस के समान इसके भी दो चार पद निरक्षर भट्टाचार्यों को भी याद हैं। सगीत की दृष्टि से इस ग्रथ का अत्यधिक महत्व है। इस ग्रथका रचनाकाल ई० स० १५५१ है। महाकाव्य और गीत-काव्य का आनन्द इस एक ग्रथ से ही लिया जा सकता है।

मंगिरस—

सगीत के धुरन्धर आचार्य मगिरस ने नेमिजिनेशसगीत काव्य की रचना की है। इस ग्रथ में कवि ने सगीत की छटा का अद्भुत प्रदर्शन किया है। रागरागिनियाँ उनके चरणो पर लौटती हैं।

लक्षण-ग्रन्थ—

कन्नड जैन कवियो ने लक्ष्य ग्रथो के साथ लक्षण ग्रथो का भी निर्माण किया है । कन्नड साहित्य में उपलव्ध सवसे प्राचीन लक्षण ग्रथ 'कविराजमार्ग' ही है । इसमे व्याकरण, छद, ग्रलकार, रस ग्रादि सभी का वैज्ञानिक निरूपण है । ऐसा मालूम होता है कि दण्डी के काव्यादर्श का ग्रनुकरण कवि ने किया है । इसके तीन खड हैं—दोषानुवर्णन, शब्दालकार, और ग्रर्थालकार । इस ग्रथ से पता चलता है कि उस समय कन्नड मे दो प्रकार की शैलियाँ थी—उत्तर कन्नड शैली और दक्षिण कन्नड शैली । ग्रर्थालकार प्रकरण में ३६ ग्रर्थालकारो के लक्षण और उदाहरण भेद-प्रभेद सहित लिखे गये हैं । काव्य में शब्ददोष, पदार्थ दोष, वाक्य दोष, वाक्यार्थ दोष ग्रादि का प्रामाणिक वैज्ञानिक विवेचन है । ऐसा मालूम होता है कि कवि ने काव्य के स्वरूप-निर्धारण में रस की ग्रपेक्षा शब्द रचना को ग्रधिक महत्ता दी है ।

नागवर्म का (९९० ई० स०) छन्दोम्बुधि' उपलव्ध छदशास्त्र में सवसे प्राचीन ग्रथ है । यह संस्कृत के पिंगल के छदशास्त्र के ग्राधार पर लिखा गया है । फिर भी ग्रनुपूर्वी और वृत्त के नामों में पिंगल की ग्रपेक्षा इसमें पर्याप्त ग्रन्तर है । इसमें छ सधिया हैं—कन्नड मात्रिक छद और सस्कृत छदो का विवेचन ही प्रधान रूप से किया गया है ।

शब्दकोषो में 'रत्नकन्द' (९९३ ई० स०) सवसे प्राचीन ग्रथ है । यह पुराने कन्नड पदो का नवीन ग्रर्थ व्यक्त करता है । द्वितीय नागवर्म (११४५ ई० स०) ने 'वस्तुकोष' नामक एक कोष-ग्रथ और लिखा, जिसमे सस्कृत पदो का ग्रर्थ कन्नड पदो में वताया गया है । रीति पर भी नाग-वर्म ने प्रकाश डाला है । इन्होने कहा है—"पद रचनातिशयम रीति" रीति की परिभाषा है और काव्यो में इसका रहना ग्रत्यावश्यक है । काव्य में ग्रलकार के ग्रभाव में भी रीति के रहने से माधुर्य और सौन्दर्य की नियोजना हो जाती है । इन्ही नागवर्म का 'काव्यालोकन' कन्नड लक्षण ग्रथो में महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।

कन्नड व्याकरण पर भी जैन रचयिताग्रो ने कई महत्वपूर्ण ग्रथ लिखे है । १२ वी सदी में नयसेन ने एक महत्वपूर्ण व्याकरण ग्रथ लिखा है पर ग्राज यह उपलब्ध नही है । इस ग्रथ का पता नागवर्म के भाषाभूषण के ७२ वें सूत्र 'दीर्घो नयसेनस्य" से लगता है । नागवर्म ने 'कर्नाटक भाषाभूषण' लिखकर कन्नड के व्याकरण को सुव्यवस्थित बना दिया । यद्यपि इस ग्रथ के सूत्र और वृत्ति सस्कृत में हैं पर उदाहरण ग्रपने पूर्ववर्ती कन्नड कवियो से चुनकर लिये गये हैं, इसमें सज्ञा, सधि, विभक्ति, कारक, शब्द-रीति, समास, तद्धित, ग्राख्यात नियम, ग्रन्वय निरूपण और निपात निरूपण ये दस परिच्छेद हैं । कुल मिलाकर दो सौ ग्रस्सी सूत्र हैं । व्याकरण ग्रथो में केशवराज (११५० ई० स०) का 'शब्दमणिदर्पण' एक महत्वपूर्ण और वडा व्याकरण ग्रथ है । इसमें कन्दरूप से सूत्र लिखे गये हे । व्याकरण नियमो के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण प्राचीन कवियो के गद्य-पद्य से दिये गये हैं । इस व्याकरण ग्रथ ने कन्नड भाषा को सुव्यवस्थित वनाया है ।

नवरस पर 'उदयादित्य ग्रलकार' जिसमें सक्षेप में चन्द्रालोक की शैली पर रस ग्रलकार का विवेचन किया गया है एक महत्वपूर्ण ग्रथ है । इसमें पाच प्रकरण हैं और तीसरे रस प्रकरण

में रस का सविस्तर निरूपण है। रस पर कवि साल्व का 'रस रत्नाकर' एक सुप्रसिद्ध रस-ग्रथ है। कन्नड साहित्य में स्वतत्र रूप से रस का विवेचन करने में इससे बढकर अन्य कोई ग्रथ नही है। मनोरम उदाहरण और हाव-भाव आदि का सुन्दर विश्लेषण लक्ष्य और लक्षण शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

विविध-विषयक साहित्य—

जैन कवियो ने कन्नड साहित्य के जन्मकाल से ही उसके सवर्द्धन में पूर्ण सहयोग दिया है। उन्होंने केवल लक्ष्य, लक्षण ग्रथो का ही निर्माण नही किया अपितु वैद्यक, विज्ञान, अर्थशास्त्र, ज्योतिष आदि विषयो पर भी पूरा प्रकाश डाल उनका कलेवर विस्तृत किया है। शिवमारदेव ने (८००ई०स०) 'शिवमारमत' और 'हस्त्यायुर्वेद' शास्त्र लिखा है। १२ वी शताब्दी में देवेन्द्र मुनि ने बालग्रह चिकित्सा तथा अन्य भी कई आचार्यों की प्रामाणिक कृतिया इस विषय पर उपलब्ध है।

चन्द्रराज ने (१०७६ ई० स०) में 'मदन तिलक' नामक कामशास्त्र का ग्रन्थ लिखा है। यह कन्नड साहित्य का इस विषय का सबसे आदि ग्रथ है। जन्न ने (१२०६) में 'स्मरतत्र' की रचना काम विषय पर की है।

ज्योतिष विषय पर श्रीधर का जतकतिलक' (ई० सं० १०४६) प्रसिद्ध ग्रथ है। यह बेलवल देश के नरगुद का रहनेवाला था। ज्योतिष विषय पर भी कन्नड में यह आदि ग्रन्थ माना जाता है। जातक तिलक के पश्चात् चामुण्डराय का 'लोकोपकारक' ग्रथ सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से महत्व-पूर्ण माना जाता है।

सूपशास्त्र (पाकशास्त्र) नाम का जयवन्धु नन्दन का एक प्रसिद्ध ग्रथ है। इस विषय पर अन्य जैन लेखको की रचनाएँ उपलब्ध नही है।

गणित विषय पर कविराजादित्य के (११२० ई० स०) व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न, क्षेत्ररत्न, लीलावती, चित्रहसुगे और जैनगणित सूत्र, प्रसिद्ध गणित ग्रथ हैं। व्यवहारगणित गद्या-पद्यात्मक है। सूत्र पद्य में और उदाहरण गद्य में लिखे गये है।

उपसंहार—

अत उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन साहित्यकारो ने कन्नड साहित्य की महती सेवा की है। कन्नड साहित्य की बहुमुखी अन्तश्चेतना को जैनसाहित्यकारो ने दिशा प्रदान की है, इसमें तो सन्देह कतई नही। क्या काव्य, क्या ज्योतिष, क्या गणित सभी क्षेत्रो को इन्होने अभिवृद्ध कर कन्नड साहित्य को उपयोगी और वैज्ञानिक आभरण सज्जा से आच्छन्न कर दिया है। सास्कृतिक और आध्यात्मिक निर्घोष के साथ जैन साहित्यकारो ने कन्नड साहित्य में नवीन विचारो, अनुमानो का चयन किया है। कन्नड साहित्य की सफलता और प्रमारिता के सारे उज्ज्वल रूपो का श्रेय जैन-साहित्यकारो को है।

जैन लोक-कथा साहित्य

श्रीमती मोहिनी शर्मा

जैन-धर्म की चेतना-भूमि—

जैन कथाएँ भारतीय लोक साहित्य की विशुद्ध प्रतीक हैं। यद्यपि उनमें धर्मभावना प्राधान्य है, उनमें एक न एक भाव ऐसा अवश्य छिपा है जो अप्रत्यक्ष रूप में धार्मिक परम्पराओ पर आधारित है, फिर भी लोक भावना से वे शून्य नही है।

'जिन' या अर्हंतो के अनुयायी जैनो का धर्म भी उसी काल में तथा भारत के उसी भाग में जन्मा, पनपा तथा विकास को प्राप्त हुआ जहा बौद्ध धर्म, पर उसका प्रचार एव प्रसार उतने विस्तृत दायरे में न हो सका जितने में बौद्धधर्म का। वैसे देखा जाय तो आज भी जैन धर्म के अनुयायी लाखो की सख्या में है (पिछली जनगणना १९५१ के अनुसार जैनियो की सख्या करीव २४ लाख है) और ये भारत के सबसे अधिक धनी व प्रभावशाली व्यक्तियो में से हैं। पर योरोप में भी अव जैनधर्म का काफी प्रचार हो चुका है तथा वहा के लोग इस ओर आकृष्ट हुए हैं। और आज कल तो जैन धर्म भी बौद्धधर्म के समान विश्वधर्म होने का दावा करने लगा है। जैन धर्म की एक सवसे वडी विशेषता यह है कि इसका द्वार सभी लोगो के लिए समान रूप से खुला हुआ है जैसा कि श्री होफ्रेक बुलर ने ठीक ही कहा है कि बिलकुल अपरिचित विदेशियो के साथ ही साथ म्लेच्छो का भी यह अपनी भुजाएँ फैलाकर सहर्ष आवाहन करता है। इतनी उदार नीति पर आधारित होने पर भी यह बौद्धधर्म के समान विकास को नही प्राप्त हो सका—शायद इसीलिए कि इसके सिद्धान्त और आदर्श जन सामान्य के लिए अति कठोर हैं।

वैसे तो जैन लोग २४ तीर्थंकरो को मानते है, पर प्रमुख रूप से अन्तिम दो तीर्थंकर २३ वें पार्श्वनाथ व २४ वें वर्द्धमान महावीर ही जनसामान्य के लिए अधिक परिचित हैं। यद्यपि यह निर्विवाद है कि वर्द्धमान सस्थापक न होकर सुधारक थे और उन्होने पार्श्वनाथ के सिद्धान्तो को ही परिष्कृत एव परिमार्जित किया। महावीर की निर्वाण-तिथि के सम्वन्ध में विद्वानो में मतभेद है। कोई ईसा पूर्व ५४५, कोई ५२७ और कोई ४६७ मानते हैं। महावीर की मृत्यु के वाद ई० पू० दूसरी शताब्दी में जैन सम्प्रदाय में धर्मभेद की दृष्टि से शाखाएँ वनना प्रारम्भ हुआ और ई० पू० पहली शताब्दी के प्रारम्भ में यह श्वेताम्बर व दिगम्बर इन दो शाखाओ में विभक्त हो गया।

श्वेताम्बर लोग अपने देवताओ की प्रतिकृतियो को श्वेत वस्त्र पहिनाने लगे और दिगम्वर लोग पूर्ण-तया नग्न रखने लगे। ये दोनो ही मत व मान्यताएँ आज भी अक्षुण्ण रूप में जीवित हैं।

जैन धर्म का प्रमुख उद्देश्य भी अधिकांश भारतीय धर्मों के समान ही कर्म प्रवृत्तियो अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा दिलाना है। जहाँ तक हमें स्मरण है ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कही चर्चा नही है। पर जब वैदिक धर्म का प्रभाव लोक दृष्टि से उठ गया, पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने विद्वानो को विचार करने के लिए वाध्य किया और शायद तभी से पुनर्जन्म के प्रति लोगो की दृढ आस्था हुई। जैन कथाकोश में सग्रहीत कथाओ की मूल प्रेरणा भी यही पुनर्जन्म के प्रति आस्था है। इस जन्म में किए हुए कर्मों का फल अगले जन्म में मिलता है। मनुष्य योनि ही वह सर्वश्रेष्ठ स्थिति है जहा प्राणी अपने उत्तमोत्तम कार्यो द्वारा मुक्तिपद की राह में लग सकता है, आदि ये सब भावनाएँ ही जैन लोक कथा साहित्य की मूल आधार हैं। कर्मों के चक्कर से छूट जाना अर्थात् मुक्ति पाना ही जैन-धर्म की प्रेरणा है और यही प्रेरणा जैन लोक-कथाओ का प्राण कही जा सकती है। जैन कथा साहित्य का मर्म अच्छी तरह समझने के लिए पहले हमें जैन धर्म के कुछ सिद्धान्तो का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। मुक्ति पद की प्राप्ति के लिए वौद्ध धर्म के समान ही जैन धर्म में भी तीन रत्न वतलाए गए हैं, वे हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चरित्र। इन्हें मुक्ति-मार्ग की तीन सीढ़िया कहा जाता है। यहा इन तीनो का सूक्ष्म विश्लेषण भी विषय विरोध होगा। अत इस विषय को आगे वढाने की अपेक्षा अव हम यही छोडेगे। जैन लोग पुष्प आदि अष्ट द्रव्यो से अपने देवताओ का पूजन अर्चन करते हैं। उनकी प्रशसा व सम्मानसूचक प्रार्थनाएँ तथा भक्तिभाव से पूरित गीत गाते हैं और उनकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रतिवर्ष हजारो मील की तीर्थयात्राएँ करते हैं। इन्ही सब वातो के वर्णन से जैन साहित्य भरपूर है। साधु-साध्वियो के आचार विचार आदि का परिचय जैन साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है। सबसे पहले जैन साहित्य प्राकृत में लिखा गया था पर शीघ्र ही इस वात की आवश्यकता महसूस हुई कि वह सस्कृत में लिखा जाना चाहिए। तत्कालीन परिस्थितियो का यदि अध्ययन किया जाए तो इसे एक स्वा-भाविक आवश्यकता ही कहना चाहिए। पर जैन लोग केवल अपने सिद्धान्तो को लिख कर ही सन्तुष्ट न हो सके। उन्होने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में ब्राह्मणो से प्रतिद्वद्विता की। व्याकरण, ज्योतिष, सगीत, कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में उन्होने प्रगति की ओर कदम वढाए। इन सब प्रवृ-त्तियो के मूल में उनका केवल एक ही ध्येय था। जन सामान्य को जैन धर्म की ओर आकृष्ट करना व उस पर उनकी आस्था दृढ करना और अपने उद्देश्य में वे सफल भी हुए। उनकी समय को कृतिया योरोपीय विज्ञान के लिए आज भी वड़े महत्व की हैं।[1]

जैन कथाओं की व्यापकता—

जैन कथा साहित्य में तपस्विनो, भक्तिनो तथा साध्वियो को वहुत ही कम स्थान मिला है और ऐसे प्रसग भी शायद ही मिलें जहा इन्हें आदर या सम्मान का स्थान दिया गया हो। साध्वियो को

१ Buhler's Vortrag, pp. 17 & 18

केवल श्वेताम्बर साहित्य में ही स्थान प्राप्त है, दिगम्बर साहित्य से उनका कोई वास्ता नही । दिग-म्बर शास्त्र के अनुसार तो स्त्रिया मुक्ति की अधिकारिणी ही नही । वे 'मोक्षमहल' में कदम भी नही रख सकती पर इस विषय में उनमें व श्वेताम्वरो में गहरा मतभेद है ।

सुप्रसिद्ध युरोपीय विद्वान श्री सी० एच० टाने ने अपने ग्रथ 'ट्रेजरी ग्राफ स्टोरीज' की भूमिका मे यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जैनो के 'कथाकोश' में सग्रहीत कथाओ व योरोपीय कथाओ मे अत्यन्त निकट का साम्य है । उनके विचार से यह अधिक सभव है कि जिन योरोपीय कथाओ में यह साम्य मिलता है, उनमें से अधिकाश भारतीय कथा साहित्य (विशेषत जैन कथा साहित्य) के आश्रित हो । प्रोफेसर मैक्समूलर, बेन्फे व रहीस डेविड्स ने अपने ग्रथो में इस बात के काफी प्रमाण दिए है कि भारतीय बौद्ध कथाएँ लोक कठो के माध्यम से परसिया से यूरोप गईं । निःस-न्देह इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि बहुत सी कहानियाँ मध्ययुगीन भारत से यूरोप में गईं । यद्यपि इस बात में सन्देह है कि भारत में ही जन्मी, पनपी, या और कही । श्री एन्ड्रू लग, जिन्होने इस विषय का गहरा अध्ययन किया है, का मत है कि यदि आवश्यकतानुरूप सीमित कर दिया जाए तो यह उधार लेने की प्रवृत्ति बुरी नही कही जा सकती । ये कहानिया निश्चित रूप से मध्ययुगीन भारत से बाहर गईं और मध्यकालीन युरोप व एशिया में अधिकता से पहुँची । लोककठो के माध्यम से कथाओ के आवागमन के विषय में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है । अधिकाशत एक दूसरे के तत्त्वो में, घटनाओ में आपस में अदला बदली हुई । यह निश्चित है कि पाश्चात्य साहित्य पर लोककथाओ का अधिक प्रभाव पडा है जिनने भारतीय साहित्य में अपना प्रमुख स्थान बना लिया था[1] । यह भी सभव प्रतीत होता है कि भारतीयो ने कुछ लोककथाएँ यूनानियो से उधार ली । इतिहास इस बात का प्रमाण है कि भारतीयो ने काफी समय तक मुद्राशास्त्र, ज्योतिष और कुछ सीमा तक वास्तु और शिल्पकला तथा नाट्यकला की शिक्षा यूनानियो से ग्रहण की । 'कथासरित्सागर' के अग्रेजी अनुवाद की टिप्पणियो में श्री सी० एच० टाने ने भारतीय व यूनानी उपन्यासो (कथा वृत्तान्तो) के सादृश्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है ।

यहा एक प्रश्न यह भी उठना स्वाभाविक ही है कि जैन कहानियाँ इतने दूर दूर के प्रदेशो मे कैसे पहुँची जब कि जैन धर्म के विस्तार के विषय में हम देखते है कि वह भारत तक ही सीमित रहा । इसके उत्तर मे हम तो अपनी ओर से यही कहेंगे (और यह सच है) कि ये कहानिया जैनों द्वारा नही बल्कि बौद्धो द्वारा सुदूर प्रदेशो मे ले जाई गईं क्योकि जैन और बौद्ध दोनो ने ही ज्ञानो-न्नति एव प्रचार के उद्देश्य से पूर्वीय भारत की लोककथाओ का समुचित उपयोग किया । एक उदा-हरण से हमारा यह कथन स्पष्ट हो जाएगा व उसे बल मिलेगा ।

प्रामाणिक-चित्रण—

सुप्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान प्रोफेसर जैकोबी ने अपनी 'परिशिष्ट पर्व' की भूमिका मे एक जैन कथा की रानी से सम्बन्धित निम्न अश उद्धृत किया है जो दो प्रेमियो की प्राप्ति के लोभ में एक को भी न पा सकी —

१ 'Myth, Ritual & Religion' Vol II, p 313

"   रानी और उसका प्रेमी, जो एक डाकू था, यात्रा को चल दिये और चलते चलते एक नदी के किनारे पहुँचे जिसमें बाढ आई हुई थी। डाकू ने रानी से कहा कि पहले तुम्हारे वस्त्राभूषणो को पहुँचा देना ठीक होगा, पश्चात तुम्हें ले चलूगा। लेकिन जब वह रानी के वस्त्राभूषणो को लेकर उस पार पहुँच गया तो उसने ऐसी धोखेबाज दुःशील स्त्री से छुटकारा पाना ही उचित समझा और उसे उसी किनारे पर एक नवजात शिशु के समान नग्न अवस्था में छोड कर चल दिया। ऐसी स्थिति मे रानी को एक व्यतर देव ने देखा जो पूर्वजन्म में महावत था व रानी के प्रेमियो में से एक था, और उसे बचाने का निश्चय किया। अत वह अपने मुह में मास का एक टुकडा दबाए एक सियार के रूप में प्रगट हुआ। वह एक मछली को देख कर जो उछल कर पानी से बाहर आ गई थी, मास का टुकडा छोड उस पर झपटा। मछली जैसे तैसे प्रयत्न करके सियार की पहुँच में आने से पहले ही पानी मे पहुँच गई और इसी समय आकाश में उडते हुए एक पक्षी ने नीचे आकर वह मास का टुकडा अपनी चोच में दबा लिया और उड गया। रानी ऐसा देखकर सियार की मूर्खता पर हँसी जिसने मछली को पाने की आशा में मछली के साथ ही साथ हाथ में आए हुए मास के टुकडो को भी खो दिया। उसी समय सियार अपने असली रूप में प्रकट हुआ और कहा कि उसने (रानी ने) अपने पहले और दूसरे प्रेमियो के साथ ही साथ वस्त्राभूषण भी खो दिये। उसने उसे अपने पापो का प्रायश्चित करने और 'जिन' की शरण में जाने का उपदेश दिया। रानी ने उसकी बात मान ली और एक तपस्विनी बन गई।"

अब आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि यही कहानी चीन में एक लोक कथा के रूप में प्रचलित है। श्री स्टेनिसलास जूलियन ने 'अवदान' के चीनी से अंग्रेजी अनुवाद में यह कहानी दी है। इस कहानी का शीर्षक है 'दी विमन एण्ड दी फाक्स'। यही कथा फ्रांस में भी कुछ परिवर्तित रूप में प्रचलित है, जो इस प्रकार है—

"एक समय एक बडी ही धनवान औरत थी। उनके पास खूब सोना और चादी था। वह अपने पति के अतिरिक्त एक और अन्य पुरुष से प्रेम करती थी। वह अपने प्रेमी के साथ भाग निकलने के लिए अपने पति को छोडकर सोने व चाँदी के बहुमूल्य आभूषणादि लेकर चली। वे दोनों चलते चलते एक नदी के किनारे पहुँचे। प्रेमी ने उस स्त्री से कहा—"तुम पहले मुझे सभी बहुमूल्य जेवरात आदि दे दो ताकि मैं पहले उन्हें उस पार रख आऊँ। उन्हें उस पार रखकर मैं लौट आऊँगा और तब तुम्हें भी उस पार ले चलूगा। वह औरत इसी किनारे पर रही और उसने अपने सभी वस्त्राभूषण अपने प्रेमी को दे दिए पर फिर उसका प्रेमी कभी लौट कर नहीं आया। वह उसे हमेशा के लिए छोड कर चला गया। इसी समय उस स्त्री ने एक लोमडी को देखा जिसने एक बाज को पकड रखा था। लोमडी ने इसी बीच एक मछली देखी और उसे पाने की आशा मे बाज को छोड दिया। पर वह लोमडी न तो मछली ही पा सकी और न बाज ही। क्योंकि उसके पजे से छूटते ही बाज उड गया था। उस औरत ने लोमडी से कहा—तुमने बहुत बड़ी बेवकूफी की है। दोनों वस्तुओं को एक साथ पाने के लालच में तुमने दोनो को ही एक साथ

खो दिया। उत्तर मे लोमडी ने कहा—"मुझसे भी अधिक बेवकूफ तो तुम हो[1]।" अग्रेजी अनुवादक का कहना है कि यह कहानी (Fa-yoen-tuhculin)' नामक बौद्ध विश्वकोश से ली गई है। यह तो सभी जानते हैं कि उत्तरी बौद्धो से चीनियो ने बहुत कुछ उधार लिया पर यही कहानी फौसवाल द्वारा सम्पादित 'पाली-जातक' मे भी मिलती है। उसमें यह कहानी 'चुल्लधनुग्गहा जातक' नाम से है। चुल्लधनुग्गहा जो कि इस कहानी का नायक है अपने तीरो से एक हाथी व ४६ डाकुओ को मारने के पश्चात् अपनी स्त्री के कपट-व्यवहार से डाकुओ के सरदार द्वारा मारा जाता है। क्योकि उसकी स्त्री डाकू सरदार से प्रेम करती है। पर वह डाकू सरदार उसके पति को मारने के पश्चात् उसकी सारी सम्पत्ति जेवर आदि लेकर भाग जाता है। और वह बेचारी सब कुछ खोकर निराश्रित हो जाती है। तब सक्क (इन्द्र) अपने मुह में मास लिए सियार के रूप में और मातलि तथा पचशिखा (इन्द्र के ही आदेश से) क्रमश मछली व बाज के रूप में आते हैं। इसी प्रकार यह नाटक जैन कथा के समान ही चलता है। उसका परिणाम यह होता है कि स्त्री अपने आप मे बडी शर्मिन्दा होती है और पश्चात्ताप करती है।

कथाओं की मौलिकता—

जो कुछ भी हो, पर हम इतना अवश्य कहेंगे कि लोक-कथाओ के अन्वेषको को इन जैन कथाओ का स्वागत अपनी खोजो के लिए एक महत्वपूर्ण देन के रूप मे करना चाहिए। उन्हें इस बात का सन्देह अपने मन से निकाल देना चाहिए कि ये कथाएँ यूरोपीय कथाओ से प्रभावित हैं। जैन कथाएँ अपने आप में पूर्णत मौलिक हैं और विशुद्ध भारतीय हैं। इस विषय के प्रमाण में हम ऊपर बहुत कुछ लिख चुके हैं। हमारे इस कथन का आशय यह नही लेना चाहिए कि सभी जैन कथाएँ विशुद्ध एव मौलिक हैं। कुछ कथाएँ मूल रूप से जैनेतर हैं और उन्हें अपनी बनाने के लिए उन पर जैन धर्म के उपदेशो का रग चढा दिया गया है। कही कही तो कथा के पात्रो के नाम भी जैन कल्पनानुसार बदल दिए गए हैं। जैसे नल-दमयन्ती की सुप्रसिद्ध कथा का रूपान्तर भी जैन लोककथा के रूप में प्रचलित है। इसमें दयमन्ती को दवदन्ती के रूप में बदल दिया गया है। 'कथाकोश' में सग्रहीत इस कहानी के रूप से स्पष्ट पता चलता है कि सामाजिक व लौकिक कथाओ को धार्मिकता का बाना पहिनाकर जैनो ने जिस नए ढग से उनका नया रूप प्रस्तुत किया है, वह प्रशसनीय है।

जैन साहित्यकार और बौद्ध—

जैन साहित्य मात्रा में विशाल है और मनोरजन से परिपूर्ण है। केवल भारतीय ही नही यूरोपीय पुस्तकालयो में भी कई हस्तलिखित जैन ग्रथ भरे पडे है जो अभी तक अप्रकाशित हैं। विशाल जैन साहित्य में मात्र धर्मचर्या नही है वरन् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक लौकिक, ललित कला आदि सभी विषयो पर जैन ग्रथकारो ने समान और आधिकारिक रूप से अपनी लेखनी चलाई है। उन्होने सिद्धान्त, तर्कशास्त्र और दर्शन आदि विषयो पर अपने स्वतत्र मत स्थापित किए व ग्रथ भी

---

१ 'Les Avadans' tradiuts per Stanislas Julien, Vol II P. 11

लिखे । एक ओर जहा उन्होने इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि की, दूसरी ओर ब्रह्म विज्ञान आदि पर भी सफलतापूर्वक ग्रंथ लिखे । उन्होने सस्कृत के साथ ही प्राकृत के भी वहुत से कोषो और व्याकरणो की रचना की । गुजराती और परसियन भाषाओ में भी उन्होंने व्याकरण तैयार किए । अकशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीति शास्त्र (दोनो वर्ग—राजनीति व सामान्य नीति) आदि पर भी उनके अनेको ग्रथ उपलब्ध है । राजकुमारो की शिक्षा के लिए जैन लेखको ने अश्वकला, हस्तिकला, तीरतर्कशकला, कामशास्त्र आदि विषयो के ग्रथ प्रणयन किए । सामान्य वर्ग के लिए जादू, ज्योतिष, शकुनशास्त्र आदि ऐसे विषयो पर रचनाएँ लिखी जिनका भारतीय सामाजिक जीवन में आदिकाल से ही महत्त्व रहा है । इतना ही नही, उन्होने शिल्पकला, सगीतकला, स्वर्ण रजत आदि के गुणावगुण, रत्नो आदि पर महान ग्रन्थ लिखे । काव्य क्षेत्र में जैन कवि, जो सामान्यत साधु होते थे, दरवारी ब्राह्मण कवियो से होड लेते थे । वे सस्कृत में नाटक, काव्य, चम्पू आदि वडी कुशलता से लिखते थे और अपने ग्रथो में ताद्विषयक नियमो का भी पूर्णता से पालन करते थे । उनके लिखित ग्रथ आज भी काफी मात्रा में उपलब्ध है । आलोचनाशास्त्र पर भी उनकी कई महत्वपूर्ण कृतिया है ।

हिन्दू शासको के साथ ही साथ मुस्लिम शासको के समय में भी जैन साधुओ का दरवारो में काफी मान रहा और उनकी कला की प्रशसा होती रही । यहा एक वात विशेष ध्यान देने की यह है कि जहा जैनेतर कवि, विद्वान आदि राज्यमद के फेर में सामान्य जनता को भूल गए, जैन साधु कभी नही भूले । विशेषत वैश्यवर्ग के साथ उनका सम्वन्ध अटूट रहा । जहा ब्राह्मणवर्ग ने अपने ग्रथ विशेषत राजदरवारो व राजकुमारो दरवारियो आदि के लिए लिखे जैन लेखको ने सामान्य वर्ग की साहित्यिक आवश्यकताओ को पूरा किया—उनकी साहित्यिक रुचि जागृत की । उन्होने केवल सरल सस्कृत में ही ग्रथो का भडार नही भरा वरन् प्राकृत, अपभ्रश, पुरानी हिन्दी, गुजराती, कन्नड और राजस्थानीय आदि में भी ग्रथ लिखे । वे साहित्य के एक बड़े ही विशाल एव विस्तृत क्षेत्र के स्रष्टा थे ।

जैन कथा साहित्य मात्रा में वहुत ही विशाल है । उसमें रोमास, वृत्तान्त जीव जन्तु लोक, परम्पराप्रचलित मनोरजक वर्णनात्मक आदि सभी प्रकार की कथाएँ प्रचुर मात्रा में मिलती है । जनसाधारण में अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए जैन साधु कथाओ को सवसे सुलभ व प्रभावशाली साधन मानते थे और उन्होने इसी दृष्टि से उपरोक्त सभी भाषाओ में गद्य-पद्य दोनो में ही कहानी कला को चरम विकास की सीमा तक पहुँचाया । उनकी कथाएँ दैनिक जीवन की सरल से सरल भाषा मे होती थी । कोई कोई कथाएँ तो केवल एक ही साधारण कथा हुआ करती थी पर अधिकाशत कथाओ में वहुत सी गौण कथाएँ इस ढग से मिली रहती थी कि कथा का क्रम नही टूटने पाता था और काफी लम्बे समय तक कथा चलती रहती थी (जैसे पचतत्र) ।

उनका कथा कहने का ढग अन्यो की अपेक्षा कुछ विशेषतायुक्त है । कथा के प्रारम्भ में जैन साधु कोई प्रसिद्ध धर्मवाक्य या पद्याश कहते है और फिर वाद में कथा कहना शुरू करते है । कथा की लम्वाई या छोटाई पर वे जरा भी ध्यान नही देते । उनकी कथाएँ वहुत सी रोमाटिक घटनाओ

(अधिकाश घटनाएँ एक दूसरे से गूथी रहती हैं) से युक्त रहती हैं । कहानी के अन्त में वे पाठकों का परिचय एक केवली—त्रिकालदर्शी जैन साधु से कराते है जो कथा से सबद्ध नगर में आता है और कथा के पात्रो को सद्मार्ग पर आने का उपदेश देता है । केवली का उपदेश सुनकर कथा के पात्र पूछते हैं कि ससार में प्राणियो को दुख क्यो सहने पडते है, दुखो से छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे केवली जैन धर्म के प्रमुख तत्त्व कर्म का वर्णन करने लग जाता है कि प्राणी के पूर्वकृत कर्मों के फल रूप में ही उसे सुख या दुख की प्राप्ति होती है। अपने इस कथन का सम्बन्ध वह कहानी के पात्रो के जीवन मे घटित घटनाओ से स्पष्ट करता है।

इन धर्मोपदेशो का साहित्यिक रूप बौद्ध जातको से सादृश्य रखता है पर जातको की अपेक्षा वह कई दृष्टियों से श्रेष्ठ है । जातक का प्रारम्भ एक कथा से होता है जो बिलकुल ही स्वत्वहीन होती है । किसी भिक्षु के साथ कोई घटना घटती है । उसी समय बुद्ध आते हैं । अन्य भिक्षु उस पहले भिक्षु के साथ घटी घटनाओ के सम्बन्ध में उनसे प्रश्न करते हैं और बुद्ध उत्तर मे उस साधु के पूर्वजन्म की कथा कहते हैं । पूर्व जन्म की कथा ही जातको की प्रधान कथा होती है जब कि जैन धर्मोपदेशों—जैन कथाओ में उपसहार के रूप मे उसका अस्तित्व रहता है । बोधिसत्त अथवा भविष्य में होने वाले बुद्ध स्वय उस कथा के एक पात्र होते हैं और उस उत्तरदायित्व को पूर्णतया निभाते भी हैं और इस प्रकार पूरी कहानी एक शिक्षाप्रद उपदेशक कथा का रूप ले लेती है । जहा तक जातकों के मनोरजक तत्वो का प्रश्न है, वे बौद्ध के अपने मौलिक नही है । वे तो उन्होंने भारत जैसे विस्तृत प्रदेश मे फैली लोक कथाओ के विशाल भडार से लिए है । प्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् श्री जोहान्स हर्टेल का यह कथन ठीक ही है कि इन प्रसिद्ध कथाओ में से अधिकाश प्रवीणता, मनोरजन और क्रीडा कौतुक से भरपूर हैं पर वे धर्मोपदेशक नही है । जो जातक उपदेशपरक एव धर्मोपदेशक हैं भी तथा जिनके पात्र बोधिसत्त के पद के अधिकारी हैं, वे लोक-प्रचलित कथानको के जोडतोड कर अपने उद्देश्यानुकूल बनाए गए, उनके बदले हुए रूपान्तरमात्र है । और ऐसी अनेक जातक कथाएँ मौलिकता से हीन नीरस हो गई हैं, उनकी सारी आकर्षण शक्ति, उनका प्रभाव, उनकी कलाकुशलता विलुप्त हो गई है । बौद्धो ने अपने सिद्धान्त का समावेश बोधिसत्त का उदाहरण देकर कि किस प्रकार प्रत्येक प्राणी को बुद्ध के सिद्धान्तो मे विश्वास कर उसी के अनुसार कर्ममार्ग मे प्रवृत्त होना चाहिए, इन कथाओ में सीधे ही किया है । और यदि लोक-प्रचलित कथा का जातक मे बदले हुए रूप का उपसहार इस प्रकार नही हो पाया तो फिर उन्होने उस कथा का नाक-नक्श भी बदलकर उसे बिलकुल ही बेडौल कर दिया है । एक बौद्ध के लिए अर्थशास्त्र या राजनीतिक का अध्ययन पाप है, पर अब तो बहुत सी भारतीय लोककथाओ का समावेश इन शास्त्रो में हो गया है । बौद्धो ने भी अपने सग्रहों में बहुत सी इन नीति-कथाओ को भी शामिल कर लिया है । पर अपने धर्मसिद्धान्तो से बाध्य होकर उन्हें इन सिद्धान्तो में काफी फेरफार करना पडा है। कही कही तो उन्होने इन कथाओ के कई महत्वपूर्ण अशो को भी ऐसी बेतरतीब से बदला है कि मूल कथा का सारा रस ही जाता रहा है और इस प्रकार वे कथाएँ कही की भी न रही हैं[१] । यह कहना

१ इस विषय के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—Die, Erzahlungs literatur der Jaina, (Geist das Ostens–7,178 ff) and 'Ein altindisches Narrenlriceh' (Ber L Kgl. Sachs, Gesellschaft der Wissenschaften, ph L Kl 64(1912),Heft

थोथी दलील ही नही है कि पचतत्र के अनेक पाठान्तरो में से एक भी बौद्धो के अपने मौलिक नही है, जब कि 'पचाख्यान' या 'पचाख्यानक' कहे जाने वाले जैनो के पाठान्तरो ने नीतिशास्त्र के इस पुराने कार्य को लोक में प्रसिद्ध कर दिया । यहा तक कि इन्डोचीन व इन्डोनेशिया में भी इनकी प्रसिद्धि हुई । इन सब देशो में सस्कृत व अन्य भाषाओ में 'पचाख्यान' इतना अधिक प्रसिद्ध हुआ कि उसका मूल जैन रूप पूर्णत भुला दिया गया । और तो और जैन लोग स्वय उसके अपने मूल रूप को भूल गए ।

बौद्ध कथाकारो ने अपने लाभ की दृष्टि से जनसामान्य की प्रवल वृत्ति की अद्भुत चमत्कारो, भयकर दुर्घटनाओ तथा अतिपापी कार्यों से अधिक परिचित काराया है । उन्होने एक ही कथा में बार-बार इस प्रकार की घटनाएँ वर्णित की हैं । उनमें मनोवैज्ञानिक उत्साह और हेतुत्व के कोई लक्षण एव आचार नही मिलते । उनकी कथाए बौद्धो की विशेषताएँ है पर भारतीय विशिष्ट कथाएँ किसी भी रूप में नही ।

भारतीय कथाकला की विशेषताओ के रूप में हम जैन कथा वृत्तान्तो को ले सकते है । भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग के आचार-विचारो एव व्यवहारो के विषय में उनसे यथार्थ एव सविस्तार परिचय मिलता है । जैन कथा वृत्तान्त विशाल भारतीय साहित्य के एक प्रमुख अग के रूप में अपना महत्व प्रदर्शित करते है । वे केवल भारतीय लोककथाओ के क्षेत्र में ही नही, वरन् भारतीय सभ्यता व सस्कृति के इतिहास के क्षेत्र में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते है ।

जैनो के कथा कहने के ढग में बौद्धो के ढग से कई बातो में काफी अन्तर है । जैनो की कथा की मूल वस्तु भूत की न होकर वर्तमान से सम्बन्ध रखती है । वे अपने सिद्धान्तो का सीधा उपदेश नही देते, उनके कथानको से ही अप्रत्यक्ष रूप से उनका उपदेश प्रगट होता है । और एक सबसे बडा अन्तर जो है, वह यह कि उनकी कथाओ में 'बोधिसत्त' के समान भविष्य के 'जिन' के रूप में कोई पात्र नही होता ।

जैन कथाओं की विशेषता—

अत यह स्पष्ट ही है कि इन स्थितियो में जैन कथाकार पूर्णत स्वतत्र है । चूकि उन्हे पात्रो को ठोक-पीटकर अपने अनुकूल जैन सिद्धान्तो को मानने वाला नही बनाना पडता अत पूर्व कथाओ का वर्णन करने में उन्हें पूर्ण स्वतत्रता रहती है । इसलिए भी कि ये कथाएँ उन्हें साहित्यिक या चली आती हुई परम्परा के रूप में प्राप्त हुई हैं । उनकी कथाओ के पात्र आदर्श हो या दुश्चरित्र, सुखी हो या दुखी, कथाकारो का इससे कोई तात्पर्य नही । क्योकि आदर्शोपदेश जिसका प्रचार कथा का लक्ष्य होता है, कथा में वर्णित घटनाओ में नही वरन् उस भाष्य में रहता है जो 'केवली' कथा के अन्त में देता है । केवली बतलाता है कि कथा के पात्रो के जीवन में जितनी भी दुर्घटनाएँ घटी है, उन्हें जितनी भी विपत्तियो का सामना करना पडा है और जितनी भी शुभ घटनाएँ घटी है, वे उनके

उन शुभ कर्मों का परिणाम है जो कि उनके द्वारा पूर्व जन्म में किए गए। यह स्पष्ट ही है कि धर्मोपदेश देने के इस ढग का उपयोग किसी भी कथा में अच्छी तरह व सफलतापूर्वक किया जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक कथा के पात्रो, जिनके जीवन की घटनाओ अथवा विविध कार्य-कलापो का उसमे वर्णन रहता है, के जीवन मे अनेक उलट फेर हुआ ही करती है। सुख दुख दोनो ही के अनुभव उन्हे होते है। इस तथ्य का परिणाम यह हुआ है कि किसी भी जैन कथाकार साधु को अपने हाथ मे आई किसी लोक कथा को वदलने का अथवा रूपान्तरित करने के लिए वाध्य नही होना पडा है और यही कारण है कि लोक साहित्य—लोक कथाओ के सावनो के रूप में वौद्धिक कथा ग्रथो मे आई हुई कथाओ की अपेक्षा जैन कथाएँ अधिक विश्वस्त एव यथार्थ है[1]।

पर इससे यह तात्पर्य कदापि नही लेना चाहिए कि जैन साधुओ ने पुरानी, लोकप्रचलित, परम्परा से चली आती हुई कथाओ को ही नया रूप दिया। उन्होने मौलिक कथाओ की भी काफी विशाल मात्रा मे सृष्टि की। उन्होने नई मौलिक कथाएँ और औपन्यासिक वृत्तान्त धर्मोपदेश एव सिद्धान्त प्रचार को दृष्टि से लिखे। उनकी पाठशालाओ में साहित्यिक कथाएँ कहने की शिक्षा दी जाती थी। चारुचन्द्र के 'उत्तमकुमारचरित' के ५७२ वे दोहे से यह वात स्पष्ट प्रमाणित होती है—

श्री भक्तिलाभशिष्येन चारुचन्द्रेण गुफिता।
चरित्रसारगणिना शोधितेय कथा मुदा॥
वालत्वेऽपि कथा चेयमभ्यासार्थं कृताभया।
वालावस्याकृत सर्वं महता प्रीतये भवेत॥

वौद्ध और जैन कथा साहित्य से भी पुराना साहित्य व्राह्मणो का है।

प्राचीन भारता का प्राय सारा वृत्तान्त साहित्य उपदेशपरक है। व्राह्मणो ने अपनी धर्म एव उपदेशपरक कथाओ का उपयोग तीन शास्त्रो (धर्म-अर्थ-काम) में किया। वैदिक युग के वाद की समस्त कथाओ मे धार्मिक या दार्शनिक उपदेश का निर्देश मिलता है। वे व्राह्मणो व उपनिषदो की सुप्रचलित पौराणिक कथाएँ है। सभी प्रकार की धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक और राजनीतिक कथाओ का समावेश महाकाव्यो और पुराणो में हो गया है। आज कल भी इस विशाल साहित्य के "अश" घरो मे या धर्म सभाओ में लोगो (विशेषत धर्मपरायण) द्वारा पढे जाते हैं। चूकि व्राह्मण धर्मोपदेशक नही होते, इन व्राह्मणो की धर्मकथाओ को विकसित होने का कोई अवसर नही मिला। जव भारत की अपनी राजनीतिक सत्ता समाप्त हो गई तो "अर्थकथाओ" का विकास भी रुक गया। यद्यपि महाभारत व अन्य ग्रथो में उनके सुन्दर उदाहरण सुरक्षित है। पर राजनीतिक कथा-वृत्तान्त साहित्य को समझने के लिए हम 'तत्राख्यायिक' और 'दशकुभचरित' को सवसे अधिक प्रतिनिधि ग्रथ के रूप में ले सकते है। 'तत्राख्ययायिक' जिसका अनुवाद पहलवी भाषा मे ५७० ई० में किया गया था, वाद में कई अनेक भाषाओ में अनुवादित हुआ और केवल पश्चिमी एशिया

---

१ On the literature of the Shevatambars of Gujrat by Johanesse Hertell. P.-I.

मे ही उसका प्रसार नही हुआ वरन् उत्तरी अफ्रिका व यूरोप में, भी वह पहुँचा जहा वह सबसे अधिक कथा ग्रथो में से एक माना गया। पर यह हमारा दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि भारत में अभी तक इस प्रसिद्ध ग्रथ की कोई भी प्रति नही पाई जा सकी है। कश्मीर में कुछ हस्तलिखित प्रतिया अवश्य पाई गई है पर उनमें से एक भी पूर्ण नही है। कुछ विद्वानो की तो इसी कारण यह भी धारणा हो गई है कि 'तत्राख्यायायिक' का भारत में कोई प्रसार नही था। प्रोफेसर कोनाव ने अपनी पुस्तक 'इन्डीएन' में यह सिद्ध किया है कि 'तत्राख्यायायिक' दक्षिण में लिखा गया था। इसके प्रमाण में उन्होने कथामुख का भी उल्लेख किया है[1]। दण्डी का 'दशमुख चरित' तो कभी पूरा ही नही हुआ था[2]। बृहत्कथा ने जो कभी एक प्रसिद्ध ग्रथ था, भारत से अपना मूलरूप ही खो दिया। उसकी सस्कृत प्रतिया कश्मीर मे सोमदेव और क्षेमेन्द्रदासव्यास तथा नेपाल में बुधरचामिन की मिली हैं।

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट ही है कि मध्य युग से आज तक जैन और विशेषत गुजरात के श्वेताम्बर जैन साधु ही प्रमुख कथाकार थे। उनके साहित्य में ऐसी ऐसी विशेषताएँ अगाध मात्रा में मिलती हैं जो लोककथा साहित्य के अनुसधान कार्य में तत्पर विद्यार्थी के सामने एक नया क्षेत्र उपस्थित करती हैं। जो विद्वान भारतीय लोककथा साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टि कोण से कार्य कर रहे हैं उनके लिए जैन लोक कथा साहित्य एक महत्वपूर्ण एव आवश्यक विषय है।

जैन कथा साहित्य की समस्याएँ—

जैन कथा साहित्य से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ भी इस प्रसंग में उपस्थित होती हैं जिनमे से एक दो पर सक्षेप में हम यहा विचार करेंगे।

पहली समस्या, जो कहानियो के देशान्तरगमन से सम्बन्ध रखती है, साहित्यिक इतिहास व सभ्यता तथा साहित्य के इतिहास की सीमा में आ जाती है। उस पर विचार करना भारतीय दृष्टिकोण से तो महत्त्वपूर्ण है ही पर अन्य देशो की दृष्टि से भी उतना ही महत्वपूर्ण है। दूसरी समस्या भाषागत है। इस पर विचार करना केवल सस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओ की दृष्ठि से ही महत्वपूर्ण नही होगा वरन् भारतीय साहित्य के इतिहास पर भी उससे समुचित प्रकाश पडेगा।

पहले हम कथाओ के देशान्तरगमन की समस्या को लेते है। जिन कथाग्रथो के सम्बन्ध मे यह सिद्ध किया जा सकता है कि वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत से यूरोप गए, उनमें से कुछ ये है —वरलाम और जोसफ की कथा, कलीला और दिमना में समाविष्ट ग्रथ (जैसे—तत्राख्यायायिक, महाभारत के ३ पर्व तथा कुछ अन्य कथाएँ जिनमें से एक मूल बौद्ध है) शुक सप्तति का जैन पठान्तर, सिन्तिपास का वृत्तान्त तथा जाफर के पुत्रो की जलयात्रा आदि। अन्तिम तीन ग्रथो के मूल

---

१ 'Indien'—Professor Konow (Leipzig. u) Berlin 1917. P. 92

२ 'Indische Erzahler' vol 1-3—Johannec Hertel Leipzig Haessel 1922

भारतीय रूपो का अभी तक पता नही लग सका है पर हमारा विश्वास है कि कभी न कभी-अवश्य ही गुजरात के श्वेताम्बरो के साहित्य में उनके मूल रूप की प्राप्ति होगी ।[1]

अन्य भारतीय व योरोपीय लोककथाओ (जिनमें आपस में साम्य है) के विषय में अभी किसी प्रकार का अन्तिम निर्णय नही किया जा सकता पर कुछ कथाओ (जैसे—'सुलेमान का न्याय') के विषय में विद्वानो द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि सारी कथा जिन तत्त्वो, आधारो तथा वातावरण को लेकर लिखी गई है, वे पूर्णत भारतीय हैं । वे केवल भारत मे ही मिल सकते हैं । पर ऐसी कथाएँ बहुत ही कम हैं । अन्य सब कथाओ में तारतम्य एव साम्य स्थापित तथा किसी एक निश्चय पर पहुँचने का केवल एक ही उपाय है । वह यह कि किसी यूरोपीय कथा के परस्पर विरोधी सभी तप्त्वो का किसी भारतीय कथा के सभी परस्पयर विरोधी तत्त्वो के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाय और इस अध्ययन के फलस्वरूप इस वात को सिद्ध किया जाय कि प्रत्येक परस्पर विरुद्धतत्त्व (जो कि अपने मूल रूप में नही होगा) भारत से योरोप गया । अथवा योरोप से भारत आया हो पर इन अनुसधानो के किये जाने के पहिले यह आवश्यक है कि जैन भण्डारो में अभी तक जो कथाओ और कथाग्रथो का विशाल-अम्वार अप्रकाशित रूप में छिपा पडा है, प्रामाणिक एव शुद्ध रूप में सटिप्पण प्रकाशित किया जाय तथा उनके ऐसे प्रामाणिक अनुवाद -कराए जाय जो लोक कथा साहित्य के उन विद्यार्थियो के लिए सविस्तर विश्लेषण कर सकें जो कि सभी भारतीय भाषाओ, भारतीय आचार-विचार । व्यवहार तथा रीति रिवाजो से परिचित नही है ।

चूकि कथाओ के देशान्तर गमन की समस्या अत्यन्त ही दुर्वोध एव गहन है, यह अत्यन्तावश्यक है कि जैन कथा साहित्य का प्रकाशन यथासभव शीघ्र ही किया जाय । भारत -केवल 'देनेवाला' ही नही 'लेनेवाला' भी रहा है । उदाहरणार्थ 'यूसुफ और जुलेखा' कश्मीरी कवि श्रीधर द्वारा १५ वी शती में सस्कृत में अनुवादित), 'अनवर, सुहेली' (कलीला और दिमना की कथापर आधारित एक परसियन ग्रथ, पश्चात दुखनी, उर्दू, हिन्दी, वगला, तथा वाद में फ्रेंच अनुवाद से मलय और इसके वाद मलय से जापानी मे अनुवादित), 'अरेवियन नाइट्स' 'ईसप फेविल्स' (अनेक भारतीय भाषाओ मे अनूदित) तथा अन्य विदेशी ग्रथो के नाम लिए जा सकते हैं जिनके भारतीय भाषाओ १९ वी तथा २० वी शताब्दी में अनुवाद किए गए ।

वहुत सी भारतीय कथाओ तथा कथाग्रथो का पुनर्देशीयान्तरगमन भी हुआ और वाद में "पूर्वण देशान्तर गमन रूपो" के समान ही इन "पुनर्देशान्तरगमन रूपो" ने भी साहित्यिक रूप ग्रहण किया। मौखिकरूपान्तरो से भी हम इन्कार नही कर सकते । समय समय पर भारत पर विदेशियो के आक्रमण हुए, विजय प्राप्त होने पर अपने साथ आए अपने देश के लोगो के साथ वे यही जम गए और परिणाम स्वरूप लोककठो के माध्यम से वहुत सी लोककथाओ में देशानुकूल परिवर्तन हुआ, मौखिक आदान-प्रदान हुआ ।

---

१ एक प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ 'रत्नचूड़कथा' में सिन्तिपास का वृतान्त किल गया हैं ।

उपसंहार

जैन कथाकार साधु व्याकरण के पण्डित थे । बूलर ने अपने 'हेमचन्द्र' में लिखा है कि शासको के दरबारो में जैन कवि ब्राह्मण कवियो से सफलतापूर्वक होड लेते थे । ऐसा बिलकुल ही असम्भव होता यदि जैन कवि व कथाकार ब्राह्मण कवि या कथाकारो के बराबर अथवा उनसे उच्च योग्यता वाले न होते । जैन साधु कवियो को राजदरबारो में स्थान मिल सका तथा वे शासको पर जैन धर्म का प्रभाव स्थापित कर सकें, इसका प्रमुख कारण उनकी साहित्यिक शिक्षा दीक्षा, योग्यता तथा काव्य की विविध शाखाओ का उनका गहन अध्ययन था । जार्ज बूलर ने 'हेमचन्द्र' में इसे काफी स्पष्ट किया है ।

जहा तक हमे स्मरण है किसी भी देशी विदेशी विद्वान ने जैनों पर भाषा अथवा व्याकरणगत भूलो का दोष नही लगाया । जबकि बूलर ने बिल्हण कालिदास और दण्डी तक के ग्रथो में अनेको व्याकरणगत त्रुटियो की ओर निर्देश किया है [1] बूलर और वेबर ने जैनो के सस्कृत ज्ञान की परिपूर्णता की ओर जो निर्देश किया है, उसका प्रमुख कारण यही है कि गुजरात मे उस समय सस्कृत लोकभाषा थी । लिखने व बोलने दोनो में ही यह भाषा व्यवहृत होती थी । सस्कृत में लिखे गये जैनो के ग्रथो के विशाल भडार उनके सस्कृत पर पूर्ण अधिकार की पुष्टि करते है । १००० वर्षों तक गुजरात में जैनो का बोलबाला रहा, वे ही वहा के साहित्यिक व सास्कृतिक प्रतिनिधि (उस समय के) थे और यही कारण है कि गुजराती सस्कृत का जितना ज्ञान हमें जैन साहित्यि से उपलब्ध होता है, उतना अन्य से नही ।

---

१ Notes on Page 6, 18 of the पूर्वपीठिका of the दशकुमार चरित by बूलर ।
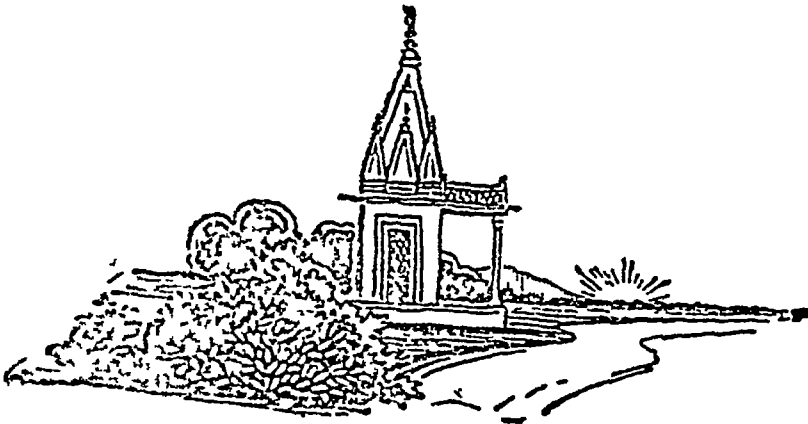
संस्कृत जैन साहित्य का विकास क्रम

श्री पं० पन्नालाल, साहित्याचार्य

प्रस्तावित

उपलब्ध जैन सस्कृत साहित्य के प्रथम पुरस्कर्ता आचार्य गृद्धपिच्छ है। इन्होंने विक्रम की प्रथम शताब्दी में तत्वार्थसूत्र की रचना कर आगामी पीढी के ग्रन्थ लेखको को तत्वनिरूपण की एक नवीनतम शैली का प्रदर्शन किया। उनका युग दार्शनिक सूत्रयुग था। प्राय सभी दर्शनो की उस समय सूत्र-रचना हुई है। तत्वार्थसूत्र के ऊपर अपरवर्ती पूज्यपाद, अकलक, विद्यानन्द आदि महर्षियो द्वारा महाभाष्य लिखे जाना उसकी महत्ता के प्रख्यापक हैं। इनके बाद जैन सस्कृत-साहित्य के निर्माताओ में श्वेताम्बराचार्य पादलिप्तसूरि का नाम आता है। आपका रचा हुआ 'निर्वाणकलिका' ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। 'तरगवतीकथा' भी आपका एक महत्वपूर्ण प्राकृतभाषा का ग्रन्थ सुना जाता है जो कि इस समय उपलब्ध नही है। आप तृतीय शताब्दी के विद्वान् माने गये हैं। इसी शताब्दी में आचार्य मानदेव ने 'शान्तिस्तव' की रचना की थी। यह 'शान्तिस्तव' श्वेताम्बर जैन-समाज में अधिक प्रसिद्ध है।

जैन साहित्य का उत्थान और विकास–

पादलिप्तसूरि के बाद जैन दर्शन को व्यवस्थित रूप देने वाले श्री समन्तभद्र और श्री सिद्धसेन दिवाकर ये दो महान् दार्शनिक विद्वान् हुए। श्री सिद्धसेन दिवाकर की श्वेताम्बर समाज में और श्री समन्तभद्र की दि० जैन समाज में अनुपम प्रसिद्धि है। इनकी कृतियाँ इनके अगाध वैदुष्य की परिचायक हैं। आचार्य समन्तभद्र की मुख्य रचनाएँ 'आप्तमीमासा', 'स्वयभूस्तोत्र', 'युक्त्यनुशासन', 'स्तुतिविद्या', 'जीवसिद्धि', 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' आदि है। आपका समय विक्रम की २–३ शताब्दी माना जाता है। श्री सिद्धसेन दिवाकर का सन्मतितर्क तथा सस्कृत द्वात्रिशिकाएँ अपना खास महत्त्व रखती है। सन्मति-प्रकरण नामक प्राकृत दि० जैन ग्रन्थ के कर्त्ता सिद्धसेन दूसरे हैं। जिनका कि आदि पुराणकार ने स्मरण किया है, ऐसा जैनेतिहासज्ञ श्री मुख्त्यारजी का अभिप्राय है। आपका समय वि० ४–५ शती माना जाता है।

श्वेताम्बर साहित्य में एक 'द्वादशार चक्र' नामक दार्शनिक ग्रन्थ है जिसकी रचना वि० ५–६ शती में हुई मानी जाती है, उसके रचयिता श्री मल्लवादि आचार्य हैं। इस पर श्री सिंहगणि क्षमाश्रमण की १८००० श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका है।

वि० ६ वी शती में प्रसिद्ध दि० जैन विद्वान् पूज्यपाद हुए। इनका दूसरा नाम देवनन्दी भी था। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। आपकी तत्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नामक सुन्दर और सरसटीका सर्वत्र प्रसिद्ध है। जैनेन्द्र व्याकरण, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि आपकी रचनाओ से दि० जैन सस्कृत साहित्य बहुत ही अधिक गौरवान्वित हुआ है। ७ वी शती के प्रारम्भ मे आचार्य मानतुङ्ग द्वारा 'आदिनाथ स्तोत्र' रचा गया जो कि आज 'भक्तामरस्तोत्र' के नाम से दोनो समाजो में अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह स्तोत्र इतना अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि इस पर अनेको टीकाएँ तथा पादपूर्ति काव्य लिखे गये।

आठवी शताब्दी में दो महान् विद्वान् हुए। दि० समाज में श्री अकलक स्वामी और श्वे० समाज में श्री हरिभद्रसूरि। अकलक स्वामी ने बौद्ध दार्शनिक विद्वानो से टक्कर लेकर जैन-दर्शन की अद्भुत प्रतिष्ठा बढाई। आपके रचित आप्तमीमासा पर अष्टशती टीका, तत्वार्थवार्तिक, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसग्रह एव सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आप अपने समय के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् थे। हरिभद्रसूरि के शास्त्रवार्ता समुच्चय, षट्दर्शनसमुच्चय, योगविंशिका आदि मौलिक ग्रन्थ तथा न्यायप्रवेशवृत्ति, तत्वार्थसूत्र वृत्ति, आदि टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। दिगम्बराचार्य श्री रविषेणाचार्य ने इसी शताब्दी में पद्मचरित-पद्मपुराण की रचना की और उसके पूर्व जटासिंहनन्दी आचार्य ने वरागचरित नामक कथाग्रन्थ लिखा। वरागचरित दि० सम्प्रदाय में सर्वप्रथम सस्कृत कथाग्रन्थ माना जाता है। यापनीयसघ के अपराजितसूरि जिनकी कि भगवती आराधना पर विजयोदया टीका है इसी आठवी शताब्दी में हुए हैं।

९ वी शती में दिगम्बराचार्य श्री वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र बहुत ही प्रसिद्ध और बहुश्रुत विद्वान् हुए। श्री वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम सूत्र पर ७२००० श्लोक प्रमाण धवला टीका ८७३ वि० स० में पूर्ण की। फिर कषायप्राभृत की २०००० प्रमाण जयधवलाटीका लिखी। दुर्भाग्यवश आयु बीच में ही समाप्त हो जाने से जयधवला टीका की पूर्ति आपके द्वारा नही हो सकी अत उसका अवशिष्ट भाग ४०००० प्रमाण उनके बहुश्रुत शिष्य श्री जिनसेन स्वामी द्वारा ८९४ स० में पूर्ण हुआ। श्री जिनसेन स्वामी ने महापुराण तथा पार्श्वाभ्युदय की भी रचना की। आप भी महापुराण की रचना पूर्ण नही कर सके। १-४२ पर्व तथा ४३ वें पर्व के ३ श्लोक ही आप लिख सके। अवशिष्ट भाग तथा उत्तरपुराण की रचना उनके सुयोग्य शिष्य श्री गुणभद्राचार्य द्वारा हुई। गुणभद्र का आत्मानुशासन नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें २७२ श्लोकों में भवभ्रान्त पुरुषो को आत्मतत्त्व की हृदयग्राही देशना दी गई है।

इसी समय जिनसेन द्वितीय हुए जिन्होने १२००० श्लोक प्रमाण हरिवशपुराण वि० स० ८४० में पूर्ण किया। आप पुन्नाटगण के आचार्य थे। ९ वी शती में श्री विद्यानन्द स्वामी हुए जिन्होने तत्वार्थसूत्र पर श्लोकवार्तिकभाष्य व आप्तमीमासा पर अष्टसहस्री टीका तथा प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासन परीक्षा एव युक्त्युनुशासन टीका आदि ग्रन्थ बनाये। आपके बाद जैन समाज में न्यायशास्त्र का इतना बहुश्रुत विद्वान् नही हुआ ऐसा जान पडता है। अनन्तवीर्य आचार्य ने सिद्धविनिश्चय की टीका लिखी जो दुर्बोध ग्रन्थियो को सुलझाने में अपना खास महत्व रखती है। शाकटायन व्याकरण और उसकी स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति के रचयिता श्री शाकटायनाचार्य भी इसी शताब्दी में हुए हैं। ये यापनीय सघ के थे। आपका द्वितीय नाम पाल्यकीर्ति भी था।

१० वी शती के प्रारम्भ में जयसिंहसूरि श्वेताश्वराचार्य ने धर्मोपदेशमाला की वृत्ति बनाई। वह शीलाकाचार्य भी इसी समय हुए जिन्होने कि आचाराग और सूत्रकृताग पर टीका लिखी है। उपमितिभवप्रपञ्च की मनोहारिणी कथा की भी रचना इसी दसवी शताब्दी में हुई है। यह रचना श्री सिद्धर्षि महर्षि ने ९६२ सवत् में श्री मालनगर में पूर्ण की थी। स० ९८९ में दिगम्बराचार्य श्री हरिषेण ने वृहत्कथाकोष नामक विशाल कथाग्रन्थ की रचना की है। जैनेन्द्रव्याकरण की शब्दार्णव टीका की रचना भी इसी शताब्दी में हुई मानी जाती है। टीका के रचयिता श्री गुणनन्दी आचार्य हैं। परीक्षामुख के रचयिता श्री माणिक्यनन्दी इसी शताब्दी के विद्वान् है। परीक्षामुख न्यायशास्त्र का सुन्दर-सरल सूत्रग्रन्थ है।

११ वी शती के प्रारम्भ में सोमदेवसूरि अद्वितीय प्रतिभा और राजनीति के विज्ञाता हुए हैं। आपके यशस्तिलक चम्पू और नीतिवाक्यामृत अद्वितीय ग्रन्थ हैं। यशस्तिलक चम्पू का शाब्दिक तथा आर्थिक विन्यास इतना सुन्दर है कि उसे पढते-पढते कभी तृप्ति नही होती। नीतिवाक्यामृत नीतिशास्त्र का अलौकिक ग्रन्थ है, जो सूत्रमय है और प्राग्वर्ती नीतिशास्त्र-सागर का मन्थन कर उसमें से निकाला हुआ मानो अमृत ही है।

महाकवि हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, कवि की नैसर्गिक वाग्धारा में बहने वाला अतिशय सुन्दर महाकाव्य है। महासेन का प्रद्युम्नचरित और आचार्य वीरनन्दी का चन्द्रप्रभचरित भी इसी ११ वी शती की श्लाघनीय रचनाएँ है। इसी शती के उत्तरार्ध में अमितगतिनामक महान् आचार्य हुए जिनकी सरस लेखनी से सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा, अमितगतिश्रावकाचार, पञ्चसग्रह मूलाराधना पर सस्कृत भाषानुवाद, आदि कर्मग्रन्थ निर्मित हुए। धनपाल का तिलकमञ्जरी नामक गद्यकाव्य इसी शती में निर्मित हुआ। दिगम्बराचार्य वादिराज मुनि के पार्श्वनाथचरित, न्यायविनिश्चय विवरण, यशोधरचरित, प्रमाणनिर्णय, एकीभावस्तोत्र, आदि कई ग्रन्थ इसी शती के अन्त भाग में अभिनिर्मित हुए हैं।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार, प्रवचनसार, और पञ्चास्तिकाय पर गद्यात्मक टीकाओ के निर्माता तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्वार्थसार आदि मौलिक रचनाओ के प्रणयिता आचार्य प्रवर अमृतचन्द्रसूरि इसी शती के उत्तरार्ध के महाविद्वान् हैं। शुभचन्द्राचार्य जिनका ज्ञानार्णव यथार्थ में ज्ञान का अर्णव-सागर ही हैं, और जिनकी लेखनी गद्य-पद्य रचना में सदा अव्याहत गति रही है,इसी समय हुए हैं। माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख सूत्र पर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक विवरण लिखनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प्रभाचन्द्राचार्य इसी शताब्दी के विद्वान् हैं।

बाणभट्ट की कादम्बरी से टक्कर लेने वाली गद्यचिन्तामणि के रचयिता एव क्षत्रचूडामणि काव्य में पद-पद पर नीतिपीयूष की वर्षा करने वाले वादीभसिंहसूरि बारहवी शती के पूर्वभागवर्ती आचार्य हैं।

अत्यन्त प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् हेमचन्द्राचार्य ने भी इसी शताब्दी में अपनी अनुपम कृतियो से भारतीय सस्कृत साहित्य का भाण्डार भरा है। आपके त्रिषष्टिशला का पुरुषचरित, कुमारपालचरित,

प्रमाणमीमांसा, हेमशब्दानुशासन, काव्यानुशासन आदि अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। आपकी भाषा में प्रवाह और सरसता है।

१३ वीं शती में दि० सम्प्रदाय में श्री पं० आशाधर जी एक अतिशय प्रतिभाशाली विद्वान् हो गये हैं। उनके द्वारा दिगम्बर संस्कृत साहित्य का भाण्डार बहुत अधिक भरा गया है। न्याय, व्याकरण, धर्म, साहित्य, आयुर्वेद आदि सभी विषयों में उनकी अक्षुण्ण गति थी। उनके मौलिक तथा टीका आदि सब मिलाकर अब तक १९–२० ग्रन्थों का पता चला है। इनके शिष्य श्री कवि अर्हद्दास जी थे जिन्होंने पुरुदेव चम्पू तथा मुनिसुव्रतकाव्य आदि गद्य-पद्य ग्रन्थों की रचना की है। उनके बाद दि० मेधावी पण्डित ने १६ वीं शताब्दी में धर्मसंग्रह श्रावकाचार की रचना की।

उपसंहार—

इसके बाद समय के प्रताप से संस्कृत साहित्य की रचना उत्तरोत्तर कम होती गई। परन्तु इस रचनाह्रास के समय भी दि० कविवर राजमल्ल जी जो कि अकबर के समय हुए पञ्चाध्यायी, लाटीसंहिता, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, जम्बूचरित आदि अनुपम ग्रन्थ जैन संस्कृत साहित्य की गरिमा बढ़ाने के लिए अर्पित कर गये। यह उपलब्ध जैन संस्कृत साहित्य का संक्षिप्ततर विकासक्रम है।
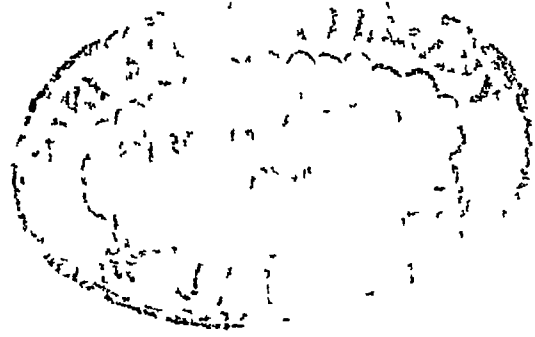
जैन काव्य और पुराणों में शृंगार-रस

श्री पं० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम०ए०, शास्त्री

प्रस्तावना —

अलकार शास्त्र के वडे-वडे आचार्यों ने सर्वसम्मति से शृगार और वीररस को ही काव्य के लिए प्रधान रस माना है। महाकाव्य के लिए तो दोनो में से एक रस का होना आवश्यक है। इसके अभाव मे कोई भी काव्य उच्चकोटि का काव्य नही माना जा सकता। यह दृष्टिकोण महाकवि कालिदास के पीछे और भी दृढ हो गया। और इनका अस्तित्व काव्य की श्रेष्ठता के लिए कसौटी बन गया। यही कारण है कि सस्कृत मे जितने भी काव्य और नाटक है वे सव अधिकाश में इन्ही दोनो रसो को आधारभूत वताते हैं।

जैन–नायक

जैन-काव्य और पुराणो के चरित्र नायक वडे-वडे महापुरुष अथवा तीर्थंकर होते है जिनका जन्म ससार के कल्याण के लिये होता है। जो ससार को हित का मार्ग निर्दिष्ट करते है, इसलिए ऐसे काव्यो में शृगार अथवा वीर रस को प्रधानता देना वडा मुश्किल है। ऐसे काव्यो का उद्देश्य जनता को उत्तम मार्ग अथवा मोक्ष मार्ग प्रदर्शित करना होता है न कि सासारिक झगडो अथवा भोगो में फँसा कर कर्तव्य से च्युत करना। यही कारण है कि जैन काव्य प्राय अपने चरित्रनायको के पूर्ण जीवन का ही वर्णन नही करते किन्तु उनके पूर्व भव तथा साथ में अन्य घटनाओ का भी वर्णन करते है। जैन काव्य और पुराण शिक्षाप्रधान होते है न कि कथा-प्रधान।

लेकिन यह वात भी नही है कि जैनकाव्यो और पुराणो में नायक के जीवन की उन्ही घटनाओ का वर्णन किया जाता जो केवल शिक्षा-प्रधान ही हो, किन्तु गौण रूप से उनके वाह्य जीवन के सभी विषयो पर पूर्ण प्रकाश डाला जाता है। आदिपुराण, पाण्डवपुराण, विमलपुराण, हरिवशपुराण, पद्मपुराण आदि प्रसिद्ध महापुराण तथा धर्मशर्माभ्युदय, चन्द्रप्रभचरित्र, नेमिनिर्वाण, पार्श्वनाथचरित्र, वरागचरित्र, प्रद्युम्नचरित्र आदि महाकाव्य इस वात के द्योतक है। इन काव्य और पुराणो में नदी, पहाड़, वन, सागर, सन्ध्या, शहर, वाजार आदि की सुन्दरता का वर्णन ही नही किया गया है किन्तु विवाह, सौन्दर्य, भोग-विलास, आदि शृगार से सम्बन्ध रखने वाले विषयो पर भी खुल करके लेखनी चलायी गयी है। इनका

वर्णन करने में सर्ग के सर्ग और अध्याय के अध्याय समाप्त हो गये हैं। जब हम इन वर्णनो को पढते हैं तब मालूम पडता है कि लेखक वास्तव में साधु न होकर ससारी है। मेघदूत, शिशुपालवध, रघुवश, नैषधचरित्र आदि महाकाव्यो में जो शृगार-रस का वर्णन किया गया है तथा जहाँ नख-शिख तक वर्णन करने में ही कवि ने सर्ग के सर्ग पूरे कर दिये है उसी प्रकार जैन काव्यो के कवियो ने भी अपने काव्यो में इस प्रकार वर्णन करने में कही कही तो सर्ग के सर्ग समाप्त कर दिये हैं। युवती के सौन्दर्य और वेशभूषा के वर्णन-करने में जैन महाकवि किसी से पीछे नही रहे यह बात आश्चर्य मे डालने वाली है।

पुराणों में शृगार-वर्णन—

आदिपुराण में जिनसेनाचार्य राजकुमार वज्रजघ और उसकी श्रीमती की क्रीडाओ का कितना स्पष्ट वर्णन करते हैं, यह पढने योग्य है —

मदुपाणितले स्पर्श रसगधौ मुखाब्जे ।
शब्दमालपिते तस्यास्तनौ रूप निरूपयन्
सुचिर तर्पयामास सोक्षग्राममशेषत ।
सुखमैंद्रियक मेप्सोर्ग गति नति. परागिन
काचीदाम महानाग सश्रद्धे नौ दुर्गमदे ।
रमे तस्या करिस्याने महतीव निधानके ॥
कचग्रहैर्मदोयोत्रि कर्णोत्पल विताडितैं ।
अभूत मणपकोपोस्या यूपून मीत्यै सुखाय च ॥

अर्थात् राजकुमार वज्रजघ श्रीमती की कोमल हथेली के स्पर्श से स्पर्शनेन्द्रिय के सुख का अनुभव करता था। उसके मुखकमल से मधुरस और सुगधि का आस्वादन लेता हुआ रसना और घ्राण इन्द्रिय को तृप्त करता था। उसके मधुर शब्दो को सुनकर कानो को तथा शरीर को देख कर आँखो को तृप्त करता था। इस प्रकार वह अपनी पाँचो इन्द्रियो को चिरकाल तक तृप्त करता रहा। करधनी रूपी महासर्प से घिरे हुए और इसलिए ही अन्य पुरुषो के द्वारा अप्राप्त ऐसे किसी बडे खजाने के समान उसके कटि भाग पर भी वह क्रीडा करता था। अत्यन्त कोमल केशो को पकडने से तथा कोमल कर्ण-फूल रूपी कमलो की ताडना से श्रीमती को जो मणयकोप होता था उससे वज्रजघ को बहुत ही सतोष और सुख होता था।

उक्त वर्णन से भी अधिक स्पष्ट वर्णन रविषेणाचार्य ने पद्मचरित (पद्मपुराण) के १६ वें सर्ग में किया है —

अन्य केनापि वेगेन परायत्ती कृतात्मना ।
गहीता दयिता गाढ पवनेनाब्जकोमला ॥१॥
तपा तयो रति माप्ता दपत्योर्वृद्धिमुत्तमा ।

काले तत्र हि यो भावो नं वाख्यातु समर्थ्यते ।।२।।
तिष्ठ मुञ्च गृहाणेति नानाशब्दसमाकुल ।
तपो युद्धमिवोदार रतमासीत् सविभ्रम ।।३।।

अर्थात् —अपने आपको किसी विशेष शक्ति से पराधीन बनाकर वायु से प्रकम्पित कमल के समान कोमल अपनी स्त्री का गाढालिंगन कर लिया । इस प्रकार दोनो दम्पती के उस सभोगकाल में जो जो भाव हुए उनको कवि भी कहने में समर्थ नही है । ठहर, छोडो, पकडो आदि नाना प्रकार के शब्दो में व्याप्त उन दोनो पति-पत्नियो में युद्ध होता रहा ।

सौन्दर्य-चित्रण—

यही नही है कि जैन महाकवियो तथा आचार्यों ने सभोग श्रृंगार का ही वर्णन किया हो किन्तु अनेक स्थलो पर नायिक और नायिकाओ के सौन्दर्य-वर्णन में जो कवित्व दिखलाया है वह भी किसी अन्य कवि से कम नही है । हरिवशपुराण में जिनसेनाचार्य (द्वितीय) ने सत्यभामा के सौन्दर्य का वर्णन किस प्रकार किया यह देखिये —

रतिमिव रतिमालो रूपतो रेवती स्वा
दुहितरमतिकाता देहजा ज्यायमेऽदात् ।
अतिमुदित सुकेतु सत्यभामा मभाया,
स्वयमुदपदवत्या गर्भजा केशवाय ।।१।।

इसी प्रकार महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के १७ वें सर्ग में राजकुमारी के सौन्दर्य का अनूठा वर्णन किया है —

अहो समुन्मीलति धातुरेषा शिलाक्रियाया परिणाम रेखा ।
जगद्वय मन्मथ वैजयन्त्या यया जयत्येष मनुष्यलोक ।।१।।
धनुर्लता भ्रूरिषव कटाक्षा स्तनौ च सर्वस्वनिधानकुम्भौ ।
सिंहासन श्रेणिरतुल्यमस्या किं किं न योग्य स्मरपार्थिवस्य ।।२।।

अर्थात्—राजकुमारी का सौन्दर्य विधाता की निर्माणकुशलता की अन्तिम परिधि है, जिसने अपने कामबाणो से इस मनुष्यलोक को ही नही किन्तु दोनो लोको को जीत लिया है । जिसके प्रत्येक अग कामदेव के लिये अस्त्रो के समान है अर्थात् जिसके भौंहें धनुषवाण की डोरी है, कटाक्ष बाण हैं तथा स्तन सर्वस्व के भडार कुम्भ के समान हैं ।

प्रद्युम्नचरित्र में महाकवि महासेनाचार्य ने काव्य के चरित्रनायक के सौन्दर्य का वर्णन भी उत्कृष्ट रीति से किया है । प्रद्युम्न कामदेव है और वह प्रत्येक रमणी के चित्त को आकृष्ट करता है । सुन्दर युवतियाँ जिसे देखकर कामदेव को देखने का मनोरथ पूरा हुआ समझती हैं ।

रतिकामयो युगमभ्रूणम परं
विषयीकृतं तदधुना आत्मदशा ।
दपितेयमत्र खलु पुष्पवती
सखि चाम्प निर्वृतिकरी भविता ।। ८।१०४।।

यही नहीं है कि जैनकवियो ने एक युवती अथवा युवक की सुन्दरता का अथवा उसके हाव-भावो का वर्णन किया हो किन्तु नगरीं सौन्दर्य, वसन्त, जलक्रीडा आदि का वर्णन भी उत्तम रीति से किया है ।

कुण्डनपुर में रात्रि को चन्द्रकातमणियाँ चन्द्रमा की किरणो के सयोग से घरो के अग्रभाग में स्त्रियो के पसीने की तरह वहा करती थी । उसी प्रकार दिन में सूर्यकात मणियो के ससर्ग से स्त्रियाँ महलो में विरक्त स्त्रियो के समान मालूम पडती थी ।

चन्द्रकातकरस्पशाच्चंद्रकात शिला निशि ।
द्रवति यद् गृहाग्रेषु अस्वेदिन्य इव स्त्रिय ।।१।।
सूर्यकातकरासगात् सूर्यकाताग्रकोटय ।
स्फुरति यत्र गेहेषु विरक्ता इव योषित ।।२।।

—हरिवशपुराण

चन्द्रप्रभचरित्र में महाकवि वीरनन्दि ने तीसरे सर्ग में नगरवर्णन, ८ वें सर्ग के सम्पूर्ण भाग में वमन्तवर्णन, ९ वर्ग सर्ग में उपवनयात्रा, उपवनविहार और जलकेलि वर्णन किया है इसी प्रकार नेमि-निर्वाण काव्य के पाँच सर्ग वसन्त, जलक्रीडा, पर्वत, मधुपान और चन्द्रोदय आदि के वर्णन करने में ही समाप्त हो गये हैं ।

इस प्रकार जैनकाव्यो का कथानक श्रेष्ठ बन गया है । शृगार और वीर-रस का पुट होने से काव्य विस्तृत आकार के ही नहीं हो गये हैं, किन्तु मध्यकालीन युग के अनुसार महाकाव्य की कसौटी पर भी रखे जा सकते हैं । महाकाव्यो के नायक जब सुख भोगने लगते हैं तब इतने अधिक आनन्द लूटते है कि उनके सामने इन्द्र के सुख भी फीके पड जाते हैं । इनकी जलक्रीडा, वनविहार सुख, आदि की क्रीडाएँ बडे-बडे सम्राटो के दिल में ईर्ष्या पैदा करने वाली हो जाती हैं । किन्तु जब ससार से उदासीन बन जाते हैं तब उनको पहिले भोगे हुए सभी भोग-विलास व्यर्थ और निकम्मी वस्तु मालूम देते हैं । और वे उनकी ओर अपना ध्यान भी आकृष्ट नही कर सकते । वे बिना किसीसे सम्मति लिये मोक्षरूपी लक्ष्मी को वरण करने के लिये तैयार हो जाते हैं । स्वय ससार से छुटकारा प्राप्त करके दूसरे ससारी जीवो को ससार से पिण्ड छुडाने का उपदेश देते हैं ।

जैन-काव्यों की व्यापक-चेतना—

कहने का तात्पर्य है कि जैनकाव्य और पुराण सर्वांगीण हैं । विद्वानो की जो यह धारणा थी अथवा है कि जैन काव्यो में केवल वैराग्य के उपदेश के अतिरिक्त और कुछ नही है तथा उनमें शृगार और वीर आदि रसो का कहीं लेश भी नही है यह धारणा निर्मूल है । इस लेख से पाठक जान सकेंगे कि जैन काव्यो और पुराणो का विषय अन्य काव्यो की तरह कितना सर्वांगीण होता है ।

जैन-चम्पू

पं० श्री अमृतलाल, जैन-दर्शन-साहित्याचार्य

काव्य की श्रेष्ठता--

मनुष्य के अन्दर कल्पनाओ और विचारो की शाश्वत धारा का अनुबध है। उसकी कल्पना और विचार भाषा और ज्ञान की सतुलित प्रेरणा से मुखरित होते हैं। अपनी भावनाओ की विपुलराशि को मानव की चेतना कविता या काव्य के रूप में ग्रहण करती है। अपने द्वारा लिखित या व्यक्त कविता-धारा में वह अपने जीवन-तत्त्वो, सघर्ष और आनन्द की सामूहिक सौन्दर्य-सृष्टि को तरगित देखता है। सौन्दर्य से प्रेरित उसकी अनुभूतियाँ अपनी व्याख्या खोजती हैं और इस रूप में कविता दो कदम और वढ जाती है। कविता में जीवन का सर्वाङ्गीन निरूपण होने लगता है, मनुष्य के मनोवेगो और कल्पनाओ में जीवन की व्याख्या होने लगती है। आगे चलकर विषय और प्रतिपादन की विविध रीतियाँ मानव-हृदय को स्पर्श करती हैं और उनके रूप-सौष्ठव द्वारा आनन्द का उद्रेक होने लगता है। कविता सासारिक पदार्थों को रागात्मक तथा आध्यात्मिक भावना से रजित करके हमारे सम्मुख उपस्थित करने लगती है। वह कल्पना शक्ति से प्रस्तुत सत्ता को काल्पनिक सत्ता का और काल्पनिक सत्ता को वास्तविक सत्ता का रूप देने लगती है। कविता की धारा तल-अतल सभी को अनुप्राणित करती हुई मूल्याकन की समाधि में लीन हो जाती है और तभी कविता या काव्य की श्रेष्ठता का विचारणीय प्रश्न सम्मुख आता है।

काव्य के प्रसार-तत्त्व की व्यापकता को निरख कर हम यही कह सकते है कि ससार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और काव्य-साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमें इस योग्य वनाता है कि हम इस मूर्त ससार का बाह्य-ज्ञान भलीभाँति प्राप्त करे और विविध कलाओ के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनन्द प्राप्त करे तथा उसके मर्म को समझें। ससार की प्रतीति ही हमें उसके मूर्त बाह्य-रूप को पूरा-पूरा समझने में समर्थ करती है।

काव्य को हम मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अतर्वृत्तियो की समष्टि भी कहते हैं। जैसे एक व्यक्ति का अन्त करण उसके अनुभव, उसकी भावना, उसके विचार और उसकी कल्पना को अर्थात् उसके सब प्रकार के ज्ञान को रक्षित रखता है और इसी रक्षित भाडार की सहायता से वह नष्ट अनुभव और नई भावनाओ का तथ्य समझता है, उसी प्रकार काव्य जातिविशेष का मस्तिष्क या अन्त करण है जो उसके पूर्व अनुभव, भावना, विचार, कल्पना, और ज्ञान को रक्षित रखता है और उसीकी

सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है। जैसे ज्ञानेन्द्रियो के सब संदेश बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते है वैसे ही काव्य के बिना—पूर्वसचित ज्ञान-भाडार के बिना मानव-जीवन की कतई सार्थकता नही। अत जीवन के सात्विक और बहुमुखी विकास के लिए काव्य की श्रेष्ठता अपरिहार्य है।

शास्त्रो की स्वर्णिम परम्परा के बीच काव्य भी शास्त्र है। और प्राचीन ग्रन्थो में इसकी सज्ञा काव्य-शास्त्र ही है। अन्य शास्त्र केवल एक विषय को लेकर चलते है, किन्तु अलकार शास्त्र के निर्देशानुसार काव्य नाना विषयो को साथ लेकर चलते है। इसीलिए काव्य-शास्त्र भी उपादेय समझे गये और उनके साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग हुआ। सवेदनशील और व्यापक जीवन की भूमिका का निर्माण शास्त्र करते है और काव्य-शास्त्र उनकी अव्यक्तता को मुखरित करता है।

काव्य के भेद—

काव्य का आनन्द उसकी समग्रता और सम्पूर्णता की उपलब्धि में है। यह उसके भेदो के ज्ञान पर ही अवलबित है। काव्य के अन्तर्गत केवल उन्ही रचनाओ की गणना होती है जिनमें कवित्व का मूल-तत्व वर्त्तमान हो ऐसे रचनाएँ गद्य-पद्य दोनो में हो सकती है। कुछ परम्परा के अनुयायी केवल पद्यात्मक रचनाओ को ही काव्य मानते है, परन्तु ऐसा करके वे आकार को, बाहरी ढाचे को प्रधान मान लेते है, आत्मा की—कविता के मूल तत्त्व की—उपेक्षा कर बैठते है। वास्तव में कविता के विशिष्ट गुणो से युक्त कथन को चाहे वह पद्य में हो चाहे गद्य में, काव्य कहना अधिक युक्तिपूर्ण है। परन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी भी है जो गद्य और पद्य दोनो में होती है और ऐसी ही रचनाओ को 'मिश्रकाव्य' या 'चम्पू' कहते है। ऐसे प्रयोजन की दृष्टि से काव्य के भेद दृश्य और श्रव्य और इनके भेद है पर सक्षेप में काव्य के तीन भेद ही हुए—पद्य, गद्य और मिश्र। वागभट्ट ने अपने काव्यानुशासन में इसके लिए सूत्र लिखा है—"तच्च पद्यगद्य मिश्र—भेदै स्त्रिधा" (अध्याय प्रथम पृष्ठ १५)। यहाँ 'तत्' पद का अर्थ काव्य है। 'मिश्र' से नाटक आदि तथा चम्पू को ग्रहण करना चाहिए। रसात्मक आनन्द की विविधता की अनुभूति चम्पू में ही सभव है और इससे मानव की अस्थिर भावना का एकाकी विकास होता है। काव्य की विशाल परिधि के भीतर चम्पू की क्यारियाँ सौन्दर्य के फूलो से अधिक लद जाती हैं। अत चम्पू काव्य की आत्मा को अधिक चित्रात्मकता और प्राजलता प्रदान करता है और इससे काव्य विशेष रूप में जीवन्त रहता है।

चम्पू का लक्षण—

सबसे पहले चम्पू का लक्षण आठवी शताब्दी में महाकवि दण्डी ने किया है—'गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपिविद्यते' काव्यादर्श पृ० ८ श्लोक ३१। दण्डी के बाद हेमचन्द्र ने १२ वी शताब्दी में और वाणभट्ट ने १४ वी शताब्दी मे अपने-अपने काव्यानुशासन मे "गद्यपद्यमयी साका सोच्छ्वासाचम्पू" यह लक्षण किया है।

दण्डी के लक्षण में 'साका' और 'सोच्छ्वास' पद नही है, उत्तरवर्ती दोनो आचार्यों के लक्षणो में है, इसका मुख्य कारण यह है कि दण्डी के सामने कोई चम्पू काव्य नही बना था। चम्पू काव्य सबसे पहले ई० सन् ६१५ में लिखा गया। इसका नाम है नलचम्पू। हेमचन्द्र और वाग्भट ने इसका 'दमयन्ती कथा के नाम से उल्लेख किया है। नलचम्पू का ही दूसरा नाम दमयन्ती कथा है, जो स्वय उसके रचयिता ने लिखा है। इस चम्पू में ७ उच्छ्वास है और प्रत्येक उच्छ्वास के अन्त में 'हरचरण सरोज' पद लिखा गया है। यही इसका 'अक' है। यद्यपि हेमचन्द्र के सामने सोमदेव सूरि (ई० ६५६) का यशस्तिलक भी था, किन्तु उन्होने इसके अनुसार चम्पू का लक्षण नही बनाया। यशस्तिलक में 'अक' नही है और न उच्छ्वास। उच्छ्वास के स्थान में आश्वास है। बाद के विद्वानो ने सोमदेव का ही अनुगमन किया। फलत किसी अन्य चम्पू में अक नही। अधिकाश चम्पूओ में आश्वास है। कुछ में स्तावक भी है। इसीलिए विक्रम की चौदहवी शती के विद्वान् कविराज विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में—"गद्य-पद्यमय काव्य चम्पूरित्यभिधीयते" षष्ठ परिच्छेद पृ० ३२६ पर यह लक्षण किया। यह लक्षण सभी चम्पुओ में घटित हो जाता है।

चम्पू का प्रचार—

यो कोई भी काव्य अन्य शास्त्रो की अपेक्षा कही अधिक मधुर होता है, पर चम्पू की मधुरता सभी काव्यो से निराली होती है। महाकवि हरिचन्द्र ने जीवन्धर चम्पू में लिखा है —

> गद्यावलि पद्य परम्परा च प्रत्येकमप्यावहतिप्रमोदम्।
> हर्ष-प्रकर्ष तनुते मिलित्वा, द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥ पृ० २

गद्य हो चाहे पद्य, दोनो आनन्द जनक होते है, किन्तु दोनो जब मिल जाते है तो वय सन्धि मे स्थित नवयुवती के समान बहुत अधिक आनन्द प्रदान करते है। यही कारण है कि जो बाद में अनेक चम्पू रचे गये—नलचम्पू (ई० ६१५) यशस्तिलक (ई० ६५६) चम्पू रामायण (ई० १०५०) जीवन्धर चम्पू (ई० १२००) चम्पूभारत (ई० १२००) पुरुदेव चम्पू (ई० १३००) भागवत चम्पू (ई० १३४०) आनन्द-वृन्दावन चम्पू (ई० १६ शतक) पारिजातहरण चम्पू (ई० १५६०) नीलकण्ठ चम्पू (ई० १६३७) विश्वगुणादर्शचम्पू (ई० १६४०) और गजेन्द्र चम्पू (ई० १८५०) आदि।

जैन चम्पू—

यशस्तिलक चम्पू, जीवन्धर चम्पू और पुरुदेव चम्पू ये तीन चम्पू ही अभी तक प्रकाशित हो सके है। इन तीनो के रचयिता दि० जैन थे। भाण्डारो में खोजने पर अभी और भी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों के बनाये चम्पू उपलब्ध हो सकते है।

इनका विषय और आधार—

पहले चम्पू में राजा यशोधर, दूसरे में जीवन्धर और तीसरे में भगवान् आदिनाथ का वर्णन है। जैनेतर काव्य रामायण, महाभारत और १८ पुराणो के आधार से बनाये गये है और जैन-

काव्य जैन पुराणो के। उक्त चम्पुओ के आधार भी जैन पुराण हैं। दूसरे और तीसरे चम्पू का आधार जिनसेन का महापुराण है। जीवन्धर की कथा जिनसेन के पहले किसी भी दि० अथवा श्वेताम्बर ग्रन्थ में नही लिखी गयी। तीसरे चम्पू का तो मुख्य लक्ष्य यही था कि महापुराण का सार चम्पू सब में प्रस्तुत किया जाय।

इनकी विशेषता—

प्रथम चम्पू (यशस्तिलक) के रचयिता सोमदेव सूरि हैं। इन्होने इस चम्पू के अन्त में अपना समय शक स० ८८१ लिखा है। इनके गु महान् तार्किक थे। इन्होने ९३ वादियो को शास्त्रार्थ में हराया था। गुरु के समान सोमदेव सूरि भी प्रमुख तार्किक थे। यह तृतीय राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के सामन्त चालुक्य वश के द्वितीय अरिसिंह के सभापण्डित थे। इनके ग्रन्थो के अध्ययन से इस बात का स्पष्ट बोध हो जाता है कि ये बहुश्रुत विद्वान् थे। वेद, पुराण, धर्म, स्मृति, काव्य, दर्शन, आयुर्वेद, राजनीति, गज-शास्त्र, अश्वशास्त्र, नाटक और व्याकरण आदि के यह मर्मज्ञ थे। इसीलिए इनका चम्पू वर्तमान में उपलब्ध सभी चम्पुओ से उत्कृष्ट सिद्ध हुआ। इस चम्पू काव्य के बारे में स्वय कवि ने लिखा है —

> असहायमनादर्शं रत्न रत्नाकरादिव।
> मत्त काव्यमिद जात सता हृदयमण्डनम् ॥१४॥ प्र० आ०

मेरा यह काव्य समुद्र से उत्पन्न रत्न के समान सज्जनो के हृदय का आभरण है। रत्न अपनी उत्पत्ति में दूसरे रत्न का सहारा नही लेता और न किसीको आदर्श मानकर ही उत्पन्न होता है। इसी तरह इस काव्य का जन्म भी असहाय—मौलिक और अनादर्श—बेजोड है। अनादर्श का एक अर्थ बिना टीका वाला भी है। यह अर्थ भी ठीक है, क्योकि ग्रन्थकार ने स्वय इसकी टीका नही की। इसकी टीका तो श्रुतसागर ने की है।

प्रस्तुत चम्पू काव्य में अनेक विशेषताएँ हैं, जिनके कारण यह सभी जैन और जैनेतर चम्पू काव्यो में श्रेष्ठ है। इस काव्य का गद्य कादम्बरी के समान है। गद्यकाव्य की रचना में बाण के बाद सोमदेव का ही नम्बर हो सकता है और पद्य रचना अत्यन्त सरल है इसलिए अश्वघोष महाकवि की रचना के बाद इने दूसरा नम्बर मिल सकता है।

प्रस्तुत काव्य में जितने विषयो का वर्णन है उतने विषयो का वर्णन उपलब्ध किसी अन्य काव्य में नही है। प्रत्येक काव्य में एक निश्चित नायक रहता है। उसीका चरित चित्रित करना उसके रचयिता का मुख्य लक्ष्य रहता है। अन्य चम्पू काव्यो में अलकारमयी भाषा में केवल नायक की कथा ही लिखी गयी है। विद्वान् ससार में नलचम्पू और भारतचम्पू का विशेष नाम है। नलचम्पू में राजा नल की कथा लिखी गयी है और भारतचम्पू में महाभारत की। दोनो चम्पुओ में कही कही श्लेष का प्रयोग किया गया है, इसीलिए इनका महत्त्व विशिष्ट समझा गया। किन्तु दोनो के श्लेष से यशस्तिलक का श्लेष कही श्रेष्ठ है। प्रस्तुत चम्पू में सोमदेव ने उन शब्दो का प्रयोग किया जो अन्य काव्यो में नही है। यशस्तिलक में सैकडो ऐसे शब्द हैं जो कोषो में भी नहीं हैं। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ये बहुत महत्वपूर्ण हैं।

प्रसङ्ग पाकर सोमदेव ने पृ० २५ पर नृग, नल, नहुष, भरत, भगीरथ और भगदत्त, इन पौराणिक पराक्रमी नरेशो का उल्लेख किया है। इतने नाम एक साथ मुझे किसी जैनेतर काव्य में नही मिल सके। यह उल्लेख सोमदेव की पौराणिक योग्यता का द्योतक है।

एव पृ० ११३ आश्वास ४ मे कवि ने प्रसङ्गत उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृश्रेष्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, वोस, कालिदास, वाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ और राजशेखर इन महाकवियो का उल्लेख किया है। यह इनके महाकाव्यो के गहरे अध्ययन का परिचायक है। ये नाम भी किसी जैनेतर काव्य में एक साथ नही लिखे गये और न इतिहास में ही।

मोक्ष का स्वरूप लिखते समय पृ० २६९ आश्वास ६ में सैद्धान्तवैशेषिक, तार्किकवैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, साख्य दशवलशिष्य, जैमिनीय, वार्हस्पत्य, वेदान्तवादी, शाक्यविशेष, कणाद, तथागत और व्रह्माद्वैतवादी, इन दार्शनिको के मत का उल्लेख किया है। यह उल्लेख भी इनकी दार्शनिक विद्वत्ता का द्योतक है।

प्रसगत वीच वीच में ग्रन्थकार ने इस काव्य में नाटको के समान रचना की है—(प्रकाशम्) अम्व! न वालकेलिष्वपि मे कदाचित् प्रतिलोमतागतासि। पृ० १४० आश्वास ४।

राजा (स्वगतम्) अहो महिलाना दुराग्रहनिखग्रहाणि परोपघाताग्रहाणि च भवन्ति प्रायेण चेष्टितानि। पृ० १३५ आश्वास ४ यह रचना ग्रन्थकार के नाटक के अध्ययन को सूचित करती है। ऐसी रचना अन्य किसी चम्पू में नही है।

सुभाषितो की दृष्टि से भी यह चम्पू श्रेष्ठ है। इसके अनेक सुभाषित तो सुभाषित ग्रन्थो मे भी उद्धृत किये गये हैं। सुभाषितरत्नभाण्डागार के सामान्य नीतिप्रकरण में —

नि सारस्य पदार्थस्यप्रायेणाडम्बरो महान्।
नहि स्वर्णे ध्वनिस्ताहम् यादक् कास्ये प्रजायते ॥११४॥ पृ० १६२

यह पद्य अज्ञात कवि के नाम से छपा है। यह पद्य काशस्तिलक पृ० १० का ३५ वें नम्वर का पद्य है। इसी तरह और भी अनेक पद्य है। यदि इस पुस्तक के सुभाषित सकलित किये जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक वन सकती है।

उपर्युक्त वातो से यह स्पष्ट है कि यह उपलब्ध सभी चम्पुओ से श्रेष्ठ है। यदि केवल कलेवर की दृष्टि से ही तुलना की जाय तो भी कोई चम्पू वाजी नही मार सकता।

वीच २ में आयी हुई राजनीति की चर्चा से भी प्रस्तुत चम्पू की शोभा वढ गयी है।
यदि केवल जैन काव्यो से ही इसकी तुलना की जाय तो इसका महत्त्व और भी अधिक वढ जाता है।

प्रस्तुत चम्पू की गद्यरचना तिलकमञ्जरी और गद्यचिन्तामणि से अच्छी है और पद्यरचना हरिचन्द्र को छोडकर अन्य कवियो की रचना से।

विषय की दृष्टि से देखा जाय तब तो कोई भी काव्य इसकी समता की क्षमता नही रखता। द्वितीय आश्वास १०५ पद्य से लेकर १५७ श्लोक पर्यन्त कविने द्वादश (१२) अनुप्रेक्षाओ की बहुत ही रोचक रचना की है। यह इनकी रचना बिल्कुल मौलिक है। इनके पहले प्राकृत में ही इनकी (अनुप्रेक्षाओ की) रचना की गयी। इनके बाद तो अनेक विद्वानो ने सस्कृत में भावनाओ की रचना की है।

श्रावकाचार की दृष्टि से देखा जाय तो समन्तभद्र के बाद इन्ही के इस चम्पू में इतने विस्तार और मौलिकता से लिखा गया है। यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वासो में श्रावकाचार का वर्ण न किया गया है। पाँचवें आश्वास के अन्त में सोमदेव नें लिखा है :—

इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्त चरित यशोधर नृपस्य।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठित मुपासकाध्ययनम् ॥

अर्थात् इतने ग्रन्थ में मैंने राजा यशोधर का चरित लिखा, अब इसके आगे उपासकाध्ययन लिखूगा। इनका यह प्रकरण भी बहुत महत्त्वशील है। आचार्य हेमचन्द्र और आशाधर आदि उत्तरवर्ती अनेक श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थो में प्रमाण रूप से इसके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। हसदेव आदि अनेक धर्माचार्यों के सोमदेव ने प्रसगत: यशस्तिलक में नाम लिखे हैं, जिनके अभी तक कोई ग्रन्थ नही मिल सके।

जैन-मुनियों की तपस्या का वर्णन भी प्रस्तुत चम्पू में अत्यन्त सुन्दर ढग से किया गया है। यह भी इसकी खास विशेषता है। यद्यपि सभी काव्यो में किसी न किसी प्रकरण में साधु-महात्माओ का वर्णन होता है, किन्तु यशस्तिलक का ढग ही अलग है।

पृ० ५५ से ७६ तक जैनाचार्य सुदत्त की तपस्या का अत्यन्त ही रोचक वर्णन किया है। शीत, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में वह खुले मैदान में खडे रहते थे। इस प्रसग में ऋतुओ का वर्णन भी अनुसगत हो गया। इस ढग का वर्णन किसी अन्य जैन-ग्रन्थो में मौजूद नही है।

ग्रन्थ में बीच बीच में रसो का प्रयोग भी सुन्दर तरीके से किया गया है। छन्दो की सिद्धि भी कवि को खूब थी। चतुष्पदी और घत्ता आदि छन्दो का प्रयोग मेरी दृष्टि में अन्य किसी जैन या जैनेतर काव्य में नही आया। ज्यो ज्यो इस पुस्तक के पृष्ठ पलटते हैं त्यो त्यो इसकी आश्चर्यकारिणी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। इसलिए यह सभी जैन चम्पू काव्यो में भी मूर्धन्य है।

आचार्य सोमदेव ने अपने चम्पू में गद्य भाग में ओज गुण और पद्यभाग में प्रसाद गुण को स्थान दिया है एव गद्यांश में गौडीया रीति और पद्यांश में वैदर्भी रीति को अपनाया है। कहीं-कहीं इसमें विपर्यास भी दिखाई पडता है। इसका आनन्दवर्द्धन और विषय का औचित्य कारण है।

जीवन्धर-चम्पू

जीवन्धर चम्पू यशस्तिलक के बाद की रचना है। इसमें महाकवि हरिचन्द्र ने—जो कायस्थ थे—जीवन्धर की रोचक कथा ११ लम्बो में लिखी है। यह कथा प्रथमत महापुराण में पद्यो में लिखी मिलती है। बाद में वादीभसिंह द्वारा क्षत्रचूड़ामणि और गद्यचिन्तामणि में क्रमश पद्य और गद्य रूप में लिखी गयी। इनके बाद में महाकवि हरिचन्द्र ने इसी कथा को चम्पू के रूप में लिखा। इस चम्पू में वह बात तो नही है जो यशस्तिलक में है किन्तु फिर भी इसकी रचना सरलता और सरसता की दृष्टि से प्रशसनीय है। इसमें अलकारो की विच्छित्ति विशेष रूप से हृदय को आकृष्ट करती है। पद्यो की अपेक्षा गद्य की रचना अधिक पाण्डित्यपूर्ण है, इसीलिए अनेक विद्वानो ने इसके रचयिता को बाण द्वारा हर्षचरित में प्रशसित भट्टारकहरिचन्द्र समझा।

इनकी गद्य रचना देखिये–

यश्च किल सङ्क्रन्दन इवानन्दित सुमनोगण, अन्तक इव महिषी समधिष्ठित, वरुण इवाशान्त रक्षण . . . .। पृष्ठ ४ इस गद्याश में कवि ने पूर्णोपमालकार को कितने सरल ढग से रखा है। यह अलकारशास्त्र के मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। यद्यपि यहाँ श्लेष भी है पर विश्वनाथ कविराजके कथनानुसार यहाँ श्लेष मुखेन व्यवहार न होकर पूर्णोपमा का ही व्यवहार होगा।

यस्मिन्महीमण्डल शासति मदमालिन्य योगो मत्तदन्तावलेषु, पराग कुसुम निकरेषु, नीचसेवना निम्नगासु, आर्तवत्त्व फलितवनराजिषु । पृष्ठ ५

यहाँ परिसख्यालकार अत्यन्त ही सरल ढग से आ गया है।

यस्य च वदनतो कोपकुटिलितभ्रुकुटिघटितेऽशरणतयावन प्रतिधावमानाना प्रतिपक्षपार्थिवाना वृक्षराजिरपि वातान्दोलित शाखाहस्तेनपतन्तिविरुतेन च राजविरोधिनोऽत्र न प्रवेष्टव्या इति निषेध कुर्वाणा तामतिक्रामत्सु तेषु राजापराधभयेनेव प्रवातकम्पमाना विशङ्कटकण्टकेन केशेषु कर्षतीति शकाम कूरयामास। यस्य प्रतिपक्ष लोहलाक्षीणा काननवीथिकादम्विनीशम्पायमान तनुसम्पदा वदनेषु वारिजभ्रान्त्या पपात हसमाला ता कराङ्गुलीर्भिनिवारमन्तीना तासा करपल्लवानि चकर्षु कीर शावका:' हा हेति प्रलपन्तीना कोकिल-भ्रान्ति भाविता शिरस्सु कुट्टायित कुर्वन्तिस्मकरटा, ततश्चलित वेणीनामेणाक्षीणा नाग भ्रान्त्या कर्षन्तिस्म वेणी मयूरा, ततो दीर्घं निश्वासमातन्वतीना तद्गन्धलुब्ध मुग्धमधुकरा मदान्धा समापतन्त पश्यन्तोऽपि नासाचम्पक न निवृत्ता बभूवु गुरुतरनितम्ब कुचकुम्भभारानताना वेधसा स्तनकलशसृष्ट काठिन्य पाद-पद्मेषु वाञ्छन्तीना धावनोद्युक्तमनसा चलित पादयुगलप्रसृतनखचन्द्र चन्द्रिकासु सम्मिलिताश्चकोरा उपरुन्ध-न्तिस्म मार्गम्, ततो भुवि निपत्य लुठन्तीना सुवर्णसवर्णे मुरोजयुगल पक्वतालफलभ्रान्त्या कदर्थयन्ति वानरा इति राजविरोधिनामरण्यमपित शरण्यम्। पृ० ६

इस गद्य में भ्रान्ति मदलकार की योजना बहुत ही विद्वत्ता के साथ की गयी है। और यहाँ करुणरस का परिपोष भी दर्शनीय है। इस ढग का गद्य उपलब्ध सस्कृतसाहित्य में मेरी दृष्टि में कही नही आया।

पुरुदेव-चम्पू—

पुरुदेव चम्पू महाकवि अर्हद्दास ने लिखा है। इस चम्पू में भगवान् आदिनाथ का चरित लिखा गया है। इसकी और सब बातें अन्य चम्पुओं के समान ही हैं। किन्तु इसमें अलंकारों की छटा अन्य चम्पू काव्यों से कहीं अधिक है। अर्थालंकार की अपेक्षा शब्दालङ्कार पर कवि ने ज्यादा जोर दिया है। कवि ने इस चम्पू की प्रत्येक लाइन में अलंकारमयी भाषा का प्रयोग किया है। यह बात अन्य चम्पुओं में नहीं है।

उदाहरण देखिये—

> द्विविधाः सुदृशोभान्ति, यत्र मुक्तोपमाः स्थिताः।
> राजहंसाश्च सरसां, तरङ्गविभवाश्रिताः॥१८॥ पृ० ७

यहाँ श्लेष देखिये।

> यस्य प्रतापतपनेन विलीनमाने, लेखाचले रजतलिप्तवराचरे च।
> यत्कीर्तिधौतल मुर्वनदीतरङ्गै रङ्गीकृतोऽप्यदितौ स्थिरतामयातान्॥२१॥ पृ० ८

यहाँ अतिशयोक्ति देखिये :—

विरोधाभास—

यस्याः किल मृदुलपदयुगलं गमनकलातिरस्कृतहंसकमपि किङ्करतलालितहंसकम्, विद्रुमशोभाक्रमितमपि पल्लविता शोकद्रुमशोभाक्रमितम् ...... । पृ० ८–९।

रूपक—

> तद्वक्त्राब्ज रुचिप्रवाह जलधौ श्रीकुन्तलालीमिल-
> च्छैवाले भ्रुकुटीतरङ्गतरले बिम्बोष्ठ सद्विद्रुमे।
> दन्तोदञ्चितमौक्तिके स्मनतराभिष्कम्पमीनाश्रितं
> नेत्रद्वन्द्वनिमेषरहितं निःसीमकान्त्युज्ज्वलम्॥९४॥ पृ० २४

सन्देह—

> किमेष सुरनायकः किमु सुमोल्लसत्सायकः
> किमाहिततनुर्भवः किमुत भूमिमाप्तो विधुः।
> इतिक्षितिपतिः पुरी मुकुरकुम्भबिम्बाधरी-
> गणेन परिशंकितो गृहमगाद्गजैर्मण्डितः॥२०॥ पृ० ६४

अपह्नुति—

> जयाश्रिया यत्रवृते रणाग्रे विवाहशोभामरिभूमिपालः।
> लेभे तदानीं रिपुसैन्यवर्गोऽचिरं चिरं नन्दनसौख्यभाक्॥६१॥ पृ० ७८

शृङ्खलायमक—

तस्याः किल कुम्भीन्द्रकुम्भसन्निभः कुचकुम्भानिभः बिम्बसहोदरोऽधरोऽधरीकृतधरत्तुलितं नितम्ब-दलयं, वलयाञ्चितं करकिसलयं, तदयनधुरा गानकला..... ।

कवि ने आरम्भ से अन्त तक इसी प्रकार अलङ्कारमयी भाषा में लिखा है। इस दृष्टि से यह चम्पू भी सभी जैन और जैनेतर चम्पुओं में श्रेष्ठ है।

जैन व्याकरण का तुलनात्मक-अध्ययन

श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी' साहित्य-व्याकरणाचार्य

"व्याक्रियन्ते, व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन" इस व्युत्पत्ति द्वारा व्याकरण शब्द की निष्पत्ति कही गयी है। 'वि' 'आ' उपसर्ग 'कृ' धातु एव ल्युट् प्रत्यय के योग से यह शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है जिसके द्वारा शब्द बनें, वह शास्त्र। इसीलिए व्याकरण को शब्दशास्त्र भी कहा गया है। आज-कल महर्षि पाणिनि सस्कृत व्याकरण के प्रचलित आचार्य माने जाते हैं। उन्हीके नाम से सस्कृत व्याकरण 'पाणिनीय व्याकरण'—नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

महर्षि पाणिनि का स्थितिकाल 'लघुत्रिमुनि' के आधार पर ईसा से तीन चार शताब्दी पूर्व प्रमाणित होता है। पाणिनि ने आठ अध्यायो में व्याकरण के सूत्रो की रचना की है, जिसे हम 'अष्टा-ध्यायी' के रूप में जानते हैं। अष्टाध्यायी के, उन सूत्रो का, जो नव्य व्याकरण की आधार-शिला है, काफी प्रचार हुआ। फलत उसीके आधार पर 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' की सृष्टि हुई तथा उस पर अन्यान्य और कितनी ही टीका-टिप्पणियाँ प्रस्तुत हुईं, जो व्याकरण-महासागर की असख्य उद्दाम उर्मियो के समान लहरा रही हैं।

पाणिनीय व्याकरण के मूल तत्त्व हैं, माहेश्वर सूत्र जो निम्नलिखित प्रकार से चौदह सख्याओ में विभक्त हैं —

"अइउण् ।१। ऋलृक् ।२। एओङ ।३। ऐ औच् ।४। हयवरट् ।५। लण् ।६। ञमङणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जबगडदश् ।१०। खफछठथचटतव् ।११। कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४।"

इन सूत्रो के आधार पर रचित पाणिनीय व्याकरण शब्दशास्त्र की परम्परा का परवर्त्ती प्रयास है, इसे निर्विवाद मान लेने में किसीको आपत्ति नही होगी। क्योकि, इससे पूर्ववर्त्ती और भी सात व्याकरणो का पता चलता है। उन व्याकरणो के नाम भी उनके आचार्यों के नाम के साथ ही आते हैं। भास्करा-चार्य-कृत 'लीलावती' के अन्त में एक श्लोक भी मिलता है, जिससे इस व्याकरण के साथ इतर सात व्याकरणो का पता चलता है —

'अष्टौ व्याकरणानि षट् च भिषजा व्याचष्ट सहिता,
षट् तर्कान् गणितानि पञ्च चतुरो वेदानधीतेस्म य ।

रत्नाना त्रितय द्वय च बुबुधे मीमासयोरन्तरम्,
सद्ब्रह्मैक मगाधबोध-महिमा सोऽस्या कविर्भास्कर ।

श्री भास्कराचार्य-प्रणीत इस श्लोक के अध्ययन से सहज ही आठो व्याकरणो की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिसका समाधान मिलता है 'कविकल्पद्रुम' के धातुपाठ में वोपदेव के निम्नलिखित श्लोक द्वारा —

'इन्द्रश्चन्द्र काशकृत्स्ना विशली शाकटायन,
पाणिन्यमर जैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादि शाब्दिका. ।

उल्लिखित श्लोक द्वारा इन्द्रादि आठ व्याकरणाचार्यों के नाम हमारे सामने अनायास ही आ जाते हैं । पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपलब्ध सूत्रो द्वारा भी पाणिनि से पूर्व कितने ही वैयाकरणो का पता चलता है । देखिए —

१. व्योर्लघु प्रयत्नतर शाकटायनस्य ८।३।३०
—शाकटायनाचार्य

२. इ ३ चाक्रवर्मणस्य ६।१।१३०
—चाक्रवर्मण

३. वा सुप्यापिशले ६।१।९२
—आपिशलि

४. लोप शाकल्यस्य ८।३।१९
—शाकल्य

५ अवड स्फोटायनस्य
—स्फोटायन

इस प्रकार पाणिनि ने अपने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणो के मतो का उल्लेख करते हुए उनका पूर्व-वर्स्तित्व प्रमाणित किया है । किन्तु, पाणिनि पर विशेष आभार है श्री शाकटायनाचार्य का, जिनके मतो को अधिकाश रूप मे उन्होने अपनाया है । उदाहरणार्थ श्री शाकटायनाचार्य के 'आद्विषो झेर्जुस् वा' सूत्र का ही विषयानुवाद पाणिनि के 'लड शाकटायनस्यैव' सूत्र के द्वारा किया गया प्रतीत होता है । इसी प्रकार कही-कही विषयानुवाद के रूप में तथा कही-कही उनके अविकल रूप को ही अपनाने में महर्षि ने सकोच नही किया है । यही कारण है कि शाकटायनाचार्य के व्याकरण की पूर्णता पर यक्षवर्माचार्य को इतना अधिक विश्वास था कि उन्होने अपने उस विश्वास को अभिव्यक्त करने के लिए निम्नलिखित श्लोक लिखते समय अतिशयोक्ति-अलकार की ओर ध्यान ही नही दिया । श्लोक —

"इन्द्रचन्द्रादिभि. शाब्दैर्यदुक्त शब्दलक्षणम्,
तदिहास्ति समस्त च यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ।"

सचमुच महामुनि शाकटायनाचार्य बहुत बड़े वैयाकरण हो गये हैं। उनका बनाया हुआ शब्दानुशासन ग्रन्थ जैन व्याकरण का पारिजात है। उक्त ग्रन्थ चार अध्यायो में समाप्त हुआ है तथा सके सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन और उणादिपाठ ऐसे पाँचो ही पाठ बडे महत्त्वपूर्ण हैं। पाणिनि ने इनके उणादि पाठ को तो उसी रूप में अपना लिया है।

पतञ्जलि महाराज ने भी 'उणादि बहुलम्' सूत्र की भाष्य-रचना करते समय शाकटायन का नाम लेकर उनकी कृतज्ञता प्रकट की है :—

"नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्,
वैयाकरणाना च शाकटायन आह धातुज नाम इति।"

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद और यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में तथा यास्काचार्य के निरुक्त में भी इन्ही शाकटायनाचार्य का नाम मिलता है। इस प्रकार हम देखते है कि पाणिनि की अपेक्षा वैयाकरण के नाते महामुनि शाकटायनाचार्य को वस्तुत. अधिक गौरव प्राप्त है।

श्री शाकटायनाचार्य भी जैन ही थे। अत इनका बनाया व्याकरण भी जैन-व्याकरण ही है। किन्तु, इनके अलावे भी और कितने ही जैन आचार्य हो गए हैं, जिनके व्याकरण कई दृष्टियो से बड़े ही वैज्ञानिक प्रमाणित हो रहे हैं। उन व्याकरणो में श्री जैनेन्द्र रचित 'जैन व्याकरण' का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जा सकता है।

श्री शाकटायन के शब्दानुशासन में जैसे पाणिनि के चौदह सूत्रो की जगह तेरह ही सूत्र पढ़े गए हैं, उसी प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण में भी 'अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा' प्राय. सर्वत्र पुत्रोत्सव मनाया गया है। यहाँ शाकटायन के सूत्रो का लाघव देखिए :—

"अइउण् ।१। ऋक्‌ए ओङ ।३। ऐऔच् ।४। हयवरलञ् ।५। ञमङणनम् ।६। जबगडदश् ।७। झभघढधष् ।८। खफछठथट् ।९। चटतव् ।१०। कपय् ।११। शषसअं अः. । कपर् ।१२। हल् ।१३।"

ये हुए पाणिनि के चौदह सूत्रो की जगह शाकटायन के तेरह सूत्र। किन्तु इन तेरह सूत्रो की कल्पना में वह विशेषता नही, जो 'ऋ ल क्' की जगह 'ऋक्'–विधान में निहित है। निश्चय ही महामुनि ने 'ऋ लृ वर्णयोमिथ सावर्ण्य वाच्यम्' पर ध्यान देते हुए लाघव की यह दूरदर्शिता प्रदर्शित कर बाजी मार ली है। वस्तुत पाणिनि के 'ऋ लृ क्' में उसे 'आम्नाय समाम्नाय' कह कर 'लृ' की अधिक्ता को सतोष के साथ स्वीकार करना वैज्ञानिक दुर्बलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

लाघव का यह स्वरूप जैनेन्द्र-व्याकरण में स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। यहाँ जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रो की पाणिनीय सूत्रो के साथ तुलनात्मक समीक्षा कीजिए :—

तुलना

जैनेन्द्र व्याकरण	पाणिनीय व्याकरण
१ ल कर्मणि च भावे चषे.	१. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य.
२ हलोऽन्तरा स्फ	२ हलोन्तरा संयोग
३ ईदूदेद् द्विर्दि·	३ ईदूदेद्विवचन प्रगृह्यम्
४ भूवादयो धु	४ भूवादयो धातव
५ परिव्यवक्रिय	५ परिव्यवेभ्य. क्रिय.
६ विपराजे	६ विपराभ्या जे
७ निविश	७ नेर्विश
८ व्याङश्च रम.	८ व्याङपरिभ्यो रम.
९ विशेषण विशेष्येवेति	९ विशेषण विशेष्येणम् वहुलम् ।
१०. पति से	१० पति समास एव
११. दूरान्तिकार्थे स्ता च	११ दूरान्तिकार्थेस्तृतीया
१२ दिवादे श्य	१२ दिवादिभ्य. श्यन्
१३ सर्वादि सर्वनाम	१३ सर्वादीनि सर्वनामानि
१४ प्रादि	१४ प्रादय.

दोनो वैयाकरणो के उपरिलिखित इन सूत्रो को देखने से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनीय सूत्रो की अपेक्षा जैनेन्द्र के सूत्रो में लाघव है। इस तरह सूक्ष्मता ही यदि सूत्र की सिद्ध परिभाषा हो सकती है तो निश्चय ही इस दृष्टि से जैनेन्द्र के सूत्र पाणिनि के सूत्रो की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक हैं ।

इतना ही नही, वल्कि पाणिनि के सूत्रो का अधिकाश जैनेन्द्र के सूत्रो का तद्रूप ही प्रतीत होता है ।

जैनेन्द्र-सूत्रो से पाणिनीय-सूत्रो की समरूपता.—

जैनेन्द्र व्याकरण	पाणिनीय व्याकरण
१ स्थानेऽन्तरतम	१ स्थानेऽन्तरतम
२ स्वरितेनाऽधिकार	२ स्वरितेनाऽधिकार.
३ न गतिहिंसार्थेभ्य	३ न गतिहिंसार्थेभ्य
४ आङोयमहन	४ आङोनमहन
५ धारेसत्तमर्ण	५ धारेसत्तमर्ण
६. साधकतम करणम्	६ साधकतम करणम्
७ अभिनिविशश्च	७ अभिनिविशश्च
८ अकथितञ्च	८ अकथितञ्च
९. स्वतन्त्र कर्त्ता	९. स्वतन्त्र. कर्त्ता

१०. समर्थ पदविधि	१० समर्थ पदविधि.
११ नदीभिश्च	११ नदीभिश्च
१२. मयूरव्यसकादयश्च	१२ मयूरव्यसकादयश्च
१३. याजकादिभिश्च	१३ याजकादिभिश्च
१४. चार्थे द्वन्द्व	१४ चार्थे द्वन्द्व
१५. अल्पाच्तरम्	१५ अल्पाच्तरम्
१६ कर्तृकर्मणो कृति	१६ कर्तृकर्मणो कृति
१७ वद सुविक्यम् च	१७ वद सुविक्यम् च
१८ चरेष्ट	१८ चरेष्ट
१९ अनद्यतने लङ	१९ अनद्यतने लङ
२० परोक्षे लिट्	२० परोक्षे लिट्
२१ अनद्यतने लट्	२१ अनद्यतने लट्
२२ थास से	२२ थास से
२३ आमेत.	२३ आमेत
२४ झेर्जुस्	२४ झेर्जुस्
२५ लिडाशिषि	२५ लिडाशिषि
२६ किदाशिषि	२६ किदाशिषि
२७ लिङ सीयुट्	२७ लिङ सीयुट्
२८ लोटो लङ्वत्	२८ लोटो लङ्वत्

इस प्रकार इन सूत्रो की समरूपता देख कर जैनेन्द्र से पाणिनि के प्रभावित होने के सम्बन्ध में सन्देह का स्थान नही रह जाता ।

लाघव की दृष्टि से पाणिनि की सज्ञाओ की अपेक्षा जैनेन्द्र की सज्ञाओ में भी विशेषता निहित है। यह भी एक कारण है जिससे जैनेन्द्र को अपने सूत्रो में लघुता लाने की पर्याप्त सुविवा रही। देखिए –

जैनेन्द्र की सज्ञाएँ	पाणिनिकी सज्ञाएँ
अग	आर्द्धधातुकम्
अप्	चतुर्थीविभक्ति
इप्	द्वितीया विभक्ति
ईप्	सप्तमी विभक्ति.
उङ	उपधा
उच्	श्लु
ऐच्	वृद्धि
का	पञ्चमी विभक्ति
कि	सवृद्धि

ख	लोप.
खु	सञ्ज्ञा
ग	सार्वधातुकम्
गि.	उपसर्ग.
गु:	अगम्
घि	लघु
ङ.	अनुनासिकम्
ङि	भावकर्म
च.	अभ्यास.
झि	अव्ययम्
ञ	कर्मव्यतिहार
ता	षष्ठी विभक्ति
ति.	गति
त्य:	प्रत्यय
थ	अभ्यस्तम्
द	आत्मनेपदम्
दि	प्रगृह्यम्
दी	दीर्घम्
दु	वृद्धम्
द्यु	उत्तरपदम्
धम्	सर्वनाम स्थानम्
धि	अकर्मकम्
धु	धातु
नि	निपात
नप्	नपुंसकलिङ्गम्
न्यक्	उपसर्जनम्
प.	प्लुत
प्र	ह्रस्व
बम्	बहुव्रीहि
बोध्यम्	सबोधनम्
भा	तृतीया विभक्ति.
मम्	परस्मैपदम्
मु	नदी
मृत्	प्रातिपदिकम्
य	कर्मधारय.

र	द्विगु
रु	गुरु
वा	प्रथमा विभक्ति
वाक्	उपपदम्
व्य	कृत्य
षम्	तत्पुरुष
स.	समास
सत्	वर्त्तमानम्
स्फ	सयोग
स्वम्	सवर्णम्
स्नि.	सर्वनाम
स्पि	सख्या
ह	अव्ययीभाव
हृद्	तद्धित
ह्वादि	जुहोत्यादि

इसी प्रकार एकान्तवाद को प्रथमता देते हुए पाणिनि ने जहाँ 'रामा' जैसे वहुवचन के प्रयोगो की सिद्धि के प्रसग में अनेक की जगह एक को शेष करने के निमित्त, 'सरूपाणामेकशेष' सूत्र की रचना कर प्रक्रिया को अनेक की विडम्वना मे उलझा दिया है वहाँ पूज्यपाद जैनेन्द्र ने 'सिद्धिरने-कान्तात्' सूत्र रच कर अनेकान्त की प्रतिष्ठा द्वारा इस समस्या को अत्यन्त सुगम वना दिया है ।

वस्तुत शब्द-सृष्टि-प्रक्रिया को सुगम वनाने से ही कोई भी व्याकरण वैज्ञानिकता के उच्च आसन पर समासीन होने की क्षमता प्राप्त करने में अग्रणी हो सकता है । इस दृष्टि से यदि जैन-व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो निश्चय ही जैनेन्द्र व्याकरण की महत्ता सर्वमान्य होकर रहेगी ।

हिन्दी की जननी—अपभ्रंश

प्रो० श्री ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०

भूमिका—

भारत को स्वाधीनता प्राप्त होने के उपरान्त बहुभाग भारतवासियों की लोकभाषा होने के कारण 'हिन्दी' को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतीय जनतन्त्र की राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है, जो उचित ही है। हिन्दी की इस पदोन्नति का एक परिणाम यह हुआ कि इसके साहित्य, इतिहास एवं भाषा-विज्ञान के गंभीर अध्ययन, अन्वेषण, शोध-खोज की ओर विद्वत्समाज और विद्या-केन्द्रों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित होने लगा। पहले जो कार्य इने-गिने हिन्दी-प्रेमी साहित्यिक अपने ही बलबूते पर स्वान्तः सुखाय कर रहे थे वह अब बड़े पैमाने पर, सुव्यवस्थित, नियमित एवं सामूहिक संगठित रूप में होने लगा। प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में हिन्दी के स्वतन्त्र सुसंगठित विभाग स्थापित हो गये हैं। नीचे से ऊपर तक सभी कक्षाओं के पाठ्य क्रमों में हिन्दी को प्रधान पाठ्य विषय बना दिया गया, अन्य विभिन्न विषयों की शिक्षा का जो माध्यम पहले अंग्रेजी थी उसका स्थान अब हिन्दी लेती जा रही है। अनेक सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ, व्यक्तिगत संस्थाएँ तथा राज्यों के विविध विभाग हिन्दी के प्रचार प्रसार, और निर्माण में यथाशक्य योग एवं प्रोत्साहन दे रहे हैं। अतः हिन्दी भाषा से सम्बन्धित सभी विषय अध्ययनशील होते जा रहे हैं। उसका कोई भी रूप या अंग उपेक्षणीय नहीं रहता जाता।

ऐसी स्थिति में, हिन्दी में भारत की लोकभाषा होने की क्षमता कैसे और क्यों आई, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो जाता है। और इस प्रश्न का उत्तर इस दूसरे प्रश्न के उत्तर से ही प्राप्त हो सकता है कि 'हिन्दी का उद्गम कब, कैसे, क्यों और कहाँ से अर्थात् किस भाषा से हुआ और वह किस प्रकार अपने आरम्भिक रूप से उत्तरोत्तर विकसित होती हुई अपने वर्त्तमान रूप को प्राप्त हुई? दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि हिन्दी की साक्षात् जननी कौन भाषा थी यह जाने बिना और इसका सम्यक् अध्ययन किये बिना हिन्दी के स्वरूप-उद्गम और विकास का समुचित ज्ञान होना दुष्कर ही नहीं है, वह ज्ञान अधूरा और भ्रामक भी होगा।

वर्त्तमान शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी भाषा के इतिहास पर—आधुनिक ढंग से—सर्व प्रथम लेखनी चलाने वाले मिश्रबन्धु आदि विद्वानों की यह धारणा थी कि 'हिन्दी की उत्पत्ति १३–१४

वी शती में हुई और इसका सर्व प्रथम-रूप वीर गाथा काल के रासा साहित्य में उपलब्ध होता है, सभवतया तत्कालीन कतिपय प्राकृतो में से उस काल में इसका विकास हुआ।' यह एक सक्षिप्त सी, अस्पष्ट और अनिश्चित धारणा थी। यद्यपि सन् १६१६ में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सप्तम अधिवेशन में ही प० नाथूराम प्रेमी ने अपने लिखित भाषण में यह सुझाव प्रस्तुत कर दिया था कि हिन्दी की जननी अपभ्रश ही प्रतीत होती है क्योकि उसका आदि रूप अपभ्रश के साथ ही सबसे अधिक मिलता जुलता है, साथ ही यह भी कि इस अपभ्रश के कितने ही ग्रथ जो उस समय तक उपलब्ध हुए थे, वे जैन विद्वानो की ही रचनाएँ हैं।

अपभ्रंश की अवहेलना—

इस महत्त्वपूर्ण सूचना के बावजूद भी हिन्दी-प्रेमियो और हिन्दी के इतिहासकारो का ध्यान अपभ्रश की ओर आकृष्ट न हुआ। हिन्दी के उद्‌गम के सम्बन्ध में बहुत पीछे तक वे उसी पुरानी धारणा का ही पृष्ठपोषण करते चले गये। तथापि कुछ पुरातत्त्वज्ञो और प्राचीन भाषाविदो ने इस नव ज्ञात भाषा में दिलचस्पी लेने प्रारम्भ कर दी। रा० ब० डा० हीरालाल, डा० वैद्य, शही-दुल्ला, प्रो० हीरालाल, महा पडित राहुल साकृत्यायन आदि विद्वानो की सतत खोज एव परिश्रम के फलस्वरूप अपभ्रश भी एक अध्ययनीय विषय बन गई, उसके सैकडो ग्रथ प्रकाश में आ गये—पचासो मुद्रित, सम्पादित एव प्रकाशित भी हो गये। अपभ्रश का जो विपुल साहित्य सामने आ रहा है उसमे बौद्धधर्म की सहजयानशाखा के तान्त्रिक सिद्धो सरहपा आदि की भी कुछ रचनाएँ हैं, अन्य सम्प्रदायो के भी ग्रथ हैं किन्तु उसका बहुभाग अब भी जैनो की ही रचना है।

जैन-अपभ्रंश साहित्य का विकास—

छठी सातवी शताब्दी के लगभग होने वाले 'परमात्म प्रकाश' 'दोहासार', आदि ग्रथो के रचयिता दिगम्बर सन्त जो इन्दुदेव सभवतया सर्वप्रथम जैन विद्वान थे जिन्होंने अपभ्रश भाषा में ग्रथ प्रणयन किया। उनके पश्चात् चतुर्मुख आदि कई जैन अपभ्रश कवियो के नामोल्लेख मिलते हैं। ८–६ वी शताब्दी में रामायण, हरिवश आदि कई महाकाव्यो के रचयिता जैन महाकवि स्वयम्भू अपभ्रश भाषा के सर्व महान महाकवि हुए जिनकी भूरि-भूरि प्रशसा महापण्डित राहुल साकृत्यायन प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वानो ने की है और उत्तरकालीन काव्यप्रवृत्ति पर उनका भारी प्रभुत्व स्वीकार किया है। स्वयम्भू के सुपुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू भी अपभ्रश के श्रेष्ठ कवि हैं और १० वी शती में महाकवि पुष्प-दन्त ने अपभ्रश भाषा में महापुराण नामक महाकाव्य की रचना करके अपना नाम अमर कर दिया। इन्ही शताब्दियो में जैन कवि देवसेन, महेश्वर सूरि, पद्‌मकीर्ति, धनपाल धक्कड, हरिषेण, नयनन्दि धवल, वोद, श्रीचन्द आदि ने अपनी काव्य कृतियो से अपभ्रश भाषा को समलकृत किया। तदुपरान्त श्रीधर, कनकामर, धाहिल, यश कीर्ति आदि कवियो ने इस भाषा में सुन्दर रचनाएँ प्रदान की, आचार्य हेमचन्द्र ने इस भाषा का स्वतन्त्र व्याकरण ही रच डाला। नरसेन, सिंह, धनपाल, माणिक्कराज, यशकीर्ति और रइधु मध्यकाल के प्रसिद्ध अपभ्रश साहित्यकार हुए। उनमें रइधु

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनकी अकेले की लगभग २५ रचनाएँ उपलव्ध हैं । वि० स० १७०० में रचित प० भगवतीदास कृत 'मृगाकलेखा चरित्र' सभवतया अपभ्रश भाषा की अन्तिम जैन रचना है ।

इस प्रकार सातवी से १७ वी शताव्दी पर्यन्त लगभग एक सहस्र वर्ष तक अपभ्रश जैन साहित्य का मजुल प्रवाह सतत प्रवाहित होता रहा । १२ वी शताव्दी उसका मध्याह्न काल था, उस समय तक यह एक समृद्ध एव प्रौढ साहित्यिक भाषा हो चुकी थी—यहाँ तक कि इसके स्वतन्त्र व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोष की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी । साथ ही वोल-चाल की भाषा इस साहित्यिक अपभ्रश से अपभ्रष्ट होकर अपनी सहज गति से विकसित होती हुई अपनी जननी से कुछ दूर जा पडी थी—अव वह एक नवीन नाम पाकर प्राचीन हिन्दी के रूप में उदित हो रही थी । सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि प्राचीन आर्य भाषाओ में तत्कालीन अपभ्रश ही आद्य हिन्दी के निकटतम है । प्रो० हीरालाल जी के अनुसार अपभ्रश की जो तीन विशेषताएँ हैं अर्थात् सस्कृत धातुओ से सिद्ध न होनेवाले अनेक देशी शव्दो का प्रयोग, शव्दो के आकरण रूपो में यथा कारक और क्रिया रचना में विशेषता, और नये नये छन्दो का प्रादुर्भाव तथा तुकवन्दी का प्रभाव—वे सव प्राचीन हिन्दी में भी पाई जाती हैं । जिस लोकभाषा की प्रशसा मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर ने 'देसिल वचना सब जन मिट्ठा' तथा सत कवीर ने 'भासा वहता नीर' कहकर की थी और लोक-व्यवहार में सस्कृत, प्राकृत आदि से जिसे श्रेष्ठ कहा था, वह हिन्दी की जननी अपभ्रश ही थी ।

ऐतिहासिक दृष्टि से 'अपभ्रश' का सर्व प्रथम उल्लेख पातञ्जलि महाभाष्य (ई० पू० २री शती) में मिलता है । विमल सूरि के पउमचरिउ (१ली शती ईस्वी) का प्राकृत में भी कही कही अपभ्रश के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं । नाट्यशास्त्र में भरत मुनि (२-३ री शती ई०) देशीभाषा या विभ्रष्ट के नाम से अपभ्रश का उल्लेख करते हैं । वल्लभी गुहसेन के ताम्रपट (५५९-५६८ ई०) में सस्कृत एव प्राकृत से भिन्न प्रवन्ध रचना के लिए समपयुक्त स्वतन्त्र भाषा के रूप में अपभ्रश का उल्लेख हुआ है । कविचण्ड ने (३री अथवा छठी शती ई०) अपने प्राकृत व्याकरण में, ६ठी शताव्दी में भामह ने तथा कवि दण्डी ने अपने 'काव्यादर्शन' में एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में, जिसमें कि गद्य पद्य मयी साहित्यिक रचनाएँ होती थी, 'अपभ्रश का वर्णन किया है । इसी प्रकार रुद्रट (९ वी शती) ने काव्यालकार में, नाम सिन्धु (११ वी शती) ने उक्त ग्रथ की वृत्ति में, और कवि राजशेखर (१०-१२वी शती) ने अपने काव्यादर्श में एक प्रतिष्ठित प्रौढ साहित्यिक भाषा के रूप में उसका उल्लेख किया है । राजशेखर ने यहा तक लिखा है कि राजसभाओ में सस्कृत प्राकृत के कवियो की भाति ही अपभ्रंश कवियो को भी सम्मानित स्थान प्राप्त होता था । १२ शताब्दी तक इस भाषा के साहित्यिक लक्षण वध चुके थे । इसके व्याकरण, छन्दशास्त्र और शेष कोष भी निर्मित हो चुके थे, यह निम्नवर्गों की ही नही मध्यम एवं शिष्ट वर्गों की जन भाषा वन चुकी थी ।

महत्त्व—

जिन प्रकार १२-१३ वी शती में अपभ्रश के सर्वथा साहित्यिक भाषा वनते जाने पर उसके लोक-प्रचलित वोल-चाल के रूप से हिन्दी का उदय हुआ, उसी प्रकार ईस्वी सन् की ४-५ वी

शती में पूर्वकालीन लोकभाषा प्राकृत को वैसा ही साहित्यिक रूप प्राप्त हो जाने के कारण उसका तत्कालीन बोलचाल का रूप अपभ्रंश कहलाने लगा था। इस भाषा को विभ्रष्ट संस्कृत, अपभ्रष्ट प्राकृत, अपभ्रंश, आभीरों की भाषा, भूत भाषा, नागभाषा, पाताल लोक की भाषा, देसिय भाषा, भाषा या भाखा आदि विभिन्न नाम दिये गये, जो किसी न किसी अपेक्षा सकारण थे, किन्तु इसका सर्व-प्रसिद्ध नाम अपभ्रंश ही रहा और आज इसी नाम से इसका अध्ययन किया जाता है।

हिन्दी की इस वास्तविक जननी अपभ्रंश के निर्माण, प्रचार और प्रसार का अधिकांश श्रेय जैन साहित्यकारों को है और कुछ अंश में बौद्ध सिद्धों तथा हिन्दू जोगियों और सन्तों को भी है। तीर्थंकरों के इस जैन धर्म की यह एक बड़ी विशेषता रही है कि इसने अपने उपदेशों का माध्यम सदैव सर्वाधिक प्रचलित लोकभाषा को बनाया। स्वयं भगवान् महावीर ने तत्कालीन लोकभाषा अर्धमागधी में अपना उपदेशामृत दिया। उनकी शिष्य-परम्परा में होने वाले जैनाचार्यों ने चाहे वे उत्तरी भारत के रहे, या दक्षिणी, पूर्वी, अथवा पश्चिमी भारत के महावीर निर्वाण के लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष तक प्राकृत भाषा में ही अधिकतर ग्रंथ रचनाएँ की। किन्तु वीर निर्वाण के एक सहस्र वर्ष बाद ही उक्त प्राकृत से भिन्न होकर जब जन भाषा के रूप में अपभ्रंश का उदय होने लगा तो जैन सन्तों और कवियों ने तुरन्त उसे ही अपने साहित्य सृजन का माध्यम चुन लिया और लगभग एक सहस्र वर्ष पर्यंत उसमें भी विपुल रचना की। अन्त में जब जन भाषा के रूप में अपभ्रंश का स्थान हिन्दी लेने लगी तो जैन विद्वानों का ध्यान तुरन्त उसकी ओर आकर्षित हुआ और हिन्दी के उदयकाल से वर्तमान पर्यन्त कोई शताब्दी ऐसी नहीं गई जिसमें लेखकों ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियों से हिन्दी के भंडार को भरने में योगदान न दिया हो।

उपसंहार—

अस्तु, लोकभाषा एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी के उद्गम एवं विकास का सम्यक् अध्ययन करने के लिए जैन हिन्दी साहित्य का ही नहीं वरन् हिन्दी की जननी अपभ्रंश भाषा के जैन साहित्य का भी समुचित अध्ययन आवश्यक है इस बात में कोई सन्देह नहीं।
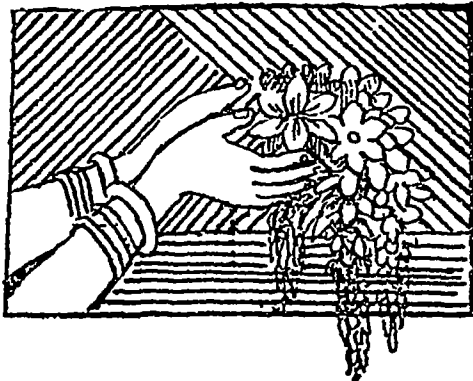
ग्रीकपूर्व जैन-ज्योतिष विचार-धारा

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना—

जैनाचार्यों ने ई० स० की कई शताब्दियो के पूर्व ही ज्योतिष विषय पर लिखना आरम्भ किया था। इनके सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक आदि महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। इन ग्रथो में प्रतिपादित सिद्धान्तो पर ग्रीक ज्योतिष का बिलकुल भी प्रभाव नही है। इन ग्रथो में प्रतिपादित ज्योतिष सिद्धान्त मौलिक है तथा कथन करने की प्रणाली भी अपनी निजी है। श्री श्याम शास्त्री ने अपनी वेदाग ज्योतिष की प्रस्तावना में जैन ज्योतिष की ई० पूर्व कालीन महत्ता को स्वीकार करते हुए बताया है कि जैन ज्योतिष ब्राह्मण ग्रथो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। सूर्यप्रज्ञप्ति का युगमान वेदाग की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से प्राचीन जैन-ज्योतिष ग्रथो का आलोडन किया जाय तो अवगत होगा कि ग्रीक ज्योतिष के सिद्धान्तो से भिन्न मौलिक रूप में मासगणना, युगगणना तथा लग्न आदि का निरूपण किया गया है।

ग्रीक और भारतीय ज्योतिष—

निष्पक्ष अन्वेषक विद्वानो ने इस बात को मुक्त कठ से स्वीकार किया है कि प्रथम आर्यभट्ट से लेकर वराहमिहिर तक भारतीय आचार्यों के ज्योतिष सिद्धान्तों पर ग्रीक ज्योतिष का प्रभाव है। इसी कारण कतिपय मान्य विद्वानो ने भारतीय ज्योतिष को ग्रीक ज्योतिष से पूर्ण प्रभावित माना है। प्रमाण में होरा, हिबुक, द्रेष्काण, कटक, मुन्था, यमया, मणउ आदि शब्दो को उद्धृत करते है। भारतीय ज्योतिष में इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। राशि तथा चान्द्रमास और नक्षत्रात लग्न की गणना भी ग्रीक ज्योतिष के प्रभाव से आयी है। यो तो दोनो ही ज्योतिषो के मूल सिद्धान्त पृथक्-पृथक् है तथा ग्रहो के स्थान निर्धारण और काल निरूपण की प्रणाली भी बिलकुल भिन्न है।

सूर्यप्रज्ञप्ति के सिद्धान्तों की मौलिकता—

ई० स० से दो सौ वर्ष पूर्व की यह रचना निर्विवाद सिद्ध है। इसमें पञ्चवर्षात्मक युग मानकर तिथि नक्षत्रादि का साधन किया गया है। भगवान् महावीर की शासनतिथि श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से जब कि चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र पर रहता है, युगारम्भ माना गया है। दिनमान का निरू-

पण करते हुए लिखा है—"तस्से आदि च्चरस्स सवच्छरस्स सई अट्ठारस मुहुते दिवसे भवति । सइ अट्ठारस मुहुत्ता राती भवति सइदुवालि समुहुते दिवसे भवति सइदुवाल समुहुत्ता राती भवति। पढ मे छम्मासे अत्थि अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति । दोच्च छम्मासे अट्ठारसमुहुते दिवसे णत्थि अट्ठारस मुहुत्ता राती अत्थि दुवालसमुहुत्ते दिवसे पढमे छम्मासे दोच्चे छम्मासे णत्थि" ।

अर्थात्—उत्तरायण मे सूर्य लवण समुद्र के वाहरी मार्ग से जम्बूद्वीप की ओर आता है और इस मार्ग के प्रारम्भ मे सूर्य की चाल सिहगति, भीतर जम्बूद्वीप के आते-आते क्रमश मन्द होती हुई गज गति को प्राप्त हो जाती है । इस कारण उत्तरायण के आरम्भ में वारह मुहूर्त्त—२४ घटी का दिन होता है, किन्तु उत्तरायण की समाप्ति पर्यन्त गति के मन्द हो जाने से १८ मुहूर्त्त—३६ घटे का दिन होने लगता है और रात १२ मुहूर्त्त की—९ घटा ३६ मिनट की होने लगती है । इसी प्रकार दक्षिणायन के प्रारम्भ में सूर्य जम्बूद्वीप के भीतरी मार्ग से वाहर की ओर—लवण समुद्र की ओर मन्द गति से चलता हुआ शीघ्र गति को प्राप्त होता है जिससे दक्षिणायन के आरम्भ में १८ मुहूर्त्त—१४ घटा २५ मिनट का दिन और १२ मुहूर्त्त की रात होती है, परन्तु दक्षिणायन के अन्त में शीघ्र गति होने के कारण सूर्य अपने रास्ते को शीघ्र तय करता है जिससे १२ मुहूर्त्त का दिन और १८ मुहूर्त्त की रात होती है । मध्य मे दिन मान लाने के लिए अनुपात से १८–१२ = ६ मु० अ०, $\frac{६}{१८३} = \frac{१}{३१}$ मु० की प्रति दिन के दिनमान में उत्तरायण में वृद्धि और दक्षिणायन में हानि होती है।

यह दिनमान सब जगह एक समान नही होता क्योकि हमारे निवास रूपी पृथ्वी, जो कि जम्बू-द्वीप का एक भाग है समतल नही है । यद्यपि जैन पुराणो और कर्णानुयोग में जम्बू द्वीप को समतल माना गया है पर सूर्यप्रज्ञप्ति में पृथ्वी के वीच में हिमवान, महाहिमवान, निषधनील, रुक्मि और शिखरिणी इन छ पर्वतो के आ जाने से यह कही ऊँची और कही नीची हो गयी है अत ऊँचाई और नीचाई अर्थात् अक्षाश और देशान्तर के कारण दिनमान मे अन्तर पड जाता है । सूर्य-प्रज्ञप्ति मे छायासाधन तथा पचवर्षात्मक युग के नाक्षत्र आदि के प्रमाण वर्त्तमान या ग्रीक मानो की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है । सूर्यप्रज्ञप्ति में पचवर्षात्मक युग में चन्द्रमा के ६७ भगण तथा सूर्य के ६२ भगण होते हैं । पूर्णिमा के दिन सूर्य से चन्द्रमा ४०९ मुहूर्त्त ४३ वस्ति प्रमाण अन्तर पर रहता है । जिस समय युगारम्भ होता है उस समय श्रवण नक्षत्र २७८ डिग्री पर और चित्रा नक्षत्र १८० डिग्री पर रहता है । अभिजित् का आगमन प्राय सर्वदा ही आषाढी पूर्णिमा के अन्तिम भाग या श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के पूर्वभाग में होता है । पाच वर्षों के नाक्षत्र आदि वर्षों के दिनो का प्रमाण निम्न प्रकार है —

(१) नाक्षत्र वर्ष—३२७ $\frac{५१}{६७}$ दिन
(२) चान्द्रवर्ष—३५४ $\frac{१२}{६२}$ दिन
(३) ऋतुवर्ष—३६० दिन
(४) अभिवर्द्धन वर्ष—३८३ $\frac{४४}{६२}$ दिन
(५) सूर्य वर्ष—३६६ दिन

कुल पच वर्षों का योग १७९१ दिन १९ मुहूर्त्त और ५७ वस्ति है ।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखकर यदि विचार किया जाय तो सूर्यप्रज्ञप्ति में निम्न सिद्धान्तो का मौलिक रूप से प्रतिपादन हुआ है जिनकी ग्रीक ज्योतिष से कोई समता ही नही ।

(१) ग्रीक ज्योतिष में पचवर्षात्मक युग का मान १७६७ दिन माना गया है, जब कि सूर्य प्रज्ञप्ति में १७९१ से कुछ अधिक मान आया है ।

(२) ग्रीक ज्योतिष मे छाया का साधन मध्याह्न की छाया पर से किया गया है पर सूर्यप्रज्ञप्ति में पूर्वाह्न कालीन छाया को लेकर ही गणित-क्रिया की गई है । सूर्यप्रज्ञप्ति में मध्याह्न कालीन छाया का नाम पौरुषी वतलाया गया है । लिखा है कि २४ अगुल प्रमाण शकु या सुई की छाया मध्याह्न में गर्मी के उस दिन जव कि सूर्य भूमध्यरेखा से अति दूर होता है, ८ अंगुल हो जाती है अर्थात् प्रत्येक महीने में ४ अगुल के हिसाव से यह छाया क्रमश वढती और घटती रहती है ।

(३) ग्रीक ज्योतिष में तिथि नक्षत्रादि का मान सौर्य वर्ष प्रणाली के आधार पर निकाला जाता है और पचाग का निर्माण आज भी इसी प्रणाली पर होता है । किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति में पचाग का निर्माण नक्षत्र वर्ष के आधार पर किया गया है । सूर्यप्रज्ञप्ति मे समय की शुद्धि नक्षत्र पर से ही ग्रहण की गई है ।

(४) युगारम्भ और अयनारम्भ भी सूर्यप्रज्ञप्ति के ग्रीक ज्योतिष से विलकुल भिन्न है । मास गणना, अमान्त न लेकर पूर्णिमान्त ली गई है । अत सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सूर्यप्रज्ञप्ति के ज्योतिष सिद्धान्त ग्रीक ज्योतिष से विलकुल भिन्न और मौलिक है तथा ई० स० से कम से कम ३०० वर्ष पूर्व के है ।

चन्द्रप्रज्ञप्ति और ज्योतिष करण्डक—

इन ग्रयो का विषय प्राय सूर्यप्रज्ञप्ति से मिलता है । परन्तु चन्द्रप्रज्ञप्ति में कीलक छाया और पुरुष छायाओ का पृथक् पृथक् निरूपण है । इस ग्रय मे २५ वस्तुओ की छायाओ का विस्तृत वर्णन है । इस ग्रथ में चन्द्रमा की १६ तिथियो में समचतुरस्र विषमचतुरस्र, आदि विभिन्न आकारो का खडन कर समचतुरस्र गोलाकार का वर्णन किया है । इसका कारण यह है कि सुषम सुषुमा काल के आदि में श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन जम्बू द्वीप का प्रथम सूर्य पूर्व दक्षिण कोण—अग्निकोण में और द्वितीय सूर्य पश्चिमोत्तर—वायव्य कोण में चला था । इसी प्रकार प्रथम चन्द्रमा पूर्वोत्तर—ईशान कोण में और द्वितीय चन्द्रमा पश्चिम दक्षिण—नैऋत्य कोण में चला; अतएव युगादि में सूर्य और चन्द्रमा का समचतुरस्र सस्थान था । पर उदय होते समय ये ग्रह वर्त्तुलाकार निकले । अत चन्द्र और सूर्य का आकार अर्द्धकपीठ—अर्द्ध समचतुरस्र गोल बताया है । छाया पर से दिन मान का साधन करते हुए बताया है.—

ता अवड्ड पोरिसिण छाया दिवसस्स किंगते वा सेसे वा ता ति भागे गए वा ता सेसे वा, पोरिसिण छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा जाव चउ भाग गए वा सेसे वा, ता दिवड्ढ पोरिसिण छाया दिवसस्स किं गते वा सेसे वा, ता पच भाग गए वा सेसे वा एव अवदड्ढ पोरिसिणं छाया पुच्छा दिवसस्स भाग छोट्टवा गरण जाव ता अणुलट्ठि पोरिसिण छाया दिवसस्य कि गए वा सेसे वा ता एक्कूण वीस

सतं भागे वा सेसे वा सातिरेग अगुणसट्ठि पोरिसिण छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा ताण किं गए किंचि विगए वा सेसे वा । च० प्र० ६५

अर्थात्—जब अर्ध पुरुष प्रमाण छाया हो उस समय कितना दिन व्यतीत हुआ और कितना शेष रहा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि ऐसी छाया की स्थिति में दिनमान का तृतीयाश व्यतीत हुआ समझना चाहिये । यहा विशेषता इतनी है कि यदि दोपहर के पहले अर्ध पुरुष प्रमाण छाया हो तो दिन का तृतीय भाग गत और दो तिहाई भाग अवशेष तथा दोहपर के बाद अर्ध पुरुष प्रमाण छाया हो तो तिहाई भाग प्रमाण दिन गत और एक भाग प्रमाण दिन शेष समझना चाहिये । पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भाग गत और तीन चौथाई भाग शेष, डेढ पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का पचम भाग गत और चार पचम भाग—$\frac{4}{5}$ भाग अवशेष दिन समझना चाहिये । इसी प्रकार दोपहर के बाद की छाया में विपरीत दिनमान जानना चाहिये । इस ग्रथ में गोल, त्रिकोण, लम्बी, चौकोर वस्तुओ की छाया पर से दिनमान का ज्ञान किया गया है ।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्रमा के साथ तीन मुहूर्त्त तक योग करने वाले श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका, मृगसिर, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल और पूर्वाषाढा ये पन्द्रह नक्षत्र, ४५ मुहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले पूर्वा भाद्रपद, रोहिणी, पुनर्वसु उत्तराफाल्गुनी, विशाखा और उत्तराषाढा ये छ नक्षत्र है एव पन्द्रह मुहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले शतभिषा, भरणी,, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाती और ज्येष्ठा ये छ नक्षत्र बताये गये हैं ।

ज्योतिष करण्डक में यो तो अनेक विशेषताएँ है पर नक्षत्र लग्न सम्बन्धी विशेषता विशेष उल्लेख-योग्य है । इस ग्रथ में लग्न निरूपण की यह प्रणाली सर्वथा नवीन और मौलिक है—

> लग्ग च दक्खिणायविसुवे सुवि अस्स उत्तर अयणे ।
> लग्ग साई विसुयेपु पचसु वि दक्खिणे अयणे ॥

अर्थात् अस्सा यानी अश्विनी और साई-स्वाति ये नक्षत्र विषुव के लग्न बताये गये हैं । यहा विशिष्ट अवस्था की राशि के समान विशिष्ट अवस्था के नक्षत्रो को लग्न माना है ।

तुलना—

ग्रीक ज्योतिष और चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा ज्योतिषकरण्डक के सिद्धान्तो की तुलना करने से निम्न निष्कर्ष निकलती हैं ।

(१) ज्योतिषकरण्डक की लग्न प्रणाली जिसका आधार नक्षत्र मान है ग्रीक प्रणाली से बिलकुल भिन्न है । ग्रीक ज्योतिष में लग्न का मान राश्य अश कलात्मक रूप से माना गया है । यदि गहराई

से ज्योतिषकरण्डक का अवगाहन किया जाय तो नक्षत्रो की आकृतियाँ उनकी ताराओ की सख्या ग्रीक ज्योतिष की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है ।

(२) चन्द्रप्रज्ञप्ति में प्रतिपादित छाया पर से दिनमान साधन की प्रक्रिया ग्रीक ज्योतिष से तो भिन्न है ही पर यह समग्र भारतीय ज्योतिष में प्राचीनता की दृष्टि से एक मौलिक प्रणाली है । इस प्रणाली का विस्तृत विकसित रूप ही द्युज्या, त्रिज्या, कुज्या के रूप में सिद्धान्त ज्योतिष में आया है । ग्रह-गणित के जिन बीज सूत्रो का उल्लेख इस ग्रथ में किया गया है उनका निरूपण ग्रीक ज्योतिष में कम से कम २०० वर्ष बाद हुआ है । नक्षत्रात पूर्णिमा का निरूपण ग्रीक ज्योतिष में ई० स० की पहली-दूसरी शताब्दी में हुआ है । आज कल भी ग्रीक पचाग सूर्य नक्षत्र के आधार पर ही पूर्णिमा तथा अमावस्या का प्रतिपादन करते है पर चन्द्र प्रज्ञप्ति में चान्द्र नक्षत्रो के उपभोग और मुहूर्त्तों के प्रमाणानुसार ही पूर्णिमा और अमावस्या की सिद्धि की गयी है । पंचवर्षात्मक युग पर से समय शुद्धि के निमित्त पचाग तैयार करना और उनके स्थूल मानो द्वारा समय शुद्धि का कथन करना चन्द्रप्रज्ञप्ति और ज्योतिषकरण्डक का प्रधान वर्ण्य विषय है । अत प्रत्येक गणित में सूर्य की प्रधानता न कर चन्द्रमा को ही प्राधान्य दिया गया है । पर ग्रीक ज्योतिष में यह बात नही ।

(३) ग्रहो की वीथियो का निरूपण केवल उक्त प्राचीन ग्रथो में ही मिलता है ग्रीक ज्योतिष में नही । नाडी वृत्त, खमडल, आदि का उपयोग ग्रीक ज्योतिष में अवश्य किया गया है पर यह प्रणाली ग्रहवीथियो से बिलकुल भिन्न है । हाँ, ग्रह वीथियो का विकसित रूप प्रचलित भचक्र को माना जा सकता है ।

इस प्रकार ई० स० से कई शताब्दी पूर्व जैन आचार्यों की एक मौलिक ज्योतिष विचार-धारा थी जो कि ग्रीक ज्योतिष से सर्वथा भिन्न है ।

जैन-धर्म और नैतिक कहानियाँ

श्री बच्चा

जैन-कथा-साहित्य का विकास—

जैन धर्म को प्रचारित और प्रसारित करने के हेतु जैनाचार्यों ने अपूर्व, प्रेरणाप्रद और प्राजल नैतिक कथाओ की एक सारगर्भित परम्परा का उद्घाटन किया है । जैन धर्म के कथाग्रथो मे ऐसे अनेक चिर-गूढ सवेदनशील आख्यान उपलब्ध हैं जो ऐतिहासिक तथ्यो की प्रतीति के साथ बर्व-रता की निर्भय घाटी पर निरुपाय लुढकती मानवता को नैतिक और आध्यात्मिक भाव-भूमि पर ला मानव को महान् और नैतिक अधिष्ठाता बनाने में समक्ष हैं । यद्यपि ये कथा-ग्रथ सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश में होने के कारण विद्वानो के समक्ष आये ही नही हैं और जो राजस्थानी भाषा और पुरानी हिन्दी के माध्यम द्वारा आये भी हैं उनसे सर्व साधारण को लाभ नही हो सकता । जैन कथाओ में यद्यपि वर्णनात्मक शैली का सर्वत्र निर्वाह किया गया है फिर भी उनमें भावनाओ का उत्थान-पतन, जीवन का क्रमिक विकास एव मानवता का उच्च सन्देश विद्यमान है। विश्व-विख्यात अन्वे-षक विद्वान डा० हरमन जैकोवी ने जैन कथानक साहित्य की महत्ता का जीता-जागता दिग्दर्शन कराया है । जैन कथा साहित्य की शृखला का निर्माण धार्मिक और लोककथाओ के क्षेत्र से होता है । डा० जैकोवी इनके उद्भव का उल्लेख करते हैं "कथानक साहित्य का उद्भव ईसा के एक शताब्दी बाद के उत्तरार्द्ध में माना जाना चाहिये । इसका अन्त हर्षवर्द्धन के समय ७५० A D. से सूचित किया जाता है।

यद्यपि पर्याप्त सामग्री और विस्तृत अनुशीलन मेरे समक्ष नही है फिर भी यशस्तिलक, बृहत् कथा कोष, पुण्यास्रव कथा कोष तथा कतिपय पुराण ही मेरे समक्ष हैं । अत इन्ही ग्रथो के आधार पर कथाओ की नैतिक प्रेरणा के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जायगा ।

साधारणत 'यशस्तिलक' में सोमदेव द्वारा सनुक्त की गयी कथाएँ १० वी शताब्दी के पूर्व की तो मानी ही जानी चाहिये । इन कहानियो में सोमदेव की मौलिकता का कोई रूप नही है सिर्फ उनकी अलकृत और सौष्ठव गद्य शैली ही इन नैतिक कहानियो की नवीनता की पोषिका है। उनकी अदम्य प्रतिभा इतनी प्राचीन कहानियो को एक साथ रखने और उनके द्वारा जैन धर्म की शिक्षाओ को प्रसारित करने में ही है । अणुव्रतो को चित्रित करने वाली बहुत सी कथाएँ लोक-कथाओ के रूप में वर्णित की जा सकती हैं। उनका साहित्यिक झुकाव रोमाच है क्षेत्र में एक तरह की स्वतत्र कथा-पुस्तको के निर्माण द्वारा अभिवृद्ध है ।

नैतिक कहानियो की यह धारा विविध धर्म सिद्धान्तो, नैतिक सभावनाओ का साकार निरूपण करती हुई मानवता की उज्ज्वल दीवार से टकराती है। कहानियो के माध्यम से जिस उपदेश की धारा विस्तृत होती है वह मानस पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव छोड जाती है और मानव वैसा आचरण करने को आतुर हो जाता है। घटनाओ में क्रमिक उत्थान-पतन का सयोग इस प्रकार होता है कि पाठको की उत्सुकता सदैव जीवन्त रहती है और आनन्द की रसमयी धारा का उद्रेक होता रहता है। सरल, सुवोध और सुगम्य वर्णनात्मक शैली कथाओ में चार चाद लगाती है और इनकी उपदेशात्मकता को विशेष प्रेरणाप्रद वनाती है।

कथाओं का निरूपण : यशस्तिलक—

धर्म अभ्यास की सफलता इच्छा-शक्ति के समुचित नियन्त्रणपर ही अवलम्बित है, यह निर्विवाद सत्य है। इस सिद्धान्त वाक्य को अतुल प्रतिभा का सयोग दे काफी प्रौढ प्रतिपादन दिया जा सकता है पर इसी वात की पुष्टि यह जैन कथा कितने सुरुचिपूर्ण और मार्मिक ढग से करती है जो मानस मे स्निग्ध ओज और प्रेरणात्मक पुलक का सचार कर जाती है। एक समय की वात है कि भूमितिलक के राजा ने धन्वन्तरी और विश्वनुलोभ नामक दो मित्रो को देश निष्कासित कर दिया। वे हस्तिनापुर पहुँचे। यहा धनवन्तरी ने जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली और जैन अनुशासन के अनुसार ध्यानावस्थित रहने लगा। विश्वानुलोभ ने ब्राह्मणमत का अनुसरण किया और तपस्वी वन गया। मृत्यु के वाद वे देवता के रूप में क्रमश अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ के नाम से पुन अवितरित हुए। एक दिन विश्वानुलोभ जमदग्नि, मतग और कपिजलि जैसे वैदिक ऋषियो के उच्चादर्शो का दभ भरने लगा। दोनो ने धरती पर उतर इस सत्यता की जाच करने की ठानी। वहा वद्रिकाश्रम में उन्होने जमदग्नि ऋषि को अलौकिक ध्यान में लवलीन देखा। तपस्या से उनके शरीर पर मुगियो का झुरमुट लगा हुआ था, शरीर पर रेंगने वाले अनेक कीडे मकोडो का अम्वार लगा हुआ था। उनको देखकर दोनो देवताओ ने एक जोडे पक्षियो का रूप धर लिया और उनकी दाढी के परिपार्श्व में वैठकर एक दूसरे से वात करने लगे। एक पक्षी ने अपने दूसरे साथी से कहा कि मुझको पक्षियो के राजा गरुड की शादी में जाना होगा लेकिन मैं तुरत लौट आऊँगा। अगर मै झूठ वोलता हूँ तो मेरा पाप भी इस ऋषि के पापाचार से कम वडा न होगा। इन शब्दो को सुनकर जमदग्नि ने क्रोधातुर हो दड देनेकी भावना से दाढी को नोच कर फेंक दिया। लेकिन वे उडकर पास के वृक्ष पर वैठ गये। ऋषि ने तुरत पक्षी के आवरण में देवताओ को पहचान लिया और आदरपूर्वक अपने पाप के वारे में पूछा। पक्षियो ने दो प्रभावक श्लोक उच्चरित किये कि इनको सतान उत्पन्न कर ही विश्व से विरक्ति करनी चाहिये। इस क्षेत्र में ऋषि धर्म ग्रथो की अवहेलना का दोषी है अत उसको विवाह कर वच्चे पैदा करना चाहिये। इसको सुनकर जमदग्नि ने कहा—"यह विलकुल आसान है।" उपरान्त आकर अपने मामा, वनारस के राजा की लडकी रेणुका से शादी कर ली और समय के प्रवाह में परशुराम के पिता वने।

जमदग्नि की इस निर्बल प्रकृति से जैन साधुओ की दृढ विश्वास-भावना और प्रतिज्ञा की तुलना की जाती है । दोनो पक्षी मगध चले गये और वहा चतुर्दशी की अधेरी रात में, जिनदत्त को मिट्टी की वेदिका पर स्वाध्याय में लवलीन देखा । उन्होने उसे ध्यान तोडने की आज्ञा दी और प्रकृति के भीषण प्रहारो जैसे घनघोर वर्षा, गर्जन और तूफान का प्रयोग कर उनको विचलित करने की असफल चेष्टा की । कई तरह के वरदानो का भी प्रलोभन दिया जिससे वे अपनी साधना से विरत हो जाय । तो भी जिनदत्त अचल रहे । दोनो देवताओ ने प्रशसा के अनेक शब्द उनकी अदम्य साहसिकता और प्रवल प्रतिज्ञा के लिये कहे । उन्होने उनको वायु के द्वारा गमन करने का एक सिद्धान्त भी निर्देशित किया । जिनदत्त ने उसका उपयोग सुमेरु पर जैन तीर्थों का पर्यटन करने में कर इस सिद्धान्त को अपने शिष्य धरसेन को सौंप दिया ।

दृढ प्रतिज्ञ जिनदत्त के पास से दोनो पक्षियो ने अपनी चाल को एक जैन धर्म की दीक्षा लिये हुए नव धर्मावलम्बी पर खेलना निश्चित किया । अपने दीक्षा-ग्रहण के दिन ही उन्होने मिथिला के राजा पद्मरथ को तीर्थंकर वासुपूज्य की आराधना करते जाते देखा । उन्होने उसे शीघ्र बाघ आदि के भेष मे भयकर दृश्यो से भयभीत करना प्रारम्भ कर दिया । उसके हृदय में भय का उद्रेक करने में असफल देख उन्होने उसे एक कीचड के सुविस्तृत फैलाव में ढकेल दिया । राजकुमार ने डूवते-डूवते सिर्फ कहा "प्रभु वासुपूज्य की वन्दना ।" दोनो देवताओ ने पद्मरथ के साहस की समुचित सराहना की और उसको निकाल, ओझल हो गये ।

इस कहानी के आगे भी धर्म में तरगित दृढता और दृढ सकल्प की भावना का विशद रूप से चित्रित हुआ है । धरसेन जिनदत्त से वायु-गमन का सिद्धान्त उपलब्ध कर श्मसान घाट की रात्रिकालीन भयकरता के बीच उसके व्यवहारिक उपयोग के लिए आवश्यक, शकायुक्त गुप्त उपचार करने लगा । इस कहानी का विस्तृत वर्णन तो अज्ञात है पर प्रधान रूप यही रहा होगा कि उस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए जमीन पर गाड़े गये असख्य तीरो पर चढकर एक वट वृक्ष पर लटकते रस्से को पकडना होगा । इस अद्भुत सिद्धान्त को उच्चरित करते हुए उसने चढना प्रारम्भ किया । इसी बीच ललित नामक एक राजा का अयोग्य लडका जिसने चौर-वृत्ति अपनायी थी अपनी पत्नी के लिए कुशाग्रपुर के राजा की महारानी का सुप्रसिद्ध हार चुराकर वहा आया । वह अपने कार्य में सफल हो गया पर अपने को पुलिस की दृष्टि से वचित न कर सका । वह हार अधेरे में चमकता था जिसके फलस्वरूप पुलिस ने उसका पीछा किया । अत उसने हार को अधेरे में फेंक दिया और शहर की गलियो को पार करता हुआ धरसेन के पास पहुँचा । धरसेन को रस्सी पकडने में हिचकिचाहते देख उसने इसके बारे में पूछा और पवित्र सिद्धान्त को हृदयगम कर निर्भिकता-पूर्वक रस्सी पकडकर सभी तीरो को काट डाला । इस तरह अपनी अद्वितीय साहसिकता के फलस्वरूप धरसेन द्वारा इच्छित सिद्धान्त का उसने अनुष्ठान कर लिया । वह बाद में चलकर जैनमुनि हो गया और उसने कैलाश पर्वत पर अपनी तपस्या का अनुष्ठान किया ।

इस तरह इन उपर्युक्त उद्धत कहानियो में एक अपूर्व प्राण-शक्ति, कर्म-सृष्टि की उपादेयता, आध्यात्मिक मस्तिष्क की स्निग्धता का सयोग है । धर्म-सिद्धान्त की सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाईयो पर भी विशाल

और प्रकाण्ड आस्था का आरोप निश्चय ही कहानियो की उपदेशात्मकता को गतिशील और स्थायी बनाने में तन्मय है। इनसे मानव के नैतिक उत्थान के साथ अलौकिक आनन्द प्रसार की समृद्धि उपलब्ध हो तो कोई आश्चर्य नही। एक शात वातावरण मे कहानियो में सब कुछ कह दिया गया है जो पावन है, प्रच्छन्न है, परोपकारी है, पतन के बीच उत्थान है। मनोवैज्ञानिक प्रभाव से अभिसिक्त इनकी नैतिक विकासधारा में जीवन की सर्वांगीण प्रतिष्ठा की झलक है और है प्रोज्ज्वल ज्ञान दीपिका की साया में जीवन की एकाकी साधना का उत्कर्ष। साधनामय जीवन का अनुष्ठान इन कहनियो की ओजस्विता के आलोक में वृद्धिगत होगा। इसी प्रकार "यशस्तिलक" में समस्त वर्णित कहानियो में नैतिक प्रभाव का रूप है।

धर्मामृत—

दूसरी प्रस्तुत कथा-पुस्तक धर्मामृत है।[1] इस पुस्तक मे अन्य कथापुस्तको की अपेक्षा कहानियो के माध्यम से अधिक कार्यसिद्धि हुई है। इसकी कहानियो में विभिन्न अगो और व्रतो की महत्ता का उल्लेख है। ऐसे सारगर्भित विषयो का सूक्ष्म विश्लेषण अद्वितीय प्रतिभा का कार्य है और वह भी कहानियो द्वारा। कहानियो की अभिव्यजनात्मक पद्धति में इन अगो और व्रतो की व्यावहारिकता का साकार निरूपण हो जाता है। जैन धर्म में अगो और व्रतो का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। इस महत्त्व के चित्र को साधारण जनता के हृदय तक पहुँचानेमे कहानियो का आधार अतिश्लाघनीय है। इन कहानियो से जैनधर्म की महत्ता पराकाष्ठा पर चली गयी है। जैनधर्म में तरगित आदर्शों, सिद्धान्तो, धार्मिक आख्यानो का इतने सरल ढग से प्रतिपादन करना वास्तव में मानवता का महान् कल्याण करना है। लोक कल्याण की यह भावना शाश्वत है, विश्वजनीन है, अपरिमेय है, अलौकिक है। इन कहानियो में सर्वत्र परिव्याप्त चिन्तन-धारा का वेग शातिप्रदायक है, मुद मगलकारी है।

साहित्य की दृष्टि से भी उनकी कोई अवहेलना नही कर सकता। इनमें कथानक का उत्थान कथोपकथन की 'नैतिक शैली' घटनाओ का क्रमिक विकास आदि का सर्वत्र वाहुल्य है। इनमें जन-साहित्य का अपना स्वर बोलता है, जन-कहानी की अपनी कहानी निरूपित है। साहित्य भी आदमी का नैतिक और चारित्रिक विकास कर सकता है यह ये कहानिया प्रत्यक्ष सिद्ध कर देती हैं। निश्चय साहित्य का शाश्वत रूप इन कहानियो में फूटा पडा है। इन कहानियो की सबसे वडी विशेषता है कि इनमें स्वतन्त्र धार्मिक अनुष्ठानो का सहारा लिया गया, आत्म-कल्याण, लोक-कल्याण दोनो की शिखाएँ इनमें प्रज्वलित हैं। कहानियो की चेतना में शौर्य है, शान है।

धर्मामृत की कहानियो के पात्र अति थोडे है। साधारणत दो आदमियो की वातचीत से कहानी आगे वढती हैं। वातचीत के प्रसग में ही अन्य कहानी फूट चलती है। अगो मे नि शकित अग,

---

१ अनुवादकर्त्ता देशभूषण महाराज

निकाक्षित अग, अमूढ दृष्टि अग, उपगूहन अग और वात्सल्य अग आदि से सम्बन्धित कहानियो मे भावना का अधिक उत्कर्ष है, नैतिक प्रवृत्ति की अधिक व्यजना है ।

वात्सल्य अग की कहानी प्रौढ और उदात्त है । गौतम स्वामी से राजा श्रेणिक प्रश्न करते है—"प्रभो वात्सल्य अग का स्वरूप क्या है, और उसके धारणा करने वाले को क्या फल मिलता है ?

गौतम स्वामी—"राजन् ! साधर्मी भाई के साथ स्नेह करना, उसके कष्ट और सकटो को दूर करने का प्रयत्न करना वात्सल्य अग है ।" इसके बाद गौतम भगवान् वात्सल्य अग की कहानी कहते हैं । कुरुजागल के राजा महायज्ञ इसके पात्र बने और इस अग का सम्पूर्ण विवेचन हो गया। कहानी की इतनी सरल पद्धति कही भी प्राप्य नही ।

उपसंहार—

इसी प्रकार व्रतो की आवश्यकता, उनका प्रयोग, उनकी उपयोगिता आदि पर अनेको कहानिया हैं जो जीवन को समुस्थित करने में सलग्न हैं । इन कहानियो के सतत चिन्तन और मनन से एक विशाल नैतिक पुरुष का निर्माण हो सकता है, जो अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाखो मानवीय पुतलो का उद्धार कर सकता है । इनकी नैतिक प्रेरणा में एक अजीब आध्यात्मिकता और पवित्रता का सामञ्जस्य है । जैन धर्म की व्यापक चेतना से स्पन्दित इन नैतिक कहानियो मे जीवन का नैतिक उत्थान अवश्य समाहित है । जैन धर्म को विस्तृत करने में इन कहानियो से विशेष सहायता मिल सकती है ।

नारी :

अतीत,

प्रगति और परम्परा

श्रमण संस्कृति में नारी

श्री पं० परमानन्द जैन शास्त्री

श्रमण संस्कृति में नारी का स्थान—

श्रमण सस्कृति में भारतीय नारी का आत्मगौरव लोक मे आज भी उद्दीपित है, वह अपने धर्म और कर्तव्यनिष्ठा के लिए जीती है। नारी का भविष्य उज्ज्वल है, वह नर की जननी है और मातृत्व के आदर्श गौरव को प्राप्त है। वैदिक परम्परा में नारी का जीवन कुछ गौरवपूर्ण नही रहा, और न उसे धर्मसाधना द्वारा आत्म-विकास करने का कोई साधन अथवा अधिकार ही दिया गया, वह तो केवल भोगोपभोग की वस्तु एव पुत्र जनने की मशीनमात्र रह गई थी। उसका मनोबल और आत्मबल पराधीनता की बेडी में जकडा हुआ होने के कारण कुठित हो गया था। वह अबला एव असहाय जैसे शब्दो द्वारा उल्लेखित की जाती थी और पुरुषो द्वारा पद-पद पर अपमानित की जाती थी। उस समय जनता—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता.' की नीति को भूल चुकी थी। वेदमन्त्र का पाठ अथवा उच्चारण करना भी उन्हें गुनाह एव अपराध माना जाता था। जाति-बन्धन और रीति-रिवाज भी उनके उत्थान में कोई सहायक नही थे, वल्कि वे उन्हें और भी पतित करने में सहायक हो जाते थे। वैदिक सस्कृति की इस संकीर्ण मनोवृत्ति वाली धारा के प्रवाह का परिणाम उस समय की श्रमण सस्कृति और उनके धर्मानुयायियो पर भी पडा। फलत उस धर्म के अनुयायियो ने भी पुराणादि ग्रन्थो मे नारी की निन्दा की, उसे 'विषवेल', 'नरक पद्धति' तथा मोक्षमार्ग में बाधक बतलाया। फिर भी, श्रमण सस्कृति में नारी के धर्म-साधना का—धर्म के अनुष्ठान द्वारा आत्म-साधना का—कोई अधिकार नही छीना गया, वे उपचार महाव्रतादि के अनुष्ठान द्वारा 'आर्यिका' जैसे महत्तर पद का पालन करती हुई अपने नारी-जीवन को सफल बनाती रही है।

तुलनात्मक अध्ययन—

वैदिक सस्कृति की तरह बौद्ध परम्परा में भी स्त्री का कोई धार्मिक स्थान नही था। आज से कोई ढाई हजार वर्ष पहले जैनियो के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के सघ में लाखो स्त्रियो को दीक्षित देखकर, और उनके द्वारा श्राविका, क्षुल्लिका और आर्यिका के व्रतो के अनुष्ठान द्वारा होने-वाली धार्मिक उदारता को देखकर, गौतम बुद्ध के शिष्य आनन्द से न रहा गया, उसने बुद्ध से कहा कि आप अपने सघ में स्त्रियो को दीक्षित क्यो नही करते, तब बुद्ध ने कहा कि कौन झगडा मोल ले।

उस समय वैदिक सस्कृति का बोलबाला था। उसके खिलाफ प्रवृत्ति करना साधारण कार्य नही था। इससे स्पष्ट है कि उस समय वैदिक सस्कृति के प्रावल्य के कारण बुद्ध भी स्त्रियो को अपने सघ में दीक्षित करने में सकोच करते थे। परन्तु महावीर ने उसे कार्य रूप में परिणत कर नारी का समुद्धार ही नही किया, प्रत्युत एक आदर्श मार्ग को भी जन्म दिया। पश्चात् आनन्द की प्रेरणा स्वरूप बुद्ध ने भी स्त्रियो को दीक्षित करना शुरू कर दिया। ऊपर के उल्लेख से स्पष्ट है कि श्रमण सस्कृति में आशिक रूप से नारी का प्रभुत्व बराबर कायम रहा। फिर भी नारी ने उस काल में भी अपने आदर्श जीवन की महत्ता को नष्ट नहीं होने दिया, किन्तु अपनी आन को बराबर कायम रखते हुए उसे और भी समुज्ज्वल बनाने का यत्न किया।

सीता का आदर्श—

जिस तरह पुरुषो में सेठ सुदर्शन ने ब्रह्मचर्यव्रत के अनुष्ठान द्वारा उसकी महत्ता को गौरवान्वित किया; ठीक उसी तरह एक अकेली भारतीय सीता ने अपने सतीत्व-सरक्षण का जो कठोरतम परिचय दिया उससे उसने केवल स्त्री-जाति के कलक को ही नही धोया, प्रत्युत भारतीय नारी के अवनत मस्तक को सदा के लिए उन्नत बना दिया। जब रामचन्द्र ने सीता से अग्निकुण्ड में प्रवेश करने की कठोर आज्ञा द्वारा अपने सतीत्व का परिचय देने के लिए कहा, तब सीता ने समस्त जनसमूह के समक्ष यह प्रतिज्ञा की, कि यदि मैंने मन से, वचन से और काय से रघु को छोडकर स्वप्न में भी किसी अन्य पुरुष का चिन्तन किया हो तो मेरा यह शरीर अग्नि में भस्म हो जाय, अन्यथा नही, इतना कह कर सीता उस अग्निकुण्ड की भीषण ज्वाला में कूद पडी और सती साध्वी होने के कारण वह उसमे से खरी निकली[1]। लोकापवाद का वह कलक जो जबर्दस्ती उसके शिर मढा गया था वह सदा के लिए दूर हो गया और सीता ने फिर ससार के इन ऐहिक भोग-विलासो को हेय समझ कर, रामचन्द्र की अभ्यर्थना और पुत्रादि के मोहजाल को उसी समय छोडकर पृथ्वीमती आर्यिका के निकट आर्यिका के व्रत ले लिये और अपने केशो को भी दुखदायी समझ कर उनका भी लोच कर डाला[2] तथा कठिन तपश्चर्या द्वारा उस स्त्री पर्याय का भी विनाश कर स्वर्गलोक में प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया।

---

१. सर्वं प्राणिहिताऽऽचार्यचरणौ च मनस्थितौ।
प्रणम्योवार गभीरा विनीता जानकी जगौ॥
कर्मणा मनसा वाचा, रामं मुक्त्वा परं नरम्।
समुद्वहामि न स्वप्नेप्यन्यं सत्यमिदं मम॥
यद्येतदनृतं वच्मि, तदा मामेष पावकः।
भस्मसाद्भावमप्राप्तामपि प्रापयतु क्षणात्॥
—पद्मचरित १०५, २४–२६

२ इत्युक्त्वाऽभिनवाशोकपल्लवोपमपाणिनः।
मूर्द्धजान् स्वमुद्धृत्य पद्मायाऽर्पयदस्पृहा॥६७॥
इन्द्रनीलद्युतिच्छायान् सुकुमारान्मनोहरान्।
केशान्वीक्ष्य ययौ मोहं रामोऽप्यतश्च भूतले॥७७॥

भारतीय श्रवण-परम्परा में केवल भगवान् महावीर ने नारी को अपने सघ में दीक्षित कर आत्म-साधना का अधिकार दिया हो, यही नही, किन्तु जैनधर्म के अन्य २३ तीर्थंकरो ने भी अपने अपने सघ में ऐसा ही किया है जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रमण सस्कृति ने पुरुषो की भाँति ही स्त्रियो के धार्मिक अधिकारो की रक्षा की—उनके आदर्श को भी कायम रहने दिया, इतना ही नही किन्तु उनके नैतिक जीवन के स्तर को भी ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। भारत में गाधी-युग में गाँधीजी के प्रयत्न से नारी के अधिकारो की रक्षा हुई है। उहोने जो मार्ग दिखाया उससे नारी-जीवन में उत्साह की एक लहर आ गई है, और नारियाँ अपने उत्तरदायित्व को भी समझने लगी है। फिर भी वैदिक सस्कृति में धर्मसेवन का अधिकार नही मिला।

नारियों के कुछ कार्यों का दिग्दर्शन—

भारतीय इतिहास को देखने से इस बात का पता चलता है कि पूर्वकालीन नारी कितनी विदुषी, धर्मात्मा, और कर्तव्यपरायणा होती थी। वह आजकल की नारी के समान अवला या कायर नही होती थी, किन्तु निर्भय, वीरागना और अपने सतीत्व के सरक्षण में सावधान होती थी जिनके अनेक उद्धरण पुराण ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है। यह सभी जानते है कि नारी में सेवा करने की अपूर्व क्षमता होती है। पतिव्रता नारी केवल पति के सुख-दुख में ही शामिल नही रहती है, किन्तु वह विवेक और धैर्य से कार्य करना भी जानती है। पुराणो में ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते है जिनमें स्त्री ने पति की सेवा करते हुए उसके कार्यों मे, और राज्य के सरक्षण में तथा युद्ध में सहायता की है—अवसर आने पर शत्रु के दाँत खट्टे किये है।† और पति के वियोग में अपने राज्यकार्य की सभाल यत्न के साथ की है। इससे नारी की कर्तव्यनिष्ठा का भी वोध होता है। नारी जहाँ कर्तव्यनिष्ठ रही है वहाँ वह धर्मनिष्ठ भी रही है। धर्म-कर्म और व्रतानुष्ठान मे नारी कभी पीछे नही रही है। अनेक शिला-लेखो में भारतीय जैन-नारियो द्वारा वनवाए जानेवाले अनेक विशाल गगनचुम्वी मन्दिरो के निर्माण

यावदाश्वासनं तस्य प्रारब्धं चंदनादिना।
पृथ्वीमत्यार्यया तावद्दीक्षिता जनकात्मजा ॥७८॥
ततो दिव्यानुभावेन सा विघ्नपरिवर्जिता।
संवृत्ता श्रमणा साध्वी वस्त्रमात्रपरिग्रहा ॥७९॥

—पद्मचरित प० १०५

† चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख नं० ६१ (१३९) में, जो 'वीरगल्लु' के नाम से प्रसिद्ध है उसमें गङ्गनरेश रक्कसमणि के वीरयोद्धा 'वद्देग' (विद्याधर) और उसकी पत्नी सावियव्वे का परिचय दिया हुआ है, जो अपने पति के साथ 'बागेयूर' के युद्ध में गई थी और वहाँ शत्रु से लडते हुए वीरगति को प्राप्त हुई थी। लेख के ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण है उसमें वह घोड़े पर सवार है और हाथ में तलवार लिये हुए हाथी पर सवार हुए किसी वीर पुरुष का सामना कर रही है। सावियव्वे रूपवती और धर्म-निष्ठ थी जिनेन्द्रभक्ति में तत्पर थी। लेख में उसे रेवती, सीता और अरुन्धती के सदृश वतलाया गया है।

और उनकी पूजादि के लिये स्वयं दान दिये और दिलवाये थे। अनेक गुफाओ का भी निर्माण कराया था, जिनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

१ कलिंगाधिपति राजा खारवेल की पट्टरानी ने कुमारी पर्वत पर एक गुफा वनवाई थी, जिस पर आज भी निम्न लेख अकित है और जो रानी गुफा के नाम से उल्लेखित की जाती है :—

१ "अरहत पसादान (म्) कालिगा (न) म् समणानम् लेण कारित राजिनो ल (।) लाक (स)

२ हथिस हस-पपोतस धुना कलिग—च (खा) र वे ल स

३ अगमहीषी या का लेण ।"

२ चतुर्थ रहराजा शान्तिवर्मा, जो पृथ्वीराम के समान ही जैनधर्म के उपासक थे; इनकी रानी चादकव्वे भी जिनधर्म की परम उपासिका थी, शान्तिवर्मा ने सन् ९८१ (वि० स० १०३८) में सोन्दत्ति में जिन-मन्दिर का निर्माण कराया था और १५० महत्तर भूमि राजा ने और उतनी ही भूमि रानी चादकव्वे ने वाहुवलीदेव को प्रदान की थी, जो व्याकरणाचार्य थे।

—देखो, सोन्दत्ति लेख न० १६० ।

३ विष्णुवर्द्धन की भार्या शान्तलदेवी ने सन् ११२३ (वि० स० १२३०) मे गधवारण वस्ति वनवाई। यह मारसिह और माचिकव्वे की पुत्री थी और जिनधर्म में सुदृढ और गान-नृत्य विद्या में अत्यन्त चतुर थी।

४ सोदे के राजा की रानी ने, कारणवश पति के धर्म-परिवर्तन कर लेने के वाद भी पति की असाध्य वीमारी के दूर होने तथा अपने सौभाग्य के अक्षुण्ण बने रहने पर अपने नासिकाभूषण (नथ) को, जो मोतियो का वना हुआ था, वेच कर एक जैन-मन्दिर वनवाया था और सामने एक तालाव भी जो इस समय 'मुत्तनकेरे' के नाम से प्रसिद्ध है।

५ आहवमल्ल राजा के सेनापति मल्लय की पुत्री अतिमव्वे ने, जो जैन-धर्म की विशेष श्रद्धालु और दानशीला थी, उसने चादी सोने की हजारो जिन प्रतिमाएँ स्थापित की और लाखो रुपये का दान किया था।

६ "होयसल नरेश वल्लाल, वल्लाल द्वितीय के मत्री चन्द्रमौलि वेदानुयायी ब्राह्मण थे। परन्तु उनकी पत्नी 'आचियक्क' जिनधर्म परायणा थी और वीरोचित क्षात्रधर्म में निष्ठ थी, उसने वेलोल में पार्श्वनाथ वस्ति का निर्माण कराया था।"

—देखो, श्रवणवेलगोल लेख न० ४९४

जवलपुर में 'पिसनहारी की मढिया' के नाम से एक जैनमन्दिर प्रसिद्ध है जिसे एक महिला ने आटा पीस-पोस कर वडे भारी परिश्रम से पैसा जोडकर भक्तिवश अपने द्रव्य को सत्कार्य में लगाया

था। आज भी अनेक मन्दिर और मूर्तियाँ तथा धर्मशालाएँ अनेक नारियो के द्वारा बनवाई गई हैं, जिनका उल्लेख लेखवृद्धि के भय से नही किया है।

नारियों में धर्माचरण और उनके सन्यास लेने के कुछ उल्लेख—

नारी को तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और अन्य अनेक पुण्यात्मा महापुरुषो के उत्पन्न करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिन्होंने ससार के दु खी जीवो के दु खो को दूर करने के लिए भोग-विलास और राज्यादि विभूतियो को छोडकर आत्म-साधना द्वारा स्वतत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अनेक स्त्रियो ने आर्यिकाओ के व्रतो को धारण कर आत्म-साधना की उस कठोर तपश्चर्या को अपनाया है और आत्मानुष्ठान करते हुए मन और इन्द्रियो को वश में करने का भी प्रयत्न किया है। साथ ही, आगत उपसर्ग परीषहो को भी समभाव से सहन किया है और अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर छोडा। उन धर्म-साधिका नारियो के कुछ उदाहरण इस प्रकार है —

१ भगवान् महावीर के शासन में जीवधर स्वामी की आठो पत्नियो ने, जो विभिन्न देशो के राजाओ की राजपुत्रियाँ थी, पति के दीक्षा लेने पर आर्यिका के व्रत ग्रहण किये थे।

२ वीर-शासन में जम्बूस्वामी अपनी तात्कालिक परिणाई हुई आठो स्त्रियो के हृदयो पर विजय कर प्रात काल दीक्षित हो गए। तब उनकी उन स्त्रियो ने भी जैनदीक्षा धारण की।

३. चन्दासनी ने, जो वैशाली गणतत्र के राजा चेटक की पुत्री थी, आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर, भगवान् महावीर से दीक्षित होकर आर्यिका के व्रतो का अनुष्ठान करती हुई महावीर के तीर्थ में छत्तीस हजार आर्यिकाओ में गणिनी का पद प्राप्त किया था।

४ मयूर ग्राम सघ की आर्यिका दमितामती ने कटवप्र गिरि पर समाधिमरण किया।

५ नविलूरव की अनतमती-गन्ति ने द्वादशतपो का यथाविधि अनुष्ठान करते हुए अन्त में कटवप्र पर्वत पर स्वर्गलोक का सुख प्राप्त किया।

६ दण्डनायक गङ्गराज की धर्मपत्नी लक्ष्मीमती ने, जो सती, साध्वी, धर्मनिष्ठा और दानशीला थी, और मूल सघ देशीगण पुस्तकगच्छ के शुभचन्द्राचार्य की शिष्या थी, उसने शक स० १०४४ (वि० स० ११७९) में सन्यासविधि से देहोत्सर्ग किया था।

इस प्रकार के सैकडो उदाहरण शिलालेखो और पुराण ग्रन्थो में उपलब्ध होते है, जिन सब का सकलन करने से एक पुस्तक का सहज ही निर्माण हो सकता है। अस्तु, यहाँ लेख-वृद्धि के भय से उन सभी को छोडा जाता है।

ग्रंथ रचना—

अनेक नारियाँ विदुषी होने के साथ-साथ लेखिका और कवयित्री भी हुई है। आज भी अनेक नारियाँ विदुषी लेखिका तथा कवयित्री है, जिनकी रचना भावपूर्ण होती है। भारतीय जैन श्रमण

परम्परा में ऐसी पुरातन नारियाँ सभवत कम ही हुई हैं जिन्होंने निर्भयता से पुरुषों के समान नारी जाति के हित की दृष्टि से किसी धर्मशास्त्र या आचारशास्त्र का निर्माण किया हो, इस प्रकार का कोई प्रामाणिक उल्लेख हमारे देखने में नही आया ।

हाँ, जैन-नारियो के द्वारा रची हुई दो रचनाएँ मेरे देखने में अवश्य आई है, जिनसे ज्ञात होता है कि वे भी प्राकृत, सस्कृत और गुजराती भाषा की जानकार थी । इतना ही नहीं किन्तु गुजराती भाषा मे कविता भी कर लेती थी । ये दोनो रचनाएँ दो विदुषी आर्यिकाओं के द्वारा रची गई है ।

उनमें से प्रथम कृति तो एक टिप्पण ग्रन्थ है, जो अभिमानमेरु महाकवि पुष्पदन्त कृत 'जसहर-चरिउ' नामक ग्रन्थ का सस्कृत टिप्पण है, जिसकी पत्र सख्या १६ है और जिसकी खंडित प्रति देहली के पचायती मन्दिर के शास्त्र भडार मे मौजूद है । जिसमे २ से ११ और १६ वाँ पत्र अवशिष्ट है, शेष मध्य के ७ पत्र नही है । सभवत वे उस दुर्घटना के शिकार हुए हो, जिनमें देहली के शास्त्र-भडारो के हस्तलिखित ग्रन्थो के त्रुटित पत्रो को बोरी में भरवा कर कलकत्ता के समुद्र मे कुछ वर्ष हुए गिरवा दिया गया था । इसी तरह पुरातन खडित मूर्तियो को भी देहली के जैनसमाज ने अवज्ञा के भय से अग्रेजो के राज्य में बम्बई के समुद्र में प्रवाहित कर दिया था, जिन पर सुनते है कितने ही लेख भी अकित थे । खेद है ! समाज के इस प्रकार के अज्ञात प्रयत्न से नही मालूम कितनी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री विलुप्त हो गई है । आशा है दिल्ली समाज आगे इस प्रकार की प्रवृत्ति न होने देगा ।

यशोधरचरित-टिप्पणी की यह प्रति स० १५६६ मगसिरवदी १० भी बुधवार को लिखी गई है । टिप्पण के अन्त में निम्न पुष्पिका वाक्य लिखा हुआ है—"इति श्री पुष्पदन्त यशोधर काव्य को लिखो अर्जिका श्री रणमति कृत सम्पूर्णम्" । टिप्पण के इस पुष्पिका वाक्य से टिप्पणग्रन्थ की रचयित्री 'रणमति' आर्यिका है और उसकी रचना स० १५६६ से पूर्व हुई है, कितने पूर्व हुई है । इसके जानने का अभी कोई साधन नही है ।

टिप्पण का प्रारभिक नमूना इस प्रकार है —

"वल्लहो—वल्लभ इति नामान्तर कृष्णराजदेवस्य । पज्जत्तउ—पर्याप्तमलमिति यावत् । दुक्किय पहाए—दु· कृतस्य प्रथम प्रख्यापन विस्तरण वा । दु कृत मार्ग्गोवा । लहुमोक्ख—देशात कर्मक्षय लब्धिति शीघ्र पर्यायो वा । पचसु पचसु पचसु—भरतैरावतविदेहाभिधानासु प्रत्येकं पंचप्रकारतया पंचसुदशसुकर्मभूमिषु । दयासहीसु-धर्मोदया सख्य । ईश इव—दया सहितासु वा । धुउ पचसु—विदेह भूमिषु पचसु ध्रुवो धर्म्मसूत्रैक एव चतुर्थ काल· समय । दससु—पंच-भरत पचैरावतेषु । कालावेव्ववए—वर्तमान (ना) सर्प्पिणी कालापेक्षया । पुन. देवसामि—प्रधानामराणां त्व स्वामी । वत्ताणुट्ठाणें—कृषि पशुपालन वाणिज्या च वार्ता । खत्तधनु-क्षत्रदडनीति । परमपत्तु—परमा उत्कृष्टा गणेन्द्रा० वृषभसेनादयस्तेषा परम पूज्य ॥"

दूसरी कृति समकितरास है, जो हिन्दी गुजराती मिश्रित काव्य-रचना है । इस ग्रन्थ की पत्र-सख्या ८६ है, और यह ग्रन्थ ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती-भवन झालरापाटन के शास्त्र-भडार में

सुरक्षित है। इस ग्रन्थ में सम्यक्त्वोत्पादक आठ कथाएँ दी हुई हैं, और प्रसगवश अनेक अवातर कथाएँ भी यथास्थान दी गई हैं। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ सस्कृत सम्यक्त्व कौमुदी का गुजराती पद्यानुवाद है। इसकी रचयित्री आर्या रत्नमती है। ग्रन्थ में उन्होंने जो अपनी गुरु-परम्परा दी है वह इस प्रकार है —

मूलसघ कुन्दकुन्दान्वय सरस्वति गच्छ में भट्टारक पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दी, मल्लि भूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, आर्या चन्द्रमती, विमलमती और रत्नमती । ‡

ग्रन्थ का आदि मगल इस प्रकार है —

वीर जिनवर वीर जिनवर नमूं ते सार। तीर्थंकर चौबीसवें।
मनुवांछित फलबहु दान दातार। निरमल सारदा स्वामिणीवली तवूं।
लक्ष्मीचन्द्र वीरचंद्र मनोहर। ज्ञानभूषण पाय प्रणमिनि।
रत्नमती कहि चंग, रास करूं अति रूवडो। श्री समकिततणु मनिरंगि ॥१॥

भासरासनी—

चउवीस जिनवर पायनमीए, सारदा तणिय पसायनु।
मूलसंघ महिमानिलुए, भारतीगच्छि सिणगारनु ॥१॥
कुंदकुंदाचारि जि कुलिइए, पद्मनंदीशुभ भावनु।
देवेन्द्र कीरति गुरुगुण निलुए, श्री विद्यानंदि महंतनु ॥२॥
श्री मल्लिभूषण महिमा निलुए, श्री लक्ष्मीचंद्र गुणवंतनु ॥३॥
वीरचन्द्र विद्या निलुए, श्री ज्ञानभूषण ज्ञानवंतनु ॥३॥
गभीरार्णव समुए, मेरु सारिषु धीरनु।
दयाराणी जि श्रिम निवसए, ज्ञानतणु दातारनु ॥४॥

अंतिमभाग —

शांती जिनवर शांती जिनवर नमिय ते पाय।
रास कहुं सम्यक्ततणु सारदातणिय पसाय मनोहर।

---

‡ इस गुरु परम्परा में भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति सूरत की गद्दी के भट्टारक थे। विद्यानंदि सं० १५१८ में उस पट्ट पर विराजमान हुए थे। मल्लिभूषण सागवाडा मालवा की गद्दी के भट्टारक थे। लक्ष्मीचन्द्र वीरचन्द्र भी मालवा या सागवाडा के आस-पास भट्टारक पद पर आसीन रहे हैं। ये ज्ञानभूषण तत्त्वज्ञान तरगिणी के कर्ता से भिन्न हैं। क्योंकि यह भ० वीरचन्द्र के शिष्य थे। और तत्त्वज्ञानतरगिणी के कर्ता भ० भुवनकीर्ति के शिष्य थे।

कुंदकुंदाचारिजिकुलि पद्मनंदि गुरु जाणि ।
देविंद कीरति तेह पट्टहुव वादीसिरोमणि बाखाणि ।।
दूहा— विद्यानन्द तस पट्ट हुवनिमल्लिभूषणमहंत ।
लक्ष्मीचंद्र तेह पछीसिणु यतिय सरोमणि सत ।।
वीरचन्द्र पाटिज्ञान भूषण नमीनि । चंद्रमती बाइ नमी पाय ।
रत्नमती योपिए रास करु विमलमती कहिण थकी सार ।।
इति समकितरास समाप्तः । आर्यरत्नमती कृत ।।
भ० पूंजारावजी पठनार्थं (श्रीरस्तु) ।

आर्या रत्नमती ने अपना यह रास अथवा रासा आर्या विमलमती की प्रेरणा से रचा था । आर्या रत्नमती की गुरुआणी आर्या चन्द्रमती थी । यह ग्रन्थ विक्रम की १६ वी शताब्दी के मध्यकाल की रचना जान पडती है, क्योकि रत्नमती की उक्त गुरु-परम्परा में निहित विमलमती वह विमलश्री जान पडती है, जिनकी शिष्या विनयश्री भ० लक्ष्मीचन्द्र के द्वारा दीक्षित थी, जिन्होने प० आशाधरकृत महा-अभिषेक पाठकी ब्रह्मश्रुत सागरकृत टीका उक्त भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य ब्रह्मज्ञानसागर को स० १५५२ में लिखकर प्रदान की थी । इस उल्लेख पर से भी आर्या रत्नमती विक्रम की १६ वी शती के मध्य की जान पडती हैं ।

अनेक विदुषी नारियो ने केवल अपना ही उत्थान नही किया, अपने पति को भी जैन-धर्म की पावन शरण में ही नही लाईं, प्रत्युत उन्हें जैनधर्म का परम आस्तिक बनाया है और अपनी सन्तान को भी सुशिक्षित एव आदर्श बनाने का प्रयत्न किया है । उदाहरण के लिये अपने पति मगधदेश के राजा श्रेणिक (विम्बसार) को भारतीय प्रथम गणतत्र के अधिनायक लिच्छविवशी राजा चेटक की सुपुत्री चेलना ने बौद्धधर्म से पराङ्मुख कर जैनधर्म का श्रद्धालु बनाया है जिसके अभय कुमार और वारिषेण जैसे पुत्ररत्न हुए, जिन्होने सासारिक सुख और वैभव का परित्याग कर आत्म-साधना की कठोर तपश्चर्या का अवलम्बन किया था ।

इस तरह नारी ने श्रमण सस्कृति में अपना आदर्श जीवन बिताने का यत्न किया है । उसने पुरुषो की भाति आत्मसाधन और धर्मसाधन में सदा आगे बढ़ने का प्रयत्न किया है । नारी में जिनेन्द्र भक्ति के साथ श्रुतभक्ति में भी तत्परता देखी जाती है, वे श्रुत का स्वय अभ्यास करती थी, समय-समय पर ग्रन्थ स्वय लिखती और दूसरो से लिखा-लिखा कर अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ, साधुओ, विद्वानों और तत्कालीन भट्टारको तथा आर्यिकाओ को प्रदान करती थी, इस विषय के सैकडो उद्धरण है, उन सब को न देकर यहाँ सिर्फ ५–६ उद्धरण ही नीचे दिये जाते है —

१ सवत् १४९७ में काष्ठा सघ के आचार्य अमरकीर्ति द्वारा रचित 'षट्कर्मोपदेश' नामक ग्रन्थ की १ प्रति ग्वालियर के तेवर या तोमरवशी राजा वीरमदेव के राज्य में अग्रवाल साहू जैतू की धर्मपत्नी सरे ने लिखाकर आर्यिका जैतश्री की शिष्यणी आर्यिकाबाई विमलश्री को समर्पित की थी ।

२. सवत् १४८५ मे अग्रवालवंशी साहू वच्छराज की सतीसाध्वी पत्नी 'पाल्हे' ने अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ द्रव्यसग्रह की ब्रह्मदेवकृत वृत्ति लिखाकर प्रदान की।

३. सवत् १५९५ में खडेलवालवशी साह छीतरमल की पत्नी राजाही ने अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रथ लिखाकर मुनिदेवनन्दि को प्रदान किया।

४ सवत् १५३३ में धनश्री ने पद्मनद्याचार्य की 'जम्बूद्वीप्रज्ञप्ति' प्राकृत लिखाकर प० मेधावी को प्रदान की थी।

५ सवत् १५६० मे माणिक बाई हूमड ने, जो व्रतधारिणी थी, गोम्मटसार पजिका लिखाकर लघु-विशाल कीर्ति को भेंट स्वरूप प्रदान की थी।

६. स० १६६८ मे हूवड़ज्ञातीयबाई तडनायक ने भ० सकलकीर्ति के 'वर्धमान पुराण' को भ० सकल-चन्द्र से दीक्षित बाई हीरो से लिखाकर भ० सकलचन्द्र को प्रदान किया था।

उपसंहार—

आशा है, पाठक इस लेख की सक्षिप्त सामग्री पर से नारी की महत्ता का अवलोकन करेंगे, उसे उचित सम्मान के साथ उसकी निर्बलता को दूर करने का यत्न करेंगे और श्रमण सस्कृति में नारी की महत्ता का मूल्याकन करके नारी-जाति को ऊँचा उठाने के अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।

जिनसेन की नारी

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावित—

कवि या कलाकार अपने समय का प्रतिनिधि होता है। वह जिस युग में रहकर अपने साहित्य का निर्माण करता है, उस युग की छाप उसके साहित्य पर अवश्य पडती है, फलत हम किसी भी महान् साहित्यकार की रचना में उस समय के प्रचलित रीति-रिवाजो का सम्यक्तया अवलोकन कर सकते है। यही कारण है कि किसी भी विशेष युग का साहित्य उस युग के इतिहास निर्माण का सुन्दर उपकरण होता है। आज से ११११० वर्ष पहले जिनसेन नामक एक प्रख्यात जैनाचार्य ने आदिपुराण नामक पुराण ग्रन्थ की रचना की है। इस पुराण में धर्म, दर्शन, कथा, इतिहास आदि के साथ उस समय की नारी के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एव सास्कृतिक आदि विविध क्षेत्रो की स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। यद्यपि उस युग में भी नारी जाति पर पुरुष जाति वैयक्तिक एव सामाजिक रूप से अनुचित लाभ उठाती थी, पर नारी की स्थिति आज से कही अच्छी और सम्मानपूर्ण थी। नारी मात्र भोगैषणा की पूर्ति का साधन नही थी, उसे भी स्वतत्र रूप से विकसित और पल्लवित होने की पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त थी। वह स्वय अपने भाग्य की विधायिका थी। वह जीवन में पुरुष की अनुगामिनी बनती थी, दासी नही। उसका अपना स्वतत्र व्यक्तित्व था, पुरुष के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व उसे मिला देना नही पडता था। आज की तरह उस समय की नारी को घूघट डालकर पर्दे में बन्द नही होना पडता था। यहाँ पर्याप्त प्रमाण देकर आचार्य जिनसेन ने नारी की जिस स्थिति का निरूपण किया है, उस पर सक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

कन्या की स्थिति—

जिनसेन ने कन्या को माँ-बाप का अभिशाप नही माना[१]। बल्कि बताया है कि समाज में कन्या की स्थिति आज से कही अच्छी थी। यद्यपि जिनसेन की रचना से यह ध्वनित होता है कि उस समय के समाज में कन्या की महत्ता पुत्र की अपेक्षा कम ही थी फिर भी कन्या परिवार के लिए मंगल मानी जाती थी इस कथन की सिद्धि के लिये हमारे पास निम्न प्रमाण है, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक आचार्यों की अपेक्षा जिनसेन ने कन्या को परिवार के लिये गौरवस्वरूप बताया है।

१—पितरौ तां प्रपश्यन्तौ नितरा प्रीतिमापतु ।
कलामिव सुधासूते. जनतानन्दकारिणीम् । —आदिपुराण पर्व ६, श्लोक ८३

(१) जब कि मनुस्मति आदि ग्रन्थो में ोडश सस्कारो में पुसवन सस्कार को महत्ता दी गई है वहाँ जिनसेन ने इस सस्कार की गणना ही नही की। इससे स्पष्ट है कि जिनसेन की दृष्टि में कन्या और पुत्र दोनो तुल्य थे। आदिपुराण (३८ पर्व श्लोक ७६) में बताया गया है—

पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यर्हदिज्यया।
सन्तानार्थं विना रागात् दम्पतिभ्यां न्यवेयताम्॥

इस प्रकरण में गर्भाधान, प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोद, प्रमोद, ताम कर्म, बहिर्यान, निषघा, अन्न प्राशन, व्युष्टि, चौल, लिपि-सख्यान सस्कारो का उल्लेख किया है।

(२) कन्याओ का लालन-पालन एव उनकी शिक्षा-दीक्षा भी पुत्रो के समान ही होती थी। भगवान् ऋषभदेव अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की पुत्रियो को शिक्षा देने के लिये प्रेरित करते हुए कहते हैं—

विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिम पदम्॥
——(१६ पर्व श्लो० ९८२)

तद् विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवाम्।
तत्सग्रहणकालोऽयं युवयोर्तर्वतेऽधुना॥
(पर्व १६ श्लो० १०२)

इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्था श्रुतदेवीं सपर्यया॥
विभुः करद्वयेनाभ्या लिखन्नक्षरमालिकाम्।
उपादिशल्लिपिं सख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात्॥
(प० १६——१०३, १०४)

इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो की अपेक्षा कन्याओ की शिक्षा का पहले प्रवन्ध किया था। अक विद्या और अक्षर विद्या में ब्राह्मी और सुन्दरी ने पूर्णतया पाण्डित्य प्राप्त किया था।

(३) विवाह के अवसर पर वर-वरण की स्वतन्त्रता कन्याओ को प्राप्त थी। आदिपुराण में ऐसे अनेक स्थल है जिनसे सिद्ध है कि स्वयम्वरो में कन्याएँ प्रस्तुत होकर स्वेच्छानुसार वर का वरण करती थीं।

ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध है कि कन्याएँ आजीवन अविवाहिता रहकर समाज की सेवा करती हुई अपना आत्मकल्याण करती थी। ब्राह्मी और सुन्दरी ने कौमार्य अवस्था मे ही दीक्षा ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया था। उस समय समाज में कन्या का विवाहिता हो जाना आवश्यक नहीं था। राजपण्डितो

के अतिरिक्त जनसाधारण में भी कन्या की स्थिति आज से कही अच्छी थी। कन्याएँ वयस्क होकर स्वेच्छानुसार अपने पिता की सम्पत्ति में से दानादिक के कार्य करती थी। आदिपुराण (पर्व ४३, श्लोक १७४, १७५) में बताया गया है कि सुलोचना ने कौमार्य अवस्था में ही बहुत-सी रत्नमयी प्रतिमाओ का निर्माण कराया और उन प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराके बृहत् पूजनाभिषेक किया।

(४) कन्या का पैतृक सम्पत्ति में तो अधिकार था ही पर वह आजीविका के लिये स्वय भी अर्जन कर सकती थी। आजीविका अर्जन के लिये उन्हें मूर्तिकला, चित्रकला के साथ ऐसी कलाओ की भी शिक्षा दी जाती थी जिससे वे अपने भरण-पोषण के योग्य अर्जन कर सकती थी। पिता पुत्री से उसके विवाह के अवसर पर तो सम्मति लेता ही था पर आजीविका अर्जन के साधनो पर भी उससे सम्मति लेता था। आदिपुराण के ७ वें पर्व में बताया है कि वज्रदन्त चक्रवर्ती अपनी कन्या श्रीमती को बुलाकर उसे नाना प्रकार से समझाता हुआ कलाओ के सम्बन्ध में चर्चा करता है।

गृहिणी की स्थिति—

विवाह के अनन्तर वधू गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो गृहिणी पद प्राप्त करती थी। विवाह भी साधारणतया किसी पवित्र स्थान में होता था।

पुण्याश्रमे क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयो।
दम्पत्यो परया मूल्या कार्यः पाणिग्रहोत्सव ॥

(पर्व ३८, श्लोक १२९)

अर्थात् तीर्थस्थान में या सिद्ध प्रतिमा के सम्मुख विवाहोत्सव सम्पन्न किया जाता था। विवाह की दीक्षा में नियुक्त वरवधू देव और अग्नि की साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते थे फिर अपने योग्य किसी देश में प्रयाण कर अथवा तीर्थभूमि में जाकर प्रतिज्ञावद्ध हो गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे। दहेज आदि की प्रथा समाज में बिलकुल नही थी। हाँ, एक बात अवश्य थी कि विवाह करने में कभी २ कठिनाइयो का सामना करना पडता था। विवाहिता स्त्री अपने परिवार की सब तरह से व्यवस्था करती थी। उस समय विवाह वासना की पूर्ति का साधन नही था किन्तु सतति उत्पत्ति के लिये विवाह आवश्यक माना जाता था।

प्रजा सन्तत्यविच्छेदे तनुते धर्मसन्ततिः।
मनुष्व मानव धर्मं ततो देवेममच्युत ॥
देवेम गृहिणा धर्मं विद्धि दारापरिग्रहम्।
सन्तानरक्षणे यत्न कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥

(पर्व १५, श्लोक ६३–६४)

(१) विवाहिता स्त्रियो की वेश-भूषा अनेक प्रकार की थी। राजपरिवार एव धनिक परिवारो की महिलाएं मणिमाणिक्य, स्वर्ण, रजत के नुपूर, करधनी, कर्णफूल एव हार को धारण करती थी। मनोविनोद

के लिये फूलो के आभूषण और मालाएँ भी धारण करती थी। रेशमी वस्त्र तथा महीन सूती वस्त्र को भी धारण करती थी। साधारण परिवारो मे फूलो के आभूषणो के साथ साथ कम कीमत के धातुओ के आभूषण भी पहने जाते थे। प्रकृति की गोद में प्रधान रूप से विचरण करने के कारण फूलपत्तियो से उस समय नारियो को अधिक प्रेम था [१]।

(२) पुरुष एक से अधिक विवाह करता था तथा अन्त पुरो में सपत्नियो में प्राय कलह होता रहता था जिससे कभी कभी घरेलू जीवन दु खमय वन जाता था। वहु विवाह की प्रथा के कारण राजपरिवारो में स्त्रियो को कष्ट का सामना करना पडता था। यद्यपि सामान्य परिवारो में वहु विवाह की प्रथा नही थी केवल धनिक परिवारो में ही वहु विवाह होते थे।

(३) विवाहित स्त्री को भी घूमने फिरने की पूर्ण स्वतत्रता थी [२]। विवाहिता स्त्रियाँ अपने पतियो के साथ तो वन-विहार करती ही थी पर कभी कभी एकाकी भी वन विहार के लिए जाती थी।

(४) पति से ही स्त्री की शोभा नही थी, वल्कि पति भी स्त्री से शोभित होता था। आदि-पुराण चतुर्थ पर्व के १३२ वे श्लोक में वताया है कि मनोहर रानी अपने पति अतिवल के लिए हास्यरूपी पुष्प से शोभायमान लता के समान प्रिय थी और जिनवाणी के समान हित चाहने वाली और यश को वढाने वाली थी। पर्व ६, श्लोक ५९ में वताया गया है —

स तया कल्पवल्लेव सुरागोऽलक्तो नृप ।

(५) गृहस्थ-जीवन मे पति-पत्नियो मे कलह भी होता था। स्त्रियाँ प्राय रूठ जाया करती थी। पतियो द्वारा स्त्रियो के मनाये जाने का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

प्रणयकोपविजिह्मुखीर्वधू अनुनयन्ति सदाऽत्र नभश्चरा ॥
इह मृणालनियोजितवन्वनै रिह वतससरोरुहताडनै ।
इह मुखासवसेचनकै प्रियान् विमुखयन्ति रते कुपिता स्त्रिय ॥
(पर्व १९, श्लोक ९४-९५)

(६) स्त्रियाँ व्रत उपवास अत्यधिक करती थी। आरम्भ में ही वडे २ व्रतो को किया करती थी। पचकल्याणकव्रत, सोलहकारण व्रत, जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति व्रत के करने की अधिक प्रथा थी। आदि पुराण के छठवे पर्व में वताया गया है कि मनस्विनी स्वयप्रभा ने अनेक व्रतोपवास किये। उस समय नारियाँ आर्यिका और क्षुल्लिका की पदवी धारण करती थी तथा वे सदा इनके लिए उत्सुक

१—प्रसूनरचिताकल्पावतसीकृतपल्लवा । कुसुमावचये सक्ता सञ्चरन्तीरितस्तत: ॥
लसद्दुकूलवसनै: विपुलैर्जघनस्थलै. । सकाञ्चीवचनै: काननृपकारालयामितै· ॥ आदि
पर्व १८ श्लो० २०४, १९५, १९६

२—खेचरीजनसंचारसंक्रान्तपदयावकै: । रक्ताम्बुजोपहारश्रीर्यत्र नित्यं वितन्यते ॥—पर्व ४ श्लो० ८६

रहती थी कि कव उन्हें आत्मकल्याण करने का अवसर प्राप्त हो। ४६ वे पर्व के ७६ वें श्लोक में वताया गया है कि प्रियदत्ता ने विपुलमति नाम के चारण ऋद्धिधारी मुनिको नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया और मुनि से पूछा कि प्रभो मेरे तप का समय समीप है या नही। इससे स्पष्ट है कि उस समय सासारिक भोगो की अपेक्षा आत्मकल्याण को स्त्रिया अधिक महत्ता देती थी और परिवार में धर्मात्मा विदुषी महिलाओ का अधिक सम्मान होता था।

(७) दुराचारिणी स्त्रियो को समाज में निंद्य दृष्टि से देखा जाता था तथा पाप के फलस्वरूप उनका समाज से निष्कासन भी होता था। ४७ वें पर्व में वताया गया है कि समुद्रदत्त की स्त्री सर्वदयिता को उसके ज्येष्ठ सागरदत्त ने भ्रमवश घर से निकाल दिया था और उसके पुत्र को कुल का कलक समझ भृत्य द्वारा अन्यत्र भिजवा दिया था।

(८) स्त्रियो का अपमान समाज में महान् अपराध माना जाता था। सभी स्त्रियो को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। कोई भी उनका अपमान नही कर सकता था। पति अपने वाहुवल से स्त्री के भरण पोषण के साथ उसका सरक्षण भी करता था। तेतालीसवें पर्व के ६६ वें श्लोक मे वताया गया है—

न सहन्ते ननु स्त्रीणा तिर्यञ्चोऽपि पराभवम्।

यह तो चर्चा हुई स्त्रियो की महत्ता के सम्वन्ध में, पर कुछ प्रमाण ऐसे भी उपलव्ध होते है जिनसे प्रतीत होता है कि जिनसेन के समय में नारी परिग्रह के तुल्य मानी जाने लगी थीं। इसी कारण सातवें पर्व के १६६, १६७ वें श्लोक में नारी की स्वतत्रता का अपहरण करते हुए वलपूर्वक विवाह करने को वात कही गई है।

अथवैं तत् खलूक्त्वा य सर्वथाऽर्हति कन्यकाम्।
हसन्त्याश्च रुदन्त्याश्च प्राघूर्णक इति श्रुते॥

स्त्रियो के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए (पर्व ४३, श्लोक १०५—११३) में वताया गया है कि स्त्रियाँ स्वभावत चचल, कपटी, क्रोधी और मायाचारिणी होती है। पुरुषो को स्त्रियो की वातो पर विश्वास न कर विचारपूर्वक कार्य करना चाहिये। वासना के आवेश में आकर नारियाँ धर्म का परित्याग कर देती है।

एक और सवसे वढे मजे की वात तो यह है कि स्त्रियो को भी पुरुषो की शक्ति पर विश्वास नहीं है। ६ वें पर्व के १६६ वें श्लोक में वताया गया है कि स्त्री ही स्त्री का विपत्ति से उद्धार कर सकती है—

स्त्रीणा विपत्प्रतीकारे स्त्रिय एवावलम्वनम्।

इससे यह भी ध्वनित होता है कि उस समय स्त्रियो में सहयोग और सहकारिता की भावना अत्यधिक थी। नारी को नारी के ऊपर अटूट विश्वास था इसलिए नारी अपनी सहायता के लिए पुरुषो की अपेक्षा नही करती थी।

वेश्याओ की स्थिति के सम्बन्ध में भी जिनसेन ने पूरा प्रकाश डाला है। वेश्याएँ मद्यपान करती थी तथा समाज में उनकी स्थिति आज से कही अच्छी थी। मागलिक अवसरो पर तथा धार्मिक अवसरो पर वेश्याएँ बुलाई जाती थी। इनकी गणना शुभशकुन के रूप में की गई है अभि-शाप के रूप में नही। जब भगवान् ऋषभदेव दीक्षा के लिए चलने लगे तो एक ओर दिक्कुमारी देविया मगल द्रव्य लेकर खडी थी तो दूसरी ओर वस्त्राभूषण पहने हुई उत्तम वारागनाएँ मगल द्रव्य लेकर प्रस्तुत थी।

एकतो मगलद्रव्यधारिण्यो दिक्कुमारिका ।
अन्यत. कृतनेपथ्या वारमुख्या वरश्रिय ॥

भगवान् के निष्क्रमण कल्याण के अवसरपर—

सलीलपदविन्यासमन्येता वारयोषिताम् ।
(पर्व १७, श्लोक ८६)

जन्म और विवाह के अवसर पर भी वेश्याओ द्वारा मगल गीत गाये जाने की प्रथा का उल्लेख है। सातवें पर्व के २४३, २४४ वें श्लोक में "मगलोद्गानमातेनु वारबध्व कल तदा" से सिद्ध है कि महोत्सवो में वारगनाओ का आना आवश्यक सा था। मुझे तो ऐसा प्रतीत है कि ये धार्मिक महोत्सवो पर सम्मिलित होने वाली वारागनाएँ देवदासियाँ ही हैं। यह जिनसेनाचार्य का साहस है कि उन्होने देवदासियो को खुले रूप से वारागना घोषित किया क्योकि इसी ग्रथ में वेश्याओ का एक दूसरा चित्र भी मिलता है जिसमें उन्हे त्याज्य एव निन्द्य बताया गया है। अत स्पष्ट है कि समाज में दो प्रकार की वेश्याओ की स्थिति थी। प्रथम वे जो केवल नृत्य, गायन आदि का कार्य करती थी और जो धार्मिक अथवा मागलिक अवसरो पर बुलाई जाती थी और द्वितीय वे वेश्याएँ थी जो धन के लिए अपने शील को बेचती थी। अत प्रथम प्रकार की वेश्याएँ उस समय की देवदासियो से भिन्न अन्य नही है।

उस समय स्त्रियो मे मद्यपान का भी प्रचार था। जो स्त्रिया मद्यपान नही करती थी वे श्राविका मानी जाती थी। ४४ वे पर्व के २९० वें श्लोक मे बताया है—

दूरादेवात्यजन् स्निग्धा श्राविका वाऽऽसवादिकम् ।

इसी पर्व के २८९ वें श्लोक में बताया गया है कि मद्य के समान सम्मान और धर्म को नष्ट करने वाला और कोई पदार्थ नही है। यही सोचकर ईर्ष्यालु, कलहकारिणी, सपत्नियोने अपनी सहवा-सिनियो को खूब मद्य पिलाया। कुछ स्त्रियाँ तो वासना को उत्तेजित करने के लिए मद्यपान किया करती थी।

वृथाभिमानविध्वसी नापर मधुना विना ।
कलहान्तरिता काश्चित्सखीभिरतिपायिता ॥
मधु द्विगुणितस्वादु पीत कान्तकरार्पि ', (पर्व ४४, श्लोक २८९)

जननी की स्थिति —

जननी रूप नारी को जिनसेन ने बड़े आदर की दृष्टि से देखा है। इन्द्राणी ने जननी रूप में मरुदेवी की स्तुति की है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि जननी रूप नारी प्रत्येक नरनारी द्वारा वन्दनीय है। १५ वें पर्व के १३१ वें श्लोक में बताया गया है कि "गर्भवती स्त्री का समाज मे विशेप ध्यान रक्खा जाता है। उसके दोहद को पूर्ण करना प्रत्येक पति का परम कर्त्तव्य है।" आचार्य ने कहा है—

त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणी त्व सुमगला।
महादेवी त्वमेवाद्य त्व सपुण्या यशस्विनी ॥
प्रजासन्तत्यविच्छेदे तनुते धर्मसतति।
मनुष्व मानव धर्म ततो देवेममच्युत ॥
देवेम गृहिणा धर्म विद्धि दारापरिग्रहम्।
सन्तानरक्षणे यत्न कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥

इससे स्पष्ट है कि सन्तति को जन्म देने वाली माता सर्वथा वन्द्य और पूजनीय थी।

मा को अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर सब से अधिक प्रसन्नता होती थी जैसा कि आज भी देखा जाता है। १५ वे पर्व के ७३ वे श्लोक मे बताया है—"दारकर्मणि पुत्राणा प्रोत्युत्कर्षो हि योपिताम्"। अत सिद्ध है कि मा को नवीन पुत्रवधू के प्राप्त होने मे सबसे अधिक प्रसन्नता होती है। ७ वें पर्व के २०५ वें श्लोक में बताया है कि वसुन्धरा को अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर परम हर्ष हुआ। उसका रोम रोम हर्ष विभोर हो उठा। अत स्पष्ट है कि जननी गृहस्वामिनी के उत्तरदायित्व पूर्ण पद का निर्वाह करती हुई नवीन वधू के स्वागत के लिए सदा उत्सुक रहती है। सन्तान की प्राप्ति से माता को जितनी प्रसन्नता होती है उससे कही बढकर वधू के आने में। भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी को अपने पुत्र की वधू प्राप्ति के लिए अत्यधिक उत्सुकता थी। वृद्धा जननी की एक झलक हमें उस समय मिलती है जब देखते है कि नवीन वधू के आते ही वह उसे अपना उत्तरदायित्वपूर्ण पद सौंप देती है और स्वय धर्म साधन मे लग जाती है। गृहस्थी के समस्त मोह जाल से छुटकारा पाकर वह जिनदीक्षा ग्रहण करती है। ८ वें पर्व के ८६ वें श्लोक में बताया है —

"तदेव ननु पाण्डित्य यत्ससारात् समुद्धरेत्" का चिन्तन कर पण्डिता ने वज्रदन्त चक्रवर्ती के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली।

विधवा की स्थिति—

जिनसेनाचार्य ने विधवा नारी की स्थिति के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश नही डाला है। कुछ ही ऐसे स्थल है जिनसे विधवा नारी की सामाजिक और धार्मिक स्थिति का पता लगता है। समाज में उस समय विधवा नारी को अपशकुन नही समझा जाता था, उसे समाज आदर और सम्मान की

दृष्टि से देखता था। विधवाएँ भी धर्म साधन मे अपना अवशेष जीवन व्यतीत करती थी, तथा व्रतोपवास द्वारा अपना आत्मशोधन कर स्वर्गादिक सुखो को प्राप्त होती थी। आचार्य ने ६ वें पर्व के ५४—५५ वें श्लोक में ललितागदेव की मृत्यु के अनन्तर स्वयप्रभा की चर्चा एव कार्य-कलापो का चित्रण कर विधवा नारी के कार्यक्रम का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर दिया है। वताया गया है कि ललिताग की मृत्यु के पश्चात् स्वयप्रभा ससार के भोगो से विरक्त हो आत्मशोधन करने लगी। यह मनस्विनी भव्य जीवो के समान ६ महीने तक जिन पूजा में उद्यत रही तदनन्तर सौमनस बन सम्वन्धी पूर्व दिशा के जिनमन्दिरो में चैत्यवृक्ष के नीचे पचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए समाधि-मरण धारण किया।

> षण्मासान् जिनपूजायामुद्यताऽभून्मनस्विनी ॥
> तत सौमनसोद्यानपूर्वदिग्जिनमन्दिरे ।
> मूले चैत्यतरो सम्यक् स्मरन्ती गुरुपचकम् ।
> समाधिना कृतप्राणत्यागा प्राच्योष्ट सा दिव । स० ६ श्लो० ५५-५७

इससे स्पष्ट है कि पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री अपना धर्ममय जीवन व्यतीत करती थी। वह लोकैषणा और धनेषणा से रहित होकर समाज की सेवा करते हुए जीवनयापन करती थी।

इस प्रकार जिनसेन ने नारी के सभी पहलुओ पर विचार किया है। उन्होने अपने समय के नारी समाज का एक सुन्दर और स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है।

प्राचीन मथुरा की जैन-कला में स्त्रियों का भाग

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०

मथुरा-कला में नारी की सर्व-मान्यता—

मथुरा तथा उसके समीपस्थ प्रदेश से अब तक जैन धर्म से सम्बन्धित कई सहस्र प्राचीन अवशेष प्राप्त हो चुके है और भविष्य में भी न जाने कितने प्राप्त होते रहेंगे। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से कई शताब्दी पूर्व से लेकर ई० १२ वी शताब्दी तक मथुरा जैन धर्म का एक महान् केन्द्र रहा। इस दीर्घ काल में यहा जैन कला अनेक रूपो में विकसित हुई। मथुरा से अद्यावधि उपलब्ध जैन कलाकृतिया भारत के धार्मिक एव कलात्मक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। ये कृतिया विविध भाति के आयागपट्टो, तोरणो, वेदिकास्तम्भो, सिरदलो, द्वारस्तम्भो, तीर्थंकर-प्रतिमाओ आदि के रूप में मिली हैं। कुषाण काल (ई० प्रथम से तृतीय शताब्दी) के अवशेषो की संख्या सबसे अधिक है और वे अधिकाश में वर्तमान मथुरा नगर के दक्षिण पश्चिम में स्थित ककाली टीला (जिसे 'जैनी टीला' भी कहते है) से प्राप्त हुए है, जो कई शताब्दियो तक मथुरा में जैनधर्म का सबसे बडा केन्द्र रहा।

इन अवशेषो में से बहुत ऐसे है जिन पर तत्कालीन ब्राह्मी लिपि एव मिश्रित सस्कृत-प्राकृत भाषा में अभिलेख मिले है, जिनके द्वारा उनके निर्माण समय एव निर्माताओ के नाम आदि का पता चलता है। इन अभिलेखो से ज्ञात होता है कि जिन शिलापट्टो या मूर्तियो पर वे उत्कीर्ण है उनके बनवाने एव प्रतिष्ठापित कराने वाली अधिकाश में स्त्रिया थी, पुरुष बहुत कम। ये स्त्रिया प्राय गृहस्थ श्राविकाएँ थी, जो आर्या भिक्षुणियो के उपदेश से विभिन्न धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त होती थी। हम अपनी इन पूर्वज महिलाओ के बडे ऋणी है जो सैकडो कला-कृतियो का निर्माण करा कर उन्हे आगे आने वाली सन्तति के लिए छोड कर अपने नाम अमर कर गई है। ये कलाकृतिया हमारी बहुमूल्य थाती है और जबतक वे रहेगी तब तक उन उदारचेता नारियो की मधुर स्मृति जागृत किये रहेंगी।

इन अभिलिखित अवशेषों के द्वारा प्राचीन भारतीय समाज के प्रेम-पूर्ण कौटुम्बिक जीवन की सुन्दर झाकी मिलती है। एक गृहिणी अपने धार्मिक कृत्य से प्राप्त होनेवाले पुण्य को अपने तक ही सीमित न रख कर उसे अपने सास-ससुर, माता-पिता, पति, पुत्र, भगिनी, भाई और पौत्रादि के लिए अर्पित

करती है। इतना ही नही अपितु वह नारी अपने धार्मिक कार्य में ससार के प्राणिमात्र के हित एव सुख की अभिलाषा करती है। अधिकाश अभिलेखो में 'सर्वसत्त्वाना हितसुखाय' की इस भावना का दर्शन मिलता है, जो 'उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्' का एक जीता-जागता उदाहरण है।

नारी : आर्या और श्राविका—

उपर्युक्त अभिलेखो में दो प्रकार की स्त्रियो के उल्लेख मिलते है—एक तो भिक्षुणियो के, जिनके लिए प्राय 'आर्या' शब्द का प्रयोग मिलता है, और दूसरे कुटुम्बिनी स्त्रियो ('श्राविकाओ') के, जो आर्याओ के उपदेश या प्रेरणा से मूर्तियो आदि का निर्माण एव उनकी प्रतिष्ठापना कराती थी। अधिकाश गृहिणियो की उपदेशिकाएँ भिक्षुणियाँ (आर्या) ही मिलती है, भिक्षु बहुत कम। ये भिक्षु-णियाँ प्राय स्त्रियो को ही धार्मिक उपदेश दिया करती थी, पुरुषो के उपदेशक पुरुष (वाचक, आर्य) होते थे।

दान दात्रियो के नाम एव उनके परिवार वालो को नामो के साथ-साथ उन उपदेशिकाओ के नाम (उनकी गुरु परम्परा के साथ) मिलते है जिनकी प्रेरणा से ये दान दिये जाते थे। साथ ही सम्ब-न्धित गण, कुल तथा शाखा आदि के नाम भी इन अभिलेखो में मिलते है। इस प्रकार ये लेख प्राचीन सामाजिक एव धार्मिक विकास को जानने के लिए बडे महत्त्वपूर्ण है। उदार तथा व्यापक जैन धर्म मे सभी वर्गों के लिए समान अधिकार होने के कारण हम सब प्रकार के लोगो को धार्मिक कृतियो में भाग लेते हुए पाते है। मथुरा के अभिलेखो में निम्नवर्ग के जिन अनेक समुदायो के उल्लेख मिलते है उनमें कारुक (पत्थर काटने वाले), गधिक (इतर, तेल आदि बेचने वाले), मणिकार (सुनार) लोहिककार, (लुहार), आतयिक (छाता बनाने वाले ?), पातारिक (मल्लाह), नर्तक (नट) तथा वेश्याएँ उल्लेखनीय है। इन वर्गों के स्त्री-पुरुष पूरी स्वतत्रता के साथ विभिन्न धार्मिक कृत्यो को सम्पादित करते हुए पाये जाते है और अपने नाम लेखो में उत्कीर्ण कराते है। लवण शोभिका नामक गणिका की पुत्री वसु ने अर्हत्-पूजा के लिए एक देवकुल, आयागसभा, कुड तथा शिलापट्ट का निर्माण कराया, जिसकी स्मृति वह एक सुन्दर आयागपट्ट पर छोड गई है। इसी प्रकार फल्गुयश नर्तक की स्त्री के द्वारा बनवाया हुआ आयागपट्ट कला की एक अत्यन्त आकर्षक कृति है।

आर्याओ के नाम, जिनकी निर्वर्तना या प्रेरणा से श्राविकाएँ दान करती थी, सादिता, वसुला, जिनदासी, श्यामा, धर्मार्था, दत्ता, धान्यश्रिया आदि मिले है। जैसा कहा जा चुका है, ये कुटुम्बिनी स्त्रियो को सन्मार्ग का उपदेश करती थी। गृहस्थाओ में धार्मिक प्रवृत्ति को जाग्रत करने में इन तपस्विनियो का बहुत बडा हाथ था। उनके प्रभावपूर्ण उपदेशो से कितनी ही नारिया अपने कर्त्तव्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करती थी।

मथुरा से प्राप्त तीर्थंकर-प्रतिमाओ की चरण-चौकी पर प्राय हाथ जोडे हुए या पूजा-सामग्री लिए अनेक स्त्रियो के चित्रण मिलते है। कही कही मध्य में स्थित धर्मचक्र के एक ओर पक्ति में खडे पुरुष और दूसरी ओर दूसरी पक्ति में खडी हुई स्त्रिया मिलती है। इन मूर्तियो से उनकी वेश-

भूषा का भी पता चलता है। ये मूर्तियाँ दान देने वाली महिला एवं उसके परिजनो की है। परन्तु इन्हें देखकर प्राय यह वताना कठिन होता है कि इनमे से मुख्य (दानदात्री श्राविका) की मूर्ति कौन सी है, क्योंकि यह निश्चित नही कि वह पक्ति के आगे, पीछे या वीच में खडी हो। अभिलेख में भी ऐसा कोई सकेत नही पाया जाता।

प्राप्त अवशेषों में चमकती-नारियाँ—

हम इन उदारचेता नारियो मे से कुछ की चर्चा नीचे करेंगे, जिनके नाम सौभाग्य से मथुरा के शिलालेखो पर वच गये हैं। ये शिलालेख इन महिलाओ के द्वारा वनवाए हुए अपने अपने आयाग-पट्टो, विविध स्तम्भो, तोरणो एव प्रतिमाओ की चरण-चौकिओ पर उत्कीर्ण कराये गये। ये अव-शेष इस समय अधिकाश मे लखनऊ तथा मथुरा मे सग्रहालयो में सुरक्षित हैं।

१ अचला—यह भद्रयश की वधू तथा भद्रनन्दि की भार्या थी। इसने अर्हत-पूजा के लिए एक विशाल आयागपट्ट का निर्माण कराया जिसके वीच में चारो ओर नन्दिपट्टो से आवेष्टित ध्यान-मुद्रा मे जिन-प्रतिमा और चारो किनारो पर विविध प्रशस्त चिन्ह उत्कीर्ण कराये। (ए० इं०, २,२०७, स० ३२, स्मिथ —जै० स्तू०, पृ० १८, फ० ११।

२ अमोहिनी—हारीती-पुत्र पाल की पत्नी कौत्स गोत्र वाली, श्रमणो की श्राविका अमोहिनी ने राजा शोडास (सुदास) के राज्य काल (ई० पू० प्रथम शताब्दी) में आर्यवती का चौकोर शिलापट्ट प्रतिष्ठापित किया। लेख में अमोहिनी के तीन पुत्रो के नाम पालघोष, प्रौष्ठघोष तथा धनघोष दिये हुए है। (ए० इ०, २,१९९, स० २) शिलापट्ट पर वीच में अभयमुद्रा में खडी हुई देवी आर्यवती प्रदर्शित हैं। उनके अगल वगल छत्र, चौरी तथा माला लिए हुए परिचारिका स्त्रिया खडी है।

३ आर्यजया—कुषाण सम्राट् कनिष्क के राज्यकाल में स० ७ (८५ ई०) में आर्यवृद्धि श्री के शिष्य वाचक आर्य सन्धि की भगिनी आर्यजया ने तीर्थंकर प्रतिमा का निर्माण कराया। (ए० इ० १, ३९१, स० १९)।

४ ओखरिका—स० ८४ (१६२ ई०) में दमित्र और दत्ता की पुत्री कुटुम्बिनी ओखरिका ने कोट्टियगण के सत्यसेन, , तथा धरवृद्धि की प्रेरणा से वर्धमान प्रतिमा का दान किया, (ए० इ० १९, ६७ न० ४)।

५ कुमारमित्रा—सं० १५ (९३ ई०) में श्रेष्ठी (सेठ) वेणी की पत्नी, भट्टिसेन की माता कुमारमित्रा ने आर्या वसुला के उपदेश से सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना की। यह वसुला आर्या-सगमिका (आर्य जयभूति की शिष्या) की शिष्या थी। (ए० इ० १,३८२, सं० २; (स्मिथ—फ० ९०, न० १)।

६ **कुमारमित्रा**—यह तस्विनी आचार्य बलदिन्न (बलदत्त) की शिष्या थी। इसके पुत्र गंधिक कुमारभट्ट ने अपनी 'सशित, मखित, बोधित' (विचारशील, तप पूत तथा ज्ञानी) माता कुमारमित्रा की प्रेरणा से स० ३५ (११३ ई०) में वर्धमान प्रतिमा का दान किया। लेख से ज्ञात होता है कि यह कुमार मित्रा सन्यासिनी थी, अत ऊपर वेणी की पत्नी जिस कुमारमित्रा का उल्लेख हुआ है उससे इसे पृथक् समझना चाहिये। इन दोनो के समय में भी कुछ अन्तर है।

यहा एक सन्यस्ता स्त्री के पुत्र का होना असगत सा लगता है, परन्तु वास्तविक बात यह प्रतीत होती है कि पहले कुमारमित्रा एक गृहस्थ स्त्री थी। पुत्रोत्पत्ति के बाद सभवत उसे वैधव्य का दु ख भोगना पडा और तब उसने सन्यास ले लिया। सन्यासिनी की दशा में उसने अपने पुत्र को जो अब गृहस्थ धर्म का पालन कर रहा होगा, उपदेश दिया। जैसा ऊपर कह चुके है, मथुरा के अभिलेखो में प्राय पुरुषो की स्त्री उपद्रेशिकाएँ नही मिलती है। परन्तु प्रस्तुत लेख में इसका अपवाद है। (ए० ० १,३८५, स० ७) (**चित्र ६**)

७ **कौशिकी**—यह सिंहक नामक वणिक की पत्नी थी। इसके पुत्र सिंहनादिक ने अर्हत्-पूजा के लिए एक अत्यन्त सुन्दर आयागपट्ट की स्थापना की, जो बनावट मे अचला के आयागपट्ट (स० १) से बहुत कुछ मिलता जुलता है परन्तु उसकी अपेक्षा अधिक कलापूर्ण एव भव्य है। (ए० इ०, २,२०७, स० ३०, स्मिथ, पृ० १४, फ० ७)

८ **खुडा (क्षुद्रा)**—कनिष्क के राज्य काल में स० ५ (८३ ई०) मे देवपाल श्रेष्ठी की पुत्री तथा सेन श्रेष्ठी की स्त्री खुडा ने वर्धमान प्रतिमा का दान किया। (ए० इ० १,३८२, स० १) (चित्र ६)

९ **गुल्हा (गूढ़ा)**—यह वर्मा की पुत्री तथा जयदास की पत्नी थी। इसने आर्य ज्येष्ठ हस्ति की शिष्या आर्या शामा (श्यामा) की प्रेरणा से भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा का दान किया। (ए० इ० १,३८९, स० १४)

१० **गृहरक्षिता**—कनिष्क के वर्ष १७ (९५ ई०) में जिन प्रतिमा का दान किया। (हाल में प्राप्त नवीन लेख, मथुरा स० ग्र० स० ३३८५)

११ **गृहश्री**—स० ३१ (१०९ ई०) में बुद्धि की पुत्री तथा देविल की पत्नी गृहश्री ने आर्य गोदास की प्रेरणा से जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। (ए० इ० २,२०२, स० १५)

१२ **गृहश्री**—स० ८१ (१५९ ई०) में दत्ता की निर्वर्तना से इस महिला ने जिन-प्रतिमा का दान किया। (ए० इ० २,२०४ स० २१) (चित्र १०)

१३ **जयदेवी**—स० ८२ (१६० ई०) में वर्तमान प्रतिमा का दान किया। (नवीन अभिलेख, मथुरा सग्र० स० ३२०८) (चित्र २)

१४ **जया**—यह नवहस्ति की पुत्री ग्रहसेन की वधू तथा शिवसेन, देवसेन और शिवदेव की माता थी। इसने एक विशाल वर्धमान प्रतिमा की स्थापना कराई। (ए० इ० २,२०८ स० ३४) (चित्र ११)

१५. जितमित्रा—यह ऋतुनन्दी की पुत्री तथा गधिक वुद्धि की धर्मपत्नी थी। इसने आर्य नन्दिक की प्रेरणा से स० ३२ (११० ई०) में एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की। (ए० इं० २,२०३, सं० १६) (चित्र ७)

१६ जिनदासी—महाराज वासुदेव के राज्यकाल में स० ८३ (१६१ ई०) सेन की पुत्री, दत्त की वधू तथा एक गधिक की स्त्री जिनदासी ने तीर्थ कर प्रतिमा का दान किया। (फोगल कै०, पृ० ६६, स० बी० २)

१७ जीवनन्दा—जिन प्रतिमा का दान किया (ए० इं० २,२०१, स० १०)

१८ दिना (दत्ता)—इस श्राविका के पति का नाम मतिल, पुत्रो के नाम जयपाल, देवदास, नागदत्त और पुत्री का नाम नागदत्ता लिखा है। स० २० (९८ ई०) में दिना ने आर्य सर्घसिह के आदेश से एक विशाल वर्धमान प्रतिमा की स्थापना की। (ए० इ०, १,३९५, सं० २८)

१९ दिना (दत्ता)—हुविष्क के राज्य काल सं० ४०(११८ ई०) में कुटुम्बिनी दिना (दत्ता) ने ऋषभदेव की प्रतिमा का दान किया। (ए० १,३८६, सं० ८)

२० दिना (दत्ता)—सं० ७९ (१५७ ई०) मे इस श्राविका ने मुनिसुव्रत की प्रतिमा को 'देवनिर्मित वोद्ध स्तूप' में प्रतिष्ठापित किया। डा० व्यूलर, (ए० इ०, २,२०४, सं० २०), स्मिथ (जै० स्तू०,पृ० १२—१३, फ० ६), आदि विद्वान 'मुनिसुव्रत' की जगह 'णन्दि (आ) वर्तस' पढ़ते हैं, परन्तु 'मुनिसुव्रत' पाठ ठीक जान पडता है (देखिए 'वीर अभिनन्दन ग्रथ,' .)। 'वोद्ध' शब्द सभवत. 'वृद्ध' (पुराने) के लिए प्रयुक्त हुआ है। द्वितीय श० ई० के लोगो को ककाली टीले पर स्थित यह स्तूप, जो उस समय से कई शताब्दी पूर्व निर्मित हुआ था, इतना प्राचीन ए आश्चर्यजनक कला वाला लग रहा था, कि उन्होने उसका नाम 'देव निर्मित वोद्ध स्तूप' (देवताओं के द्वारा वनाया गया प्राचीन स्तूप) रख दिया।

२१. दिना (दत्ता)—यह व्रजनन्दिन की पुत्री तथा वृद्धि शिव की वधू थी। इसने एक जिन प्रतिमा का दान किया। (ए० इ०, २ २०८, सं० ३३)

२२ धर्मघोषा—भदंत जयसेन की अन्तेवासिनी (शिष्या) धमघोषा (धर्मघोषा) ने एक प्रासाद का दान किया। (ए० इं०, २,१९९, सं० ४)

२३ धर्मसोमा—यह एक सार्थवाह (व्यापारी) की पत्नी थी। लेख में इसे 'सर्तवाहिनी' (सार्थवाहिनी) कहा गया है। इह महिला ने वाचक आर्य मातृदत्त की प्रेरणा से स० २२ (१०० ई०) में जिन प्रतिमा का दान किया। (ए० इ०, १,३९५, सं० २९) (चित्र १२)

२४ पूसा (पुष्या)—मोगली के पुत्र पुफक (पुष्पक) की भार्या पूसा (पुष्या) ने एक आयागपट्ट का निर्माण कराया। (फोगल—कै०, प० १८६, सं० क्यू० ३) (चित्र १३)

२५ वलहस्तिनी—'श्रमणश्राविका' वलहस्तिनी ने एक वडा तोरण (९' २"—१') प्रतिष्ठापित किया। (ए० इं० १,३९०, सं० १७) (चित्र १४)
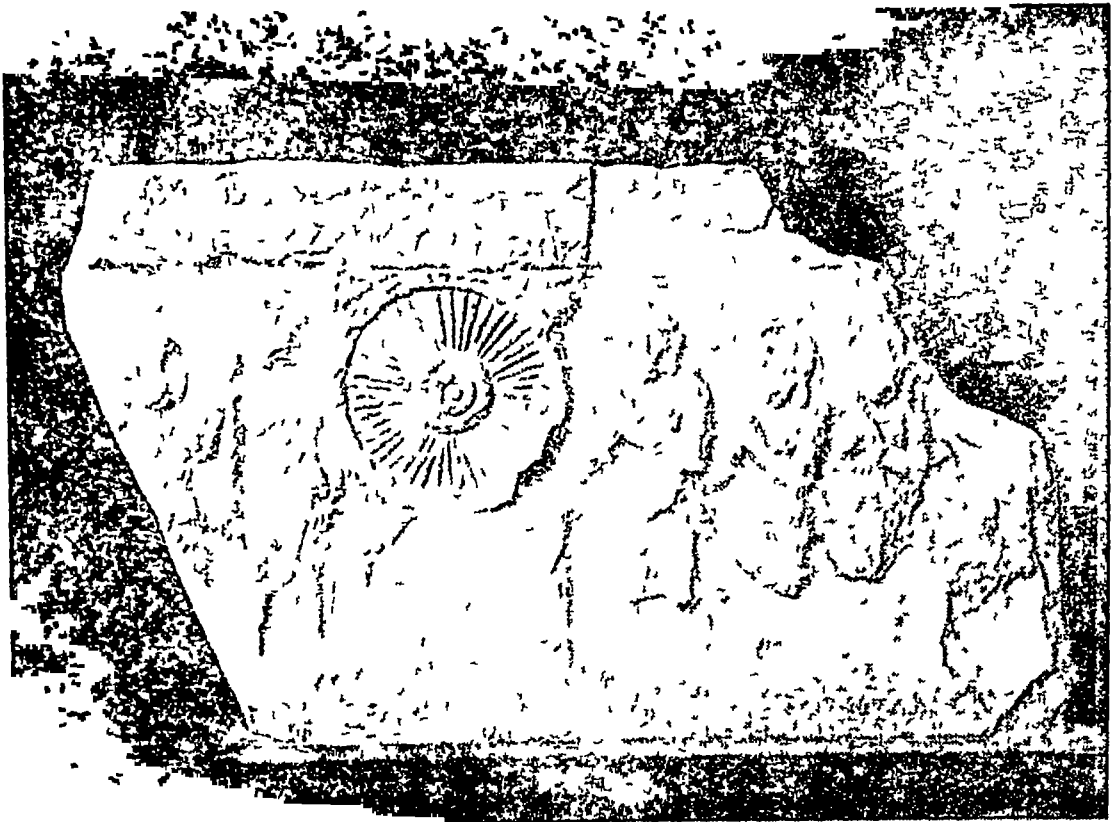
चित्र २ जयदेवी के द्वारा वनवाई हुई वर्द्धमान-प्रतिमा की चरण-चौकी (दे० स० १३)
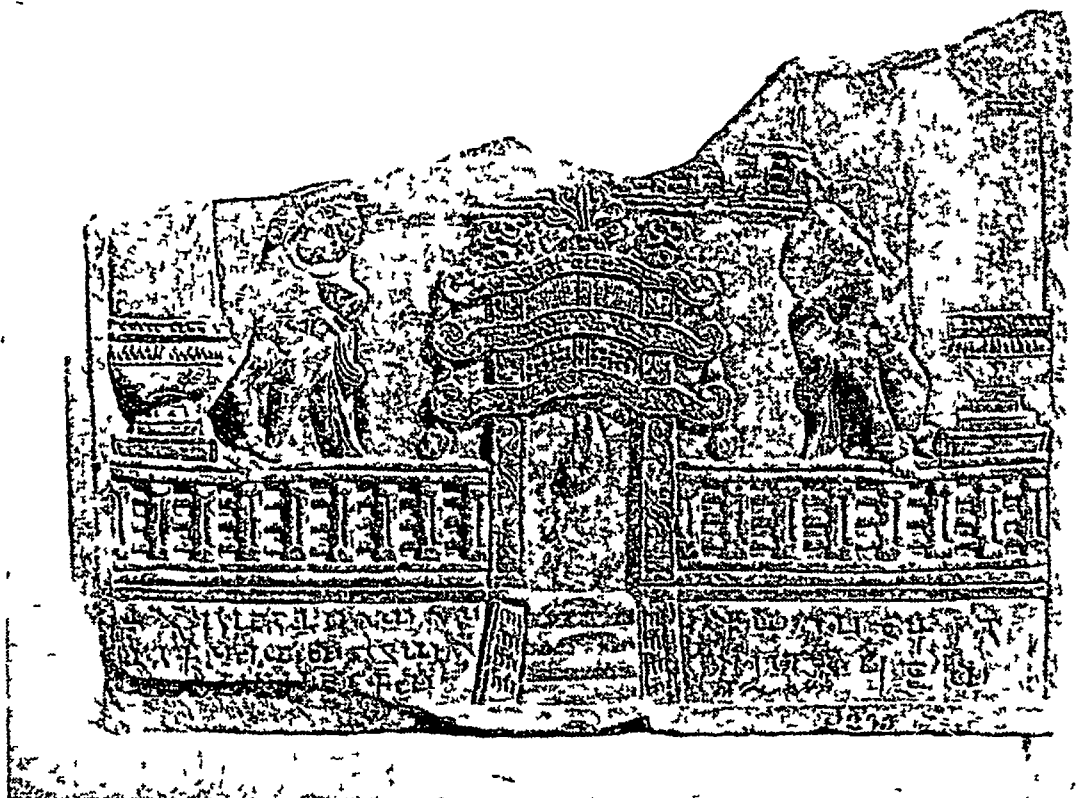
चित्र ३ फल्गुयश नर्त्तकी की भार्या शिवयशा के द्वारा वनवाया हुआ आयागपट्ट (दे० म० ३६)

चित्र ८ कौशिकी शिवमित्रा के द्वारा प्रतिष्ठापित आयागपट्ट का टुकड़ा (दे० स० ३५)

चित्र जितमित्रा द्वारा स्थापित सर्वतोभद्रिका प्रतिमा (दे० स० १५)

चित्र १ ई० पू० प्रथम शताब्दी में अमोहिनी के द्वारा प्रतिष्ठापित आर्यवती का चौकोर शिलापट्ट (दे० स० २)

२६, बोधिनन्दी—ग्रहहस्ति की प्रिय पुत्री बोधिनदी ने दत्त के शिष्य गहप्रकिव के निर्देश से स० २६ (१०८ ई०) मे भगवान वर्धमान की एक बडी प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। (ए० इ० १,३८५ स० ६)

२७ मासिगा—स० १८ (९६ ई०) में जय की माता मासिगाने सर्वतोभद्रिका प्रतिमा का दान किया। (ए० इ०, २,२०२, स० १३)

२८ मित्रश्री—स० १८ (९६ ई०) में अरिष्टनेमि की प्रतिमा का दान किया। (ए० इ०, २,३०२, स० १४)

२९ मित्रा—यह मणिकार जयभट्टि की पुत्री थी और लोहवाणिज (लोहे का व्यवसाय करनेवाले) फल्गुदेव को ब्याही थी। स० २० (९८ ई०) में इस महिला ने कोट्टियगण के अन्तर्गत ब्रह्मदासिक कुल एव उच्चनगरी शाखा के श्रीगह सभोग और वृहन्तवाचक गणि के आर्य सिंह की प्रेरणा से एक विशाल जिन प्रतिमा का दान किया। (ए० इ०, १,३८३, स० ४)

३० यशा—यह शर्वत्रात की पौत्री तथा वन्धुक की पत्नी थी। इसने धन्यपाल की शिष्या धन्यश्रिया के अनुरोध से स० ४८ (१२६ ई०) में सभवनाथ की प्रतिमा का निर्माण कराया। (ए० इ०, १०,११२, स० ५)

३१ रयगिनी (राजगणी)—यह जयभट्ट की कुटुम्बिनी थी। स० २५ (१०३ ई०) मे इसने एक जिन प्रतिमा का दान दिया। (ए० इ० १,३८४, स० ५)

३२ वसु—यह लवणशोभिका नामक गणिका की पुत्री थी। इसके द्वारा बनवाए हुए आयागपट्ट (मथुरा सग्रहालय, स० क्यू० २) पर निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण लेख उत्कीर्ण है—

'नमो आरहतो वर्धमानस। 'आराये गणिकाये लोणशोभिकाये धितु शमणसाविकाये नादाये गणिकाये वसुये आरहातो देविकुल आयागसभा प्रपा शिलापटो पतिस्थापितो निगथाना अरहतायतने सहा मातरे भगिनिये धितरे पुत्रेण सर्वेन च परिजनेन अरहतपूजाये'।

(अर्हंत वर्धमान को नमस्कार। बडी गणिका लोणशोभिका (लवण शोभिका) की पुत्री श्रमणो की श्राविका सुन्दरी गणिका वसु ने निर्ग्रंथ अर्हतो के स्थानपर अपनी माता, बहिन, पुत्री, पुत्र तथा सब परिजनो के साथ अर्हत पूजा के निमित्त एक देव कुल, आयागसभा, एक कुड शिलापट्ट (आयागपट्ट) प्रतिष्ठापित किया)। (स्मिथ जैं० प० ५१, फ० १०३, फोगल—कै०, प० १८४—८६)। अभिलिखित शिलापट्ट (चित्र पर एक स्तूप बना हुआ है, जिसकी पूजा करते हुए मुनि तथा देव दिखाये गये है। स्तूप में प्रवेश करने के लिए नीचे सीढिया और उनके ऊपर एक सुन्दर तोरण-द्वार चित्रित है, जिसके चारो ओर वेदिका का परिवेष्टनी वाडा) है। ऊपर भी प्रदक्षिणा पथ के सूचक दो ऐसे ही वाडे दिखाये गये है। तोरण के दोनो ओर अत्यन्त आकर्षक मुद्रा मे खडी हुई एक-एक युवती प्रदर्शित है। आयागपट्ट के नीचे सीढ़ियो की एक ओर एक पुरुष और दूसरी ओर एक स्त्री दिखाई गई है। ये चारो मूर्तिया सभवत वसु और उसके परिजनो की है। इस आयागपट्ट का समय ई० प्रथम शताब्दी है। तत्कालीन जैन स्तूपो की शैली का पता इस पर चित्रित स्तूप से

लगाया जा सकता है। डा० व्यूलर का अनुमान था कि लघु स्तूपो (Miniature Stupas) की पूजा का प्रचलन बौद्धो और जैनो में ई० आठवी शताब्दी के पूर्व नही था (देखिए 'ए लीजेंड आफ दि जैन स्तूप ऐट मथुरा' ए० १३), परन्तु इस स्तूप को देखते हुए जो ई० प्रथम श० का है, उक्त मत युक्तिसगत नही कहा जा सकता। इस लघु स्तूप के अतिरिक्त से ही अन्य स्तूप मथुरा से प्राप्त दूसरे आयागपट्टो, वेदिका स्तम्भो, सिरदलो आदि पर मिले है, जो कुशाणकाल या उससे पूर्व के हैं। इनसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि बड़े स्तूपो की पूजा तो प्रचलित थी ही उनकी प्रतिकृतिया भी विभिन्न शिलापट्टो एव प्रतिमाओ पर पूजा के लिए अकित की जाती थी। (चित्र ५)

३३. विजयश्री—यह राज्यवसु की पत्नी, देविल की माता तथा विष्णुभव की दादी थी। स० ५० (१२८ ई०) में एक मास का उपवास करने के बाद इसने वर्धमान प्रतिमा की स्थापना की। (ए० इ० २,२०६, स० ३६) (चित्र १६)

३४. शामाढ्या—यह भट्टिभव की पुत्री तथा प्रातारिक (मल्लाह) ग्रहमित्रपालित की भार्या थी। गु० स० ११३ (४३२ ई०) में परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री कुमार गुप्त के राज्यकाल में इस महिला ने कोट्टियगण की विद्याधरी शाखा के दत्तिलाचार्य के अनुरोध से एक जिन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। (ए० इ०, २,२१०, सं० ३९) (चित्र १७)

३५. शिवमित्रा—कौशिकी शिमित्रा (शिवमित्रा) गोतिपुत्र (गौप्तीपुत्र) की पत्नी थी। लेख में यह गोतिपुत्र पोठय तथा शक लोगो के सहार करने वाला कहा गया है। शिवमित्रा ने एक सुन्दर आयागपट्ट की प्रतिष्ठापना की, जिसका इस समय आधे से भी कम एक टुकड़ा बचा है (लखनऊ सग्र० स० जे० २५६)। इस पर मत्स्य युक्त सरोवर में पुष्पित एव मुकुलित कमलो की सुन्दर बेल चित्रित है। (ए० इ० १,३९६, स० ३३; स्मिथ—जै० स्तू० फ० १३) (चित्र सं० ४)

३६ शिवयशा—यह फल्गुयश नर्तक (नट) की भार्या थी। और इसने एक अत्यन्त कलापूर्ण आयागपट्ट लखनऊ सग्र० जे० २५५) का दान किया। (चित्र सं० ३)। इस आयागपट्ट पर बीच में वेदिकायुक्त एक सुन्दर तोरण चित्रित है, जिसके अगल-बगल विभिन्न आभूषणो से अलकृत आकर्षक त्रिभगी मुद्रा में दो सुन्दरिया प्रदर्शित हैं। यह कुषाणकालीन जैन कला का एक ज्वलन्त उदाहरण है और तत्कालीन समाज की कलात्मक अभिरुचि का द्योतक है। (ए० इं० २,२००, सं० ५; स्मिथ—जै० स्तू०, फ० १२)

३७ सिहदत्ता—यह ग्रामिक (गाव के मुखिया) जयदेव की वधू तथा ग्रामिक जमनाग की कुटुम्बिनी (स्त्री) थी। सं० ४० (११८ ई०) में इसने अक्का के उपदेश से एक शिलास्तम्भ तथा एक नर्दनोभद्रिका प्रतिमा का दान किया। (ए० इ०, १,३८७—८८ स० ११)

३८ सोमा—वि० स० १०७१ (११२८ ई०) में वणिक उसराक की भार्या सोमा ने पार्श्वनाथ की प्रतिमा का दान किया (मथुरा सग्र० ह० २८७४।२)

३९ **स्थिरा**—लेख में इस महिला के माता-पिता का नाम देवी और वरणहस्ति, श्वसुर का जयदेव, सास का मोषिनी और पति का नाम कुठ कसुथ दिया हुआ है। इसके द्वारा वाचक आर्य-क्षेरक के अनुरोधसे सर्वतोभद्रिका प्रतिमा स्थापित की गई। (ए० इ० २,२०६, स० ३७) (चित्र १८)

अब उन दानदात्री स्त्रियो की चर्चा की जायगी जिनमें से अधिकाश के नाम दुर्भाग्य से लेखो में टूट गये हैं। उनके पिता, पति, पुत्रादि के नामो से जो लेखो में सुरक्षित हे। उनके सम्बन्ध का पता चलता है।

४० **देव की पुत्री**—स० ९३ (७९१ ई०) में नन्दि के अनुरोध से इस महिला ने, जो हैरण्यक (सुनार) देव की पुत्री थी, महावीर-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। (ए० इ० २,२०५ स०२३)

४१ **धनहस्ति की पत्नी**—इसके पिता का नाम ग्रहदत्त दिया हुआ है। धर्मार्थी नामक श्रमण के उपदेश से इसने एक शिलापट्ट का दान किया, जिस पर स्तूप पूजा का दृश्य अकित है। (ए० इ० १, पृ० ३९२, सं० २२)

४२. **धर्ममित्र की बधू**—इस वनिता ने एक जिन प्रतिमा का निर्माण कराया (फोगल—कैटा० पृ० ७०, सं० वी० १७)

४३ **धर्मवृद्धि की भार्या**—इसके श्वसुर का नाम बुद्धि दिया हुआ है। इस महिला के द्वारा स० ४५ (१२३ ई०) में एक जिन प्रतिमा का निर्माण कराया गया। (ए० इ० १,३८७, सं० १०)

४४. **पुष्य की बधू, तथा पुष्यदत्त की माता**—इसने स० ४७ (१२५ ई०) मे वाचक सेन की निर्वर्तना (अनुरोध) से जिन प्रतिमा का दान किया। (ए० इ० १,३९६, स० ३०)

४५ **प्रिय की पत्नी**—इसके पिता का नाम दास दिया है। स० ८६ (१६४ ई०) मे इस महिला ने आर्या सगमिका की शिष्या आर्या वसुला के उपदेश से एक जिन प्रतिमा का दान किया। इसी वसुला का उल्लेख ऊपर स० ५ में भी आया है। स० १५ (९३ ई०) में इसीने कुमारमित्रा को भी उपदेश दिया था। इन दोनो लेखो के समय मे ७१ वर्षों का अन्तर होने से अनुमान होता है कि वसुला दीर्घ आयु वाली श्रमणा थी। कुमारमित्रा को उपदेश देने के समय यदि वसुला की आयु २५ वर्ष की भी मान ली जाय तो प्रिय की पत्नी को उपदेश देने के समय वह ९६ वर्ष की रही होगी। यह आयु उस काल में, जब कि अधिकाश लोग शतायु होते रहे होंगे, एक तपस्विनी के लिए असभावित नही कही जा सकती। कुमारमित्रा वाले लेख में आर्या सगमिका के गुरु आर्य जयभूति का भी नाम दिया हुआ है, जो प्रस्तुत लेख में नही है। (ए० इ० १,३३८ स० १२)

४६. भटदत्त की वधू—कुमारदत्त की प्रेरणा से इसने वासुदेव के राज्य काल स० ८४ (१६२ ई०) में ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित की। (फोगल—कै०, पृ० ६७, स० वी ४)

४७ भवनक की कुटुम्बिनी—नागनन्दि हरि और ऋद्धिल के अनुरोध से इस महिला के द्वारा एक जिन प्रतिमा का दान किया गया। (ज० यू० पी० हि० सो०, जुलाई, १९३७, पृ० ३, स० ४)

४८ लवदास की भार्या—'मायुरक' (मथुरा-निवासी) लवदास की भार्या ने अर्हत महावीर के सम्मान में एक कलापूर्ण आयागपट्ट प्रतिष्ठापित कराया। (ए० इ०, २,२००, स० ८, स्मिथ—जै० स्तूप०, पृ० १५, फ० ८)।

इस आयागपट्ट (अब लखनऊ संग्र० सं० जे २४८) के मध्य में सोलह आराओ वाला एक धर्म-चक्र है। उसके चारो ओर एक वृत्त में १६ नन्दिपद चिन्ह है। इसके ऊपर वृत्त के अन्दर हाथो में फूल माला लिए हुए ८ दिक्पालिकाओ का वडा आकर्षक चित्रण है। इस वत्त के ऊपर वाले घेरे में कमलमाला का सुन्दर प्रदर्शन है। आयागपट्ट के चारो किनारे ५ भागो में विभक्त किये गये है, जिनमें स्वस्तिक, नन्दि पद, श्रीवत्स आदि चिन्ह तथा सिंहाकृति नर-नारी चित्रित है।

४९ शिवघोषक की भार्या—इसके द्वारा भी एक आयागपट्ट का निर्माण कराया गया। (ए० इ० २,२०७, स० ३१; स्मिथ जै० स्तूप०, पृ० १७, फ० १०)। इस आयागपट्ट (लख० सग्र०, सं० जे० ६८६) का नीचे का कुछ भाग खराव हो गया है, तो भी यह कला की सुन्दर कृति है। इसका निर्माण कुशाण काल के पहले हुआ। वीच में भगवान पार्श्वनाथ ध्यान मुद्रा में विराजमान हैं, उनके चारो ओर नन्दिपद बने है। ऊपर कमल तथा अगूर की सुन्दर वेलें उत्कीर्ण है।

५०. सुचिल की धर्म पत्नी—इसने स० १९ (९७ ई०) में भगवान शातिनाथ की प्रतिमा का दान किया। (ए० इ०, १,३८२—३, स० ३)

निर्देश—ऊपर उन ग्रंथों का हवाला संक्षिप्त रूप में दे दिया गया है। जिनमें उपर्युक्त अभिलेख एवं शिलापट आदि प्रकाशित हुए हैं। इन संक्षिप्त रूपों का निर्देश इस प्रकार समझना चाहिये—ए० इं०—एपिग्राफिया इंडिका; आगे की संख्या क्रमशः जिल्द तथा पृष्ठ को सूचित करती है। सं० से अभिप्राय लेख की संख्या से है।

स्मिथ—जै० स्तू०—दिन जैन स्तूप एण्ड अदर ऐंटिक्विटीज आफ मथुरा—विसेंट स्मिथ द्वारा। प्रकाशित इलाहावाद, १९०१ ई०।

फोगल—कै०—कैटलाग आफ दि मथुरा म्युजियम—जे० पी० एच० फोगल द्वारा। प्रका० इलाहावाद, १९१० ई०।

ज० यू० पी० हि० सो०—जर्नल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, लखनऊ।
फ०— फलक (प्लेट)
संग्र०— संग्रहालय।

नारी का आदर्श

प्रो० विमलदास कौन्देय, एम० ए०, न्यायतीर्थ, शास्त्री

भूमिका—

नारी अनादि काल की पहेली है। इसको हल करने का प्रयत्न भी उतना ही प्राचीन है। फिर भी विश्व के रङ्गस्थल पर नारी ने जो अभिनय दिखलाया है उसके ऊपर विचारको ने अनेक विधियो से चिन्तन किया है। यही कारण है कि हमें नारी के विविध वर्णन मिलते हैं। कोई नारी का प्रशसक है तो कोई नारी का अप्रशसक। नारियो का कहना है कि यह चित्रण तो पुरुषो का है यदि नारियो के हाथ में सत्ता होती तो वे भी पुरुषो के विषय में उसी प्रकार की विविध विचारधाराएँ उपस्थित करती, जैसा कि उन्होंने उनके विषय में किया है। अस्तु, यह तो अवस्थिति पक्ष प्रतिपक्ष को लिये हुए है। तात्त्विको ने वास्तव में, नारी को स्वतत्र मान कर उसके ऊपर अपने स्वतत्र विचार प्रकट किये हैं।

माँरूपी-नारी—

कुछ दार्शनिक लोग जो 'माँ' के आदर्श को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं वे इसको 'महाशक्ति, महामाया, महामोहा, आदि रूपो में विश्व की जननी मानते हैं और उसको वैसा समझ कर उसकी उसी प्रकार की प्रतिष्ठा करते हैं और आराधना करते हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह सिद्धान्त सर्वथा निर्मूल नही है। शक्ति और शक्तिमान् के ऊपर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया जाय तो हमें शक्ति की स्थिति गुण के रूप मे माननी होगी। जिस प्रकार गुण गुणी से पृथक् नही माना जा सकता उसी प्रकार शक्ति शक्ति-मान् से पृथक् नही मानी जा सकती। यही रूप भगवान् और भगवती का है। आदम और हव्वा की कल्पना इसी भाव को लेकर हुई है। ईश्वरवाद में इसके लिये पूर्ण स्थान है जव पुरुष की सृष्टि हुई तो उसके साथ-साथ नारी की भी सृष्टि होनी आवश्यक थी। लक्ष्मी नारायण, सीता राम, अर्धनारीश्वर और उमा इसी प्रकार की कल्पनाएँ है। भारतवर्ष में तो नारी तीर्थ भी है। वगाल में 'माँ' का सम्प्रदाय इस वात का द्योतक है कि शक्ति तत्त्व प्रवान तत्त्व है। वे लोग शक्ति तत्त्व को आदि तत्त्व मान कर शक्तिमान् को उसका कार्य मानते हैं और उसकी प्रतिष्ठापना करते हैं। काली, दुर्गा, तारा, सरस्वती, लक्ष्मी, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, धृति, आदि देवियो की कल्पना भी इसी प्रकार के विचारो को लिये हुए हैं। इस प्रकार के शक्ति तत्त्व को अनाद्यनन्त मानकर जो दार्शनिक भावना उत्पन्न हुई है और उसको जो नारी का रूप दिया गया है वह एक प्रकार का विचारवाद है। विचारवाद में वाह्य लिंग-भेद को

विचारकोटि में न लाकर इस प्रकार के भावात्मक सिद्धान्त स्थापित किये जाते हैं। जैन-सिद्धान्त में भी यदि कोई अनन्त चतुष्टय को अतरग लक्ष्मी या शक्ति मान कर उससे उपयुक्त आत्मा को परमात्मा मान कर इस प्रकार का सिद्धान्त कायम करे तो वहाँ भी गुण गुणी के सिद्धान्त की तरह शक्ति और शक्तिमान् का आदर्श बन सकता है। मेरा विचार है इस प्रकार के सिद्धान्त द्रव्य और भावागत लिंगभेद से उत्पन्न होते हैं और वे किसी न किसी प्रकार घटित होकर तात्विक रूप धारण करते हैं। जैन-सिद्धान्त में द्रव्य स्त्री और भाव स्त्री को लेकर काफी चर्चा की गई है। स्त्री को मुक्ति हो सकती है या नही—इस पर श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायो मे एक सिद्धान्त ही उपस्थित हो गया है जो उनके महान भेद का कारण बताया जाता है। यह है दार्शनिक जगत् की बात, किन्तु हमें तो यथार्थ द्रष्टा के दृष्टि-विन्दु से नारी पर विचार करना है और देखना है कि आखिर यह है क्या ?

नारी-विश्लेषण—

यथार्थवादी के सिद्धान्त में नारी एक जीव है जो मनुष्य जाति से सम्बन्ध रखता है। वह नर से कितने ही अशो में भिन्न है। यद्यपि नारी और नर में बहुत अशो में समानता भी है किन्तु भेद भी कम नही है। शरीर की आकृति को लेकर विचार किया जाय तो हमें प्रतीत होगा कि स्त्री के शरीर में बहुत-सी ऐसी आकृतियाँ हैं जो मनुष्यो से भिन्न हैं। सबसे बडा भेद तो यह है कि स्त्री जननी है और पुरुष जनक है। स्त्री अबला है। पुरुष सबल है। भारत के विभाजन के समय स्त्रियो की समस्या जो स्त्रियाँ पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में रह गई थी या उनको रख लिया गया था—बडी विलक्षण थी। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि स्त्री अबला है और उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब पुरुष कर सकें। अन्यथा वह अपने आपको अवस्थानुकूल परिवर्तित कर पराश्रित ही अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती है। प्रकृति ने उसको सिवाय 'आत्मघात' के और कोई बल प्रदान नही किया है जिससे वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को सार्थक बना सके। इस विचार से इतना तो अवश्य है कि नारी नर से भिन्न है और उसका विचार भी उसी प्रकार से होना चाहिये।

नारी का प्रेरणात्मक रूप—

जैन-दर्शन में आत्मानन्त्य के सिद्धान्त ने प्रत्येक जीव को अनन्त गुणो या शक्तियो का समूह माना है और वे स्वतन्त्र हैं। सबके एक होने पर तो विकास या उन्नति की चर्चा करना ही व्यर्थ होती है। विकास और उन्नति दोनो व्यक्तिगत हैं। समूह मे तो विकास और अविकास, उन्नति और अनुन्नति साथ साथ चलते हैं। जहाँ तक स्त्री या नारी का सम्बन्ध है वह भी अपना विकास या उन्नति कर सकती है। किन्तु यह देखना है कि नारी कहाँ तक विकास कर सकती है ? नारी मनुष्य कोटि का प्राणी होकर भी विकास में मनुष्य या नर के पद को पा सकती है या नही—यह विवादास्पद विषय है। किन्तु यदि अध्यात्म या मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि नर का क्षेत्र नारी के क्षेत्र से विस्तृत और विशाल है। अनुभव और परीक्षण ने इस सिद्धान्त को स्थिर बना दिया है कि विकास में नारी नर से कुछ पीछे है। मनोवैज्ञानिको ने तो स्त्रियो के मस्तिष्क की लघुता परिमाण कृत स्वीकृत की है और उसका विकास भी उतना ही बतलाया है जितना सम्भव है। शरीर विज्ञान

भी नारी को मनुष्य के समान सुदृढ और सहनयुक्त नही स्वीकार करता। व्यवहार और नैतिक शास्त्र की दृष्टि में स्त्री-स्वभाव में वहुत सी कमियाँ हैं जो पूरी नही हो सकती। इन कमियो के दिग्दर्शन से भारतीय और विदेशीय शास्त्र भरे पडे हैं। " Trailty thy name is woman " दुर्वलता तेरा नाम नारी है। इस वाक्य मे स्त्री-स्वभाव का तमाम रहस्य भरा है। यहाँ दुर्वलता शारीरिक भी है और मानसिक भी। अतीत का नारी-इतिहास इसी प्रकार की धारणा का अनुभावक है। इन सब वातो के होते हुए हमें नारी का आदर्श भी दीखता है जो कुछ स्त्रियो ने विश्व के समक्ष उपस्थित किया है। कौन-सा मनुष्य है जो आज सीता, राजीमती, सुलोचना, त्रिशला, मरुदेवी, वामा, वनमाला, मदोदरी आदि स्त्रियो के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट न करता हो और उन्हें आदर्श स्त्री न समझता हो। इनमें वह क्या वात थी जो आज तक उनके गौरव को ऊँचा वढाए हुए है। प्रस्तुत लेख में हमें यही विचार करना है।

सवसे प्रथम नारी मनुष्य के सामने 'माँ' के रूप मे उपस्थित होती है। सब गुणो में, मेरे विचार से, नारी में एक मातृत्व गुण ही ऐसा गुण है जिससे वह अपना गौरव सदा काल कायम रख सकती है। आचार्य मानतुङ्ग ने नारी के लिये लिखा है —

स्त्रीणा शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुत त्वदुपम जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानुसहस्ररश्मिम्
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदशुजालम्॥

"ससार में सैंकडो स्त्रियाँ सैंकडो पुत्रो को पैदा करती है किन्तु, भगवान्! आप सदृश पुत्र को पैदा करने वाली कोई विलक्षण ही स्त्री होती है। सूर्य की हजारो किरणो को सव दिशाएँ धारण करती हैं किन्तु स्फुटायमान किरणो से युक्त सूर्य को पैदा करने वाली पूर्व दिशा ही है।"

मानतुग आचार्य की भक्तामर स्तोत्र में यह कल्पना मातृत्व के गौरव को सर्वोच्च वतलाने वाली है। विश्व के रगमच के खिलाडी स्त्री और पुरुष अपने प्रेम के प्रतीक पुत्र को पैदा करते हैं उसमे 'माँ' का स्थान जननी के रूप में है। वह पुत्र के हितकारिणी के रूप मे उपस्थित होकर उसको जन्म देकर उसका रक्षण करती है। सम्भव है जन्म में उसे कष्ट होता हो किन्तु उसके पश्चात् जो वात्सल्य का समुद्र उसके हृदय में उमडता है उसकी अगाधता का अनुमान कोई नही कर सकता। माता मनुष्य जीवन में सवसे अधिक हिस्सा रखती है। किसी २ ने तो यहाँ तक कहा है कि जो "पालने पर शासन करती है वह विश्व पर शासन करती है।" जननी के गौरव की गाथा सवने गाई है। माता अपने शिशु के लिये क्या-क्या करती है यह वही जानती है जिसे वचपन में मातृसुख का पूर्ण लाभ लिया हो। माँ की ममता, माँ का दुलार, माँ का प्रेम कवियो का विशेष विषय रहा है और उस पर सवने कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। किसी कवि की उक्ति है "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" यह अक्षरश सत्य है। मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि यदि किसी देश, जाति, मनुष्य का उद्धार करना

है तो मातृत्व का आदर्श उपस्थित करो। माताओ के पालने के उपदेश मनुष्य के जीवन में कितने कार्य-कारी होते है यह वहुतो के आत्म-जीवन से स्पष्ट है। जीवन्धर को महापुरुष वनाने वाली उसकी माँ ही थी। नेपोलियन और हिटलर की माताओ ने उनके जीवन को आदर्श वनाने में कितना पार्ट खेला है यह प्रत्येक इतिहासज्ञ जानता है। मनुष्य जीवन-निर्माण मे माता के जीवन का अत्यधिक सम्वन्ध है, इसीलिये मातृत्व के आदर्श की आवश्यकता है।

पत्नी-नारी—

दूसरे पहलू से नारी हमारे जीवन में स्त्री के रूप में अर्थात् पत्नी के रूप में आती है। यही एक सम्वन्ध ऐसा है जो सवसे अधिक विचारणीय है, वास्तव में ससार की सृष्टि शुरू ही यहाँ से होती है। अव तक अर्थात् विवाह के पूर्व नर और नारी दोनो विभिन्न जगतो से सम्वन्ध रखते है। इस समय नारी कन्या के रूप में रहती है। कन्या एक पवित्र भूमि या देवी है। जिसका आदर प्रत्येक पुरुष और स्त्री के हृदय मे होना अत्यन्त आवश्यक है। कन्या–शिक्षण एक राष्ट्रीय और आध्यात्मिक आवश्यकता है जिसके लिये देश के अभिभावको को सजग होना चाहिये कन्या की शिक्षा का कार्य वालको की शिक्षा से अधिक-तर महत्त्व का है। लेकिन इस पर अभी तक समुचित विचार नही किया गया है। स्कूल और कालिजो की शिक्षा ने नारी जगत् में जो विशृखलता पैदा की है उसे देख कर समझदार मनुष्य शिक्षित स्त्रियो से घृणा करने लगे है। कितने ही तो आधुनिक ढग से पठित कन्याओ से विवाह करना ही पसद नही करते—और उसके फलरूप कितनी ही स्त्रियो को आजन्म अविवाहित रहना होता है।

जीवन का ध्येय है ससार को सुन्दर और सुखद वनाना तथा आदर्श गृहस्थ और गृहिणी वनना। इस आदर्श की पूर्ति में वर्तमान युग की नव-शिक्षा-दीक्षित कन्या कहाँ तक सहायक होती है उसके आँकडे अपर्याप्त है। वास्तव में स्त्री एक प्रकार का फूल है वह जहाँ रहती है उस प्रदेश को सुगन्वित करती है। यदि वह गव पैदा करने लगे तो वह जीवन नरक वन जाता है। विवाह के सवध में स्वय वरण की प्रथा जोर पकड रही है। मेरी समझ में नही आता कुछ दिनो के परिचय में जीवन सम्वन्धी गुत्थियाँ किस प्रकार सुलझ सकती है। जहाँ तक मेरा विचार है इसका कार्य गुरुजनो और समाज के अधीन ही रहना ठीक है। उनके आशीर्वाद के साथ जो सम्वन्ध होता है वह सुखद ही होता है। छूट तो सभी नियमो में होती है लेकिन इससे उनकी नियमता नष्ट नही होती। किन्तु सार्थ-कता सिद्ध होती है।

नारी समाज का आधार है। नारी और नर दोनो एक रथ के पहिए है। एक के विना दूसरे का निर्वाह नही। इसीलिये दोनो का अविनाभाव सम्वन्ध वतलाया है। गृहस्थ जीवन नारी के विना चल नही सकता। कहावत है "गृहं हि गृहिणीमाहु न कुड्यकट सहितम्।" गृहिणी का नाम ही घर है कूडे-करकट के ढेर का नाम घर नहीं। सत् गृहिणी देश, कुल, जाति और मनुष्य का भूषण है। गृह-प्रेम का आदर्श भारत का मुख्य आदर्श रहा है। आज भी भारत के सद्‌गृहस्थ अपनी गृहस्थी के जीवन के आदर्श से अपने को गौरवान्वित अनुभव करते है। समाज-जीवन में स्त्री का स्थान मनुष्य से कदापि

कम स्वीकार नही किया जा सकता। वास्तव मे नारी और नर दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। कुछ कमिया पुरुष में हैं जिन्हे नारी पूर्ण करती है और कुछ कमियाँ स्त्री में हैं जिन्हें पुरुष पूर्ण करता है। किन्तु यह अवश्य जानना चाहिये कि दोनो के कार्यक्षेत्र अलग-अलग है यदि इसमें सर्वथा समानता का भाव लाने का प्रयत्न किया जायगा तो भारत का जो आदर्श जीवन है वह नष्ट हो जायगा। न उसमें मनुष्य को ही शान्ति मिलेगी और न स्त्रियो को ही—वल्कि स्त्रियो के अध पतन की अधिक सम्भावना है।

नारी का सहयोग—

नारी को योग्य पति का मिलना उसके जीवन की समस्या का हल है। उसमें कमी रहने से गहस्थ जीवन कष्टमय हो जाता है। गृहस्थ जीवन सन्तोषमय जीवन है। उसमें सयम का पालन और इच्छाओं का निरोध करना पडता है। इस निरोध में ही शान्ति और सुख है। अपनी अवस्था, कुल, धर्म, आदि की मर्यादा का अनुभवन करते हुए ही मर्यादित जीवन व्यतीत करना नारी का आदर्श होना चाहिये। अशान्त नारी अपना ही जीवन दु खमय नही वनाती, किन्तु वह समग्र कुल को अशान्त कर समग्र वातावरण को क्षुब्ध करती है। विवाह समय की सप्तपदी जो दोनो को ग्रहण करनी पडती है वह उनके जीवन को सुसगठित वनाने मे अत्यधिक कार्य करती है। कन्या का विवाह वयस्क अवस्था में ही होना उचित है जिससे वह अपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह समझ सकें। दायित्व से अपरिपूर्ण जीवन भारमय होता है। इसलिए इस पर विचार करके ही समझदार आदमियो ने वाल-विवाह आदि को अनुत्तरदायी कहा है और न वैसा होना ही चाहिये।

नारी-चरित्र की महत्ता—

स्त्री, शान्ति, शक्ति, स्नेह, धैर्य, क्षमा, त्याग, सौदर्य, माधुर्य आदि गुणो की प्रतीक हैं। वह गृह की लक्ष्मी है। लोगो ने उसे जीवनसगिनी बतलाया है। वह राष्ट्र सेविका और विश्व की देवी है। घर का प्रवन्ध सारा उस पर निर्भर है। उत्तम, मध्यम, अधम अतिथियो की सेवा, सुश्रूषा उसके आधीन है। शिशु-पालन उनका मुख्य जीवन का ध्येय है। स्त्री रूप नारी ही जगत् रक्षिणी कहलाती है। वहुत से लोग उसे रसोईघर की रानी या सन्तान पैदा करने की मशीन समझते हैं। और उसका विशेष आदर नही करते। यह उनकी भूल है। नारी का यह अपमान है। उनके गृह मे इस प्रकार नारी का निरादर शोभा नही पाता। वहाँ देवताओ का निवास तो कदापि नही रह सकता। जहाँ हम नारी का आदर चाहते है वहाँ हम उनके द्वारा दूसरो को भी आदरित करवाना चाहते हैं। प्रत्येक नारी का कर्तव्य है वह अपनी सास, ससुर, देवर, जिठानी, ननद आदि के साथ सद्व्यवहार करे। अन्यथा वह अपयश का भाजन बनती है। वास्तव में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि विवाहिता नारी का जीवन कितना दायित्वपूर्ण है उसके दायित्व की सीमा वहुत विस्तृत है। भारत की सन्नारी सीता की तरह सव प्रकार के आदर्शो को निभाने का प्रयत्न करती है। हम चाहते हैं हमारी गृहस्थिनी हमारे सामने देवी के रूप में उपस्थित हो, वह तितली न वने। हमारा विचार है कि भारत के स्वतन्त्रता के साथ-साथ विदेशी असर के कम होने के कारण उनके तितलीपन में अवश्य कमी होगी और वह अपने कर्तव्य को पहचानेगी। पश्चिम का अनुकरण नारियो के जीवन का दु ख का कारण ही सिद्ध हुआ है। हमारा विश्वास है हमारी पत्नियाँ अपने स्वरूप को समझेंगी और बाहरी नकल से अपनी रक्षा करेगी।

पुत्री-नारी—

तीसरा रूप नारी का हमारे सामने कन्या का है। जब मनुष्य के विवाह के उपरान्त कन्या का जन्म होता है तब मनुष्य अनुभव करता है कि स्त्री वस्तु क्या होती है बहुत से मनुष्य कन्या के जन्म के पश्चात् अपनी स्वच्छन्दता को भूल जाते हैं और उनकी स्त्रीजाति में श्रद्धा बनने लगती है। उनके सामने भी अपनी कन्या का योग्य पति के लिये दान देने का प्रश्न उपस्थित होता है। कन्या, नारी के निर्माण का समय है। इस समय वह जिस प्रकार की बनना चाहे बन सकती है। इस वक्त का बहुत कुछ भार तो माता पर रहता है और कुछ पिता पर भी। माता कन्या को चाहे जिस रूप में ढाल सकती है। बहुत सी स्त्रियो का जो दुखमय जीवन बन जाता है उसमें उनकी माताएँ अधिक जिम्मेदार हैं। कहते है कि 'पुत्र पिता के भाग्य से जीता है और कन्या माता के भाग्य मे जीती है।' सत्कन्या उभय कुलवर्धिनी होती है। वास्तव में अच्छी कन्या अपने माँ-बाप के नाम को उज्वल करती है, बाद में अपने पति के घर पहुँच कर उसका घर समुज्वल करती है। कन्या के शिक्षण की समस्या बडी विचित्र है इस दिशा में श्रीमती चन्दाबाई जी ने—जिनके लिये अभिनन्दन-ग्रन्थ पेश किया जा रहा है, एक आदर्श उपस्थित किया है, वह सबके लिए आदर्श है। वास्तव मे कन्याओ का शिक्षण उसी आदर्श के अनुसार होना चाहिये। उनका बाला-विश्राम आधुनिक ढग का न होकर वर्तमान युग की आवश्यकताओ के अनुसार शिक्षण का आदर्श उपस्थित करता है। उनकी सेवाएँ इस दिशा में केवल जैन-समाज के लिये ही नही किन्तु समस्त भारत के लिये उपादेय हैं। कन्या का लालन, पालन, शिक्षण सर्वदा एक शुद्ध वातावरण में होना चाहिये। और उसको भविष्य मे महान पुरुपो की जननी की कल्पना की सम्भावना करके उनके प्रति जो कुछ किया जाय वह थोडा है। भगवान ऋषभ ने स्वय अपनी कन्याओ का लालन, पालन, शिक्षण अपने हाथो ही किया था। भगवान ने ब्राह्मी को समस्त लिपियो का ज्ञान कराके समग्र लौकिक और पारलौकिक ज्ञान दिया था तथा सुन्दरी को ललित कलाओ की शिक्षा देकर कला की प्रतिष्ठापना की थी और वे ही कन्याएँ आदर्श ब्रह्मचारिणी रह कर जगत् के लिए महान् आदर्श उपस्थित कर गई हैं। इसके अतिरिक्त गृहस्थ मार्ग है जिसका अवलम्बन कर कन्या 'वीरसू' बन सकती है।

विधवा—

चौथा रूप हमारे सामने 'विधवा' का है। विधवा वह स्त्री है जिसका पति असमय में उसे छोड कर ससार से उठ जाय। लोगो ने विधवा के आदर्श को समझने मे बडी गलतियाँ की है। एक समय था जब वे पति के साथ जिन्दी जला दी जाती थी। धन्य है लार्ड बेन्टिङ्क को कि वह इस कुप्रथा को नष्ट कर गया और भारत के कलक को मिटा गया। स्वामी समन्तभद्र ने भी अग्निपात को लोक-मूढता बता कर बुरा बतलाया था। आज विधवा को जिन्दा तो नही जलाया जाता। किन्तु और रूप में उसे अनेक कष्ट दिये जाते हैं। गृहस्थी के लोग उसे अशुभ, पापिनी व्यर्थ समझने में तो झिझकते ही नही। किन्तु कुछ अधर्माचारी उनके पुनर्विवाह की योजना करने के लिये नही हिचकते। मैं अभी तक विधवा के विवाह की समस्या नही समझ सका हूँ। विवाह तो कन्या का होता है। विधवा का कैसा विवाह? यह तो विडम्बना है। इससे तो विधवा को एक प्रकार का कष्ट पहुँचाना है। लम्पटी स्त्री का कोई विचार नही। वह जिस प्रकार की व्यवस्था कर ले उसके लिये कोई रुकावट नहीं है किन्तु धार्मिक दृष्टि से विधवा का विवाह उसके जीवन को आदर्श से पतित करना है। भारतीय स्त्री

श्रद्धा और नारी

श्री पं० चैनसुखदास रावका, शास्त्री

ज्ञान और आचार को यदि श्रद्धा का वल न मिले तो वे फलप्रसवी नही हो सकते । अत जरूरत है कि इनको श्रद्धा का सहारा हो, नही तो सारा ज्ञान और सारा आचरण न केवल निरर्थक सिद्ध होगा अपितु हलाहल भी वन जायगा । इसलिए श्रद्धा, ज्ञान और आचरण एक दूसरे के पूरक वन कर ही मनुष्य को मुक्ति दिला सकते हैं । श्रद्धा मूल है और ज्ञान एव आचरण उसके दूसरे अग । श्रद्धा का स्वरूप रचनात्मक है, निर्माण उसीसे होता है । ज्ञान और आचरण में श्रद्धा न हो तो निर्माण एकदम असभव है । इससे श्रद्धा की महत्ता समझी जा सकती है ।

श्रद्धा का स्वरूप समझे विना हम नारी का वास्तविक रूप नही समझ सकते, इसीलिए यह विवेचन है । नारी श्रद्धामय होती है । श्रद्धा ही उसे सती, साध्वी एव पतिव्रता वनाती है । श्रद्धा के विना मातृत्व प्राप्त नही हो सकता । नारी अपने सम्पूर्ण धर्मो को श्रद्धा के महान् आधार पर स्थिर रखकर अपने को धन्य समझती है । नारी की श्रद्धा जव विकसित होती है, तव सेवा, दया, करुणा, अनु-कपा आदि नाना रूपो में वह प्रस्फुटित होती है । श्रद्धा का वल ही नारी को—उसकी भयकर विपत्तियो में भी स्थिर रखता है । उसे विचलित नही होने देता । सीता राक्षस राजा रावण की लका में विलकुल एकाकिनी और असहाय होकर भी श्रद्धा का सवल पाकर जीवित रही थी और रावण की नाना विध विभीपिकाएँ भी उसे भयभीत न कर सकी थी । ससार के प्राचीन साहित्य में नारी का जो चित्रण वलिदानो से सम्वन्वित है वह, उसकी श्रद्धामयता को पाठक के सामने स्पष्ट रूप से लाकर उपस्थित कर देता है । नारी की इस महत्ता के विवेचन में किसी को यह ख्याल करने की आवश्यकता ही नही है, यह सव पुरुष को तुच्छ सिद्ध करने के लिए है । यह हमें निर्विवाद मान लेना चाहिये कि नारी पुरुष की तुलना में अधिक श्रद्धामय है । यदि ऐसा न होता तो वह कभी घर नही वसा सकती । श्रद्धा उसमें कलामयता पैदा करती है और उसीसे सारे गार्हस्थ्य का निर्माण होता है । वह कम से कम साधनो और उपकरणो से अपने आप को पूरा अनुभव करने की आदत अपने में सुरक्षित रखती है और विधाता जैसी भी अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियाँ उसके लिए उपस्थित करता है उन्हें वडे सतोष के साथ सहती है । वच्चे को नौ माह तक पेट मे रखने और उत्पन्न होने के वाद कई वर्षों तक उसके लालन में जो [illegible] और यातनाएँ नारी को सहनी पडती है, पुरुष वध्या की तरह उन्हें कभी अनुभव में ही [illegible] नारी ऐसे भीषण कष्टो को—जिनके कारण कभी-कभी वह मृत्यु का आलिगन करने [illegible] है—अपने सतान के लिए वडी शाति से सह लेती है । श्रद्धा का सहारा नारी [illegible] खल हो जायगी और ऐसे किसी भी उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में उपेक्षा [illegible] ारी का आत्मा है । श्रद्धाहीन होकर न वे स्वय जीवित रह सकती है और न [illegible] रख सकती है । ऐसी श्रद्धावती नारियाँ ही वास्तव में पूजा के योग्य है और उन्ही [illegible] र्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता.—की सूक्ति चरितार्थ होती है ।

कोप्पल कहते है । रहा । इस समय यह

१ पूज्य पिता की त

२ 'अजितनाथ पु

३ 'अजितना

दानचिंतामणि अत्तिमब्बे

श्री विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, मूड़बिद्री

परिचय---

ई० सन् १० वी शताब्दी के अंतिम चरण की बात है। यह विश्वविख्यात राष्ट्रकूट साम्राज्य को तहस-नहस कर चालुक्य साम्राज्य को स्थापित करनेवाले आहवमल्ल का शासनकाल था। इस समय 'आहवमल्लभुजादड', 'विवेकबृहस्पति' आदि बहुमूल्य उपाधियो से विभूषित महामंत्री धल्लप का वड़ा लडका, 'ओरटरमल्ल' नागदेव पूज्य पिता की ही तरह स्वामिसेवाधुरधर हो अनेक युद्धो में विजय पाकर उत्तरदायित्वपूर्ण आहवमल्ल के सेनापति पद को वडी योग्यता से निभा रहा था। सेनापति नागदेव को अत्तिमब्बे एव गुडमब्बे नामक दो सहोदरियाँ सुयोग्य पत्नियाँ थी। इनमें से सिर्फ अत्तिमब्बे को अण्णिगदेव नामक एक लडका था। यहाँ तक तो चरित्रनायकी अत्तिमब्बे के पतिवंश का संक्षिप्त परिचय हुआ। अव विज्ञ पाठक इसके पितृवंश का परिचय भी थोडा-सा अवश्य पा लें। क्योकि पितृवंश भी वैभव में किसी भी दृष्टि से कम नही था।

अत्तिमब्बे का पितामह वेंगिमडलातर्गत कम्मेनाडु के पुगनूर निवासी कौंडिन्य-गोत्रीय 'द्विजाग्रणी' नागमय्य था। नागमय्य के दो लडके थे। एक का नाम मल्लपय्यय और दूसरे का नाम पुन्नमय्यय। इनमें विद्यानिधान, मातृभक्त मल्लपय्यय कवियो का पोषक और स्वयं ज्योतिषविशारद था, साथ ही साथ वडा शूर भी। छोटा भाई पुन्नमय्य अनन्य जिनभक्त तो था ही; साथ ही साथ अपने वड़े भाई पर भी इसे वडी भक्ति थी। कावेरी तीर की एक लड़ाई मे शत्रुओ को काट कर अन्त में इसने वीरस्वर्ग को प्राप्त किया था। सहोदरियो ने (अत्तिमब्बे और गुडमब्बे) भी कविचक्रवर्ती महाकवि पोन्न से 'पुराण-चूडामणि' नामक विश्रुत शांतिपुराण को रचवाया है। महाकवि ने अपनी इस अमरकृति में स्वपोषिकाएँ तथा उनके पवित्र वंश के परिचय को विशद रूप से अंकित किया है। वल्कि महाकवि रन्न ने अपने अजित-नाथ-पुराण में इस वंशपरिचय को और वढ़ाकर लिखा है। मुख्यत: अत्तिमब्बे के उभय कुलवाले जैन ब्राह्मण, वंशपारपर्य से चालुक्य राजाओ की सेवा के लिये दीक्षावद्ध; शस्त्र धारण कर सेना को सम्मुन्नित बनाते हुए समय आने पर स्वामी के लिये अपने प्राणो तक दे डालने वाले, ...चकते। मे अभी अन्यान्य विद्वानो एव कवियो के पोषक; परम जिनभक्त और धर्मप्रेमी थे। चर्... है। विधवा का इनकी वहन गुडमब्बे ये दोनो मल्लपय्य तथा अप्पकब्बे की सुपुत्रियाँ थी। ...ाना है। लम्पटी

अब पाठक प्रस्तुत विषय पर आ जायें। यद्यपि सेनापति नागदेव का गृहस्थ... रुकावट नही है था, परन्तु निर्दयी विधि को यह सहन नही हुआ। फलत बीच में ही नागदेव स्वर्गवा... भारतीय स्त्री

में छोटी बहन गुडमब्बे श्रद्धेय पतिदेव की देह के साथ सती हो गई। पर, बडी बहन अत्तिमब्बे जैन-सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध इस कदाचरण से असम्मत हो अपने एकमात्र कुलदीपक, प्रियपुत्र अण्णिगदेव की रक्षा करती हुई गृहस्थाश्रम में ही रह कर, जैन धर्मप्रतिपादित श्रावकीय कुल व्रतो को यथाशक्ति निरतिचार एव निरतराय आजीवन पालती रही। यद्यपि चरित्रनायकी हमारी अत्तिमब्बे आमरण जैनश्राविका ही रही, फिर भी कठिन से कठिन व्रतो के द्वारा इसने अपने काय को इतना कृश कर लिया था कि कविचक्रवर्ती महाकवि रन्न के शब्दो में इसमें अतनुविरोध (कामपराङ्मुखता) तथा तनुविरोध (देहदडन) ये दोनो गुण एक काल में नजर आते थे।

अजितनाथ पुराण का विवरण—

महाकवि रन्न ने अपनी अमरकृति अजितनाथ-पुराण की रचना ई० सन् ९९३ में दानचिंतामणि के आश्रय में ही की थी। अजितनाथपुराण के प्रारभिक एव अतिम आश्वासो में महाकवि ने अत्तिमब्बे के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। यद्यपि इस वर्णन में परपरागत कविपद्धति की तरह अतिशयोक्तियाँ अवश्य है, फिर भी अत्तिमब्बे के उदार दानगुण, अचल धर्मप्रेम, निरतिचार शीलव्रत और अकलक सदाचार आदि विशिष्ट गुण रन्न के द्वारा जो कहे गये हैं वे वस्तुत दानचिन्तामणि में मौजूद थे। महाकवि को अत्तिमब्बे पर बडी श्रद्धा थी। यही कारण है कि इसने अपनी पुत्री का नाम अत्तिमब्बे रखा था। इस नामकरण में भक्ति के साथ-साथ कृतज्ञता भी छिपी हुई है। तपस्विनीतुल्या अपनी आश्रयदात्री की स्तुतिमालिका में कविचक्रवर्ती के द्वारा भक्तिपूर्वक प्रयुक्त 'जिनपद भक्ते', 'जगत्त्रयजनवदिते', 'भूतिलक-पवित्रे', "चक्रवर्तिपूजिते', 'जिनशासनरुचि' (श्रद्धे), 'जिनधर्मपताके', 'जनकल्पलते', 'महासति', 'उत्तम-गोत्रोद्भवे', 'सद्वृत्ते', 'विनेयचूडामणि', 'शीलालकृते', और 'गुणमालालकृते' आदि गौरवपूर्ण शब्द अवश्य विचारणीय है। अजितनाथपुराण में महाकवि ने लिखा है कि सेनापति[1] अण्णिगदेव की पूज्य मातेश्वरी ने अपने शरीर को उपवास के द्वारा और धन को दान के द्वारा कृश किया है। वल्कि अत्तिमब्बे को जिनजननीतुल्या वताकर यह सती जिस प्रदेश में विद्यमान हो वहाँ पर अग्नि विष आदि से भय नही है और यथेष्ट वर्षा तथा फसल के द्वारा उस प्रदेश का पूर्ण कल्याण होता है यो कवि ने दानचिंतामणि पर की अपनी अव्याज श्रद्धा को स्पष्ट व्यक्त किया है।[2]

कविचक्रवर्ती रन्न ने अत्तिमब्बे की निर्मल कीर्ति के लिये श्वेतपुष्प, गगाजल, मुनिराज अजितसेन की गुणावली और कोपण तीर्थ की उपमा दी है[3]। आचार्य अजितसेन महाकवि के पूज्यगुरु और कोपण तीर्थ वर्तमान हैदरावाद में विद्यमान जैनो का एक सुप्राचीन पवित्र तीर्थ है जिसको आजकल कोप्पल कहते हैं। एक जमाने में यह स्थान श्रवणवेलगोल की ही तरह जैनो का वडा ही पुनीत तीर्थ रहा। इस समय यह एक सामान्य गाँव है जिसकी कोई कदर नही है।

---

१ पूज्य पिता की तरह यह भी चक्रवर्ती का सफल सेना नायक था।

२ 'अजितनाथ पुराण' आश्वास १

३ 'अजितनाथ पुराण' आश्वास १२

चिंतामणि का प्रलाप—

महाकवि रन्न अजितनाथ-पुराण में कहता है कि दानधर्म में बूतुग, नोलवातक, चावुडर और शकरगड आदि एक से एक बड़े अनेक महाव्यक्ति मौजूद थे, किन्तु खेद है कि इस समय वे ससार में नही रहे। आजकल उन सबो का महान् भार वहन करनेवाली एकाकी अत्तिमव्वे है, इसलिए यह सबसे बडी है[1]। इस प्रकार चरित्रनायकी की मुक्तकठ से प्रशसा करता हुआ अत में इस बुरे काल में भी अपने काव्य की प्रशसा करने वाली अत्तिमव्वे पर महाकवि ने अपनी सहज कृतज्ञता स्पष्ट प्रकट की है।

दानचिंतामणि के गुणो की महत्ता कविचक्रवर्ती रन्न के द्वारा अजितनाथ-पुराण के रचवाने से ही व्यक्त नही होती। इसने 'मणिकनकखचित' दो एक नही, १५०० जिन-प्रतिमाएँ विधिवत् बनवा कर सहर्ष दान दी थी। बल्कि प्रत्येक प्रतिमा के लिये एक-एक चित्ताकर्षक, बहुमूल्य मणिघटा, दीपमाला, रत्नतोरण तथा वितान (चदवा) भी। महाकवि रन्न ने अत्तिमव्वे के इस धर्मानुराग की भूरि-भूरि प्रशसा की है। वस्तुत दानचिंतामणि का यह दान सामान्य दान नही है, किन्तु महा-दान है। इसकी महत्ता का उज्ज्वल साक्षी-स्वरूप एक उदाहरण और दिया जाता है। श्रवणबेलगोल में वीरमार्तंड चावुडराय के द्वारा श्री गोम्मटेश्वर की प्रतिमा को स्थापित हु अधिक काल नही हुआ था। शीघ्र ही उसकी महिमा तथा ख्याति देशभर में अवश्य फैली होगी। ऐसी दशा में अत्तिमव्वे सदृश अनन्य जिनभक्ता को उक्त अलौकिक प्रतिमा के दर्शन की महती आकाक्षा का उदय होना सर्वथा स्वाभाविक था। फलत. इसने यह कठिन नियम ले लिया कि मूर्त्ति के दर्शन के उपरात ही मै अन्न लूँगी। मूर्त्ति के दर्शनार्थ अत्तिमव्वे को उत्तरीय चालुक्य राजधानी से दक्षिण के श्रवणबेलगोल में आना पडा। वहाँ पर्वत पर चढकर श्री गोम्मटेश्वर की दिव्यमूर्त्ति के सामने जब दानचिंतामणि खडी हुई तब अकाल में ही मानो जिनभक्ता के मार्गायास-निवारणार्थ यथेष्ट वृष्टि हुई। इस पर महाकवि रन्न कहता है कि यह कोई आश्चर्य की बात नही है। क्योकि भक्तो के पुण्यकार्यों से प्रसन्न हो देव क्या पुष्पवृष्टि नही किया करते हैं। बहुत कुछ सभव है कि अत्तिमव्वे के परिवार में महाकवि भी सम्मिलित रहकर इस घटना को स्वय देखकर ही उसने अपनी कृति में इसका उल्लेख किया हो।

साहित्य-अभियान—

दानचिंतामणि अत्तिमव्वे ने नूतन काव्यो की रचना की ओर ही लक्ष्य नही दिया था, बल्कि पिछले काव्यो की रक्षा की ओर भी। मुद्रणालयो के अभाव के कारण उस जमाने में प्रत्येक ग्रन्थ की प्रत्येक प्रति को हाथ से लिखना–लिखवाना पडता था। ऐसी दशा में यह लिखने की आवश्यकता नही है कि जिस ग्रन्थ की प्रतियाँ अधिक तैयार होती थी उक्त ग्रन्थ का प्रचार उतना ही अधिक हुआ करता था। प्रति करने अथवा कराने वालो के अभाव में उस समय महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण ग्रथ ही क्यो न हो सदा के लिये ससार से उठ जाता था और उसके अमर रचयिता की धवलकीर्ति हमेशा के लिये लुप्त हो जाती थी। इसके लिये एक-दो नही, सैकडो उदाहरण दिये जा सकते हैं। कविचक्रवर्ती महाकवि

१ 'अजितनाथ पुराण' आश्वास १२; पद्य ८

पोन्न-कृत शातिपुराण की भी यही दुर्दशा होनेवाली थी । अत्तिमब्बे के काल में इसकी प्रतियाँ बहुत कम रह गयी थी। उस पर अत्तिमब्बे ने सोचा कि अपने पूज्य पिता का धर्म उनके स्वर्गारोहण के थोडे ही काल के बाद अपने ही समक्ष लुप्त होना ठीक नही है, इस शुभ विचार से इसने शातिपुराण की एक हजार प्रतियाँ तैयार कराकर कर्णाटक में सर्वत्र इसका प्रचार किया । यह बात शातिपुराण की अन्यतम प्रति के अतिम पद्यो से विदित होती है [१] ।

हमारे देश में आजकल हमें पूर्व के ख्यातिप्राप्त अनेक महापुरुषो के सिर्फ शुभनाम मात्र मिलते है, उनकी महत्त्वपूर्ण आदर्श जीवन-घटनाएँ नही मिलती । ऐसी दशा में महाकवि रन्न की कृपा से दान चिंतामणि अत्तिमब्बे की पवित्र सक्षिप्त जीवनी महाकवि के अमर काव्य मे उपलब्ध होना वस्तुत हम लोगो का भाग्य है । साथ ही साथ सर्वतोमुखी महादान से प्राप्त अत्तिमब्बे की दानचिंतामणि यह उपाधि भी सर्वथा अन्वर्थक है ।

शिला-लेखों में चिन्तामणि—

इस प्रकार केवल साहित्य में ही नही, शिलालेखो में भी दानचिंतामणि की महिमा विशेष रूप से अकित है । धारवाड जिलातर्गत गदग तालुक के लक्कुडि नामक ग्राम में वर्तमान जैन मदिर के कतिपय प्राचीन शिलालेख इधर बम्बई-कर्णाटक शासन-सग्रह के भाग में प्रकाशित हुए है [२]। इन शिलालेखो में ५२ तथा ५३ नबरवाले शिलालेखो का सम्बन्ध हमारी अत्तिमब्बे के साथ है । यहाँ पर उक्त शिलालेखो के बारे मे कुछ भी ऊहापोह किये बिना इन लेखो में दानचिंतामणि की जो महिमा अकित है उसे यहाँ पर उल्लेख कर देना ही एकमात्र मेरा अभीष्ट है । यद्यपि ऊपर दो लेखो का सकेत किया गया है, फिर भी इन दोनो को एक ही समझना अनुचित होगा । क्योकि ५२ नम्बरवाला लेख ५३ न० वाले लेख का ही परिष्कृत एव परिवर्द्धित रूप है । बहुत कुछ सभव है कि ५३ नम्बर वाला लेख कारण-वश जब नष्ट होने लगा तब दात्री की कीर्ति रक्षा के हेतु ५२ नबर वाला लेख फिर लिखवाया गया । यो तो यह लेख दानचिंतामणि अत्तिमब्बे के द्वारा पूर्वोक्त लक्कुडि के जिनालय के लिये पूजादिनिमित्त प्रदत्त भूदान आदि का सूचक है, तथापि इसका बहुभाग अत्तिमब्बे के विशिष्ट प्रभाव के वर्णन मे ही भरा पडा है ।

अस्तु, लेख में कवि ने अत्तिमब्बे को पुराण-प्रसिद्ध मरुदेवी, विजयसेना आदि की तुल्या बता कर १५०० पवित्र जिन प्रतिमाओ की निर्मापिका के रूप में सादर स्मरण किया है । साथ ही साथ श्रवणबेलगोल की अकालवृष्टि का उल्लेख अजितनाथ-पुराण की तरह यहाँ पर भी इसने किया है । शासन में प्रशसित दानचिंतामणि की महिमाओ में कुछ निम्न प्रकार है —

"राजा के कहने पर पवित्र जिनप्रतिमा को मस्तक पर धारण करके दानचिंतामणि जब निर्भर गोदावरी मे उतरी तब इसकी महिमा से नदी का प्रवाह एकदम रुक गया ।"

---

१ मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित 'शांतिपुराण' की प्रस्तावना देखें ।

२ S. I I XI-1. Bombay Karnatak Inscriptions. Volume I-Part I.

"मदोन्मत्त हाथी बंधन तोडकर जब स्वेच्छापूर्वक क्रोध से इधर-उधर दौड़ने लगा तब दान-चिंतामणि को निर्भीक पाकर हाथी ने इसके चरणो मे भक्ति से सिर झुकाया।"

"पूज्य जिन-प्रतिमा हाथ से छूट कर जब नदी में गिर पडी, तब दानचिंतामिणि ने यह कठिन व्रत ले लिया कि जब तक प्रतिमा न मिलेगी तब तक मैं आहार ही न लूँगी। तब इसकी महिमा से आठ ही रोज में उक्त जिन-प्रतिमा इसे मिल गई।"

"प्रलयाग्नि की तरह आग ने जब सेना को चारो ओर से घेर लिया तब दानचिंतामणि ने पवित्र जिन-गंधोदक के द्वारा उस भयकर आग को शान्त कर दिया।"

"दोनो सवतियाँ एक साथ चढने पर दानचिंतामणि को दूसरी ने धोखे से नदी पर जब ढकेल दिया तब उस अगाध जल में यह निर्भय इधर-उधर चलने लगी। इस महिमा को देख कर सवति ने भय से अत्तिमब्बे के चरणो पर सिर झुकाया।" आदि।

शासन में कवि ने 'गुणदककात्ति', 'कटकपवित्रे', 'दानचिंतामणि' आदि अत्तिमब्बे की उपाधियो को विस्तार से वर्णन किया है। वस्तुत दानचिंतामणि अत्तिमब्बे एक आदर्श जैन महिला है जिसका अनुकरण करना भारत की प्रत्येक महिला को—किसी भी धर्म की हो—विशेष लाभप्रद है।
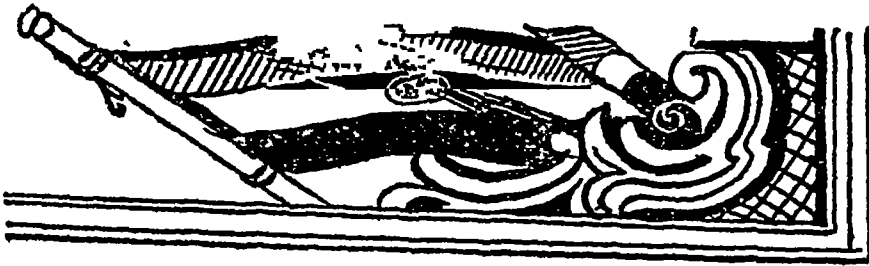
प्राचीन जैन-कवियों की दृष्टि में नारी

श्री प्रो० श्रीचन्द्र जैन, एम० ए०

नारी-वन्दन—

नारी ! तू स्वय एक रहस्य है और तेरी जीवन-गाथा भी रहस्यात्मक है । तू गरिमामयी बनी ! और तू ही इस जगत की सरक्षिका के रूप में समादृत हुई । समय के कुछ परिवर्तनो के साथ ही तेरा स्वरूप परिवर्तित हुआ ! तू वन्दिनी होकर विलास की पुतली मानी गई । तेरा पावन स्वरूप विस्मृत हुआ और तू रसिको के लिए नाना भाव विभाव हाव कुशला के रूप में चित्रित की गई ! विलासी मानव ने तुझे आमोद-परिपूरित मानकर लीला लोल कटाक्षपात निपुणा तथा भ्रू-भगिमा पाण्डता के विशेषणो से समलकृत किया । तेरे अखिल स्वरूप को यह मनुष्य जानने में असमर्थ ही रहा ।

श्रद्धा, ममता तथा सौन्दर्य की साकार प्रतिमा नारी ने जितना कठिन सघर्ष अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये इस जगती तल पर लडा उतना किसी ने भी नही । सहनशीलता की प्रति-मूर्ति इस बदिनी ने अत्याचार सहा, अनाचार स्वीकार किया, तथा नरक यातनाओ को भी सहर्ष अगीकार किया, लेकिन अपने व्यक्तित्व को न मिटने दिया ! जननी, सखी तथा प्यारी की त्रिवेणी नारी ने नत-मस्तक होकर सर्पिणी, बाघिनी, पैनी छुरी, विष की बेलि आदि अपशब्दो को सुना—युगो तक सुना लेकिन प्रतिकार की भावना इसमें प्रस्फुटित न हुई । धरणी के समान गभीर ही बनी रही ! इसने इस अवज्ञा में सदैव भविष्य के सुनहले स्वप्नो के दर्शन किये जो आज साकार बन कर उसके कथित मानस को सान्त्वना दे रहे है ।

कवि की नारी—

आज के कवि ने तेरे स्वरूप को पहिचाना ! तेरी महत्ता को आदर से स्वीकार किया और तुझे मुक्त करने के लिये सबल वाणी में वह कहने लगा —

"मुक्त करो नारी को मानव,
चिरवदिनी नारी को,
युग युग की बर्बर कारा से
जननि सखी प्यारी को,
(पत—युगवाणी)

महाकवि 'प्रसाद' ने इस परमतेजस्विनी नारी को देखिये किन पूत भावनाओं से अचित किया है :—

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग तल में ।
पीयूषस्रोत सी वहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में । (कामायनी पृ० ११४)

जैन कवियों की दृष्टि में नारी—

इस प्रकार राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ नारी का भी स्वरूप परिवर्तित हुआ लेकिन, प्राचीन जैन कवियो की दृष्टि में नारी सदैव एक-सी ही रही। और उन्होने उसके विलासमयी रूप को ही देखा। उस एकागी भावना का परिणाम यह हुआ कि हमारे ये जैन कवि उसे (नारी) सदैव अवगुणो की खान, मायामयी, आध्यात्मिक मार्ग की वाधा तथा माया का प्रतीक मानते रहे। हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल में भी नारी के प्रति ये ही भावनाएँ कवियों के हृदय में निरन्तर स्थित रही—निम्नस्थ उद्धरण इस कथन की पुष्टि में पर्याप्त है —

"नारी की छांई परत, अधा होत भुजग ।
कवीर कहो तिनका क्या हाल है, जो नित नारी सग ।" (कवीरदास)

'नारी नागिन एक सुभाऊ' (कवीर)

"अवम ते अघम अघम अतिनारी ।" (रामचरित मानस)

"नारि सुभाव सत्य कवि कहही,
अवगुन आठ सदा उर रहही ।" (रामचरित मानस)

काम क्रोध लोभादि मद, प्रवल मोह कै घारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि ।(रामचरित मानस—अरण्यकाण्ड)

'अवगुन मूल सूलप्रद, प्रमदा सव दुख खानि' (,, ,, ,,)

'सुन्दर' कहत नारी नरक को कुड यह,
नरक में जाय परै सो नरक पाती है ।—(सुन्दर दासजी)

संकीर्ण दृष्टि और विमुखता—

जैन साहित्य वैराग्यमूलक तथा वीतराग-भावना से परिपूर्ण है अत जैन कवियो ने नारी को हेय ही माना है और उसके सपर्क को घातक वताया है। जैन कवियो की नारी-विषयक यह भावना इस वात की द्योतक है कि वे नारी के केवल एक रूप "कामिनी" को ही देख सके। निश्चयत उनकी यह धारणा सर्वांगीण नही कही जा सकती है।

आइए, कुछ प्राचीन जैन कवियो की नारी विषयक भावनाओ का अध्ययन कीजिये ।

महाकवि भूधरदास जी नारी के शरीर को भयकर वन बताते हुए मन-पथिक को समझाते है —

"मन मूरख पथी, उस मारग मति जाय रे । टेक
कामिनि तन कातार जहाँ है, कुच परवत दुखदाय रे । मन मूरख० ॥१॥
काम किरात वसै तिह थानक, सरवस लेत छिनाय रे ।
खाय खता कीचक से बैठे, अरु रावन राय रे । मन मूरख० ॥२॥
और अनेक लुटे इस पैडे, वरनै कौन बढाय रे ।
वरजत हो वरज्यौ रह भाई, जानि दगा मति खाय रे । मन मूरख० ॥३॥
सुगुरुदयाल दया करि 'भूधर' सीख कहत समझाय रे ।
आगे जो भावै करि सोई, दीनी वात जताय रे ॥ मन मूरख० ॥४॥

नारी को अवगुणो की खान बताते हुए, श्री भूधर दास जी भगवद्भजन के लिये प्राणी मात्र को प्रोत्साहित करते है —

और सब थोथी बातें, भज लै श्री भगवान—टेक
जिस उर अन्तर बसत निरन्तर,
नारी औगुन खान ।
तहाँ कहाँ साहिब का वासा दो खाडे इक म्यान । . . .

(देखिए जैनपद सग्रह, तृतीय भाग, पृष्ठ २६)

एक पद में 'जगत जन जूवा हारि चले' की भावना को प्रकट करते हुए सुकवि भूधर नारी—कामिनी को कौडी बताते है । —देखिए

जगत जन जूवा हारि चले ॥ टेक.
काम कुटिल सँग बाजी माँड़ी, उनकरि कपट छले ॥ जगत जग०॥१॥
चार कषायमयी जहँ चौपरि, पासे जोग रले ।
इस सरवस उत कामिनी कौडी, इह विधि झटक चले । जगत०॥२॥

—जैनपद सग्रह—तृतीय भाग. पृ० ४०

कविवर बुधजन जी नारी को अविश्वसनीय मानते हुए कहते है कि —

'नारिन का विसवास नहि, औगुन प्रगट निहार ।
रानी राची कूवरै, लियौ जसोधर मार ।

(देखिए—बुधजन-सतसई—पृ० ६४).

हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ कवि केशवदास को कौन नहीं जानता ? आपका 'रसिक प्रिया' नामक ग्रन्थ हिन्दी विद्वानो की दृष्टि में उच्चकोटि का है। जैन कवि भगवानदास जी ने इस काव्य-ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए लिखा है:—

वडी नीति लघुनीति करत है वाय सरत वदवोय भरी।
फोडा आदि फुनगुनी मडित, सकल देह मनु रोग दरी।
शोणित हाड मासमय मूरत, तापर रीझत घरी-घरी।
ऐसी नारि निरख कर केशव रसिकप्रिया तुम कहा करी।

(देखिए—हि० जैन सा. का सक्षिप्त इतिहास पृ० १४५–१४६)

इस पद्य में नारी की रूप-रेखा भी स्पष्ट है।

कवि द्यानत जी दश लक्षणधर्म पूजा में नारी की 'विष वेलि से' तुलना करते हुए लिखते हैं —

"कूरे तिया के अशुचि तन में, काम रोगी रति करै।
बहु मृतक सडहि मसान माही, काक ज्यो चोंचे भरै।
संसार में विषवेल नारी तजि गए जोगीश्वरा।
'द्यानत' धरम दश पैडि चढिके शिव महल में पग धरा।"

यह कहना अनुचित न होगा कि स्त्री का यह चित्रण अधूरा है। नारी का दुर्भाग्य है कि जैन-कवि उसके सपूर्ण रूप को न देख सके। मनुष्य ने उसे अपनी सहचरी तो बनाया लेकिन वह उसे कुछ भी सुविधाएँ न दे सका। उसने सदैव अपनी उस अर्द्धांगिनी को अविश्वास और शंका की दृष्टि से ही देखा! पञ्चवटी में हमारे राष्ट्रकवि गुप्तजी ने नारी की दयनीय अवस्था पर जो भाव प्रकट किए है वे प्रत्येक विवेकशील मनुष्य के लिए विचारणीय हैं —

"नरकृत शास्त्रो के सब बंधन,
हैं नारी ही को लेकर।
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर॥

× × ×

अविश्वास हा अविश्वास ही,
नारी के प्रति नर का।
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं,
स्वामी है वह घर का।

महाकवि 'प्रसाद' का नारी विषयक दृष्टिकोण महापवित्र है और प्राचीन विचारधारा वाले विचारको को चुनौती है —

"तुम अजस्र वर्षा सुहाग की,
और स्नेह की मधु रजनी ।
चिर अतृप्त जीवन यदि था,
तो तुम सतोष वनी थी ।
× × ×
जिसे तुम समझे थे अभिशाप,
जगत की ज्वालाओ का मूल ।
ईश का यह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल ॥ (कामायनी)

चिर-गति-शील-नारी—

इतिहास के पन्ने इस बात के साक्षी है कि नारी ने सामाजिक, धार्मिक, तथा राजनीतिक परिवर्तनो में अदम्य साहस तथा आदर्श त्याग के पुनीत कार्य किये है । स्वय बधनो मे रह कर इस तेजोमयी नारी ने अनेक राष्ट्रो को स्वतन्त्र किया है । काव्य-क्षेत्र में इसकी प्रतिभा सर्वथा प्रशसित रही । "अनुलक्ष्मी, असुलधी, अवती सुन्दरी, माधवी आदि प्राकृत भाषा की मुख्य कवयित्रियाँ है । इनके द्वारा रचित सोलह श्लोको की काव्यधारा एव वैदिक सस्कृत काल की स्त्रियो की भाँति ही जीवनदायिनी, प्रेमसगीत, आनन्द व्यथा, आशा-निराशा और उमग से ओतप्रोत है ।" (देखिए—भारतीय नारी की बौद्धिक देन—लेखिका श्री सत्यवती मल्लिक, प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ पृष्ठ—६७०)

"सान्तर राजकुमारी, पम्पादेवी, लक्ष्मीमती (जैन सेनापति गगराज की पत्नी), महिवलदेवी (राजा कीर्त्तिपाल की पत्नी) आदि अनेक ऐसी जैन देवियाँ है—जिनकी धर्म-साधना तथा धर्मप्रभावना अनुकरणीय है ।" (देखिए धर्मसेविका प्राचीन जैन देवियाँ—ले० पूज्य ब्र० चन्दाबाई जैन—प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ६८४)

भविष्य-कामना—

आधुनिक समय चेतना का युग है । आशा है अब प्रगतिशील जैन कवियो की नारी-भावना में आदर्शवादिता , उदारता तथा पावनता के दर्शन होंगे ।

———o———

हिन्दी कविता में नारी का योग

श्री शिवनन्दन प्रसाद एम० ए०, साहित्य रत्न

प्रस्ताविक—

हिन्दी साहित्य की समृद्धि और विकास में नारियो का हाथ कम नही। प्राचीन काल से अब तक सदैव नारी-जाति का सहयोग साहित्य को मिलता रहा है। भक्तिकाल की कृष्णभक्ति शाखा के अन्तर्गत मीरावाई का नाम कौन नही जानता ? "ये मेडतिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के वसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थी। इनका जन्म सवत् १५७३ में चोकडी नाम के एक गाव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज जी के साथ हुआ था।. . विवाह के उपरान्त थोडे ही दिनो में इनके पति का परलोकवास हो गया[1]।'

मीरा—

मीरावाई आरम्भ से ही कृष्णभक्त थी और यह भक्ति दिनानुदिन बढती गयी। भक्तमडली के वीच मन्दिरो में भगवान् कृष्ण का कीर्त्तन करना इन्हें विशेष प्रिय था। लेकिन यह सब इनके परिवार वालो को नही भाता था और फलत वे इनसे रुष्ट रहा करते थे। फिर भी श्रीकृष्ण में इनकी आसक्ति इतनी पक्की थी कि मन्दिरो में जाकर नाचना-गाना और भगवान का कीर्त्तन करना इन्होंने नही छोडा। सत्य के मार्ग से सत्य-निष्ठ हृदय कव डिग सकता है ? परिवारवालो ने इन्हें विप का प्याला भी पिलाने का प्रयत्न किया। कहा जाता है भगवान का प्रसाद समझकर इन्होंने विप भी पी लिया लेकिन उसका इनपर कोई प्रभाव नही हुआ।। परिवारवालो के कुव्यवहार से क्षुव्ध हो ये घर से निकल पडी और द्वारका, वृन्दावन आदि तीर्थस्थानो में घूमघूमकर कीर्त्तन करने लगी। जहा जाती वही जनता की पूजा-भावना इन्हें अनायास मिल जाती। इनके दिव्य व्यक्तित्व का असर ही कुछ ऐसा होता।

मीरावाई भगवान् कृष्ण की आराधिका थी और नकी भक्ति माधुर्य-भाव की थी। भगवान् उनके पति और वे भगवान् की प्रेयसी थी। इनकी दृष्टि में केवल भगवान ही पुरुष थे और शेष सभी नर-नारी स्त्री। अत पुरुषों के सामने लज्जा या सकोच का सवाल ही नही उठता था।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास-प० रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ २२३ (१९९७ सस्करण)

मीरा—

मीरा के काव्य में रहस्यवाद के कुछ छींटें अवश्य हैं, लेकिन विशुद्ध भावात्मक रहस्यवादी कवयित्री इन्हें नही कहा जा सकता। कारण यह है कि भावात्मक रहस्यवाद में निर्गुण ब्रह्म की उपासना होती है। लेकिन मीरा के प्रियतम सगुण थे—सगुण कृष्ण की भक्ति ही मीरा के काव्य का उपादान है। हाँ, जहाँ हठयोग की कुछ बातें आ गई हैं, जो सत्सग के फलस्वरूप सुनी सुनाई बातो के आधार पर ही हैं, वहा अवश्य साधनात्मक रहस्यवाद की छाया है।

भगवत् प्रेम—

मीरा के भगवत्प्रेम के प्रकार का निश्चय इस उदाहरण द्वारा होता है—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥

उपर्युक्त पदो द्वारा इस बात का प्रमाण मिलता है कि (१) मीरा की उपासना माधुर्य-भाव की थी, भगवान् से उनका सम्बन्ध पति-पत्नी भाव से था, और (२) उनके प्रियतम सगुण (कृष्ण) थे, निर्गुण ब्रह्म नही।

मीरा ने छोटे-छोटे गीतो के रूपो में—प्रगीत मुक्तक के रुप में आत्माभिव्यक्ति की है। ये गीत आत्मनिष्ठ भावना तथा तीव्रतम भावानुभूति से समन्वित होने के कारण आदर्श गीतिकाव्य के कोष में सन्निविष्ट किए जा सकते हैं।

भाषा—

मीरा की भाषा में राजस्थानी और ब्रजभाषा का मिश्रण है। भाषा के परिमार्जन का उतना यास नही है जितनी प्रेम की तल्लीनता की अभिव्यक्ति है। 'इनके वनाए चार ग्रथ कहे जाते हैं—'नरसीजी का मायरा, गीतगोविन्द टीका, राग गोविन्द, राग सोरठ के पद'।

सहजोबाई का स्थान—

भक्तिकाल में मीरा के अतिरिक्त दूसरी कवयित्री सहजोवाई हुई। ये सन्त काव्य के अन्तर्गत आती हैं। इनकी रचनाएँ सधुक्कड़ी वोली में हुईं। कवीर, दादू, मलूक, शिवदयाल आदि की परम्परा के सिद्धान्त और भाषा इनकी रचनाओ के उपादान हैं। निर्गुण ब्रह्म की उपासना इनकी प्रधान विशेषता है।

रीति काल की संकीर्णता—

रीतिकाल में नारी के अग-प्रत्यग का सौंदर्य चित्रण, अलकार-विधान आदि काव्य के प्रधान विषय थे। यह हिन्दी साहित्य का अधकार-युग-सा था। अतएव इस युग की धारा में योग देना नारी

की महिमा और मर्यादा के अनुकूल नही होता । अत. भक्तिकाल के बाद आधुनिक काल में ही हम काव्य क्षेत्र में नारियो के दर्शन करते है ।

आधुनिक काल की नारी-कवयित्रियो में सर्वश्री महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामेश्वरी देवी 'चकोरी', चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा' आदि के नाम उल्लेखनीय है । इनमें भी प्रथम दो विशेष लोकप्रिय है ।

महादेवी वर्मा—

श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य ग्रंथ निम्नलिखित है—

१ नीहार २ रश्मि ३. नीरजा ४ साध्यगीत ५ यामा ६ आधुनिक कवि ७ दीपशिखा

वर्माजी रहस्यवाद की एकमात्र आधुनिक कवयित्री है ;। मीरा के ही समान इन्होने भी परमात्मा की उपासना माधुर्य भाव से की है । इन्होने भी परमात्मा को प्रियतम और अपनी आत्मा को प्रेमिका मानकर कविता की है । लेकिन अन्तर यह है कि मीरा के प्रियतम सगुण है, महादेवी के निर्गुण । असीम अनन्त ब्रह्म के प्रति प्रणय-निवेदन के कारण महादेवी का काव्यमाधुर्य भाव भरित भावात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत है ।

महादेवी की कविता—

मीरा के समान ही महादेवी ने भी प्रगीत मुक्तको में रचना की है । महादेवी की कविताओ में भी आत्मनिष्ठ भावना का प्राधान्य है, एक गीत में एक भाव की अभिव्यक्ति है, और भावना का चरमोत्कर्ष है । अत गीतिकाव्य की दृष्टि से इनका काव्य भी श्रेष्ठ है । मीरा से अन्तर यह है कि मीरा के काव्य में उल्लास है, महादेवी के काव्य में प्रधानत करुणा । दूसरा और सबसे बडा अन्तर है अभिव्यजना-प्रणाली को लेकर । महादेवी की भाषा परिष्कृत परिमार्जित है । उसमें अलकार विधान, छन्द योजना तथा रसव्यजना की बारीकियो का ध्यान रखा गया है । शब्द-चयन में सचेत सावधानी दृष्टिगत है । एक एक शब्द सप्राण, सप्रयोजन है । कोमल-कान्त पदो के अन्दर हृदय की करुण भावुकता की अभिव्यक्ति महादेवी के काव्य में बडी सुन्दर हुई है । एक उदाहरण देखिए—

क्या पूजा, क्या अर्चन रे ।
उस असीम का सुन्दर मन्दिर
मेरा लघुतम जीवन रे ।
. . . .
पिय पिय जपते अधर,
देता पलको का नर्त्तन रे । (दीपशिखा)

महादेवी की प्रकृति—

महादेवी के काव्य मे प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति का अनेक रूपो में उपयोग कवयित्री ने किया है। लेकिन सर्वत्र प्रकृति चेतनावान् प्राणवान, सजीव है। मानो वह किसी विराट् सर्वव्यापी चेतन सत्ता का अगभूत, अथवा उसकी साकार अभिव्यक्ति है। कही प्रकृति एक विराट् अप्सरी के रूप में चित्रित है—

लय गीत मदिर, गति ताल अमर,
अप्सरि ! तेरा नर्त्तन सुन्दर !
आलोकतिमिर सिर असित चीर,
सागर गर्जन रुनझुन मजीर,
उडता झझा में झलक जाल,
मेघो में मुखरित किकिणि-स्वर !
रविशशि तेरे अवतस लोल,
सीमत जटित तारक अमोल,
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र धनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद निकर !
अप्सरि ! तेरा नर्त्तन सुन्दर !
(नीरजा)

कही प्रकृति में अपने वैयक्तिक जीवन का निक्षेप है—

प्रिय साध्यगगन मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुधला विराग,
प्रिय, अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रगीले घन !
(साध्यगीत)

कही प्रकृति दूती के रूप में कही नायिका की रगशाला वनकर आई है—

जाने किस जीवन गी सुधि ले,
लहराती आती मधु-बयार !
तारक लोचन से सीच सीच
नभ करता रच को विरज आज।
बरसता पथ में हर सिगार
केशर से चर्चित सुमन लाज !
कण्टकित रसालो पर उठता है

पागल पिक मुझको पुकार !
लहराती आती मधु-वयार !
('साध्यगीत')

इस प्रकार प्रकृति का अनेक रूपो मे चित्रण महादेवी ने किया है

सुभद्रा कुमारी चौहान—

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान भी नवयुग की कवयित्रियो में अग्रगण्य हैं। महादेवी के समान इनके काव्य का सम्बन्ध आत्मा-परमात्मा से नही है, वरन् राष्ट्रीय सग्राम तथा पाविारिक प्रेम से है। परिवार और समाज इनकी कविताओ के विषय हैं। 'मुकुल' इनकी रचनाओ का सग्रह है। 'वालिका का परिचय' पारिवारिक प्रेम से सम्वन्व रखनेवाली कविता है। 'झासी की रानी' 'जलिया-वाला वाग में वसन्त' आदि कविताओ की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन है। सुभद्रा ने केवल काव्य में ही राष्ट्र-प्रेम को वाणी नही की, वरन् व्यक्तिगत जीवन में भी उसकी अवतारणा की। इसी हेतु उनके काव्य मे भावात्मक सच्चाई (Emotional Sincere) के तत्त्व वर्त्तमान हैं। कुछ पक्तियाँ देखिए—

सिहासन हिल उठे, राजवशो ने भृकुटी तानी थी !
वूढे भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सवने पहचानी थी,
दूर फिरगी को करने की सवने मन में ठानी थी'!
चमक उठी सन सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी,
वुन्देले हरवोलो के मुह,
हमने सुनी कहानी थी।
खूव लड़ी मरदानी वह तो
झासी वाली रानी थी।

उपसंहार—

यहाँ स्थानाभाव से कुछ प्रमुख कवयित्रियो का ही आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। लेकिन इनके अतिरिक्त भी वहुत सी स्त्री लेखिकाओ और कवयित्रियो ने हिन्दी काव्य-भाण्डार को सुशोभित किया है जिनका महत्त्व कम नही।

कला-जगत को भारतीय नारी की देन

श्रीमती विद्याविभा एम० ए०

प्रस्तावना—

कला किसी भी देश की सस्कृति की प्रतीक है और नारी उसकी सरक्षिका। भारतीय नारी ने अपने वैभव से कला-जगत् को वहुत सम्पन्न वनाया है। न जाने उसने अपने किन-किन रूपो मे कवि, लेखक और चित्रकार को प्रेरणा दी है। खेतो में अनाज काटती हुई कृषक-वालाएँ बडी भली प्रतीत होती है। उन समय वे जो गीत गाती हैं वे खेत और खलिहानो के गीत होते हैं। उपयोगिता और मनोरजन का कैसा सुन्दर सामञ्जस्य है! रात्रि को घर के कामो से फुरसत पाकर वे एक जगह एकत्रित होकर नृत्य करती हैं। यह उनका सामूहिक नृत्य होता है। गुजरात के गर्वानृत्य का इसी प्रकार आविर्भाव हुआ। इसमें स्त्रियाँ रग-विरगे लहँगे और ओढने पहन घेरा वाँध ताली वजा कर गाती और नाचती हैं। अव तो यह नृत्य दीपक और डडियो तथा गोप से भी होने लगा है। इसी प्रकार राजस्थान में भीलो का नृत्य प्रसिद्ध है। इसमे स्त्री और पुरुषो की मिली-जुली सख्या होती है। पुरुषो के हाथ मे तीर कमान और स्त्रियो के हाथ मे अनाज काटने का हँसिया होता है। वे दोनो ओर पक्ति वना कर खडे हो जाते हैं और अपने लोकगीत गाते हुए नाचते हैं। उसमे पुरुष अपने शिकार के अनुभव सुनाते हैं और स्त्रियाँ अपने खेत की वाते वताती हैं। इनमें प्राकृतिक दृश्यो का वडा मनोहर वर्णन होता है। राजस्थान मे पनघट से पानी के घडे सिर पर उठा कर लाने वाली रमणियाँ भी अनेक भावुक हृदयो का आलम्वन वन गई हैं। महाकवि बिहारी तो अपने हृदय में गडी उनकी चितवन को लाख भुलाने पर भी नही भूल सके हैं और नायिका भेद वर्णन करने वालो ने तो उनमें न जाने कितनी नायिकाओं के दर्शन किये हैं।

कला क्षेत्र में देन—

भारतीय नारी ने प्रेरणा देने के साथ-साथ कला जगत् को अपना सक्रिय सहयोग भी दिया है। भारतीय नृत्यकला की दो प्रमुख प्रणालियो, मनीपुरी और भारत नाट्यम् की जन्मदाता महिलाएँ ही तो हैं। मनीपुर भारत और ब्रह्मा की सीमा पर एक राज्य रहा है। यहाँ शरद्पूर्णिमा की रात को युवतियाँ युवको के साथ कृष्णलीला के गीत गाकर सामूहिक नृत्य किया करती थी। उनकी शीशो से जडी हुई पोशाक चाँदनी मे चमाचमा उठती थीं। अव तो यह नृत्य अत्यन्त लोकप्रिय हो गया है। नारी की प्रमुखता के कारण यह नृत्य कोमलता से भरा हुआ है। इसमें स्त्रियाँ गहरे रग का लँहगा पहनती हैं जिन पर शीशो का काम होता है। तग मखमली जडाऊ चोली और एक सफेद मलमल का घुटनो तक लँहगा

जिसका किनारा सुनहरा होता है। सिर पर एक नुकीली टोपी जिस पर से सफेद बारीक कधों तक चुन्नी डाली जाती है। पोशाक के साथ कमरपट्टा और आभूषण भी होते हैं। यह वेष-भूषा अत्यन्त चित्ताकर्षक प्रतीत होती है।

भारतनाट्यम् भी दक्षिण में स्त्रियो की देवदासी प्रथा के कारण प्रचलित हुआ। माता-पिता जब कृष्ण के प्रेममय स्वरूप पर मुग्ध होकर अपनी कन्याओ को मदिर की मूर्ति पर चढा देते तो उसका विवाह देवता से हो जाता था। वे देवदासियाँ कहलाती थी। अपने देवता को प्रसन्न करने के लिये वे अनक हाव-भाव प्रदर्शित करती। यही नृत्य के रूप मे विकसित होकर भारतनाट्यम् हुआ। भारत में बाला, सरस्वती, रुक्मिणी देवी, तारा चौधरी और राधा श्रीराम भारतनाट्यम् के लिये प्रसिद्ध हैं।

चित्र कला में नारी—

यही क्यो, चित्रकला में भी हमारी बहनें काफी दिलचस्पी लेती रही है। त्योहारों के अवसर पर तो यह एक आवश्यकता बन गई है। होली, दिवाली पर देहातो मे स्त्रियाँ घर लीप-पोत कर आँगन और चबूतरो पर 'माँडने माँडती' हैं, 'चौक पूरती' है, 'रागोली' करती है और 'अल्पना' बनाती हैं। यह काम बडा कलात्मक होता है। दक्षिण भारत में तो प्रतिदिन बाहर का द्वारा धोकर प्रात काल सुहागिन स्त्री हल्दी कुकुम से चौक पूरती है। नागपचमी जैसे त्योहारो को दीवार पर सुन्दर-सुन्दर रग-बिरगे नाग बनाती हैं। शीशो के टुकडो से दीवार पर कितने सुन्दर फूल-पत्ते बनाती हैं। वे जो कढाई का काम करती है उसमें भी बडी कलापूर्णता से काम लेती हैं। दिवाली पर लक्ष्मीपूजा के लिये कागज का किला बनाया जाता है। उसे स्त्रियाँ ही बनाती हैं। उसमें बुर्जें, सतरी-घर, कमरे आँगन सब कुशलता से बना कर वे अपनी स्थापत्य-कला के ज्ञान का परिचय देती हैं। राजस्थान मे तो मूर्तियाँ बनाने तक में स्त्रियाँ पुरुषो का हाथ बँटाने लगी हैं।

आज की प्रगति—

यह तो हुई हमारी प्राचीन परम्परा को अपनाने वाली महिलाओ की बात। आजकल की प्रगतिशील नारियाँ तो कला के क्षेत्र में तीव्र गति से आगे बढ रही हैं। वे पुरुष के विज्ञान भरे जीवन मे कला की कोमलता उडेल कर देश को सत्य, शिव और सुन्दर बनाना चाहती है।
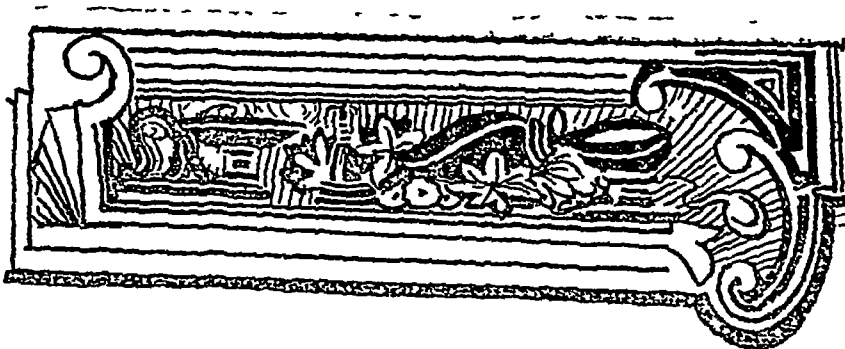
वैज्ञानिक क्षेत्र में महिलाओं की देन

सुश्री कुमारी रेणुका चक्रवर्ती विदुषी

नारी की विकसित चेतना—

महिलाओ के विषय में अभी भी लोगो की भ्रान्त धारणाएँ है। आजकल के शिक्षित वर्ग में भी ऐसे व्यक्ति देखने को मिल सकते हैं जो उन्हें अपनी इच्छापूर्ति का साधन और पैर की जूती से कम नही समझते। उनकी यह धारणा सर्वथा मिथ्या ही है। महिलाएँ किसी भी क्षेत्र में कभी भी पीछे नही रह सकती यदि उन्हें पर्याप्त अवसर दिया जाय। आज की नारी प्रत्येक क्षेत्र में स्वावलम्बी बनने की ओर तत्पर है जो एक सीमा तक उचित ही है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रो में पुरुषो के समान ही स्त्रियाँ भी अग्रणी रही हैं व रहेंगी, इसमें कोई सन्देह नही।

वैज्ञानिक-कार्य-उत्कर्ष—

आपने महिला आविष्कारको के विषय में बहुत ही कम सुना होगा। और शायद इसीलिए आप यह भी सोचते होगे कि इस क्षेत्र में महिलाएँ पुरुषो की बराबरी नही कर सकती। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो मैं तो यही कहूँगी कि आपकी यह धारणा गलत है। अपने दैनिक जीवन में हमें नित्यप्रति जिन छोटी छोटी चीजो का आश्रय लेना पडता है और जिनके विना हमारा काम नही चल सकता, उनमें अधिकाश महिला-आविष्कारको की ही देन है।

हमारी, आपकी तथा शिक्षितो की वात तो जाने दीजिए, अधिकांश कृषिकर्मी भी इस वात से अनभिज्ञ होगे कि आलू निकालने के यत्र का आविष्कार सवसे पहले फ्रास की एक महिला वैज्ञानिक मैडम जिलेट द्वारा किया गया था। फसल काटने के यत्र का आविष्कार भी सवसे पहिले सन् १८५० में वर्लिंगटन को एक महिला आविष्कारक एलिजावेथ स्मिथ द्वारा किया गया था। विजली से चलने वाली डोगियो (जो कि पाश्चात्य देशो में काफी प्रचलित हैं) का आविष्कार भी मैडम डशेफर ने किया था। धूम्रपान के लिए उच्चवर्ग के लोग जिस पाइप का उपयोग करते हैं उसका आविष्कार मैडम विलोट ने किया था। इस पाइप की डिजाइन आदि की रूपरेखा सोचने में उन्हें काफी समय तक वडा परेशान होना पडा था। इस पाइप में एक विशेषता यह है कि निकोटिन (तम्वागू का विष) अन्दर नही पहुँचने पाता। उपर्युक्त आविष्कारो के सम्वन्ध में एक विशेष वात ध्यान में रखने की यह है कि ये यद्यपि हैं तो महिलाओ द्वारा किये गये पर उपयोगी हैं पुरुषो के लिए।

कल्पनात्मक आविष्कारो के क्षेत्र में भी स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे नही हैं। इस क्षेत्र मे महिलाओं ने बड़े ही साहस व निर्भयता का परिचय दिया है। उनके द्वारा किये गये बहुत-से छोटे-छोटे आविष्कार तो ऐसे हैं जो इतिहास में भुलाये जा चुके है और अब किसी के द्वारा कभी याद नही किए जायगे। उदाहरणार्थ कुमारी आरबैक ने एक ऐसे कघे का आविष्कार किया जिसके 'दाँतो' से तैल अपने आप निकलता था तथा उसके 'दाँत' सिर को कभी किसी प्रकार का नुकसान नही पहुँचाते थे। अमेरिका की एक महिला श्रीमती वैशेट ने सन् १८९० में बच्चो के कानो के लिए एक ऐसे यत्र का आविष्कार किया जो उनके कानो को आवश्यकता से अधिक वढने नही देता था। उसी वर्ष मैडम हैनरिट प्लम ने रेलवे इजिनो के लिए एक विशेष प्रकार के 'वेन्टीलेटर' (वायु का सचालन करने तथा मलिन वायु हटाने का साधन) का आविष्कार किया जो बाद में घरेलू उपयोग में आने लगा।

२० वीं सदी की वैज्ञानिक नारी—

२० वी सदी में गृहसज्जा व सौन्दर्य-प्रसाधन के क्षेत्र मे भी बहुत-से आविष्कार किए गए। १९२४ में मैडम बोहेन ने फलो को ताजे बनाये रखने के लिए पात्र तथा मेडम वेलेन्टिन ने टूथब्रुश का आविष्कार किया। एक जर्मन महिला मैलेबोल्फ ने दाँत साफ करने के लिए एक विशेष उपकरण का आविष्कार किया।

सन् १९०९ में एक अमेरिकन महिला इडानटिन ने वस्तुओ के यातायात के लिए एक विशेष प्रकार के बक्सो का आविष्कार किया जिनमें रखने से फलादि बिगडते नही थे। सन् १९३० में श्रीमती बोल्टन कडाही व खाना पकाने के एक विशेष वर्तन के आविष्कार के लिए प्रसिद्ध हुई।

अभी कुछ वर्षों पहले की बात है, मैडम डि मेन्टेनन ने राजा लूई चौदहवें के मत्री कोलवर्ट के द्वारा आविष्कृत बिजली के चूल्हे में काफी एव आवश्यक सुधार किए। ये सब तो छोटे-छोटे से आविष्कार हैं जिन्हें आज लोग भुला चुके हैं और जो अब शायद ही फिर कभी याद किए जाय पर इनके अतिरिक्त कुछ और भी बडे बडे आविष्कार हैं जिनके कारण उनके आविष्कारको का नाम आज विश्व में प्रसिद्ध है और जो अत्यन्त ही महत्व के आविष्कार हैं। प्राचीन मिस्र में महिलाओ ने बहुत ही ऐसी औषधियो का आविष्कार किया था जो व्याधियो से मुक्त करने में अचूक थी। मिस्र में उनकी गाथाएँ आज भी गाई जाती हैं। बेबलीन में रानी सेमीरा मिस ने सिंचाई के लिए नहरो, टाइल्स व सेना के लिए रथो का आविष्कार किया था। इतिहासकारो ने यह भी स्वीकार किया है कि राजा बिञ्चेह की रानी ने ही सबसे पहले हवा द्वारा भेजने की विधि की कल्पना की थी। आजकल दर्जी लोग सुई की नोक की चोट से बचने के लिए उँगली में जो टोपी पहिनते हैं, उसकी आविष्कारक एक डच महिला मिरफेना वान बेन्सहोटन थी। 'कैमेनबर्ट पनीर' जिसका आज अग्रेजी पढे लिखे बाबू लोग, अधिक उपयोग करने लगे है, की आविष्कारक मेरी हेटेल एक फ्रेंच महिला थी। सन् १८२५ में सबसे पहिल माचिस का आविष्कार एक जर्मन महिला फ्राऊ-मर्कल द्वारा किया गया था। आवाज न करनेवाले टाइप राइटर के आविष्कार की योजना, सबसे पहले रूमानियाँ की रानी एलिजाबेथ ने सन् १८९९ में बनाई थी।

अभी तक की सबसे अधिक प्रसिद्ध महिला वैज्ञामिकोमें मैडम क्यूरी हैं जिन्होने लगभग सन् १९०० में रेडियम का आविष्कार किया । उनके इस आविष्कार को सारा ससार अच्छी तरह जानता है अत कुछ कहना व्यर्थ ही है ।

अभी हाल की महिला वैज्ञानिको मे दो फ्रेंच महिलाएँ आती हैं जिन्होंने गाढे बैंगनी रग की किरणो द्वारा एक विशेष प्रकार की मच्छड भगाने की औषधि का आविष्कार किया । अभी वे अपने इस प्रयोग को और भी आगे बढाने वें तत्पर हैं । यदि ये अपने इस प्रयोग में सफल हुई तो इसमें कोई सन्देह नही कि ससार में उनकी काफी अधिक ख्याति होगी और वे पिछली महिला आविष्कारको के समान जल्द ही न भुलाई जा सकेंगी ।

नारी की असमर्थता—

महिलाओ को दैनिक कार्यक्रम से अवकाश कम मिलता है । यही कारण है कि आविष्कारो के क्षेत्र में बहुत कम महिलाओ का नाम सुनाई देता है । यदि उन्हें भी पुरुषो के ही समान पर्याप्त अवकाश मिले तो कोई आश्चर्य नही कि वे उनसे भी आगे बढ निकलें व महत्वपूर्ण आविष्कार कर डाले ।

गृह-लक्ष्मियाँ

श्री पं० नाथूलाल जैन, साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ, शास्त्री

विश्लेषण—

गृह ईंट, चूना, मिट्टी-पत्थर आदि अचेतन वस्तुओ से बना हुआ नही कहलाता, किन्तु गृह गृहिणी को कहा जाता है। जहा सुयोग्य स्त्री होती है, वास्तव में घर वही है।

किसी भी सन्तान का निर्माण, चाहे वह पुत्र हो या पुत्री, उसके गर्भावस्था में आने से ही प्रारभ हो जाता है। माता और पिता के पवित्र विचार और नियमित कार्य-प्रणाली के अनुनार गर्भ में पुत्र या पुत्री का आगमन और उसका निर्माण होता है। केवल शरीर का ही निर्माण नही होता, बल्कि जीवन का निर्माण भी होता है। उस सन्तान के मन और आत्मा पर सस्कार भी तभी से पडना शुरू हो जाते हैं। सन्तान के पैदा होने पर भी माता और पिता द्वारा उसका पालन पोषण जिस प्रकार किया जायगा वैसी ही सन्तान बनेगी।

भारतवर्ष में पुत्र की अपेक्षा पुत्री का पैदा होना हर्ष का विषय नही माना जाता और उसका पालन और शिक्षण भी पुत्र के समान अधिक ध्यानपूर्वक नही कराया जाता। यही कारण है कि भारतवर्ष में आज नारीजाति की स्थिति शोचनीय हो रही है। यहां स्त्रियो का तीन प्रतिशत शिक्षित होना कितनी लज्जा की बात है। बिना शिक्षा के गृहकार्य में कुशलता और विचारशीलता का आना सभव नही। अशिक्षित स्त्री अपनी सन्तान को सुयोग्य एव सुसस्कृत बनाने में समर्थ नही हो सकती। पुत्री के प्रति उपेक्षा और उसके कारण अपने भाग्य को कोसते रहने के परिणाम से केवल उस पुत्री के लिए बुरा नही होता है, वरन् वह जिस घर में जाती है वह घर भी दु खी होता है। शरीर, मन और आत्मा पर सस्कार प्रारभ से ही डाले जाते हैं। धीरे-धीरे ही विकास होता है। प्रारभ से ही दुर्बल सस्कार आगे जाकर विकास को रोक देते हैं। इसी के फलस्वरूप स्त्रियो में कायरता, हीनता और असहाय दशा का भान हुआ करता है। यह भान ही उन्हें अवसर पर सकट में डाल दिया करता है।

प्रेरणा-प्रद नारी—

पुत्रियो में साहस, वीरता, और निर्भयता के भाव उनकी मातायें ही अधिकतर भर सकती हैं। अत माता बनने के लिए पहले शिक्षित और साहसी एव वीर हृदय बनना आवश्यक है। पुत्र के

सुशिक्षित होने की अपेक्षा पुत्री का सुशिक्षित होना जरूरी है। माता बच्चो की पहली और प्रम पाठशाला है, जहा अधिक समय तक बच्चो का सस्कार ढलता है।

अपनी पुत्री को इस प्रकार सुसस्कृत और गृहसचालन सम्बन्धी योग्यता से सम्पन्न बना कर माता पिता सुयोग्य वर के साथ उसका पाणिग्रहण सस्कार कर देते है। यह माता पिता का साधारण त्याग नही है। एक सुयोग्य कन्या को प्रदान करना धर्म, अर्थ, और काम का प्रदान करना है। यदि माता पिता यह विचार ले कि हमारी पुत्री हमारे पास रहने वाली नही है, वह तो पर घर की मेहमान है, हमें उसके लिए अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता ही क्या है, तो इस क्षुद्र विचार के साथ उन्हें यह भी सोचना होगा कि उनके पुत्र के विवाह में भी पर घर की कन्या ही आयगी और उसके माता पिता यदि उस कन्या को मूर्ख और सस्कार हीन रखकर विवाहित कर दें तो उन्हें कैसा बुरा मालूम होगा! ऐसी पुत्रवधू से क्या घर सुखी बन सकता है? इसलिए जैसा हम दूसरो से चाहते है वैसा ही हमे दूसरो के प्रति भी कर्त्तव्य निभाना होगा। यही उदारता अथवा अहिंसा का परिचालन हमें और दूसरो को सुखी बना सकता है। गृह की शोभा सुयोग्य गृहिणी से होती है और सुयोग्य गृहिणी के निर्माण का उत्तरदायित्व उसके पालको पर निर्भर है। जिस घर में सुशील, सदाचारिणी और गृहकार्य-कुशल पत्नी है वह घर स्वर्ग के समान बन जाता है। वहाँ सुख, सम्पदा, और शाति आदि सभी गुण निवास करने लग जाते है।

सुयोग्य-गृहिणी के जाग्रत रूप—

सुयोग्य गृहिणी अपने स्वामी को, चाहे वह कैसा ही स्वावलम्बी हो, अपने अनुकूल बना सकती है। घर में रहनेवाली सास और ननद आदि को भी वह अपने व्यवहार द्वारा प्रसन्न रख सकती है। निर्धनता को भी वह सन्तोष एव मितव्ययिता द्वारा सघनता में परिणत कर सकती है।

गृह-लक्ष्मियो के त्याग और उदार वृत्ति का दिग्दर्शन कराना सरल नही है, वे अपने परिवार के लिए अपने सुख का परित्याग कर पहले उसे सन्तुष्ट करने में सदा तत्पर रहा करती है। पति को वे देवता ही नही, भगवान मानती है। अपने शिशु के पालन के लिए उन्हें कितना कष्ट उठाना पडता है यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। रात-दिन मलमूत्र उठाने, छाती से चिपकाये रहने और उसके रोने, मचलने पर उसे शात एव प्रसन्न करने के लिए अपनी नीद तक की परवाह न करके सब कार्यों को सम्यक्तया पूर्ण करती है। घर में किसी भी व्यक्ति के बीमार होने पर पहला सकट गृहणी पर आता है। वह सबसे पहले उठती है और सबसे पीछे सोती है। पति की, पुत्र की, सास की, ननद की और न जाने किस-किस की खोटी-खरी बातें उसे सुननी पडती है। परन्तु वह सहनशीलता और कार्यशीलता की मूर्त्ति कभी घबराती नही। घर के निर्माण में वह सदा तत्पर रहती है। पुरुषों में अधिकाश, गृहस्थी के भार को अथवा गृहसम्बन्धी समस्याओ को सहन न करने—सुलझा न सकने के कारण भयभीत होकर—असमर्थ बनकर उदासीन-विरक्त होते हुए देखे गये है, पर ये गृह-लक्ष्मियाँ आँखो में आँसू लेकर भी सर्वदा सहनशील है। ये घर की चहारदीवारी में बन्द रह कर भी उसे नन्दनवन मानती है। दुर्भाग्यवश पति का वियोग हो जाने पर भी ये कभी स्वत स्वच्छन्द या उन्मार्गगामी नही बनती। पुरुष सदा ही अपनी वास-नापूर्त्ति का साधन इन्हें मानते रहते है और अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए इनके पुनर्विवाह आदि की

आवाज उठाकर सदाचरण से पतित करने का मार्ग सुझाते रहते है, पर इन पर इसका कोई असर नही। यही कारण है कि आज भारतीय नारी का आदर्श सुरक्षित बना हुआ है और संसार इस आदर्श नारी का अभिनन्दन करता है—उसके प्रति अपना शीश झुकाता है। यद्यपि नारी-पूजा, नारी का सम्मान पुरुष जाति ने जैसा करना चाहिये नही किया, पर अपने महान गुणो और कार्य-शक्ति के बल पर यह अपना अस्तित्व, अपना सम्मान सुरक्षित रख सकी है और आज की विषम परिस्थिति मे भी रख रही है। भारत की ये गृहलक्ष्मियाँ यदि उपेक्षित न रखी जातीं तो भारत को स्वराज्य का उपयोग करने में इतनी अधिक कठिनाई का अनुभव नही करना पडता।

पति के प्रति कर्त्तव्य—

लक्ष्मी यह एक देवी का नाम है। यह देवी कोई धन की अधिष्ठात्री देवी नही, किन्तु धन का लोभी ससार इसकी प्रसन्नता के लिए प्रयत्न करता रहता है। अपने पुण्य के अधीन ही सब साधन सुलभ हुआ करते हैं। यहाँ लक्ष्मी आदरवाचक है। यह देवी या पूज्य के पर्याय-वाची अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अत यह गृह को सुन्दर बनानेवाली अथवा घर की शोभा जिस स्त्री से हो वह गृहलक्ष्मी है। पति का कर्त्तव्य स्त्री के प्रति क्या है, उसे अपनी पत्नी को कैसा बनाना चाहिए इन प्रश्नो को यहाँ गौण रखकर गृहलक्ष्मियो की विशेषता और कर्त्तव्य पर ही दृष्टि डालना है। वर्तमान समाज और देश की परिस्थिति और पाश्चात्य वातावरण के नारी-जगत पर पड रहे प्रभाव को लक्ष्य में रखकर यह अवश्य कहना होगा कि इस समय स्त्रियो को सर्वथा परावलम्बी बने रहने से लाभ नही होगा। पति के अधीन रह कर भी ज्ञानार्जन द्वारा वे अपनी शक्ति का उपयोग करें और पति के दिल और दिमाग को शात, उन्नत बनाने में अपना हाथ बटावें। घर में शाति छायी रहेगी तो उसमे रहनेवाले व्यक्ति भी शात एव स्वस्थ रहेंगे और वे बाहर भी अपना कार्य व्यवस्थित करते हुए सफल बनेंगे। धन और पुत्रादि परिवार के होने पर भी जिस घर में परस्पर प्रेम, स्नेह और सद्व्यवहार नही है वहाँ सुख और शाति नही रहती अत लक्ष्मी धन नहीं है, लक्ष्मी सुयोग्य गृहिणी है।

पति को स्वस्थ, दीर्घजीवी और सफल जीवन व्यतीत करनेवाला बनाना पत्नी के हाथ में है। विवाह सयम के लिए ही किया जाता है। सयम का निर्वाह यदि जीवन में नही किया गया तो वह विवाह ही किस काम का। केवल काम भोग के लिए विवाह नही है। अपनी उद्दाम वासनाओ को दमन करते हुए अपने आचार और कुल की प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए विवाह किया जाता है। अत शरीर और मन स्वस्थ रहे वही तक काम भोग ग्राह्य है। शरीर और मन के रोग के साथ ही अपनी गृहस्थी का भार और देश का सकट भी बढाना उचित नही है अत अधिक सन्तान का निग्रह भी इस समय प्रधान कर्तव्य बन रहा है। यह सन्तान निग्रह ब्रह्मचर्य्य पर ही निर्भर है इसके लिए कृत्रिम उपायो का प्रयोग शरीर और मन को स्वस्थ नही बना सकता। इस विषय में स्त्रियो को दृढ होना होगा। स्त्रियो की अपेक्षा इस स्थल पर पुरु कमजोर हृदय रहते हैं अत स्त्रियो को ऐसा वातावरण बनाना होगा जिससे उनका और उनके स्वामी का जीवन तथा देश का जीवन भी सकट में न पडे। यदि इस कर्तव्य को वे निभा सकें तो वे अपना 'गृहलक्ष्मी' नाम सार्थक ही बनायेंगी।

भारतीय महिला-समाज का कर्त्तव्य

श्री हजारीलाल जैन एम० ए०, सी० टी०

भूमिका—

इस समस्त चराचर सृष्टि में नारी जाति का विशिष्ट स्थान है। नारी के विना सृष्टि की रचना, समाज का सगठन, जातीय कार्यकलाप एव गृहस्थ-जीवन अधूरे है। विश्व की समस्त विभूतियो में अर्धांश नारी का है और वास्तव में देखा जाए तो नारी ही विश्व की जननी, पालिका, शिक्षिका, स्वामिनी और निस्वार्थ सेविका है। स्त्री जाति की सेवाएँ जीवन क्षेत्र में कहाँ नही है ? नारी जाति के राजनैतिक जीवन मे साम्राज्ञी विक्टोरिया, सरोजिनी नायडू, साम्राज्ञी विल्हेमा, महारानी अहिल्या, सैनिक रूप मे कैकयी, लक्ष्मीबाई, चादनी बीवी, दुर्गावती, सामाजिक कार्य-कर्त्री रूप में विदुषी रत्न ब्रह्मचारिणी प० चन्दाबाई जी, कमला बाई, आदर्श रूप में सीता, द्रौपदी, अजना, चन्दना, चेलना, राजुलमती, मैना सुन्दरी, पद्मिनी आदि के उदाहरण हमारे सामने है। इन्होने वर्तमान जगत् के इतिहास-निर्माण में कितना भाग लिया, किसी से छिपा नही है। यदि हम इनका नाम इतिहास से निकाल दे तो हमारा इतिहास अधूरा सा लगेगा। वह रूक्ष सा जँचेगा उसमें उन तत्त्वो का अभाव रह जायगा जो मानव को सच्चे अर्थ में मानव बनाते है और वह उस सूखे उपवन के समान प्रतीत होगा, जिसमें से हरी भरी लतिकाएँ और फलवान् वृक्ष निकाल दिये गये हो।

नारी का पूर्व इतिवृत्त—

नारियो का भूत कैसा था, तनिक अवलोकन करें। प्राचीन काल में स्त्रियाँ सामाजिक और पारिवारिक कार्यों में स्वतत्रता से भाग लेती थी, उनमें पर्दा-प्रथा नाममात्र को भी नही थी, वे शिक्षित होती थी, वीरता, साहस, परिश्रमशीलता उनमें कूटकूट कर भरी हुई थी, वे सरलता और त्याग की मूर्त्ति थी। इन्ही सचरित्रता, सरलता और त्याग के बल से ही वे आदरणीया मानी जाती थी। हमारे नीति-शास्त्रकारो ने लिखा है "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" अर्थात् जहाँ स्त्रियो का आदर सत्कार किया जाता है वहाँ देवता निवास करते है। हर कार्य में उन्हे सम्मिलित किया जाता था। हिन्दू शास्त्रकारो ने तो यहाँ तक लिखा है कि स्त्रियो के विना गृहस्थ का धर्म और पुरुषार्थ का कार्य निष्फल हो जाता है। वे कहते है—

धर्म कर्म कुछ कीजिए, सकल तिया के साथ ।
ता बिन जो कुछ कीजिए, निष्फल सोई नाथ ॥

प्राचीन समय में स्त्री समाज उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर था। उसमें प्रेम, उत्साह, क्षमा, शौर्य, धीरता, वीरता, और दाक्षिण्यादि गुण पाये जाते है । उस समय उन्हें अवला नाम से नही पुकारा जाता था और न उन्हें धार्मिक अधिकारो से वचित रखा जाता था, किन्तु उनके साथ पूर्ण सहानुभूति का बर्ताव किया जाता था । उनके दुख में दुख और सुख में सुख की अनुभूति की जाती थी।

स्त्रियाँ क्रोध में आकर प्रलय मचा सकती है, महाभारत और रामायण की रचना करवा सकती है । ससार को दुख शोक में निमग्न कर सकती है, इन्द्र, विष्णु, और ब्रह्मा को अगुलियो पर नचा सकती है। स्त्रियाँ समाज के लिए शक्ति रूप होती है; आलसी को उत्साहित करना, कायर को वीर बनाना, विलासी तक से महत्व के कार्य कराना नारियो का ही काम है । तीर्थंकरो, वीरो, ज्ञानियो, दार्शनिको तथा सम्राटो को पैदा करने का गौरव नारी जगत को ही है । सम्पूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है ।

वर्तमान काल में नारी—

किन्तु प्राचीन काल की सन्तति रूप वर्तमान मानव-जीवन में भी वह स्रोत पूर्ण रूपेण बन्द तो नही हो गया, हाँ, ज्यो-ज्यो उस धर्म और समाज-पद्धति पर देश, काल और परिस्थितियो का प्रभाव पडा है त्यो-त्यो इनमें परिवर्तन, विकार, और भ्रष्टाचारिता का समावेश हो गया है। वर्तमान समाज को बनाने में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक इस पवित्र भारत वसुन्धरा पर हुए शको, हूणो, पठानो और मुगलो के आक्रमणो, मुगल तथा अग्रेजी साम्राज्यो एव उनकी रीति रिवाजो, परम्पराओ, धार्मिक, सामाजिक मान्यताओ, उनकी सस्कृति तथा सभ्यताओ के सम्पर्क और उसके परिणामो तथा बौद्धो, हिन्दू, दार्शनिक विचारो के कारण प्राचीन और अर्वाचीन परम्पराओ एव सामाजिक सगठनो में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है, और सबसे अधिक और ताजा प्रभाव पाश्चात्य भौतिकवादी समाजो का पडा है, जिनका उद्देश्य ही है Eat, drink & be merry अर्थात् खाओ, पियो, और मस्त रहो—भविष्य को किसने देखा है और कौन देखता है । प्रकृति का नियम है कि वस्तु के बनाने में समय और शक्ति लगती है जबकि उसके विनाश में कुछ भी समय अपेक्षित नही है और मानव प्रकृति भी गिरावट या निचाई की ओर तेजी से बढती है और ऊँचाई उन्नति की ओर धीमी गति से । वही हमारा प्राचीन आदर्श धार्मिक, सामाजिक एव घरेलू जीवन किस पतित अवस्था में है जिसकी कल्पना करते ही लेखनी कापने लगती है—अविरल अश्रुधारा बहने लगती है । वे ही माताएँ और बहनें आज क्या हो गई है, और आगे भी किस दिशा में बढती जा रही है—जान कर आश्चर्य होता है ।

आज भारतीय नारियों में न शिक्षा है, और न सगठन ही । शिक्षित नारी को हम तो जागृत नारी मानते है जो अपनी देश और विदेश की स्थिति को जानती है, काल की गति को पहचानती है, स्त्रियाँ आज किस अवस्था में है और उन्हें क्या करना चाहिए आदि को जो भली प्रकार जानती है और अपनी इस पतित अवस्था को संगठन के बल पर सुधारती है । 'सघे शक्तिः कलौ

युगे' के अनुसार यदि स्त्रिया भी शिक्षित और सगठित होकर अपने ही वल पर अपनी पर्दा प्रथा, केवल मात्र विलास की सामग्री समझे जाने, वस्त्राभूषण प्रियता और पुरुषो के अत्याचारो के ऊपर विजय प्राप्त कर सकती हैं और जगत को वतला सकती हैं कि वे अवला नही सवला हैं, वे चहार दीवारी के भीतर की वन्दिनी नही 'गृह स्वामिनी' है, वीरो और नेताओ की सच्चे रूप में जन्म दात्री हैं। अत स्थान स्थान पर नारियो को सगठित होने का आन्दोलन करना चाहिए, वालिका विद्यालय, व्यायाम शालाएँ, उद्योग शालाएँ आदि खुलवाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे मानव जाति की यह फुलवारी सदैव हरीभरी, पल्लवित, पुष्पित एव फलवती रहे और उसकी शीतल छाया में घर्मार्त श्रमित और ससार के थपेडो से पीडित, विषमताओ से उदासीन एव विरक्त हुआ पुरुष समाज आकर शाति सुख और सहानुभूति की लहरो का आनन्दोपभोग कर अपने को शात और सुखी वना सकें।

नारी में आशंकित दोष—

आज भारतीय ललनाओ में कायरता, दव्वूपन, तथा तुच्छता की भावना घर कर रही है। आज की महिलाएँ अपने आप को अवलाएँ दासिया और पुरुषो के पैरो की जूतिया माने हुई हैं, नीच, पथभ्रष्ट, पतित पुरुष उन पर मनमाने सैकडो अत्याचार कर लें और वे रोती हुई सहन करती ही रहती है और टुकुर टुकुर वाह्य सहायता की ओर आशा लगाए रहती हैं, परन्तु उन्हे सदैव ध्यान रखना चाहिए कि (God helps those who help themselves) अर्थात् ईश्वर उनकी मदद करता है जो स्वय अपनी मदद करता है। सुसुप्त नारिया अपनी तन्द्रा अवस्था को छोडकर जागृत होंगी, शिक्षित और सगठित होकर उपयुक्त वातावरण अपने लिए पैदा करेंगी और अपनी शक्तियो को पहचानेंगी और देखेंगी कि वे ही तो सम्राटो, वीरो, और महात्माओ को जन्म देने वाली और विश्व में शाति और सुख की वर्षा करनेवाली हैं तो वे देखेंगी कि उनका दु खमयी जीवन उन्ही के हाथो सुखमय जीवन में वदल जायगा और उनका शुष्क एव भार स्वरूप जीवन आनन्द तथा सुख का घर हो जायगा।

वर्तमान नारियो के जीवन को दु खमय वनाने में असन्तोष, फैशन, और वस्त्राभूषण प्रियता की वृद्धि भी है। आज का अर्थशास्त्री तथा साधारण सचेत गृहस्थ जानता है कि मँहगाई राक्षसिनी किस प्रकार भारतीय गृहस्थो को खाये जा रही है। वर्तमान आय में गृहस्थी की साधारण दैनिक आवश्यकताएँ ही पूरी नही हो पाती फिर भी देवी जी को फैशन का भूत सवार है, आज उन्हें यह साडी चाहिए, कल वह नेकलेस, तो तीसरे दिन इस प्रकार के सेण्डिल जिस प्रकार के पहनती हैं। वे तो मन्दिरो, सिनेमागृहो, कुओ, वावलियो, नलो, वाजारो, और मेलो में धनियो की स्त्रियो को देख देख कर अपने पति देव की गरीवी, अकर्मण्यता, तथा उनकी फर्मायश की चीजो की पूर्त्ति न कर सकने के कारण निखट्टूपने पर तरस खाती हैं, दूसरो से ईर्ष्या करती हैं और इस प्रकार असन्तोष के कारण सदैव कुढती और दु खी वनी रहती हैं। हमारी देविया प्रति दिन पढती और शास्त्रो में सुनती हैं कि पर परणति तो अपने वश में हैं नही—वे जानती हैं कि पति देव की न्यायोचित आय वृद्धि तो गृहस्वामिनी जी के हाथ है नही,—हा, स्वपरणति—अपनी मागो को सीमित,

रखना, अपनी सौर को देखकर पाव पसारना और अपने कुटुम्ब की आय के अनुसार खर्चे को कम करना तो उनके हाथ में है ही। वे चाहें तो अपनी दूरन्देशी (दूरदर्शिता), किफायतसारी (मितव्ययिता) और सन्तोष भावना से रह नरक को स्वर्ग भवन में परिणित कर सकती हैं और उन्हें दुःख और असन्तोष के स्थान पर गृहस्वामिनी और गृह-लक्ष्मी का पद आसानी से मिल जावेगा।

आधुनिक वातावरण की नारी को देन—

आज की दीन भारत की स्त्रियाँ अपने स्वतंत्र देश की आर्थिक हीन दशा, सर्वत्र फैली हुई गरीबी और महगाई आदि के साथ-साथ वे अपने-अपने पतियों की सीमित आय आदि पर विचार कर अपने फालतू समय को व्यर्थ न खोकर अपने मन में कुछ साहस, उत्साह, पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति को जागृत करके अपने परिश्रम के बल पर घर २ में छोटे २ उद्योग धंधे, जापान की भांति चालू कर दें और स्वेटर, गुलूबन्द, मौजे, बनियान, खिलौनें बनाने लगें एव अपने घर-गृहस्थी के कपड़े स्वय सीने और आटा स्वय पीसने का नियम बना लें तो स्वास्थ्य वृद्धि के साथ साथ उनके समय का सदुपयोग होगा, घर का व्यर्थ का गृह-कलह कुछ सीमा तक शात होगा और गृहस्थी का फालतू खर्च भी बचेगा, जिससे किन्ही अन्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो सकती है। प्रत्येक भारतीय नारी और अधिक न कर सके पो कम से कम अपने अपने घरो का सीना, पिरोना, कातना, और बुनना तो कर सकती है और इस प्रकार गृहस्थी को स्पृहणीय बना सकती है और गृह प्रबन्ध की कुशलता से पुरुषों के आश्रित न रह कर स्वतंत्र स्वावलम्बन की भावना को जागृत और उन्नत करके अपने घर को सुखमय एव आनन्द का स्थान बना कर अपने स्वामिनी तथा गृहिणी नाम को सार्थक कर सकती हैं।

पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेजी शिक्षा के बल पर आज की कुछ शिक्षित बहनें जीवन के हरेक क्षेत्र में पुरुषो से प्रतिस्पर्धा करने लगी हैं और प्रकृति से निश्चित शिशु पालन, रसोई बनाना, सीना, पिरोना, आदि को छोड कर क्लर्क, ड्राइवर, टाइपिस्ट, तथा दुकानदार बनने लगी हैं और अपने स्त्रियोचित गुणो को तिलाञ्जलि सी देने लगी हैं। परन्तु उन्हें यह याद रखना चाहिए की वर्तमान भौतिक सभ्यता के प्रवर्तक पाश्चात्य देश जैसे जर्मनी, रूस आदि स्वतंत्र एव उन्नत माने जाने वाले देशो में भी यह भावना जोर पकडती जा रही है कि स्त्रियो के सुपुर्द घर की जिम्मेदारी ही होना चाहिए और घर से बाहर के कार्य पुरुषों के लिए छोड देने चाहिए। जीविकोपार्जन के बाह्य कार्य जिस स्वतंत्रता, लग्न, परिश्रम, अध्यवसाय आदि के साथ पुरुष कर सकता है उन्ही कामो को मासिक धर्म, गर्भधारण करना, सन्तानोत्पत्ति, शिशुपालन, आदि के कारण उतनी आजादी से स्त्रिया नही कर सकती और इसी प्रकार स्त्रियोचित घर की सफाई, शुद्ध भोजन, गृह-व्यवस्था, शिशु-पालन आदि के कार्य पुरुष ठीक नही कर सकते। इस प्रकार जब प्रकृति से ही नर और नारी के कार्यों का पृथक् विभाजन हो रहा है तो पुरुष बाहर का स्वामी और स्त्री गृह-स्वामिनी रह कर उन कर्त्तव्यो को अधिक दक्षता से सपादित कर सकते हैं। और यह नियम ही है कि जो जिस कार्य में दक्ष होगा उससे वही कार्य अच्छी तरह से बन सकेगा। इस प्रकार दोनो ही एक लक्ष्य रख कर कर्त्तव्य भावना से कार्य करें तो कोई कारण नही समझ में आता कि उनका घर आनन्द और प्रेम का

स्थान न हो। हाँ, यह होना चाहिए कि जिस प्रकार दायें हाथ में चोट लग जाने की अवस्था में बायें से काम लेना पडता है, और यदि बायें हाथ से पहले से ही काम करने का अभ्यास हो तो कार्य में कुछ भी बाधा नही आती उसी प्रकार गृहस्वामी के प्रत्येक कार्य का अभ्यास स्त्री पुरुष दोनो को करना चाहिए ताकि असमर्थता, बीमारी, बाहर जाने आदि के समय एक दूसरे का काम विना बाधा के कर सकें और दूसरे का मुह ताकने का अवसर न आवे।

गृहस्थ जीवन के दु खमय होने का एक कारण हम और अनुभव करते है और वह है मिलनसारिता की कमी और पारस्परिक अविश्वास तथा गृह-कलह। यो देखें तो मेले में, सिनेमाओ, मन्दिरो आदि स्थानो में अन्य स्त्रियो से हमारी गृह देविया हस-हस कर बोलेगी, उन्हें गले लगायेगी, और उनको घर बुलाकर यथाशक्ति आतिथ्य करेंगी परन्तु एक घर में रहने वाली मातृवत् सास, भगिनीवत् ननद, और भौजाईवत् जिठानी आदि उन्हें फूटी आखो भी नही सुहाती, सदैव उनसे मुह बनाये रहना, शत्रु की भाति उनसे न बोलना, उदासीन होकर अकेली अपने कमरे में पडी रहना—चाहे इसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर कैसा ही पडता हो—और जब भी पति देव दिन भर के कार्य से थके थकाये कुछ शाति और मनबहलाव की आशा से गृह में आते है तब से लेकर उनके घबराकर बाहर जाने तक बच्चो और स्त्रियो के झगडो की फरियादो के मारे उनके नाको दम कर देती है और इस प्रकार गृह मे सदैव गृह-कलह, झगडे, मनोमालिन्य और उदासी छाई रहती है।

सुझाव—

अत विशेष विस्तार में न जाकर हम इतना ही कहना उचित समझते है कि प्रत्येक भारतीय नारी अपना महत्व समझे, अपनी शक्तियो को पहिचाने, शिक्षित, स्वस्थ और सगठित होकर अपने विकास का क्षेत्र खोजें और उत्साह, प्रेम, सहानुभूति एव परिश्रम से उस क्षेत्र में जुट जाये। फिर देखें, 'विश्वजननी' को कौन 'ढोल, गवार, शूद्र, पशु, नारी—ये सब ताडन के अधिकारी' अथवा 'विष वेल नारि तज गये जोगीश्वरा" कहने का साहस कर सकते है। स्त्रिया, अपने त्याग, आत्म समर्पण और प्रेम के बल पर ही समस्त ससार को जीत सकती है न कि अधिकार की रट लगाकर अथवा पाश्चात्य भौतिक सभ्यता की कठपुतली बन कर।

परन्तु यह हमें सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि इस सृष्टि में मनुष्यमात्र ही अपने बुद्धि-बल से, मन तथा आत्मा की शक्ति से, एव ज्ञानविज्ञान में गति रखने से विशिष्ट प्राणी है—इसी लिए तो एक कवि ने कहा है—

> धन, ज्ञान, प्रभुता, सूरता, का यदि मिला कही सयोग हो।
> तो विश्व के कल्याण हित इन सबका सदुपयोग हो।

हम और हमारी माताएँ और बहिनें शिक्षित, स्वस्थ्य और सगठित होकर स्वार्थहितसाधन की चिन्ता ही करती रहें, सदैव अपने घर-गृहस्थी, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य, कुटुम्बादि की वृद्धि और उन्नति में ही लगी रहें और—

> अय निज परो वेति गणना लघुचेतसा
> उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्

को चरितार्थ करके न दिखावे तो हममें और पशुओ में अन्तर ही क्या रह जायेगा । यदि हमने अपनी शिक्षा, धन, वल, वुद्धि, ज्ञान आदि से अपने कुटुम्व से आगे वढ कर अपनी जाति, समाज देश, राष्ट्र एव विश्व का कुछ भी हित न किया तो हमारा जन्म लेना निरर्थक है । किसी कवि ने इसीलिए कहा है—

मर गये जग में, मनुज जो मर गये अपने लिये
वे अमर जग में हुए जो मर गये जग के लिए ।
जो उपजता सो विनशता यह जगत व्यवहार है ,
पर देश जाति स्वधर्म हित मरना उसी का सार है ।।

इन सवका ज्वलन्त प्रमाण हम श्रीमती विदुषी रत्न-ब्रह्मचारिणी प० चन्दावाई जी में पाते है । उन्होने स्त्री पर्याय में जन्म लेकर उपरोक्त कथन को कह कर नही करके सिद्ध कर दिखाया है और नारी जाति के आगे वढने के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है । ऐसी त्यागमूर्त्ति, विश्व को प्रेम और कल्याण का पाठ पढानेवाली महिला रत्न के चरणो में यह तुच्छ कृति सुदामा के मुट्ठी भर चावलो की भाति अर्पित करके उनका अभिनन्दन करते है और अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलिया अर्पित करते है, और साधारणतया विश्व एव विशेषतया नारि-जाति के कल्याण के लिए दीर्घायु होने की कामना करते है ।
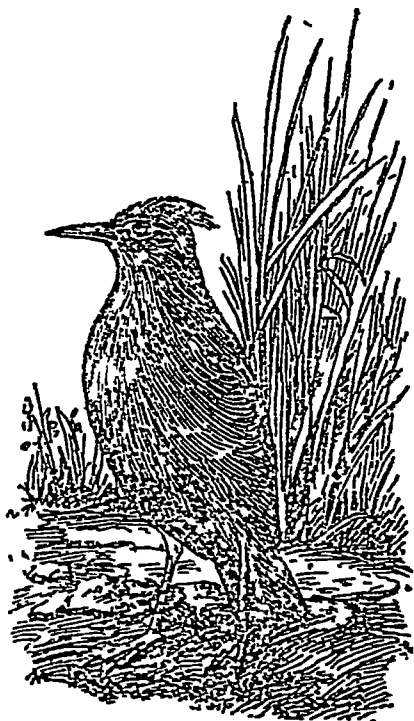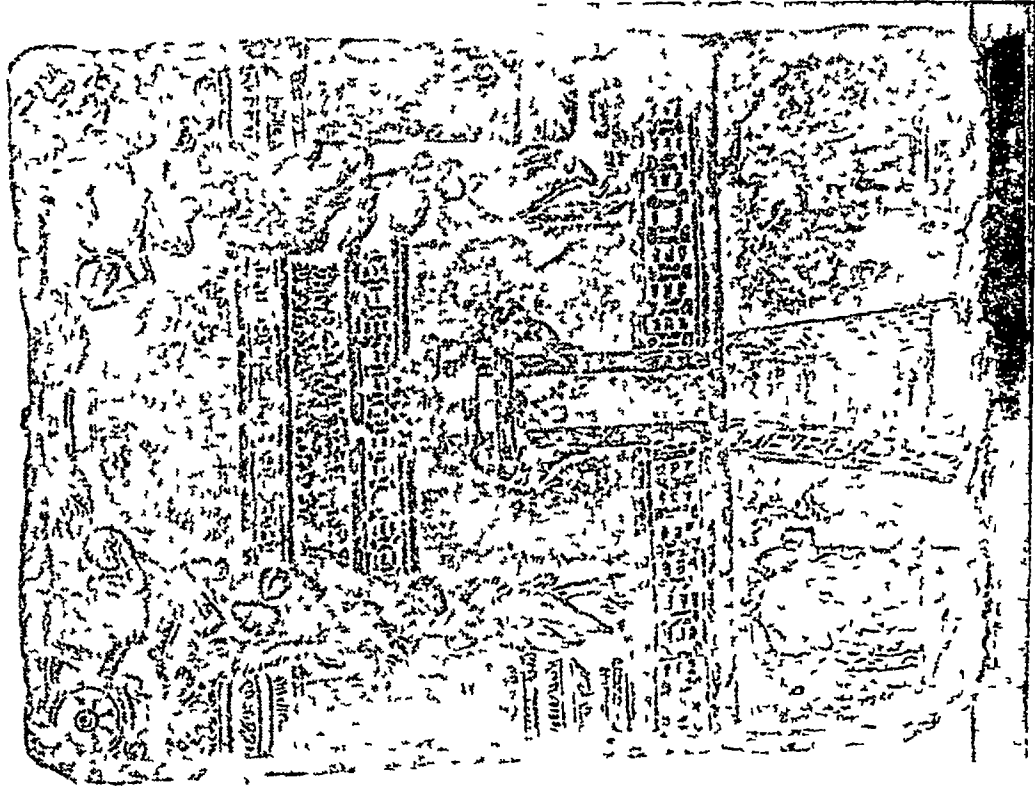
चित्र ५ लवणशोभिका गणिका की पुत्री वसु के द्वारा बनवाया गया आयागपट्ट (दे० स० ३२)
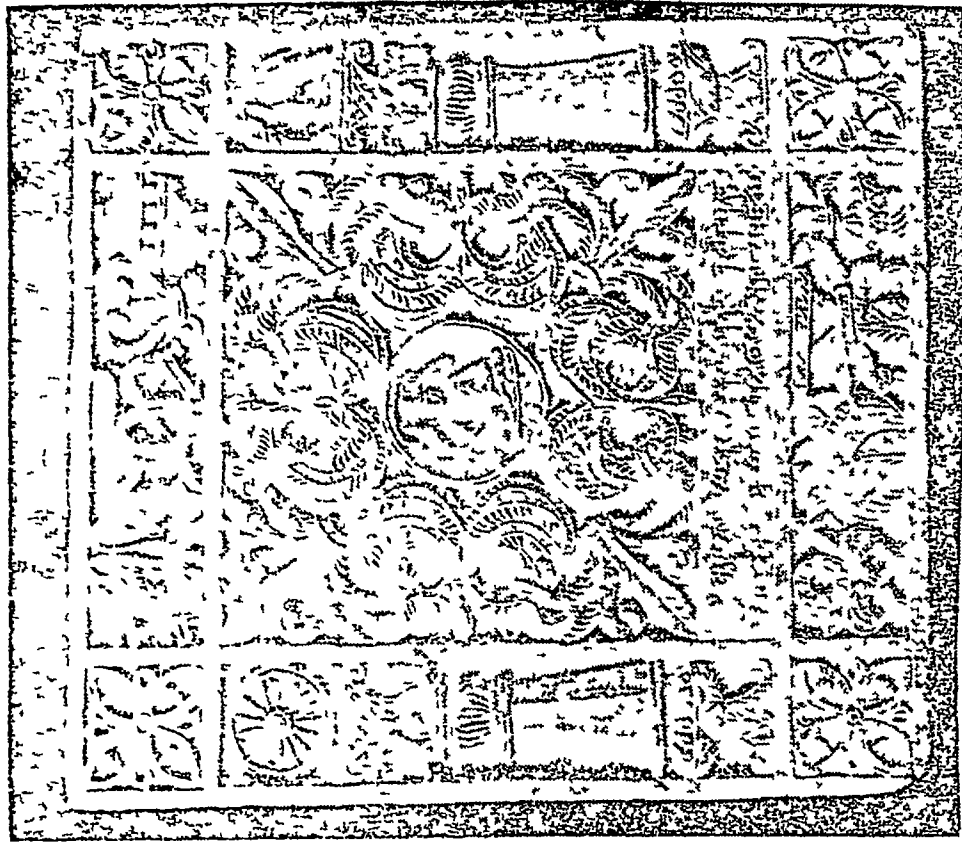
चित्र ६ कौशिकी के पुत्र सिंहनादिक द्वारा प्रतिष्ठापित आयागपट्ट (दे० स० ७

ORNAMENTS OF THE HAND

SHOWING ARMLETS AND WRISTLETS KUSHANA PERIOD

कुषाणकालीन हाथ और भुजाओं के आभूषण
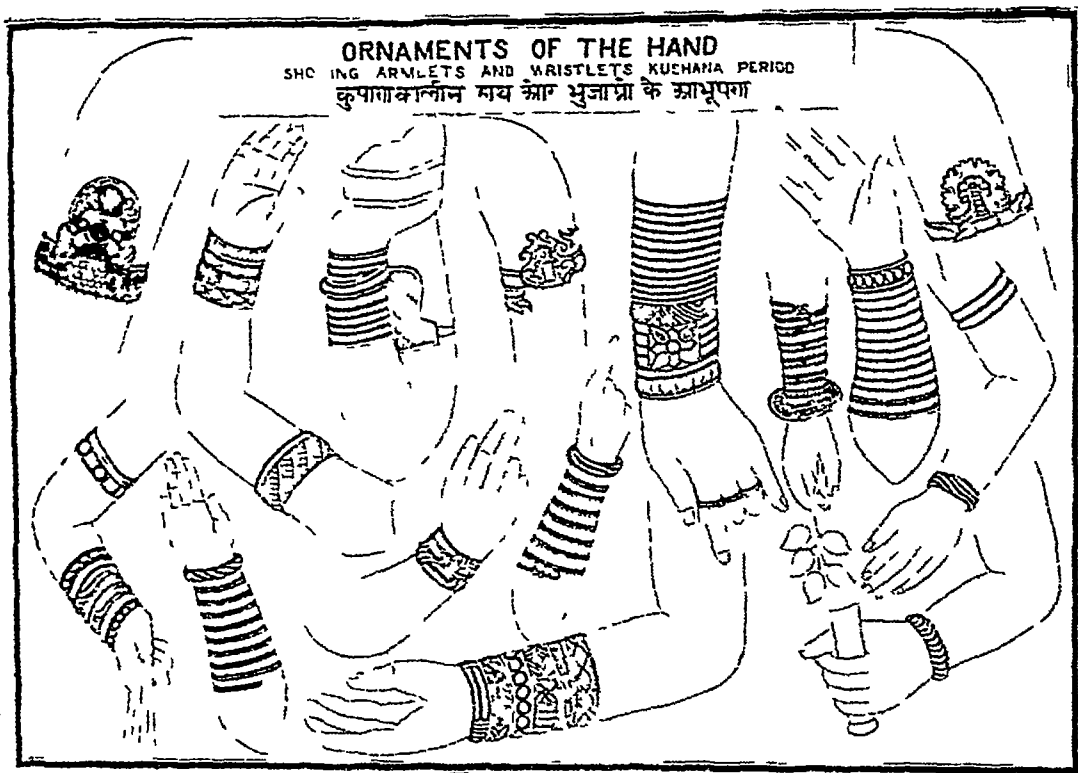
चित्र २०   मथुरा से प्राप्त जैन वेदिका स्तभो पर अकित हाथ और भुजाओ के आभूषण
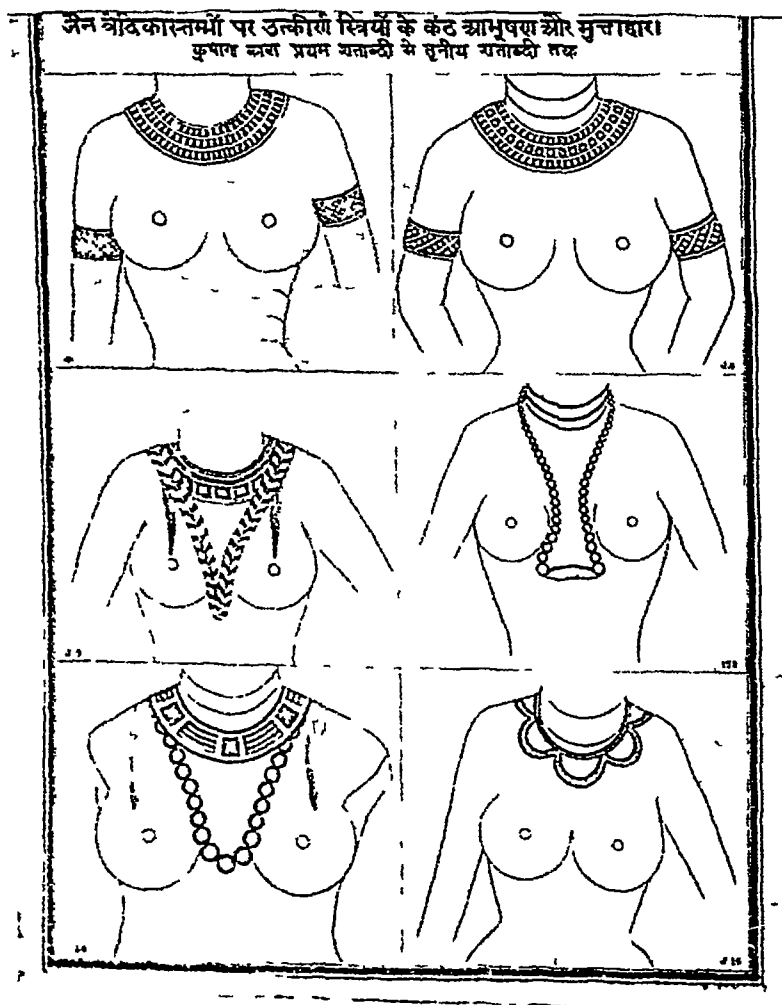
चित्र १६.

कर्णाटक की प्राचीन जैन माहिलाएँ

श्री शरवती देवी, साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ

प्रस्तावना—

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारी का प्रमुख स्थान रहा है। वह विश्व, धर्म और समाज की उन्नायका मुक्त कंठ से वतलाई गयी है। क्या उत्तर-भारत और क्या दक्षिण भारत सर्वत्र नारी धर्म की ध्वजा फहराने वाली ही नही वल्कि उसकी जन्मदात्री भी रही है। दक्षिण प्रान्त के नारी वर्ग ने न केवल धार्मिक क्षेत्र में ही अग्रणी कदम रखा है, अपितु राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक साहित्यिक और अन्यान्य क्षेत्रो में भी प्रथम रही है। कर्णाटक प्रान्त को भी इसी प्रकार की वीरागनाओ की प्रसवभूमि कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है। इस प्रान्त में भी अनेको ललनाओ ने जन्म धारण कर अपनी प्रतिभा, अलौकिक बुद्धि, अपरिमित क्षमता, अपूर्व साहस और अथक परिश्रम प्रदान कर इसे वीरप्रसूता वनने का गौरव प्रदान किया है।

जाकल देवी—

कर्नाटक प्रान्त की धर्मनिष्ठ जाकल देवी का नाम स्वर्णाक्षरो में अंकित करने योग्य है। आपके शुद्धाचरण, प्रभावना और वात्सल्य अग की प्राजलता से जैन साहित्य चमत्कृत है। खेद की वात है कि जैन-परम्परा में किसी विद्वान ने इन विभूतियो की ओर नजर न उठाई, न साहित्यकारो ने अपनी लेखनी का ही विषय बनाया। अत आज तक इन देवागना स्वरूप ललनाओ का ही नही अनेको वीरागनाओ का जीवन अतीत की धुधली छाया में आवेष्टित है। इस निवन्ध में जाकल देवी के सम्वन्ध में प्राप्त प्रमाणो के आधार पर उनकी महत्ता और धर्मप्रियता के विषय में प्रकाश डाला जायगा तथा अन्य कर्णाटक की विभूति रत्न महिलाओ की भी झाकी कराने का प्रयत्न किया जायगा।

ई० स० १०९३ में त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य के समय चालुक्य राज्य दक्षिण से उत्तर (आसाम) तक विस्तृत था। अन्वेषको के सत्प्रयत्न द्वारा हैदरावाद स्टेट में गुलवर्गा जिले के नशीकवाडी स्टेशन से इगवर्गा गाव में एक शिला लेख की प्राप्ति हुई है। उस शिला लेख पर "जाकल देवी" नाम अकित है। अत आप का जन्म जैन कुल में हुआ है यह सुनिश्चित है। जैन विम्व और जैन शासन की अपार भक्ति इस वात की द्योतक है।

जाकल देवी चालुक्य राजा की धर्मपत्नी थी । चालुक्य जैन धर्म का विरोधी और जैन बिम्बो से घृणा करने वाला राजा था। कहा जाता है कि एक समय एक सुयोग्य शिल्प कलाकार ने एक अतिशय सुन्दर, भव्य, मनोज्ञ और विशाल जिन प्रतिमा तैयार कर राजा के सम्मुख उपस्थित की । जाकल देवी का हृदय उल्लास, उमग और भगवद्भक्ति की तरगो में उछलने लगा । उसने मनोज्ञ और हृदयहारिणी प्रतिमा का दर्शन कर मानो स्वर्ग प्राप्त कर लिया । चालुक्य राजा की मुखाकृति से रानी उसके हृदयगत भावो को ताड गई । फिर भी वह हताश नही हुई, बल्कि विशेष रूप से सचेष्ट और सतर्क हो गई । बडी विनय और भक्ति प्रदर्शित करते हुए अनुनय किया "हे देव ! इस प्रकार की रमणीय, मनोहर, विशाल और शाति मुद्रा सम्पन्न मूर्त्ति अपने राज्य दरबार में अवश्य होनी चाहिए । वस्तुत इस प्रतिबिम्ब में मानव हृदय की कलुषता प्रक्षालन की पूर्ण क्षमता है ।"

राजा मनोगत भावना को स्पष्ट न करते हुए बोला "देवि ! मैं तो इस मूर्त्ति को देखते ही उद्विग्न और चचल-सा हो गया हूँ । शाति और वैराग्य का तो मेरे मन में लेश भी पैदा नही हुआ । अत यह जिनबिम्ब खरीदने योग्य नही । जाओ, तुम अपने शयनागार की ओर प्रस्थान करो ।" "राजन् क्षमा कीजिये, मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ । अत मुझे इस विषय पर आपसे कुछ कहने का अधिकार है । जरा सोचिये, ये राज महल-अटारी कितने दिन के हैं । इनमें लवलीन हो विषय-इच्छा की वृद्धि करना अपने पैरो में कुठार मारना है । ये राग-रग क्षणिक हैं, किन्तु इस जिन प्रतिमा की नग्नमुद्रा में जो सन्देश है, वह ससार-सागर से पार कर चिरन्तन और अमर सुख देने वाला है ।" यह सुनते ही कट्टर विद्रोही राजा की हृदय-भावना परिवर्तित हो गयी । उसी समय से वह जैन धर्मानुयायी हो गया । उसने अपना सारा जीवन जैनधर्म की प्रभावना और प्रचार में लगा कर जीवन को सफल बनाया । क्या इस वीर रमणी को सोमासती, चेलना या सुभद्रा से किसी प्रकार कम महत्ता दी जा सकती है ? वास्तव में यह पतिभक्ता जैन-संस्कृति की संरक्षिका, धर्म-पालिका, कर्त्तव्यपरायणा और सत्यशीला रही है ।

कवि कन्ती—

साहित्यिक क्षेत्र को उन्नतिशील और चमत्कृत करने वाली रमणी कती देवी भी अपना अद्वितीय स्थान रखती है । इनका काल होयसल राजवंश—विष्णुवर्द्धन के समय (ई० सं० ११०६ से ११४१) बताया जाता है । द्वार समुद्र गाव के राज दरबार में आपको सम्माननीय और उच्च पद प्राप्त था । उस समय के सुविख्यात कवि पंप के साथ लोहा लेने में आपको अपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी । कहा जाता है कि कती की अलौकिक प्रतिभा और बुद्धि वैलक्षण्य के कारण कवि पप इनसे डाह करता था, तथा प्रतिक्षण छिद्रान्वेषण कर नीचा दिखाने की कोशिश करता था । वह यही सोचता था कि यह चेटी राजबेटी कैसे और क्यो बन गयी ? पप ने अनेक कठिन-से-कठिन समस्याएँ पेश की, किन्तु कती किसी प्रकार भी उससे परास्त नही हुई । अन्त में एक दिन कवि पप निश्चेष्ट सा हो पृथ्वी पर गिर पडा । इस समय कती का निश्छल हृदय चीख उठा । वह पप को मृत समझ कर उसके नजदीक बैठ कर रोदन करने लगी । वह कहने लगी

"हाय, मुझे मेरी जिन्दगी से क्या लाभ है ? मेरे गुण और काव्य की प्रतिष्ठा रखने वाला ही ससार से चल बसा । पप जैसे महान कवि से ही राज दरबार की शोभा थी, और उस सुषमा के साथ मेरा भी कुछ विकास था ।" इन शब्दो के सुनते ही पप ने आखे खोल दी । उसका हृदय, घृणा, पश्चात्ताप और कुत्सित भावनाओ के प्रति विद्रोह कर उठा । कितनी उदार, विशाल और पवित्र थी इस नारी की भावना ।

कती की काव्य-प्रतिभा के सम्बन्ध में भी किवदन्ती प्रचलित है । कहा जाता है कि धर्मचन्द्र नामक व्यक्ति राज मत्री था । उसका पुत्र अध्यापक का कार्य करता था । उसने तीव्र बुद्धि वाले छात्रो के लिए एक औषधि बनाकर रखी थी, जिसका नाम था "ज्योतिष्मती तेल" । इस तेल की एक ही बूद बुद्धि को प्रखर बनाने में पर्याप्त थी । एक बार अज्ञानवश कती देवी सम्पूर्ण तेल उठाकर पी गयी और उसकी दाह पीडा को सहन न कर सकने के कारण कूप मे गिर गयी । औषधी के प्रभाव से मृत्यु को प्राप्त नही हुई, अपितु अद्भुत प्रतिभा से विभूषित हो बाहर आयी । इस प्रकार आश्चर्यजनक काव्य-शक्ति प्राप्त कर कती देवी जैन नारियो को नयी दिशा प्रदर्शित करने मे समर्थ हुई । जो हो, आपने अपने काव्य साहित्य से भारतीय नारी के गौरव और धर्म की रक्षा की है ।

गंगवंश की महिलाएं—

ई० पूर्व ४ थी शताब्दी से ईस्वी सन् १६ वी शताब्दी तक गगवश में प्रसूत वीरागनाओ के अद्भुत कार्य और चमत्कारक शक्ति की प्राप्ति होती है । ये रानिया मदिरो की व्यवस्था करती, नवीन मन्दिर और तालाबो का निर्माण करती एव अन्यान्य धर्म कार्यों के लिए दान की व्यवस्था करती थी । इन देवियो में कम्पिला चेली का नाम अग्रगण्य है । ये जिन भवन निर्माण केवल भक्तो द्वारा पूजा अर्चा के क्रीडास्थल बनाने को ही नही करती थी, अपितु जैनधर्म की उन्नति प्रसार और प्रभावना के हेतु ही निर्मित करती थी ।

श्रवण बेलगोल के शक स० ६२२ के शिलालेखो में चितूर के मौनी गुरु की शिष्या नागमती पेरुमाल गुरु की शिष्या धण्णे कुत्तारे, तथा प्रभावती, अध्यापिका दमिनामती, तथा इस सघ की सौंदर्या आर्या नाम की आर्यिका एव व्रत-शीलादि सम्पन्न शशिमति-गन्ति के समाधिमरण धारण करने का उल्लेख मिलता है । इन देवियो ने श्राविकाओ के व्रतो को नियमानुकूल पालन कर जैन नारी वर्ग के सम्मुख महत्वपूर्ण आदर्श उपस्थित किया है ।

जाक्किमब्बे—

इसके अनन्तर जाक्किमब्बे का नाम स्मरणीय है । श्रवण बेलगोल के शिलालेख न० ४८६ (४००) से पता चलता है कि यह देवी शुभचन्द्र सिद्धान्त देव की शिष्या थी । इसने योग्यता और कुशलता से राज्य शासन का परिचालन करते हुए धर्म की गौरव पताका को फहराने के लिए एक विशाल जिन प्रतिमा की स्थापना की थी । इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि यह राज्य कार्य में निपुण, जिनेन्द्र शासन के प्रति आज्ञाकारिणी और लावण्यवती थी ।"

अतिमब्बे—

इसी शताब्दी में अतिमब्बे नामक वीर महिला का नाम आदरणीय है। कहा जाता है कि इस देवी ने अपने व्यय से पोन्नकृत शातिपुराण की एक हजार प्रतिया और डेढ हजार सोने, चादी, जवाहिरात आदि की मूर्तिया निर्मित की थी।

पाम्बब्बे—

दसमी, ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी में न केवल राज घराने की वीरबालाओ ने त्याग-दान और धर्मनिष्ठ का आदर्श उपस्थित किया, बल्कि साधारण महिलाओ ने भी अपने त्याग और सेवाओ का महान परिचय दिया है। इस समय की पाम्बब्बे नामक धर्मज्ञा तीस वर्ष पक तपश्चरण करती रही थी। अन्त में पचव्रतो का पालन करते हुए ९७१ ई० में शरीर-त्याग किया था।

शान्तल देवी—

श्रवण वेलगोल के शिलालेख न० ५६ (१३२) में बताया गया है कि "विष्णुवर्द्धन की महरानी शान्तल देवी जो पातिव्रत, धर्मपरायणता, और भक्ति में रुक्मिणी, सत्यभामा, सीता जैसी देवियो के समान थी नेसवतिगध वारणावस्ति निर्माण करा कर अभिषेक के लिए एक तालाब बनवाया और उसके साथ एक गाव का दान मन्दिर के लिए प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव को कर दिया।" एक दूसरे शिलालेख में अन्य कई छोटे-छोटे गाव दान में दिये गये बताये जाते है। इसने सन् ११२३ में श्रवण बेलगोल में जिनेन्द्र भगवान की विशालकाय प्रतिमा स्थापित की थी। यह प्रतिमा शाति जिनेन्द्र के नाम से सुविख्यात है। जैन महिलाओ के इतिहास में इस देवी का नाम चिरस्थायी है। अन्तिम समय में विषय भोगो से विरक्त हो कई महीनो तक अनशन और ऊनोदर व्रतो का पालन किया था। सन् ११३१ में शिवगगे नामक स्थान में सल्लेखना धारण कर शरीर त्याग किया था।

शातल देवी की पुत्री हरियब्बरसि, नागले की पुत्री देमतिया देवमती विशेष दानशीला और समाज सेविका रही है। इनके अतिरिक्त पम्प देवी, लक्ष्मीमती, सुगियब्बरसि, कनकियब्बरसि, बोयब्बे और शातियवक तथा कुमारी झोसी पताका आदि भी उपेक्षणीय नही है। इन देवियो ने स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रचार और प्रसार के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयत्न किया था तथा आत्म कल्याणार्थ समाधि मरण धारण कर जीवन को समुज्ज्वल बनाया था।

इस प्रकार दक्षिण भारत की महिलाओ ने जैनधर्म की उन्नति कर, सद्साहित्य का प्रचुरमात्रा में निर्माण कर, आदर्श और प्रौढ राजनीति की स्थापना कर, विश्व इतिहास में प्रसिद्धि प्राप्त की है। भले ही अतीत के गर्त में इनका जीवन धुधले रूप में हमारे सामने आता है, किन्तु अन्वेषण, मनन और चिन्तन करने पर इनका जीवन जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाति भारत में चमत्कृत दृष्टिगत होता है।

दक्षिण भारत में जैन महिला जागरण

श्रीमती सौ० सरलादेवी गोरावाला, काशी

प्रस्तावित—

गौरव सुषमाओ से आप्लावित दक्षिण भारत का जैन महिला-समाज प्रगति का वह प्रतीक है जिसकी समस्त महिमा का अकन काल के अमिट पृष्ठ पर होगा। प्रतिभा आदर्श समन्वित जैन नारियों का व्यक्तित्व जिन्दगी की सरल रेखाओं में बधा, व्यवहारिकता के व्यामोह-व्यवधान से परे मानवीय गुणो की पराकाष्ठा पर चढ कर प्रेरणा की बाल रश्मियाँ विकीर्ण करता है। जैन महिलाओ ने भारतीय नारी-जागरण का प्रथम विकास-सूत्र ग्रहण किया है। इसके हृदय के अन्तराल में नारीत्व-साधना की अजस्र निष्ठा एक मागलिक घोषणा के रूप में उतरी है जिसके प्रभाव-क्षेत्र मे हमें बद्ध नारी के भीरु छाया-चित्र एक समुज्वलता का आवरण लिये उपलब्ध होते हैं। प्रगति के प्रत्येक क्षेत्र मे जैन नारियो का कदम समाज, धर्म, राष्ट्र की सुषुप्त चेतनाओ को एक ठोकर देता है जिस ठोकर में एक जागरण का उच्छ्वास है, और है काया-परिवर्तन की एक थिरकन।

नारी साधना का चरम उत्कर्ष जैन महिलाओ में निर्माण लेकर अवतरित हुआ। निर्माण और विध्वस की सीमारेखा पर गाये जाने वाले गीतो में जैन महिलाओ का सप्तम स्वर रहा, जिस स्वर ने विध्वस की आराधना की, निर्माण के पूजा गीत के बाद। यह एक लम्बी-चौडी कहानी है कि दक्षिणके जैन महिलाओ ने समाज के गत्यवरोध मे बहने वाली किन-किन काली कुरूप कुरीतियो का ध्वस किया, इतना सुनिश्चित है कि नारी-जागरण की लहर फूकने वाली जैन महिलाएँ ही है। उत्तरापथ और दक्षिणापथ दोनो में जैन महिलाओ ने समान प्रशसा का कार्य किया है, लेकिन उत्तरापथ का जैन महिलाओ का जागरण अपना एक विशेष वातावरण खडा करता है जिसमें प्रगति के अधिक आदर्शोन्मुख निर्माण दीखते हैं। इन महिलाओ का दिग्दर्शन हमे एक आकाक्षा को बाध के करना होगा। वह आकाक्षा होगी दक्षिण भारत के उत्थान की जिसमे नारी की साधना का मूल्याकन, हमें एक दृष्टिकोण लेकर करना है। हमारा दृष्टकोण है कि इन नारियो के कार्यों को जो विस्तृत और लघु दोनो रूपो मे हो सकते हैं, हमने कहाँ तक समझा और देखा है। यह तभी सभव है जब कि भारतीय जैन महिलाओ की जीवन-झाँकियाँ, उनके सघर्ष, उनके विचारो की परिधि को एक छोटे रूप में रखा जाय। किसी वस्तु का क्रमिक विकास-सूत्र ग्रहण करने के लिए उसको पालने वाली परिस्थिति का अध्ययन अपेक्षित होता है। कहना होगा जैन महिलाओ मे उनकी परिस्थिति ने जागरण का अमर सचरण किया और इस रूप मे उनकी प्रगति समाज की

त्रस्त और कुरीतियो में फँसी नारियो की मूर्च्छना-अवस्था को देखकर ही हुई। सेवा, सौहार्द, प्रेम, सहयोग आदि भावनाओ के अक में उनके अन्दर नारीत्व की साधना का उद्रेक हुआ। इन्होने अपने वातावरण की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप समाज, धर्म, जाति को अनुप्राणित किया। इनके स्वर मे युगनारी के स्वर की गूज उठ रही है और इनकी अमिट और स्पष्ट रेखाओ में बधी नारी की लटकती तस्वीर है जिसने इन्हे नारीत्व विकास की अभिप्रेरणा दी।

विकास-काल---

जैन महिलाओ का विकास काल आधुनिक सभी व्यवस्थाओ के पुनर्जागरण में ही माना जाना चाहिये। इस विकास को हम दो भागो में विभक्त कर प्रगति का मापदण्ड निर्धारित कर सकते है, जो हमारे विकास के लिए तुलनात्मक सामग्री का काम करेगा। यह विभाजन है दक्षिण भारत का जैन महिला जागरण और उत्तर भारत का जैन महिला जागरण। दक्षिण भारत मे अनेक प्रकार की विदुषी अध्ययनशील आदर्श गृहिणी जैन महिलाएँ हुई है और है जिन्होने नव जागरण की चेतना में अपना योगदान दिया है, इनके जीवन को जान कर ही हम इनके विकास की कहानी को कह सकते है। इन सभी प्रकार की महिलाओ का जीवन मुख्यत दो प्रकार के आदर्शों को लेकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। प्रथम प्रकार की महिलाएँ, जो आर्यिका है, विदुषी है, क्षुल्लिकाएँ है, जो धार्मिक प्रवृत्तियो के जीवन में अपना समय व्यतीत करती है, और धर्म-समाज को धर्म भावना से प्लुत करती है, अपना अलग समुदाय रखती है और दूसरी गृहस्थ जीवन मे रह कर, ज्ञान का सवर्द्धन कर, समाज में पलित बुराइयो की आलोचना कर समाज और देशसेवा का मत्र फूकती है। दोनो प्रकार की महिलाओं का विकास अपने-अपने क्षेत्र में पूर्णत सफल और स्तुत्य है। दोनोने दक्षिण भारत मे भारतीय सस्कृति, धर्म और समाज भावना की धारा को अक्षुण्ण रखा है।

त्यागशील-देवियां और उनका प्रभाव---

प्रागैतिहासिक काल से दक्षिण भारत की पुण्य भूमि जैन मुनियो और साधुओ की तपोभूमि रही है। इन मुनियो ने सदा से नारी वर्ग पर भी अपना सस्कारगत प्रभाव छोडा, जो एक नेत्रोन्मीलक सत्य, धर्म और प्रेरणा का परिचायक रहा। दूर की कडी छोडे, वर्तमान समय में भी दक्षिण भारत की मिट्टी में अपनी साधना का जागरण मत्र फूकने वाली जैन क्षुल्लिकाएँ हो गई है और वर्तमान में भी कई आर्यिका और क्षुल्लिकाएँ उदात्त चरित्र समृद्ध ज्ञान की भूमिका पर युग को चिरन्तन नारी की विमल झाँकियाँ देती है। इनके चरित्र की महत्ता, इनके स्वभाव की मृदुलता, इनके विचारो की प्रौढता, धर्म की भावनाओ में अनन्य विश्वास धारा इनके कार्यों की प्रत्येक परिधि में परिलक्षित होती है।

ऐसे तो दक्षिण भारत मे जैन क्षुल्लिकाओ की एक लम्बी अनुक्रमणिका आती है। लेकिन उनमें २-३ महिलाओ का चरित्र ऐसा है, जिसने नारी वर्ग को विशेष प्रभावित किया है। इनमें पूज्य क्षुल्लिका श्री १०५ त्यागमूर्ति राजुलमती जी अम्मा, जिनमती बाईजी आदि के नाम विशेष श्रद्धास्पद और उल्लेखनीय है।

अचल पाषाण खण्डो से टकरा कर अग्रवाहिनी सरिता प्रबल वेग से उछलती है। सासारिक विघ्न-बाधाएँ किसी कर्मठ जीवन मे द्विगुणित उत्साह भरने वाली प्रेरणाशक्ति बन जाती है। ठीक इसी

रूप में वैयक्तिक जीवन-सघर्ष ने माता राजुलमती को समस्त जैन-जाति की तन्द्रा भग करने के लिये प्रोत्साहित किया। राजुलमती अम्मा ने दक्षिण भारत की ऐतिहासिक परम्परा में अपने उदात्त चरित्र का ऐसा प्रतिपादन किया, जो विना किसी नाम की इच्छा के समाज, धर्म और राष्ट्र की सतत सेवा करता है। वास्तव में राजुलमती अम्मा जैसे परोपकारी जीव अपने तन-मन-धन की शक्ति लगाकर समाज, जाति के उन्नयन में सहयोग प्रदान करने वाले गिने-गिनाये ही होते हैं।

दुख की घाटियो से वहने वाला जीवन कैसे सुख की कल्पना कर सकता है। राजुलमती का समस्त जीवन दुख की सत्ता मे चिर आनन्द की समृद्धि का अनुभव करता ही रहा। उद्दाम पीडा के लोक की माँ राजुलमती का जन्म शोलापुर में वहाँ के देवचन्द रामचन्द निवर्गोकट के यहा हुआ था। एक परोपकारी परिवार का उत्पादन परोपकार की इकाई से आवेष्टित कोई महान चरित्र ही होगा। इस परिवार के सभी सदस्य समाज धर्म की सेवा मे मस्त रहने में ही अपने मानव-जीवन की सार्थकता समझते हैं। अम्माजी के चार भाई और दो वहनो ने तो समाज, धर्म सेवा को अपना अग वना लिया था।

अम्मा की शिक्षा-दीक्षा अति अल्प थी, पर इनके धार्मिक प्रवचन महापण्डितो के समान होते थे। इनका अध्ययन काफी प्रौढ विवेकशील था। आपका व्यक्तित्व स्पृहणीय और महान् था। इनके पास अपने विचारो को अभिव्यजित करने की ऐसी शास्त्रीय कला थी, जो सीधे हृदय को स्पर्श करती थी और मस्तिष्क को हैरत मे डाल देती थी। ज्ञान की गूढतम निदर्शनाओ को भी ये अपनी सरल अभिव्यक्ति के साहाय्य से चमत्कृत कर सुगम्य और सुवोध वना देती थी। इस रूप में अपने अध्ययन में अनवरत सलग्न रह कर अपनी ज्ञान-पिपासा सदैव जाग्रत् रखती थी। सारे लौकिक झझटो के बीच भी उत्साही अम्मा आध्यात्मिक और साहित्यिक अध्ययन के द्वारा आत्मविकास करने का समय निकाल ही लेती थी।

अम्मा की शादी श्रीमत सेठ देवचद (निजाम स्टेट) के साथ अनुभवहीन अवस्था में ही हो गई थी। पर एक साल में ही वैधव्य यातना सहनी पडी और इनका जीवन अधकारमय हो गया। पर अम्मा ने अपने जीवन को एक विशिष्ट ढाँचे में ढालने का सकल्प किया और ढली भी। समाज की तात्कालिक विगडी अवस्था की विवेचना कर इन्होने अपने चार भाइयो को कल्याण, परोपकार और आत्मदर्शन का राजमार्ग दिखलाया। इन चारो भाइयो ने प्रचलित विचारधाराओ का परिज्ञान प्राप्त कर समाज की उत्कट सेवा की।

समाज सेवा के क्षेत्र में अम्मा ने समाज को जिस प्रकार की सेवा की अपेक्षा थी उसी ओर कदम उठाया। इन्होने देखा समाज के आँचल पर विधवाओ के आँसू के दाग नही मिटते। उनके विदारक निनाद की कोई विसात नही, इन्ही की सेवा सच्ची सेवा है। उन्होने विधवाओ को उचित शिक्षा दे उनको समाज सेवा में भिडाने की ठानी। इस कार्य के लिये विधवाओ की सेवा का स्वरूप खडा कर शोलापुर में श्राविकाश्रम खोला। इस सस्था को आदर्श प्रणाली में ढालने के लिये भारत के अनेक आश्रमो का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया। महर्षि करवे आदि से समाज सेवा का क्षेत्र ग्रहण किया। सस्था के खुलते ही अनेक महानुभावो ने अम्मा के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व की छाया में अपनी थैलियाँ खोल दी। आज भी आश्रम के पच्चीस वर्ष का इतिहास अम्मा के अमर कृतित्व की झलक दिखला रहा है। कहना न होगा कि इस आश्रम में सधवाओ की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध है। सस्था को अनेक कठिनाइयाँ आती रहती हैं, पर वह लोकमान्य है।

सेवा के इस व्रत के साथ अम्मा ने जिन-दीक्षा ले ली । इससे आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो गया । इन्होंने सस्था को चलाने में सुमतिबाई शाह जैसी सुयोग्य एव आदर्श नारी को भी पैदा किया । आजकल इन्ही के निरीक्षण में आश्रम में धर्म, न्याय, साहित्य, व्याकरण, सस्कृत आदि का शिक्षण होता आ रहा है । ये जैन महाराष्ट्र महिला की सपादिका भी हैं ।

अम्मा सचमुच नारीत्व की साकार प्रतिमा थी—अत्यन्त उदात्त और मिलनसार । प्रसन्न मुद्रा मे आवेष्टित अम्मा मधुर वाणी जब उडेलने लगती थी तो लगता था—कोई शाश्वत धर्म बोल रहा हो । इन्द्रियो पर विजय प्राप्त किया हुआ अम्मा का व्यक्तित्व पूज्य था ।

अम्मा ने जिन-दीक्षा लेकर मुनिसघ के साथ समस्त तीर्थ-स्थानो में विहार किया । वे आर्यिका हो गईं । आपने भारत की अनेक सस्थाओ का उद्‌घाटन कार्य किया है । आपके प्रभाव में प्रो० करवे, चिण्कूण, काशीबाई आदि आयी । बाद में इन्होंने फिर बम्बई में मगन बाई, ललिता बाई, ककूबाई के सहयोग से एक आश्रम खोला । इसके बाद आपने भारतवर्षीय महिला परिषद् नाम की सस्था स्थापित की, जो आज तक चल रही है । जैन महिलादर्श नामक मासिक पत्र निकाला और फण्ड जमा कर इसे चिरस्थायी बना दिया । फिर सोनापुर में एक चतुरबाई श्राविका विद्यालय स्थापित कर धार्मिक विषय का अध्ययन स्वय किया । इतनी व्यापक सस्था का प्रसार कर वे स्वर्गस्थ हुईं ।

इस उदात्त चरित्र के बाद क्षुल्लिका श्री १०५ जिनमती बाई जी का नाम आता है । जिनमती बाई (ककूबाई) को प्रगति का जैसे सस्कार मिला । पिता ने एक धर्मपरायण होकर इनकी आत्मा में भी धर्म की कोमल व्यञ्जना दी । इनकी धार्मिक वृत्तियाँ बचपन से ही विकसित होती गईं । इनके पिता एक प्रामाणिक सज्जन के रूप में कट्टर सुधारक और ज्ञानमार्गी थे । पिता ने ककूबाई की जीवनधारा को अपने तीन भाइयो के जीवन के साथ एक ओर मोड दिया । धर्मग्रन्थो का अध्ययन सरलता से कर लिया गया । आप बचपन से ही अपने स्वभाव के अनुसार सबके मन को आकर्षित करने लगी । इन्होंने अपने पिता के साथ भारतवर्ष के कई स्थानो में भ्रमण किया, जिससे इन्हे सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक अनुभव प्राप्त हुए ।

धर्म की ओर आपकी अभिरुचि सदैव रही । विवाह के बन्धन में बध जाने पर जैसे इनकी मनोवाञ्छाओ को धक्का लगा । इन्होने विपरीतमति ससुराल वालो से सघर्ष लिया और अपनी शिक्षा को चालू रखा । इन्होंने घर की सभी बच्चियो सास, ननद को भी शिक्षा के सम्मोहन के प्रति आकर्षित किया । इनकी ससुराल के कितने ही व्यक्तियो की मृत्यु हो गयी, पर ये घर को सभालते हुए सेवाकार्य करती रही । एक आदर्श गृहिणी का पार्ट अदा किया । पति भी चल बसे । फिर इन्होंने देखा—वैधव्य में स्त्री का साथी एक ही होता है और वह है धर्माचरण ।

धर्म की नवीन अनुभूति ने इनके जीवन को लोकोपकारी बनाया । इन्होने मगन बाई जी के साथ जा जाकर कई स्थानो में व्याख्यान दे अपनी विकासोन्मुख प्रतिभा का परिचय दिया । इन्होने अनाथ, नि सतान, विधवाओ के लिये एक उपयुक्त सस्था खोली । व्याख्यान, लेख और शिक्षण केन्द्रो द्वारा समाज में नव जागृति पैदा की—अज्ञान अधकार को दूर भगाया । आत्मज्ञान सुधारस का पान करने

के लिए जिन-दीक्षा ले ली। इसी तरह नारी उपयोगी कई वाचनालयो की स्थापना की। अन्त में समाज की इतनी वडी सेविका और नवचेतना की पोषिका पक्षाघात की बीमारी से चल बसी।

इसी तरह दक्षिण भारत मे बहुत-सी आर्यिका हुई है और है। आज भी आर्यिकाओ का एक दल सब जगह घूम रहा है। शान्तिसागर महाराज की छत्रच्छाया में कितनी जैन ललनाओ ने अपने नैसर्गिक सुखो का त्याग कर आर्थिका का जीवन विताया है। आर्यिका १०५ चन्द्रमती बाई जी, क्षुल्लिका १०५ पार्श्वमती जी, विदुषी, क्षुल्लिका विमलमती जी, क्षुल्लिका अग्निमती वाई जी, १०५ श्री स्वर्गीय श्री शातिमती वाई जी, क्षुल्लिका श्री १०५ ज्ञानमती वाई जी, श्री क्षुल्लिका १०५ कुन्थमती जी, श्री क्षुल्लिका पूज्य श्री १०५ श्री सुमतिमती जी आदि क्षुल्लिकाएँ इसके ज्वलत प्रमाण हैं। जिन्होने धर्ममार्ग की ज्ञान-गगा वहा कर समाज और राष्ट्र का अथक कल्याण किया है तथा भारत के सास्कृतिक अभ्युत्थान में अपने व्यक्तित्व की आँच दी है।

गृहस्थ- देवियां और उनके कार्य—

त्यागी महिलाओ के साथ गृहस्थ जैन महिलाओ ने भी पठन-पाठन के द्वारा नवजागरण की धारा को आगे वढाया है। समाज की सेवा इस प्रकार की महिलाओ ने जिस सच्चे हृदय से की है वह भारत के भविष्य मे अपना अतुल स्थान रखती है।

इन महिलाओ का ध्येय रहा है कि ये शिक्षित सुसभ्य, सुसस्कृत और वर्गहीन समाज की स्थापना करे। इन देवियो ने सभाओ द्वारा जैन महिलाओ को सघटित किया है। दक्षिण भारत के कोने-कोने से अज्ञान, अशिक्षा और कुरीतियो को भगाया है। दक्षिण के महिला समाज का प्राचीन इतिहास जितना उज्ज्वल और अनुकरणीय रहा है, वर्तमान देवियाँ भी अपने पूर्वजो के पदचिह्नो का अनुसरण कर रही हैं। इस समाज का सदा यही ध्येय रहा है कि समाज मे योग्य माता और योग्य गृहिणियाँ कैसे उत्पन्न की जायँ। जव तक समाज का अर्धवर्ग शिक्षित नही होगा, अपने कर्त्तव्य को नही पहचानेगा, तव तक समाज में जागृति नही आ सकती। अत इन महिलाओ ने सदैव सास्कृतिक महत्ता पर ध्यान दिया है। सस्कृति की धवल गाथा ही समाज के नवनिर्माण में सहायक हो सकती है। समाज मे सास्कृतिक जागरण की नवीन लहर तव तक उद्वेलित नही हो सकती जव तक हम स्वय अपनी सस्कृति को उसके शुद्धतम रूप मे पहचानने योग्य नही वन जाती। सदियो की आत्मविस्मृति ने हमारे सास्कृतिक व्यवहारो की उपादेयता पर इतना पर्दा डाल दिया है कि हम उसके महत्त्व को समझ ही नही पाते। समाज में प्रचलित कुरीतियो और अनुष्ठानो की विकृति ने उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को धूमिल कर दिया है। सस्कृति की इस महत्ता को समझाने का सर्वोच्च माध्यम शिक्षा के द्वारा नारियो मे ज्ञान का विकास ही हो सकता है। अत इन सभी महिलाओ ने नारी शिक्षा की ओर काफी ध्यान दिया और नारी-शिक्षा, नारी-धर्म, नारी-सेवा की नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर नारी जागरण की शखध्वनि फूक समाज को समुन्नत वनाने का प्रयत्न किया है। दक्षिण भारत का जैन महिला समाज आज हठात् हमारे सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करता है, जिस आदर्श का रूप भारत के महिला जागरण को गौरवान्वित वना सकता है। नारी साधनाओ का जो रूप दक्षिण की गृहस्थ महिलाओ ने रखा वह समाज राष्ट्र की प्रतिक्रिया के रूप में काफी सफल हुआ है। दक्षिण ने जैन नारियो का यह विकासकर उत्तर के महिला जागरण को प्रोत्साहन दिया है। शिक्षा, शिल्प कला का प्रचार इन्होने जैन समाज में घर-घर कर दिया है। इन्होने

नारियो के अन्दर भोगवादी उच्छृंखल वाह्याडम्बर युक्त स्वार्थमयी प्रवृत्तियो का भरसक परिष्कार किया है ।

इस प्रकार की नारियो की शृखला में उषादेवी पार्श्वनाथ मगदूम, श्री श्यामबाई, अनतराव भोसले, सौ० सुलोचना बाई, आण्णा साहब मोकरे, श्री मत, पुष्पावली बाई, भीमराव देश पाण्डे, अण्णी गेरी, सौ० चचलाबाई राव साहब शाहा, बारा मती, श्रीसुमति बाई जी, विद्युल्लता शाह, आदि महिलाएँ है । इन सभी महिलाओ के चरित्र अपनी महत्ता के ही अनरूप है ।

(१) **सौ० उषा देवी**—ये जैन महिलाओ की उस श्रेणी में आती है जो अध्ययनशील रही है और जिन्होने अध्ययन के विभिन्न रूपो मे समाज और धर्म को आका है। इनका जन्म १९१५ में हुआ जब कि अशिक्षा की छाया समाज पर परिव्याप्त थी । प्रारम्भिक शिक्षा कोल्हापुर की मराठी कन्या पाठशाला से आरम्भ होकर राजाराम कालेज की बी० ए० (आनर्स) तक की परीक्षाओ में हुई । इस अवधि मे आपकी प्रतिभा एक तीक्ष्ण अनुभूति की विहारिका रही । १९३७ ई० तक दक्षिण भारत में बी० ए० (आनर्स) करने वाली आप प्रथम जैन महिला रत्न है ।

बाद मे विवाह सूत्र में बधने के बाद आपने सुयोग्य पति प्राप्त कर एम० ए० भी किया । आपने विभिन्न पत्रो में समाज की असन्तोषप्रद अवस्था की आलोचना की । आपकी आलोचनाएँ समाज के निर्माण में समाज का नग्न मासल चित्रण उपस्थित करती है । नारी का परिस्थिति चित्रण आप अपनी दृष्टि में ज्योति बसाकर करती आ रही है । आजकल आप अध्यापनकार्य कर नारी शिक्षा की ओजस्विता का प्रतिनिधित्व कर रही है । आपकी समग्र साधना स्तुत्य है ।

(२) **श्री श्यामाबाई अनत**—आप भी कोल्हापुर निवासिनी है । आपका जीवन सतत् साधना का जीवन रहा है । आप एक ऐसी अध्ययनशीला है, जिसने समाज की सेवा के विभिन्न स्वरूपो को समझने के लिये अध्ययन किया है । लगता है आपने अध्ययन को अपने हृदय में गूथ लिया है । आप अध्ययन के विहाग की भावलहरियो में बहा करती है । आपने कतिपय वर्षों तक मुख्याध्यापिका का काम किया सोलापुर श्राविकाश्रम में । इसी सिलसिले में आपने शाहपुरी में एक जैन महिला विद्यालय की स्थापना की और बराबर उसे अपनी सहायता भेजती रही । आपने दो साल तक महाराष्ट्र जैन महिला परिषद् की मन्त्रिणी का कार्यभार बडी लगन और योग्यता मे सभाला । १९२७ में करपीर भगिनी मडल नामक सस्था के नेतृत्व का भार आपने ही उठाया । आप अखिल भारतीय महिला परिषद् की अध्यक्षा होकर कराची अधिवेशन में १९३४ में गयी थी । आजकल आप सरकारी कन्या कालेज में हेडमिस्ट्रेस है । सामयिक सामाजिक टिप्पणियाँ आप लिखती है । समाज का सुधार विविध रूपो में कर रही है ।

इसी प्रकार अन्य सभी महिलाओ ने काफी अध्ययन कर समाज को नवजागरण में समुन्नत किया । दक्षिण भारत का जैन महिला जागरण आज भारत के महिला जागरण में निस्सन्देह ऊँचा है ।

वर्तमान स्थिति—

दक्षिण के जैन महिला समाज को सबसे प्रधान कार्य यह करना है कि वह एक ऐसी सभा की स्थापना करे, जिसमें महिलाएँ सघटित होकर अपनी विभिन्न समस्याओ का समाधान कर सकें । महिलोपयोगी साहित्य का निर्माण किया जाय तथा एक ऐसी शिक्षण सस्था की स्थापना की जाय; जिसमें जैनमहिलाओं के लिए धार्मिक और लौकिक शिक्षण के प्रबन्ध के साथ सन्तान-पालन एव गृहस्थी के सचालन की शिक्षा भी दी जाय । आशा है दक्षिण का महिला समाज सघटित होने का प्रयत्न करेगी ।

उत्तरा-पथ की जाग्रत् जैन महिलाएँ

श्रीमती सौ० सुशीला देवी जैन, सरस्वती सदन, आरा

जागरण की धार-पर—

हिमालय का आगन—एक दिन, कुछ धुआ सा निकलता दीख पडा। किसी ने कहा परेशान धरती की धूल है। किसी ने कहा ज्वालामुखी धधक रहा है और किसी के मुह से टपका—धरती अठखेलियाँ करती हुई, नशे मे झूमती हुई आसमान के मेघ-पुंजित चरणो पर अपने हृदय का पश्चाताप भरा पापपुज सा श्यामल, गुजलटो की करवटो में नाचता सर्प सा धुआ बिखेर रही है। गगा के पानी मे आग लग गयी और किसी ने इशारा भर किया—जवानी जल रही है। हिमालय हिला—जुल्म के खूनी शोलो मे जलता देश उसकी आत्मा में विकलता के साथ करवटे बदल रहा था। एक क्रन्दन उठा—जनता का ताण्डव रोष अपनी उत्तेजना में प्रलय के भैरव गीत गा रहा था। . और इन सबके ऊपर माँ-भारती विद्रोह की भट्टी मे कोयले की तरह जलते हुए हीन सी लौ बखेर रही थी। इस देश के लाखो लोगो की रूह में आजादी की प्यासने आग लगा दी थी।

और उधर . . .. ?

इस नव जाग्रत् विद्रोही की आँच मे किसी का सुहाग जल रहा था। नारी के आँसू हौले-हौले करोडो मन बोझिल पलको से टपक रहे थे. . ।

यह जमाना था चेतना का, हिलोर का। सभी व्यव्यस्थाओ ने करवट ली। देश, समाज की रूढिवादी प्रवृत्ति के खोखलापन को प्रकाश की रेखाओ मे बाँधा गया। आभ्यतरिक और वाह्य दोनो परिस्थितियो को विचारणीय मापदण्ड मिला।

देश का नारी-वर्ग भी इस महान विप्लव, इस क्रान्ति की सेज पर करवट बदलती भारत की आजादी के साथ अपने हृदय का अनुराग श्रद्धा सहयोग चिपकाये रहा। समता, स्वतत्रता और शाति की जो अमर ज्योति जगी, उसने ज्योति से 'ज्योति जले' के प्राकृतिक नियमानुसार नारी के हृदय को आलोकित किया और शोषण, प्रताडन, निर्दलन, अशिक्षा, अज्ञानता के तमस्तोम में थिरकती नारी की विकास के क्षीण प्रकाश की रेखा मिली। इस प्रकाश की एक चिनगारी ने नारियो की वास्तविक अवस्था को घनीभूत पीडा से भर दिया जिस पीडा का विकसित रूप महिला समाज मे अपने अन्दर भी समाज-क्रान्ति की भावना को भर देश की क्रान्ति में सक्रिय भाग लेना ही था। नारी की दशा में आमूल परिवर्तन हुआ और उसने घूघट की ओट से निकल समान विद्रोह की आँच में अपने

अधिकारो और कर्तव्यो की माग कर आग-पानी समाला । विश्वरूपिणी, तारिणी भारतीय क्रान्ति की अरुणिमा में सहस्रो वर्ष से दलित, शोषित शासित और प्रताडित जनदेवी 'नारी' उद्बुद्ध हो उठी । युग-युग की पददलित नारी की मृदु व्रीडा मुस्कुरा उठी ।

देश का जैन महिला समाज भी इससे अछूता नही रहा । समाज की बुनियादी मान्यताओ की तह मे नारी की कारुणिक छाया उनके भी सात्त्विक हृदय की इकाइयो मे तैरने लगी । इनके परिस्थिति के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति के स्वर में गभीर समाज को काया पलट की धारणा का विप्लव एक आध्यात्मिक सत्य की पृष्ठभूमि पर उतरा । धर्म, सेवा, सद्भावना आदि मानवोचित गुणो से राग रजित जैन महिलाओ का हृदय भी इस नवजागरण की लहर पर अपनी कल्पना का समाज, राष्ट्र, धर्म, सजोकर ले चला । इनके भी प्रगति की चाल मे मूक नारी के शाश्वत मुख-स्वर वाचाल हो उठे, पथभ्रष्ट नारी के लिए एक सक्रिय इंगितमय उद्बोधन गूज उठा । जैन जाग्रत महिलाओ का यह रूप सत्य-अहिंसा के प्रभात में करुणा की लाल-लाल संध्या के प्रसार में नारी-विकास के शत्रुओ के सम्मुख क्षमता की कोमल कठिन ढाल भी था और नारी जीवन को सारे-दुर्गुणो का हनन कर सत्य, शिव और सुन्दर आवेष्ठित चरित्र से आलोडित करने की चिरअभिलाषित आकाक्षा भी ।

जैन नारी समाज मे जागरण की वह धारा जो वही तो अब तक वहती आयी और कितने नारी आदर्शों की प्रतिमूर्त्ति जाग्रत महिलाएँ उत्तर भारत मे समाज राष्ट्र की उद्बुद्ध चेतना में आच देती गई । इन समस्त जाग्रत महिलाओ के चरण-चिन्हो ने शाश्वत नारी-समाज के सोये इतिहास को जगाया और नये निर्माण की परिणति प्रदान की । विविध रूपो मे सामाजिक-कार्यों की प्रतिस्थापना कर उन्होंने अपनी वहुमुखी प्रतिभा और कार्यशीलता का परिचय दिया । नारी के ककाल के रूप मे अशिक्षा के भूत को हटाना इनकी साधना का प्रमुख केन्द्र-विन्दु रहा । उत्तर भारत मे सर्वप्रथम शिक्षा की धारा नारी समाज में वहानेवाली जैन जाग्रत महिलाएँ ही है अगर ऐसा कहे तो कोई लम्वी-चौडी वात नही । नारी-विरूपताओ को सुधारने मे इनकी कला अदम्य और उत्साहवर्द्धक रही और इन्होंने नारी को सर्वांगीण रूप में अनुभव के अक में समझा और देखा ।

स्वर बिम्बित : उत्तरापथ की महिलाएँ—

जैन जाग्रत महिलाओ ने उत्तरा-पथ की कार्य प्रतिष्ठा की भूमिका में विभिन्न क्षेत्र ग्रहण किये हैं । सभी महिलाओ ने अपने-अपने क्षेत्र को प्रौढ मान्यता प्रदान करने मे नारी-विकास के किसी पहलू को अछूता नही छोडा है । किसीने नारी समाज मे शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना और सचालन कर शिक्षा का प्रचार किया है, किसीने नारी के अन्दर की बुराइयो की अकाट्य आलोचनाओ को रख कर समाज को सुधार की तरफ आकर्षित किया है, किसीने लेख, व्याख्यान आदि के द्वारा नारी-वर्ग के नव निर्माण की सूझ दी है, किसीने साहित्य और कला को अपनी अनुपम भावनाओ की कडियो से सम्बद्ध कर अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता का परिचय दे साहित्य की श्रीवृद्धि की है, तो किसी ने गाव-गाव, शहर-शहर, डगर-डगर, घुस कर नारी की नव-चेतना को जगाया है । इसी तरह के कार्यों की पूर्णता जो नारी-विकास को वाचती है उत्तर भारत में जैन जाग्रत महिलाओ द्वारा सम्पन्न हुई है जो भारत के नारी-जागरण के इतिहास में चिरस्मरणीय पृष्ठ हैं ।

महामना भूरिबाई—

जाग्रत महिलाओ की सन्त परम्परा में भूरि बाई जी का नाम सर्वप्रथम आदर के साथ आता है। स्वभाव की मृदुलता के साथ आत्मा की विशालता का कितना विशद समन्वय हो सकता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण माता भूरिवाई के प्रकाण्ड व्यक्तित्व की रेखाओ में मिलता था। गूढ-से-गूढ धार्मिक प्रवचनो को समझाने में ये वडे-वडे धर्म-ग्रथो के ज्ञाताओ को पछाड देती थी। इन्दौर की पवित्र-भूमि से इन्होने उत्तर भारत की सन्त-भावना का प्रतिनिधित्व किया। धर्म के आदेशो के अनुसार अपने जीवन का यापन कर आत्मा की प्रबलता को दृढ वनाना इनकी साधना का चरम उत्कर्ष था। इनका धर्म ग्रथो का अध्ययन काफी पुष्ट और प्रवर था। धर्म को मथ कर इन्होने ऐसा मक्खन निकाला था जो युग-मानव की धर्म-प्यास को अलौकिक तन्मयता से सीधा जोड दे। जागरूक महिला के रूप में उन्होने उत्तर भारत के सभी तीर्थों का पर्यटन कर धर्म के उपदेशो का प्रचार किया। इनकी धर्म-सभा मे सैकडो नारिया आती और धर्म का श्रवण कर आत्मा के कलुष को धोती थी। नारी-हृदय में जैन-धर्म की सुगम व्याख्या उडेलकर उनके अन्दर धर्म के प्रति झुकाव उत्पन्न करने का प्रथम श्रेय माता भूरिवाई को मिलता है। इन्होने जगह-जगह जा जैन कन्याशालाओ में धर्म की शिक्षा को भी पाठ्यक्रम में रखवाया। धर्म के अवतार के रूप मे वे देवी थी।

इनका दैनिक जीवन अत्यन्त सरल और व्यावहारिक था। ये सदा स्वाध्याय मे लवलीन रहती, धर्म का आचरण करती। अपने मिलने-जुलने वालो से यह सदा प्रकाशवान व्यक्तित्व की साया में अपने हृदय के उद्‌गारोको निकाल कर रख देती। कितनी जैन नारियो ने इनसे धर्म-लाभ कर अपने जीवन का सुधार किया। समाज को इन्होने सुधार के मार्ग मे धर्म का धागा दिया जो भौतिक सुखो की शुष्कता को हीन वता पारलौकिक सुख की कामना को वाधता है। अपने धर्म के अतल स्पर्श ज्ञान की भूमिका पर उन्होने आजीवन व्रह्मचर्य का पालन किया। माता भूरिवाई नही रही पर जैन समाज में जो उन्होने अपने कार्यों की प्रणाली छोडी वह चिरस्थायी है। आपने धर्म ग्रथो का जो अगाध ज्ञान छोडा वह जैन धर्म की अक्षय थाती है। जीवन का सच्चा आनन्द इन्ही को प्राप्त था क्योकि इनके चेहरे पर उसकी झलक साफ दृष्टिगोचर होती थी। जागरण के क्षेत्र में वे धर्म और समाज की प्रथम जागरूक महिला थी जिसने नारी समाज की अशिक्षा, अज्ञानता, दुर्वलता से उठकर अपने उदात्त व्यक्तित्व का सवर्द्धन एव परिवर्द्धन ओज और तन्मयता से किया। लोक कल्याण की भावना की दृष्टि से ये चिर-प्राणवन्त है।

प्रकाशिका चिरोंजाजी—

उत्तर भारत मे अपने पौरुष पर नारी की गौरवान्वित महत्ता को उठानेवाली दूसरी महिला श्री विदुषी चिरोजा वाई जी एक ऐसी जाग्रत महिला है जिन्होने पूज्य श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैसी उज्ज्वल, स्निग्ध, मनोरम, पुण्य काया को पल्लवित, पुष्पित और फलद वनाया। नारी पुरुष की आदि शक्ति है और इस सत्य का साक्षात् निरूपण स्वर्गीय चिरोजावाई में मिलता है। वाई जी

में किसी भी व्यक्ति के अन्तस् की परीक्षा करने की अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने देखा कि श्री गणेश प्रसाद में लोक-कल्याण की लोकोत्तर भावना है और तदनुकूल क्षमता भी। अत उनके पढ़ाने लिखाने मे, उनको धर्म-ज्ञान की शिक्षा उपलब्ध कराने में अपनी लाखो की सम्पत्ति व्यय कर दी और वह भी निस्वार्थ कामना से।

इनका जीवन आरम्भ से धार्मिक रहा। समाज की सेवा धर्म की मान्यताओ के द्वारा ही सफल होती है। इनके पति १८ साल की उम्र में सम्मेद शिखर जी की यात्रा के समय में ही चल बसे। इन्होने अपने निस्सार जीवन को सतत साधना की सार उपलब्धि में व्यय कर दिया। कर्मोदय से प्राप्त इस कष्ट को इन्होने समता भाव से सह लिया। व्रत ले लिया ब्रह्मचर्य का, आजन्म एक बार आहार का, स्वाध्याय का, धर्म कार्य में खर्च करने का। इन्होने सिमरा के किसानो के ऊपर इनके अपने पति के कर्जों को माफ कर किसानो को नव चेतना का आलोक दिया। धार्मिक और शिक्षण सस्थाओ को खुले हाथ दान दे आपने समाज की अथक सेवा की। सागर में श्री गणेश दि० जैन विद्यालय स्थापित करने में आपका स्तुत्य योगदान था। आपकी प्रेरणा से उत्तर भारत में बहुत सी महिला-शिक्षा के केन्द्र खुले जिससे आपने अपना तादात्म्य सम्बन्ध रक्खा।

धर्म कार्यों में भी आपने उत्तेजना दी। सिमरा के मन्दिर में सगमर्मर की वेदी लगवाई और उसकी प्रतिष्ठा बडे समारोह के साथ की। सम्मेद शिखर जी की यात्रा आपने अनेको बार की। समस्त जीवन को धार्मिक अनुष्ठानों में व्यतीत किया। महिलाओ को सदा शान्तिमय उपदेश देती थी। दया करना, इनके हृदय का सर्वश्रेष्ठ धर्म था। किसानो की भलाई के लिए आपने जो रुपये खर्च किये वह किसानो के इतिहास मे अमर रहेगा। सागर के स्त्री-समाज को जागृति प्रदान कर आपने आस-पास के भी लोगो को सुन्दर प्रेरणा दी। आपके चरित्र के प्रभाव में जो आया आपसे चिपक गया। आपने सच्चे अर्थ में विदुषी की मर्यादा को अक्षुण्ण रक्खा। मरते समय तक श्री वर्णी जी को उपदेश दिया और पार्श्व जिनेन्द्र के चरण कमल की साक्षी में व्रत प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। अपने पूर्व जीवन की आलोचना भी की।

बाई जी अपने अगाध तत्त्वज्ञान, कोमल प्रकृति और गभीर हृदय की बदौलत नारी-समाज का रत्न थी। नारी समाज को आपकी प्रेरणाओ का जो डोज मिला वह सराहनीय है। किसानो के साथ आपके हृदय का रागात्मक सम्बन्ध था और एक सीमा तक किसानो की बुरी हालत का परिष्कार किया। आपकी मृत्यु, बडी शाति से हुई। आज भी इनके कीर्ति स्तम्भ के रूप में श्री 'चिरोजा बाई जैन महिला विद्यालय' और 'चिरोजा बाई स्वाध्याय मन्दिर' यह दो सस्थाएँ सागर में विद्यमान है। माता जी जैन समाज में अमर हैं।

जाग्रत-रूपा माँ-चन्दा—

जाग्रत-सुषमा जो सबसे अधिक घनीभूत हुई जिस जैन नारी में वह है—माँ-श्री चन्दाबाई जी। आपका उज्ज्वल, शात, स्निग्ध, सरल, उदात्त, प्रभापूर्ण, ज्योतिपूर्ण, देदीप्यमान, जाज्वल्यमान, चिरअभेद्य,

चिर श्रद्धेय, चिर अनन्त, चिर महान, युग-विभूति, युग-सस्थापक, युग वाणी का चिद्विलास व्यक्तित्व सुखकर है। माँ श्री, उत्तर भारत की प्रथम जाग्रत महिला है जिनके करो मे शख और वीणा दोनो शोभित है। उन्होने मुक्ति पथ पर शख का प्रलयकर हुकार फूँका है तो वीणा की सुमधुर रागिनी में नारी वेदना के स्वर झकृत किये हैं। इनके व्यक्तित्व का प्रत्येक रूप हृदय के तार को छूता है, छेडता है और अपने चकार्चौंध में विलीन कर लेता है। नारीत्व साधना का विकास अपने बूते पर करनेवाली सचमुच ये चिर-पूजिता माँ है।

नारी शिक्षा के लिए आपका कार्य अत्यन्त बडा है। उत्तर भारत में शिक्षा का प्रचार करने वाली आप प्रथम महिला कही जाती हैं। नारी के जीवन के गत्यवरोध अशिक्षा को लक्ष्य में रख इन्होने एक अमर सास्कृतिक सस्था जैन नारी-शिक्षा के केन्द्र के रूप में आरा में खोली। यह सस्था जैन बाला विश्राम के नाम से ३२ वर्षों से चलती आ रही आज भी नारी-शिक्षा का अनुपम एव अतिप्रिय केन्द्र है। इससे अवतक सहस्रो जैन, अजैन, विधवा नारिया शिक्षा प्राप्त कर भारत के सास्कृतिक ओज को पुनर्जीवित कर रही है। यह सस्था उत्तर भारत में जैन महिला जागरण स्तम्भ का काम करती है। मा श्री ने जैन समाज में अदम्य जागरण का मत्र फूका है। इनकी प्रेरणा से कई नारी स्कूल खुले हैं। नारी को सुन्दर, सौम्य, सुसस्कृत, सुसभ्य, सुगृहिणी, सुशिक्षित ढाचे में ढालना इनकी कल्पना की नारी है। नारी को यह प्राचीन रूप देने का उन्होने अलख जगाया है और यथाशक्ति प्रयत्न करती हैं।

अपने बहुमुखी जागृति का रूप ये इस रूप में रखती है कि ये एक कुशल सुलेखिका, पत्रकार, कवयित्री और समाज सुधारिका हैं। १९२१ से ही 'जैन महिलादर्श' का सम्पादन युग को जगाते करती आ रही हैं। कई १०–१२ पुस्तकें लिख कर नारी जीवन को समुन्नत बनाने की प्रेरणा दी है। अखिल भारतीय महिला परिषद् की कई बार सभापति रह चुकी है और उसकी सस्थापिका भी हैं।

माँ-श्री भारत की महिमावान सत हैं। १२ वर्ष की अवस्था से ही वैधव्य के अंक में पलती आ रही इस अद्भुत नारी ने अपने धर्म, अध्ययन, नारीत्व-साधना, ब्रह्मचर्य, सयम, तप और ममता की साया मे भारत की युग-नारी को कहा तक प्रभावित किया है नही कहा जा सकता। उत्तर भारत मे ये अपनी जागृति का रेकार्ड स्थापित करती हैं। ६३ वर्ष की उम्र में भी चिरज्वलित साधना है। एक ही साथ निर्माण के इतने रूपो को रखकर नारी जीवन को तरगित कर देना माँ-श्री जैसी प्रतिभा का ही काम है।

पूजिता पतासी बाई—

सन्त परम्परा की चतुर्थ जाग्रत महिला श्री पूज्य पतासी बाई जी हैं। इनकी साधना की एक-रूपता का दिग्दर्शन गया जाकर ही कोई कर सकता है। अपने व्यक्तित्व को इतना ऊपर उठा कर समाज को अपने अनुभवो का 'डोज' देना पतासीबाई जैसी महिला का ही काम है। गया, हजारी-

बाग, राची, पलामू आदि दक्षिणी विहार के जिलो में जो नारी-समाज में जागृति हुई है वह सब पूज्य पतासीवाई की अदम्य साहसिकता और उत्कट समाज सेवा से। गया में इनके द्वारा स्थापित जैन महिला महाविद्यालय आज अपनी गौरव-गाथा उच्च स्वर से सुना रहा है। प्राचीन भारतीय सस्कृत्यनुमोदित नारी जीवन का रूप इस सस्था की सभी नारियां उपस्थित करती है। गया के नारी समाज में शिक्षा, समाज सुधार का प्रतिनिधित्व कर पतासीवाई ने दिखला दिया कि नारी में कितनी शक्ति है। नारियो के अन्दर धर्म की रुचि उत्पन्न करना, साहित्य का अनुराग जगाना, सस्कृति की महत्ता दर्शाना पतासीवाई के जीवन की चरम साधना है। इन्ही को देखकर आज गया में कितनी नारियो ने समाज-सुधार का सूत्र पकडा है। नारियो में व्यावहारिक और आध्यात्मिक ढग से शिक्षा प्रदान कर इन्होंने शिक्षा की नवीन प्रणाली का उद्‌घाटन किया है।

पतासीवाई जो धर्म-कार्य में रत रहती हैं जो अपने समय का सदुपयोग करती हैं जो उपदेश करती हैं, जो सादा जीवन और उच्च विचार रखने की सलाह देती हैं, जो नारी समाज को सुसगठित करती हैं वह सब इनके स्वर से युग की प्रच्छन्न वाणी है। नारी के युग-स्वर को उन्होंने पुष्ट किया है। धार्मिक कार्यों के अनुशीलन और परिशीलन में रत रहती हैं। आपके नाम की उज्ज्वलता गया और आस-पास के जिलो में सर्वत्र लोगो की जबान पर वर्तमान है। जगह जगह जा-जाकर आपने अपने व्याख्यानो और प्रचारो के द्वारा शिक्षा और धर्म का प्रचार किया है।

इसी तरह जाग्रत महिलाओ की सत-परम्परा में बहुत सी महिलाएँ हैं जिन्होंने उत्तर भारत में अपनी जागृति का रेकार्ड स्थापित किया है। जाग्रत महिलाओ का यह रूप धर्म, समाज, शिक्षा और राष्ट्रीय-जीवन को समान प्रेरणा देता है। उत्तर-भारत इन महिलाओ से धनी है। यूरोपीय देश के राग-रग में डूबी जाग्रत महिलाओ को ये अपनी सत-प्रवृत्ति के कारण लज्जित करती हैं।

अब दूसरे प्रकार की जाग्रत महिलाएँ आती हैं। इन महिलाओ का चारित्रिक विकास भारत की आजादी और शोषण के सपर्क में हुआ है। उन महिलाओ ने समाज को नया प्रकाश और और नयी प्रेरणा से विभूषित किया है।

कर्मठ व्रजवाला देवीजी—

माँ-श्री का परिवार ही जैसे जागरण का विजयी मत्र है। इनकी अपनी सगी बहन महिला-भूषण व्रजवाला देवीजी भी जागृति की वही शिरा है जिसने माँ-श्री को जलाया है। दोनो बहनें आदर्शस्वरूप जैन समाज की अपूर्व निधि हैं।

व्रजवाला देवी माँ-श्री की पूरक हैं। माँ-श्री की पूर्णता का उद्रेक हुआ है तो श्री व्रजवाला देवी में।

आपकी साधना भी स्तुत्य है इस रूप में कि आपके द्वारा ठोस पद्धति में नारियो को अपूर्व साहस और चेतना मिली है। आपके समान कार्य-कुशलता, प्रवीणता, कार्य प्रणाली को सम्पन्न करने की

कला शायद ही किसी प्रतिभा सम्पन्न नारी में पायी जाती हो। आप अपने चारो तरफ एक मधुर वातावरण खडा करती हैं। जिसमें दुलार है, पुचकार है और है प्रेरणा देनेकी अपूर्व क्षमता। नारी शिक्षा के तरफ आपका ध्यान इतना पुष्ट है कि स्वय देश के कोने-कोने से हजारो अशिक्षित नारियो को निःशुल्क शिक्षा के लिए आमन्त्रित करती रहती हैं। सामयिक नारी समस्याओ, राजनीतिक और धार्मिक विषयो पर आपकी लिखी टिप्पणिया नारी-जीवन का मापदण्ड निर्धारित करती हैं। नारी के प्रत्येक विकास के साथ आप अपने हृदय का सहयोग रखती हैं। किसी भी उलझी समस्या को अपनी बौद्धिक प्रतिभा के सयोग में सुलझा देने में, आप अपना शानी नही रखती। ये मूक नारी के वेदनामय स्वरो की सजल अभिव्यक्ति हैं।

अखिल भारतीय जैन महिला परिषद् की मत्रिणी का कार्य आप एक अरसे से लगन और तन्मयता से करती आ रही हैं। मत्रीपद को सुशोभित कर आप नारी के विकास की कहानी में कार्य परायणता और कार्य पूरा करने की खूबी को जोडती हैं। इतने दायित्व का कार्य एक भारतीय नारी की अथक ओजस्विता का ही परिचायक है। साथ-साथ आप 'जैन महिलादर्श' की सहायक सपादिका भी हैं। आपकी प्रतिभा का सौजन्य नारी समाज को विविध रूपो मे आज तक मिलता आ रहा है। नारी-सभाओ से व्याख्यान आदि का प्रतिपादन कर आपने नारी के कारुणिक चित्रण को गाढा रग दिया है। वर्तमान सिनेमा से उद्‌भूत शृगारिक सभ्यता की आप घोर विरोधिनी हैं और इनकी अभिव्यक्ति का स्वर ऊँचा रखने में आप अग्रगण्य हैं। उत्तर भारत में थोडे समय में जागरण की इतनी सुषमा का दिग्दर्शन कराने वाली आप अपने समान प्रथम महिला कही जाती है। गावो में जाकर ये गाव की अनपढ बच्चियो और नारियो को भी शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करती हैं। और अपनी सस्था द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध करती हैं। गरीब, दुखी जनता की कराह का मोल आपका हृदय करता है, मन करता है, वाणी करती है। देश मे अकाल पडने, बाढ आने की अवस्था में आप अपनी सहायता अवश्य भेजती हैं। नारी समाज की असह्य व्यथा, विधवा के आँसू की जोरदार सरगर्मी को ये पोछती हैं। इनके कान्त मुखमडल पर धार्मिक प्रवृत्तियो की साधना की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसीलिये तो जैन महिला समाज ने उन्हें "महिला भूषण" की उपाधि से सम्मानित किया है जो इनके व्यक्तित्व की छाया को केवल छूती है। एक अध्ययनशील, कार्यपटु, धार्मिक विचारो में लिपटी-चिपटी, कार्य परायण, शिक्षित, सौम्य नारी की साकार प्रतिमा हैं महिला भूषण श्री ब्रजबाला देवी जी।

नन्दिनी-कृष्णा—

महावीर जी का मुमुक्षु महिलाश्रम भारत की एक महान सस्था है जिसने नारी समाज को धार्मिक, सामाजिक शिक्षा से आवेष्टित किया है। इसकी विशाल इमारत को देखकर मन दग हो जाता है। करोडो की सम्पत्ति से बना विशाल प्राकृतिक प्रागण में अवस्थित इसका भव्य महान भवन, अपनी महत्ता का द्योतक है। शिक्षा के सारे पहलुओ को एकत्रित कर शिक्षा देना इस संस्था का महान कार्य है। कौन ऐसी अजेय शक्ति है जिसने सूक्ष्म कल्पना, दृष्टिकोण, शिक्षा का जीवित रूप

इस महान निर्माण में रख दिया है। यह शक्ति है श्री कृष्णाबाईजी जिनकी जागरण-वंशी की तान आप इस संस्था को प्रत्येक दिवाल के पास खडे हो सुन सकेंगे।

श्री कृष्णाबाई समाज में दहेज, पर्दा प्रथा आदि की कटुआलोचिका है। अपनी लाखो की सम्पत्ति का दान कर उन्होंने महावीर जी में जैन महिला को उन्नतिशील बनाया है। समाज का इतना बडा कार्य सम्पन्न करना एक असम्भव कार्य ही था लेकिन कृष्णाबाई ने उसे अपने तन-मन-धन दान द्वारा सभव बना दिया। धर्म की पीठिका, शिक्षा की पीठिका, के रूप में यह सस्था जागरूक महिला कृष्णाबाई जी के नाम को सदा आलोकित और गौरवान्वित रक्खेगी।

आप सप्तम प्रतिमा की धारिणी विचारशील महिला है। आपने समाज के अन्धकार को दूर किया है। नारी समाज इनका चिर-ऋणी रहेगा।

धवल-चरित्रा उज्ज्वल कुमारी—

ठीक इसी रूप में जैन जाग्रत महिलाओ में अपनी उज्ज्वलता का प्रसार करनेवाली महिला श्री महासती उज्ज्वल कुमारी है। आपका जीवन सतत कर्म, अगाध धर्म, प्रवीण राजनीतिक दृष्टिकोण का सच्चा पाठ पढाता है। आप भारत के महिलावर्ग में उच्च दर्जे की प्रवचनकार है। आपकी वाक् पटुता, अदम्य साहस, अपूर्व तेज को देखकर बडे-बडे विद्वान् भी दातो तले ऊँगली दबाने लगते है। भारत के नारी गौरव को आपने अपने उपदेशो, प्रवचनो, सामयिक राजनीतिक सुझावो से चरम उत्कर्ष प्रदान किया है। आपके प्रवचनो के कुछ संग्रह 'उज्ज्वल प्रवचन' के नाम से निकल चुके है तथा धडाधड निकल रहे है। आपने राजनीतिक पहलुओ एव महापुरुषो की जीवनगाथाओ को एक नया मापदड दिया है। एक सती का जीवन बिताते हुए उत्तर-भारत में नारी जीवन को आलोकदान देना ही इनके जीवन की अनन्त सार्थकता है। इन्होंने साहित्य राजनीति आदि के किसी विषय को अछूता नही छोडा। सबपर अपने अनुपम विचार प्रकाशित किये और भारत के सुधी-वर्ग को सोचने और समझने का एक मौका दिया। गाधी, टैगोर, तिलक आदि राष्ट्र के महामानव कर्णधारो की छाप को नारी के हृदय पर प्रतिष्ठित करनेवाली यह प्रथम विदुषी महिला कही जा सकती है। इन्होंने करीब-करीब भारत की सभी प्रमुख सस्थाओ का निरीक्षण किया है तथा भाषण किये है। सारे भारत वर्ष में घूम-घूम कर नारी के अन्दर ओज, करुणा, शिक्षा, धर्म, विचार आदि को पनपानेवाली आप अप्रतिम महिला है। आपके नाम का डका बज चुका है। राजनीतिक आन्दोलनो में भी आपने सक्रिय भाग लिया है। कई महिला-स्कूलो की सचालिका और सस्थापिका भी आप है।

इस तरह की जाग्रत परम्परा का विकास तो जैन नारियो में बहुत हुआ है लेकिन उनमें प्रमुख श्रीमती ज्ञानवन देवी, कचनबाई, प्रभावती देवी, किरण बाला आदि का नाम विशेष रूपसे आता है।

धार्मिक परम्परा की एक और विदुषी महिला सिरोज की सूरज बाई जी जैन है। इन्होंने अज्ञान, अनपढ समाज से सघर्ष चालू रखते हुए भी अपने अध्ययन को जारी रक्खा। सचमुच यह सूरज बाई की अद्भत साहसिकता को व्यजित करता है।

आप महान विदुषी होते हुए महान धर्मात्मा हैं। शास्त्र स्वाध्याय का अनुभव उच्च कोटि का है। बडी से बडी शकाएँ सहज ही में समाधान कर देती हैं। नारी को पूजन करने का अधिकार है, इस प्रथा को आपने ही सर्वप्रथम चलाया। इसके लिए इनको महान सघर्ष करना पडा। आपने सिरोज की महिलाओ में नारीत्व जागरूक करने के लिए अथक श्रम किया है। नारी-उन्नति के लिए कई एक फण्ड चालू किये। आप एक सफल कवयित्री भी हैं। आपकी कविताओ का राष्ट्रीय संग्रह 'वनिता रागिनी' के नाम से प्रकाशित है।

ज्ञानधारि ज्ञान-धन देवी—

श्री ज्ञानधन देवी इटावा में अपनी जाग्रत ज्योत्स्ना विकीर्ण करती हैं। इटावा में नारी-जागरण का प्रतिनिधित्व ज्ञानधन देवी की बागडोर में एक उन्नत रूप में हुआ है। धर्म और समाज-सुधार को लक्ष्य कर आपने नारी समाज के लिए बहुतेरे कार्य किये हैं। आपकी प्रेरणा से एक विद्यालय का निर्माण हुआ है।

कान्तिशीला कंचनबाईजी—

श्री कचन बाई सर सेठ हुकुमचन्द जी की पत्नी हैं। एक महान विदुषी और दानशीला का जीवन-यापन करते हुए आपने नारी की प्राचीन दया, धर्म, करुणा को जगाया है। इन्दोर में सदैव नारियो की सभा बुलाती हैं तथा अपनी ओजस्विता और विद्वत्ता का परिचय देती हैं। अपनी सम्पत्ति में से लाखो रुपयो का दान आपने धार्मिक और शिक्षा सस्थाओ में दिया है और देती जा रही है। आपकी ही उदारता से इन्दौर में इन्दौर कन्या महाविद्यालय की स्थापना हुई है।

श्रीमती गुन्नो बाई जी सिवनी, मातेश्वरी सेठ विरधी चंद जी ने अपनी धनराशि से सिवनी में एक महिला विद्यालय की स्थापना की है। आप धार्मिक रुचि की महिला है।

प्रभावती देवी सेठ भागचन्द्र जी सोनी की पत्नी हैं। आपने अजमेर के क्षेत्र मे पर्दा प्रथा, अशिक्षा, अधर्म आदि बुराइयो के विरुद्ध आवाज बुलन्द की है। आपका सरल जीवन दूसरो को शिक्षा देता है। आप धर्म और सेवा में रुचि रखती हैं। लाखो रुपयो का दान दिया है।

शिक्षित महिलाएँ जहाँ नारी समाज को आध्यात्मिक सामाजिक उन्नति प्रदान करती हैं वहाँ वह नारी समाज मे शारीरिक शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा का सचालन भी करती हैं। श्री मोहिनी देवी जयपुर के महिला-स्वयंसेविका-दल की कप्तान हैं और नारियो को बौद्धिक और शारीरिक शिक्षा दे सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करती हैं। आपके भव्य चेहरे पर आसनो, कसरतो की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। अपने दल का प्रदर्शन ये भारत भर में करती चलती हैं। नारी को सुन्दर और स्वस्थ बनाना ही इनका लक्ष्य है। भारत सरकार से इस कार्य के लिए कई पदक आपको मिल चुके हैं। आप शिक्षा सम्बन्धी लेख भी लिखती और ब्राडकास्ट करती हैं। आपकी जागरूकता की छाप जय-

पुर, बीकानेर, अजमेर आदि राजपुताने के इलाके मे है। नारी के प्राचीन स्वास्थ्य, यौवन धन को वर्तमान भारतीय नारी जीवन में आप उतारना चाहती है।

इसी तरह उत्तर भारत के नारी समाज में जैन महिलाओ का कार्य है। बहुत सी स्वनाम-धन्य महिलाएँ समाज की वलि वेदी पर अपना कुर्बान कर रही है। जिनका उल्लेख लेख विस्तार के भय से नही दिया जा रहा है। धर्म के क्षेत्र में बहुत सी क्षुल्लिकाएँ भी उत्तर-भारत में हैं जो अपने अपने सघो के द्वारा धर्म का आलोक फैलाती चलती है।

साहित्यिक-अभियान—

साहित्य के क्षेत्र में भी जैन जाग्रत महिलाओ के कार्य अपना कम स्थान नही रखते। साहित्यिक जैन महिलाओ ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का स्वय विकास कर साहित्य को महिला अनभूति और अभिव्यक्ति का स्वर दिया है। ये साहित्य में अपना एक क्षेत्र ही ग्रहण करती है। कितनी जाग्रत महिलाएँ साप्ताहिक और मासिक पत्रो का सम्पादन करती है। जैन कवयित्रियो की तो गणना ही नही। इन्होने प्रचलित शैलियो को अपनाकर कविता को भाव, भाषा और विषय की दृष्टि से प्रगति की श्रेणी में ला दिया है। इस तरह जैन जाग्रत महिलाएँ साहित्य में भी उत्तर भारत में अपना जागरण-आह्वान फूकती है।

जैन साहित्यिक नारियो में श्रीमती रमा जैन ध०प० शाहू शान्ति प्रसाद जी का नाम सर्वप्रथम गौरव के साथ आता है। आपकी साहित्यिक प्रतिभा का विकास बचपन से ही हुआ। आपने अपनी कोमल अभिव्यक्ति में भी साहित्यिक कल्पनाओ को इस सुरुचिपूर्ण ढग से आँका कि आपकी प्रतिभा उत्तरोत्तर विकास के पहलुओ का निर्माण करने लग गयी है। अबतक उनकी कविताओ के कई-एक सग्रह निकल चुके है। ये भारतीय ज्ञान-पीठ काशी की अध्यक्षा के रूप में व्यापक और अनुभूतिपूर्ण साहित्य का निर्माण करती रहती है। इनके सम्पादकत्व में निकला "आधुनिक जैन कवि" इनकी कुशल साहित्यिक प्रतिभा का द्योतक है। इनकी कविताओ में प्रौढ अनुभूति की गहराई, भावो की सुकुमार व्यजना, प्रतिपादन शैली की विकसित सुषमा सर्वत्र दिखलाई पड़ती है। अपनी अद्भुत काव्यगत प्रतिभा के फलस्वरूप आप जैन महिला कवयित्रियो का प्रतिनिधित्व करती है। आप काव्य में रहस्यवादी दृष्टिकोण रखती है।

इसी तरह बहुत सी जैन जाग्रत महिला कवयित्रियाँ है जिनमें थोड़े का सामान्य परिचय यो है.—

१ श्री कमला देवी जैन 'कोविद'—आप प्रगतिशील विचारो की शिक्षित महिला है। आपकी कितनी ही साहित्यिक रचनाएँ उच्चकोटि की है। कवि सम्मेलनो में आपको अनेक स्वर्ण और रजत-पदक भी मिल चुके है। राष्ट्रीय आन्दोलनो में जेल-यात्रा भी कर चुकी है। कविताएँ अलकार युक्त किन्तु सुबोध होती है।

२ श्री प्रेमलता 'कौमदी'—'वत्सल' की पुत्री और 'शशि' की पत्नी है। कविता की ओर सहज और सुलभ प्रवृत्ति है। सस्कृत के सामयिक पाठ का पद्यानुवाद किया है। कविता में स्वाभाविकता और सरसता रहती है।

३ श्री कमला देवी जैन—सत्रह वर्ष की वय में उन्नत कल्पना और सरस शब्दो के साथ सुन्दर भावो को गूंथना आपके उज्ज्वल भविष्य का परिचायक है।

४. सूरजमुखी, चन्द्रमुखी—दोनो बहनें हैं और कविता के क्षेत्र में समान प्रगति है। कविता में जो गूढ भाव हैं उसकी अभिव्यक्ति हैं श्री चन्द्रमुखी जी। आप अपने पति को उस क्षेत्र में प्रेरणा देती हैं।

५ सुन्दर देवी—इनकी शैली आधुनिक और वेदना-प्रधान है—

यौवन का कर्पूर रहा जल आज प्रणय की ज्वाला में
अरे पपीहा प्राण जगा जा इन्ही पिया से प्राण—

६ मणिप्रभा देवी—आपने महिलाओ को कविता करने की सुगम प्रेरणा दी है। 'जैन-महिलादर्श' के 'कविता मन्दिर' की सम्पादिका हैं। ओज और माधुर्य गुण की कवयित्री हैं।

७ श्री रूपवती देवी 'किरण'—प्रतीत होता है कि आपका हृदय प्रकृति के सौंदर्य से प्रभावित हुआ है। सामाजिक विषयो पर भी लिखती हैं।

इसी तरह साहित्य में जागरण का रूप रखनेवाली श्री चन्द्रप्रभा, छन्नादेवी, कुसुम कुमारी, मनो-वती, सरोजिनी देवी, पुष्पलता 'कौशल' शरवती आदि देवियाँ हैं।

कतिपय श्वेताम्बर विदुषी कवयित्रियाँ

श्री अगरचन्द नाहटा

सनातन-शक्ति नारी—

अनादि अनन्त विश्व के विकास एव व्यवस्था में स्त्री और पुरुष का जोडा प्रकृति की एक महती देन है। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों की उपयोगिता एव महत्व निर्विवाद है पर पुरुष की जननी होने का गौरव धारण[1] करनेवाली होने से मातृत्व के नाते स्त्री जाति का महत्व और भी बढ जाता है। पुरुषो में प्रारम्भिक सस्कारो का बीज बोनेवाली भी स्त्री ही है। बच्चो का पालन पोषण कर उन्हे कार्यक्षम बनाने का कार्य भी प्रधानतया उसी के हाथ में रहने से उसकी उपयोगिता भी अधिक है। स्त्री शक्ति का लोहा आज तो समस्त विश्व मानने को तैयार है।

जैन-धर्म में नारी—

जैन धर्म में प्रारम्भ से ही स्त्री पुरुष के अधिकार समान रूप से प्रतिपादित हैं। इस अवसर्पिणी कालचक्र में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय तक व उनसे पहले स्त्री पुरुष जोड़े के रूप में ही साथ ही उत्पन्न होते थे अत. उन्हे युगलिक कहा जाता है। उस समय जीवन की आवश्यकताएँ बहुत सीमित थीं वे सहज ही में पूर्ण हो जाती थीं अत जीवन बड़ा सुखद था। काल-प्रभाव व मनुष्यो की क्षीणतावश वस्तुओ की कमी होने लगी और आवश्यकताएँ बढती चली गई, फलत कृषि आदि जीवनोपयोगी कर्मों की शिक्षा भगवान ऋषभदेव ने दी। उन्होने पुरुषों को ७२ व स्त्रियो को ६४ कलाएँ (कलाकर्मसु कौशल्यम्) सिखाई। उन्होने अपनी जेष्ठा कन्या ब्राह्मी को जो लिपि सिखाई वह उसके नाम से ब्राह्मी लिपि की संज्ञा से सर्वत्र प्रसिद्ध हुई। श्वेताम्बर जैनागम भगवती सूत्र के प्रारम्भ में ही "नमो बभीए लिविए" शब्दो द्वारा ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है। इससे उसका महत्व एव आदर कितना अधिक था स्पष्ट प्रतीत होता है। पाठकों की जानकारी के लिए यहा स्त्रियो की ६४ कलाओ की सूची जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति के अनुसार दी जा रही है।

---

१. इसी महत्व को लक्ष्य करके वस्तुपाल के गुरुश्री ने कहा था—

अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारंगलोचना।
यत्कुक्षिप्रभवा एते, वस्तुपाल भवादृशः॥

२. श्वे. जैनागमो में बताया गया है कि जैन शासन व्यवस्था में विद्वान मुनियों को आचार्य उपाध्याय, गणि पद दिया जाता है उसी प्रकार विदुषी आर्याओं के लिये महत्तरा, प्रवर्त्तिनी आदि पद देने चाहिये। नारियां भी आत्मकल्याण करने में स्वतन्त्र हैं, वे भी धर्म साधन कर सकती हैं।

स्त्रियों की ६४ कलाएं—

(१) नृत्य
(२) औचित्य
(३) चित्र
(४) वादित्र
(५) मत्र
(६) तत्र
(७) ज्ञान
(८) विज्ञान
(९) दभ
(१०) जल स्तम्भ
(११) गीतमान
(१२) तालमान
(१३) मेघवृत्ति
(१४) फलाकृष्टि
(१५) आराम-रोपण
(१६) आकार-गोपन
(१७) धर्म-विचार
(१८) शकुनसार
(१९) क्रियाकल्प
(२०) सस्कृत-जल्प
(२१) प्रासाद नीति
(२२) धर्म रीति
(२३) वर्णिका-वृद्ध
(२४) स्वर्णसिद्धि
(२५) सुरभि तेल करण
(२६) लीला सचरण
(२७) हय गज परीक्षा
(२८) पुरुष-स्त्री लक्षण
(२९) हेम रत्न भेद
(३०) अष्टादश लिपि परिच्छेद
(३१) तत्काल बुद्धि
(३२) वस्तु-सिद्धि
(३३) काम विक्रिया
(३४) वैद्यक-क्रिया
(३५) कुम्भ भ्रम
(३६) सारिश्रम
(३७) अजन योग
(३८) चूर्ण-योग
(३९) हस्तलाघव
(४०) वचन-पाटव
(४१) भोज्यविधि
(४२) वाणिज्य विधि
(४३) मुख मडन
(४४) शालि-खडन
(४५) कथा-कथन
(४६) पुष्प-ग्रथन
(४७) वक्रोक्ति
(४८) काव्य-शक्ति
(४९) स्फारविधि वेष
(५०) सर्व भाषा विशेष
(५१) अविधान ज्ञान
(५२) भूषण परिधान
(५३) भृत्योपचार
(५४) गृहाचार
(५५) व्याकरण,
(५६) परनिराकरण
(५७) रधन
(५८) केश-बन्धन
(५९) वस्मि-नाद
(६०) वितडवाद
(६१) अक विचार
(६२) लोक व्यवहार
(६३) अन्त्याक्षरिका
(६४) प्रश्न पहेलिका

(जबद्वीप प्रज्ञप्ति टीका से) [१]

तुलनात्मक अध्ययन—

जैन भारती के सम्पादक श्रीयुत् श्रीचन्द्र रामपुरिया ने "वैदिक धर्म एव जैन बौद्ध धर्म में नारी का क्या स्थान है" शीर्षक लेख में तुलनात्मक विवेचन करते हुए लिखा है —

"वैदिक परम्परा में नारी जाति को गौरवपूर्ण उच्चासन दिया गया है। और नारी को पुरुष मित्र और समकक्ष के रूप में अकित करने के दृष्टात सामने आते है परन्तु उनमें अकित वर्णन अधिकाश में नारी जाति को अर्द्धांगिनी के रूप में उपस्थित करते हैं। नारी का स्वतत्र व्यक्तित्व

१ सवत् १४७८ में रचित माणिकु सुन्दर सूरि के पृथ्वी चन्द्र चरित्र में भी ये नाम है। काम सूत्रोक्त ६४ कलाओं से जैन ग्रंथो में उल्लेखित पुरुषो की ७२ कलाओं से तुलना, पण्डित बेचर दास जी ने 'भगवान महावीर की धर्म कथाओं' ग्रंथ के पृष्ठ १९५ में की है।

वहा प्रस्फुटित नही दिखाई पडता और उसको बहुत ही थोडी सी अभिव्यक्ति वहाँ मिलती है परन्तु जैन धर्म में नारी का स्वतत्र व्यक्तित्व शुरू से स्वीकार किया गया है और पुरुष के समान ही उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए सम्यक् धर्म निरूपण किया गया है । पौराणिक साहित्य की तरह स्त्री जाति को दासी के रूप में नही चित्रित किया गया है ।

नारी : साहित्य की भाग्य-लक्ष्मी—

साहित्य में नारी की भावना को वही आदर दिया गया है जो एक पुरुष को । वैवाहिक जीवन में नारी पुरुष की सहचारिणी रहती है, उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है और घर-गृहस्थी का भार योग्यता-पूर्वक वहन करती है । परन्तु साथ ही साथ वह आत्मा के उत्कर्ष के लिए पातिव्रत के उपरान्त आत्मा की शोध-खोज और आध्यात्मिक चिन्तन मे जीवन का अमूल्य समय देना कर्तव्य मानती है । वैदिक परम्परा में नारी के स्वावलम्वन की कल्पना नही है । और यदि हो तो अपवाद रूप मे ही । परन्तु जैन-साहित्य में स्वावलम्वी नारी जीवन की कल्पना प्रचुर परम्परा मे मिलती है । पुरुष के साथ सहधर्मिणी होकर रहना उसके जीवन का कोई चूडान्त लक्ष्य नही, परन्तु यदि वह चाहे तो आजीवन ब्रह्मचर्य से रहकर भी आदर्श जीवन के अतिवाहन करने के लिए स्वतत्र रखी गयी है ।

वैदिक परम्परा में नारी को सहधर्मिणी कहा गया है । परन्तु वहाँ नारी पुरुष की परछाई की तरह चलती है । वैदिक परम्परा में नारी को सन्यास का स्थान प्राप्त नही । अत पुरुष से दूर रह कर स्वतत्र रूप से शुभ कीर्त्ति सम्पादन करने के उदाहरण बहुत अल्प है । जैन-परम्परा मे नारी का पूर्ण विकास हुआ है और स्वतत्र नारी की गौरव कीर्त्ति अमर बनी है ।

वैदिक परम्परा में नारी का कोई धार्मिक सघ नही परन्तु जैन सघ में सुश्राविका नारी और पूज्य साध्वी कठोर अनुशासन से एक अमर स्थान प्राप्त करती है और सैकडो और हजारो नारियो का साध्वी सघ भारत भूमि को पवित्र करता है ।

जैन-धर्म में नारी की विकास-रेखा—

जैन धर्म नारी-जीवन में आध्यात्मिकता को सीचता है जितना कि अन्य कोई भी प्राचीन सस्कृतियाँ नही सीचती । वैदिक परम्परा पातिव्रता नारी उत्पन्न करती है, बौद्ध परम्परा नीति-प्रधान नारी-जीवन को उत्तेजन देती है । जैन सस्कृति नारी-जीवन में चाहे वह जीवन गृहस्थ जीवन हो अथवा सन्यास जीवन हो आध्यात्मिक भावना की स्रोतस्विनी बहाकर उसे अपने जीवन के लिए अत्यन्त कर्त्तव्यशील और निष्ठावान बनाती है ।

जैन-श्राविकाएं—

जैन तीर्थंकरो ने अपने धर्म सघ की स्थापना करते समय साधुओ के साथ साध्वियो एव श्रावको के साथ श्राविकाओ को भी समान स्थान देकर चतुर्विध सघ की स्थापना की । पुरुषो की अपेक्षा

स्त्री समाज में धार्मिक भावना की अधिकता आरम्भ से प्रतीत होती है। इसीलिए तीर्थंकर के साधु एव श्रावको से साध्वियो और श्राविकाओ की सख्या प्राय दुगुणी पायी जाती है। आज भी भक्ति-दान आदि में स्त्री समाज ही मुख्य है। किसी लोक प्रचलित पुरुष प्रधान की भावना के कारण स्त्री समाज को उच्च स्थान समाज मे नही मिला जो कि पुरुषो को प्राप्त है, इसी कारण उनका विकास रुक-सा गया। घरेलू कार्यों मे निरन्तर लगे रहने व बच्चो की सार सभाल आदि में समय अधिक लग जाने से भी उनका ज्ञान अधिक नही बढने पाता। और उसके कटु फलो का अनुभव रात-दिन जीवन-व्यवहार में वे कर रही है। स्त्री जाति में अन्धविश्वास, रूढियो का बाहुल्य होने का प्रधान कारण उनकी शिक्षा की कमी है। प्राचीन काल मे स्त्री-शिक्षा का अच्छा प्रचार नजर आता है, बहुत से कथा ग्रथो में लडको की भाति लडकियो को भी पढाने के लिए गुरु के समीप भेजने का उल्लेख पाया जाता है, पर मेरे विचार में वह बहुत सीमित होगया। फलत ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में पुरुषो का एक मात्र अधिकार नजर आता है। उदाहरणस्वरूप, भगवान महावीर से आज तक ढाई हजार वर्षों मे लक्षाधिक साध्वियाँ व करोडो श्राविकाएँ हुई पर उनका बनाया हुए एक भी महत्वपूर्ण ग्रथ प्राप्त नही होता। श्वेताम्बर साहित्य में तो खोज करने पर केवल चार साध्वियो की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। वह भी साधारण कथा ग्रथ ही है। और उनमें सबसे पहला ग्रथ पन्द्रहवी सदी का है अर्थात् भगवान महावीर से अठारह सौ पचहत्तर बरस जैसे दीर्घकाल के मध्य की एक भी रचना साध्वियो की रचित प्राप्त नही है और श्राविकाओ के रचित तो आज तक एक भी ग्रथ देखने में नही आया। इससे मेरे कथन का आशय यह नही है कि साध्वियो व श्राविकाओ में विदुषी हुई ही नही।[1] इसी बीच में कई आर्यिकाओ ने कई ग्रथो के प्रणयन लेखन आदि में[2] विद्वान् ग्रथकारो को अच्छी सहायता की है, जिसका उल्लेख ग्रथकारो ने अपने ग्रथ की प्रशस्तियो में किया है। कई साध्वियो के रचित ग्रथ व उनकी लिखी हुई महत्वपूर्ण ग्रथो की प्रतियाँ प्राप्त हैं एव श्राविकाओ के पठनार्थ लिखे हुए व

---

(१) दिगम्बर समाज में कई विदुषी श्राविकाएँ हो गई है और आज तो शिक्षित महिलाएँ श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा दिगम्बर समाज में बहुत अधिक हैं। यह सब चन्दाबाई जैसी सेवा भावी महिलाओंका ही प्रताप समझिये।

(२) मणिधारी हेमचन्द्र सूरि ने विशेष आवश्यक भाष्य पर सं० ११७५ में ३७ हजार श्लोक परिमाण की महत्वपूर्ण टीका बनाई उसकी रचना में सहायता देने वाले ७ व्यक्तियो में २ विदुषी साध्वियाँ आनन्द महत्तरा, व वीरमति गणिनी का उल्लेख ग्रंथकार ने स्वयं किया है। सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक रूपक ग्रंथ उपमितिभाव प्रपंचाक प्रथमादर्श का लेखन ग्रंथकार की शिष्या गया नामक साध्वी ने लिखा था। उपाध्याय क्षमाकल्याण जी ने प्रश्नोत्तर सार्द्धशतक की भाषा साध्वी जी के लिये ही बनाई थी।

पूज्य जिनदत्त सूरिजी की शिष्या शांतिमतिगणिनी की स० १२१५ में प्रवरणसंग्रह की लिखित प्रति जैसलमेर भंडार में है। सूरिजी ने अपनी शिष्याओ को पढ़ाने के लिए धारा नगरी भेजा था व महतरादिपद दिया था। बंठिडा की श्राविका के प्रश्नो के उत्तर के रूप में आपने सन्देह दोहावली ग्रथ बनाया था।

उनकी लिखवाई हुई भी अनेक प्रतियाँ श्वेताम्बर जैन भडार में उपलब्ध हैं। एवं आज भी कई विदुषी साध्वियाँ व श्राविकाएँ विद्यमान हैं। पर उनके ज्ञान का समुचित विकास नही हुआ है फलत. वे आगे नही बढ़ सकी। यही मेरे वक्तव्य का साराश समझना चाहिये।

नारी में शिक्षा-तत्त्व—

गत दो शताब्दियो में तो स्त्री-शिक्षा का प्रचार ही कम नही हुआ अपितु लोग उसके विरोधी भी बन गये नजर आते हैं। मारवाड में तो आज से पच्चीस-तीस वर्षों पहले भी यह हालत थी कि स्त्री-शिक्षा का नाम लेते ही स्त्रियो को क्या हुडी कमाना है ? एक घर में दो तलवार नही चलती, यह तो अशुभ माना जाता है इत्यादि बातें सुनने को मिलती अर्थात् स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता को वे तनिक भी महसूस नही करते थे। पर हर्ष है कि अब इस ओर दिनोदिन प्रगति बढ रही है और भविष्य आशाजनक प्रतीत होता है।

मेरे नम्र मतानुसार शिक्षा के क्षेत्र में पुरुषो से भी स्त्री-समाज आगे बढ सकता है। आधुनिक विज्ञान की कई शाखाओ में तो निश्चय ही वे अग्र स्थान प्राप्त कर सकेंगी क्योकि उनकी ग्रहण-शक्ति, बुद्धि एव स्मरणशक्ति काफी तेज होती है। प्राचीन काल में आचार्य स्थूलभद्र की सात बहिनो के सम्बन्ध में यह प्रवाद है कि उनमें स्मरणशक्ति इतनी तेज थी कि पहली एक बार, इस प्रकार क्रमश ७ वी बहिन सात बार किसी काव्य ग्रन्थ को सुन लेती तो उनको वह ग्रन्थ कठस्थ हो जाता, रटने-घोखने की तनिक भी आवश्यकता नही रहती। इसी प्रकार तिलक-मजरी के रचयिता कवि धनपाल की पुत्री की स्मृति भी ऐसी अद्भुत थी कि भोजराजा ने तिलक-मजरी ग्रन्थ को क्रुद्ध होकर आग में जला दिया जिससे कवि धनपाल को बडा खेद हुआ था, तब उनकी पुत्री ने उस कथा को अपनी स्मरण-शक्ति से पुन लिखवा दिया था।

जैन-सतियों का आदर्श—

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात का निर्देश करना अति आवश्यक है कि जिस प्रकार पुरुषो का महत्त्व ज्ञान-विज्ञान का उत्कर्ष करने के लिये है उसी प्रकार भारतीय स्त्रियो का आदर्श शील, सदाचार रूप-चारित्रवान होने से उसमें वे अग्रगण्य रही है, इसी महान् गुण के कारण सीता के रूप में वे प्रात स्मरणीय हो गई हैं। जैन-समाज में भी सैकडो सतियो के चरित्र-ग्रन्थ पाये जाते हैं। १६ सतियो के नाम तो प्रात समय में स्मरण किये जाते हैं।

वैदिक धर्म में स्त्रियो के लिये सन्यास की व्यवस्था नजर नही आती पर जैन-धर्म में उनके लिये विवाह करना आवश्यक नही। वे पुरुषो की भाँति आजीवन ब्रह्मचारिणी रह सन्यास धर्म धारण कर सकती हैं—ऐसा विधान है। हजारो कुमारियो ने भी दीक्षा ग्रहण की है। महासती राजीमति ने तो रहनेमि मुनि को विकारवश पथभ्रष्ट होने से सदुपदेशो द्वारा बचाया था जिसका सुन्दर वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में मिलता है। परवर्ती-साहित्य के अनुसार आचार्य हरिभद्र व उपाध्याय यशोविजय का गर्व हटाने वाली भी विदुषी आर्यिका व श्राविका ही थी। आचार्य हरिभद्र भी वैदिक धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् थे

और अभिमान के कारण यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो मेरे समझ में नही आवे ऐसे काव्य आदि का अर्थ कोई बतला देवे तो मैं उसका शिष्य हो जाऊँगा। एक बार वे जैन-साध्वियो के उपाश्रय के पास से होकर निकले तो वे एक प्राकृत गाथा को रट रही थी जिसे सुनकर हरिभद्र ने उसको समझने का बहुत प्रयत्न किया पर उसका अर्थ उसके ध्यान में नही आया। अत उन्होंने आर्या जी से पूछा तो उन्होंने गुरुजी के पास जाने को कहा, तदनुसार वहाँ उसके अर्थ ज्ञान कर दीक्षित हुए। उसके पश्चात् अपने शिष्यो के बौद्धो द्वारा मारे जाने पर क्रोधवश बौद्धाचार्यों को मन्त्रबल से आकर्षित कर उन्हें मारने को उद्यत हुए। उस समय याकिनी महत्तरा ने समझा कर उनके क्रोध को युक्तिपूर्ण रूप से शान्त किया था। कही २ श्राविका ने क्रोध शान्त किया भी लिखा है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने याकिनी महत्तरा के उपकार को 'याकिनी महत्तरा सुनू' के रूप में अपना परिचय देते हुए व्यक्त किया है। इसी प्रकार कहा जाता है कि न्यायविशारद महोपाध्याय यशोविजय को अपनी विद्वत्ता का बडा अभिमान हो गया और गर्व कर अपने स्थापनाचार्य के ऊपर झडिया फहराने लगे। उस समय एक श्राविका ने युक्ति द्वारा उनका गर्व निवारण किया था।

आबू के कलापूर्ण मदिरो के निर्माण का सुझाव देने वाली विमल दडनायक की पत्नी व लूनगवसहीय के कार्य को अविलम्ब पूरा कराने में प्रेरक, शत्रुजय आदि कलापूर्ण मदिरो के निर्माण में सलाह देने वाली तेजपाल की धर्मपत्नी अनुपमा देवी भी जैन साहित्य में चिरस्मरणीय रहेगी। कहा जाता है कि विमल शाह ने देवी की आराधना कर पुत्र प्राप्ति व आबू तीर्थोद्धार के दो वर मागे। देवी ने दोनो में से एक वर देने को कहा। अब क्या माँगा जाय? पत्नी से परामर्श करने पर उसने पुत्र की आशा छोड कर तीर्थोद्धार का वर मागने की सम्मति दी थी। इसी प्रकार वस्तुपाल तेजपाल के आबू के मदिरो के निर्माण में अधिक समय लगते देख अनुपमा देवी ने कारीगरो को सभी सुविधाएँ दे उसे शीघ्र ही पूर्ण करवा दिया।

अनुपमा सचमुच अनुपम गुणो की भडार थी। प्रबन्ध ग्रन्थो में उसकी महिमा वर्णित है। अठारहवी शती के आध्यात्मरसिक प० देवचन्द्र जी को श्राविकाओ की लिखित दो पत्रे मिले है जिनसे वे श्राविकाएँ कैसी विदुषी व आध्यात्मानुभूतिपूर्ण थी, ज्ञात होता है।

स्त्रियाँ व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, दानादि धार्मिक कार्यों में सदा अग्रणी रहती है। अनेक बार वे प्रेरणा करके धर्मकार्यों में जोडती है। जैन ऐतिहासिक ग्रन्थो में ऐसे बहुत-से प्रसग वर्णित है जिनमें श्राविकाओ ने अपने पतियो को तीर्थों का यात्रीसघ निकालने को प्रेरित किया और पति की अज्ञानता में स्वय सघ निकाले, मदिर बनवाये, प्रतियाँ लिखवाई, उग्र तपश्चर्याएँ की, तप उद्यापनादि, आचार्य पदोत्सवादि में हजारो रुपये खर्च किये। श्वे०-साहित्य के मणिकदेवी रास में जगतसेठ की मातुश्री मणिक देवी के सुकृत्यो का वर्णन है। इसी प्रकार वीरविजय रचित हवीसिह प्रसाद प्रतिष्ठा स्तवत हरकुअर स्तपनादि में सेठाणी के धार्मिक कार्यों की प्रशसा की गई है। खरतर गच्छा की पदावलि के अनुसार जिनधर्म सूरि का पदोत्सव स० १७११ में श्रा० विमला दे ने किया था। श्राविकाओ के बनवाये हुए मदिर व मूर्त्तियो

---

१. श्रीमद् देवचद्र भाग १ में ये पत्र प्रकाशित है।

का एव स्वर्णाक्षरी आदि विशिष्ट प्रतियो के लिखाने का उल्लेख प्रतिमालेखो एवं प्रशस्तियो में पाया जाता है ।

कतिपय विदुषी साध्वियो के परिचायक ऐतिहासिक गीत भी पाये जाते है, जिनमें से धर्मलक्ष्मी महत्तरा व उदयमूला प्रवर्तिनी नामक विदुशी आचार्याओ के गीतद्वय मुनि जिनविजयजी सपादित ऐतिहासिक राससचय में प्रकाशित है । इनका समय १६ वी शती का प्रारम्भ है इनमें से धर्मलक्ष्मी महत्तरा का वृत्तात गीत में विस्तार से दिया गया है ।

अब मै श्वेताम्बर साहित्य में जिन कतिपय विदुषी आचार्यों की रचनाएँ उपलब्ध है, उनका परिचय दे रहा हूँ ।

परिचयात्मक-टिप्पणी—

(१) गुण समृद्धि महत्तरा —खरतर गच्छ आचार्य जिनलब्धि सूरि के पट्टधर जिनचद्र सूरि की आप शिष्या थी । सवत् १४२७ में वीर जन्म दिन को जैसलमेर में अजराहा सूरि-चरित्र वनाया । प्रस्तुत ग्रथ प्राकृत भाषा मे ५०३ गाथाओ का है । जैसलमेर के वडे ज्ञानभडार में इसकी प्रतियाँ प्राप्त है ।

(२) पद्मश्री —इनके गच्छ व गरु आदि का परिचय ज्ञात नही हुआ । नेमि-चरित्र के आधार से रचित आपके चारुदत्त चरित्र की प्रति स० १६२६ लिखित प्राप्त है । अत इनका समय इससे पूर्व का या इसके आसपास का ही प्रतीत होता है । जैन साहित्य महारथी मोहनलाल देसाई ने अपने जैन गुर्जर कविओ भा० ३ के पृ० ५३५ में इसे स० १५४० के लगभग का रचित वतलाया है । इसकी भाषा प्राचीन गुजराती है व पद्य सख्या २५४ है देसाई लालाभाई पुस्तकोद्धार फड, सूरत में इसकी प्रति प्राप्त है ।

(३) हेमश्री —वड तपागच्छीय सुप्रसिद्ध कवि नयसुन्दर की आप शिष्या थी । आपके रचित कनकावती आख्यान की रचना सवत् १६४४ वैं० सु० १० को हुई थी । इसकी भाषा गुजराती व पद्य-सख्या ३६७ है । प्रवर्तक काति विजय के सग्रह में इसकी प्रति उपलब्ध है ।

(४) सिद्धश्री —इनका सवत् १९१६ में रचित प्रतापसिह बाबूरास प्रकाशित है । जिसमें ऊजीमगज के धर्मप्रेमी वाबू प्रताप सिंह जी के धर्मकृत्यो का उल्लेख है ।

श्वे० जैन साध्वियो के रचित उल्लेखनीय ४ ग्रन्थ ही मिलते है । इसके अतिरिक्त कुछ लघु रचनाएँ, गीत, फाग आदि प्राप्त हैं । उनका भी यहाँ निर्देश कर दिया जाता है —

(१) विनयचूला —आगम गच्छीय हेमरत्न सूरि की आप आज्ञानुवर्तिनी थी जिनका समय स० १५०० के लगभग का है ।

आपने गुरुभक्तिवश हेमरत्न सूरि फाग ११ पद्यो में वनाया है, जिसकी प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है ।

(१) आपके १ संबोध सत्तरी व वैराग्यशतक के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं ।

(२) हेम सिद्धि —खरतर गच्छीय प्रवर्तिनी लावण्य सिद्धि की आप शिष्या थी, जिनका स्वर्गवास सवत् १६६४ में बीकानेर में हुआ था। आपके रचित लावण्य सिद्धि व सोम सिद्धि निर्वाण गीत हमारे सपादित ऐतिहासिक जैनकाव्य-सग्रह में प्रकाशित है।

(३) विद्यासिद्धि —आप भी खरतर गच्छीय थी। इनका रचित गुरुणी गीत हमारे सम्पादित ऐ० जै० काव्यसग्रह में प्रकाशित हो चुका है। इनका जिनराजसूरि गीत गा० ५ भी हमारे सग्रह में है।

(४) जयमाला —इनका समय १६ वी शती व गच्छ खरतर है। आपके रचित १ जिन चद्रसूरि गीत गा० ७ व चन्द्रप्रभु जिनस्तवन गा० ७-३ हमारे सग्रह में उपलब्ध है।

२० वी शती में कई विद्वान् साध्वियाँ हुई व है जिनमें से स्थानकवासी समाज में आर्या पार्वती कवयित्री भी थी, इनके रचित कई अन्य ग्रन्थो के साथ १ वृत्तमण्डली (स० १८४१) २ अजितसेन कुमार ढाल (स० १८६१) ३ सुमित्रचरित्र (स० १८६१) ४ अरिहयन चौ० आदि ग्रन्थ भी प्राप्त है। विद्यमान कवयित्रियो में खरतरगच्छीय प्रेमश्री जी व प्रमोदश्री जी के स्तवनादि का सग्रह छप चुका है एव पूज्य विचक्षण श्री जी कोमल उपनाम से स्तवनादि बनाती है, सभव है कुछ और भी हो पर उनकी रचनाओ का पता नही चला।

वैसे विद्वान् साध्वियाँ व श्राविकाएँ कई हैं जिनमें से वल्ल ममीजी, प्रमोद श्रीजी, राजेन्द्र श्री जी, विनय श्री, श्री कल्याण श्री आदि एव श्राविकाओ में श्रीमती हीराकुमारी (दर्शनशास्त्र की विद्वान् हैं) आदि उल्लेखनीय है। दिनेश नदिनी चोरडिया आदि अन्य कई लेखिकाएँ है पर उनका जैन-धर्म से विशेष सम्बन्ध नजर नही आता।

---

(२) आपका युगादिदेसना व उपासक दशासूत्र का अनुवाद छप चुका है।

(३) आपके क्षमाकल्याण जी रचित संस्कृत चौबीसी अनुवाद व चैत्यवंदन स्तुति संग्रह छप चुके हैं। श्री चंद्रकेवली चरित्र का हिन्दी-अनुवाद भी आपने किया था, पर वह अप्रकाशित है।

(४) रूपसेन चरित्र का अनुवाद किया है जो कि शीघ्र ही छपने वाला है।
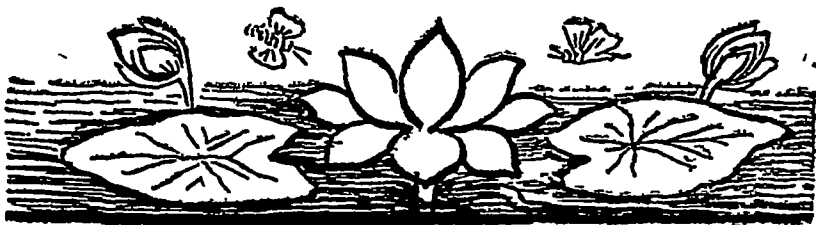
बौद्ध संस्कृति में नारी

श्री वैजनाथ सिंह 'विनोद'

प्रस्ताविक—

किसी भी काल की सास्कृतिक दशा की जानकारी के लिए, उस काल की स्त्रियो की अवस्था की जानकारी वहुत जरूरी है। जव से सगठित रूप से खेती का आविष्कार हुआ तव से धीरे-धीरे स्त्रियों की स्थिति गिरती गई। ऋग्वेद में स्त्रियो की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है। सभवत स्त्रियों की वह अवस्था उस समय की है जव आर्यों का आगमन अम्वाला के आसपास ही हुआ था, पर ज्यों-ज्यो आर्य गण पूरव में वढने लगे त्यो-त्यो वह अपनी सामाजिक परम्परा को भूलने लगे और यहाँ की प्राचीन जातियो की परम्पराओ को अपनाने लगे।

प्राचीन सामाजिक परम्परा—

ऋग्वेद के यम-यमी सवाद से सिद्ध है कि वहुत पहले सगे भाई वहनो में प्रणय सम्वन्ध था। कुछ जैन विद्वानो का मत है, कि ऋषभदेव से पहले भाई-वहनो में शादी होती थी। कहा जाता है कि इस प्रथा को वन्द करने मे पुराने जैन महात्माओ का हाथ था। मामा और फुआ के लडके लडकियां मे तो उत्तर प्रदेश में भी भगवान् महावीर के काल तक शादियाँ होती थी। महात्मा वुद्ध के जन्मस्थान कपिलवस्तु नगर के निर्माण के मूल में भी भाई-वहन की शादी की कथा है। प्राचीन साहित्य को देखने से यह भी मालूम होता है कि उत्तर और उत्तर-पूर्व के प्रदेशो में ही वहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचल थी। इस प्रदेश में वहुपत्नीत्व का विधान तक वनाया गया। वस्तुत कुल के वढाने का जरिया सन्तानका वढाना था और सन्तान वढाने का तरीका था अनेक स्त्रियो को रखना। इससे सैनिक शक्ति भी वढती थी और जीती हुई जमीन पर कुल का अधिकार भी वना रहता था। कुल को पवित्र रखने की भावना भी मामा-फूफू जात भाई-वहिनो की शादी में निहित है। यह कुलाभिमान भी स्त्रियों की सामाजिक मर्यादा को जकड़ने का एक वडा कारण है।

बौद्ध-काल में सामाजिक वातावरण—

उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर और यह भी देखते हुए कि वुद्ध का धर्म वैराग्य-प्रधान था, बौद्ध-दर्शन में नारी का स्थान निश्चित करना उचित होगा। कोई भी महापुरुष

अपने आदर्श को अपने समय की जमीन पर उतारना चाहता है । इसलिए वह जो कुछ भी करता है, उस पर पूरा विचार करने के लिए समसामयिक सामाजिक धरातल की जानकारी आवश्यक है ।

एक समय महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु में विश्राम कर रहे थे । उसी समय महाप्रजापति ने वहाँ जाकर प्रणाम पूर्वक निवेदन किया—"प्रभो, स्त्रियो को भी गृहत्याग करके अपने प्रचारित धर्म अनुशासन में रहने और भिक्षुणी बनने की अनुमति प्रदान करें तो बडा कल्याण हो ।" इस पर बुद्ध ने कहा—"गौमती, तुम ठीक कहती हो, पर स्त्रियो के इस प्रकार की अनुमति पाने से तुम्हारा आनन्दित होना उचित नही ।" महाप्रजापति के तीन बार निवेदन करने पर भी भगवान् ने यह एक ही उत्तर दिया । इस पर वह दुखी और रुआसी होकर चली गई ।

कुछ दिनो बाद एक दिन महाप्रजापति ने सिर मुडा, गेरुआ रग का वस्त्र पहन, कुछ शाक्य स्त्रियो को साथ ले वैशाली की ओर, जहाँ उस समय भगवान बुद्ध थे, प्रस्थान किया । महाप्रजापति के साथ शक्य स्त्रियो का यह सत्याग्रही दल जिस सघाराम में भगवान् निवास करते थे उसके दरवाजे पर आ डटा । बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द को यह खबर मिली—उसने महाप्रजापति से पूछा । उत्तर मिला, "आनन्द, भगवान् तथागत स्त्रियो के गृहत्याग और अपने धर्मानुशासन के अनुकूल भिक्षुणी होने की अनुमति नही देते, इसलिए हमलोग यहाँ खडी है ।" आनन्द ने महाप्रजापति के आने का उद्देश्य भगवान् को बताकर निवेदन किया कि महाप्रजापति की कामना पूर्ण करें । इस पर भगवान् ने कहा—"आनन्द तुम ठीक कहते हो, पर स्त्रियो को इस प्रकार अनुमति देना ठीक नही है ।" इस पर युक्ति के साथ आनन्द ने पूछा—"प्रभु, ससार त्याग करके भगवान् के प्रचारित नियम, और अनुशासन का पालन करती हुई वे स्त्रियाँ यदि भिक्षुणी हो, तो क्या उपदेश ग्रहण करने से वे धर्म को न पा सकेंगी, या निर्वाण के दूसरे अथवा तीसरे सोपान पर न चल सकेंगी या अर्हत्-पद को पा सकने में समर्थ न होगी ?" उत्तर मिला—'यह सब शक्ति उनमें है' । इस पर अनेक प्रकार से आनन्द के समझाने पर बुद्ध ने आठ सरल अनुशासनो के पालन का वचन लेकर महाप्रजापति को अपनी साथियो के साथ भिक्षुणी होने की अनुज्ञा दी । पर साथ ही भगवान ने यह बता दिया —"आनन्द, स्त्रियाँ यदि गृहस्थाश्रम-धर्म का त्याग करके तथागत के नियम और अनुशासन के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति न पाती, तो यह पवित्र धर्म बहुत दिनो तक चल सकता, यह श्रेष्ठ अनुशासन हजार वर्ष तक टिकता । पर आनन्द, चूँकि स्त्रियो ने अनुज्ञा प्राप्त कर ली इसलिए यह पवित्र धर्म बहुत दिनो तक स्थायी नही रह सकेगा, और यह उत्कृष्ट अनुशासन पाच सौ वर्ष मात्र चलेगा ।

बौद्ध-जीवन में नारी का आगमन—

उपर्युक्त कथन का अर्थ यह कदापि नही कि बुद्ध स्त्रियो को हीन समझते थे । बुद्ध के जीवन में अम्बपाली वेश्या से लेकर सभ्रान्त से सभ्रान्त महिला के लिए कही भी अवमानना नही है । बुद्ध "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" सर्व-त्यागियो और अपरिग्रहियो की एक विराट सेना जुटाना चाहते थे । वे क्रोध को क्षमा से, कुचरित्रता को सच्छील से (दुनिया के, स्वर्ग के या मुक्ति के)

लोभ को दान से और झूठ को सत्य से जीतने वालो का संघ स्थापित करना चाहते थे। इसके लिए अपरिग्रह की सख्त जरूरत थी, और तात्कालिक समाज में परिग्रहो में स्त्री परिग्रह पहला था। यही कारण था कि स्त्रियो को प्रव्रजित होने से वे सुखी नही हुए। उनका वैसा सोचना सही भी था। बीस पुरुषो के एक साथ रहने से भी उनका ससार एक कदम आगे नही वढ़ता, पर यदि वहाँ एक भी स्त्री आ गई, तो उनकी दुनिया कहाँ से कहाँ चली जाती है। कारण स्पष्ट है। प्रकृति स्त्री के द्वारा विकास पाती है अथवा यो कहें कि प्रकृति के विकास का साधन स्त्री है। इसलिए अहिंसक सैनिको को उस काल में स्त्री परिग्रह से बचाना बुद्ध के लिए जरूरी था। पर जब उन्होंने स्त्रियो को प्रव्रजित होने की अनुज्ञा दे दी, तब सभावित दोषों के मार्जन के लिए आठ अनुशासन भी लगा दिए।

सघ में दाखिल हो जाने पर भिक्षुणियो के लिए भी नियम बने। कुछ विद्वानो के अनुसार इन नियमो की सख्या छियालीस है। इन नियमो में यौन सम्बन्ध के प्रति तीव्र सजगता है। साथ ही एक नियम यह भी है कि—'भिक्षु भिक्षुणी को नमस्कार नहीं करेगा, अथवा सम्मान नही प्रदर्शित करेगा।' ऐसे नियम किस अभिप्राय से बनाये गये, यह बताना कठिन है, पर इसमें शक नही कि इनसे स्त्रियो की सामाजिक मर्यादा सकुचित हुई। मनु-काल में तो ये नियम और भी कडे थे।

विद्वानो का मत है कि 'मानसिक, नैतिक, पारिवारिक एव सामाजिक दु खो से छुटकारा पाना अथवा किसी असह्य अवस्था से मुक्त होने के लिए स्त्रियाँ अपने पति, पुत्र और पिता को छोडकर सघ की शरण लेती थी। पण्डित हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि . बहुत सी युवतियाँ ज्यादा रुपयो में विकने के अपमान से बचने के लिए और बहुत सी चिन्तनशील स्त्रियाँ युग-युगान्तर के संस्कारो से अपने को मुक्त करने तथा मुक्तिपथ की बाधाओ से बचने के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करती थी। सघ की शरण में जाकर स्त्रियो को अपनी मुक्ति की साधना में सभी सुविधाएँ थी। श्रमण संस्कृति में खासकर बौद्ध सस्कृति में ध्यान को बहुत महत्त्व दिया गया। ध्यान के लिए जगल ही पहले उपयुक्त स्थान समझा जाता था। सघ में शामिल होने वाली भिक्षुणियो के लिए अरण्य निवास करना होता था। ऐसे ही अवसर पर बौद्ध भिक्षुणियो में सर्व श्रेष्ठ उत्पल वर्षा पर आसक्त उनके मामा के लडके नन्द ने धोखे से उस पर अत्याचार किया। उत्पल वर्षा ने जब इस अत्याचार की कथा भगवान से कही, तब बुद्ध ने भिक्षुणियो के लिए अरण्य निवास का निषेध कर दिया। भिक्षुणी शुभा पर जीवक के आम्र कुज में भ्रमण करते समय एक लम्पट ने बुरी नीयत से आक्रमण किया, जब समझाने पर भी नही माना, तो शुभा ने क्रोध से उसका हाथ पकड़कर झटक दिया। इस तरह और भी कितनी घटनाएँ उस समय की भिक्षुणियो के चरित्र बल पर प्रकाश डालती है।

बौद्ध सघ में बहुत सी चिन्तनशील स्त्रियाँ बौद्धिक और आध्यात्मिक आकर्षण से प्रविष्ट हुई थी। निश्चय ही सघ में दाखिल होने के पहले उनकी जिज्ञासा बलवती थी। पर उस काल में स्त्री शिक्षा के लिए किसी विद्यालय का जिक्र नही मिलता। घरो में ही लडकियो की शिक्षा होती थी और घरो के अन्दर ही उनकी धार्मिक जिज्ञासा भी जगती थी। बाद में जब भिक्षुणियो का सघ बन गया तो उनकी शिक्षा की ठीक व्यवस्था मठो में हुई। मठो में भिक्षुणियो को विधिवत् बौद्ध-

शास्त्रो तथा और भी सामाजिक चिन्ताधाराओ का ज्ञान कराया जाता था। विद्वानो का मत है कि थेरी गाथा बौद्ध भिक्षुणियो की रचना है। प्राचीन पाली साहित्य में दर्जनो धुरन्धर दार्शनिक भिक्षुणियो का जिक्र मिलता है। सयुक्त निकाय में सुक्का नामक एक भिक्षुणी द्वारा राजगृह मे धर्मोपदेश का उल्लेख है। भिक्षुणी क्षेमा का विनयपिटक पर पूरा अधिकार था। वह वक्तृत्व-कला में निपुण थी। कहा जाता है कि एक बार प्रसेनजित ने उसके पास जाकर पूछा—"मृत्यु के बाद जीव का पुनर्जन्म होता या नही ?।"

क्षेमा — 'भगवान् बुद्ध ने इसका कोई उत्तर नही दिया है।"

राजा — "भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर क्यो नही दिया है ?"

क्षेमा.— "आप ऐसे किसी को जानते है, जो गगा की बालू और समुद्र के जल-बिन्दुओ को को गिन सके ?"

राजा — नही।

क्षेमा — "यदि कोई पचस्कन्धो के आकर्षण से अपने को मुक्त कर सकेगा, तो वह असीम अतलस्पर्शी समुद्र का आकार धारण कर सकेगा, अत मत्यु के बाद जीव के पुनंजन्म की धारणा अतीत की बात है।" इस उत्तर से राजा खुश हो गया। उसी काल में भद्दा कुण्डलकेशा सारिपुत्र के समकक्ष पण्डिता थी।

बौद्ध-धर्म की व्यापकता—

बौद्धधर्म का प्रधान सुर था—"बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" इसलिए उसमें प्रचार की भावना बहुत बलवती थी। यह बहुत आसानी से कहा जा सकता है कि सेवा और नम्रता से अपने सिद्धान्त के प्रचार का उदाहरण बौद्ध-धर्म के अलावा और कही नही है। सम्राट् अशोक के प्रोत्साहन से बौद्ध सघ के अन्दर प्रचार की भावना और भी बलवती हुई। सम्राट् अशोक की पुत्री ने प्रव्रज्या ग्रहण की और सिंहल में बौद्ध धर्म के प्रचार का जिम्मा लिया। उसके साथ बहुत सी पण्डिता भिक्षुणियाँ सिंहल में धर्मप्रचार के लिए गई। सघमित्रा त्रिविध विज्ञान में पारदर्शिनी थी। विनयपिटक पर उसका पूरा अधिकार था। अनुराधपुर के बौद्ध विहार में सुत्तपिटक के पाँच और अभिधर्म के सात ग्रथो की वह शिक्षा देती थी। इसके अलावा अजलि, उत्तरा, सपत्ता, छन्ना, उपालि, रेवती इत्यादि करीब तीस सर्व-शास्त्र-पारगता भिक्षुणियो का जिक्र सिंहल के साहित्य में मिलता है।

बौद्धधर्म सदाचार-परायणता, बुद्धि की प्रधानता और लोक-जीवन के मेल के साथ जोरो से फैलता गया। जैसे-जैसे बौद्ध-धर्म बढता गया, वैसे-वैसे ही क्रमश उसमें नाना प्रकार के लोग भी आते गये। बुद्ध-निर्वाण के १०० वर्ष बाद, अर्थात् वैशाली की सगति के पश्चात् उसमें दो सम्प्रदाय हो गये थे। अशोक के समय में बौद्ध सघ में कुछ अवाछनीय व्यक्ति आ गये थे, जिन्हें निकाला गया था। बौद्ध के द्वारा प्रोत्साहन मिलने से बौद्धधर्म पूरी बाढ पर था। इस काल में हजारो मठ बने।

मठो में दान की विपुल सम्पत्ति जमा होने लगी। सघ में भिक्षुणियो का प्रवेश पहले ही हो चुका था। इस प्रकार जिस धर्म में परिग्रहण का कोई स्थान नही था, भिक्षु के लिए जहाँ सिर्फ तीन चीवर और एक पात्र रखने की आज्ञा थी वहाँ (स्त्री, सम्पत्ति) दोनो प्रधान परिग्रह जमा हो गये। इसका जो परिणाम होना था वही हुआ। महापण्डित राहुल सास्कृत्यायन के अनुसार ईसा की पहली शताब्दी में बौद्धधर्म के अन्दर एक वैपुल्यवादी सम्प्रदाय पैदा हो गया। यह सम्प्रदाय बुद्ध के मूल उपदेशो मे अलग जा पडा। इसका कहना था —(१) सघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध या उसका उपभोग करता है, न सघ को देने में महाफल है, (२) बुद्ध को दान देने मे न महाफल है, न बुद्ध लोक में आकर ठहरे और न बुद्ध ने धर्मोपदेश किया, (३) खास मतलब से (एकाभिप्रयाण) ब्रह्मचर्य का नियम तोडा जा सकता है। यहाँ ऐतिहासिक बुद्ध के अस्तित्व मे इन्कार किया गया है, सघ के प्रति गलत धारणा का प्रचार किया गया है और ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता हटा ली गई है। इससे साफ जाहिर होता है कि दूषित मनोवृत्ति के भिक्षुओ ने अपनी सुविधा के लिए इस सिद्धान्त को गढा। राहुल जी इन्ही तीनो वातो के अन्दर महायान और वज्रयान के बीज पाते हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि बौद्ध मठो में अनाचार फैल गया। भिक्षु और भिक्षुणियाँ दोनो का चरित्र भ्रष्ट हो गया और लोकदृष्टि में उनका मूल्य गिर गया। इन्ही तथा कुछ और कारणो से बौद्ध धर्म का ह्रास हो चला। इस तरह भगवान् बुद्ध की भविष्यवाणी के अनुसार पाच सौ साल वाद उनके अनुशासित धर्म का अन्त हो गया।

बौद्ध-कालीन सामाजिक नियम—

बुद्ध के समय में कोई सार्वभौम सत्ता नही थी, इसलिए किसी सार्वभौम सामाजिक कानून का पता नही लगता। पर बुद्ध निर्वाण के १५८ वर्ष वाद सन् ईसवी से ३२५ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य ने सार्वभौम सत्ता कायम की। उसीके समय में उसके प्रधान मत्री कौटिल्य ने "अर्थ-शास्त्र" नामक विधान-ग्रन्थ वनाया। कौटिल्य के पहले भी कुछ विधानग्रन्थ थे, जिनका अब पता नही लगता। इसमें शक नही कि वे सब विधान छोटे-छोटे गणतन्त्रो के रहे होंगे। जो हो, पर इतना सही है कि कुछ प्राचीन पाली साहित्य और कौटिल्य अर्थशास्त्र से उस काल की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पडता है, जिसके अन्दर से हमें स्त्रियो की सामाजिक मर्यादा का पता लग सकता है।

धम्मपद अट्ठकथा के दूसरे खण्ड में उल्लेख है कि १५ साल की उम्र में लडकियो के मन में पुरुष सग लाभ की इच्छा वलवती हो उठती है। विद्वानो का मत है कि साधारणत लडकियो की शादी १५ वर्ष की उम्र में कर दी जाती थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र (प्रकरण २७ कन्याकर्म ११, १२, १३) के अनुसार—"यदि तीन वर्ष तक मासिक धर्म होने पर भी कन्या न व्याही जाय तो उसकी जाति का कोई भी पुरुष उसका सग कर सकता है। यदि तीन साल से अधिक वक्त गुजर जाय तो किसी भी जाति का पुरुष उसको अपनी स्त्री वना सकता है। पर लडकी के माता-पिता का आभूषण लेने पर उसे चोरी का दण्ड दिया जा सकता था।" इससे ज्ञात होता है कि उस काल में लडकियो की रक्षा और उनकी शादी की समस्या थी।

साधारणत तीन तरह के विवाह उस समय प्रचलित थे । (१) उभयपक्ष के माता-पिता द्वारा स्वीकृत (२) स्वंयवर और (३) गन्धर्व विवाह । पर कौटिल्य अर्थशास्त्र मे आठ प्रकार के विवाह का विधान है । कौटिल्य गन्धर्व विवाह को अच्छी दृष्टि से नही देखता था । इससे मालूम होता है कि सामाजिक विश्रृखलता को दूर करने के लिए गन्धर्व विवाह पर हल्के नियन्त्रण की जरूरत थी । शादी के समय मुहूर्त्त देखने और नक्षत्रो की गतिविधि पर चलने की प्रथा उन दिनो थी । नक्खत्त—जातक से मालूम होता है कि ठीक मुहूर्त्त पर बारात न आने पर एक ग्रामवासी ने उसी मुहूर्त पर अपनी लडकी की शादी दूसरे के साथ कर दी । जब पूर्व निश्चित बाराती आए तब उन्हे वापस जाना पडा । विवाह के समय दहेज की प्रथा थी । माता-पिता अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को सम्पत्ति, ग्राम, दास और दासी भी देते थे । शायद इस दहेज के अधिकाश पर स्त्री का ही अधिकार होता था । वह स्त्रीधन समझा जाता था । कौटिल्य कहता है कि स्त्री-धन दो प्रकार का होता है, एक वृत्ति, दूसरा आवध्य (गहना, आभूषण आदि) वृत्ति यह स्त्री-धन कहलाता है, जो स्त्री के नाम से कही जमा किया हो । उसकी तादाद कम से कम दो हजार होनी आवश्यक है । इस स्त्री-धन को पति के विदेश चले जाने पर लाचारी अवस्था में परिवार पर विपत्ति के समय या पति के विना किसी प्रकार की सम्पत्ति छोडे मर जाने पर स्त्री को खर्च करने का अधिकार रहता था । पर कही कौटिल्य यह भी कहता है कि पति के मर जाने के बाद यदि स्त्री अपने ससुर की इच्छा के विरुद्ध दूसरा विवाह करना चाहे, तो वह उस धन की अधिकारिणी नही होगी ।

बौद्ध-धर्म के नारी निर्देश—

विवाह के बाद ससुराल जाने के समय लडकी को कुछ उपदेश दिये जाते थे । उन उपदेशो से भी स्त्रियो की दशा पर रोशनी पडती है । उपदेश इस प्रकार है—घर की अग्नि बाहर न ले जाना, बाहर की अग्नि भीतर न लाना, जो देने लायक हो उसीको देना, जो देने लायक न हो उसे न देना, जो देने लायक और न देने लायक हो, उन दोनो को देना, सुख से बैठना, सुख से भोजन करना, सुख से सोना, अग्नि परिचर्या करना और गृहदेवता की भक्ति करना ।

दस मूल उपदेशो की व्याख्या इस प्रकार की जाती थी ।

(१) यदि सास या परिवार की दूसरी स्त्रियाँ घर में किसी बात की चर्चा करे तो, उसे किसी दास दासी से न कहना । कारण, इससे उक्त चर्चा को लेकर तरह-तरह की कल्पना और गृह-कलह की सम्भावना होती है ।

(२) दास-दासी जो कुछ चर्चा करे उसे परिवार के लोगो पर जाहिर न करना । कारण, इससे नाना प्रकार की बाते पैदा होती है और झगडा पैदा होता है ।

(३) सिर्फ उसी को उधार देना , जो वापस दे सके ।

(४) उसे उधार मत देना जो वापस न दे सके ।

(५) यदि गरीब कुटुम्बी, रिश्तेदार, बन्धु मागे तो वापस मिलने का ख्याल न कर देना ।

(६) सास ससुर को देख कर शिष्टता पूर्वक बैठना अथवा खडे हो जाना ।

(७) सास, ससुर, पति और अपने से बडी स्त्रियो की सोने की व्यवस्था के बाद सोना ।

(९) सास, ससुर, पति के प्रति आदर का भाव रखना ।

(१०) यदि किसी समय कोई श्रमण दरवाजे पर आ जाय तो आदरपूर्वक उसको भोजन से तृप्त करना । (धम्मपदत्थ कथा, प्रथम खड)

बौद्ध-गृहिणियाँ—

बौद्ध गृहिणी में उपर्युक्त सेवाभाव के साथ ही स्वाभिमान का गौरव भी उचित मात्रा में था । अंगराष्ट्र निवासी धनजय सेठ की पुत्री विशाखा ने अपने बहुत बडे धनशाली ससुर श्रावस्ती के मिगार सेट्ठी के क्रोध की कुछ परवाह नही की । विशाखा अपने ससुर को भोजन करा रही थी, इसी समय श्रमण दरवाजे पर आया । श्रमण को देखकर मिगार सेट्ठी नीची गर्दन कर खाता रहा था, इस पर विशाखा ने कहा –"माफ करे भन्ते । मेरा ससुर पुराना खाना खाता है ।" इस पर मिगार सेट्ठी ने क्रुद्ध होकर खाना हटा दिया और दासियो से कहा कि विशाखा को इस घर से निकाल दो । पर विशाखा वैसी न थी, उसने कहा—"तात, मैं वचन मात्र से नही निकलती, मैं कुम्भदासी की तरह पनघट से तुम्हारे द्वारा नही लाई गई हूँ । . आओ कुटम्बियो को बुलाकर मेरे दोषो पर विचार करो ।" आठो कुटुम्बी जुटे और उन्होने विशाखा के पक्ष में फैसला किया । इस पर विशाखा ने कहा—'पहले मेरे ससुर के वचन से मेरा जाना ठीक न था । मेरे आने के दिन मेरे पिता ने दो शोधन के लिए तुम्हारे आठ कुटुम्बियो के हाथ में रख कर मुझे दिया था । अब मेरा जाना ठीक है ।' यह कह कर दास-दासियो को पान तैयार करने की आज्ञा दी । तब उन कुटुम्बियो को लेकर सेट्ठी ने विशाखा से क्षमा याचना की ।

बौद्ध-कालीन दासिनी-नारी—

दास-प्रथा उस काल में थी—दास-दासियो का क्रय-विक्रय भी होता था । किसी-किसी परिवार में सैकडो दास-दासियाँ रहती थी । अपनी योग्यता से मालिक को खुश करके दासियाँ मुक्त हो जाती थी । अनाथ पिंडक ने अपनी क्रीत दासी पुन्ना को तर्क में होशिआर होने के कारण मुक्त कर दिया । थेरीगाथा के अनुसार दासो के ऊपर मालिक का पूर्ण अधिकार था । मालिक जब तक उसे मुक्त न करे, उसका छुटकारा नही था । कभी-कभी गुस्से में मालिक दासो को मार भी डालते थे । दास-दासियो में चोरी-चोरी की कुचरित्रता भी थी । बुद्ध के प्रचार जन-चित्त दासो के प्रति कुछ करुणासिक्त हुए। यही कारण है कि दासो को मुक्त होने का रास्ता कौटिल्य ने निकाला कि दास की सन्तान पर उसके मालिक का अधिकार न होगा ।
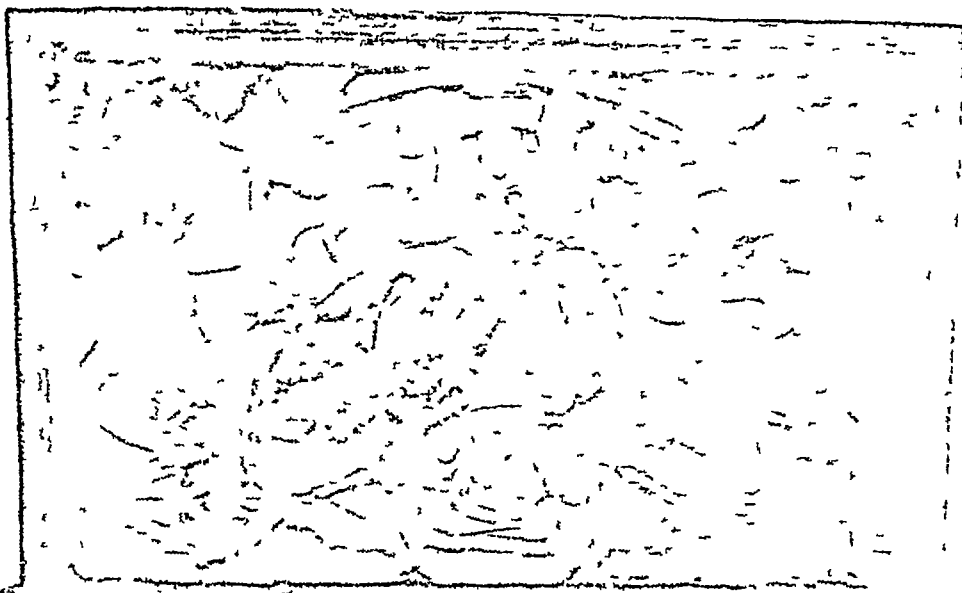
3-120 HALF PORTION OF A JAINA AYAGAPATTA WITH A TIRTHANKARA IN THE CENTRE

[illegible]
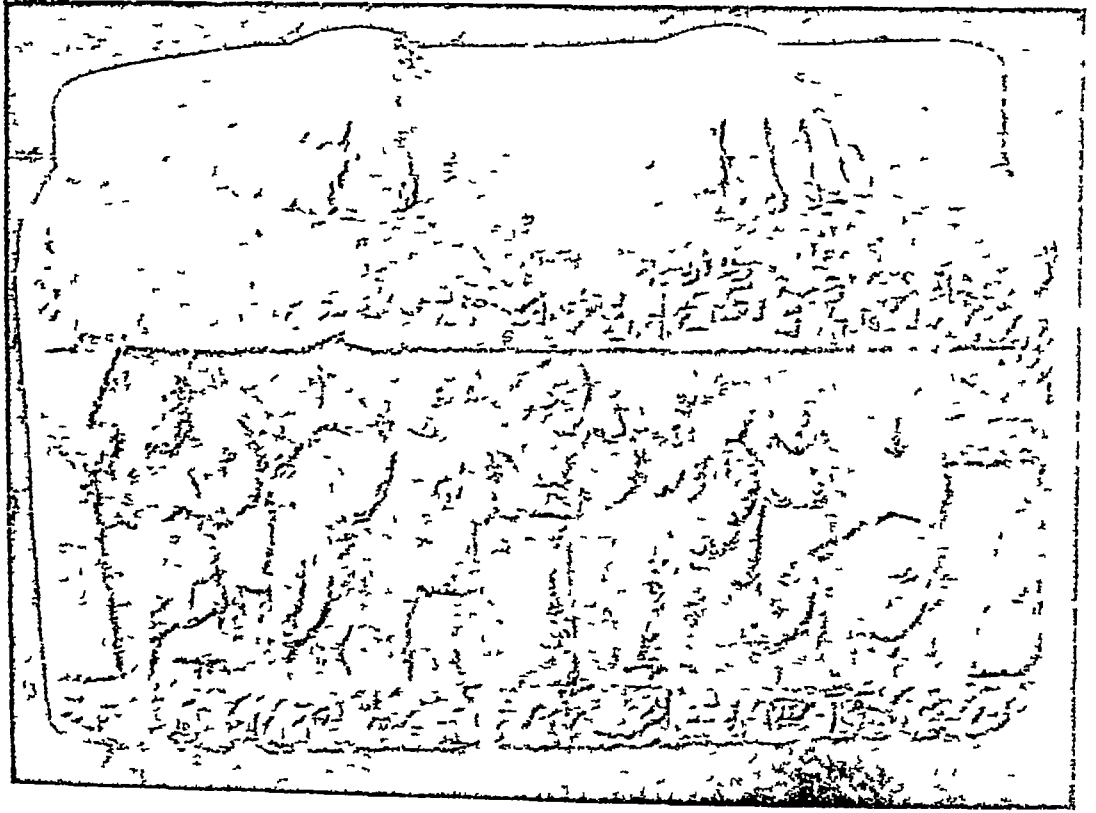
मथुरा जैन-स्तूप—खुदे हुए जैन चरण

नये चीन की नारी

श्री देवेन्द्रपाल 'सुहृद' एम० ए०

चीन में नारी-जागरण—

अभी एक अर्ध-दशाब्दी भी न बीती होगी जब कि चीनी महिलाओ को पशुओ के समान बाजार मे बेचा जाता था। उन्हे घरो से बाहर झांकने तक की आज्ञा न थी। चीनी एक कहावत है जिसका अर्थ है कि 'स्त्री का बचपन में पिता की, जवानी में पति की और बुढापे में पुत्र की आज्ञा पालन करना ही परम-धर्म है।' सरक्षको की जैसी इच्छा हुई किसी भी काने, मेडे, लगडे, लूले, बूढे, जवान के साथ शादी कर दी और उस होने वाले पति को उस बेचारी स्त्री को दिखाया तक न जाता था। गृहस्थ-जीवन मे उनके साथ दासिओ और गुलामो जैसा व्यवहार किया जाता था। वे अपनी इच्छा से कुछ भी नही कर सकती थीं। पति मनोरजन में कहे वाक्यो तक पर पत्नी को त्याग सकता था अथवा मार-मार कर उसके प्राणान्त तक कर सकता था किन्तु विवश चीनी नारी पति द्वारा पाशविक अत्याचार करने पर भी उसे छोड नहीं सकती थी। बाल-विधवाओ की दुवारा शादी करने से उन्हें मरवा देना श्रेयस्कर समझते थे। व्यापार, कला, कौशल, समाजसेवा शिक्षा आदि मे उनका प्रवेश वर्जित था। यदि इस ससार में उनका कोई काम था तो केवल पति की गुलामी करते हुए उसके लिए बच्चे पैदा करना। शिक्षा के नाम पर उन्हें काला अक्षर भैंस बराबर था। पर स्वतन्त्र होने के बाद तीन वर्ष में ही चीनी महिलाओ ने आशातीत उन्नति की है जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकते थे। यहाँ हम चीनी नारी की विभिन्न क्षेत्रो में की गई प्रगति पर विचार करने का प्रयास करेंगे।

शिक्षा—

नये चीन की नारियो मे साक्षरता आन्दोलन को बहुत सफलता मिली। शिक्षा-प्रसार के लिये वहाँ की जनता ने चीनी सरकार की ओर न देखा अपितु वहाँ की समाजसेवी सस्थाओ ने स्वयं ही शिक्षा-प्रसार के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। 'अखिल चीनी नारी सघ' और 'अखिल चीनी श्रम संघ' ने रात के स्कूलो की स्थापना की। इन स्कूलो द्वारा पिछले दो वर्षों में ही डेरिन और पोर्टआर्थर दो नगरो में १२९००० नारियो को साक्षर बनाया जा सका। पैकिंग विश्वविद्यालय में सन् १९४८ में ५% छात्राएँ नही थी वही पर सन् १९५० में ७००० विद्यार्थियो में से ३०% छात्राएँ हो गईं। इसी प्रकार के कुछ और आंकडे भी हमें शिक्षा में की गई प्रगति से परिचित करा सकेंगे। हारविन में तीन वर्ष पूर्व एक मिडिल स्कूल था जिसमें ५ छात्राएं पढती थी किन्तु आज उसी हारविन में ७ मिडिल स्कूल हैं जिनमें

चौथाई सख्या छात्राओ की है। चीन मे छात्र छात्राएँ सभी मिलकर एक साथ पढ़ते है। जिन स्कूलों में पहले नाम के लिए कुछ छात्राएँ होती थी सन् ५० के आकड़ो से विदित होता है कि चीन के प्राइमरी स्कूलो में ४० %, मिडिल स्कूलो में २८ % तथा उत्तरी चीनी विश्वविद्यालय, उत्तरी विज्ञान इन्स्टीच्यूट आदि में छात्राओ की संख्या ३० % से भी अधिक थी। आज वहाँ हर ग्रामीण-कृषक परिवार की नारी, संसार और विशेषत. अपने देश के बारे में जानने के लिए, दैनिक समाचार पत्र पढना अपना प्रमुख कार्य समझती है। अक्षर ज्ञान के साथ-साथ इन चीनी नारियो की औद्योगिक शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। जापानियो की भाँति आजकल ये भी गृहउद्योग कला में पूर्ण पारंगत है। ग्रामीण दाइयो को चलते-फिरते स्कूलो द्वारा आधुनिक शिशु-उत्पादन-क्रियाओं की शिक्षा दी गई, जिससे कि वे नये औजारो से काम लें और बच्चा आसानी से बिना अपनी माँ को विशेष कष्ट दिये नीरोग पैदा हो। मिलो में काम करने के लिए उन्हें कल-पुर्जों से भी विज्ञ बनाया गया। शिशु-रक्षक-गृहो में उचित व्यवस्था रखने के लिए शिशु-पालिकाओ को विशेष शिक्षा दी गई जिससे कि वे बच्चो का स्वास्थ्य ठीक प्रकार से रख सकें। इस प्रकार चीनी नारी को जीवन के हर सम्भव पहलू पर शिक्षित बनाने के प्रयास किये गये और वे विशेषत. सफल हुए।

मनोरञ्जन के ढंग—

शिक्षा-प्रसार से पूर्व चीनी नारियो का प्रिय मनोरजन का ढंग केवल तास खेलना था। उसके बाद वह कैरम तथा अन्य नडोर (घर में खेलने वाले) खेल भी खेलने लगी थी। किन्तु आज वे स्वतन्त्र है और क्लबो में जा स्वास्थ्यप्रद वातावरण में मनोरंजन करती हैं। सिनेमाओ द्वारा वहाँ मनोरजन ही नही किया जाता अपितु उन्हे विभिन्न सामाजिक, औद्योगिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अन्य विषयो में शिक्षा भी मनोरंजन के साथ निहित होती है। इस प्रकार मनोरंजन तो होता ही है स्वास्थ्य और ज्ञान की भी वृद्धि होती है।

व्यापार और उद्योग—

पिछले दो वर्षों में महिला-औद्योगिक-कर्मचारियो की संख्या बहुत बढ़ गई है। चीन को स्वतन्त्रता मिलने के बाद वहाँ की नारियो को पुरुष के साथ बराबरी का अधिकार मिल गया है। वहाँ की नारी-मजदूरो को सब एक से कामो में पुरुष-मजदूर के बराबर ही तनख्वाह दी जाती है। तवाई जो चीन का प्रमुख औद्योगिक केन्द्र है वहाँ पर टैक्सटाइल कर्मचारियो में ७५ % से ८० % तक महिला कर्मचारी है। यहाँ औद्योगिक-महिला-कर्मचारियो की सख्या लगभग ४२४००० है जो विभिन्न क्षेत्रो पर काम कर रही हैं। चीन में बहुत-सी व्यापारी सस्थाएँ केवल महिलाओ द्वारा ही चलाई जाती हैं। कृषि में भी चीनी नारियो ने विशेष अभिरुचि दिखाई और कहीं-कहीं तो कृषको में भी नारियो की सख्या ८० % तक पहुँच गई है। चीनी नारियो के इस क्षेत्र में आने से पुरुष और स्त्री दोनो की उत्पादन शक्ति बढ गई है। कुछ वर्ष पूर्व चीन भी लाखो टन अनाज विदेशो से मँगाता था किन्तु आजादी के केवल दो वर्षों में ही उसने अपना उत्पादन अपनी पूर्ति तक ही न बढ़ाया अपितु वह अब इस योग्य

हो गया है कि दूसरे भूखे नगे देशों को भी कुछ सहायतार्थ भेज सके। इस प्रकार चीनी नारियो ने भूखे और नगे चीन को सुख सम्पन्न बनाने में अपना कर्त्तव्य पूरा पूरा अदा किया।

सैनिक सहायता—

चीन के स्वाधीनता सग्राम में भी चीनी नारियो ने सैनिको की भरसक सहायता की। घर के कामो में व्यस्त रहने पर भी रात्रि में जग कर उन्होंने स्वेच्छा से सैनिको के लिए कपडे सिये, सूटर और मोजे बुने, जूते बनाये तथा भोजन तैयार किया। कहा जाता है कि उत्तरी क्यागसू के एक जिले में ३०००००‌ महिलाओ ने दो दिन में ६२१५१४ जूतो की जोडी सैनिको को बना कर दी, जिन्हें पहन कर वे याग्टन नदी को पार कर सकें। सी प्रकार शन्टग में लाव्यू की लडाई के समय ५ लाख किलोग्राम भोजन का प्रबन्ध वहाँ की नारियो ने केवल एक सप्ताह में ही कर दिया। किन्तु यू यू मे तो ७२ घटे में ही बिना सोये वही की चीनी नारियो ने ३ लाख किलोग्राम भोजन सैनिको के लिये तैयार किया। लडाई के मैदान में उन्होने समाचार वाहक, डाक्टर, नर्स, टेलीफोन आपरेटर आदि के रूप में चीन के स्वतन्त्रता सग्राम में सक्रिय भाग लिया।

समाज और राजकीय सेवाएँ—

चीनी नारियो ने अपने समाज के हर पहलू में सुधार करने के भरसक प्रयत्न किये। निरक्षरता और रूढिवादी अप्रगतिशील प्रथाएँ मिटाने में चीनी नारियो ने बडे साहस से मोर्चा लडा है। और नये चीन का मार्ग कटक मुक्त बना दिया है। चीन की नई सरकार बनने पर नारियो ने भी उत्तरदायित्वपूर्ण पदो पर काम किया। Chinese Peoples P C C, जिसे चीन की नई सरकार बनाने के लिए निमन्त्रित किया गया था उसके ६६२ प्रतिनिधियो में ६९ महिलाएँ भी थी। इसी प्रकार पीपुल्स काग्रेस के प्रतिनिधियो में १२०७ औरतें है। केन्द्रीय पीपुल्स सरकार के वायस चेयरमैन में एक महिला भी चेयर मैन है। दो केन्द्रीय चीनी कौंसिल तथा १९ मिनिस्टर आदि पदो पर काम करती हैं। लिग्याई और साग्घू में ८०० नारियाँ सरकारी पदो पर काम कर रही है जिनमें से २६० गाँवो की प्रमुख मुखिया नारी ही है। इसी प्रकार मन्चूरिया में १०५ काउन्टी मजिस्ट्रेट, १३ प्रान्तीय उच्च पदाधिकारी, २९० जिलाधिकारी, २६२९ मुखिया तथा २४८४ विभिन्न सरकारी पदो पर नारियाँ ही काम कर रही है। इन अको से हमें चीनी नारियो की प्रगति के विषय में भी एक अच्छा खासा ज्ञान होता है।
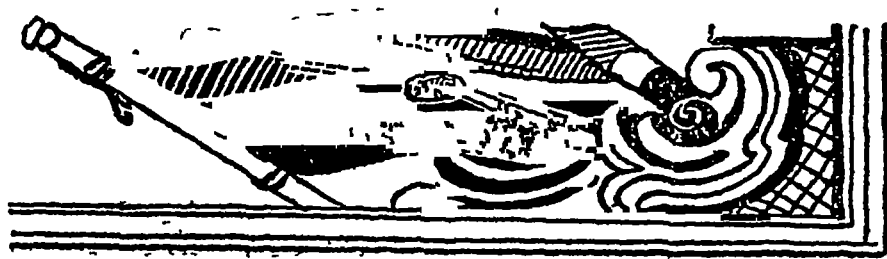
विहार-

विहार की प्राकृतिक सुषमा

श्री रञ्जन सूरिदेव, साहित्याचार्य

सुषमा के उपादान—

नदी-निर्झरिणी, जगल और पहाड ये तीनों प्राकृतिक वैभव के तीन मुख्य उपादान है। इन तीनो की रमणीयता जितने उत्कर्ष को छूती रहेगी, प्रकृति की शोभा उतनी ही सुषमा वनती चली जायगी। इस दृष्टि से विहार प्राकृतिक सुषमा से सर्वाङ्गत सपन्न है।

यो तो समस्त आर्यावर्त ही मनोमोहिनी प्रकृति की गोद में वसा है। फिर भी, विहार आर्यावर्त के उद्यान के नाम से चिर-प्रसिद्ध है। अगर विहार पर वैमानिक विहगम-दृष्टि डाली जाय तो उक्त कथन की सत्यता असत्य नही होगी, यह असदिग्ध है। विहार भवन-प्रधान प्रान्त नही, उपवन-प्रधान प्रान्त है। प्राकृतिक वैभव-विलास विहार का विशिष्ट शृगार है।

विहार के सुन्दर-प्रदेश—

विहार में प्रसिद्ध प्राकृतिक प्रदेशो में दो प्रदेश गण्य है—मिथिला और मगध। प्राचीन काल मे मगध का पाटलिपुत्र तो 'दशकुमार चरितम्' के रचयिता सस्कृत कवि दण्डी के शब्दो में 'मगधदेशशेखरीभूता पुष्पपुरी (फूलो की नगरी) नाम नगरी' था। और, मिथिला तो अव भी 'विहार का उद्यान' कहलाती है। अभी भी वहाँ की सघन अमराई की स्निग्ध श्यामल शीतल छाया में पछी मैथिल-कोकिल के प्रेम गीत गाते है और मडन मिश्र एव उनकी भारती का वखान किया करते है। विहार में सोना भी है और सौरभ भी। अतएव, विहार में, प्राकृतिक वनज और खनिज साधनो का स्वर्ण-सुगध सयोग हुआ है।

उत्तर विहार मे यदि मिथिला की अनन्त छविमयी अमराई आह्लादमयी अगडाइयाँ लेती है तो दक्षिण विहार में सथाल परगना, राँची, हजारीवाग और पलामू के प्राकृतिक पार्वत्य प्रदेशो में प्रकाण्ड सुषमा की सजीव सरसता सिहरती है।

सथाल परगने के दुमका-देवघर का जंगल और पार्वत्य प्रदेश तथा राजमहल की मनोहर दृश्यवती पहाडियाँ अति विचित्र आभा की अटारियाँ-सी नयनाभिराम प्रतीत होती है।

रांची की सुवर्णरेखा नदी का स्वर्णिम सैकत प्रदेश प्रकृति की हृदयहारिणी क्रीडाभूमि है। पहाडी धाराएँ मिलकर सुवर्णरेखा बनी है और वह 'हुडू' जल प्रपात में परिणत होकर अधित्यका में अगडाती, इठलाती हुई जिस व्यक्ति को अपने सौदर्य-प्रदर्शन से सौभाग्यशाली बनाती है वह एक अमन्द आनन्दमयी स्मृति की मन्दाकिनी में प्रवाहित होता रहता है, आजीवन। 'हुडू' जलप्रपात बिहार की प्राकृतिक सुषमा-निधियो में अन्यतमस्थानीय है। इसके अतिरिक्त रांची जिले के अन्दर शख, उत्तरकोयल और दक्षिणकोयल ये तीन मुख्य नदिया बिहार के प्राकृतिक वैभव है। छोटानागपुर में नदी को कोयल कहते है जिसका अर्थ है, 'अनिश्चित'। सुवर्णरेखा यदि स्वर्णप्रसविनी है तो शख नदी हीरकप्रसविनी। रांची वनबाला के हरिताचल और पर्वतमाला की मनोहारिणी पाशाण-वेणिका के सौंदर्य का अद्भुत क्षेत्र है जिसकी रूपराशि 'क्षणे-क्षणे नवता' प्राप्त करती है।

हजारीबाग तो नदी-वन-पर्वत का वह लहराता चचल अचल है जो हृदय में हर्ष की हिलोर उत्पन्न करता है। हजारीबाग की पारसनाथ पहाड़ी बिहार की प्राकृतिक सुषमा का मानदण्ड है, जैसे। प्रकृति की सुन्दर और भयावह दोनो प्रकार (भय-हर्ष-विमिश्रित) की रूपकल्पनाओ का साकार प्रतीक है। दामोदर नदी की सहायक नदियाँ लीलाजन (नीलाजन) और मोहिनी वास्तव मे अपनी लीलाओ से जन को मोह लेती है।

पलामू की वन्य और पार्वत्य शोभा अतिरमणीयता की विविध विचित्रता से भरी हुई है। शोणभद्र नदी की सलोनी सुषमा तो स्वप्न-जाल के आल-झाल में उलझा डालती है।

पटना का राजगिरि पहाड, गया की बराबर, ब्रह्मयोनि और प्रेतशिला पहाडियाँ, शाहाबाद की कैमूर की अधित्यका और गुप्तेश्वर गुफा, दरभगा की कोशी और कमला नदियाँ, भागलपुर की मदार और पत्थर-घाटा पहाडी एव इन सब को भी अतिक्रमित कर समस्त बिहार-विहारिणी तरल तरग, पावनस्पर्श गगा नदी बिहार की प्राकृतिक सुषमा की अक्षय खान है जिससे बिहार का नाम अन्वर्थ है।

प्राचीन साहित्य में बिहार का सौन्दर्य —

वेद, पुराण और काव्य आदि सस्कृत साहित्य के अतिरिक्त प्राकृत और पालिसाहित्य में बिहार का विमल वर्णन-बाहुल्य भरा-पडा है। सस्कार-सुन्दर सस्कृत साहित्य के आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड के चौबीसवें सर्ग में करुष (शाहाबाद का क्षेत्र-विशेष, कदाचित् बक्सर) प्रदेश-स्थित ताटकावन की बिभीषिका-विद्ध महत्सुन्दर प्राकृतिक सुषमा का मनोरम, परम रोमाचकर, वर्णन आदिकवि ने किया है—

> "अहो ! वनमिद दुर्ग झिल्लिकागणसयुतम् ।
> भैरवै श्वापदै कीर्णं शकुन्तैर्दारुणारवै. ॥
> नानाप्रकारै: शकुनैर्वाश्यद्भिर्भैरवस्वनै· ।
> सिहव्याघ्रवराहैश्च वारणैश्चापि शोभितम् ॥

धवाश्वकर्णककुभैर्बिल्वतिन्दुकपाटलैः ।
सकीर्णं बदरीभिश्च किन्विदं दारुणं वनम् ॥"

उपर्युक्त वर्णन से यह अस्पष्ट नही रह जाता है कि विहार की प्राकृतिक सुषमा आदित सपन्न है । कल्पना कीजिए कि जब उपरिवर्णित ताटकावन में वासन्ती विलास-वधू हरे-हरे पत्तो का घूघट काढ़कर, पाटल के फूलो से माग भर कर झिल्लिका की झाझर (पायल) झनकारती होगी, उस समय की कानन-सुषमा कितनी मुखर और विभामयी हो उठती होगी !

वाल्मीकीय रामायण के ही बालकाण्ड के बत्तीसवें सर्ग में मागधी नदी (शोण) के और उसके तीरस्थित पांच पर्वतो का कितना मनोमोहक चित्रण चमत्कृत हो उठा है—

"एषा वसुमती नाम वसोस्तस्य महात्मन. ।
एते शैलवरा पच प्रकाशन्ते समन्तत ॥
सुमागधी नदो रम्या मागधान्विश्रुता ययौ ॥
पचाना शैलमुख्याना मध्ये मालेव शोभते ॥
सैषा हि मागधी राम ! वसोस्तस्य महात्मन ।
पूर्वाभिचरिता राम ! सुक्षेत्रा शस्यमालिनी ॥"

उपर्युद्धृत चित्रण में 'एते शैलवरा पच प्रकाशन्ते समन्तत' और 'सुक्षेत्रा शस्यमालिनी' इन दोनो पर ध्यान दीजिए! साफ पता चल जायगा कि शस्यश्यामला विहार भूमि का शोणप्रदेशीय स्थल विहार की प्राकृतिक सुषमा में सलमा-सितारो के साथ चार चाद लगा देते हैं ।

बालकाण्ड के ही पैंतीसवें सर्ग में देखिए—कौशिकी नदी का एक चित्र है—

"कौशिकी परमोदारा प्रवृत्ता च महानदी ।
दिव्या पुण्योदका रम्या हिमवन्तमुपाश्रिता ॥"

कौशिकी नदी के उपर्युक्त दिव्या, पुण्योदका और रम्या विशेषणो पर ध्यान देने से ज्ञातातीत नही रह जाता कि विहार की कौशिकी नदी सुषमा-सम्पन्न प्राकृतिक वैभवो में से अद्वितीय है, जिसकी रम्यता विहार की प्राकृतिक परम रमणीयता की प्रकाम द्योतिका है ।

विहगावलोकितन्यायेन—वन-विलासी विहार में, गगा के उत्तर, चम्पारन जिले के उत्तर-पूर्व में, दून और सोमेश्वर का लगभग ३६४ वर्गमील में फैली हुई पहाडियाँ विहार-विमडिनी अनन्त प्राकृतिक शोभाश्री के वितान को तानती है । गगा के दक्षिण भाग में, शाहाबाद जिले की कैमूर पहाडियाँ लगभग ८०० वर्गमील में फैली हुई हैं जिनकी दिगन्त-प्रसारिणी सघन-सुन्दर वनराशि-श्यामल अक में दो जलप्रपात धाराएँ वीचि-विलोल किलोल करती है ।

पर्वत-श्रेणियां और नदियां--

पटना जिले के दक्षिण-पूरब कोने पर राजगिरि पहाड़ पन्द्रह कोसो तक विहार—दिव्य के वन्य प्राचीर की तरह प्रतीत होता, प्रचुर प्राकृतिक सुषमा से सुराजित है जिसकी गगन-मण्डस्पर्शिनी चोटी १४७२ फीट ऊँची है और, जिस पहाड की सुरम्यता कतिपय सुखशीत और सुखोष्ण निर्झरो से निरन्तर झर्झरायमाण रहती है जिसमें तन-मन के तरल-तुनुक तारो को विमल-मधुर झकार से हौले हौले झकझोरने की जादुई शक्ति है। गया जिले के दक्षिण मे, प्राकृतिक वैभव-विलासिनी पहाडियो में दुर्वासा पहाडी २२०२ फीट ऊँची है जो सतत सुरवर्त्म को स्वादती रहती है जिसका दर्शन दृष्टि के दर्द को दमकती दामिनी की तरह सद्य हरकर, उस पर आनन्द-चन्दन का अमिट आलेप कर देता है।

मुगेर के दक्षिण, खड्गपुर की निर्झर-निनादिनी पहाडी सर्वातिख्यात है जिसकी प्रसिद्ध पच-कुमारी (जलप्रपात) मन-प्राण के स्तर-स्तर को सुधा-सिक्त कर देती है। भागलपुर के सुलतान-गज और कहलगाव में गगा के वीच तरगमालाओ से खेलनेवाली पहाड़ियाँ गगा की गर्वोन्नत गरिमा-मयी अभिलाषाओ सी वड़ी अच्छी लगती है जो अन्तस्तल में आनन्द के अनुपम आलिगन-सुख को आन्दोलित कर देती है।

दक्षिण विहार के सँथाल परगने के राजमहल की 'मोती'—स्रोतस्विनी पहाडी की अन्त -सलिला प्रस्तर काया ने पर्याप्त प्रसार पाया है—जिले की उत्तरी सीमा से लेकर लगभग दक्षिणी सीमा-तक इसका श्यामल अचल लहराता चला गया है जिसका नयनाभिराम आकर्षण, वनवाला के, काम तक को कवलित कर जानेवाले कज्जल किसलय-कुन्तल से और भी अधिक वढ़ जाता है। वैद्यनाथ देवघर की 'त्रिकूट' और 'तपोवन' पहाडियाँ, गोड्डा की जन्दी पहाड़ी तथा दुमका के शुभेश्वर नाथ, घाँनी का नन्दन कानन ये सभी पल्लव-पर्यंकशायिनी प्रकृति-सुन्दरी की शाश्वत सुषमा का अचल-सौमनस्य सुहाग है। जहाँ सुमन के सौरभ को कपित करने वाले दक्षिण समीर में प्रकृति-परी के लहर-चचल अरमान लहराते है और जिसमें झूम-झूम कर प्रेम के गीत गानेवाले पंछियो के सरस मधुर स्वर गूजते है। शुभेश्वर नाथ मन्दिर पराग-प्रफुल्ल काननवाला के स्वय वरावर जीभ लगा-कर पीते रहने के कारण गीले-मुस्कुराते विद्रुम-विम्वाधरो के बीच दाड़िम-दन्त की तरह एक अलौ-किक हृदयहारिणी शोभा से ओत-प्रोत है।

हजारीवाग जिला तो पार्वत्य सौंदर्य के लिए सुख्यात है। लगभग ४५०० फीट ऊँचे पारसनाथ पहाड की गगनभेदिनी चोटी तो कौतुक से मानो ऊपर आकाश के उस पार की दिव्य दुनिया को देखने के लिए चली गई सी मालूम पड़ती है। जहाँ की सघन श्याम शीतल तरुलतामयी निर्झरिणी की शिलाखडो पर इतराती उतरती उत्कठिता नायिका-सी धारा में जैन धर्म के शाश्वत सिद्धान्तो का अमन्द सन्देश नदित होता रहता है।

राँची जिले में, 'हुड्रु' (३२० फीट की ऊँचाई से गिरनेवाला) और 'दावो' (११४ फीट की ऊँचाई से गिरनेवाला) जल प्रपात ३६१५ फीट तक ऊँचाई पर चली गई शिला-खड-नितम्बिनी

शिखरिणी के पीन परिपुष्ट क्षरत्क्षीरधार पयोधरो के प्रवाह की तरह लोचन-लोभ लालित्य की क्षण-क्षण परिवृद्धि के कोमल कारण हैं। पलामू की नेहरहाट की चोटी, मानभूमि और सिंह-भूमि की सर्वोन्नतश्रृंगिणी 'दलमा' और 'बुदा' पहाडी बिहार की प्रकृति की परम सुन्दरता के लिए पर्याप्त है।

पार्वत्य और नैर्झर सुषमा से सपन्न बिहार नदियो के सगम सुख से भी सन्तुष्ट है। उत्तर बिहार और दक्षिण बिहार की गगा की सहायक नदियाँ तथा छोटानागपुर के अधित्यका-आसन से विचलित हुई नदियाँ बिहार-विहारिणी बनी है। बिहार की ज्येष्ठा नदी-नायिकाओ में गगा, सरयू, गण्डकी, बागमती, कमला, कोशी आदि मुख्य हैं। ये नौका-विहार के लिए भी प्रसिद्ध हैं। सोन, पुनपुन, फलगू, सकरी, कर्मनाशा, क्यूल, अजय, चानन, मयूराक्षी, गुमानी आदि बिहार की कनिष्ठा नदी-नायिकायें हैं। इनमें पुनपुन और सोन नौका-विहार के लिए प्रसिद्ध है। अधित्यका-आसन से विचलित हुई नदी-नायिकाओ में उत्तर कोयल, दक्षिण कोयल, सुवर्णरेखा, दामोदर, बराकर, शख, कासाई, और पुराण-प्रसिद्ध सिंहभूमिवाहिनी वैतरणी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बिहार की ६५२९ वर्गमील में फैली हुई विराट् पार्वत्य और जगल प्राकृतिक सुषमा को उक्त नदी-नायिका सतत सरसता प्रदान करने में सलग्न रहती हैं।

उपसंहार—

जो हो, प्राकृतिक सुषमा की दृष्टि से बिहार प्रान्त एक ही है। चण्डी और मोहिनी दोनो प्रकार की प्राकृतिक सुषमाओ का समावेश-स्थल बिहार ही है। हिमालय जिसका शिरोभूषण है और गगा जिसका गलहार है वह बिहार भारत ही नही वरन् ससार का उत्तम और सुन्दर उपहार नही तो और क्या है ?
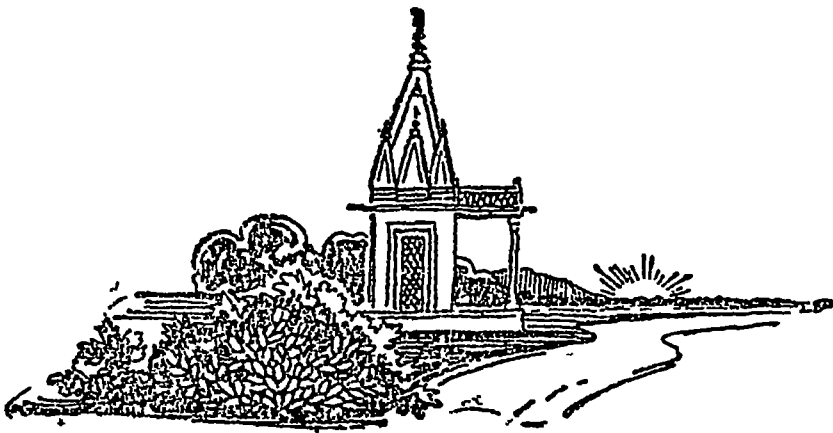
प्राचीन कालीन विहार

श्री प्रो० राधाकृष्ण शर्मा, एम० ए०

प्रस्तावना—

आधुनिक युग में एक समय ऐसा रहा है जब विहार उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। भारत के दूसरे प्रान्तो में खास कर बगाल में पाश्चात्य क्षमता एव सस्कृति का प्रकाश तीव्र गति से फैल रहा था। विहार में इस प्रकाश की ज्योति बडी ही मन्द थी। अत. विहार के निवासी कई क्षेत्रो में पिछड़े हुए थे और दूसरे लोग इसे हेय दृष्टि से देखते थे। परन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक जारी नहीं रही। धीरे-धीरे विहार में भी शिक्षा का प्रचार हुआ और यह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुआ। १९१२ में इसके स्वतत्र अस्तित्व का प्रादुर्भाव हुआ और तत्पश्चात् यह दिन दूनी, रात चौगुनी प्रगति करने लगा। यहाँ तक कि इसी विहार ने स्वतत्र भारत को प्रथम राष्ट्र-पति प्रदान किया। अब केवल भारत में ही नही, विदेशो में भी विहार का गौरव बढ़ा है और इसका मस्तक ऊँचा हुआ है।

विहार का अतीत—

लेकिन वर्तमान काल की अपेक्षा विहार का अतीत और भी अधिक गौरवमय था—उज्ज्वल था। भारत के इतिहास में प्राचीन कालीन विहार एक बड़ा ही महत्वपूर्ण अध्याय है जिसे स्वर्णा-क्षरो में अकित किया जायगा। किसी भी प्रान्त का सुदूर अतीत के साथ इतना घना सम्बन्ध नही है। इसकी भूमिपर ऐसे-ऐसे विलक्षण, प्रतिभाशाली तथा दिव्य पुरुषो का आगमन हुआ जिन्होने मानव-समाजकी बहुमूल्य सेवा की और जिनके प्रति आज का उद्भ्रान्त समाज भी बहुत ही कृतज्ञ है।

इसी विहार प्रान्त के अन्तर्गत मिथिला पुरी थी। इस नगरी में उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ और इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ का जन्म हुआ था। बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनि सुव्रतनाथ के तीर्थ-काल में वहाँ के राजा जनक महाराज थे। वे बडे ही धीर-वीर एव गभीर पुरुष थे। वे उच्चकोटि के विद्वान् तथा सत्यवादी एव दृढ-प्रतिज्ञ थे। सीताजी उन्ही की लड़की थी जिनके विवाह के लिए उन्होने धनुषयज्ञ रचा था। श्री रामचन्द्र जी ने धनुष को तोड़ कर सीता जी से ब्याह किया। सीता जी आदर्श पतिव्रता स्त्री थी जो मानव-समाज में प्रात -स्मरणीय है।

आधुनिक पटना जिले के अन्तर्गत जैनो का प्रसिद्ध तीर्थ राजगृह नामक एक स्थान है। यह भी अपनी प्राचीनता के लिए प्रसिद्ध है। ईसा से बहुत वर्ष पहले वहाँ जरासन्ध नामक राजा राज्य करता था। उसकी शक्ति असीम थी, वह अजेय था। सभी समकालीन राजे महराजे उससे भय खाते थे। श्री कृष्ण ने भी उससे तग आकर द्वारका पुरी नामक एक नये नगर को बसाया था। अन्त में जरासन्ध का वध हुआ और इसके लिए कुटिल प्रपच का सहारा लेना पडा था।

लेकिन जनक और जरासन्ध तो राजनीतिक क्षेत्र के दो महान् स्तम्भ थे। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी विहार ने दो दिव्य एव अमर विभूतियाँ उत्पन्न की—दो नररत्न पैदा किये—भगवान महावीर और बुद्ध। ये दोनो मानवता के पुजारी है, सार्वभौम भ्रातृत्व सिद्धान्त के पोषक है। दोनो ने ही वैदिक धर्म की प्रचलित बुराइयो पर कुठाराघात किया, गृहस्थाश्रम को छोड दिया, भौतिकता को तिलाजलि दी और वे सन्यास ग्रहण कर प्राणिमात्र के सच्चे सेवक बने। दोनो ने विधि-विधानो की उपेक्षा कर हृदय की पवित्रता तथा मन की शुद्धता पर बहुत जोर दिया।

विहार की विभूति—भगवान् महावीर—

भगवान् महावीर का प्रारम्भिक नाम वर्द्धमान था। इनका जन्म आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत वैशाली ग्राम में हुआ था। यह लिच्छवियो—वृजियो के जनतन्त्र राज्य की राजधानी थी। यह भारत का ही नही बल्कि समस्त सभ्य ससार का सर्वप्रथम सुसगठित एव विस्तृत गण-राज्य था और देशी तथा विदेशी लेखको तथा यात्रियो ने इसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है। बुद्ध भी इस गणराज्य के बडे प्रशसक थे और उन्होने यहाँ के लोगो को उत्तम तथा अजेय कहा था। उसी वैशाली की पवित्र भूमि में भगवान् वर्द्धमान का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय वैशाली एक बहुत ही सुन्दर तथा समृद्धिशाली नगर था। १२ वर्ष तपस्या करने के बाद भगवान् वर्द्धमान को ज्ञान प्राप्त हुआ और वे जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बन्धनहीन) तथा तीर्थंकर कहलाये। उनके अनुगामी जैन कहलाए। उन्होने सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह-अस्तेय और ब्रह्मचर्य पर जोर दिया। महात्मा बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु में हुआ था। यहाँ शाक्यो का जनतन्त्र राज्य था। इनका प्रारम्भिक नाम सिद्धार्थ था। बहुत इधर-उधर भटकने के बाद इन्हें भी ज्ञान प्राप्त हुआ और ये बुद्ध (जाग्रत) कहलाए। इन्होने मध्यम मार्ग पर जोर दिया। न अधिक तपस्या और न अधिक भौतिकता। इनके उपदेशो का यही सार था कि सत्य तथा अहिंसा का पालन करते हुए सदाचार का विकास करना चाहिये। इस प्रकार भगवान् महावीर तथा बुद्ध ने मानवता को सत्य, सेवा एवं प्रेम, त्याग एव बलिदान के पवित्र सन्देश दिये। बड़े-बड़े राजे-महराजे उनके सामने नतमस्तक हो गये और इस तरह राजनीतिक सीमा को पार कर एक धार्मिक राज्य की स्थापना हुई।

अहिंसक-अशोक—

अब हम एक ऐसे विलक्षण पुरुष की चर्चा करेंगे—जिसकी बराबरी मानव समाज में कोई नही कर सकता। वह 'देवनाप्रिय अशोक' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। उसने ३६ वर्षों

तक मगव की गद्दी को सुशोभित किया था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र में थी। वह मौर्य वंश का तीसरा राजा था। इस राज वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त था। उसके समय में ग्रीक से सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया था। वह विश्व-विजय का स्वप्न देख रहा था। लेकिन चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित कर उसके स्वप्न को तोड़ दिया और भारतीयो के मान-मर्यादा की रक्षा की। चाणक्य (कौटिल्य) उसका मत्री था जो राजनीतिक का प्रकाड विद्वान था। उसका 'अर्थ-शास्त्र' एक उच्चकोटि का राजनीतिक ग्रथ माना जाता है। उसी के वंश में अशोक भी एक महा-प्रतापी राजा हुआ। लेकिन एक राजा होने के कारण ही उसकी प्रसिद्धि नही है। सृष्टि के प्रारभ से अब तक कितने राजे आये और गये किन्तु अशोक जैसा किसी को सम्मान प्राप्त नही हुआ। वह ससार के इतिहास में अद्वितीय है। वह एक दार्शनिक सम्राट था। उसने विजय के बाद युद्ध-नीति छोड दी। उसने भौतिक साम्राज्य को ठुकराकर धार्मिक साम्राज्य स्थापित किया, भूमि-विजय को छोड कर हृदय-विजय प्राप्त की। उसने शक्ति को ताखपर रख कर ब्रह्म शक्ति धारणा की और शस्त्र को फेंककर शास्त्र ग्रहण किया। उसने दमन को तिलाजलि देकर शमन तथा सहिष्णुता की नीति अपनायी। वह अपनी प्रजा को पुत्र तुल्य और अपने को एक सेवक समझता था। अत एच० जी० वेल्स के शब्दो में 'इतिहास में वर्णित अगणित राजाओ तथा महाराजाओ के मध्य अशोक का नाम एक चमकते नक्षत्र की भाँति है।' वर्तमान लडखडाती दुनिया उससे अभी बहुत कुछ सीख सकती है।

मगध और पाटलीपुत्र—

मगध तथा पाटलिपुत्र के महत्व पर भी कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक है प्रतीत होता है। पाटलिपुत्र मगध की राजधानी था। यह प्राचीन विश्व का समृद्धतम नगर था। इसके उत्कर्ष के सामने प्राचीन एथेंस तथा रोम भी फीके पड जाते है। एक दृष्टि से युरोप के प्राचीन इतिहास में रोम का जो स्थान है वही भारत के इतिहास में पाटलिपुत्र का स्थान है। सर्व प्रथम मौर्यों ने मगध में एक विशाल तथा सुसगठित साम्राज्य की नीव खडी की। इसके बाद लगभग एक हजार वर्षों तक मगध भारतवर्ष का राजनीतिक तथा सास्कृतिक केन्द्र बना रहा। इस काल में रोम की भाँति उसने अनेक साम्राज्यो का उत्थान-पतन देखा, अनेक राज वशो को बनते-बिगडते देखा। शिशुनाग, नन्द, मौर्य, कण्व, शुग, सातवाहन, गुप्त तथा पाल—इन सभी वशो ने मगध पर राज्य किया। राज वशो का परिवर्तन होता रहा, कितने विदेशी आक्रमण हुए। परन्तु मगध की जीवनी शक्ति का कभी विनाश नही हुआ। इसी केन्द्र से भारतीय सभ्यता एवं सस्कृति का प्रकाश विभिन्न दिशाओ में फैलता रहा।

विदेशियों की दृष्टि में बिहार—

विदेशियो में कनिष्क का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भारत में वह विदेशी नही रह गया था। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। मगध निवासी अश्वघोष नाम का बौद्ध उसका

गुरु था। यह उच्च कोटि का विद्वान था और 'बुद्ध चरित' नामक महाकाव्य संस्कृत में इसकी उत्कृष्ट रचना है। मगध पर गुप्तो ने भी राज्य किया और उन्होने भी एक सुदृढ साम्राज्य शासन स्थापित किया। इनके समय में भारतीय सभ्यता एव संस्कृति का खूब विकास हुआ। मगध बौद्ध स्तूपो से भरा हुआ था। इन्होने ब्राह्मण धर्म को भी प्रोत्साहित किया। इस तरह मगध मे सभी धर्मवाले फूलते फलते रहे। किसी का शोषण एव दमन नही हुआ। पालो ने भी मगध पर राज्य किया। उनके समय मे नालन्दा विश्व विद्यालय का यश सौरभ सभी दिशाओ में जोरो से फैल रहा था। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय था। किन्तु उसमे प्रवेश करना सहज नही था। प्रवेश-परीक्षा भी बडी कडी थी और कितने विद्यार्थियो को निराश ही लौट जाना पडता था। इस सम्बन्ध में जावा के राजा शैलेन्द्र देव ने देवपाल के राज्य काल में एक पत्र के साथ अपने एक दूत को नालन्दा विश्वविद्यालय में भेजा था। कितने विदेशियो ने नालन्दा का भ्रमण किया और वहाँ की शिक्षा तथा व्यवस्था की मुक्त कठ से प्रशसा की।

उपसंहार—

यह है प्राचीन काल का विहार। वर्तमान विहार के निवासियों के लिए यह बडे ही गर्व तथा गौरव का विषय है जिससे वे सदा ही स्फूर्ति एव प्रेरणा प्राप्त कर प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होगे और मानव समाज का कल्याण करते रहेंगे।

वैदिक कालीन विहार

म० म० पं० श्री सकलनारायण शर्मा

प्रस्तावना—

मीमांसा दर्शन में लिखा है कि वेदो में इतिहास अथवा किसी देश या किसी व्यक्ति का नाम नही है। उनके शब्दो में सामान्य व्यापक अर्थ का ग्रहण होता है—

"पर श्रुति सामान्यमात्रम्"

विद्वान् लक्ष्य और व्यग्य के द्वारा इतिहासादिक की झलक पाते है। हम भी उसी शैली के अनुसार वैदिक काल के विहार का एक चित्र अकित कर रहे है।

यजुर्वेद का उल्लेख—

वैदिक समय में विहार दीन-दुखियो का आश्रयस्थल था। यजुर्वेद कहता है कि मगध देश के लोग रोते-कलपते मनुष्यो की खोज-खबर लें—"अतिक्रुष्टाय मागधम्" (यजु०)

ऋषित्वप्राप्ति के लिए विश्वामित्र ने वक्सर (आरा) में तपस्या की थी तथा श्री रामचन्द्र ने उसकी रक्षा की थी—"विश्वामित्र ऋषिः सुदास पैजवनस्य पुरोहितो बभूव" (निरुक्त)। विश्वामित्र 'सुद' बडे दानी थे। कहते है कि उन्होने जिस पिजवनसुत राजा की पुरोहिती की थी, वह भागलपुरी था, भागलपुर के नाथनगर के पास उसकी राजधानी थी।

दक्षिण विहार में जगल और पहाड बहुत है। उनमें कोल-भील सैताल अधिक रहते थे, उन्हें पोते की बीमारी अधिक होती थी। वे ईश्वर और परलोक नही मानते थे। अनार्य और नास्तिक थे। वेदो में उनके देश का नाम 'कीकट'—कुछ नही करनेवाला है। वे गौएँ पालते थे। उनके दूध से यज्ञादिक नही होते थे। वे सूद पर लोगो को कर्ज देते थे। भारत में उनकी प्रसिद्धि धनिको में थी। धन के कारण उनके देश का नाम मगध हो गया था। घृणा व्यजक कीकट नाम लुप्त हो गया था। 'मग' शब्द का अर्थ सूद है, उसका लेनेवाला 'मगध' है। इसमें 'ध' का अर्थ धारण करनेवाला है। ऋग्वेद में विश्वामित्र के नाम से एक मत्र है कि मग—सूद के लिए धन देनेवालो का धन छीन लें और यज्ञो में खर्च करें, यद्यपि उनका धन नीची शाखा नीच जाति वालो का है—

"किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु नाशिर दुह्रे न जपन्ति धर्मम् ।
आनोभर प्रमगन्दस्य वेदो नैचा शाख मघवन् रन्धयात् ।। (ऋ०)
"कीकटा नाम देशोऽनार्यविशेष । कीकटा. किं कृता. ।
कि क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा । ..मगन्द कुसीदी ।
प्रार्दयत्याण्डी"—निरुक्त

वेदों के पूर्व भी अहिंसक—

बडे आश्चर्य की बात है कि वैदिक काल में विहार का एक प्रान्त जगत्कर्त्ता ईश्वर को माननेवाला नही था और यज्ञ नही करता था । अन्त में वही पर यज्ञेश्वर विरोधी बौद्ध-जैनो का प्रावल्य वड़े जोर-शोर से हुआ । विहार में अहिंसको का निवास वेदो के निर्माण से पहले भी था ।

सूर्य-पूजन के भी अस्तित्व—

हिन्दू जाति सूर्य की पूजा करती हैं । विहार में भगवान सूर्य के कई मन्दिर हैं । वेदो मे जो विष्णु शब्द मिलता है वह सूर्य का वाचक है । गया शहर में जो विष्णुपद है उसकी चर्चा प्राचीन निरुक्तकार और्णनाभ ने की है । उनका सकेत वामन अवतार से है । उनका एक पैर गया में विष्णुपद स्थान पर पडा था। वेदो में गय शब्द का अर्थ बेटा होता है । इसीलिए गया मे बेटापिण्डदान करता है । वाल्मीकि रामायण के अनुसार वामन जी का आश्रम वक्सर में था । उनके नाम से प्रसिद्ध एक शिवलिंग वहाँ की जेल के पास है । यदि विष्णु का अर्थ सूर्य किया जाय तो देवमूगा आदि स्थानो में होनेवाली सूर्य-पूजा प्राचीन वैदिक प्रणाली का स्मरण दिलाती है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के उल्लेख—

"इद विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्"—यजुर्वेद
"पथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणि समारोहणे जयशिरसीत्यौर्णनाभ "—
(निरुक्त)

मिथिलाधिपति जनक बडे भारी ज्ञानी और दानी थे । बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा हुआ है कि गार्ग्य ऋषि काशीराज के पास जाकर वोले कि मैं तुम्हें जनक के समान वना दूंगा, तुम मुझसे शिक्षा ग्रहण करो । पर वे स्वय जनक के समान नही थे ।

जनकजी ने अपने यज्ञ मे ऋषियो से कहा कि जो ब्रह्मनिरूपण में समर्थ होगा, उसे एक हजार गौएँ दूगा । याज्ञवल्क्य जी के अतिरिक्त किसी को साहस नही हुआ । वहाँ भारत के विद्वान् इकट्ठे थे, पर निखिल विद्यानिष्णात जनक के समक्ष वोलने को तैयार नही हुए—

"दो वा ब्रह्मिष्ठ एहतागाएदजताम्"

वैदिक काल मे वेदान्त चर्चा में मिथिला का प्रधान स्थान था। उस समय ब्राह्मणो के समान क्षत्रिय वेदवेत्ता होते थे।

वेद में गौतम और अहिल्या की कथा आयी है। इसी अहिल्या का उद्धार रामचन्द्र जी ने किया था। यह बात वाल्मीकि रामायण में है। गौतम का आश्रम सारन जिले के गोदना स्थान में था। उन्होने वही पर न्याय सूत्रो की रचना की थी। "ऋतुश्यनूयान्तात्ठक्" अष्टाध्यायी के इस सूत्र से नैयायिक शब्द बनता है और सिद्ध करता है कि गौतम के पहले वैदिक काल में भी न्यायशास्त्र का अस्तित्व था; उन्होने सग्रहमात्र कर दिया।

अष्टाध्यायी के प्रमाण—

अष्टाध्यायी के बनाने वाले पाणिनि पटने के प्रसिद्ध पण्डित उपवर्ष के विद्यार्थी थे। वे बिहार से पूर्ण परिचित थे। उनके पहले वैदिक काल में भी पटना था, पर उसका नाम कुसुमपुर था, क्योकि वहाँ फूल अधिक होते थे। उसीका नाम कई शताब्दियो के बाद पाटलिपुत्र हो गया। वह दो भागो में बँटा था—पूर्वी और पश्चिमी पाटलीपुत्र। यह बात पाणिनि के 'रोपधे प्राचाम्' सूत्र से सिद्ध होती है। इसका उदाहरण 'पूर्व पाटलीपुत्रक' है। उस समय पाटलीपुत्र ग्राम नही था—नगर था, क्योकि 'प्राचा ग्रामनगराणाम्' में पाटलीपुत्र के लिए नगर शब्द का प्रयोग हुआ है।

'वरणादिभ्यश्च' इसके गणपाठ मे बिहार के गया, चम्पा आदि नगरो के नाम हैं। बिहार के पूर्वी प्रान्त को प्रेम तथा पश्चिमी को मगध कहते थे। वैदिक साहित्य नाम आये हैं।

वैदिक काल में शिव और स्कन्द आदि की मूर्त्तियाँ कारीगर बनाते थे। मे इन मूर्त्तियो तथा गुफाओं के बनाने में बिहार निपुण था। आज भी मुगेर (मुद्गलपुर) तथा भागलपुर (भगदत्त-पुर) के पहाडो में उक्त ढग की कारीगरी दीख पडती है।

वैदिककालीन बिहार में जनपद—

लाखो वर्ष पहले बिहार में दो जनपद थे—करुष और मलयद। यहाँ के निवासी धनी, शिक्षित और शिवपूजक थे। 'वे याते रुद्रशिवातन्.' (यजुर्वेद) तथा 'पुरभिदं धृष्णवर्चत्" (सामवेद) के अनुसार मूर्त्ति पूजक थे। वाल्मीकि रामायण के अनुसार ये दोनो बक्सर से कुछ दूर थे। रामचन्द्र को मिथिला जाने के समय राह में उनके चिन्ह मिले थे। इन दोनो के नाम पर दो गाव 'धारीसाथ' और 'ममाढ' अभी तक विद्यमान है। यहाँ पृथ्वी से हजारो शिवलिंग निकलते है।

जंगल—

वैदिक काल में नौ जगल बड़े प्रसिद्ध थे, जिनमें ऋषि वेद-पाठ किया करते थे। उनमें तीन बिहार में थे—चम्पारण्य (चम्पारन), सारङ्गारण्य (सारन) और अरण्य (आरा)। पहले में चम्पा, दूसरे मे हिरण और तीसरे में वृक्ष श्रेणियाँ थी।

विहार में गगा, सरयू तथा शोण ये तीन नदियाँ थी । शोण का नाम उस समय मागधी था । यह पाँच पहाडो के बीच बहती थी—

सुमागधी नदी पुण्या मगधान् विश्रुता ययौ ।
पञ्चाना शैलमुख्याना मध्ये मालेव शोभते ।।' (वाल्मीकि रामायण)

उस समय पटने से दूर पूर्व की ओर शोण थी, अब पटने से पश्चिम है । वैदिक काल में विहार का आदर विद्या, तपस्या और सम्पत्ति तीनो के लिए था ।

विहार नाम की सार्थकता—

जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर तथा बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध के विहार के कारण इस भूमि का नाम विहार पडा था । विद्वानो का यह भी कहना है कि असख्य बौद्ध विहारो के कारण भी इन भूमि का नाम विहार पडा । यह निश्चित है कि आज हम जिसे विहार कहते हैं, प्राचीन काल में वही मगध, अग और विदेह इन तीन स्वतंत्र प्रान्तो में विभक्त था ।

मगध और अग देशो के स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद मे मिलते हैं । उस वेद के ५वें काण्ड के २२वें सूक्त में १४ वें मत्र में ज्वर से कहा गया है कि वह गन्धारियो को, मूजवन्तो को, अगदेशवासियो को तथा मगध देशवासियो को प्राप्त हो । फिर उसी वेद के पन्द्रहवें काण्ड के दूसरे अनुवाक में व्रात्यमहिमा प्रकरण मे कहा गया है कि पूर्व दिशा में मागधव्रात्यो के मत्र हैं, दक्षिण दिशा में मागध व्रात्यो के मित्र हैं, पश्चिम दिशा मे मागध व्रात्यो के हास है और उत्तर दिशा में मागध व्रात्यो के स्तनयित्नु (मेघ) हैं ।

अहिंसक होने के कारण मगध का तिरष्कार—

यजुर्वेद की वाजसनेयि सहिता (अ० ३० क० ५) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।११) में पुरुष मेघ यज्ञ के प्रसग में कहा है कि अतिक्रुष्ट के लिए मागध को बलि देना । वाजसनेयि सहिता के उसी अध्याय की २२वी कडिका में अशूद्र और अब्राह्मण मागध को पुश्चलियो-कितवो और क्लीवोंके साथ प्राजापत्य पुरुषमेघ के लिए वध्य कहा है । श्रौतसूत्रो में भी मगध देशवासियो को बहुत नीचा स्थान दिया गया है । बौधायन धर्मसूत्र (१-२-१३) में मगध और अग देश के निवासियो को 'सकीर्णयोनि कहा गया है ।

कात्यायन (२२।४।२२) और लाट्यायन (८।६।२८) के श्रौतसूत्रो में कहा है कि दक्षिणा के समय व्रात्यो का धन मागधदेशीय ब्रह्मवन्धुओ को देना । यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन श्रौतसूत्रो में मागधदेशीय ब्राह्मण ब्राह्मण न कहे जाकर ब्रह्मवन्धु कहे गये है, जिसकी व्याख्या यो की गयी है कि ये लोग शुद्धब्राह्मण नही, किन्तु जातिमात्रोपेत ब्राह्मण है । तथापि मगध में भी सद् ब्राह्मण रहते थे—यथा कौशीतकी आरण्यक ((७—१४) में कहा है कि मध्यम प्रातिबोधी पुत्र

मगधवासी थे । किन्तु, इससे भी यही प्रतिपादित होता है कि ऐसे सद्ब्राह्मणो का मगध में रहना उस समय असाधारण था ।

उक्त सभी स्थलो में जहाँ जहाँ मागध शब्द आया है, उसकी व्याख्या भाष्यकारो ने कई प्रकार से की है । क्षत्रिय कन्या में वैश्य से उत्पन्न सकर को मागव कहते हैं (मनु० १०।११ तथा गौतम ४।१७) और गायको का नाम भी मागध है । सभव है, मगध की ही निन्दा के लिए इस वर्ण सकर का नाम मागध दिया गया हो तथा मगध देशो में उन दिनो अच्छे गवैये हो, किन्तु जहाँ-जहाँ स्पष्ट मगधदेश का ही उल्लेख है, वहाँ तो सन्देह को अवकाश नहीं रहता । अतएव स्पष्ट है कि वैदिक काल में मगध देश का स्थान बहुत ही हेय था ।

उपसंहार—

बिहार एक ऐसा प्रान्त है, जहाँ आर्यों का आगमन बहुत पीछे हुआ सही, परन्तु इस प्रान्त में बड़े ही द्रुतवेग से आर्य सस्कृति का प्रसार हुआ । ऐतरेय ब्राह्मण में (८–१४) आर्य देशो के उल्लेख में काशी, कोसल, मगध, अंग और विदेह के नाम मिलते हैं ।

प्राचीन काल मे राजा जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य के कारण विदेह की प्रतिष्ठा अत्यधिक थी । शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद् और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३–१०–९९) में ब्रह्मज्ञान के लिए राजा जनक की बहुत प्रशसा की गयी है । इनकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी । बडे-बडे तत्त्व-वेत्ता इनके पास आकर अपनी शकाओ का समाधान करते थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहार प्रदेश वैदिक काल से ही सम्मानित रहा है । इस भूमि में तत्त्ववेत्ता, कर्म प्रचारक, आत्मज्ञानी, राजनैतिक और सेनानी हुए हैं । ईस्वी सन् से कई सौ वर्ष पूर्व यही प्रदेश जगद्गुरु के पद पर आसीन था । दूर-दूर के जिज्ञासु यहीं अपनी शकाओ का समाधान करते थे ।
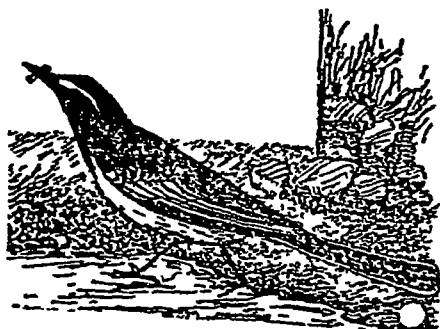
जैन दर्शन को विहार की देन

पं० श्री नरोत्तम शास्त्री

प्रस्तावना—

जैन मान्यता के अनुसार जैनधर्म शाश्वत है। प्रत्येक कल्पकाल में चौबीस तीर्थंकर होते हैं, जो इस धर्म का प्रचार और प्रसार करते हैं। वर्तमान कल्प में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर हुए हैं। विहार ने इस कल्प में बारहवें तीर्थंकर वासु पूज्य, उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ, बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ, इक्कीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ एव चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर को जन्म देकर जैनदर्शन के प्रचार और प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया है।

विहार की निधि—

भगवान् महावीर का जन्म ई० पू० ६०० में वैशाली के क्षत्रिय कुण्डग्राम मे हुआ था। वे जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीनो ज्ञानो के धारक थे। उनके मन को ससार की कोई भी वस्तु नही भाती थी, उन्हें सर्वत्र उदासीनता, निस्सारता और भयानकता दिखलायी पडती थी। विषय भोग काले नाग मे, दुनियावी विभूतियाँ आडम्बर सी, इठलाती किलकिलाती हुई युवतियाँ ककाल सी एव नगर, गाँव, जनपद श्मशान से प्रतीत होते थे। स्वार्थ के लिए किये जाने वाले मूक प्राणियो के बलिदान ने उनकी अन्तरात्मा को कपा दिया। स्त्री और शूद्र, जो समाज से तिरस्कृत थे, जिन्हें सामाजिक अधिकारो से वचित किया गया था, की दयनीय स्थिति देखकर समाज-शोधन की भावना युवक महावीर के हृदय में घर कर गयी। फलत ३० वर्ष की आयु तक विहार की गोद में अखण्ड ब्रह्मचर्य-पूर्वक इच्छाओ और इन्द्रियो के विषयो के साथ द्वन्द्व करते हुए घर में रहे। इस बीच में माता-पिता तथा मित्र-हितैषियो ने अनेक बार विवाह करने का आग्रह किया, पर युवक महावीर अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। पश्चात् विश्वकल्याण के लिए घर त्याग तपस्या करने वन में चले गये। इन्होने शका, आकाक्षा, स्नेह, राग, द्वेष, हर्ष, विषाद आदि विकल्पो को छोड नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण की और बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त किया।

विहार प्रान्त को ही यह सौभाग्य प्राप्त है कि दिव्यज्ञानी, परम दार्शनिक भगवान् महावीर को उत्पन्न कर उनकी ससद् के व्याख्याता गौतम गणधर को जन्म दिया। केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी भगवान् महावीर का उपदेशामृत ६६ दिनो तक [1] गण-धर–विशिष्ट व्याख्याता के न होने से नही हो

---

१. षट्षष्टिदिवसान्, भूयो मौनेन विहरन् प्रभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृह पुरः ॥
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियन् ।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं तथा ॥

—हरिवंशपुराण सर्ग २ श्लोक ६१–६२

सका । पश्चात् मगध के अन्तर्गत गोवर गाँव निवासी गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण विद्वान के आने पर उनकी दिव्यध्वनि हुई । इन्द्रभूति अपने समय का विहार का सबसे बडा विद्वान् था । यह वादी बनकर वीरप्रभु को पराजित करने आया था, पर भगवान् के समवशरण के द्वार पर स्थित मानस्तम्भ के दर्शनमात्र से ही इनका मद चूर हो गया और यह प्रभु के शिष्य बन गये ।

विहार की पुण्यभूमि में धर्मामृत—

वीर प्रभु का प्रथम उपदेश श्रावण कृष्ण प्रतिपदा [२] को पूर्वाह्न के समय अभिजित् नक्षत्र में राजगिरि के विपुलाचल [३] पर्वत पर हुआ था । विहार के इस अनोखे लाल ने विश्वशान्ति के लिए बतलाया—(१) निर्भय और निर्वैर रहकर शान्ति के साथ स्वय जीवित रहना और दूसरो को जीवित रहने देना । (२) राग-द्वेष, घृणा, अहंकार आदि विकारो पर विजय प्राप्त कर भेद-भाव का त्याग करना । (३) विचार सहिष्णु बनकर सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि द्वारा सत्य का निर्णय करना । (४) अपना उत्थान और पतन अपने हाथ मे है, ऐसा समझते हुए स्वावलम्बी बन कर अपना उत्कर्ष करना, दूसरो के उत्कर्ष साधन में सहायक होना ।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि उस समय विहार में गौतम बुद्ध क्षणिक पदार्थवाद का, मक्खलि गोशाल अकर्मण्यतावाद का और सजय बेल्यट्ठिपुत्र सशयवाद का प्रचार कर रहे थे । इन सिद्धान्तो द्वारा पदार्थ के रचनात्मक रूप का यथार्थ निर्णय नही हो रहा था । भगवान महावीर के समकालीन तीन तत्त्ववेत्ता और थे, जिनका कार्यक्षेत्र भी विहार ही था । वस्तुत विहार उस समय दार्शनिको का अड्डा था । इन तीनो में अजित केशम्बलि भौतिकवादी, पूर्ण काश्यप अक्रियावादी या नियतिवादी और प्रकुध कात्यायन नित्य पदार्थवादी थे । इन छहो दार्शनिको ने वस्तु के एक धर्म को ही पूर्ण सत्य मान लिया था । विहार के अंक मे पलनेवाले इन ऐकान्तिक दर्शनो ने भगवान महावीर द्वारा स्याद्वाद—समन्वयवाद या अपेक्षावाद का निरूपण कराया । वीर प्रभु ने "उप्पनेइ, वा विगमेइवा, धुवेइ वा" इस मातृकात्रिपदी वाक्य में प्रतिपादित उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रयधर्मात्मक (अनेक धर्मात्मक) वस्तु के स्वरूप को बतलाया तथा इस स्वरूप को बतलाने वाले सिद्धान्त को अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहा ।

अनेकान्त का अर्थ है—'अनेकेऽन्ता धर्मा सामान्यविशेषपर्यायगुणा यस्येति अनेकान्त' [४] अर्थात् परस्पर विरोधी अनेक गुण और पर्यायो का एकत्र समन्वय । अभिप्राय यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनो में वस्तु को सिर्फ सत् या असत्, सामान्य या विशेष नित्य या अनित्य, एक या अनेक एव भिन्न या अभिन्न

२—वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले । पडिवदपुव्वादिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्मी ॥
—धवला १ खं० पृ० ६३

३—पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे । णाणादुम समाइण्णे देवदाणववंदिदे ।
महावीरे णत्थो पहिओ अवियलोयस्स ॥ —धवला १ खं० पृ० ६१

४—विशेष के लिए देखें— —अष्टसहस्री का सप्तभंगी प्रकरण

माना गया है; वहाँ जैन-दर्शन में अपेक्षाकृत एक ही वस्तु में सत्-असत्, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और भिन्न-अभिन्न रूप विरोधी धर्मों का समवाय माना गया है।

अनेक धर्मात्मक वस्तु का निर्णय प्रमाण[५] या नय[६] के द्वारा होता है। अपने और अपूर्व अर्थ के निर्णायक ज्ञान—सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, क्योंकि ज्ञप्ति क्रिया के प्रति जो कारण हो उसीका जैन-दर्शन में प्रमाणरूप से उल्लेख किया गया है। विहार के गौरव भगवान् महावीर ने प्रमाण के प्रत्यक्ष[७] और परोक्ष[८] दो भेद बताये। प्रत्यक्ष के अतीन्द्रिय और इन्द्रियजन्य ज्ञान ये दो भेद हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के अवधिज्ञान,[९] मन पर्याय[१०] ज्ञान और केवलज्ञान[११] ये तीन भेद तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन का साहाय्य होने के कारण स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष, श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष ये छ भेद हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद अवधिज्ञान और मन पर्याय ज्ञान को विकल प्रत्यक्ष और केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष माना गया है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को पारमार्थिक प्रत्यक्ष और इन्द्रिय प्रत्यक्ष को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। यद्यपि ये सभी ज्ञान आत्मोत्थ हैं, किन्तु जो इन्द्रियाँ और मन की सहायता के बिना ही स्वतन्त्र रूप से कर्मावरण के अभाव में आत्मा में प्रकट होता है, वह अतीन्द्रिय वास्तविक या मुख्य प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाता है और जो इन्द्रियाँ तथा मन की सहायता से आत्मा में उत्पन्न होता है, वह पराधीन होने के कारण लोक व्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष कहा जाता है।

५— स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणमिति। प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्। —प्रमेयरत्नमाला पृ० ६

६— प्रमाणप्रकाशितोऽर्थविशेष प्ररूपको नयः। प्रकर्षेण मान प्रमाणं सकलोदश इत्यर्थः, तेन प्रकाशितानां न प्रमाणाभसपरिगृहीतानामित्यर्थः तेषामर्थानामस्तित्व नास्तित्व नित्यत्वाद्यतात्मनां जीवादीना ये विशेषाः पर्यायास्तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुसगद्वारेणेत्यर्थः, एवं लक्षणो नयः। —राजवार्त्तिक अ० १, सूत्र ३३ वा० १

७— इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्। अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा प्राप्तक्षयोपशमः। प्रक्षीणावरणे वा तमेव प्रतिनियतं प्रत्यक्षमिति।
—राजवार्त्तिक अ० १ सूत्र १२ वा० १–२; विशदं प्रत्यक्षम्—परीक्षामुखम् अ० २, सू० ३

८— उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्। उपात्तानीन्द्रियाणि, मनश्च। अनुपात्त प्रकाशोपदेशादि, तत्प्राधान्यादगवमः परोक्षम्। —राजवार्त्तिक आ० १ सूत्र ११ वा० ६

९— रूपिष्ववधेः—तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र २७

१०— चिंतियमचिंतियं वा अद्धंचिंतिय णेयभेयगयं।
मणपज्जव ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए॥ —गो० जीवकाण्ड गा० ४३७

११— सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य—तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र २९

छहों प्रकार के साव्यवहारिक प्रत्यक्षो में प्रत्येक की अवग्रह,[12] ईहा,[13] अवाय[14] और धारणा[15] ये चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद है। धारणामूलक स्वतन्त्र ज्ञान विशेष का नाम स्मृति; स्मृति और प्रत्यक्ष या वर्तमान और भूत पदार्थों के एकत्व या सादृश्य को ग्रहण करने वाला प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञानमूलक दो पदार्थों के अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति का ग्राहक तर्क, तर्कमूलक साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान एव आप्तवचनमूलक अर्थज्ञान को आगम कहते हैं। जैन-दर्शन वस्तुस्वरूप की व्यवस्था में प्रमाण की तरह नय को भी महत्त्व देता है। वक्ता के उद्दिष्ट अर्थ के अश का प्रतिपादक वाक्य या महावाक्य नय कहलाता है। जहाँ प्रमाण उद्दिष्ट अर्थ का पूर्ण रूप से प्रतिपादन करता है, वहाँ नय अर्थ के किसी एक अश को।

प्रमाण की तरह भगवान् महावीर ने प्रमेय[16] के क्षेत्र का विकास भी जड और चेतन इन दोनो प्रकार के पदार्थों का विवेचन कर अनेक भेद-प्रभेदो द्वारा किया है। गुण और पर्याय के स्वरूप का निरूपण करते हुए बताया कि प्रत्येक द्रव्य[17] अपने परिणामी स्वभाव के कारण समय-समय पर निमित्तानुसार परिणत होता रहता है। द्रव्य में परिणाम जनन की जो शक्ति है, वह पर्याय[18] और गुणजन्य परिणाम पर्याय कहलाता है। गुण कारण है और पर्याय कार्य। एक द्रव्य मे शक्ति रूप अनन्त गुण है, जो आश्रय भूत द्रव्य से अविभाज्य है। प्रत्येक गुण के भिन्न-भिन्न समयो में होने वाले त्रैकालिक पर्याय अनन्त है। द्रव्यदृष्टि से द्रव्य नित्य, अनादि, अनन्त हैं, पर्याय दृष्टि से उत्पन्न और नष्ट होने के कारण अनित्य अर्थात् सादि-सान्त है। द्रव्य में अनन्त शक्तियो से तज्जन्य प्रवाह भी अनन्त ही एक साथ चलते रहते हैं।

स्याद्वाद—

भगवान् महावीर ने इस अनेकान्तात्मक वस्तु व्यवस्था के लिए स्याद्वाद[19] सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। स्याद्वाद शब्द में स्यात् पद न तो शायद का पर्यायवाची है और न अनिश्चितता का रूपान्तर, किन्तु यह अमुक सुनिश्चित दृष्टिकोण (A particular point of view) अर्थ में प्रयुक्त है। वीर प्रभु ने तत्कालीन विहार में प्रचलित मत-मतान्तरो का समन्वय करने के लिए स्याद्वाद—सुनिश्चित अपेक्षावाद द्वारा प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ रहस्य को समझाया। प्रत्येक वस्तु का निरूपण सात प्रकार से हो सकता है—(१) स्यादस्ति—कथचित् है—किसी सुनिश्चित दष्टिकोण की अपेक्षा से। (२) स्यान्नास्ति—कथचित् नहीं है—किसी सुनिश्चित दष्टिकोण की अपेक्षा से (३) स्यादस्ति-नास्ति—कथचित् है और नही है—

१२— विषयविषयीसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः —

१३— अवगृहीतेर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा

१४— विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः

१५— निर्ज्ञातार्थाऽविस्मृतिर्धारणा। —राज० सूत्र १५, वा० १-४

१६— सामान्यविशेषात्मा प्रमेयः—परीक्षामुखम् अ० ५ सू० १

१७— दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जायाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥—

१८— मिथोवभवनं प्रतिविरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मालाभनिमित्तत्वादर्पितव्यवहार विषयोऽवस्याविशेषः पर्यायः। —राजवा० अ० १ सू० २९ वा ४

१९— कथचित् रूप से वस्तु का निरूपण करना —

किसी सुनिश्चित दृष्टिकोण की अपेक्षा से है, अन्य सुनिश्चित दृष्टिकोण की अपेक्षा से नही भी है। (४) स्यादवक्तव्य—कथचित् अवाच्य है, विधि और प्रतिषेध को एक साथ कहने की अपेक्षा से। (५) स्यादस्ति अवक्तव्य—कथचित् है और अवाच्य है। (६) स्यान्नास्ति-अवक्तव्य—कथचित् नही है और अवक्तव्य है। (७) स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य—कथचित् है, नही है और अवाच्य है। इस वस्तु निरूपण की प्रक्रिया को सप्तभगी[20] कहा जाता है। विहार की पवित्र भूमि में प्रचारित और प्रसारित यह सिद्धान्त विचारो मे सामञ्जस्य उत्पन्न करने वाला तथा मन एव हृदय को उदार और विशाल बनाने वाला है। इस प्रकार जैन-दर्शनो मे सर्वज्ञवाद, नय-प्रमाणवाद, ईश्वरवाद, कर्मवाद, द्रव्य-पर्यायवाद, निर्वाण प्राप्ति के कारण-भूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र एव जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो का स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

विहार में उत्पन्न अन्य जैनाचार्य—

भगवान् महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् विहार ने जैन-दर्शन के व्याख्याता निर्युक्ति भाष्यकार भद्रबाहु को जन्म दिया, जिन्होने आचारागसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि श्वेताम्बर आगम ग्रन्थो पर दस निर्युक्तियाँ लिखी है। सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति, ऋषि भाषित निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, ससक्त निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति, सूत्रकृताग निर्युक्ति आदि निर्युक्ति ग्रन्थो मे आगमो का मर्म बतलाते हुए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छ   व्यो का स्वरूप तथा इनके कथन करने वाले प्रमाण नय का विस्तृत विवेचन किया गया है। ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृत्व की मीमासा भी की गयी है। भगवान् महावीर के बाद की गुरु-परम्परा यो है —

> जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदयो परमणाणी ।
> जादो तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥१४७६॥
> तम्मिकदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो ।
> तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुवद्धा ॥१४७७॥
> बासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं ।
> धम्मपयट्टणकाले परिमाण पिण्डरूवेणं ॥१४७८॥
> —तिलोयपण्णत्ति अ० ४

विहार की पुण्यभूमि में जिस जिन श्रीवीरप्रभु को मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को परमज्ञान केवलज्ञान हुआ। इनके मोक्ष-निर्वाण प्राप्त कर लेने पर इसी पुण्यभूमि मे सुधर्मस्वामी को केवलज्ञान हुआ। इनके निर्वाण प्राप्त कर लेने पर जम्बूस्वामी केवली हुए। इस प्रकार ६२ वर्ष तक ये तीनो केवली जैन-दर्शन का प्रचार और प्रसार करते रहे। इन तीनो केवलियों का निर्वाण स्थान भी राजगृह का विपुलाचल पर्वत है तथा इनका जन्मस्थान भी विहार में ही है।

२०— प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी—अष्टसहस्री ।

चतुर्दश पूर्वधारियो में भद्रबाहु, नन्दिमित्र और गोवर्धन विहार में बहुत दिनो तक रहे थे, इनकी जन्मभूमि भी विहार में ही थी। भद्रबाहु का सम्बन्ध पटना से अति घनिष्ठ है। आचार्य उमास्वाति भी पाटलिपुत्र में रहे थे।

दस पूर्वधारियो में सुधर्मन्, विशाख और क्षत्रिय इस विहार के ही निवासी थे, जिन्होने अपने ज्ञान द्वारा जैन-दर्शन के क्षेत्र को समुज्ज्वल बनाया था। श्वेताम्बर आगमानुसार उनके आगमो के सकलयिता स्थूलभद्र विहार के ही निवासी थे। दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् प्रभव और स्वयम्प्रभव को भी विहार ने ही उत्पन्न किया था। इस प्रकार विहार ने इस कल्पकाल मे भगवान् महावीर, उनकी वाणी की व्याख्या करने वाले गौतम गणधर, सुधर्मस्वामी, जम्बूस्वामी जैसे उद्भट आत्मज्ञ, स्वयम्भू दार्शनिको को उत्पन्न कर एव अपने जलवायु से लालन-पालन कर जैन-दर्शन को अमूल्य निधि प्रदान की है। विहार ने ही समस्त ससार के लिए कलह और वादो का अन्त करने वाला स्याद्वाद—समन्वय या विचारसहिष्णु सिद्धान्त का प्रचार किया। इस सिद्धान्त की अलौकिक आभा ने विश्व के दार्शनिक क्षेत्र को आश्चर्य में डाल दिया है।

उपसंहार—

विहार के राजगृह को इस बात का गौरव है कि वासुपूज्य स्वामी के अतिरिक्त समस्त तीर्थंकर की उपदेशसभा—समवशरणसभा यही हुई थी। वासुपूज्य स्वामी की उपदेशसभा भी विहार के बाहर नही हुई, क्योकि उस समय की अगदेश की राजधानी चम्पा में उनका धर्मोपदेश हुआ था तथा वासुपूज्य स्वामी के पांचो कल्याणक भी चम्पापुर मे ही हुए। हरिवशपुराण मे राजगृह की महत्ता का दिग्दर्शन कराते हुए बतलाया गया है —

वासुपूज्यजिनाधीशादितरेषा जिनेशिनाम्।
सर्वेषां समवस्थानैः पावनोरुवनान्तरः॥ —हरि० सर्ग ३ श्लोक० ५७

राजगृह और चम्पा के अनन्तर बहुत दिनो तक पाटलिपुत्र भी जैन-विद्वानो का गढ रहा है। यहाँ पर श्वेताम्बर जैनागमो का सकलन, सशोधन एव परिवर्तन भी हुआ है। सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन विहार की शस्य-श्यामला भू में जैनाचार्यों ने किया था। अनेक पौराणिक आख्यान आज भी इस बात को सिद्ध करते है कि जैन साहित्य का बहुल भाग विहार मे प्रादुर्भूत हुआ अथवा विहार के भ्रमण के अनन्तर दक्षिण भारत निवासी जैनाचार्यों ने लिखा। विहार के अनेक गाँव, वन, पर्वत, नदी आदि का सजीव वर्णन जैन साहित्य में विद्यमान है। अतएव यह सुनिश्चित है कि विहार ने जैन-दर्शन को बहुत कुछ दिया है। विहार में उत्पन्न अन्तिम तीर्थंकर वीरप्रभु का आज धर्मतीर्थ ही प्रचलित है। उनका यह तीर्थ—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

आज सर्वोदय बन कर ही समाज को सुख-शान्ति दे सकता है।
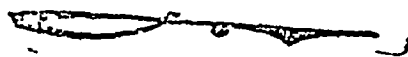
विहार के जैन-तीर्थ

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना—

विहार के जैनतीर्थ अक्षय, अक्षुण्ण भारतीय धार्मिकता के शाश्वत, उदीयमान, उज्ज्वल तीक हैं। श्रावण के सघन गगन-पट में जैसे कभी निशीथ की तारिकाएँ नीलवर्ण के चचल-अचल को सौम्य हास से हटाकर कठिन कठोर कोलाहलमयी इस भू को क्षणभर के लिए निहार लेती है और मुग्धा-सी अपने कान्तिमय सुन्दर श्रीमुख को पुन. अचल से ढक लेती है, वैसे ही शान्त हृदय में स्मृतियो के अनेक स्तरो के बीच इन तीर्थों की पावन स्मृति विरागता को उत्पन्न कर प्राणो की श्रद्धा को झकझोर देती है। लगता है इस मर्त्यभूमि में अनन्तकाल तक इन तीर्थों के प्रेम-प्रणय का अविरल प्रवाह उद्दाम रूप से प्रवाहित होता रहे और इनके दर्शन-वन्दन से चिरसचित कर्मकालिमा को हम प्रक्षालित करते रहें। एक कल्पना उठती है कि विहार के इन जैनतीर्थों के शुभ भाल पर षोडश कलाकलित विधु ने प्राचीन काल से आगत अपनी कलककालिमा को धोने के लिए ही अपनी ज्योत्स्ना को विकीर्ण किया है।

प्राणो का अमूर्त धर्म इन तीर्थों की नैसर्गिक आभा में मूर्त हो गया है। जीवन की समस्त विरूपताओ, दुर्धर्ष पाशविकता के शिलाखण्डो, अधार्मिक प्रवृत्तियो के शोषणजन्य रुद्र दृश्यावलियो से दूर ये तीर्थप्रान्त मानव को चरम शान्ति का सन्देश देते हुए धर्मप्रवर्तको का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इनका धार्मिक वैभव युगो के अन्तराल में अपनी सुषमा का गौरवमय इतिहास छुपाये वहता आया है। हृदय की प्रकाण्ड निष्ठा के ये जीवित प्राण हैं। इनकी झलक चेतना का वह विकम्पन है जो दानव को मानव, सरागी को विरागी वनाने में पूर्ण सक्षम हैं। स्वप्न जागरण के मूक मिलन पर ये एक सुषुप्त अह्लाद जगाते है। अहिंसा और सत्य का मौन भाषा में उपदेश दे मानव को सुमार्ग पर ले जाते हैं। भावुक, श्रद्धालु इन तीर्थों में विश्वास और श्रद्धा की इकाइयो में फैली सारी मान्यताओ का अवलोकन करता है। इनकी अखण्ड शान्ति, मोहक प्राकृतिक दृश्य, अणु-अणु में व्याप्त सरलता सहज ही दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। गगन-चुम्बी शैलराजो के उत्तुङ्ग शृगो पर निर्मित जिनालय प्रत्येक भावुक की हृत्-त्रियो को झकृत करने में समर्थ हैं। अतएव "ससाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते"[1] यह सार्थकता इनमें विद्यमान है।

---

१ आदिपुराण पर्व ४, श्लोक ८

वर्गीकरण—

जैन-सस्कृति और जैनकला की आदर्शोन्मुख उठान विहार के इन जैनतीर्थों को हम सुविधा के लिए निम्न वर्गों मे विभक्त कर सकते है :—

सिद्धभूमि तीर्थ, तपोभूमि और ज्ञानभूमि तीर्थ, जन्मभूमि तीर्थ और साधारण तीर्थ ।

सिद्धभूमि तीर्थ वे हैं, जहाँ से कर्मजाल नष्ट कर तीर्थंकर और सामान्य केवलियो ने अजर-अमर निर्वाणपद उपलब्ध किया है। कहना न होगा कि विहार की पुण्य धरा को ऋषभनाथ और नेमिनाथ के अतिरिक्त अवशेष वाईस तीर्थंकरो की निर्वाण-प्राप्ति का गौरव उपलब्ध है। विहार की भूमि इस अर्थ में श्रेष्ठ है, वडभागिन है। श्री सम्मेद शिखर (पारसनाथ पर्वत), पावापुरी, चम्पापुरी (नाथनगर—भागलपुर), राजगृह, गुणावा, मन्दारगिरि, और कमलदह (गुलजारबाग पटना) ये तीर्थ विहार में सिद्ध-भूमि माने जाते हैं।

तपोभूमि और ज्ञानभूमि, वे तीर्थ हैं, जहाँ पर तीर्थंकर या अन्य मुनिराजों ने तपस्या की हो—प्रव्रज्या ग्रहण की हो तथा घातिया कर्मों को चूर कर कैवल्य प्राप्त किया हो। ये स्थान हैं राज-गिरि के निकटवर्ती नील वनप्रदेश, ऋजुकूला नदी का तटवर्ती जम्भिका ग्राम, राजगृह की पच पहाडियाँ, कुलुहा पहाड[1] (हजारीवाग) आदि। इन स्थानो में तीर्थंकर अथवा मुनिराजो ने प्रवज्या ग्रहण की अथवा विश्व को आलोकित करने वाले ज्ञान-पुञ्ज को प्राप्त किया था। आज भी इन भूखण्डो से ज्ञान की प्रतिध्वनि सुनाई पडती है। ये नीरव स्थान मानव को अपरिमित शान्ति और तृप्ति प्रदान करते हैं।

जन्मभूमि तीर्थ वे हैं, जहाँ तीर्थंकरो का जन्म हुआ हो। तीर्थंकरो के जन्म लेने से वह भूमि उनकी क्रीडाभूमि होती है, जिससे उनके पुण्यातिशय के कारण वहाँ का कण-कण पवित्र होता है। विहार के मिथिला प्रदेश में उन्नीसवे तीर्थंकर मल्लिनाथ और इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ का; राजगृह में वीसवे तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का एव वैशाली के क्षत्रियकुण्ड ग्राम में अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का जन्म हुआ है।[2] वारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की जन्मभूमि चंपा है।

साधारण तीर्थ वे हैं, जहाँ प्राचीन या अर्वाचीन जिनालय है, जिनकी पूजा-वन्दना प्रतिदिन की जाती है। ऐसे तीर्थ विहार में जहाँ-जहाँ जैनो की आवादी है, सर्वत्र है। आरा, गया आदि प्रमुख हैं। विहार में कुछ ऐसे भी प्राचीन तीर्थ हैं जिनका इतिहास आज तक अन्धाकाराच्छन्न है। श्रावक पहाड और पचार पहाड, ये दोनो जैनतीर्थ गया जिले में है, यहाँ जैन मूर्त्तियो के ध्वसावशेष उपलब्ध हैं।

---

१. कुलुहा पहाड़ श्री शान्तिनाथ भगवान् की तपोभूमि है।

२. मिहिलाए मल्लिजिणो पहवदिए कुंभअक्खिदीसेहि । मग्गसिरसुक्कएक्कदसीए अस्सिणीए संजादो ॥
णिहिलापुरिए जादो विजयणरिंदेणवप्पिलाए च । अस्सिणिरिक्खे आसाढसुक्कदसमीए णमिसामी ॥
रायगिहे मुणिसुव्वयदेवो पउमासुमित्तराएहि । अस्सजुदवारसीए सिदपक्खे सवणभे जादो ॥
सिद्धत्थरायपियकारिणीहिणयरम्भि कुंडले वीरो । उत्तरफग्गुणिरिक्खे चित्तसियातेरसीए उप्पणो ॥
—तिलोयपण्णत्ति, चतुर्थ अधिकार, गाथा ५४४, ५४५, ५४६, ५४९

सिद्ध-भूमियाँ—

बिहार की सिद्धभूमियो मे सबसे प्रमुख सम्मेदशिखर है। अत क्रमानुसार सभी सिद्धभूमियो का निरूपण करना आवश्यक है।

श्री सम्मेद-शिखर—

इस स्थान का दूसरा नाम पार्श्वनाथपर्वत है, यह जिला हजारीबाग के अन्तर्गत है। गिरीडीह स्टेशन से १८ मील और पारसनाथ (ईसरी) स्टेशन से लगभग १५ मील की दूरी पर है। इस शैलराज की उत्तुग शिखाएँ प्राकृतिक और सास्कृतिक गरिमा का गान आज भी गा रही हैं। यह समुद्र गर्भ से ४४८८ फुट ऊँचा है। देखने में बड़ा ही सुन्दर है। घनी वनस्थली से घिरे ढालू सकीर्णपथ से पहाड़ी पर चढाई आरम्भ होती है। जैसे ही प्रयाण करते हैं, पर्वतराज की विस्मयजनक शोभा उद्भासित होने लगती है और बीच-बीच में नाना रमणीय दृश्य दिखलाई देते हैं। लगभग एक सहस्र फुट ऊँचा जाने पर आठ चोटियों के बीच पार्श्वनाथ चोटी बादलो के बीच गुम्मज-सी प्रतीत होती है। अनेक अंग्रेज यात्रियो ने मुक्तकठ से इस रमणीय स्थल का वर्णन किया है। सन् १८१९ मे कोलोनेल फ्रैंक्लिन ने (Colonel Franklin) इसकी यात्रा की थी।

इस पर्वत की सबसे ऊँची चोटी सम्मेदशिखर कहलाती है। यह शब्द सम्मद+शिखर का रूपान्तर प्रतीत होता है। इसकी निष्पत्ति सम्+मद धत्वर्थ में क अथवा अच् प्रत्यय करने पर हर्ष या हर्षयुक्त होगा। तात्पर्य यह है कि इसकी ऊँची चोटी को मगलशिखर (The peak of the bliss) कहा जाता है। कुछ लोगो का अनुमान है कि जैनश्रमण इस पर्वत पर तपस्याएँ किया करते थे इसलिए इस पर्वत की ऊँची चोटी का नाम समणशिखर से सम्मेदशिखर हो गया है। इस शैलराज से चौबीस तीर्थंकरो में से अजितनाथ, सभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ और पार्श्वनाथ इन बीस तीर्थंकरो ने कर्मकालिमा को नष्ट कर जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त की है[1]।

---

१. बीसंतु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुद किलेसा। सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥
—निर्वाणकाण्ड गाथा–२

शेषास्तु ते जिनवरा जितमोहमल्ला, ज्ञानार्कभूरिकिरणैरवभास्यलोकान्।
स्थानं परं निरवधारितसौख्यनिष्ठं, सम्मेदपर्वततले समवापुरीशाः॥
—निर्वाणभक्ति श्लो० २५

विशेष के लिए देखें—तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४ गाथा ११८६—१२००

वर्धमान कवि ने अपने दशभक्त्यादि महाशास्त्र में पार्श्वनाथ पर्वत की पवित्रता का वर्णन करते हुए श्री रामचन्द्र जी का निर्वाणस्थान इसे बतलाया है[५]। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार इस क्षेत्र की अर्चना करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। कवि ने इस शैलराज को अनन्त केवलियों की निर्वाणभूमि बताया है।

श्री प० आशाधर जी ने अपने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र में राम और हनूमान का मुक्तिस्थान सी सम्मेदाचल को माना[६] है। रविषेणाचार्य ने अपने पद्मपुराण में हनूमान का निर्वाणस्थान भी इसी पर्वत को बतलाया है[७]। श्री गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में सुग्रीव, हनूमान और रामचन्द्र आदि को इस शैलराज से मुक्त हुए कहा है।[८]

श्री सम्मेदशिखर माहात्म्य में चौबीस तीर्थंकरों के तीर्थकाल में इस पवित्र तीर्थ की यात्रा करने वाले उन व्यक्तियों के आख्यान दिये गये हैं, जिन्होंने इस तीर्थ की वदना से अनेक लौकिक फलों को प्राप्त किया तथा दीक्षा लेकर तपस्या की और इसी शैलराज से निर्वाणपद पाया।

दिगम्बर आगमों के समान श्वेताम्बर आगमों में भी इस क्षेत्र की महत्ता स्वीकार की गयी है। विविध तीर्थकल्प में पवित्र तीर्थों की नामावली बतलाते हुए कहा गया है[९] —

> अयोध्या–मिथिला–चम्पा–श्रावस्ती हस्तिनापुरे।
> कौशाम्बी–काशि–काकन्दी–काम्पिल्ये–भद्रलामिधे।
> चन्द्रानना–सिंहपुरे तथा राजगृहेपुरे।
> रत्नवाहे शौर्यपुरे कुण्डग्रामेऽप्यपादया ॥
> श्रीरैवतक–सम्मेत–वैभाराऽष्टापदाद्रिषु।
> यात्रायास्मिस्तेषु यात्राफलाच्छतगुणं फलम् ॥

---

५. अनन्त-जिननिर्वाणे मुनिसुव्रतजन्मनि। उपदेशश्च नास्माकं जिनसेनाचार्यशासने ॥
अमावास्याग्ररात्रौवानन्तजिज्जिननिर्वृत्नि.। संजाताप्यनगारकेवलिविभोः श्रीरामचन्द्रस्य वै।
श्रीद्धफाल्गुनशुक्लपक्षविलसच्चातुर्दशीवासरे। पूर्वाह्णे कुलशैलमस्तकमणौ सम्मेदगिर्यग्रकौ ॥
शास्तानिर्वृतिस्त्रलक्ष्मणनतेः सीतावली श्रीपतेः ॥—दशभक्त्यादिशास्त्र।

६. साकेतमेतत्सिद्धार्थवने श्रित्वा वलस्तपः। शिवगुप्तजिनात्सिद्ध सम्मेदेगुणमदादियुक ॥
—त्रिषष्टिस्मृती श्लो० ८०

७ निर्दग्धमोहनिचयो जैनेन्द्रं प्राप्य पुष्फलं ज्ञाननिधिम्। निर्वाणागिरावसिधच्छ्रीशैलः श्रमणस-त्तम. पुष्वरविः ॥ —पर्व १३, ४५

८. दिने सम्मेदगिर्यग्रे तृतीयं शुक्लमाश्रितः। योगत्रितयमारुध्य समुच्छिन्न क्रियाश्रयः ॥
—उत्तरपुराण पर्व ६८ श्लो० ७१९

९. विविधतीर्थकल्प पृ० ३

इस प्रकार इस तीर्थ की पवित्रता स्वत सिद्ध है। यह एक प्राचीन तीर्थ है, परन्तु वर्तमान में इस क्षेत्र में एक भी प्राचीन चिह्न उपलब्ध नही है। यहाँ के सभी जिनालय आधुनिक हैं, तीन-चार सौ वर्ष से पहले का कोई भी मन्दिर नही है। प्रतिमाएँ भी इधर सौ वर्षों के बीच की है। केवल दो-तीन दिगम्बर मूर्त्तियाँ जीवराज पापडीवाल द्वारा प्रतिष्ठित हैं, परन्तु इनकी प्रतिष्ठा भी मधुवन मे या इस क्षेत्र से सम्बद्ध किसी स्थान में नही हुई है। अतएव यह स्पष्ट है कि बीच में कुछ वर्षों तक इस क्षेत्र में लोगो का आवागमन नही होता था। इसका प्रधान कारण मुसलमानी सलतनत मे आन्तरिक उपद्रवो का होना तथा यातायात की असुविधाओ का रहना भी है। औरगजेब के शासन के उपरान्त ही यह पुन प्रकाश मे आया है[१०]। तब से अब तक प्रतिवर्ष सहस्रो यात्री इसकी अर्चना, वन्दना कर पुण्यार्जन करते हैं। १८ वी शती मे तो अग्रेज यात्रियो ने भी इस क्षेत्र की यात्रा कर यहाँ का प्राकृतिक, भौगोलिक एव ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है तथा तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट चित्रण किया है[११]। पर्वत की चढाई, उतराई और वदना का क्षेत्र कुल १८ मील तथा परिक्रमा का क्षेत्र २८ मील है। मधुवन से दो मील चढाई पर मार्ग में गन्धर्व नाला और इससे एक मील आगे सीता नाला पड़ता है।

आज इस क्षेत्र में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनधर्मशालाएँ, मन्दिर एव अन्य सास्कृतिक स्थल हैं। पहाड के ऊपर २५ गुम्मजें है, जिनमें निर्वाणप्राप्त २० तीर्थकर, गौतम गणधर एव अवशेष चार तीर्थकरो की चरण-पादुकाएँ स्थापित हैं। पहाड के नीचे मधुवन में भी विशाल जिनमन्दिर हैं जिनमें भव्य एवं चित्ताकर्षक मूर्त्तियाँ स्थापित की गयी हैं। भाव सहित इस क्षेत्र के दर्शन, पूजन करने से ४९ भव मे निश्चयत निर्वाण प्राप्त होता है तथा नरक और तिर्यंक् गति का बध नही होता।

पावापुरी—

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाणभूमि पावापुरी, जिसे शास्त्रकारो ने पावा के नाम से स्मरण किया है, अत्यन्त पवित्र है। इस पवित्र नगरी के पद्मसरोवर से ई० पू० ५२७ में ७२ वर्ष की आयु में भगवान् महावीर ने कार्तिक वदी अमावास्या के दिन उषाकाल मे निर्वाणपद प्राप्त किया था[१२]। प्रचलित यह पावापुरी, जिसे पुरी भी कहा जाता है, विहारशरीफ स्टेशन से ९ मील दूरीपर है।

१० A statical Account of Bengal volume XVI P. 30-33,

११ Pilgrimage to Parsvanath in 1820, Edited by James Burgess, lled 1902, p 36-45.

तथा विशेष जानने के लिए देखें—सम्मेदशिखर नामक विस्तृत निबन्ध

१२. कत्तियकिह्ने चोद्दसिपच्चूसे सादिणामणक्खते। पावाए णयरीए एक्कोवीरेसरो सिद्धो ॥

—तिलोयपण्णत्ति ४, १२०८

क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे। बहूनां सरसां मध्ये महामणि शिलातले ॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः। कार्तिककृष्णपक्षस्य चतुर्दश्या निशात्यये ॥
स्वातियोगे तृतीयेद्ध शुक्लध्यानपरायण.। कृतत्रियोगसरोधसमुच्छिन्नक्रियं श्रितः ॥
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः। गतं मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाछितम् ॥

—उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लो० ५०८–१२

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदाय वाले इस तीर्थ को समान रूप से भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि मानते हैं। परन्तु ऐतिहासिको में इस स्थान के सम्बन्ध में मतभेद है। महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन गोरखपुर जिले के पपउर ग्राम को ही पावापुर बताते हैं, यह पडरोना के पास है और कसया से १२ मील उत्तर-पूर्व को है। मल्ल लोगो के गणतन्त्र का सभाभवन इसी नगर में था।

मुनिश्री कल्याणविजय गणी विहारशरीफ के निकट वाली पावा को ही भगवान् की निर्वाण-नगरी मानते हैं। आपका कहना है कि प्राचीन भारत में पावा नाम की तीन नगरियाँ थी। जैनसूत्रो के अनुसार एक पावा भंगिदेश की राजधानी थी। यह प्रदेश पार्श्वनाथ पर्वत के आस-पास के भूमिभाग में फैला हुआ था, जिसमे हजारीबाग और मानभूमि जिलो के भाग शामिल हैं। बौद्ध-साहित्य के मर्मज्ञ कुछ विद्वान् इस पावा को मलय देश की राजधानी बताते हैं। किन्तु जैनसूत्र ग्रन्थो के अनुसार यह भंगिदेश की राजधानी ही सिद्ध होती है।

दूसरी पावा कोशल से उत्तर-पूर्व कुशीनारा की ओर मल्ल राज्य की राजधानी थी, जिसे राहुलजी ने स्वीकार किया है।

तीसरी पावा मगध जनपद में थी, जो आजकल तीर्थक्षेत्र के रूप में मानी जा रही है। इन तीनो पावाओं में से पहली पावा आग्नेय दिशा में और दूसरी पावा वायव्य कोण में स्थित थी। अत उल्लिखित तीसरी पावा मध्यमा के नाम से प्रसिद्ध थी। भगवान् महावीर का अन्तिम चातुर्मास्य तथा निर्वाण इसी पावा में हुआ है।[१]

श्री डा० राजवली पाण्डेय का 'भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि' शीर्षक एक निबन्ध प्रकाशित हुआ है। आपने इसमें कुशीनगर से वैशाली की ओर जाती हुई सड़क पर कुशीनगर से ९ मील की दूरी पर पूर्व-दक्षिण दिशा में सठियाव के भग्नावशेष (फाजिलनगर) को निश्चित किया है। यह भग्नावशेष लगभग डेढ मील विस्तृत है और भोगनगर तथा कुशीनगर के बीच में स्थित है। यहाँ पर जैन-मूर्तियों के ध्वसावशेष अभी तक पाये जाते हैं। बौद्ध-साहित्य में जो पावा की स्थिति बतलायी गयी है, वह भी उसी स्थान पर घटित होती है।[२]

इन तीनो पावाओं की स्थिति पर विचार करने में ऐसा मालूम होता है कि भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि पावा डा० राजवली पाण्डेय द्वारा निरूपित ही है। इसी स्थान पर काशी-कोशल के नौ-लिच्छवी तथा नौ मल्ल एव अठारह गणराजो ने दीपक जलाकर भगवान् का निर्वाणोत्सव मनाया था। नन्दिवर्द्धन के द्वारा भगवान् के निर्वाण स्थान की पुण्यस्मृति में जिस मन्दिर का निर्माण किया गया था, आज वही मन्दिर फाजिल नगर का ध्वसावशेष है। इस मन्दिर को भी एक मील के घेरे का बताया गया है तथा यह भग्नावशेष भी लगभग एक-डेढ मील का है। ऐसा मालूम होता है कि मुसलमानी शासकों की ज्यादतियों के कारण इस प्राचीन तीर्थ को छोड कर मध्यम पावा को ही तीर्थ मान लिया

१. श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३७५

२ वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० २११–२१४

गया है। यहाँ पर क्षेत्र की प्राचीनता का द्योतक कोई भी चिह्न नही है। अधिक-से-अधिक तीन सौ वर्षों से इस क्षेत्र को तीर्थ स्वीकार किया गया है। यहाँ पर समवशरण मन्दिर की चरणपादुका ही इतनी प्राचीन है, जिससे इसे सात-आठ सौ वर्ष प्राचीन कह सकते हैं। मेरा तो अनुमान है कि इस चरण-पादुका को कही बाहर से लाया गया होगा। यह अनुमानत: १० वी शती की मालूम होती है, इस पादुका पर किसी भी प्रकार का कोई लेख उत्कीर्ण नही है। इस चरणपादुका की प्राचीनता के आधार पर ही कुछ लोग इसी पावापुरी को भगवान् की निर्वाणभूमि बतलाते हैं। जलमन्दिर में जो भगवान् महावीर स्वामी की चरणपादुका है, वह भी कम से कम छ सौ वर्ष प्राचीन है। ये चरणचिह्न भी पुरातन होने के कारण गलने लगे हैं। यद्यपि इन चरणो पर भी कोई लेख नही है। भगवान् महावीर स्वामी के चरणो के अगल-बगल में सुधर्म स्वामी और गौतम स्वामी के भी चरणचिह्न हैं।

पावापुरी में जलमन्दिर सगमरमर का बनाया गया है। यह मन्दिर एक तालाब के मध्य में स्थित है। मन्दिर तक जाने के लिए लगभग ६०० फुट लम्बा लाल पत्थर का पुल है। मन्दिर की भव्यता और शिल्पकारी दर्शनीय है। धर्मशाला में एक विशाल मन्दिर नीचे है, जिसमें कई वेदियाँ हैं। नीचे सामने वाली वेदी में श्वेतवर्ण पाषाण की महावीर स्वामी की मूलनायक प्रतिमा है। इस वेदी में कुल १४ प्रतिमाएँ विराजमान हैं। सामने वाली वेदी के बायें हाथ की ओर तीन प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। इन प्रतिमाओ में धर्मचक्र के नीचे एक ओर हाथी और दूसरी ओर बैल के चिह्न अकित किये गये हैं। यद्यपि इन मूर्त्तियो पर कोई शिला लेखादि नही है, फिर भी कला की दृष्टि से ये निश्चयत ८–९ सौ वर्ष प्राचीन हैं। मन्दिर में प्रवेश करने पर दाहिनी ओर प्राचीन पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। इस प्रतिमा में धर्मचक्र के दोनो ओर दो सिह अकित किये गये हैं।

ऊपर चार मन्दिर हैं—(१) शोलापुर वालो का (२) श्री जगमग बीबी का मन्दिर (३) श्री बा० हरप्रसाद दासजी आरा वालो का मन्दिर और (४) जम्बूप्रसाद जी सहारनपुर वालो का मन्दिर। ये सभी मन्दिर आधुनिक हैं, प्रतिमाएँ भी आधुनिक हैं।

चम्पापुरी—

चम्पापुरी क्षेत्र से बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया है।[1] तिलोयपण्णत्ति में बताया गया है कि फाल्गुन कृष्णा पचमी के दिन अपराह्नकाल में अश्विनी नक्षत्र के रहते छ सौ एक मुनियो से युक्त वासुपूज्य स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया।[2] यद्यपि उत्तरापुराण में वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण स्थान मन्दारगिरि बताया गया है।[3] कुछ ऐतिहासज्ञो का यह कहना है कि प्राचीनकाल में चम्पानगर

---

१. चम्पापुरे च वसुपूज्यसुतः सुधीमान्। सिद्धि परामुपगतो गतरागबन्धः॥
—निर्वाणभक्ति श्लो० २२

२. फग्गुणबहुले पंचमिअवरण्हे अस्सिणीसु चंपाए।
रुवाहियछसयजुदो सिद्धिगदो वासुपुज्जजिणो॥
—तिलोय पण्णत्ति अ० ४ गा० ११९६

३ गुणभद्राचार्य का उत्तरपुराण पर्व ५८

का अधिक विस्तार था, अत यह मन्दारगिरि उस समय इसी महान् नगर की सीमा में स्थित था। भगवान् वासुपूज्य इस चम्पानगर में एक हजार वर्ष तक रहे थे। श्वेताम्वर आगम ग्रन्थो में वताया गया है कि भगवान् महावीर ने यहाँ तीन चातुर्मास व्यतीत किये थे। चम्पा के पास पूर्णभद्र चैत्य नामक प्रसिद्ध उद्यान था, जहाँ महावीर ठहरते थे। श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु ने इसे मगध की राजधानी वनाया था। वासुपूज्य स्वामी के चम्पा में ही अन्य चार कल्याणक भी हुए [1]।

चम्पापुर भागलपुर से ४ मील और नाथनगर रेलवे स्टेशन से मिला हुआ है। जिस स्थान पर वासुपूज्य स्वामी को निर्वाण हुआ माना जाता है, उसी स्थान पर एक विशाल मन्दिर और धर्मशाला है। मन्दिर में पाँच वेदियाँ हैं—चार वेदियाँ चारों कोनो में और एक मध्य में। मध्य वेदी में प्रतिमाओ के आगे वासुपूज्य स्वामी के चरण काले पत्थर पर अकित किये गये हैं। इन चरणो के नीचे निम्न-लेख अकित है।

स्वस्ति श्री जय श्रीमङ्गल संवत् १६९३ शकः १५५८ मधुनामसम्वत्सरे (संवत्सरे) मार्गशिर (मार्गशीर्ष) शुक्ला २ शनौ शुभमुहूर्त्ते श्रीमूलसंघ सरस्वतीगच्छबलात्कारगणे कुन्दकुन्दान्वये भट्टारक श्री-कुमुदचन्द्रस्तत्पट्टे भ० श्री धर्मचन्द्रोपदेशात् जयपुरं शुभस्थानेबघेरवाल ज्ञाति से०श्रीपासा भा० से० श्रीसुनोई तथा पुत्रसश्री ५ नामा० श्री सजाईमतं चम्पावासुपूज्यस्य शिखबद्ध शिखरवद्ध प्रासाद कारण्य प्रतिष्ठा व..... विद्याभूषणैः प्रतिष्ठितं वर्द्धतां श्री जिनधर्म्मं।

मेरा अनुमान है कि जिस स्थान पर आजकल यह मन्दिर वना है, उस स्थान पर वासुपूज्य स्वामी के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चार कल्याणक हुए हैं। निर्वाणस्थान तो मन्दारगिरि ही है।

चम्पापुर के दो जिनालयो में से वडे जिनालय के उत्तर-पश्चिम के कोने की वेदी में श्वेत-वर्ण पाषाण की वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा है। यह प्रतिमा माघ शुक्ला दशमी को सवत् १९३२ में प्रतिष्ठित की गयी है। इसी वेदी में ५–६ अन्य प्रतिमाएँ भी है।

पूर्वोत्तर के कोने की वेदी में भी मूलनामक वासुपूज्य स्वामी की ही प्रतिमा है, इसकी प्रतिष्ठा भी सवत् १९३२ में ही हुई है। इस वेदी में दो प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ स्वामी की पाषाणमयी हैं। एक पर सवत् १५८५ और दूसरी पर सवत् १७४५ का लेख अकित है।

पूर्व-दक्षिण कोने की वेदी में मूलनायक प्रतिमा पूर्वोक्त समय की वासुपूज्य स्वामी की है। इस वेदी में भगवान् ऋषभनाथ की एक खड्गासन प्राचीन प्रतिमा है, जिसमें मध्य में धर्मचक्र और इसके दोनो ओर दो हाथी अकित हैं।

दक्षिण-पश्चिम कोने की वेदी में भी मूलनायक वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा संवत् १९३२ की प्रतिष्ठित है। इस वेदी में एक पार्श्वनाथ स्वामी की पाषाणमयी प्रतिमा जीवराज पापडीवाल द्वारा प्रतिष्ठित सवत् १५५४ की है। वीसवी शताब्दी की कई प्रतिमाएँ भी इस वेदी में है।

---

१. चंपाए वासुपुज्जो वसुपुज्जणरेसरेण विजयाए।
फग्गुणसुद्धचउद्दसीए णक्खत्ते पुव्वभद्दपदे ॥—तिलोय पण्णत्ति अ० ४ गा० ५३७

मध्य की मुख्य वेदी में चाँदी के भव्य सिंहासन पर ४।। फुट ऊँची पीतवर्ण की पाषाणमयी वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा है । मूल नायक के दोनों ओर अनेक धातु प्रतिमाएँ विराजमान हैं । बड़े मन्दिर के आगे मुगलकालीन स्थापत्य कला के ज्वलन्त प्रमाण स्वरूप दो मानस्तम्भ हैं, जिनकी ऊँचाई क्रमश. ५५ और ३५ फीट है ।

मन्दिर के मूल फाटक पर नक्कासीदार किवाड हैं । मूल मन्दिर की दीवालो पर सुकौशल मुनि के उपसर्ग, सीता की अग्निपरीक्षा, द्रौपदी का चीरहरण आदि कई भव्य चित्र अंकित किये गये हैं । द्रौपदी के चीरहरण और सीता की अग्निपरीक्षा में दरबार का दृश्य भी दिखलाया गया है । यद्यपि इन चित्रों का निर्माण हाल ही में हुआ है, पर जैनकला की अपनी विशेषता नही आ पायी है ।

इस मन्दिर से आध मील गगा नदी के नाले के तट पर, जिसको चम्पानाला कहते है, एक जैनमन्दिर और धर्मशाला है । इसका प्रबन्ध श्वेताम्वरी भाइयो के आधीन है । इस मन्दिर मे नीचे श्वेताम्वरी प्रतिमाएँ और ऊपर दिगम्बर आदिनाथ की प्रतिमा विराजमान है । इन प्रतिमाओ मे से कई प्रतिमाएँ, जो चम्पानाला से निकली हैं, बहुत प्राचीन हैं । अन्य प्रतिमाओ में एक श्वेत पाषाण की १५१५ की प्रतिष्ठित तथा एक मूँगिया रग के पाषाण की पद्मासन स० १८८१ में भट्टारक जगत्कीर्त्ति द्वारा प्रतिष्ठित है । प्रतिष्ठा कराने वाले चम्पापुर के सन्तलाल है । यहाँ अन्य कई छोटी प्रतिमाओ के अतिरिक्त एक चरणपादुका भी है । श्वेताम्बर आगम में इसी स्थान को भगवान् वासुपूज्य स्वामी के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पचकल्याणको का स्थान माना गया है ।

श्री डब्लू० डब्लू हन्टर ने भागलपुर का स्टेटिकल एकाउन्ट देते हुए लिखा है कि जहाँ आजकल चम्पानगर में जैनमन्दिर है, उस स्थान को ख्वाजा अहमद ने सन् १६२२–२३ में आवाद किया था । इस स्थान के आस-पास का मोहल्ला अकवरपुर कहलाता है । यह स्थान वहुत प्राचीन है, यहाँ पर अरण्य है ।

मन्दार गिरि—

भागलपुर से ३१ मील दक्षिण एक छोटा-सा पहाड अनुमानत ७०० फुट ऊँचा एक ही शिला का है । यह प्राचीन क्षेत्र है । यहाँ से भगवान् वासुपूज्य ने निर्वाण लाभ किया है । उत्तर पुराण में बताया गया है—

> स तैः सह विहृत्याखिलार्यक्षेत्राणि तर्पयन् ।
> धर्मवृष्ट्या क्रमात्प्राप्य चम्पामव्दसहस्रकम् ।।
> स्थित्वात्र निष्क्रियो मासं नद्या राजतमौलिका–
> सञ्ज्ञायाश्चित्तहारिण्याः पर्यन्तावनिवर्त्तिनि ।।
> अग्रमन्दरशैलस्य सानुस्थानविभूषणे ।
> वने मनोहरोद्याने पल्यंकासनमाश्रितः ।।

मासे भाद्रपदे ज्योत्स्ने चतुर्दश्यापराह्णके ।
विशाखायां ययौ मुक्तिं चतुर्नवतिसंयतैः ॥ —उत्तरपुराण पर्व ५८ श्लो० ५०-५३

इससे स्पष्ट है कि वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण स्थान यही है, जहाँ आजकल चम्पापुर का मन्दिर स्थित है, वहाँ से भगवान का निर्वाण नही हुआ है । इन श्लोको में बताया गया है कि रजतमौलि नामक नदी के किनारे की भूमि पर स्थित मन्दागिरि के शिखर पर स्थित मनोहर नामक उद्यान से भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन सन्ध्या समय विशाखा नक्षत्र में ९४ मुनिराजो के साथ वासुपूज्य स्वामी ने निर्वाणपद प्राप्त किया । भौगोलिक दृष्टि से पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि प्राचीन रजतमौलि नदी आजकल भी रजत नाम से प्रसिद्ध है । भाषा विज्ञान की अपेक्षा से रजतमौलि का रजत नाम सहज संभव है । अतएव वासुपूज्य स्वामी का यही मन्दारगिरि निर्वाण स्थान है ।[1]

पहाड के ऊपर दो बहुत प्राचीन जिनालय है, इनकी स्थापत्य कला ही इस बात की साक्षी है कि ये मन्दिर आज से कमसे कम १० हजार वर्ष प्राचीन है । बडे मन्दिर की दीवाल की चौडाई ७ फीट है, जो बौद्ध काल की स्थापत्यकला सूचक है । पहाड के बड़े मन्दिर में वासुपूज्य स्वामी के श्यामवर्ण के चरणचिन्ह हैं । ये चरण भी बहुत प्राचीन है, पाषाण एव शिल्प की दृष्टि से ई० सन् की ८-९ वी शती के अवश्य है । पहाड पर के छोटे मन्दिर में तीन चरणपादुकाएँ है । ये पादुकाएँ भी प्राचीन हैं तथा निर्वाण प्राप्त मुनिराजो की मानी जाती है । बडे मन्दिर के भीतरी दरवाजे के ऊपर एक प्राचीन मूर्त्ति उत्कीर्णित है । पास की एक गुफा में मुनिराजो के चरणचिन्ह अंकित हैं ।

मन्दारगिरि से लगभग दो मील की दूरी पर बौंसी गाव में दि० जैन धर्मशाला एवं विशाल भव्य मन्दिर है । यात्रियो के ठहरने का प्रबन्ध यही पर है । धर्मशाला के मन्दिर में वी० सं० २४६९ की गेहुआवर्ण की वासुपूज्य स्वामी की पद्मासन मूर्त्ति है । और भी कई मूर्त्तियाँ एव चरण पादुकाएँ है । मन्दिर के बाहिरी दरवाजे के ऊपर दोनो ओर दो पाषाण के हाथी अपने सुण्डादण्ड को ऊपर की ओर उठाये खडे हुए है, बीच सगमरमर पर दि० जैन मन्दिर लिखा गया है । बडे शिखर के नीचे माजिक में कटी हुई फूल पत्तियो का शिखर बहुत ही भव्य और चित्ताकर्षक है । मन्दिर के सामने बना हुआ छोटा सगमरमर का चबूतरा दूर से देखने पर बहुत ही सुहावना मालूम पडता है ।

---

१. निर्वाणकाण्ड और तिलोयपण्णत्ति में यद्यपि वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण चम्पापुरी माना गया है; पर इसमें कोई विरोध नहीं है । क्योंकि जैनागम में चम्पापुरी का विस्तार ९६ मील लम्बा और ३६ मील चौड़ा बताया गया है । अतः मन्दारगिरि इसी चम्पा के अन्तर्गत है । तिलोयपण्णत्ति और निर्वाणकाण्ड में सामान्यापेक्षया कथन है, इसलिए चम्पा लिखा है, परन्तु उत्तरपुराण में विशेष रूप से स्थान का निर्देश किया गया है । अतः वासुपूज्य स्वामी का निर्वाणस्थान मन्दारगिरि है ।

यहाँ एक अन्य अधूरा मन्दिर पडा हुआ है, इस मन्दिर को पत्थर ही पत्थर से बनवाने की व्यवस्था श्री सेठ तलकचन्द कस्तूरचन्द बारामती (पूना) वालो ने की थी; पर कालचक्र के प्रभाव से यह मन्दिर अभी अपूर्ण ही पड़ा है।

जैनेतरो के लिए भी यह क्षेत्र पवित्र और मान्य है। यहाँ सीताकुण्ड और शेखकुण्ड नामक दो शीतल जल के कुण्ड है। पर्वत की तलहटी में पापहरणी पुष्करणी नामक तालाब है। कहा जाता है कि समुद्र मन्थन के समय मथानी का कार्य इसी पर्वत से लिया गया था।

बीच में कई शताब्दियो तक जैनो की शिथिलता के कारण यह तीर्थ अन्धकाराच्छन्न हो गया था। २० अक्तूबर सन् १९११ में सबलपुर के जमीदारो से इसकी रजिस्ट्री करायी गयी है। इस तीर्थ को पुन. प्रकाश मे लाने का श्रेय स्व० बा० देवकुमार जी आरा, स्व० राय बहादुर कैसरे हिन्द सखीचन्द्र जी कलकत्ता एव श्री बाबू हरिनारायण जी भागलपुर को है। अब यह तीर्थ दिनो दिन उन्नति करता जा रहा है।

राजगृह—

यह स्थान पटना जिले मे है। ई० आर० रेलवे के बख्तियारपुर जकशन से बिहार लाइट रेलवे का अन्तिम स्टेशन है। यहाँ पचपहाडी की तलहटी में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन-धर्मशालाएँ एव जिनमन्दिर है। पाँचो पहाडो पर भी दिगम्बर और श्वेताम्बर मन्दिर है।

राजगृह का पूर्व इतिवृत्त अत्यन्त गौरवपूर्ण है। इस नगर को कुशात्मज वसु ने गंगा और सोन नदी के संगम पर बसाया था। महाराज श्रेणिक ने पच पहाडी के मध्य में नवीन राजगृह नगर को बसाया, जो अपनी विभूति और रमणीयता में अद्वितीय था। महाराज वसु से लेकर श्रेणिक-तक यह उत्तर भारत का शासन-केन्द्र रहा है। जब श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु ने मगध की राजधानी चम्पा को बनाया, उस समय किसी कारणवश आग लग जाने से यह नगर नष्ट हो गया।

राजगृह का भगवान् महावीर के पहले भी जैनधर्म से सम्बन्ध रहा है। रामायण काल में भगवान् मुनिसुव्रत नाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चार कल्याणक यही हुए थे। पश्चात् इसी वश में अर्द्धचक्री प्रतिनारायण जरासिन्धु हुआ। यह महापराक्रमी और रणशूर था, इसके भय से यादवो ने मथुरा छोड़कर द्वारिका का आश्रय ग्रहण किया था। राजगृह के साथ जैनधर्म का इतिहास जुडा हुआ है। यहाँ भगवान आदिनाथ और वासुपूज्य के अतिरिक्त अवशेष २२ तीर्थंकरो के समवशरण आये थे। भगवान् महावीर ने यहाँ वर्षाकाल व्यतीत किया था तथा इनके प्रमुख भक्त इसी नगर निवासी थे।

राजगृह के पचपहाडो का वर्णन तिलोयपण्णत्ति, धवलाटीका, जयधवला टीका, हरिवशपुराण, पद्मपुराण, अणुत्तरोववाई दशागसूत्र, भगवतीसूत्र, जम्बू स्वामीचरित्र, मुनिसुव्रतकाव्य, णायकुमार-चरिउ, उत्तर पुराण आदि ग्रथो में उपलब्ध है।

तिलोयपण्णत्ति में इसे पचशैलपुर नगर कहा गया है। बताया गया है कि राजगृह नगर के पूर्व में चतुष्कोण ऋषिशैल, दक्षिण में त्रिकोण वैभार, नैऋत्य में त्रिकोण विपुलाचल, पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में धनुषाकार छिन्न एवं ईशान दिशा में पाण्डु नाम का पर्वत है।[1]

षट्खडागम की धवला टीका में वीरसेन स्वामी ने पंच पहाड़ियों का उल्लेख करते हुए दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें पंच पहाड़ियों के नाम क्रमश. ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुल, चन्द्र और पाण्डु आये हैं।[2]

हरिवंश पुराण में बताया गया है कि पहला पर्वत ऋषिगिरि है, यह पूर्व दिशा की ओर चौकोर है, इसके चारो ओर झरने निकलते हैं। यह इन्द्र के दिग्गजो के समान सभी दिशाओ को सुशोभित करता है। दूसरा दक्षिण दिशा की ओर वैभारगिरि है, यह पर्वत त्रिकोणाकार है। तीसरा दक्षिण-पश्चिम के मध्य त्रिकोणाकार विपुलाचल है, चौथा वलाहक नामक पर्वत धनुष के आकार का तीनो दिशाओ को घेरे शोभित है, पाँचवाँ पाण्डुक नामक पर्वत गोलाकार पूर्वोत्तर मध्य में है। ये पाँचो पर्वत फल-पुष्पो के समूह से युक्त हैं। इन पर्वतो के वनों में वासुपूज्य स्वामी को छोड शेष समस्त तीर्थंकरो के समवशरण आये हैं। ये वन सिद्धक्षेत्र है, इनको यात्रा को भव्य जीव आते है।[3]

---

१. चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो।
णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥
चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु।
ईसाणाए पंडू वण्णा सव्वे कुसग्गपरियरणा ॥ —अधिकार १ गा० ६६–६७

२. पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुमसमाइण्णो देव-दाणव-वंदिदे।
महावीरेण अत्थो कहियो भवियलोयस्स ॥
ऋषिगिरिरैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र ॥
धनुराकारश्चन्द्रो वारुण-वायव्य-सामदिक्षु ततः।
वृत्ताकृतिरैशान्यां पाण्डुः सर्वे कुशाग्रवृत्ताः ॥

—धवला टीका भाग १ पृ० ६१–६२

३. ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः। दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः। दक्षिणापरदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥
सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य वलाहकः। शोभते पांडुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥
वासुपूज्यजिनाधीशादितरेषां जिनेशिनां। सर्वेषां समवस्थानैः पावनोश्वनांतराः ॥
तीर्थयात्रागतानेकभव्यसंघ निषेवितैः। नानातिशयसंवर्द्धैः सिद्धक्षेत्रैः पवित्रिताः ॥

—हरिवंशपुराण सर्ग ३ श्लो० ५३, ५४, ५५, ५७, ५८

राजगृह सिद्ध भूमि है, यहाँ भगवान् महावीर का विपुलाचल पर प्रथम, समवशरण लगा था। अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के अन्तिम भाग में ३३ वर्ष ८ माह और १५ दिन अवशेष रहने पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई थी। इस स्थान से अनेक ऋषि-मुनियो ने निर्वाण पद प्राप्त किया है। श्रद्धेय श्री नाथूराम प्रेमी ने अनेक प्रमाणो द्वारा नग-अनग आदि साढ़े पाँच करोड मुनिराजो का निर्वाण स्थान यहा के ऋष्यद्रि को बतलाया है।[1] आज कल यह ऋष्यद्रि चतुर्थ पहाड़ स्वर्णगिरि या सोनागिरि कहलाता है। श्री प्रेमीजी ने निर्वाण भक्ति के ९ वें पद्य को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत कर अग-अनग कुमार का मुक्ति स्थान राजगृह की पचपहाडियो में श्रमणगिरि—सोनागिरि को ही सिद्ध किया है। पूर्वापर सम्बन्ध विचार करने पर यह कथन युक्तिसगत प्रतीत होता है।

राजगृह के विपुलाचल पर्वत से श्री गौतम स्वामी ने निर्वाण लाभ किया है। उत्तर पुराण में बतलाया गया है—

> गत्वा विपुलशब्दादिगिरौ प्राप्स्यामि निर्वृतिम्।
> मन्निर्वृतिदिने लब्ध्वा सुधर्मा श्रुतपारग ॥ उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लो० ५१

अन्तिम केवली श्री सुधर्मस्वामी और जम्बू स्वामी ने भी विपुलाचल पर्वत से ही निर्वाण प्राप्त किया है।[2] केवली धनदत्त, सुमन्दर और मेघरथ ने भी राजगृह से ही निर्वाण प्राप्त किया है।[3] सेठ प्रीतकर ने भगवान् महावीर से मुनि दीक्षा लेकर यही आत्मकल्याण किया था।[4] धीवरी पूत गन्धा ने यही की नीलगुफा में सल्लेखना व्रत ग्रहण कर शरीर त्याग किया था।

पहला पहाड विपुलाचल है। इस पर्वत पर चार दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। नीचे छोटे-मन्दिर में श्यामवर्ण कमल के ऊपर भगवान् महावीर स्वामी की चरण-पादुका है। थोडा ऊपर जाने पर तीन मन्दिर है। पहले मन्दिर में चन्द्रप्रभु की चरणपादुका प्राचीन है। मन्दिर भी प्राचीन है। मध्यवाले मन्दिर में चन्द्र प्रभु स्वामी की श्वेतवर्ण की मूर्त्ति वेदी में विराजमान हैं।

---

१. जैन-साहित्य और इतिहास पृ० २०१–२०३

२. तपोमासे सितेपक्षे सप्तम्यां च शुभे दिने। निर्वाणं प्राप सौधर्मो विपुलाचलमस्तकात् ॥११०॥
ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्। कर्माष्टकविनिर्मुक्तः शाश्वतानंत सौख्यभाक् ॥१२१॥
—जम्बूस्वामीचरित जम्बूस्वामी निर्वाणगमनाध्याय

३. सप्तभिः पंचभिः पूजा वर्षैर्द्वादशभिश्चले। अन्ते सिद्धशिलारूढाः सिद्धा राजगृहे पुरे।
—हरिवंशपुराण अ० १८ श्लो० ११६

४. अथ प्रियकराख्याय साभिषेक स्वसम्पदं। धसुंधरासूजे प्रीतिकरो दत्वा विरक्तधीः ॥
एत्य राजगृहं सार्द्धं बहुभिर्भृत्यबांधवैः। भगवत्पार्श्वमासाद्य संयमं प्राप्तवानयम् ॥
—उत्तरपुराण पर्व ६ श्लो० ३८५–८६

वेदी के नीचे दोनो ओर हाथी खुदे हुए हैं, बीच में एक वृक्ष है। बगल में एक ओर सं० १५४८ की श्वेतवर्ण की चन्द्र प्रभुस्वामी की मूर्ति है। यहाँ एक पुरानी श्यामवर्ण की भगवान् महावीर स्वामी की भी मूर्त्ति है। यह मूर्त्ति ई० सन् ८ वी शती की प्रतीत होती है। अन्तिम मन्दिर की वेदिका में श्वेतवर्ण की महावीर स्वामी की मूर्ति विराजमान है। बगल में एक ओर श्यामवर्ण मुनिसुव्रतनाथ की मूर्त्ति और दूसरी ओर उन्ही के चरण है। मूर्ति प्राचीन और चरण नवीन है।

दूसरे रत्नगिरि पर दो मन्दिर है—एक प्राचीन मन्दिर है और दूसरा नवीन। नवीन मन्दिर को श्रीमती ब्र० प० चन्दाबाई जी ने बनवाया है इसमें मुनि सुव्रत स्वामी की श्यामवर्ण की भव्य और विशाल प्रतिमा विराजमान है। पुराने मन्दिर में श्यामवर्ण महावीर स्वामी की चरण-पादुका है।

तीसरे उदयगिरि पर एक मन्दिर है। इसमें श्री शातिनाथ और पार्श्वनाथ स्वामी की प्राचीन प्रतिमाएँ एव आदिनाथ स्वामी के चरणचिन्ह है। एक महावीर स्वामी की भी खड्गासन श्याम-वर्ण की प्राचीन प्रतिमा है। यहाँ नया मन्दिर भी कलकत्ता निवासी श्रीमान् सेठ रामवल्लभ रामे-श्वर जी की ओर से बना है, पर उसकी अभी प्रतिष्ठा नही हुई है।

चौथे स्वर्णगिरि पर दो मन्दिर है। एक मन्दिर फिरोजपुर निवासी लाला तुलसीराम ने बनवाया है। इस नये मन्दिर में शान्तिनाथ स्वामी की श्यामवर्ण की प्रतिमा तथा नेमिनाथ और आदिनाथ स्वामी के चरणचिन्ह है। यहाँ एक प्राचीन खड्गासन मूर्त्ति भी है। पुराने मन्दिर में भी भगवान् महावीर के नवीन चरणचिन्ह हैं। यह मन्दिर छोटा-सा और पुराना है।

पाँचवें वैभारगिरि पर एक मन्दिर है। यहाँ एक चौबीसी प्रतिमा, महावीर स्वामी, नेमिनाथ स्वामी और मुनिसुव्रत स्वामी की श्यामवर्ण की प्राचीन प्रतिमाएँ है। नेमिनाथ स्वामी के चरणचिन्ह भी है।

पहाड़ के नीचे दो मन्दिर हैं। एक मन्दिर धर्मशाला के भीतर है तथा दूसरा धर्मशाला के बाहर विशाल बगीचे में। बाहर वाले मन्दिर को देहली-निवासी लाला न्यादरमल धर्मदासजी ने एक लाख रुपये से ६ फरवरी सन् १९२५ में बनवाया है। इस मन्दिर में पाँच वेदिकाएँ हैं। पहली वेदी के बीच में श्यामवर्ण नेमिनाथ स्वामी की प्रतिमा है, यह पद्मासन मूर्ति १½ फुट ऊँची सवत् १९८० में प्रतिष्ठित की गयी है। इसके दाई ओर शान्तिनाथ स्वामी और बाई ओर महावीर स्वामी की प्रतिमाएँ है। ये दोनो प्रतिमाएँ विक्रम की २० वी शती की है। इस वेदिका में धातुमयी कई छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ है, जो स० १७८९ की हैं। इस वेदी में दो चाँदी की भी प्रतिमाएँ है।

दूसरी वेदी में चन्द्रप्रभु स्वामी की श्वेतवर्ण की ३ फीट ऊँची प्रतिमा है। इसकी प्रतिष्ठा वी० स० २४४९ में हुई है। चतुर्मुखी धातु प्रतिमा भी इस वेदी में है।

मध्य की वेदी सबसे बड़ी वेदी है, इस पर सुनहला कार्य कलापूर्ण हुआ है। वेदी के मध्य में मुनिसुव्रत नाथ की श्यामवर्ण की प्रतिमा, इसके दाहिनी ओर अजितनाथ की और बाई ओर संभव-

नाथ की प्रतिमा हैं । ये प्रतिमाएँ भी वि० स० १९८० की प्रतिष्ठित हैं । चौथी वेदी में विक्रम सवत् १९७९ की प्रतिष्ठित चन्द्रप्रभु और शान्तिनाथ स्वामी की प्रतिमाएँ हैं । पाँचवी वेदी के बीच में कमल पर महावीर स्वामी की बादामी रग की वी० स० २४६२ की प्रतिष्ठित प्रतिमा है । इसमें आदिनाथ और शीतलनाथ की भी प्रतिमाएँ हैं ।

धर्मशाला के भीतर का छोटा मन्दिर गिरिडीह निवासी सेठ हजारीमल किशोरीलाल जी ने बनवाया है । इस मन्दिर की वेदी में मध्यवाली प्रतिमा भगवान् महावीर स्वामी की है । इसका प्रतिष्ठा काल माघ सुदी १३ सवत् १८४१ लिखा है । इसके बगल में पार्श्वनाथ स्वामी की दो प्रतिमाएँ हैं, जिनका प्रतिष्ठा काल वैशाख सुदी ३ स० १५४८ लिखा है । इस वेदी मे और भी कई प्रतिमाएँ है ।

गुणावा—

यह सिद्धक्षेत्र माना जाता है, यहाँ से गौतम स्वामी का निर्वाण हुआ मानते है, पर यह भ्रम है । गौतम स्वामी का निर्वाणस्थान विपुलाचल पर्वत है, गुणावा नही । हाँ, इतनी बात अवश्य है कि गौतम स्वामी नाना देशो में विहार करते हुए गुणावा पहुँचे थे और यहाँ तपस्या की थी।

यह स्थान नवादा स्टेशन से १½ मील की दूरी पर है । यहाँ पर श्रीमान् सेठ हुक्मचद जी साहब ने जमीन खरीद कर धर्मशाला एव भव्य मन्दिर का निर्माण कराया है । धर्मशाला के मन्दिर में भगवान् कुन्थुनाथ स्वामी की ४½ फुट ऊँची श्वेतवर्ण की पद्मासन प्रतिमा है । इसकी प्रतिष्ठा चैत्र शुक्लाष्टमी स० १९९५ में हुई है । वेदी में चार पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमाएँ है, जिनका प्रतिष्ठाकाल स० १५४८ है । इस वेदी मे एक वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा वैशाख सुदी ४ शनिवार स० १२६८ की है । इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा सारगपुर निवासी दाताप्रसाद भार्यासिह भार्या अमरादि ने करायी है । वेदी मे कुन्थुनाथ स्वामी की प्रतिमा के पीछे एक स० १२६८ की एक और प्रतिमा है । यहाँ गौतम स्वामी के चरण वीर स०२४५३ के प्रतिष्ठित हैं । वेदी सुन्दर सगमरमर की है, इसका निर्माण कलकत्ता निवासी श्रीमान् से माणिकचद जी की धर्मपत्नी ने कराया है ।

धर्मशाला के दिगम्बर मन्दिर से थोडी ही दूर पर जलमन्दिर है । यह मन्दिर एक ६—७ फीट गहरे तालाब के मध्य में बनाया गया है । मन्दिर तक जाने के लिए २०३ फीट लम्बा पुल है । आजकल इस जल-मन्दिर पर दिगम्बर और श्वेताम्बर भाइयो का समान अधिकार है, यहाँ एक दिगम्बर-पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा तथा गौतम स्वामी की चरणपादुका है । इस चरणपादुका की प्रतिष्ठा स० १६७७ में हुई है । दि० धर्मशाला का पुजारी प्रतिदिन इस जलमन्दिर में अपनी प्रतिमा तथा चरण-पादुका का अभिषेक पूजन करता है । इस जलमन्दिर मे श्वेताम्बरीय आम्नाय के अनुसार वासुपूज्य स्वामी के चरण, चौबीसी चरण, चौबीस स्थानो पर पृथक्-पृथक् चौबीस भगवानो के चरण एव महावीर स्वामी के चरण कई स्थानो पर हैं । यहाँ मूलनायक प्रतिमा महावीर स्वामी की है । यह मन्दिर प्राचीन और दर्शनीय है ।

धर्मशाला के मन्दिर के सामने वीर स० २४७४ में गया निवासी श्रीमान् सेठ केसरीमल लल्लूलालजी ने मानस्तम्भ बनवा कर इसकी प्रतिष्ठा करायी है।

कमलदह (गुलजारबाग)—

यह सेठ सुदर्शन का निर्वाणस्थान माना गया है। सेठ सुदर्शन ने इस स्थान पर घोर तपश्चरण किया था। जब सुदर्शन मुनि श्मशान में ध्यानस्थ थे, आकाशमार्ग में रानी अभयमती का जीव, जो व्यन्तरी हुआ था, जा रहा था। मुनि के ऊपर ज्यों ही विमान आया कि वह मुनि के योगप्रभाव से आगे नहीं बढ पाया। उसने कुअवधिज्ञान से पूर्व शत्रुता को अवगत कर उन्हें भयानक उपसर्ग दिया, परन्तु धीर-वीर सुदर्शन मुनिराज ध्यान में सुमेरु की तरह अटल रहे। देवों ने उनका उपसर्ग दूर किया।

सुदर्शन मुनि ने योग निरोध कर शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने गुलजारबाग—कमलदह क्षेत्र में पौष सुदि ५ के दिन अपराह्न में निर्वाणपद पाया।

गुलजारबाग स्टेशन से उत्तर की ओर एक धर्मशाला और मन्दिर है। धर्मशाला से थोड़ी ही दूर पर मुनि सुदर्शन का निर्वाण स्थान है।

कुण्डलपुर—

यह भगवान् महावीर का जन्मस्थान माना जाता है, पर अब अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर वैशाली का कुण्डग्राम भगवान् की जन्मभूमि सिद्ध हो चुका है। यह स्थान पटना जिले के अन्तर्गत है और नालन्दा स्टेशन से १½–२ मील की दूरी पर है। यहाँ पर धर्मशाला के भीतर विशाल मन्दिर है। वेदी में मूलनायक प्रतिमा महावीर स्वामी की है, इसकी प्रतिष्ठा माघशुक्ला १३ सोमवार स० १९८२ में हुई है। तीन प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ स्वामी की है, जिनकी प्रतिष्ठा वैशाख शुदि ३ स० १५४८ में हुई है। इस वेदी में ७ प्रतिमाएँ और एक सिद्ध परमेष्ठी की आकृति है। स्थान रमणीय और शान्तिप्रद है। आत्मकल्याण करने के लिए यह स्थान सर्वथा उपयोगी है। अब तो नालन्दा में पाली प्रतिष्ठान के खुल जाने से इस स्थान की महत्ता और भी बढ गयी है।

वैशाली—

भगवान् महावीर का जन्मस्थान यही प्रदेश है।[1] वैशाली संघ ने इस स्थान के अन्वेषण में अपूर्व श्रम किया है। यहाँ से खुदाई में भगवान् महावीर स्वामी की एक प्राचीन मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त

---

१. सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं णयरम्मि कुडले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे चित्तासियतेरसीए उप्पणो॥ —तिलोयपणत्ति अ० ४
सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः॥ —निर्वाणभक्तिः श्लो० ४

हुई है। आजकल यहाँ पर भगवान् महावीर का विशाल मन्दिर बनाने की योजना चल रही है। मन्दिर बनाने के लिए लगभग १३ बीघे जमीन स्थानीय जमीन्दारो से प्राप्त हो चुकी है। यहाँ मन्दिर आदि की व्यवस्था के लिए 'वैशाली तीर्थ कमेटी' का सगठन हुआ है। वैशाली सघ के तत्त्वावधान में विहार सरकार यहाँ 'प्राकृत प्रतिष्ठान' खोलने जा रही है। यह स्थान मुजफ्फरपुर जिले मे पडता है।

कुलुआ पहाड़—

यह पर्वत गया से ३८ मील हजारीवाग जिले में है। यह पहाड जगल में है, इसकी चढाई दो मील है। यहाँ सैकडो जैन मन्दिरो के भग्नावशेष पडे हुए हैं। यहाँ १० वें तीर्थंकरश्री शीतलनाथ ने तप करके केवलज्ञान प्राप्त किया था। यहाँ पार्श्वनाथ स्वामी की एक अखण्डित अत्यन्त प्राचीन पद्मासन २ फुट ऊँची कृष्णवर्ण की प्रतिमा है। इस प्रतिमा को आजकल जैनेतर 'द्वारपाल' के नाम से पूजते हैं। यहाँ एक छोटा दि० जैन मन्दिर पाँच कलशो का शिखरवन्द बना हुआ है, यह मन्दिर प्राचीन है। इसमे सन् १६०१ श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् की ६ इच चौडी पद्मासन मूर्त्ति विराजमान थी, परन्तु अब केवल आसन ही रह गया है। मन्दिर के सामने पर्वत पर एक रमणीक ३०० × ६० गज का सरोवर है। यहाँ पर अनेक खण्डित जैन मूर्त्तियो के अवशेष पडे हुए है। एक मूर्त्ति एक हाथ की पद्मासन है, आसन पर सवत् १४४३ लिखा मालूम होता है। यहाँ की सबसे ऊँची चोटी का नाम 'आकाशालोकन' है। यह नीचे से १½ मील ऊँची होगी। इस शिखर पर एक चरणपादुका बहुत प्राचीन है। चरणचिह्न "८ × ½" है। शिखर से नीचे उतरने पर महान शिला की एक ओर की दीवाल में १० दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ खण्डित अवस्था में हैं। इन प्रतिमाओ पर नागरीलिपि में लेख है, जो घिस जाने के कारण पढने में नही आता है। केवल निम्न अक्षर पढे जा सकते हैं।

"श्रीमत् महाचद कलिद सुपुत्र सघ धर मई सह सिद्धम्"

इस स्थान को पण्डो ने दशावतार गुफा प्रसिद्ध कर रखा है। बृहद्शिला की दूसरी ओर भी दीवाल में १० प्रतिमाएँ है। इस स्थान से आकाशालोकन शिखर तीन मील है। मार्च १६०१ की इडियन एण्टीक्वेटी मे इस तीर्थ के सम्बन्ध में लिखा गया है—

"आकाशालोकन शिला की चरणपादुका को पुरोहित लोग कहते है कि विष्णु की है, परन्तु देखने से ऐसा निश्चय होता है कि यह जैनतीर्थंकर की चरणपादुका है और ऐसा ही मान कर इसकी असल में पूजा होती थी।"

"पूर्व काल में यह पहाड अवश्य जैनियो का एक प्रसिद्ध तीर्थ रहा होगा, यह बात भले प्रकार स्पष्टतया प्रमाणित है। क्योकि सिवाय दुर्गादेवी की नवीन मूर्त्ति के और बौद्ध मूर्त्ति के एक खड के अन्य सर्व पाषाण की रचना के चिह्न, चाहे अलग पडे हुए, चाहे शिलाओ पर अकित हो वे सब तीर्थंकरो को ही प्रकट करते हैं।"

आज इस पवित्र क्षेत्र के पुनरुद्धार और प्रचार की आवश्यकता है । भा० दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमिटी को इस क्षेत्र की ओर ध्यान देना चाहिये ।

श्रावक पहाड़—

गया के निकट रफीगंज से ३ मील पूर्व श्रावक नाम का पहाड़ है । यह एक ही शिला का पर्वत है, २ फर्लांग ऊँचा होगा । यहाँ वृक्ष नही है, किनारे-किनारे शिलाएँ है । पहाड़ के नीचे जो गाँव बसा है, उसका नाम भी श्रावकपुर है । पर्वत के ऊपर ८० गज जाने पर एक गुफा है, जो १०×६ गज है । इसमें एक जीर्ण दिगम्बर जैन मन्दिर है, जो इस समय ध्वस्तप्राय है । यहाँ पर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की मनोज्ञ मूर्त्ति है । इसका बायाँ पैर खण्डित है । गुफा में अन्य भी खण्डित मूर्तियाँ है, गुफा के भीतर के पाषाण पट में ६ पद्मासन मूर्त्तियाँ है, नीचे यक्षिणी की मूर्त्ति लेटी है । इस पट के नीचे एक लेख प्राचीन लिपि मे है ।

प्रचार पहाड़—

गया जिले मे औरंगाबाद की सीमा के पूर्व की ओर रफीगज से दो मील की दूरी पर प्रचार या पछार नामक पहाड है । यहाँ पर एक गुफा के बाहर वेदी में पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति विराजमान है । इसके आस-पास तीर्थंकरो की अन्य प्रतिमाएँ हैं । इस पहाड़ की जैनमूर्त्तियो के ध्वसावशेषो को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यह प्रसिद्ध तीर्थ रहा है ।

सामान्य तीर्थ—

आरा की प्रसिद्धि नन्दीश्वरद्वीप की रचना, श्री सम्मेदशिखर की रचना, श्री गोम्मटेश्वर की प्रतिमा, मानस्तम्भ, श्री जैनसिद्धान्त-भवन और श्री जैन-बाला-विश्राम के कारण है । गया अपने भव्य जैन मन्दिर के कारण, छपरा अपने शिखरबन्द मन्दिर के कारण, भागलपुर अपने भव्य मन्दिर तथा चम्पापुर के निकट होने के कारण, हजारीबाग श्री सम्मेदशिखर के निकट होने के कारण प्रसिद्ध है । इसी प्रकार ईसरी, गिरिडीह, कोडरमा, रफीगज आदि स्थान भी साधारण तीर्थ माने जाते है । विहार शरीफ का छोटा-सा पुराना मन्दिर भी प्राचीन है । इस प्रकार विहार के कोने-कोने में जैनतीर्थ हैं । यहाँ का प्रत्येक वन, पर्वत और नदी-तट तीर्थंकरों की चरणरज से पवित्र है ।
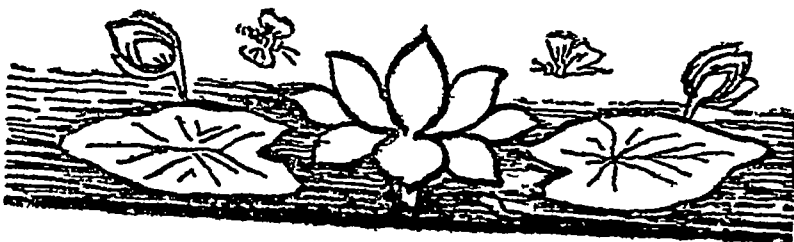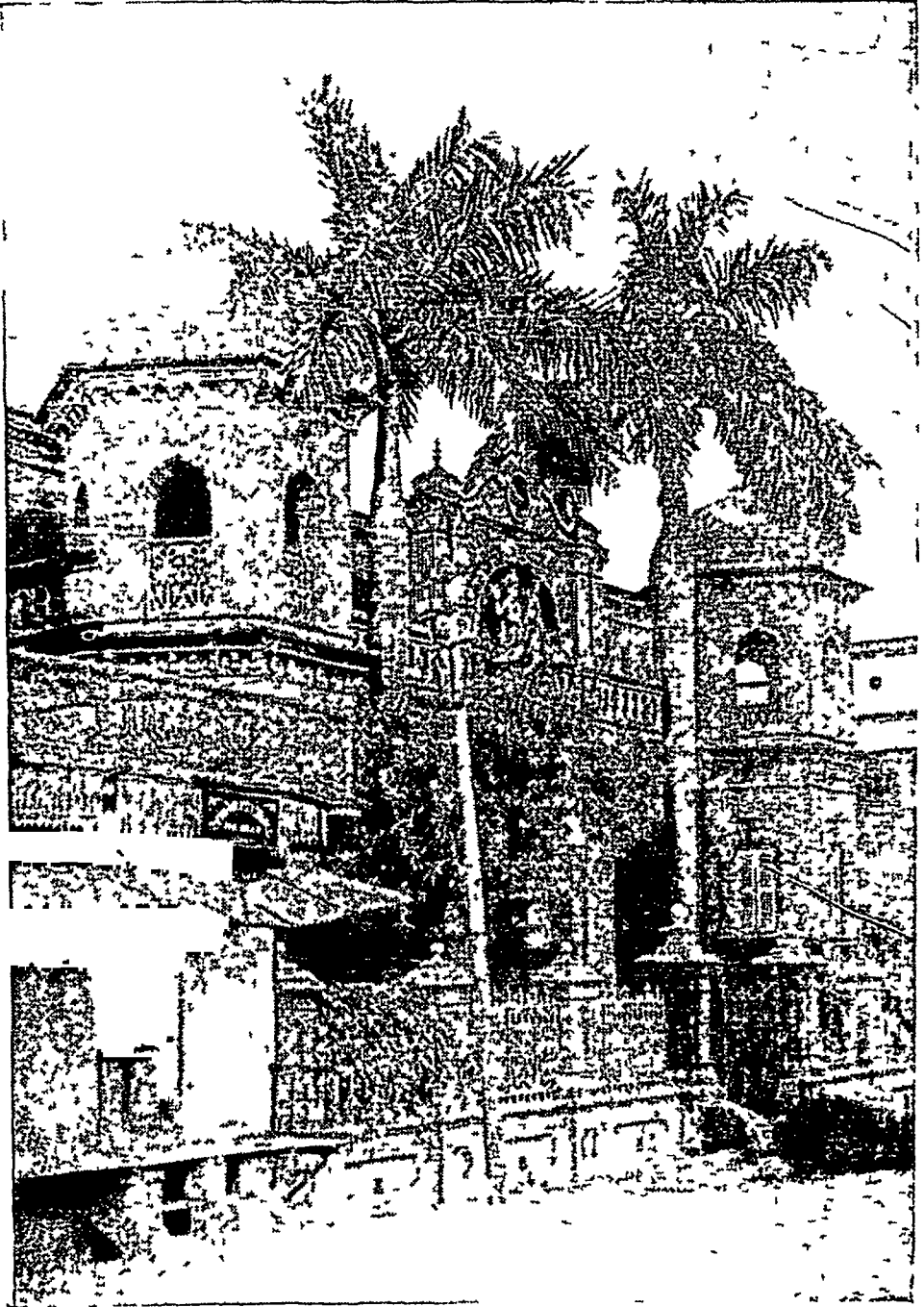
श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा

(हस्तलिखित प्राचीन दि० जैन ग्रन्थों का अपूर्व संग्रहालय)
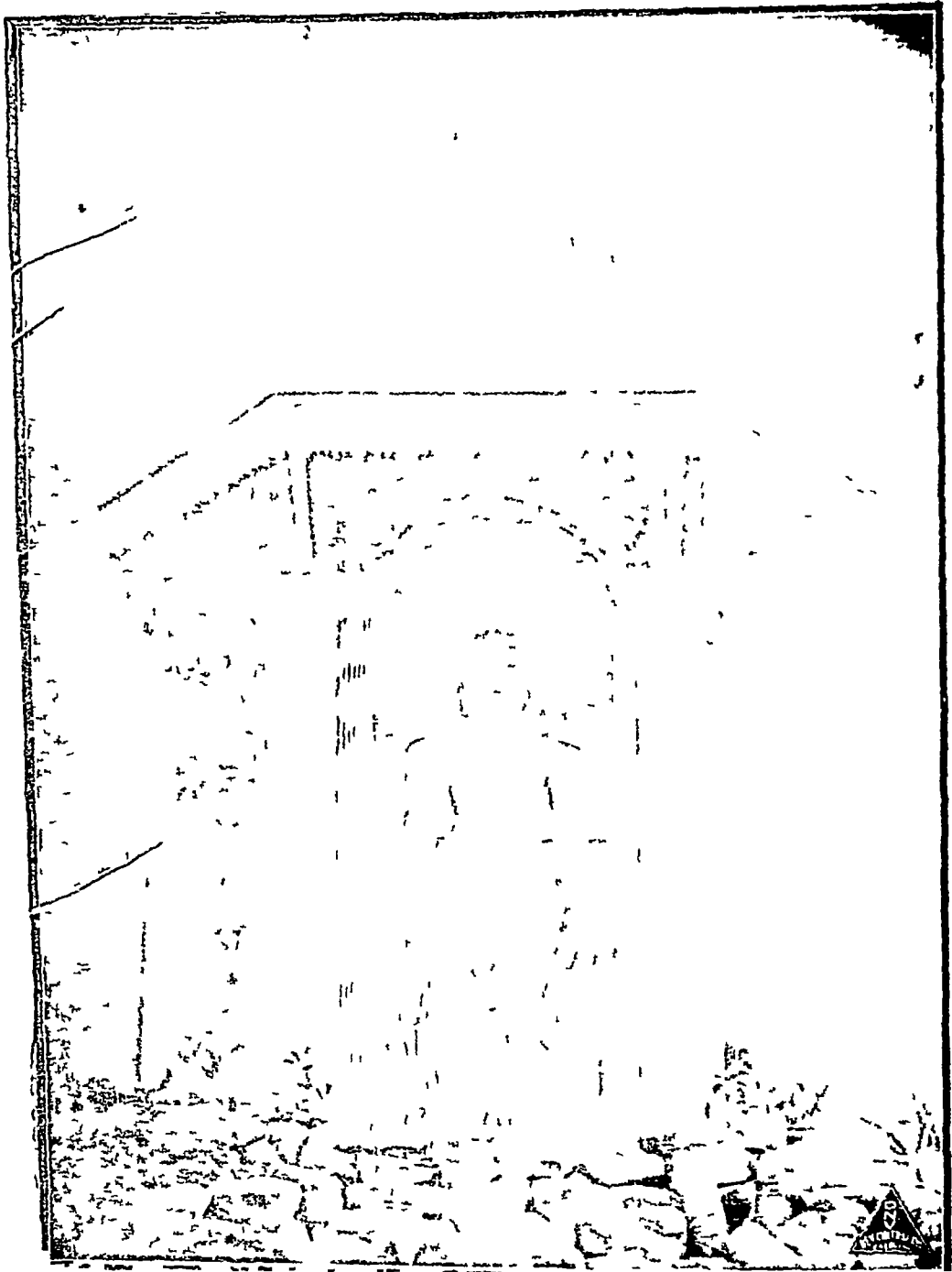
श्री जैन-बाला-विश्राम आरा स्थित भगवान् बाहुबली स्वामी

जैन नगरी—राजगिरि

श्री नरोत्तम शास्त्री

प्रस्ताविक—

राजगिरि प्राचीन काल से ही जैन नगरी रही है। २० वें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत भगवान की जन्मनगरी होने का गौरव इसे प्राप्त है। यह नगरी ऋषभदेव और वासुपूज्य के अतिरिक्त अवशेष २२ तीर्थंकरो की समवशरणभूमि भी रही है। भगवान् महावीर के समय में इस नगरी का वडा महत्व था। यह श्रमण सस्कृति का प्रधान केन्द्र थी।

नामकरण—

राजगृह के प्राचीन नाम पचशैलपुर, गिरिवृज और कुशाग्रपुर भी पाये जाते हैं। धवला-टीका प्रथम भाग पृ० ६१ पर इसे 'पचशैलपुरे रम्मे' इत्यादि रूप में पचशैलपुर कहा है। इसका कारण यहाँ की पाँच मनोरम पर्वत श्रेणियाँ हैं ही। रामायण काल में इसे गिरिवृज ही कहा जाता था[१]। भोगोपभोग की सम्पत्ति से परिपूर्ण राजकीय आवास होने के कारण इसकी प्रसिद्धि राजगृह के रूप में हुई है।[२] गौतम स्वामी को भगवान ने राजगृह के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर उत्तर दिया कि जीवाजीवादि युक्त इस नगरी का नाम राजगृह है —

तेण कालेण तेण समएण जाव एव वयासी—किमिदभते नगर रायगिह पि पवुच्चई ? किं पुठवी नगर रायगिह ति पवुच्चई ? आऊनगरे रायगिह ति पवुच्चई ? जाव वणस्सई ? जहा एयबुद्देसए पचेदिय तिरिक्ख जोणि याण वतव्वयातहा माणियव्व जाव सचित्ताचित्त मीसयाइ दव्वाइ नगर रायगिह ति पवुच्चई ? गोयमा, पुढवीवि नगर रायगिह ति पवुच्चइ। से केणट्ठेण गोयमा ! पुढवी जीवाति य अजीवाति य नगर रायगिह ति पवुच्चई जाव सचित्ताचित्त मीसियाइं दव्वाइ जीवाति य अजीवाति य नगर रायगिह ति पवुच्चति ? से तेणट्ठेण त चेव ॥

भावार्थ—गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—प्रभो ! इस नगरी को राजगृह क्यो कहा जाता है ? क्या पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, सचित्त, अचित और मिश्रद्रव्य का नाम

१—कनिघम, एन्शियेण्ट जोगरफी आफ इण्डिया पृ० ५३०

२—पुर राजगृह तस्मिन्पुरवरपुरोपमम्।

राजगृह है ? भगवान् बोले—गौतम ! पृथ्वी राजगृह कहलाती है, इसमें जीव अजीव आदि का सयोग है, अत इस भूमि का नाम राजगृह है । हरिवश पुरा और उत्तरपुराण में समृद्धिशाली, मान्य और उत्तुंग प्रासादो के कारण इसे राजगृह कहा गया है ।

वर्तमान राजगिरि श्रेणिक की नगरी राजगृह से कुछ हटकर है । राजा श्रेणिक ने राजगृह को जरासन्ध की नगरी से अलग वसाया था ।

परिचयः—

मगध देश में लक्ष्मी का स्थान अनेक उत्तम महलो से युक्त एक राजगृह नगर है । इस नगरी में पाँच शैल हैं इसलिए इसे पचशैल पुर कहा जाता है । यह नगरी भगवान मुनिसुव्रतनाथ के चार कल्याणो से पवित्र है । पांचो पर्वतो में प्रथम पर्वत का नाम ऋषिगिरि है । यह पर्वत चतुष्कोण है और पूर्व दिशा में स्थित है । दूसरा पर्वत वैभारगिरि है जो त्रिकोणाकार दक्षिण दिशा में स्थित है । तीसरा पर्वत विपुलाचल है । यह पर्वत दक्षिण और पश्चिम के मध्य मे है और वैभारगिरि के समान त्रिकोण है । चौथा बलाहक पर्वत है और इन्द्रधनुष के समान तीनों दिशाओ में व्याप्त है । पाँचवें पर्वत का नाम पाण्डुक है यह गोलाकार पूर्व दिशा मे स्थित है । ये समस्त पर्वत नाना प्रकार के फूलफूलो से युक्त मनोहर और सुरम्य है ।[४]

जैन-साहित्य में राजगिरि —

राजगृह का वर्णन धवलाटीका[५] जयधवलाटीका,[६] तिलोयपण्णति,[७] रत्नकरण्ड श्रावकाचार,[८] पद्मपुराण,[९] महापुराण,[१०] णायकुमार चरिउ,[११] जम्बू स्वामी चरित्र[१२] गौतम स्वामी चरित्र, भद्रबाहुचरित्र,[१३] श्रेणिक

३—व्याख्या पण्णत्ति सूत्र पृ० ७३१

४—हरिवश पुराण सर्ग ३ श्लो० ५१—५७

५—धवलाटीका प्रथम भाग ६१—६२

६—जयधवला टीका—

७—तिलोय पण्णत्ति अ० ४ गा० ५४५ तथा अधिकार प्रथम गाथा ६६—६७

८—रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो० १२०

९—तत्रास्ति सर्वतः कांतं नाम्ना राजगृहं पुरं । कुसुमोपमसुभगं भुवनस्यैव यौवनम् ।।
—पद्मपुराण ३३।२ तथा पर्व २ श्लो० ११३

१०—महापुराणपर्व १ श्लो० १९६

११—तहिं पुरवरणामें कणयरण कोडिहिं घडिउ ।
वलिवंड घरत हो सुत इहिं णं सुरणयरु गयण पडिउ ।। —णायकुमार चरिउ ।

१२—जम्बूस्वामीचरित पर्व ५ श्लो० १३ पर्व ७

१३—प्रारंभिक अंश पृ० २—३

चारित्र, उत्तर पुराण[१४] हरिवंश पुराण,[१५] आराधना कथाकोष[१६] पुण्या स्रवकथाकोष[१७] मुनिसुव्रतकाव्य,[१८] धर्मामृत अणुत्तरोववाई,[१९] दशागसूत्र, आचाराग, अतगडदशाग, भगवती सूत्र,[२०] सूत्रकृताग,[२१] उत्तराध्ययन,[२२] ज्ञाताधर्म-कथाग,[२३] और विविध तीर्थ कल्प आदि ग्रथो में राजगृह का उल्लेख आया है।

मुनिसुव्रतकाव्य के रचयिता अर्हद्दास (१३ वी शती) ने इस नगर के वैभव का वर्णन करते हुए वतलाया है—मगध देश मे पीछे की ओर लगे हुए विशाल उद्यानो से युक्त राजगृह नगरी सुशोभित थी। इसके वाहरी उद्यान में अनेक लताएँ सुशोभित थी। यहाँ पर सदा शैलाग्र भाग से निकलती हुई जलधारा कामनियो के निरन्तर स्नान करने के कारण सिन्दूर युक्त दिखलाई पडती थी। यहाँ अनेक सरोवर थे जिनमें अनेक प्रकार की मछलिया क्रीडाएँ करती थी। नगरी के वाहर विस्तृत मैदान घोडो की पक्ति के चलने से, मदोन्मत्त हाथियो से, योद्धाओ की शस्त्र-शिक्षा से एव सुभटो के मल्लयुद्ध से सुशोभित रहते थे। नगरी की वाटिका में निर्मल जल सदा भरा रहता था तथा जलतीर के विविध वृक्षो की छाया नाना तरह के दृश्य उपस्थित करती थी। इस नगरी की चहार दीवार के स्वर्ण-कलश इतने उन्नत थे कि उन्हें भ्रमवश स्वर्ण-कलश समझ देवागनाएँ लेने के लिए आती थी। इस नगरी की अट्टालिकाओ की ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ और रग-विरगे तोरण आकाश को छते हुए इन्द्र धनुष का दृश्य बनाते थे। चन्द्रकान्तमणि से बने हुए भवनो की कान्ति चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से मिलकर क्रीडासक्त अप्सराओ के लिए दिव्यसरो की भ्रान्ति उत्पन्न करती थी। इस नगरी में शिक्षा का इतना प्रचार था, कि विद्यार्थी अहर्निश शास्त्र-चिन्तन में तल्लीन थे। यहाँ के सुन्दर जिनालय अकृत्रिम जिनालयो की शोभा को भी तिरस्कृत करते थे। इन चैत्यालयो मे नीलमणि, पीतमणि, स्फटिक मणि, हरितमणि एव विभिन्न प्रकार की लालमणियाँ लगी हुई थी जिनसे इसका सौंदर्य अकथनीय था। इस नगरी का शासक सर्वगुण सम्पन्न धन धान्य से युक्त, विद्वान, प्रजा वत्सल और न्यायवान् था। महाराज सुमित्र के राज्य में चोर, व्यभिचारी, पापी, अन्यायी और अधर्मात्मा कही भी नही थे। धन धान्य का प्राचुर्य था। सव सुख-शाति-पूर्वक प्रेम से निवास करते थे।

१४—उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लो० ३८६ पर्व ६७ श्लो० २०—४७,

१५—हरिवंश पुराण सर्ग २ श्लो० १४६—५० तथा सर्ग ३ श्लो० ५१—५८

१६—आराधना कथाकोष भाग १ पृ० १०५, १४९, १५०,

१७—पुण्यास्रव कथाकोष पृ० २७, २२०, २१०

१८—धर्मामृत आरम्भ भाग पृ० ५६—५७ तथा वारिषेण कुमार का कथा भाग

१९—तेणं कालेण तेणं समएण रायगिहे गाम णयरे होत्था सेणियनामं राया होत्था चेलना देवीए गुण सिलाए चइए वण्णओ........अणुत्तरो—ववाई सूत्र

२०—आचाराग पृ० १६—१७, ५२, ५३ इत्यादि

२१—अन्त गडाग हैदरावाद सं० पृ० ४८

२२—रायगिहे नयरे जेणेव नालिन्दा.......... भगवती सूत्र

२३—हैदरावाद संस्करण पृ० ५३३

२४—महानिर्ग्रंथाय ५ वाँ आख्यान

सावारण व्यक्तियो के घर मे भी नीलमणि जटित थे। शुभचन्द्रदेव ने श्रेणिक-चरित्र मे इस नगर का वर्णन करते हुए लिखा है—यहाँ न अज्ञानी मनुष्य है और न शीलरहित स्त्रियाँ। निर्धन और दुखी व्यक्ति ढूढने पर भी नही मिलेगा। यहाँ के पुरुष कुवेर के समान वैभववाले और स्त्रिया देवांगनाओ के समान दिव्य हैं। यहाँ कल्पवृक्ष के समान वैभववाले वृक्ष हैं। स्वर्गो के समान स्वर्ण-गृह शोभित हैं। इस नगर में धान्य भी श्रेष्ठ जाति के उत्पन्न होते हैं। यहाँ के नरनारी व्रत-शीलो से युक्त हैं। यहाँ कितने ही जीव भव्य उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रो को दान देकर भोगभूमि के पुण्य का अर्जन करते हैं। यहाँ के मनुष्य ज्ञानी और विवेकी हैं। पूजा और दान में निरन्तर तत्पर हैं। कला, कौशल, शिल्प मे यहा के व्यक्ति अतुलनीय हैं। जिन-मन्दिर और राजप्रासाद में सर्वत्र जय-जय की ध्वनि कर्ण-गोचर होती है।[२७]

विक्रम सवत् १३२६ मे रचित विविध तीर्थकल्प मे जिनप्रभसूरि ने अयोध्या, मिथिला, चम्पा, श्रावस्ती, हस्तिनागपुर, कौशाम्बी, काशी, कालिन्दी, कम्पिल, भद्रिल, सूर्यपुर, कुण्डलग्राम, चन्द्र-पुरी, सिंहपुरी और राजगृह तीर्थों की यदि निष्पाप रूप से यात्रा की जाय तो गिरनार—सम्मेद शिखर वैभार पर्वत और अष्टापद की यात्रा से सत गुणा अधिक पुण्य मिलता है। इस ग्रथ में राजगृह के वैभार पर्वत की स्तुति विशेष रूप से की गयी है।[२८]

वि० सवत् १७२६ मे श्री धर्मचन्द्र भट्टारक ने गौतम स्वामी चरित्र में इस नगर की शोभा और समृद्धि का वर्णन करते हुए लिखा है कि राजगृह नगरी बहुत ही सुन्दर है। इस नगरी के चारो ओर ऊँचा परकोटा शोभायमान है। कोट के चारो ओर जल से भरी हुई खाई है। इस राजगृह में चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण के अनेक जिनालय शोभायमान हैं। इनके उत्तुंग शिखर गगनस्पर्शी हैं। यहाँ के धर्मात्मा व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान की अर्चना अष्ट द्रव्यो से करते हैं। यहाँ कुबेर के समान धनिक और कल्पवृक्ष के समान दानी निवास करते हैं। इस नगर के भवन श्रेणि-बद्ध हैं, बाजार मे श्वेतवर्ण की दुकाने पक्तिबद्ध हैं। चोर, लुटेरे यहाँ नही है। बाजारो में सोना, चादी, वस्त्र, धान्य आदि का क्रय-विक्रय निरन्तर होता रहता है। प्रजा और राजा दोनो ही धर्मात्मा हैं। भय, आतक शारीरिक और मानसिक वेदना का यहा अभाव है।[२९] इस प्रकार राजगृह के वैभव का वर्णन प्राचीन ग्रंथो में वर्णित है।

कथा-सम्बन्ध—

राजगृह से अनेक जैन कथाओ का सम्बन्ध है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे स्वामी समन्त-भद्राचार्य ने 'भेक. प्रमोदमत्त कुसुमेनैकेन राजगृहे" में कमल दल से पूजा करने वाले मेढ़क की

२५—ज्ञातावर्म्म कथा (हैदराबाद संस्करण) पृ० ४८६
२६—मुनिसुव्रत काव्य प्रथम सर्ग, श्लो० ३७—५४ और सम्पूर्ण द्वितीय सर्ग
२७—श्रेणिक चरित्र हिन्दी अनुवाद पृ० १४—१५
२८—विविध तीर्थकल्प पृ० ८ पृ० ५२—५४, ७२, ६५
२९—गौतम स्वामी चरित्र अध्याय १ श्लो० ३३—४५

कथा का सकेत किया है । यह कथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार की सस्कृत टीका मे प्रभाचन्दने विस्तार से लिखी है। सम्राट् श्रेणिक की कथा का भी राजगृह से सम्बन्ध है । धर्मामृत, श्रेणिक-चरित्र, आराधना कथा कोष आदि में दानी वारिषेणकुमार की कथा आई है, जो पूर्णत राजगिरि से सम्बद्ध है । धनकुमार ने मुष्ठि-युद्ध या सूर्य देव नामक आचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी । वारिषेण कुमार-दृढ सम्यक्त्वी थे । इन्होने सम्यक्त्व से विचलित होने वाले अपने मित्र पुष्यडाल को सम्यक्त्व में दृढ किया था । अरहदास सेठ के पुत्र श्री अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का जन्म इसी नगरी में हुआ था। हरिवश पुराण में बताया गया है कि वासुदेव पूर्व भव में एक ब्राह्मण के पुत्र थे। यह राज-गृह में आये । जीवन से निराश होने के कारण वैभारपर्वत पर पहुँचकर यह आत्महत्या करना चाहते थे, पर इस पर्वत पर तप करने वाले जैन मुनियो ने इस निन्द्य पाप से इसकी रक्षा की । पश्चात् इन्होने जैन मुनि की दीक्षा ले ली, और नन्दीश्रेण नामक मुनि हुए । राजकोठारी की पुत्री भद्रा कुडलकेशा ने क्रोधवेश मे अपने दुराचारी पति को मार डाला था, पर अपने पाप-मोचन के लिये यही के जैन मुनियो से साध्वी के त ले लिए थे । धीवरी पूतगन्धा जो कि काठियावाड के सोमारक नगर से आर्यिका सग में यहाँ की बन्दना के लिए आई थी , उसने अपना अन्त समय जानकर नील गुफा में सल्लेखना व्रत धारण कर प्राण विसर्जित किये थे ।

आराधना कथाकोषमें जिनदत्त सेठ की कथा मे बताया गया है कि वह वडे धर्मात्मा थे, चतुर्दशी को कार्योत्सर्ग ध्यान करते थे । इन्होने तपस्या के वल से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर ली थी और प्रतिदिन तीर्थों की वन्दना करते थे। माली के आग्रह से उसे भी तीर्थ-यात्रा के लिए विद्या वतायी, पर वह भय से उस विद्या को सिद्ध न कर सका । अजन चोर ने विद्या को सिद्ध कर लिया । पश्चात् वह विरक्त हुआ और मुनि होकर निर्वाण पद पाया ।

पुण्यास्रव कथाकोष में चारुदत्त की कथा में बताया गया है कि यह भ्रमण करता हुआ राजगृह आया । यहाँ विष्णुदत्त नामक दण्डी ने एक रसकूप के सम्बन्ध मे वतलाया और कहा कि यदि हम रसकूप से रस निकालें तो मनमाना स्वर्ण तैयार कर सकते हैं । इसके पश्चात् यह दण्डी चारुदत्त को उस कुएँ के पास ले गया और उसे एक वस्त्र में वाधकर और तुम्बी देकर कुएँ मे उतार दिया । चारुदत्त तुम्बी को रस से भरकर ऊपर भेजने ही वाला था कि कुएँ में किसी ने कहा— सावधान, यह तपस्वी धूर्त्त है तुझे यही मेरे समान छोड देगा । इस पर चारुदत्त सावधान हो गया और उस तपस्वी से अपने प्राण बचाए तथा कुएँ मे पडे हुए वणिक् पुत्र को नमस्कार मत्र दिया । नागश्री का जीव वायुभूति पूर्व जन्म में राजगिरि में जन्मा था और वही पर आचार्य सूर्य मित्र ने उसे व्याकरणादि शास्त्रो की शिक्षा दी थी । अग्निभूति और वायुभूति के पूर्व भवो मे वताया गया है कि इस नगरी में सुवल राजा राज्य करता था । एक दिन सुवल ने स्नान करते समय तेल से खराब हो जाने के भय से हाथ की अगुठी अपने पुरोहित सूर्यमित्र को दे दी और सूर्यमित्र उसे ग्रहण कर घर चला गया । भोजन के अनन्तर जव राजसभा को आने लगा तो हाथ मे अगूठी न देख वड़ी चिन्ता हुई । पश्चात् उद्यान में स्थित सुवर्माचार्य मुनि से खोई हुई अगूठी की प्राप्ति के सम्बन्ध

में पूछा। मुनिराज ने अगूठी का पता वतला दिया। अगूठी पाकर सूर्यमित्र वहुत प्रभावित हुआ और आचार्य सुधर्मस्वामी से मुनि दीक्षा ले ली।

व्यवसायी कृतपुण्य, रानी चेलना, अभयकुमार, रोहिणेय चोर तो भगवान महावीर के उपदेश के श्रवण मात्र से अनेक कठिनाइयो से रक्षा की थी। भगवान् महावीर का आगमन राजगृह मे अनेक वार हुआ था। नन्द नामक मनिहार भी भगवान् का वडा भक्त था। इस प्रकार राजगृह के साथ अनेक भक्त, दानी, तपस्वी, धर्मात्माओ की कथाएँ चिपटी है, जो इस नगरी की महत्ता वतलाती है।

पुरातत्त्व—

फाहियान (ई० सन् ४००) ने आखो देखा राजगृह का वर्णन लिखा है। यह लिखते हैं "नगर से दक्षिण दिशा में चार मील चलने पर वह उपत्यका मिलती है जो पाँचो पर्वतो के वीच में स्थित है। यहाँ पर प्राचीन काल में सम्राट् विम्बसार विद्यमान था। आज यह नगरी नष्ट-भ्रष्ट है।"[१] १८ जनवरी सन् १८११ ई० को वुचनन[२] साहव ने उस स्थान का निरीक्षण किया था और उसका वर्णन भी लिखा है। उनसे राजगृह के ब्राह्मणो ने कहा था कि जरासन्ध के किले को किसी नास्तिक ने वनवाया है—जैन उसे उपश्रेणिक द्वारा वनाया वताते हैं। वूचर सा० ने यह भी लिखा है कि पहले राजगृह पर चतुर्भुज का अधिकार था, पश्चात् राजा वसु अधिकारी हुए जिन्होंने महाराष्ट्र के १४ ब्राह्मणो को लाकर वसाया था। वसु ने श्रेणिक के वाद राज्य किया था।

कनिंघम ने लिखा है कि प्राचीन राजगृह पाँचो पर्वतो के मध्य मे विद्यमान था। मनियार मठ नामक छोटा सा जैन मन्दिर सन् १७८० ई० का वना हुआ था। मनियार मठ के पास एक पुराने कुएँ को साफ करते समय इन्हे तीन मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई थी। उनमे एक माया देवी की मूर्त्ति थी, दूसरी सप्तफण मडल युक्त एक नग्न मूर्त्ति भगवान पार्श्वनाथ की थी।[३]

एम० ए० स्टीन साहव लिखते है—"वैभारगिरि पर जो जैन-मन्दिर वने हुए है, उनके ऊपर का हिस्सा तो आधुनिक हैं किन्तु उनकी चौकी जिनपर वे वने हुए है, प्राचीन है।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने मनियार मठवाली पाषाण मूर्त्ति का लेख पढकर वताया है कि यह लेख पहली शताव्दी का है और उसमें सम्राट् श्रेणिक तथा विपुलाचल का उल्लेख[४] है।

आद्रिस वनर्जी ने वताया है कि सातवी शताब्दी तक वैभारगिरि पर्वतपर जैन स्तूप विद्यमान था और गुप्तकाल की कई जैन मूर्तियाँ भी वहाँ हैं। सोनभद्र गुहा मे यद्यपि गुप्त कालीन लेख हैं पर इस गुफा का निर्माण मौर्यकाल के जैन राजाओ ने किया था।[५]

१—Travels of Fa-Hian, Beal (London 1869) pp-110-113

२—बुचननन्द्र मिल इन पटना डिस्ट्रिक्ट पृ० १२५—१४४

३—Archaelogical Survey of India Vol I (1871) pp-25-26

४—Journal of the Bihar and Orissa Rea. Soc. Vol XXII (June 1935)

५—Indian Historical Quarterly Vol XXV pp-205-210

विपुलाचल पर्वत के तीन मन्दिरो में से मध्य वाले मन्दिर मे चन्द्रप्रभु स्वामी की श्वेत-वर्ण कीमूर्त्ति वेदी मे विराजमान है। वेदी के नीचे दोनो ओर हाथी उत्कीर्णित है। बीच में एक वृक्ष है। बगल मे एक ओर सवत् १५४८ की श्वेतवर्ण की चन्द्रप्रभु स्वामी की मूर्त्ति है। यह मूर्त्ति गुप्तकालीन है। दूसरे रत्नगिरि पर महावीर स्वामी की श्यामवर्ण प्रतिमा प्राचीन है। तीसरे उदयगिरि पर महावीर स्वामी की खडगासन प्रतिमा नि सन्देह गुप्तकालीन है। चौथे स्वर्णगिरि और पाँचवे वैभारगिरि पर भी कुछ प्रतिमाएँ गुप्त कालीन है। राजगृह के पर्वतो पर कुछ खडित प्रतिमाएँ है जो प्राचीन है।

सिद्धभूमि—

राजगृह के विपुलाचल पर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी का प्रथम समवशरण लगा था। वीर प्रभु का सम्वन्ध अनेक भवो मे राजगृह से रहा है। इस नगर का सास्कृतिक महत्व इसीसे अवगत किया जा सकता है कि यहाँ से अनेक महापुरुषो ने निर्वाण लाभ किया है। श्री० प० नाथूराम प्रेमी ने नग, अनग आदि साढे पाँच करोड मुनियो का निर्वाण स्थान यही के स्वर्णगिरिको माना है'।[१] श्री गौतम स्वामी[२] और श्री जम्बूस्वामी ने भी विपुलाचल[३] से ही निर्वाण लाभ किया है।

इनके अतिरिक्त केवली धनदत्त, समुन्दर और मेघरथ ने भी यहा से निर्वाण पद प्राप्त किया।[४] विद्युच्चोर ने अपने पाँच सौ साथियो के साथ जिनदीक्षा ली और यहाँ घोर तपश्च-रण कर विपुलाचल से निर्वाण पद पाया।[५]

उपसंहार—

राजगिरि प्राचीन जैन तीर्थ है। इस नगरी का सम्वन्ध भगवान् आदिनाथ के समय से रहा है। ऋषभदेव स्वामी का समवशरण भी यहाँ पर आया था।[६] बौद्ध साहित्य और वैदिक साहित्य मे भी इसका उल्लेख आया है। विनय पिटक में वताया गया है कि गृह त्याग कर महात्मा वुद्ध राजगृह आये और सम्राट श्रेणिक ने उनका सत्कार किया। अपने मत का प्रचार करने के लिए भी अनेक वार राजगृह में वुद्ध को आना पडा था। वह वहुधा गृद्धकूट पर्वत कलन्दक निवायवे

१—जैन साहित्य और इतिहास पृ० २१०—२०३
२—उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लो० ५१६
३—जम्बूस्वामी चरित
४—उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लो० ३८५—३८६
५—आराधना कथा कोश भाग १ पृ० १०५
६—हरिवंश पुराण सर्ग ३ श्लो० ५६

उपवन में विहार किया करते थे । जब बुद्ध जीवक कौमारभृत्य के आम्रवन में थे, तब उन्होंने जीवक से हिंसा अहिंसा की चर्चा की थी[1] और जब ये उपवन में थे तब उनका अभयकुमार से वाद हुआ था । साधु सकल दोयिने भी बुद्ध से वार्त्तालाप किया था[2] ।

राजगृह महात्म्य में बताया गया है कि सूतजी ने शौनक आदि ऋषियों से राजगृह की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि यह राजगृह क्षेत्र सम्पूर्ण तीर्थों में अत्युत्तम है । यहाँ सभी देव, तीर्थ और नदियाँ विचरण करती हैं । अयोध्या, मथुरा, गाया, कांची, काशी, अवन्तिका आदि तीर्थों की धारा सप्तऋषियों के नाम से एकत्रित है । स्कन्द गया, राजगृह, वैकुण्ठ, लोह दण्डक, च्यवनाश्रम और पुन पुन ये छ मगध के प्रधान तीर्थ हैं । इनमें सबसे अधिक फल देने वाला पाताल जाह्नवी का जल प्रपात—ब्रह्मकुण्ड (राजगृहस्य) है ।—सोनभंडार, मनियार, गौतमवन, सीताकुण्ड, मतोकोल आदि स्थान का स्पष्टत जैन संस्कृति से सम्बन्ध है । इन स्थानों पर जैन मुनियों ने तपस्याएँ की हैं । क्या अब पुन राजगिरि अपने लुप्त गौरव को प्राप्त कर सकेगा ?

१—मज्झिम निकाय (सारनाथ १६३)

२—अभयकुमार सुत्रन्त मज्झिम, पृ० २३४
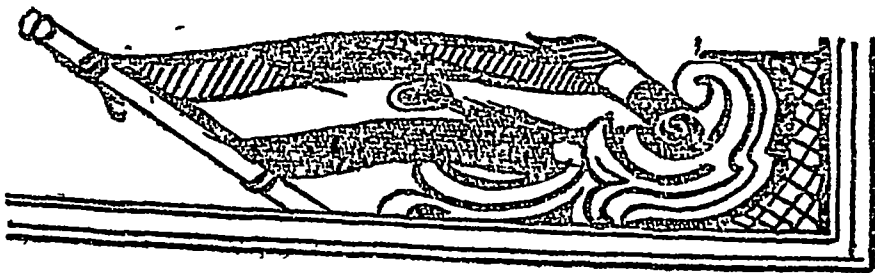
मिथिला : जैन दृष्टि

श्री ज्योतिश्चन्द्र शास्त्री

तीर्थंकर जन्मदात्री—

जैन तीर्थंकरो को जन्म देने का श्रेय मिथिला नगरी को भी प्राप्त है। इस नगरी में दो तीर्थंकरो का जन्म हुआ है। १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ और २१ वें तीर्थंकर नेमिनाथ इन दोनो तीर्थंकरो को जन्म देने का गौरव इसी नगरी को प्राप्त है। तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रथ में बताया गया है—

मिहिलाए मल्लिजिणो पहवदिए कुभअक्खिदीसेहिं।
मग्गसिरसुक्कएक्कादसीए अस्सिणीए सजादो ॥ (५४४,४)
मिहिलापुरिए जादो विजयणरिंदेण वप्पिलाए य।
अस्सिणिरिक्खे आसाढसुक्कदसमीए णमिसामी ॥ (५४६,४)

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि १९ वे तीर्थंकर का जन्म मिथिला नगरी के महाराज कुभ की रानी प्रभावती के गर्भ से और २१ वें तीर्थंकर का जन्म महाराज विजय नरेन्द्र की रानी वप्रिला के गर्भ से हुआ था। मिथिला का वैभव उन दिनो में अपनी चरम सीमा पर था। उत्तराध्ययन सूत्र के 'नमिप्रवज्या' शीर्षक मे राजर्षि नमि का आख्यान आया है। इससे मिथिला के वैभव का सहज में अनुमान किया जा सकता है।

मिथिला का वैभव—

उत्तराध्ययन में बताया गया है कि मिथिला में शीतल छाया, मनोहर पत्रपुष्पो से सुशोभित तथा यहाँ के मनुष्यो को सदा बहुत लाभ पहुँचानेवाला एक चैत्यवृक्ष था। इस नगर का आधिपत्य अनेक प्रान्त, शहर और ग्रामो पर था। यहाँ के निवासी सदा प्रेम और सदाचारपूर्वक निवास करते थे। धनधान्य की प्रचुरता थी। राजा प्रजा में पिता पुत्र का सम्बन्ध था। समस्त नगरी सर्वदा आनन्द की हिलोरो से उमडी रहती थी। महाराज जनक के आख्यान से भी तत्कालीन मिथिला के वैभव की झाँकी मिल जाती है। इसके समय में इस नगरी में बड़ी बड़ी गगनचुम्बी

अट्टालिकाएँ शोभित थी। दैन्य और दारिद्र्य का कही नाम भी नही था। नगर के निवासी शात और परिश्रमी थे। अध्यात्म, वीरता दोनो का मणिकाँचन सयोग मिथिला की राज्य-सत्ता को प्रौढ रखता था।

राजर्षि नमि का स्थान——

राजर्षि नमि का कथानक अति आनन्दप्रद और प्रभावोत्पादक है। मिथिला के राजा नमिराज दाघज्वर की दारुण वेदना से पीडित हो रहे थे। उस समय महारानियाँ तथा दासियाँ खूब चन्दन घिस रही थी। हाथ में पहरी हुई चूडियो की परस्पर रगड़ से जो शब्द उत्पन्न होता था वह महाराज के कान से टकराकर उनकी वेदना मे वृद्धि करता था। महाराज ने मत्री से इस गडवडी को वन्द करने को कहा। मत्री न एक-एक चूडी को छोड वाकी चूडियो को उतरवा दिया जिससे शोर वन्द हो गया।

थोडी देर वाद नमिराज ने पूछा—"क्या कार्य पूरा हो गया ?"

मत्री—नही महाराज !

नमिराज—तो शोर कैसे अवरुद्ध हो गया ?

मत्री ने ऊपर की वात कह दी। उसी समय पूर्व योगी के हृदय में एक आकस्मिक भाव उठा। उसने सोचा कि जहाँ पर 'दो' हैं, वही पर शोर होता है। जहाँ पर केवल एक होता है वहाँ शाति विराजमान रहती है। इस गूढ चिन्तन के परिणाम से उन्हें अपने पूर्व जन्म का स्मरण हुआ और शाति की प्राप्ति के लिए वाह्य समस्त बन्धनो को छोडकर तपस्या करने निकल पडे। वाद मे उनकी इन्द्र से ज्ञानचर्चा हुई। इन्द्र हार गया और इनको अक्षयज्ञान की प्राप्ति हुई। वे स्वर्ग गये।

महारानी सीता के जन्म-स्थान होने का गौरव मिथिला को ही प्राप्त है। महारानी सीता का वह तेज था जिसके समक्ष आग भी शीतल हो गई। सीता के भाई भामण्डल की कथा का इस सम्बन्ध मे विशेष उल्लेख जैन ग्रथो में प्राप्त है। राजा जनक के युगल सन्तान उत्पन्न हुए—एक सीता और दूसरा भामण्डल। भामण्डल को वचपन में ही कोई राक्षस ले गया और इन्दुगति को दे आया। राजा जनक को पुत्रहरण का शोक हुआ।

राजा जनक ने 'तरगम' नाम के भीलो का उपद्रव शात करने के लिए दशरथ से सहायता माँगी। राम, लक्ष्मण गये और भीलो के सरदार को परास्त किया। जनक ने सीता को रामचन्द्र को ही देने की ठानी।

ऋषि नारद ने विगड़कर सीता का चित्र न्दुगति के पुत्र भामण्डल को दिखा दिया जिससे वह मूर्च्छित हो गिर पड़ा। न्दुगति ने जनक से सीता माँगी पर जनक ने असमर्थता प्रकट की।

बाद में भामण्डल ने जनक पर चढाई करने की नी पर सीता के प्रति बहन का भाव उदय हो जाने पर लौट गया। अन्त मे सीता स्वयवर के समय पुराने सम्बन्ध का पता चला और भामण्डल खुशी खुशी पिता जनक के साथ मिथिला आया। खुशियाँ ई। भामण्डल को राज्य दे पिता पुत्र सुख से रहने लगे। यह कथा प्रसिद्ध है।

इसी नगरी मे भगवान् मुनिसुव्रत नाथ की २२ वी पीढी मे राजा वसु का जन्म आ था। वसु के पिता का नाम अभिचन्द्र और माता का नाम वसुमती था। वसु ने ही गु भाई के मोह के कारण वेदो का अर्थ हिंसाजनक किया था। मिथिला के तिरहुत डिवीजन का जैन-सस्कृति के साथ ज्यादा सम्वन्ध रहा है।

इस प्रकार मिथिला की गौरव गाथा के साथ जैन मुनियो, तीर्थंकरो, श्रावको, आर्यिकाओ का अटूट सम्बन्ध रहा है। मिथिला के विकास की कहानी के साथ जैन राजाओ की कीर्ति चिपकी हुई है। यहाँ के शासक जैन राजाओ ने सकी प्रतिष्ठा, समृद्धि धार्मिकता, वीरता आदि विशिष्ट गुणो को चार कदम आगे बढा मिथिला की कीर्ति मे चार चाँद लगाये थे। यहाँ के जित जैन शासक हुए वे अपूर्व बलशाली तथा प्रजाप्रिय हुए। उनके राज्यकाल में प्रजा मे सभी प्रकार की भावनाएँ उमड़ती रहीं। जैन मुनियो ने सदैव यहाँ की प्रजा के कानो मे अमृत-तत्त्व की वर्षा की है। जनता का अनुराग सदैव धर्म की ओर रहा और इस प्रकार जैन धर्म के प्रसार मे इस नगरी से विशेष बल प्राप्त हुआ। तीर्थंकरो को जन्म दे तो मिथिला ने एक प्रकार से अपने महत्त्व की इकाइयो को अलौकिकता से भर लिया है। राजा जनक के राज्यकाल में इस नगरी की विशेष उन्नति हुई और यह भारत वर्ष के समस्त नगरो का आकर्षण केन्द्र बनी रही। जैन कथा साहित्य में मिथिला का गौरव-वर्णन बडे ही सुन्दर शब्दो मे अकित है तथा मिथिला सम्बन्धिनी प्रतिपादित कथाओ में शिक्षा तत्त्व और आध्यात्मिक तत्त्व की भरमार है। निश्चय ही प्राचीन मिथिला नगरी आज हमको अपने सुनहले इतिहास को दिखा आध्यात्मिक और लौकिक चेतनाओ से आप्लावित करती है।

पाटलीपुत्र : जैन दृष्टिकोण

श्री रथनेमि

प्रस्ताविक—

जैन सस्कृति के साथ पाटलीपुत्र का महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। इस नगर का प्राचीन नाम जैन ग्रथो में कुसुमपुर उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर से सहस्रो वर्ष पहले से इस नगरी का जैन सस्कृति से सम्बन्ध रहा है। अनेक जैन कथाओ स इसकी महत्ता प्रकट होती है।

नामकरण—

स्थविरावली चरित्र में इस नगर के नामकरण के सम्बन्ध में बतालाया गया है कि भद्र-पुर में पुष्पकेतु नामक राजा रहते थे। इनकी पत्नी का नाम पुष्पवती था, इनके पुष्पचूल नामक पुत्र और चूला नामक कन्या थी। पुष्पवती की जैनागम पर अटूट श्रद्धा थी। अत उसने श्राविका के व्रत ग्रहण किये थे। कुछ समय पश्चात् यह अनेक श्रावको के साथ गगातटवर्ती प्रयाग तीर्थ स्थान पर निवास करने लगी। यहाँ पर गंगा के गर्भ में अणिमका पुत्र का शरीरान्त हुआ और उसके मस्तक का जलजन्तु नदी के किनारे घसीट लाये। किसी दिन दैवयोग से उसके मस्तक पर पाटल बीज (मुष्क वृक्ष का बीज) गिर पडा और कुछ समय पश्चात् एक पाटल वृक्ष उत्पन्न हो गया। यह वृक्ष कुछ दिनो में बढ गया। किसी ज्योतिषी ने इस वृक्ष के भविष्य का वर्णन करते हुए कहा कि यह स्थान अनेक प्रकार की समृद्धियो से युक्त होगा। राजा उदयी को इसकी सूचना मिली तो उसने पाटल द्रुम के पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण सीमा पर एक नगर बसाया जो पाटल वृक्ष मे वेष्टित होने के कारण पाटली पुत्र कहलाया। राजा ने इस नगर में बडे जैन मन्दिर, गज, और अश्वशालायुक्त उत्तुग राज महल, नाना प्रकार की सौधमाला, भव्यशाला, औषधालय, और बृहद्गोशाला आदि का निर्माण किया। उस समय यह नगर जैनधर्म के विस्तार और प्रसार का केन्द्र था।

बौद्धग्रथ महावश से भी उक्त कथन का समर्थन होता है। इस ग्रथ मे बताया गया है कि महाराज अजातशत्रु के पुत्र उदय (उदयी) ने पाटलीपुत्र को बमाया है।

भविष्य पुराण के ब्रह्मखड में इस नगर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा आयी है जिसमे बताया गया है कि कुशनाभ के पुत्र महाबल पराक्रान्त गाधि नामक राजा की सुन्दरी पाटली

नामक कन्या थी। इस कन्या के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर मुनि पुत्र नाम के ऋषि ने इसका मत्र-वल से अपहरण कर लिया था। इस कन्या के आग्रह से दोनो की स्मृति मे मुनि पुत्र ने गगा के तटीय प्रदेश में पाटलिपुत्र नामक नगर बसाया, जो अधिक समृद्धशाली हुआ।

चीनी परिव्राजक ने इस नगर की उत्पत्ति के सम्वन्ध में बडी मनोरजन घटना लिखी है। उनका कहना है कि प्राचीन समय मे कुसुमपुर में एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। दारिद्रता के कारण उसका विवाह नही हुआ था। कुछ मित्रो ने परिहासवश पाटल जगल में ले जाकर पाटली वृक्ष के नीचे उसका कृत्रिम विवाह किया। घर आने पर उस ब्राह्मण ने अपने आत्मीय लोगो मे विवाह के वारे में कहा। इस बात मे सभी आश्चर्यान्वित हुए और मिलकर उस बन में गये और वहाँ पाटल वृक्ष के नीचे सुन्दर बधू को पाकर सबको आश्चर्य हुआ। वधू के पिता यक्ष ने सवका सत्कार किया और इस स्थान पर एक नगर बसाया जो पाटली पुत्र कहलाया। अस्तु

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि इस नगर का प्राचीन नाम कुसुमपुर है तथा इसका पाटलीपुत्र[1] नाम अजातशत्रु के राज्य शासन के उपरान्त पडा है। जैन कथा साहित्य से इस नगर की भौगोलिक स्थिति का भी पता चलता है। कुछ काल तक पाटलीपुत्र और कुसुमपुर पृथक्-पृथक् थे। किन्तु उदयी के जीवन काल में ही पाटलीपुत्र का विस्तार अधिक हुआ। उनके समय में ही इस नगर की सीमा कोसो तक हो गयी थी।

सम्बन्ध

जैन सस्कृति के साथ पाटलीपुत्र का अभिन्न सम्वन्ध रहा है। भगवान् महावीर के समय में मगध जैनधर्म का केन्द्र बन गया था तथा मगध राज्य का विस्तार अग, वग, कलिंग और कुरु—कौशल के कुछ प्रदेशो तक था। फलत जैन साहित्य में पाटलीपुत्र को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। नवम नन्द के शासन काल में जैन साहित्य परिषद् का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसके नेता स्थूलभद्राचार्य माने जाते हैं। यह घटना ई० पू० ३३६ की मानी गयी है।

जैन कथा साहित्य में वताया जाता है कि प्राचीन काल में पाटलीपुत्र में राज नन्द अपने बन्धु-सुवन्धु, कवि और शकटाल इन चार मत्रियो सहित राज्य करता था। एक बार राजानन्द पर किसी शत्रु ने वहुत सी सेना भेज कर आक्रमण किया। शकटाल ने राजा से कहा—महाराज शत्रु शक्तिशाली है। अत उसके साथ युद्ध करना उचित नही, सन्धि कर लेना ही हमारे लिए हितकर है। राजा ने सन्धि का अधिकार शकटाल को दे दिया। शकटाल ने वहुत-सा धन देकर सन्धि कर ली। कुछ समय पश्चात् जब राजानन्द को अपने खजाने के खाली होने की सूचना मिली तो वह शकटाल पर बहुत क्रुद्ध हुआ, और उसे सपरिवार कारागृह का दण्ड दिया। कारागृह मे केवल एक सकोरा अन्न और थोडा-सा जल दिया जाता था जिसमे समस्त परिवार के प्राणो का बचना कठिन था। फलत शकटाल ने अपने कुटुम्बियो से कहा कि इस अन्न को ग्रहण करने

१. पाटलादुपविन्नोऽयं महामुनिकरोटिम्।
एकावतारोऽस्य मूलजीवश्चेति विशेषतः ॥ पाटलीपुत्र कल्प

का अधिकार उसी को है जो नन्दवंश का नाश कर सके। शकटाल के इन वचनो को सुनकर सभी ने कहा कि महाराज आपके सिवा इनमें से कोई भी उस पापी राज्य का सर्वनाश नही कर सकेगा, अत आप ही इस अन्न को ग्रहण कीजिये। शकटाल राजा द्वारा प्रेषित अल्प अन्न-जल से प्राणो की रक्षा करने लगा। उसका अवशेष कुटुम्ब मृत्यु को प्राप्त हुआ।

कुछ समय पश्चात् पाटलिपुत्र पर शत्रुओ ने पुन आक्रमण किया। अब नन्द को शकटाल की याद आयी और उसकी तलाश की गयी। कारागार से जीवित शकटाल निकाला गया और उसकी सहायता से नन्द ने शत्रुओ से अपनी रक्षा की। राजा नन्द ने पुन. उसे अमात्य पद देना चाहा पर उसने इस पद को अस्वीकार कर दिया और अतिथि-सत्कारशाला की अध्यक्षता स्वीकार की। एक दिन शकटाल नगर के बाहर उद्यान मे भ्रमण कर रहा था, उस समय उसकी दृष्टि चाणक्य पर पड़ी। चाणक्य उस समय कुशो के विनाश में मग्न था। शकटाल उसके दक्ष कार्य से बडा प्रसन्न हुआ और उसने चाणक्य को राज अतिथिशाला मे भोजन का निमन्त्रण दिया। कुछ दिन पश्चात् भोजनशाला के सेवको द्वारा राजा का नाम लेकर चाणक्य को अपमानित किया गया, जिससे उसने रुष्ट होकर नगर के बाहर निकल कर कहा, जो इस समय मेरे साथ आयेगा, मै उसे पाटलीपुत्र का राज्य दूंगा। चन्द्रगुप्त इस बात को सुन रहा था। अत वह उसके पीछे गया। पश्चात् चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त ने नन्दवंश का ध्वंश कर पाटलिपुत्र का राज्य प्राप्त किया। शकटाल को अपने इस कृत्य से विरक्ति हुई और वह जिन दीक्षा लेकर मुनि हो गया। चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र का शासन बडी योग्यता से किया। एक दिन रात्रि मे चन्द्रगुप्त ने सोलह स्वप्न देखे—सूर्य का अस्त होना, कल्पवृक्ष की शाखा का टूटना, आते हुए विमान का लौटना, बारह फणो का सर्प, चन्द्रमा में छिद्र, कृष्णवर्ण के हाथियो का युद्ध, खद्योत, शुष्कसरोवर, धूम, सिहासनासीन बकरा, स्वर्ण के पात्र में खीर का भोजन करते हुए श्वान, हाथी के सिरपर चढे हुए बन्दर, कूडे में कमल, मर्यादा उल्लघन करता हुआ समुद्र, तरुण बैलो से जुता हुआ रथ और तरुण बैलो पर चढे हुए क्षत्री।

स्वप्नदर्शन के प्रात काल ही भद्रबाहु स्वामी अपने सघ सहित पाटलीपुत्र आये। आचार्य भद्रबाहु आहार के लिए जा रहे थे कि नगर में एक पाँच वर्ष का बालक "बोलह बोलह" कहने लगा। आचार्य जी ने यह सुनकर पूछा—कितने वर्ष? बालक बोला—बारह वर्ष। आचार्य भोजन में अन्तराय समझे और बिना आहार किये ही लौट गये।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मन्त्रिपरिषद् सहित आचार्य के दर्शन के लिए गये और अपने स्वप्नो का फल पूछा। आचार्य ने स्वप्नो का फल बताया; जिसका निष्कर्ष मगध में १२ वर्ष का दुष्काल तथा धर्म की हानि था। चन्द्रगुप्त ने दिगम्बर मुनि से दीक्षा ले ली और आचार्य के सघ के साथ दक्षिण की ओर चले गये। पटना मे रमिल्लाचार्य, स्थूलभद्राचार्य और स्थूलाचार्य रह गये। दुष्काल के कारण उन्होंने वस्त्र धारण कर लिये। पीछे चलकर ये ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय फैलानेवाले हुए। चन्द्रगुप्त की दक्षिण यात्रा का वर्णन श्रवण बेलगोल के शिलालेखो में विस्तार से है। विन्ध्यगिरि पर इनके नाम का "चन्द्रगुप्तवसति" नामक मन्दिर आज भी विद्यमान है।

चाणक्य ने दिगम्बर मुनि की दीक्षा ली थी, इसके प्रमाण भी जैन पुराणो में विद्यमान है[1]।

पाटलीपुत्र से सम्बन्ध रखनेवाली लगभग ७०—८० कथाएँ उपलब्ध हैं। इन कथाओ में सेठ सुदर्शन, राजा मूलदेव, वीर कुणाल, शकटाल आदि की कई कथाओ का तो पाटलीपुत्र से अटूट सबध है। कुछ कथाओ की पूर्व भवावली में पाटलीपुत्र के प्रभाव का वर्णन आया है। पद्मपुराण, भद्र-बाहु चरित्र, पुण्यास्रव कथाकोष, आवश्यक चूर्णि, वृहत् कल्पभाष्य, उत्तराध्ययन आदि में कई कथाएँ आयी हैं जिनमें पाटलीपुत्र के राजा, मत्री, श्रेष्ठी एव अन्य व्यक्तियो के धार्मिक कार्यों का निरू-पण किया गया है। स० १३६९ में श्री जिनप्रभु सूरि ने विविध तीर्थकल्प की रचना की है। जिसमें पाटलीपुत्र कल्प लिखा है। इस कल्प में पाटलीपुत्र से सम्बद्ध कथा भी दी है, तथा इसकी पवित्रता की भूरि-भूरि प्रशसा की गई है। इन सभी कथाओ से शील, विनय, सतोष, दान, सयम और त्याग का सन्देश मिलता है। सुदर्शन सेठ की कथा में बताया गया है कि इन्द्रियजयी सुद-र्शन मुनि होकर भ्रमण करते हुए पाटलीपुत्र आये। यहाँ पर पण्डिता नामक वेश्या ने इनको शील से च्युत करने का पूरा प्रयत्न किया। पर मुनिराज अपने व्रत में दृढ रहे। जब वे श्मशान भूमि में गुलजारबाग स्थित कमलदह क्षेत्र मे तपस्या कर रहे थे, कि पूर्व भव के द्वेषवश एक किन्नरी ने इन्हें बडा कष्ट पहुँचाया[2]। मुनिराज अपने ध्यान में लीन रहे। समाधि के प्रभाव से शीघ्र ही इनके कर्मबन्धन टूट गये। केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। सुदर्शन मुनि ने धर्म का उपदेश दिया और पौष शुदि ५ को निर्वाण प्राप्त किया[3]।

इतिहास और पाटलीपुत्र—

जैन इतिहास में पाटलिपुत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शासन करने वाले कई राजा यहाँ जैन धर्मानुयायी हुए हैं।

नन्दवश के राजाओ के सम्बन्ध में विसेण्ट स्मिथ लिखते हैं कि नन्द राजा ब्राह्मण धर्म के द्वेषी और जैन धर्म के प्रेमी थे। कैम्ब्रिज इतिहास से भी इस बात का समर्थन होता है। नन्द के मत्रियो के जैन होने के अनेक अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हैं। मौर्यवश में चन्द्रगुप्त और सम्प्रति के जैन धर्मानुयायी होने के अनेक पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। सन् १९१२ में पाटलीपुत्र के समीप दो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई थी जो कलकत्ता के इण्डियन म्युजियम के भरहुत गैलरी में सुरक्षित हैं। इन पर निम्न लेख उत्कीर्ण हैं—

भगो अचो छोनिधि से
(पृथ्वी के स्वामी महाराज अज)
सप्तखेन वन्दि
(सम्राट वर्ति नन्दि)

---

१. विशेष जानकारी के लिए भद्रबाहु चरित्र और आराधना कथाकोश देखें।

२. देखें—पुण्यास्रव कथाकोष

३. विशेष जानकारी के लिए पुण्यास्रव कथाकोष पृ० ८५

स्व० श्री डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने इन मूर्त्तियो को महाराज उदयी (ई० पू० ४६६) द्वारा निर्मित वताया है। क्योकि प्राचीन पट्टावली में 'अजय' उदासी उदायी' द्वारा उदायश्व का नाम ही अज आया है।

पाटलीपुत्र से आचार्य भद्रवाहु, स्थूलभद्र, यशोभद्र और उमास्वाति[1] का अभिन्न सम्वन्ध वतलाया जाता है। उमास्वाति ने कुसुमपुर में मिथ्यावाणी में फँसे हुओ के उद्धार के लिए तत्त्वार्थ धर्मशास्त्र का प्रवचन किया था[2]।

पाटलीपुत्र का सम्वन्ध जैन साहित्य के साथ भी अत्यधिक रहा है। श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा में ऐसे कुछ ग्रथ हैं जिनकी प्रतिलिपियाँ पाटलीपुत्र में की गई हैं। यहाँ कुछ ग्रन्थो की प्रशस्तियाँ दी जाती हैं।

१—समाधि तन्त्रसूत्रे, प्रबोवनाधिकारे आत्मप्रकाशे, कर्माधिकार सन्दर्भे । स० १७८८ प्रवर्तमाने फागुनवदि ११ तिथौ मुनि फत्ते सागरेण पाटलिपुत्रचैत्यालये लिपि चक्रे ।

२—इति श्री सुदृष्टतरगिनी समाप्ता । स० १८६८ मासोत्तमेमासे माघ मासेकृष्णपक्षे पचम्या चन्द्रवासरे पुस्तकमिद रघुनाथशर्मणा पाटलिपुत्रे आलमगजे लिखितम् । श्री पचगुरो प्रासादात् सिद्धि-रस्तु । पाठक श्री वावं बुलाकीलालस्य कल्याणमस्तु ।

३—इति श्री समय प्राभृत नाम ग्रथ सम्पूर्णम् । पुस्तकमिद रघुनाथ शर्मणा पाटलिपुत्रे आलमगजे लिखितम् । पुस्तक सख्या १४००० प्रमाण शुभमस्तु सिद्धि ।

४—इति क्रियाकोष समाप्त. । सवत् १८७१ शाके १८३६ मासोत्तमे मासे आषाढ मासे शुक्लपक्षे द्वादश्या बुधवारे पुस्तकमिद लिखितम् । रघुनाथ शर्मणा पट्टनपुरमध्ये, गायघाटक क्षत्री महल्ला गगा निकटे पाठार्थं गौरीशकर अग्रवालस्य, पुस्तक सख्या ३२०० ।

५—इति त्रिषष्ठीशलाकामहापुराणसग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीतानुसारेण श्री उत्तर पुराणस्य भाषाया श्री वर्द्धमानपुराण सग्रह परिसमाप्तम् । स० १८८४ शाके १७४९ ज्येष्ठ शुक्ल ५ पचम्या गुरुवासरे पुराणमिद रघुनाथ शर्मणा लिखितम् । गगातटे पट्टनपुरे पठनार्थं शुभ भूयात्।।

६—इति श्री शातिनाथ पुराण पट्टनपुर मध्ये जिन चैत्यालये मिति चैत्रशुक्ला ४ बुधवार को लिखितम् ।

१. विविध कल्पतीर्थ में उमास्वाति का उल्लेख आया है।
२. खोज की पगडडिया पृ०२४७

जैन कथा-साहित्य में चम्पापुर

श्री नवीनचन्द शास्त्री

प्रस्तावित

भागलपुर से पश्चिम ४ मील की दूरी पर चम्पानगरी है। इस नगरी से जैनो का अत्यन्त प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है। यहाँ भगवान् वासुपूज्य के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष-निर्वाण ये पाँचो कल्याणक हुए है। भगवान् महावीर ने चम्पा और पृष्ट चम्पा की निस्रा में तीन वर्षावास व्यतीत किये थे। मालूम होता है कि भगवान् के वर्षावासो के कारण ही इस नगर का नाम नाथनगर पड गया था। आज भी यहाँ नाथनगर नाम का स्टेशन है। औपपातिक सूत्र में चम्पा के विकास का पूर्ण उल्लेख है। जैन ग्रथो में इस चम्पा को अग देश (मगध) की राजधानी बताया गया है। कोणिक ने राजगृह से हटाकर मगध की राजधानी चम्पा को बनाया था। भगवान् महावीर के आर्यासघ की प्रधान श्रमणिका चन्दनबाला यही की राजपुत्री थी। पृष्टचम्पा के राजा शाल और छोटे भाई महाराज महाशाल ने भगवान् महावीर से श्रमण दीक्षा ग्रहण की थी। इनके राज्य का उत्तराधिकारी इनका भानजा गागलि हुआ। उसने भी दीक्षा ली थी। चम्पा के राजा का नाम जितशत्रु और दत्त लिखा हुआ मिलता है। दत्त की रानी का नाम रक्तवती था और पुत्र का नाम चन्द्रकुमार। भगवान् महावीर के द्वारा दीक्षित राजाओ में चन्द्रकुमार का नाम भी उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर आगम सूत्रो में बताया गया है कि भगवान् यहाँ के पूर्णभ चैत्य नामक प्रसिद्ध उद्यान में बराबर ठहरा करते थे। इस प्रकार चम्पा का सम्बन्ध भगवान् महावीर से अत्यधिक रहा है।

भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती १२ वें तीर्थंकर वासुपूज्य, १९ वें तीर्थंकर मल्लि, २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत, और २१ वें तीर्थंकर नमिनाथ की चरण-रज से चम्पानगरी महिमान्वित हुई थी। इस नगरी के साथ अनेक जैन श्रमणो, जैन राजाओ, जैन श्रेष्ठियो एव अन्य जैन भक्तो का अटूट सम्बन्ध रहा है।

चम्पा से सम्बद्ध कथाएँ—

चम्पानगरी से सम्बध रखने वाली कथाएँ ३०—४० उपलब्ध है। पुराण और महा-पुराणो के अतिरिक्त आराधना कथाकोष, हरिषेण कथा-कोष एव पुण्यास्रव कथा-को में अनेक

आख्यान चम्पानगरी से चिपटे हुए उपलब्ध हैं। राजा करकडू का कथानक शिक्षा देने के साथ मनोरंजन भी करता है तथा इस कथानक से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चम्पानगरी का शासन जैन राजाओं के हाथ में था।

आख्यान का आरम्भ करते हुए बताया गया है कि चम्पा में दधिवाहन नाम का राजा रानी पद्मावती के साथ राज्य करता था। एक बार रानी गर्भवती हुई और उसे हाथी पर बैठकर उद्यान में विहार करने का दोहद हुआ। रास्ते में राजा का हाथी बिगड गया और दोनों को लेकर जंगल में भागा। राजा ने तो एक वट वृक्ष की शाखा को पकड़कर अपनी जान बचायी; पर रानी को लेकर हाथी एक निर्जन अटवी में पहुँचा और वहाँ अपने आप बैठ गया। किसी प्रकार अटवी से निकलकर रानी दत्तपुर पहुँची और वहाँ उसने एक आर्यिका से दीक्षा ग्रहण कर ली। पहले तो उसने अपने गर्भ को गुप्त रखा किन्तु अन्त में उसे प्रगट करना पड़ा। यथासमय रानी ने पुत्र प्रसव किया और अपने पुत्र को अपने नाम की अंगूठी देकर एक सुन्दर कम्बल में लपेटकर रात्रिकालीन नीरवता में श्मशान में छोड़ आयी। श्मशानपालक ने उस पुत्र का संवर्द्धन किया और शरीर में खाज हो जाने के कारण उस बालक का नाम करकंडू पड़ा। करकंडू ने सौभाग्यवश कञ्चनपुर का राज्य प्राप्त किया। एक बार करकंडू और चम्पा के राजा दधिवाहन में किसी बात को लेकर मनोमालिन्य हो गया फलतः दोनों में युद्ध होने लगा। साध्वी पद्मावती को जब यह समाचार मिला कि पिता पुत्र में अजानकारी के कारण युद्ध हो रहा है तो उसने दोनों का परिचय करा दिया। दधिवाहन ने संसार से विरक्त हो अपने पुत्र करकंडू को चम्पा का राज्यभार सौंप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। करकंडू ने बहुत काल तक चम्पा में राज्य-शासन किया, पश्चात् मिथिला के राजा नमिनाथ, कपिला के राजा दुर्मुख और पेशावर के राजा नग्नजीत के साथ दीक्षा ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया।

इसी चम्पा नगरी में राजा मघवा और रानी श्रीमती से श्रीपाल, गुणपाल, अवनिपाल, वसुपाल, श्रीधर, गुणधर, यशोधर और रणसिंह ये आठ पुत्र और रोहिणी नामक एक सुन्दर कन्या हुई। रोहिणी के भवान्तरों में बताया गया है कि यह अत्यन्त दुर्गंधशालिनी अशुभ कन्या थी तथा पाप के प्रभाव से इसे नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़े। इसने रोहिणी व्रत किया था इसीके प्रभाव से इसे सुन्दर रूप और सम्भ्रान्त कुल प्राप्त हुआ। राजा अशोक ने संसार से विरक्त हो वासुपूज्य स्वामी के समवशरण में जिन दीक्षा ग्रहण की थी और रोहिणी ने कमलश्री आर्यिका के सम्मुख आर्यिका के व्रत ग्रहण किये और तपश्चरण कर सोलहवें स्वर्ग में देव हुई। आज भी रोहिणी व्रत के उद्यापन में वासुपूज्य स्वामी के सिंहासन पर राजा अशोक, रानी रोहिणी, उनके आठ पुत्र और चारों पुत्रियों की मूर्त्ति उसी सिंहासन पर खुदवाते हैं।

प्राचीन काल में चम्पापुरी में चन्द्रवाहन नाम का राजा राज्य करता था। इसकी रानी का नाम लक्ष्मति और पुरोहित का नाम नागशर्मा था। नागशर्मा स्वभावतः मिथ्यादृष्टि था अतः उसकी कन्या नागश्री ने आचार्य सूर्यमित्र से पंचाणुव्रत ग्रहण कर लिये थे। पर पिता ने उन व्रतों को उन्हीं मुनि को वापस कराने की

आज्ञा दी। जब वह उस कन्या को साथ लेकर उन मुनिराज के पास जा रहा था तो मार्ग में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और अति सचय करनेवालो को दड पाते देखकर कन्या ने पिता से अनुरोध किया कि पिता जी, जब पाप करनेवालो को दड मिलता है तो फिर मुझे क्यो आप इन व्रतो को छोडने का आदेश देते हैं ? पिता पुत्री के इन वचनो से अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसने पुत्री को व्रत रखने की अनुमति दे दी ।

इस नगरी के साथ सेठ सुदर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस नगरी का ग्वाला सुभग 'णमोकार' मत्र के प्रभाव से सेठ सुदर्शन हुआ। यद्यपि इस कथा में चम्पानगरी से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक अवान्तर कथाएँ आयी हैं जिनमे बताया गया है कि प्राचीन काल मे चम्पानगरी में धनी-मानी व्यक्तियों के साथ धर्मात्मा, शीलवान्, विनयी, ज्ञानी, विवेकी और पण्डित भी निवास करते थे। इस नगर मे सुन्दर मणि-माणिक्य-मडित चैत्यालय थे जिनमें प्रतिदिन सहस्रो भक्त और भक्तिनियाँ जिनेन्द्र की अर्चन-पूजन मे सलग्न रहती थी ।

चम्पा मे राजा विमलवाहन ने बहुत काल तक राज्य किया है। इस नगरी के सेठ भानु को चारुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। भगवान् वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण उत्सव मना कर जब राजा, मत्री और कुमार वापस नगर को लौट रहे थे, तब चारुदत्त नदी के किनारे अपने मित्रो के साथ बगीचे मे क्रीडा करने चला गया। वहा टहल रहा था कि कदम्ब वृक्ष की शाखा में बधा हुआ एक मूर्च्छित पुरुष दिखलाई पडा। यहाँ उसने उस पुरुष की दृष्टि से समझा कि यहाँ कोई विमान है। विमान की खोज करने पर यहाँ उसे विमान मे तीन गोलियाँ प्राप्त हुई। उसने किलोदमेदिनी गुटिका के प्रभाव से उस पुरुष को बन्धनमुक्त किया, सजीवनी गुटिका के प्रभाव से मूर्च्छा रहित किया और व्रणसरोहिणी गुटिका के प्रभाव से उसके घावो को अच्छा किया। पश्चात् उस बन्धनमुक्त हुए पुरुष ने अपनी सारी आत्मकथा चारुदत्त को कह सुनाई। चारुदत्त का विवाह उसके मामा सिद्धार्थ की कन्या मित्रवती से हुआ। यह काव्यशास्त्र और कलाओ के अध्ययन मे इतना सलग्न रहता था कि इसे दीन-दुनिया और ससार की समस्त बातो का कुछ भी परिज्ञान नही था। दामाद को विषयो से विरक्त जानकर चारुदत्त की सास ने चारुदत्त की माँ से शिकायत की। फलत काका की प्रेरणा से चारुदत्त को विषय भोगी भी बनना पडा। सारी सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर चारुदत्त को होश आया और पुन सभलकर कार्य करना आरम्भ किया। चारुदत्त ने अन्त में जिन दीक्षा धारण कर आत्मसाधन की परिणति प्राप्त की।

जहाँ चम्पानगरी मे अनेक धर्मात्मा सज्जन धनी मानी रहते थे उसी नगरी में धूर्त्त, कपटी, चालबाज भी निवास करते थे। इस नगरी के धन्य नामक व्यापारी को वसन्तपुर के जिनदत्त नामक धूर्त्त ने ठगने का उपक्रम किया। इसकी मनोरजक कथा प्रसिद्ध है।

महावीर-शिष्य समुद्रपाल—

चम्पानगरी के सहस्रो नरनारी भगवान् महावीर के अनुयायी थे। इस नगरी का समुद्र-पाल तो अपनी भक्ति के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ इस मनोरजक आख्यान को उद्धृत कर भगवान् महावीर कालीन चम्पा के वैभव पर प्रकाश डालने का आयास किया जायगा—

चम्पानगरी में पालित नामक एक व्यापारी रहता था। वह जाति का वणिक् और महाप्रभु भगवान् महावीर का श्रावक शिष्य था। वह विहुड नगर में व्यापार करने गया और लौटते समय समुद्र में ही जहाज पर उसकी पत्नी ने पुत्र-प्रसव किया। समुद्र में पैदा होने के कारण उसका नाम समुद्रपाल रक्खा गया। सबका प्रिय वह बालक धीरे-धीरे बहत्तर कलाओ में पारगत हुआ। बाद में उसकी शादी हुई और वह भोग-विलास करने लगा। एक दिन एक चोर की दयनीय दशा देखकर उसके अन्दर वैराग्य भाव का उदय हुआ। सच्चे तत्त्व की झाँकी हुई। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतो को धारण कर गमन करने लगा। बाद में वह महावीर का एक शिष्य भी हुआ। अन्त में उसने आत्म साधना की। इस प्रकार उसने धर्म की प्रभावना को निभाया।

उपसंहार–

इस प्रकार हम चम्पानगरी को आध्यात्मिक और आधिभौतिक चेतनाओ से स्फुटित पाते है। इसकी प्राचीन गौरव की रेखाओ में बधा इसका धार्मिक आवेष्टन उस काल की धर्म-प्रभावना से मनुक्त नगरो के स्वर्णिम इतिहास का परिचायक है। यह नगरी अपनी समृद्धि के चाकचिक्य में प्राचीन भारतीय नगरो की सुषमा को निमज्जित कर लेती है इसमें तो सन्देह ही नही। आज भी यह नगरी संस्कृति की प्राणधारा बन वर्तमान भौतिकवादी गंध से तबाह नगरो के लिये अपनी व्यापक प्रेरणा का स्रोत प्रवाहित कर रही है।
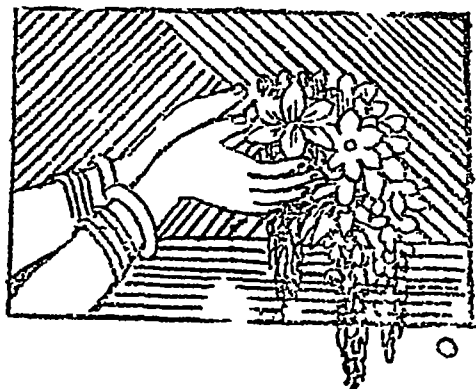
भगवान् महावीर का बोधि-स्थान

नवीनचन्द्र शास्त्री

कैवल्य-प्राप्ति का स्थान और समय—

भगवान् महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति वैशाख शुक्ला दशमी को मघानक्षत्र के विजय मुहुर्त्त में षष्ठोपवास के अनन्तर ऋजुकूला या ऋजुपालिका नदी के वामतट पर जम्भक नामक गाँव के निकट शालवृक्ष के नीचे हुई थी। यह स्थान सामग नामक किसान का खेत था और इसके उत्तर-पूर्व की ओर एक मन्दिर था[१]। तिलोय पण्णत्ति में बताया गया है—

वइसाह सुद्ध दहमी माघारि सवम्मि वीरणाहस्स ।
रिजूकूल नदीतीरे अवरण्हे केवल णाण ॥ अ० ४ गा० ७०१

अत यह निश्चित है कि दिगम्वर और श्वेताम्वर दोनो सम्प्रदाय के आगम ग्रथो के अनुसार भगवान् महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति ऋजूकूला नदी के किनारे जम्भिक या जम्मक गाँव के किसी खेत में शालवृक्ष के नीचे हुई थी। इस जम्मक या जम्भिक गाँव के सम्वन्ध में विद्वानो मे अनेक मतभेद है।

विभिन्न मान्यताएँ—

श्री बाबू कामताप्रसाद जी ने झरिया को जम्भक गाँव माना है। आपका कहना है कि प्राचीन लाट देश का विजयभूमि प्रान्त वर्तमान विहार के अन्तर्गत छोटानागपुर डिवीजन के मानभूमि और सिंहभूमि में है। स्व० नन्दलाल डे ने भी झरिया को ही जम्भक गाँव माना है। यहाँ की वराकर नदी ही प्राचीन ऋजुकूला है। इस कथन में एक ही बात विचारणीय है। वह है भगवान् की केवलज्ञान प्राप्ति का वज्रभूमि में होना। वर्तमान झरिया में कोयला निकालते समय यहाँ की पृथ्वी से प्रथम वार पत्थर निकलता है, अत यह भूमि यथार्थ में वज्रभूमि है। आगम साहित्य में भौगोलिक निर्देशानुसार इस गाँव को वज्रभूमि में होना चाहिए। अत इस स्थान पर भी ऊहापोह होना आवश्यक है।

श्वेताम्वर आगम साहित्य में जम्भिक गाँव की स्थिति लाट देश में मानी गई है। श्रीमुनि कल्याण विजय जी इस गाँव की स्थिति का निर्णय करते हुए लिखते है कि जृम्भिक गाँव की स्थिति पर विद्वानो का मतैक्य नही है, कवि-परम्परा के अनुसार सम्मेदशिखर से वारह कोस पर दामोदर नदी

१. आचारांग सूत्र जैनसूत्रान्तर्गत १ भाग पृ० २० । ५७

के पास जो जंभी गाँव है, वह प्राचीन जृम्भिक गाँव है। कोई सम्मेदशिखर के दक्षिण-पूर्व में लगभग ५० मील पर आसी नदी के पास वाले जमगाम को प्राचीन जृम्भिक गाँव बताते हैं। हमारी मान्यतानुसार जृम्भिक गाँव की स्थिति इन दोनों स्थानों से भिन्न स्थान में होनी चाहिए। क्योंकि भगवान् के विहारवर्णन से अवगत होता है कि जृम्भिक गाँव चम्पा के निकट ही कहीं होना चाहिए[1]।

डा० स्टीन सा० ने पंजाब प्रान्त के रावलपिण्डी जिले में कोटरा नामक ग्राम के निकट "मूर्ति" नामक पहाड़ी या प्राचीन जीर्ण मन्दिर को देखकर लिखा है कि भगवान् महावीर ने यहीं पर केवलज्ञान प्राप्त किया था।

मौलिक विरोध—

श्री बा० कामताप्रसाद द्वारा अनुमानित स्थान झरिया प्राचीन जम्भिक या जृम्भक ग्राम नहीं है। इस स्थान को ऋजुकूला नदी के किनारे होना चाहिए। बराकर नदी ऋजुकूला का अपभ्रंश नहीं हो सकती; और न झरिया में कोई भी ऐसा प्राचीन चिन्ह ही उपलब्ध है, जिससे इसे भगवान् का केवलज्ञान स्थान माना जा सके। श्री बा० कामताप्रसाद को भी इस स्थान के विषय में सन्देह है। उनका यह केवल अनुमानमात्र है।

श्री मुनि कल्याण विजय जी को तो स्वय ही इस स्थान की अवस्थिति के विषय में सन्देह है। पर इतना उन्हें निश्चय है कि यह चम्पा के आस-पास कहीं है।

डा० स्टीन सा० की मान्यता तो बिल्कुल ही निराधार है। कारण कि भगवान् को केवलज्ञान मगध के अन्तर्गत हुआ था। उनको बोधि की प्राप्ति नदी के किनारे हुई थी; पर्वत के ऊपर नहीं। अत. उक्त मत बिल्कुल भ्रामक है।

जम्भिक गाँव की स्थिति—

वर्तमान बिहार के भूगोल का अध्ययन करने तथा बिहार के कतिपय स्थानों का पर्यटन करने पर अवगत होता है कि भगवान् का कैवल्य प्राप्ति का स्थान वर्तमान मुङ्गेर से ५० मील दक्षिण की दूरी पर स्थित जमुई गाँव है। यह स्थान वर्तमान क्विल नदी के किनारे पर है। यही नदी ऋजुकूला अर्थात् ऋज्यकूला का अपभ्रंश है। क्विल स्टेशन से जमुई गाँव १८–१६ मील की दूरी पर अवस्थित है। जमुई से ४ मील उत्तर की ओर क्षत्रियकुण्ड और काकली नामक स्थान है। इन स्थानों की प्राचीनता आज भी प्रसिद्ध है। जमुई के तीन मील दक्षिण एनमेगढ़ नामक एक प्राचीन टीला है। कनिंघम ने इसे इन्द्रद्युम्नपाल का माना है। यहाँ पर खुदाई में मिट्टी की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। वर्षाकाल में अधिक पानी बरसने पर यहाँ अपने आप ही अनेक मनोज्ञ मूर्त्तियाँ निकली हैं। लेखक ने भी खण्डित पार्श्वनाथ और श्री आदिनाथ की मूर्तियों के दर्शन किये हैं।

१. श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३७०

जमुई और लिच्छवाड के बीच में महादेव सिमरिया गाँव है। यहाँ सरोवर के मध्य एक ३००–४०० वर्ष पुराना मन्दिर है। इस मन्दिर में कुछ प्राचीन जैन प्रतिमाएँ भी हैं। जमुई से १५–१६ मील पर लक्खीसराय है। यहाँ पर एक पर्वत श्रेणी है, जिससे प्रतिवर्ष अनेक जैन और बौद्ध-प्रतिमाएँ निकलती हैं। जमुई और राजगृह के बीच सिकन्दरा गाँव है तथा सिकन्दरा और लक्खी-सराय के मध्य में एक आम्रवन है। कहा जाता है कि इस आम्रवन में भगवान् महावीर ने तपश्चरण किया था। आज भी यहाँ के निकटवर्ती लोग इस वन को पावन मानकर इसके वृक्षो की पूजा करते हैं।

जमुई गाँव की भौगोलिक स्थिति से यह स्पष्ट है कि यह ऋजुकूला, जिसका सस्कृत में ऋष्य-कूला नाम था वर्तमान अपभ्रश क्विल नदी ही है, और इसका तटवर्ती वर्तमान जमुई गाँव ही जृम्भिक ग्राम है। मेरे इस कथन की पुष्टि जमुई गाँव के आस-पास भ्रमण करने, वहाँ प्रचलित किंवदन्तियो के सकलन करने तथा उपलब्ध पुरातत्त्व के दर्शन करने से स्पष्ट हो जाती है। जमुई के दक्षिण लगभग ४–५ मील की दूरी पर एक केवाली नामक ग्राम है जो भगवान् महावीर की केवलज्ञान की स्मृति को वनाये रखने के लिए ही प्रसिद्ध हुआ होगा। इस गाँव के समीप बरसाती अजन नदी बहती है, जिसके किनारे पर वालू अधिक पायी जाती है। सिकन्दरावाद तथा केवाली निवासियो से बातें करने पर वे कहते हैं यही केवाली भगवान् महावीर का केवलज्ञान स्थान है तथा अजन नदी को ऋजुपालिका या ऋजु-वालिका वतलाते हैं। इस केवाली गाँव निवासियो में कुछ ऐसी धारणाएँ भी विद्यमान हैं जिनसे उनका भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धा तथा भक्तिभाव प्रकट होता है। वैशाख शुक्ला दशमी, जो कि भगवान् महावीर की कैवल्यप्राप्ति की तिथि है, इस दिन सामूहिक रूप से उत्सव भी मनाया जाता है। यह प्रथा आज भी अवशेष है। सिकन्दरावाद के निवासी श्री भगवान् दास केसरी ने इस स्थान से अनेक पुरातत्त्वा-वशेषो का सकलन किया है तथा उनके पास ऐसी अनेक किंवदन्तियो का सग्रह भी है जिनसे जमुई का निकटवर्ती प्रदेश भगवान् का बोधिप्राप्ति स्थान सिद्ध होता है।

जमुई से राजगिरि लगभग ३० मील की दूरी पर है जव कि झरिया से १००, १२५ मील से कम नही। यह निश्चित है कि भगवान् महावीर का बोधिस्थान मगध में और साथ ही राजगिरि से ३०–३५ मील ही दूरी पर था। जमुई भी वज्रभूमि है, यहाँ भी पृथ्वी के नीचे पत्थर निकलते हैं। पहाड़ी स्थान भी है। जमीन पथरीली और ऊवड-खावड़ है। जैन और वौद्ध दोनो ही का पुरातत्त्व यहाँ उप-लब्ध है। यदि खुदाई की जाय तो निश्चय ही यहाँ से अमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। अत वर्त-मान जमुई गाँव का निकटवर्ती वह प्रदेश जहाँ आजकल केवाली ग्राम वसा है भगवान का वोधि स्थान है।
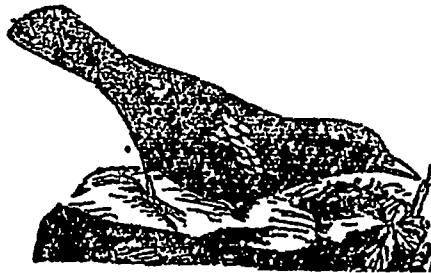
कोलुहा-पहाड़

श्री हरखचन्द जैन

श्रीमद्भगवज्जिसेनाचार्य प्रणीत श्री महापुराण में जैनाभिमत श्री २४ तीर्थंकरो के विशाल चरित्र अकित है। इन्ही पवित्र आत्माओ में पहले श्री ऋषभदेव, वाईसवें अरिष्टनेमि और चौवीसवें श्री महावीर —इस प्रकार अनेक तीर्थंकरो का उल्लेख श्री ऋग्वेदसंहिता आदि ग्रथो मे वडे-उच्च आदर्श के रूप में पाया जाता है। इससे इन तीर्थंकरो का समय अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। इनका जन्म आज से हजारो वर्ष पूर्व श्री भद्रिल पुराधीश इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा श्री दृढरथ की महारानी श्री सुनन्दा के यहाँ हुआ था।

हजारीबाग जिले में एक पुराना मार्ग अपने प्रान्त की उत्तरी सीमा से दक्षिणस्थ गया नगरी तक जाता है। वहाँ से ३६ वें मील पर भौंडिल नाम से प्रसिद्ध एक ग्राम है और यह उसी भद्रिल-पुर का अपभ्रश है जहाँ कि श्री शीतलनाथ स्वामी के अनेक कल्याणक हो चुके हैं। इसके पास ही एक परम पुनीत कोलुहा नाम से प्रसिद्ध पर्वत है। यह पर्वत गया से ३४ मील दक्षिण में, गया व हजारीवाग की सीमा पर लहलहाती हुई एक छोटी सी नदी के उत्तर तट पर सघन वृक्ष-गुल्म लताओ व समुन्नत चट्टानो से सुशोभित अति विषम और सोपान-विवर्जित मार्ग द्वारा तलहटी से लगभग दो मील ऊँचा है। गया से शेरघाटी, हटरगज और हटवदिया होकर जाना होता है। दूसरा रास्ता चतरा से ११ मील जौहरी ग्राम होकर है। यहाँ पर हटरगज से आनेवाली सडक मिलती है। जौहरी से ६ मील दतारग्राम और दतार से १ मील कुसुम्वा ग्राम है। यह मार्ग वहुत अस्त-व्यस्त और अरक्षित है। यह कुसुम्वा, कौशाम्वी का अपभ्रश मालूम होता है और वहुत सभव है कि उपर्युक्त विशाल भद्रिलपुर का ही एक खड हो। इसके निकट ही एक श्रावकग्राम तथा श्रावक पहाड भी है जो कि गया जिले में शेरघाटी के सन्निकट है। इस श्रावक पहाड की गुफाओ में कई जैन मूर्तियो के भग्नावशेष पाये जाते है। इन सभी चिन्हो से यह नि सन्देह श्री शीतलनाथ जी का जन्म स्थान प्रतीत होता है। इस कुसुम्वा ग्राम से उत्तर में समतल मार्ग पर वही नदी है जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। नदी पार होते ही पहाड का चढाव प्रारम्भ होता है। चढाव के अन्त में पत्थरो द्वारा निर्मित विशाल प्राकार भग्नावस्था में है। उसके मध्य में एक छोटा सा सरोवर है। कहा जाता है कि इस सरोवर के भीतर ७ जलमग्न कुएँ हैं जिनमें कि वहुत से अक्षुण जैन स्मारको तथा भग्नावशेषो को निमग्न कर दिया गया है। इस सरोवर के अनुसधानार्थ

था उद्धारार्थ हमारी विहार सरकार ने १७ हजार रुपये प्रदान करने की उदारता दिखलाई है जिससे कुछ खुदाई का कार्य भी प्रारम्भ हुआ है। अभी तक पौने तीन लाख घन-फुट खुदाई की जा चुकी है। इसी सिलसिले में एक सहस्र फुट चैत्यालय का भग्नावशेष उपलब्ध हुआ है जो कि सरोवर के तट स्थित मन्दिर के बाहरी दक्षिण पार्श्व में अस्त-व्यस्त पडा है। इसमें अढाई-अढाई इच ऊँची लगभग ५० प्रतिमाएँ उकेरी हुई अखडित हैं। इसी प्रकार एक और भी आठ इच की कोई मूर्ति निकली है जो कि किसी जैन मूर्ति का पार्श्ववर्ती यक्ष मालूम होती है। अनुमान होता है कि खुदाई पूर्ण होने पर और भी अनेकानेक जैन स्मारकों की उपलब्धि होगी।

इस सरोवर के उत्तर की ओर एक विशाल चट्टान पर चढना होता है। कुछ चढ़ते ही एक प्राकृतिक प्राचीन सजल कुण्ड है जिसे सूर्य कुड कहते हैं। इस चट्टान का शिरा कुछ समतल रूप में है। इसके ऊपर भी एक और कूट है। इस पर एक छोटा-सा पाँच शिखर सयुक्त अति प्राचीन मन्दिर है, जो कि सर्वे सेटलमेंट नक्शे मे "पार्श्वनाथ मन्दिर" के नाम से उल्लिखित है। अभी इसमें कोई भी मूर्ति स्थापित नही है तो भी दो आलो में दो भग्नावशेष मूर्त्तियाँ रक्खी हुई हैं। उनमें से एक तो श्री हनुमान की मूर्त्ति-सी मालूम होती है। दूसरी अस्पष्ट है। इस पार्श्वनाथ मन्दिर के वाहरी वाम पार्श्व में एक विशाल चबूतरा है, जो कि "पार्श्वनाथ चबूतरा" के नाम से उल्लिखित है।

इस चबूतरे से उत्तर की ओर कुछ और भी चढने पर एक और कूट है। इसके ऊपर समतल मे एक ऐसा रमणीय स्थल है जिसके बीच में कुछ गर्त है और यज्ञकुड कहा जाता है। इसके चारो ओर शिलालेख है, परन्तु वह पढा नही जाता है, तो भी "सवत्" शब्द सा वह मालूम होता है। एक विद्वान का कहना है कि इस शिलालेख में "जनसौना" भी पढा जा चुका है। इससे अनुमान होता है कि कदाचित् श्री जिनसेनाचार्य की यह सभाभूमि हो।

यहाँ पर एक ऊँचा-सा मच जैसा चबूतरा है जो उपदेश स्थान मालूम होता है। इसके दक्षिण पार्श्व में एक और भी चबूतरा है। सभव है कि यह विशिष्ट शिष्यमडल या साधुवर्ग का स्थान हो।

इस सभामडप के उत्तर की ओर भी पूर्वकथित भग्नकोट है। उसके बाहर कुछ ही नीचाई पर एक खोह है। कहते हैं कि इसमें एक अन्तर्मार्ग (सुरग) है और कुछ चमत्कार जन्य घटनाएँ भी हुआ करती हैं। यहाँ से पश्चिम की ओर उतार-चढाव का मार्ग समाप्त होने पर, सीधे चढाव पर एक कूट है। इस पर चढने का मार्ग नही है। बड़ी कठिनाई से पकड-पकड कर ज्यो-त्यो चढा जा सकता है। ऊपर चट्टान के शिरे में एक जोडा चरण-चिन्ह ८ इच लम्बा अकित है। इसको आकाश-लोचन कहते हैं। बहुत सभव है कि यहाँ पर श्री शीतलनाथ भगवान् या अन्य किसी महापुरुष का केशलोच हुआ हो, और इसीसे केशलोचन का आकाशलोचन रूप में प्रवर्तन हो गया हो।

इस केवलोचन कूट से उतरते समय एक संकुचित मार्ग दाहिनी ओर को जाता है। कुछ आगे बढते ही दाहिनी ओर एक बड़ी गुफा स्वरूप चट्टान में उकेरी हुई पद्मासन से विराजमान एक एक फुट ऊँची उभय पार्श्वों में सचमर यक्षो सहित दस दिगम्बर जैन मूर्त्तियाँ हैं। इनके ऊपर भी शिलालेख है। इन दशो प्रतिमाओ की चरण-चौकियो में अंकित चिन्हो से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये पक्तिवद्ध दशो प्रतिमाएँ वायी ओर से क्रमश. श्री शीतलनाथ, श्रीऋषभदेव, श्री अजितनाथ, श्री सम्भवनाथ, श्री अभिनन्दन नाथ, श्री सुमतिनाथ, श्रीपद्मप्रभ, श्री सुपार्श्वनाथ, श्रीचन्द्रप्रभ, श्री पुष्पदन्त—इस प्रकार आदि दश तीर्थंकरो की हैं। यद्यपि ये निश्चित श्री दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ हैं, तो भी लोगो ने इन्हें दशावतार कल्पित कर लिया है। इनके कुछ और आगे जाने पर दूसरी चट्टान में वायी ओर से एक-एक फुट ऊँची पद्मासन से बैठी हुई ठीक वैसी ही दशो मूर्त्तियो के समान पांच मूर्त्तियाँ हैं। ये क्रमश: पच वालब्रह्मचारी, श्री वासुपूज्य, श्री मल्लिनाथ, श्री नेमिनाथ, श्री पार्श्वनाथ, और श्री महावीर तीर्थंकरो की मूर्त्तियाँ हैं। इसी सिलसिले में इन्ही वालयति तीर्थंकरो की पाच मूर्त्तिया अढाई-अढाई फुट ऊँची खड़े आसन मे भी है। इन्हें भी लोगो ने पाण्डव मान रक्खा है।

उक्त सरोवर के दक्षिण तट पर कुछ और ऊपर एक विशाल पाषाण खड़ा है जिसे भीम कहते हैं। इस पर शिलालेखादि नहीं है। यहाँ से कुछ दूर दाहिनी ओर पर्वतो के मेल से बनी हुई गुफा में एक प्रतिमा श्री पार्श्वनाथ भगवान की तीन फुट ऊँची यक्षो सहित फल विशिष्ट परम सुन्दर अखण्ड कर्नाटी-पाषाण की बनी हुई है। मालूम होता है कि यह प्रतिमा श्री पार्श्वनाथ मन्दिर में ही थी, परन्तु कई अज्ञात कारणो से यहाँ पर विठा दी गई है।

इस गुफा से पश्चिम की ओर एक और प्राचीन मन्दिर है। उसको देखने से मालूम होता है कि इसमें भी श्री दिगम्बर जैन प्रतिमा ही विराजमान थी। परन्तु न जाने किसने और किस समय उनको हटाकर तत्स्थानापन्न एक काली जी की मूर्त्ति विठा दी है। इसी से यह मन्दिर श्री कौलेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। उपर्युक्त सहस्रकूट चैत्यालय का एक भग्नावशेष इसी मन्दिर के पास पडा है। यहां से लगभग दो फर्लांग तक उतार कुछ विकट है और वाद में हटवरिया तक वे-मरम्मत ऐसा चौडा मार्ग है कि उसकी मरम्मत हो जाने पर यहाँ तक मोटर भी आ जा सकती है। अभी चढने-उतरने में जो कठिनाई है वह इससे अधिक सुगम हो सकती है।

इस मन्दिर के सामने एक विशाल चट्टान में एक और भी गुफा है। उसमें भी कई खंडित मूर्त्तियो के अतिरिक्त उसी सहस्रकूट चैत्यालय का दूसरा भग्नावशेष भी है।

आवश्यकता यह है कि इस पहाड़ पर चढने के दोनो मार्गों का यथेष्ट सुधार हो, श्री पार्श्वनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार हो, श्री पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा को पुन. सानुष्ठान पार्श्वनाथ मन्दिर में स्थापित किया जाय। इन सभी कार्यों में अनुमानत. पच्चीस हजार रुपये का खर्च है।
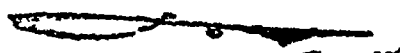
मगध और जैन संस्कृति

श्री गुलाब चन्द्र चौधरी एम० ए०, व्याकरणाचार्य

संस्कृति और मगध—

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र मगध देश का नाम तिहास के पन्नो में स्वर्णाक्षरो से अंकित है। ऐसे विरले ही देश होगे जहाँ से एक साथ साम्राज्यचक्र और धर्मचक्र की धुराए अपने प्रचण्ड वेग से जगती तल पर शताब्दियो तक चलती रही हो। मगध को ही श्रमण संस्कृति के जीवनदान, सवर्द्धन और पोषण करने का श्रेय प्राप्त है तथा विश्व में उसके परिचय देने और प्रसार का काम यही से सम्पन्न हुआ था। भारत के विशाल भूभाग को एक छत्र के नीचे लाने वाले साम्राज्य वाद रूपी नाटक के अनेक दृश्य यही खेले गये थे। जैन एव बौद्ध धर्म के उत्थान के दिन इसी स्थल ने देखे थे। आजीवक आदि अनेक सम्प्रदायो और दर्शनो को जन्म देने और इन्हें सदा के लिए अतीत की गोद में सुला देने का गौरव इसी क्षेत्र को प्राप्त है। इसी भूभाग पर आध्यात्मिक विचारधारा और भौतिक समृद्धि ने गठबन्धन कर भारतीय राष्ट्रवाद की नीव डाली थी। प्रतापी राजा बिम्बिसार श्रेणिक एव अजातशत्रु, नन्दवशी राजा, सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसका प्रियदर्शी पौत्र अशोक, शुग वश का सेनानी पुष्यमित्र तथा पीछे गुप्त साम्राज्य के दिग्विजयी सम्राट समुद्रगुप्त और उनके उत्तराधिकारियो ने इसी भूमण्डल पर शताब्दियो तक शासन कर इसे विश्व की सारी कला, नाना ज्ञान विज्ञान, एव अनेक भौतिक समृद्धि का केन्द्रथल बनाया था। प्रसिद्ध राजनीतिकार चाणक्य एव कामन्दक, महावैयाकरण वररुचि और पतजलि, छन्दकार पिङ्गल, महान् ज्योतिर्विद आर्यभट्ट और न्याय परिपाटी के अनेकवादी विद्वान् इस प्रान्त की ही विभूतियाँ थे। ईसा पूर्व छठवी शताब्दी से लेकर छठवी शताब्दी बाद तक यहाँ से राज्यधुरा का चक्र प्रचालित होता रहा, पीछे बगाल के पाल और सेन वशी राजाओ की अधीनता में पहुँचनेपर यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इस क्षेत्र का महत्व कुछ कम हो गया हो पर सभ्यता एव संस्कृति की दृष्टि से जो इसे अन्ताराष्ट्रिय मान्यता प्राप्त थी उसमें तनिक भी कमी नही हुई। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयो द्वारा मगध ने अपना अन्तारा़ष्ट्रिय उत्कर्ष पाया। इन विश्वविद्यालयो में, ७—८ सौ वर्षों तक भारतीय दर्शनो की, धर्म और साहित्य की, कला और सगीत की तथा भैषज्य और रसायन शास्त्र की शिक्षा बिना किसी भेद-भाव के दी जाती थी। मगध के इतिहास का पृष्ठ यदि राजगृह और पाटलिपुत्र के उत्थान के साथ खुलता है तो वह नालन्दा के पतन के साथ बन्द हो जाता है। इस प्रान्त के कारण ही सारा प्रान्त आज विहार के नाम से पुकारा जाता है।

श्रमण संस्कृति का केन्द्र—

मगध के इतिहास को यदि हम सास्कृतिक पष्ठभूमि टटोलें तो हमे सुदूर अतीत से ही यह श्रमण सस्कृति का केन्द्र मालूम होता है। तथाकथित वैदिक सस्कृति के प्रभाव से यह एक प्रकार से मुक्त था। इसका अपना कला कौशल था। राजगृह और नालन्दा आदि की खुदाई से प्राप्त पकी मिट्टी (terracota) के खिलौने से जिनमें स्त्री, पुरुष, राक्षस और पशुओ के चित्र है, मालूम पडता है कि इस क्षेत्र का सम्बन्ध मोहेंजोदारो और हरप्पा की प्राचीनतम सस्कृतियो से अवश्य था। उन उपादानो को हम सम्प्रदायगत भेद मे नही बाँध सकते। आर्यों के आगमन के पहले के कुछ अवैदिक तत्त्वो से मालूम होता है कि वहाँ पाषाणयुगीन पुरुषो के वशज रहते थे। वेदो-में इन्हें व्रात्य, नाग, यक्ष आदि नामो से कहा गया है। मगधवासियो के नेतृत्व में पूर्वीय जनसमुदाय ने आर्यों की सास्कृतिक दासता से बचने के प्रयत्न कि` थे। ब्राह्मण सस्कृति के पुरातन ग्रथो में श्रमणसस्कृति के अनुयायी मगधवासी एव पूर्वीय जनवर्ग को बहुत ही हेयता एव घृणा के भाव से देखा गया है। ऋग्वेद से लेकर मनुस्मृति तक के अनेक ग्रथो में इस बात के प्रमाण भरे पडे हैं। मागध (मगध जनवासी) शब्द का अर्थ ब्राह्मणकोशो में चारण या भाट है। सभव है जीविकार्जनार्थ कुछ लोग मगध से चारण, भाटो का पेशा करते हुए आर्य देशो में जाते हो, जहाँ उन्हें मागध शब्द से कहते कहते पीछे उसी अर्थ में मागध शब्द की रूढि हो गई हो। मनुस्मृति में गिनाये गये ब्रह्मर्षि देशो में मगध का नाम शामिल नही है। इस क्षेत्रवासियो ने पुरोहितो और वैदिक देवताओ की प्रभुता कभी नही स्वीकार की। आजकल यहाँ ब्राह्मण बाबाजी नाम से पुकारे जाते हैं। किसी काम के बिगड जाने व किसी वस्तु के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर भी उसे उपहास रूप में 'यह बाबा जी हो गया' कहते हैं। यद्यपि महावीर और बुद्ध के उदय होने के काफी पहले से मगध आर्यों के अधीन हो गया था, पर पुरोहित वर्ग को वैसा सम्मान कभी नही मिला जैसा उसे आर्य देशो मे मिला है। वैदिक सस्कृति एक प्रकार से यहाँ के लिए विदेशी थी, इसी लिए पीछे महावीर और बुद्ध के काल में वहाँ जो थोडा बहुत वैदिक धर्म का प्रभाव था, वह भी उठ गया।

मगध की प्राचीनता और विकास—

मगध से जहाँ तक जैन धर्म और सस्कृति का सम्बन्ध है, वह साहित्यिक आधारो पर भगवान् महावीर से पहले जाता है। बौद्धग्रथ दीघनिकाय के सामञ्जस्यफल सूत्र में भ० पार्श्वनाथ की परम्परा के चतुर्यामसवर (अहिंसा, सत्य, अस्तेय एव ब्रह्मचर्य) का उल्लेख है। इससे विदित होता है कि बौद्ध, जैनो की प्राचीन परम्परा खासकर भगवान् पार्श्व के समय और शिक्षाओ के विषय में परिचित थे। भगवान् महावीर का समकालीन आजीवक मक्खलि गोसाल अपने समय के मनुष्य समाज के ६ भेद करता है जिसमें तीसरा भेद निर्ग्रंथ समाज था। इससे विदित होता है कि निर्ग्रंथ सगठन एक उल्लेखनीय सगठन पहले से था। आचाराग सूत्र से मालूम होता है कि भगवान् महावीर के माता पिता श्रमण भगवान्-पार्श्व के उपासक थे। इन कतिपय प्रमाणो से सिद्ध है कि मगध में जैनधर्म भ० महावीर से बहुत पहले से था।

भगवान् महावीर को अर्हन्त लक्ष्मी (केवल ज्ञान) इसी मगध की एक नदी ऋजूकूला के किनारे प्राप्त हुई तया उनका प्रथम उपदेश तत्कालीन मगध की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर हुआ था। मगध के प्रत्येक गाँव को भगवान् महावीर ने अपने उपदेश से पवित्र किया। बौद्ध ग्रथो से मालूम होता है कि भगवान् बुद्ध के समय जैनो के प्रमुख केन्द्र वैशाली, नालन्दा और राजगृह थे। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार अकेले नालन्दा में भगवान् महावीर ने १५ चतुर्मास बिताये थे। मज्झिम निकाय मे लिखा है कि नालन्दा में अनेक धनी जैन रहते थे। मगध के कई प्रभावक जैन श्रावक और श्राविकाओ का नाम बौद्ध ग्रथो में मिलता है, जैसे राजगृह का संचक, नालन्दा में उपालिगहपति नया, वैशाली में सिह सेनापति।

भगवान् महावीर के समय राजगृह विद्वानो और वादियो का वडा केन्द्र था। उनके प्रथम उपदेश को समझने और धारण करनेवाला प्रथम शिष्य इन्द्रभूति जो गौतम गणधर नाम से प्रसिद्ध हुआ इसी स्थान का विशिष्ट ब्राह्मण विद्वान् था। शेष गणधरो में से अधिक तो यही के थे। राजगृह से भगवान् महावीर का जन्मजन्मान्तरो से सम्बन्ध था। यहाँ १६ वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के चार कल्याणक हुए थे तथा यह नगर अनेक महापुरुषो की लीलाभूमि और इसके पवित्र पाँच पर्वत मोक्षगमन स्थान रहे हैं। मगध की इसी भूमि ने पावा स्थान में भगवान् महावीर का निर्वाण दिवस देखा है। पाटलिपुत्र नगर में महाशीलवान् सुदर्शन सेठ की समाधि है।

एकबार ईसा की छठवी शताब्दी पूर्व बिम्बिसार श्रेणिक के नेतृत्व में मगध देश ने ऐसे साम्राज्यवाद की नीव डाली जो पीछे जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियो के सरक्षकत्व में सारे भारत पर छा गया था। जैन शास्त्रो के अनुसार श्रेणिक भगवान् महावीर का अनुयायी हो गया था। उसकी महारानी चेलना तो जैन मुनियो की परम भक्त थी। सम्राट अजातशत्रु जैनागमो का कुणिक, जैन धर्मानुयायी था। उसका बेटा उदायीभद्द अपने पिता के समान ही पक्का जैन था। यही उदायीभद्द तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो को देखते हुए अपनी राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र ले गया। पाटलिपुत्र को प्रमुखता देने का श्रेय उसी व्यक्ति को है। जैनग्रन्थ आवश्यक सूत्र के अनुसार उसने नई राजधानी के वीचो वीच एक जैन चैत्य गृह वनवाया और अष्टमी चतुर्दशी को प्रोषध का पालन करता था। उदयी ने अनेको वार उज्जैन के राजा को पराजित किया था।

उदयी के वाद मगध का साम्राज्य अनेक राजनीतिक एव धार्मिक प्रतिद्वद्विताओ का शिकार बन गया पर जन हृदय पर जैन धर्म के प्रभाव की धारा कम ही क्षीण हो सकी। जैनागमो में उदयी के वाद और नवनन्दो के आविर्भाव के बीच के राजाओ का नाम नही मिलता। नन्द राजा और उनके मत्रीगण भी जैन थे। उनका प्रथम मत्री कल्पक था, जिसकी सहायता से नन्दो ने क्षत्रिय राजाओ का मान मर्दन किया था। नवमें नन्द का मत्री शकटाल भी जैन था, जिसके दो पुत्र थे स्यूलभद्र और श्रीयक। स्यूलभद्र तो जैन साधु हो गया पर श्रीयक ने मत्री पद ग्रहण किया। नन्द राजा जैन धर्मानुयायी थे यह वात मुद्रा राक्षस नाटक से भी मालूम होती है। नाटक की

सामाजिक पृष्ठ-भूमि में जैन प्रभाव स्पष्ट काम कर रहा है। नन्दो के जैन होने का अकाट्य प्रमाण सम्राट् खारवेल का शिलालेख है जिसमें उल्लेख है कि नन्दराजा कलिंग से भगवा् आदि-नाथ की प्रतिमा अपनी विजय के चिन्हस्वरूप मगध ले आया था।

नन्दो के बाद भारत की विदेशी आक्रमणो से रक्षा करने वाला, सारे भारत को एक छत्र के नीचे लानेवाला सम्राट् चन्द्रगुप्त निर्विवाद रूप से जैन था जो पीछे अपने जैन गुरु भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत में जाकर जैन समाधि से दिवगत हुआ। आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त का महाराजनीतिज्ञ मत्री चाणक्य भी अपने जीवन के शेष दिनो मे जैन धर्म की शरण आया था। उसके अन्तिम दिनो का वर्णन उसी लिए हमें जैन शास्त्रो के अति-रिक्त कही नही मिलता।

आगमों का संग्रह—

जैनागमो का सर्वप्रथम संकलन उसी मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र में आचार्य स्थूल-भद्र के नेतृत्व में हुआ था। उस सकलन की एक रोचक कहानी है। भगवान् महावीर का जो उपदेश इस मगध की धरा पर हुआ था वह उनके शिष्यो द्वारा ११ अग और १४ पूर्वों में सकलित किया गया था, जो श्रुत परम्परा से चलकर शिष्य प्रशिष्यो द्वारा कालान्तर में विस्तृत होने लगा था। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में आचार्य भद्रबाहु जैन सघ के प्रमुख थे। उस समय १४ वर्ष व्यापी भीषण अकाल के कारण आ० भद्रबाहु जैन सघ तथा अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत की ओर चले गये। पर कुछ जैन मुनि आ० स्थूलभद्र की प्रमुखता में यही रह गये। स्थूलभद्र १४ पूर्वों के ज्ञाता थे। भीषण दुर्भिक्ष के कारण मुनिसघ को अनेक विपत्तियाँ झेलनी पडी। अन्त में आगम ज्ञाता की सुरक्षा के हेतु आ० स्थुलभद्र के नेतृत्व में एक परिषद् का सगठन हुआ जिसमें आगमो का सकलन किया गया। भद्रबाहु के अनुगामी मुनि गण जब मगध लौटे तो उन्होने सकलित आगमो की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया और तत्कालीन साधुसघ जो श्वेतवस्त्र धारण करने लगा था, को मान्यता भी प्रदान की। इस तरह इस मगध की धरा पर ही दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से जैन सघ के स्पष्ट दो भेद हो गये।

आगमों की भाषा—

जैनागमो की भाषा अर्धमागधी कही जाती है। ऐसा माना जाता है कि भगवान् महावीर ने इसी भाषा में अपने सारे उपदेश दिये थे। अर्धमागधी का मागधी शब्द सकेत करता है कि जैना-गमों की भाषा मगध की ही भाषा थी। विशेष जन समुदाय को बोधगम्य बनाने के लिए उस भाषा में इतना सशोधन अवश्य किया गया कि उसमें कोशल, शूरसेन आदि प्रदेशो के प्रचलित शब्द शामिल कर लिये गये। भाषाविदो का कहना है कि जैनो ने पूर्वी भाषा (मागधी) का कुछ परि-वर्तन सस्कार तो अवश्य किया पर बहुत हदतक वे उसे ही पकड़े रहे। उनके आगम जिस अर्ध-मागधी भाषा मे है, उसमें बौद्धागमो की भाषा पाली से मगध की भाषा के अधिक तत्त्व पाये

जाते है। जैन प्राकृतो के]'एगो, दुगो, आदि' कुछ शब्द मगध में आज भी बोले जाते है। जैनागमो का भाषा-दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने पर उनमें अर्धमागधी के अनेक स्तर मालूम होते है। मगधी पर अनुसधान करनेवाले विद्यार्थी के लिए अर्धमागधी के प्राचीनतम स्तर वाले आचाराग आदि कतिपय जैनागम बडे महत्त्व के है।

मगध में १४ वर्ष व्यापी दुर्भिक्ष की घटना जैनधर्म के इतिहास की वह भयकर घटना थी जिसने सघ भेद के साथ-साथ जैन-धर्म के पैर मगध की भूमि पर कमजोर कर दिये। वह धीरे धीरे इस भूमि के जन-मानस से विस्तृत-सा होने लगा और अपने विस्तार का क्षेत्र पश्चिम भारत व दक्षिण पूर्व कलिग में व दक्षिण भारत की तरफ ढूढने लगा। पर मगध के वक्षस्थल पर जैन इतिहास की जो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी थी उससे वह जैनो की पुण्य भूमि तो बन ही चुका था। राजगृह की पच पहाडिया, नालन्दा, पावा, गुणावा और पाटलिपुत्र एक साथ जैनो के ये पाच तीर्थ स्थान इसी मगध की पुण्य भूमि में ही है।

उपसंहार--

मगध का जैन सस्कृति के प्रति अनुराग इस बात से भी प्रकट होता है, कि वह जैन मूर्त्ति का वहुत प्राचीन काल से पुजारी है। पटना के समीप लोहानीपुर से प्राप्त दो मौर्यकालीन जैन मूर्त्तियाँ इस वात की साक्षी है। सारे भारतवर्ष में इनसे प्राचीनतर मूर्त्तिकला अबतक और किसी धर्म की प्राप्त नही हुई। कलिग के जैन सम्राट् खारवेल का शिलालेख हमें प्रमाण देता है है कि मगध का राजा नन्द कलिग से पूजा की वस्तु जिन मूर्त्ति ले आया था, जो पीछे ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग खारवेल वापस ला सका था।

शुगकालीन भारत व उसके वाद के भारत में अनेक शताब्दियो तक मगध से जैन धर्म और सस्कृति का क्या सम्बन्ध रहा यह तो निश्चित रूप से नही मालूम पर मध्यकालीन जैन साहित्य मे जैन कवियो ने अपनी पुण्यभूमि मगध का जो वर्णन किया है उससे मालूम होता है कि तीर्थ के रूप में जैन जनता अपना सम्वन्ध मगध से अवश्य बनाये रखा है। इस वात का प्रकाश हमें नालन्दा वडगाँव के जैन मन्दिर से पालवशी राजा राज्यपाल के समय (दशवी ईस्वी का पूर्वार्द्ध) के एक लेख से मिलता है। लेख में मनोरथ का पुत्र वणिक् श्री वैद्यनाथ अपनी तीर्थ-वन्दना का उल्लेख-करता है।

आज मगध के प्रमुख स्थानो में जैन जनता वाणिज्य के लिए वसी है। मगध के जैन सास्कृतिक केन्द्र उनकी सहायता की राह देख रहे है। चारो ओर विकास की योजनाएँ लागू हो रही है। क्या वह मगध जिसने जैन सस्कृति को जन्मक्षण से पाला पोसा आज फिर उसके विकास के लिए पात्र नही हो सकता ? तीर्थ यात्रा के नाम पर जैन जनता हजारो रुपये इस भूमि पर आकर खर्च करती है पर जैन सस्कृति के प्रसार सम्बन्धी उपादानो से यह प्रान्त अव भी वचित है जो बड़े खेद की वात है।

विहार की विभूति भगवान् महावीर की आर्य-संस्कृति को देन

प्रो० श्री जगन्नाथ राय शर्मा एम० ए०

प्रस्ताविक—

खामाम्मि सव्वजीवे, सव्वे जीवमा खमतु में ।
मेती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणाइ ॥

"I forgive all souls; let all souls forgive me. I am on friendly terms with all; I have no enmity with any body"

आवश्यक सूत्र प० ७६३

Jainism in North India—Page 57

"मैं सभी जीवो को क्षमा प्रदान करता हूँ । सभी जीव मुझे क्षमा प्रदान करें । मैं सबके साथ मैत्री रखता हूँ । मेरा किसी से भी वैर नही ।"

भगवान् वर्धमान महावीर के धर्म का सारतत्त्व यही है । वे जिस समय में पैदा हुए थे उसमें या आज भी इसी भाव के प्रचार की आवश्यकता है । यदि आज इस विश्व में इस भाव का प्रचार नहीं होता और लोग इसे हृदय से स्वीकार नही करते तो अणु-बमो की बौछार से यह संसार त्रस्त, पीडित एव क्षत-विक्षत होकर कराह-कराह कर नष्ट हो जायगा, यह निश्चित है ।

निस्सन्देह वैदिक धर्म विश्व का महत्त्वपूर्ण धर्म है, किन्तु उच्च से उच्च धर्म भी समय की गति से दूषित हो जाता है । उसके अनुयायियो में सबके सब धर्मात्मा नही होते । राग, द्वेष, अहंकार इन्द्रियजन्य सुखों की कुत्सित वासनाएँ और अन्यान्य अनेक प्रकार के मानसिक विकार सच्चे धर्म को भी ठीक-ठीक समझने नही देते । कभी-कभी तो समझदार व्यक्ति भी कुमार्ग में फँस जाते हैं । उनके भीतर का रावणत्व उनके मस्तिष्क के रामत्व का तिरस्कार करने पर उतारू हो जाता है और वे समझ-बूझकर भी मानव से दानव बन जाते हैं । कुछ-कुछ इसी प्रकार की अवस्था में भगवान् महावीर ने विश्व में पदार्पण किया था ।

वातावरण का अध्ययन—

महात्मा ईसा से छ सौ वर्ष पूर्व भारत मे जिस युग का प्रारम्भ हुआ था उसमें मस्तिष्क और तर्क की प्रधानता थी । विश्वास नही उन्ही बातो पर किया जाने लगा जो तर्क से सिद्ध हो सकती थी । इस युग तक भारतीय आर्यों का मानसिक विकास किस प्रकार हुआ इसके ज्ञान के लिए इसने पहले के साहित्य का अध्ययन और मनन करना आवश्यक है । यहाँ पर उस विकास का संक्षिप्त इतिहास दे देने की आवश्यकता है ।

आर्यों के हृदय में जब से अनुराग विराग व्यक्त करने की भावना उत्पन्न हुई वे अपने संगीत के सहारे प्राकृतिक सौंदर्य में किसी अपरोक्ष सत्ता की गूढ़ सुषमा का अवलोकन करने लगे । इनी सुषमा का अभिव्यजन ऋग्वेद के रूप में हुआ । प्राकृतिक और आध्यात्मिक सौंदर्य व्यक्त करते हुए वे दर्शन के क्षेत्र में चले आये और विश्व की सृष्टि, स्थिति और सहार की समस्या उन्हें उद्विग्न करने लगी । प्रारम्भिक युग के आर्य तो कर्ममय जीवन बिताते हुए सौ वर्षों तक जीने की अभिलाषा करते रहे । उन्हें अपने स्वास्थ्य और समृद्धि तथा उसके द्वारा होनेवाली देव-पूजा का ध्यान विशेष था और उपर्युक्त जटिल प्रश्नो के समाधान का कम । वे आशावादी थे । चरित्र की उज्ज्वलता, कर्म के महत्त्व और सत्य एव अहिंसा पर उन्हें आस्था थी, इसीलिए वे पौरुषपूर्ण जीवन बिताते हुए और यज्ञ सम्पादन करते हुए अपने भक्तिपूर्ण हृदय में अपने आराध्यदेव या देवो के मनोरम चित्र अंकित करते रहे और उन्हें ऋग्वेद एव सामवेद के सगीतो में अभिव्यक्त करते रहे । किन्तु भवितव्यतावश उनमें भक्ति-भावना की कमी तथा यज्ञ-सम्पादन के प्रति मोह उत्पन्न होने लगा । श्रद्धा विलीन और आडवर विस्तृत होने लगा । यज्ञो के भिन्न-भिन्न रूप बन गये । उनकी विधियो में जटिलता बढ गई और पशु-हिसा की पराकाष्ठा हो गई । अश्वमेघ, गो-मेघ तथा नरमेघ तक होने लगे । श्रद्धा और अहिंसा प्रधान आर्य जाति मे हिंसा और बाह्याडबर ने घर कर लिया ।

वर्णों का परिणाम—

साथ ही साथ आर्यों के बीच श्रम-विभाग की भावना से जिस वर्ण-विभाग का प्रारम्भ हुआ था, वह अब अनर्थ का मूल बन गया था । इसने आर्यों को चार वर्णों में विभक्त कर उनमें पारस्परिक विद्वेष, स्पर्द्धा, घृणा तथा सघर्ष का बीज बो दिया । प्रत्येक वर्ण अपने अपने लिये विशेषाधिकार प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा । ब्राह्मण और क्षत्रिय आर्य जाति के ऊँचे स्तर पर रहने के कारण अधिक से अधिक विशेषाधिकार प्राप्त करने में समर्थ हुए । इसका प्रभाव निम्न वर्णों के ऊपर बहुत ही अशुभ हुआ । साथ ही स्त्रियो को भी उनके उचित अधिकारो से बहुत कुछ वचित कर दिया गया । इन्ही सब कारणो से जनता में दु ख-दारिद्रय और सघर्ष का प्रसार हो गया ।

भगवान् महावीर का जन्म—

स्वभावत समाज की यह दुर्व्यवस्था क्रान्ति का आह्वान करने लगी । दर्शन कर्मकाण्ड का शत्रु बन गया और स्त्रियो, शूद्रो तथा अन्त्यजो के प्रति होनेवाले दुर्व्यवहारो से समाज के शुभ-

चिन्तक विकल हो पडे । ऐसे ही समय में हिमालय-प्रदेश के अचल में सिद्धार्थ और वैशाली के क्षत्रिय-कुल में भगवान् महावीर का जन्म हुआ था । वे मानवता के वैषम्य और हिंसा सज्ञक भावो के कारण से विकल होकर उनमें ऐक्य और अहिंसा के सन्देशों को प्रचार करने के लिए उतावले होकर तपस्या में तल्लीन हुए थे । ये दोनो ही नवीन धर्म-प्रचारक बनने की इच्छा से घर छोडकर नही निकले थे । दोनो ही वेदो को प्रमाण न मानने वाले थे । वे अपनी-अपनी ज्ञान-ज्योति के स्वय उद्भावक बने थे । पर यथार्थ में पूछिये तो वे वैदिक धर्म को न मानते हुए भी उसके सुधारक और परिष्कारक के रूप में ही सफल हो सके ।

जनता ने उन्हें वेद-विरुद्ध समझा पर अनार्य नही । इसीलिए उनकी शिक्षाओ को श्रद्धा के साथ ग्रहण किया ।

इसमें सन्देह नही कि भगवान महावीर और गौतम वुद्ध इन दोनो ने अपना अलग-अलग दर्शन विकसित किया, किन्तु उनके अनुयायियो के अतिरिक्त अन्य भारतीय जनता पर उनका विशेष प्रभाव न पडा । उन्होने वैदिक कर्मकाण्ड और जाति-प्रथा पर तने वेग से आक्रमण किया कि कुछ काल के लिए इनका अस्तित्व प्राय लुप्त हो गया । वीच-वीच में वैदिक धर्मावलम्वी इनको पुन-र्जीवित करने का प्रयत्न करते रहे पर वे पूर्वकालीन सफलता न प्राप्त कर सके ।

कालक्रम से मुसलमानो और अग्रेजो के भारत में आने से यहाँ वर्ण-व्यवस्था या जाति प्रथा का प्रावल्य हो गया है । इन दोनो के अशुभ प्रभावो से भारत को मुक्त करने के विचार से महात्मा गाँधी ने वहुत कुछ प्रयास किया—किन्तु भारत को स्वतन्त्र करने के अतिरिक्त वे और कुछ शुभ प्रभाव डालने में समर्थ न हो सके ; इसका कारण है आज का हिंसात्मक और जातिगत विद्वेष जो एक तरफ तो अणु-वमो का उत्पादन करा रहा है और दूसरी ओर गोरी और काली जातियो का पारस्परिक विद्वेष उत्पन्न कर रहा है । ऐसे ही समय में हमें भगवान् महावीर के उप-देशो की आवश्यकता है जो ससार से पारस्परिक वैषम्य दूर कर सव जीवो के प्रति समदृष्टि का विस्तार कर सके । आज हम प्रेम के साथ सद्भाव से यह कह सकें कि हम सभी जीव को क्षमा प्रदान करते है और सभी जीव हमें क्षमा प्रदान करें । हम विश्व के मित्र है और हमें किसीसे भी शत्रुता नही है । भगवान् महावीर का यह सन्देश आज भूतल के लिए शाति का सन्देश वने और दुर्वल जातियो को सतानेवाली और उनका शोषण करने वाली सवल जातियाँ सद्‌वुद्धि प्राप्त करें । सवके अधिकार सम हो और इस वर्द्धमान हिंसा का पूर्णत विनाश हो । तभी भगवान् महावीर की तपस्या और धर्म-साधना की सफलता होगी और भारतीय सस्कृति को उनकी अहिंसा-समता और विश्ववन्धुता की देन सार्थक होगी ।

वैशाली की सांस्कृतिक महत्ता

श्री राम तिवारी

वैशाली : एक दृश्य—

वैशाली की सास्कृतिक महत्ता का प्रतीक इसकी प्राचीनता में अन्तर्निहित खडहरो का अतुल वैभव है, जिनमें अपने पूर्व विकास की अलस अगडाई है और अपनी अर्जित महत्ता की चिरस्पन्दित धडकन, सिहरन, खिलखिल । ये अवशेष अपने सास्कृतिक भावो में विह्वल मुग्ध आधी-सी रतनारी पलको में अपने गौरव की धूमायित चिता समेटे खडे है—एकाकी और निश्चिन्त । भारतीय सास्कृतिक चेतना को अक्षुण्णता प्रदान करने में इनकी सास्कृतिक धारा ने जो तरगमय सक्रिय, अवदान दिया है, उसकी एक अपनी कहानी है । . .. . इस कहानी के तीर बडे सजीले, बडे लचीले ।

आज जिस सास्कृतिक अभियान की बात याद कर रहा हूँ, उसकी एक-एक स्मृति पानी से भीगी है—पानी कभी चचल फेनोर्मिल, कभी निष्कम्प गभीर, कभी आकुल वाष्पाचित, कभी कलकल प्रपतित, कभी असलग्न हिमवेष्टित नीरव . । और वैशाली की जो दीप-शिखा है—पानी से बल उठे—नयनो के पानी से । × × × कहते-कहते महान भारतीय सस्कृति की वाणी नीरव हृदय में स्निग्ध ओज, कभी पुलक की रसमयी धारा का उद्रेक कर जाती है और शतश परिधियो को तोड कर अन्तर्जगत के महापथ का अनुसरण करती हुई प्रबुद्ध चेतना से टकरा जाती है जो लोकोत्तर है .... दुष्प्राप्य, अगाध और शब्दातीत ।

और अब सुनिये मेरी कहानी ! सरयू और सदानीरा का वह मनोरम कोण, जहाँ दोनो की लहरें एक दूसरे से टकरा-टकरा कर टूटती थी, जहाँ उनके उत्थान-पतन वायु में कुहासा उठा देते थे, झाग उठ-उठकर बिखर जाते थे, तट को उज्ज्वल कर देते थे, वही वैशाली के लाल-लाल फूल दिगन्त तक फैले मेरे लेख की भूमिका लिखते हैं, लाल-कहानी का अचल सजाते है . . ।

वैशाली : प्रागैतिहासिक अन्तराल में—

वैशाली अपनी गौरव-दीप्त परम्परा का विकास-सूत्र प्राचीनतम वैदिक युग के जरिये स्वर्णिम अभ्युत्थान के समय से ही ग्रहण करती है । इसका इतिवृत्त प्रागैतिहासिक काल से ही प्रारम्भ होता है । अधिकाश आम, केले एव लीची के निभृत निकुजो से अवगुण्ठनमयी—सुरम्य सदानीरा, (अब वर्त्तमान गण्डक में विलीन) जिसकी छाती पर ऋग्वेद के जमाने में विदेह जनपद का प्रारम्भिक

प्रसार हुआ था, हमारे विजय पोत लहराते थे तथा जिसके तट पर पहुँचते ही विदेह माथव के मुख से मुक्त अग्नि वैश्वानर को शात होना पडा था, के ही अचल में प्राचीन वैशाली परिपोषित हुई। सुदूर अतीत के इसी गर्भ में मल्लिनाथ और नमिनाथ इन दो तीर्यकरो ने इसी अचल में अहिंसा का सात्विक प्रचार किया था। सदानीरा कोशलो और विदेहो के बीच की मर्यादा बनी और विदेह द्वारा विदेह-जनपद का प्रारम्भ हुआ जिसने अपने अस्तित्व के सहज प्रसार की पँखुडियो पर दोलायित हो प्राचीन वैशाली का निर्माण किया।

ईसा के पूर्व ६ वी और ७ वी के बीच अयोध्या के प्रसिद्ध राजा इक्ष्वाकु ने एक आदर्श राज्यसत्ता का उद्घाटन किया। इन्ही की कुलगत परम्परा में तृणविन्दु और अलम्बुषा से उत्पन्न पुत्ररत्न 'विशाल' के नाम से विश्रुत हुए और उन्ही के करो से वैशाली निर्माण की सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त पक्ति जुडी। यथा —

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्र परमधार्मिक.।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इतिविश्रुत.।
तेन चासीदिहस्थाने विशालेतिपुरी कृता।

(रामायण, वालकाड, सर्ग ४७, ११ १२)

'विशाला' या 'उत्तमपुरी' की राजकीय परम्परा को क्रमश हेमचन्द्र, सुचन्द्र, धूम्राश्व, सञ्जय, सहदेव, कुशाश्य, सोमदत्त, काकुत्स्थ्य, और सुमति महातेजस्वी ने निभाया। सुमति अयोध्या के राजा दशरथ के समकालीन थे। ये सभी राजा दीर्घायु, महात्मा, वीर्यवान, और सुधार्मिक हुए।

सुमति के राज्य काल में महाप्राज्ञ श्री रामचन्द्र के वैशाली-भ्रमण का उल्लेख भी वैशाली की महत्ता को आगे बढाता है। जानकी स्वयम्बर के लिए जाते समय उन्होंने वैशाली की झाकी पायी थी।

सुमति के बाद के राजाओ का इतिहास अन्धकाराच्छन्न है। सभवत यह मिथिला का एक अग बन गयी थी। प्राचीन जैन ग्रथ 'निरयावलियाओ' (पृ० २६) तथा विक्रम सवत् १२ वी शताब्दी में निर्मित "त्रिष्टिशिलाका पुरुषचरित्रम् (पत्र ७७, पर्व १०, सर्ग ६) में विदेह जनपद (मिथिला) की राजधानी वैशाली होने की सार्थक पुष्टि की गई है। यह मत विक्रम स० १२ वी शताब्दी के जैन ग्रथ 'प्रवचन सारोद्धार (पत्र ४४६) तथा १४ वी शताब्दी के 'विविध तीर्थ कल्प' (पृ० ३२) से भिन्न रहते हुए भी मान्य है।

जो हो, मिथिला के अन्तिम अन्यायी राजा करालजनक को सिंहासनाच्युत करके जनता ने एक प्रकार के प्रजातन्त्र की स्थापना की। क्योंकि राजनीति और समाजनीति पर साधारण जनता का प्रभाव नगण्य नही था और सस्कृति के धारक और वाहक साधारण मनुष्य ही थे। जनता द्वारा नवोत्थित प्रजातन्त्र के सघर्ष में लगभग एक सहस्र वर्ष तक मिथिला में अराजकता फैली रही।

उत्कट प्रयत्नो के बावजूद वैशाली गणतत्र का विमल उदय (७५० ई० पूर्व और ६५० ई० पूर्व के बीच) हुआ और राजतन्त्र के अवसान के साथ एक सुदीर्घ रूमानी इतिहास का कलेजा डूब गया। वज्जियो और लिच्छवियो का यह गणतत्र उस समय सभ्य ससार के लिए विस्मय की वस्तु था। मानव-जाति के इतिहास मे यह गणतत्र की सर्वप्रथम स्थापना थी। वैशाली की यह जनतान्त्रिक महत्ता अटल, अमर तथा अविच्छेद्य है—शत-शत शताब्दियो और युगो के पश्चात् भी। वैशाली ऐतिहासिक सास्कृतिक केन्द्र बनकर आज भी भारतीय सस्कृति की अमरता तथा अखडता का द्योतक है।

वैशाली : इतिहास के रंगमंच पर—

जिस प्रजातन्त्र राज्य की नीव मिथिला में पडी उसीकी एक शाखा आगे चलकर वैशाली में परमप्रशसित लिच्छविगण के रूप मे प्रकट हुई। यह लिच्छविगण १५ जनतन्त्रो का एक समूह था जिसकी राजधानी वैशाली थी। इसके अधिष्ठाता 'अष्टगण या अट्ठकुल' कहलाये जिसके अन्दर प्रधान वश थे 'विदेहगण' 'वज्जिगण' और इतिहास प्रसिद्ध 'लिच्छविवश'। इस गणतत्र का सम्बन्ध मगध के राजाओ, नेपाल के शासको के पूर्वजो, मौर्यवश और गुप्तवश के साथ आगे चलकर विवाह सम्बन्ध तक था। अत जो गण छठी शताब्दी के सामाजिक एव राजनीतिक जीवन के महत्व-पूर्ण अग थे, उनके समस्त राज्यो में केवल वैशाली ही विशाल नगरी थी।

और 'निरयावलियों' (पृ० २७) के अनुसार इसी वैशाली का लिच्छविनायक (राजा) चेटक था और उसकी परामर्श समिति में नौ मल्ल गणराजा और नौ लिच्छवि गणराजा रहा करते थे। मल्ल काशी में और लिच्छवि कोशल में रहते थे। उन्ही दोनो जातियो का सम्मिलित गण-तत्र चेटक के हाथ में था। इस राजा के पारिवारिक इतिहास का पता 'आवश्यक चूर्णि' (उत्तर भाग, पत्र १६४)[1] से चलता है। यह वर्णन 'महावीर चरित्र' (हेमचन्द्राचार्य विरचित त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र, पर्व १०, स० ६, श्लो० १८४—१८३) में ज्यो का त्यो मिलता है।

इनकी आठ पुत्रियो में चेलना का विवाह मगध नरेश बिम्बसार (श्रेणिक) के साथ वलात् सम्पन्न हुआ। (त्रि० श० पु० च० पर्व १०, सर्ग ६, श्लो० २२६—२३०)। इसी चेलना से अजातशत्रु का जन्म हुआ। इसीकी मौसी त्रिशला (राजा चेटक की पुत्री) के गर्भ से भगवान महावीर का जन्म हुआ। त्रिशला का दूसरा नाम 'विदेह दत्ता' भी था और इसीलिए महावीर के विदेह, वैदेहदत्त, विदेह जाल्प, विदेह सुकुमार, (आचाराग सूत्र पत्र ३८९) विभिन्न नाम मिलते है। चेटक का घराना विदेह से भी प्रसिद्ध था।

राजा चेटक के ही राज्यकाल में श्रेणिक का लडका अजातशत्रु (कूणिक) अनजाने ही वैशाली से द्वेष भाव कर वैठा। श्रेणिक ने अपने जीवन काल में चेल्लण के पुत्र और कूणिक

---

(१) आचारांगसूत्र पत्र ३८९ में पाठ है—'समणस्य णं भगवज्जो महावीरस्य अम्मा वासिट्ट गुत्ता तीसे ण तिन्नि ना०, तं०—तिसला इवा विदेहदिन्ना इवा पियकारिणी इवा।'

(२) त्रि० श० में हल्ल और वेहल्ल दो भाइयो का उल्लेख है।

के छोटे भाई 'वेहल्ल' को सेयगण हाथी और अट्ठारसवक हार दिये थे जिसे कूणिक की स्त्री ने लेने को चाहा। वेहल्ल ने इनकार किया और भय से नाना के यहाँ भाग आया। इस पर कूणिक ने युद्ध घोषणा कर दी और वैशाली पर आक्रमण कर दिया। अपने मत्री वर्षकार के द्वारा फूट डलवा (महापरिनिब्बाणसुत्त १ १) उसने वैशाली पर कब्जा कर लिया। यह कथा 'निरयावलियाओ (पृ० २६—२८) और 'त्रिषष्टि० श० पुरुष चरित्र' (पर्व १०, सर्ग १२) में दी हुई है।

अत जिस राजा चेटक की अध्यक्षता मे वैशाली गणतत्र समुज्ज्वल प्रगति-पखो पर उडता रहा, जिसकी न्यायप्रियता और सगठनशक्ति की आधारशिला पर इतनी प्रसिद्धि प्राप्त हुई उसीका नाश अपने दौहित्र तथा मगध के अधिपति कूणिक वाहिक द्वारा हो गया। वैशाली का गणतत्र नष्ट-भ्रष्ट हो गया। पर एक हजार वर्ष तक वैशाली का स्थान भारत के प्रमुख नगरो में बना रहा। वैशाली फिर इतिहास के पन्नो मे सन् ३०८ ई० मे चमक उठी जब पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त ने लिच्छविवश की राजकुमारी कुमार देवी का पाणिग्रहण किया। इसका राजनीतिक प्रभाव गुप्तराज के सिक्को पर अकित कुमारदेवी और चन्द्रगुप्त के नामो से स्पष्ट है। सबसे प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्त इसी कुमारदेवी का लाडला लाल था।

इस तरह ३२० ई० से ५३५ ई० तक गुप्त साम्राज्य के मध्य वैशाली का सुनहला इतिहास डोलता रहा। वैशाली एक परम ऐश्वर्यशाली वाणिज्य-व्यापार का केन्द्र थी।

मगर शीघ्र ही लक्ष्मी के इस आवासपर कुठाराघात हुआ। पाँचवी सदी के उत्तरार्द्ध में दुष्ट, नीच और बर्बर हूणो ने भारतवर्ष पर धावा बोला, अत. जब ६२५ ई० में चीनी परिव्राजक ह्वेनत्सग वैशाली आया तब उसे नष्ट कीर्ति के शुष्क अवशिष्ट चिन्ह ही आकने को मिले। प्रियदर्शी राजा ने भी वैशाली-भ्रमण कर अपने को कृतार्थ किया। चीन के यात्री फाहियान, वाङ्ह्वेन-सी, इत्सिग आदि यहाँ आये। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, मनुस्मृति के पन्नो में आज भी वैशाली जीवित है।

वैशाली : संस्कृतियों की जननी—

वैशाली सास्कृतिक तपोभूमि है। सस्कृति के अक्षय भडार में आज भी वैशाली की स्निग्ध दीपिका जल रही है, जल रही है. . . ..।

जिस समय मगध पर बिन्दुसार और अजातशत्रु अपना विजय-शंख फूंक रहे थे, उसी समय वर्द्धमान महावीर और भगवान बुद्ध दोनो महात्माओ ने शाति-प्रेम और दया का पाचजन्य फूंका एव घोर तपस्या कर, सयम-नियम की कई अवस्थाएँ पारकर तपस्या सिद्ध होने पर जनता में विश्वबन्धुत्व तथा उच्च आचरण, सद्भाव, अहिंसादि का भाव आन्दोलित कर जीवन की चरम परिणति की। वैशाली इन दोनो से चिपकी हुई है, बिलकुल चिपकी हुई है।

भगवान् महावीर का जन्म स्थान वैशाली ही है। चैत शुदि तेरह की मध्यरात्रि में रानी त्रिशला की पुण्य कुक्षि से श्रमण भगवान महावीर क्षत्रिय कुण्डपुर में अवतरित हुए (५९९ ई० पूर्व)। क्षत्रिय

कुण्डपुर वैशाली का ही एक विभाग था। अतः भगवान महावीर 'वैशालीय' और 'वैशालिक' नामो से विभूषित हैं (भगवती सूत्र पृ० २३१)। सिद्धार्थ (महावीर के पिता) कुण्डपुर के गणतान्त्रिक नायक थे और इनका विवाह वैशाली के लिच्छवि नायक 'राजा' चेटक की पुत्री त्रिशला से हुआ था। अत चेटक महावीर के नाना और श्रेणिक इनके मौसा थे। महावीर का सम्बन्ध उस समय के सभी वडे राजघरानो से था।

वर्द्धमान महावीर अलौकिक ज्ञानी थे। वाल्यकाल से ही विवेक, शिष्टता, गाभीर्य आदि अनेक गुणो से समलंकृत थे।

तीस वर्ष की उम्र में वर्द्धमान ने घर छोडा और ज्ञान की खोज मे निकल पडे। इस निष्क्रमण के वाद वे वयालीस वर्षों तक जीवित रहे। प्रथम भाग गृहस्थ-जीवन और द्वितीय भाग श्रमण-जीवन माना जाता है। श्रमण जीवन के वयालीस वर्षों में उनके वारह वर्षावास वैशाली-वाणिज्य ग्राम में हुए। यो भी महावीर कई वार वैशाली आये थे और उनके उपदेश यहां हुए थे। ऋजुपालिका नदी के तट पर इनको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

महावीर अदम्य सास्कृतिक पुरुष तथा अधिष्ठाता थे। उन्होने अपने हृदय के हाहाकार मे अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह को वाधकर युग-जीवन को आन्दोलित कर दिया। महावीर के ज्ञानमय उपदेशो मे वैशाली की कण-कण की आत्मा का उद्‌घोष था। धरती के करुण उच्छ्‌वास उमडकर उनके उपदेशो मे फूटते थे। जीवन-मरण के परे मानवता का मुक्ति मार्ग उनके चरण-चिन्हो में झलका जो महान है... ऊर्जस्वल है।

महावीर ने कहा—प्राणी अपना प्रभु स्वय है, जीवन स्वतन्त्र है, उसमे अनन्त सामर्थ्य भरी हुई है ....और यह वैशाली वोली थी, वैशाली का अपना लाल वोला था। जीवन की अनेकरूपताओ पर तैरते आज भी वैशाली-पुत्र के अहिंसा और सत्य के मौलिक सिद्धान्त प्राणो से टकराते है, एषणाओ की लाश पर थूकते हैं।

महावीर का तिरोधान ५२७ ई० पूर्व पावापुर में हुआ। इस प्रकार वैशाली महावीर जैसे उन्नायक को जन्म दे एव वार-वार उनके चरण रज से पावन हो धन्य हुई।

दूसरा धर्मदूत है महान बुद्ध जिसके पदार्पण और पथ-चिन्हो से वैशाली की संस्कृति-समन्वित भूमि फिर एक वार पवित्र और महिमान्वित हो उठी थी।

वुद्धदेव के हृदय में इस पावन, पुनीत प्रभापूर्ण धरती के लिए विशेष अनुराग था। संसार त्याग कर जव वे सत्य की खोज मे निकले तो पहले वैशाली मे ही पदार्पण किया। क्योंकि इस नगरी को उस समय आध्यात्मिक आचार्यों के पीठ-स्थान होने का गौरव प्राप्त था। बुद्धपद उपलब्ध होने के वाद तो वे अनेकों वार आते रहे। यह गौरव की वात है, महात्मा वुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना यहीं पर की थी। गोमती सर्व प्रथम भिक्षुणी वनी। वुद्ध ने वैशाली को अन्तिम प्रणाम किया :—

इदं आनन्द तथागतस्य अपश्चिम वैशाली-दर्शनम् ।
न भूयो आनन्द तथागतो वैशालीम् आगमिष्यति ।।

निर्वाण के बाद बुद्ध और आनन्द की अस्थियाँ वैशाली में समाधिस्थ की गयी । बुद्ध-निर्वाण के बाद वैशाली में द्वितीय बौद्ध सघ की सगति हुई । वैशाली ने बौद्ध-सस्कृति की जाग्रत चेतना को वल प्रदान किया ।

अत इसमें सन्देह नही कि वैशाली ने अपने पूर्व ुग मे उत्तमोत्तम कर्मों की महिमा से इतिहास के पन्नो को उज्ज्वल कर रखा है । इसकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर्याप्त सवल और प्रभावोत्पादक है । जरूरत है प्राचीन वैशाली से उत्प्रेरित हो नवीन प्रजातन्त्रीय भारत के लिए यहाँ एक आदर्श भूखड की जो राष्ट्र की सोयी चेतना को उद्‌भूत कर सके ।

वैशाली के अवशेष—

वैशाली का आधुनिक रूप वसाढ है । वसाढ ।स्थत भग्नावशेषो मे सवसे वृहत् है, राजा विशाल के राजप्रसाद का खडहर । भगवान् महावीर की सुमौन, कान्तिशील एक श्यामवर्ण की प्रतिमा आधुनिक खुदाई के फलस्वरूप प्राप्त हुई है । इस मूर्ति में स्वर्गीय छटा की लचक है, कौंधती ज्योति-रेखाओ का सम्मिलन है । अशोक स्तम्भ भी एक मिला है जो कोलुआ नामक स्थान मे है । स्तम्भ से प्राय पचास कोटि की दूरी पर एक जलाशय है जिसे प्राचीन 'मरकटहृद' वतलाया जाता है । जव फाहियान भारत आया था तो उसने कुटागारशाला तथा महावन ।वहार आदि देखा था । ह्वेनसाग ने अपने भ्रमण में वैशाली के अनेकानेक स्तूपो का उल ेख किया है । उसने मरकटहृद तथा अम्बपाली द्वारा निर्मित विहार और अशोक स्तम्भ भी देखा था । अत सभी अवशेष हमारी अमूल्य सास्कृतिक निधियाँ हैं जिनके गौरव की किताव खुली पडी है विखरी ईंटो में ।

फिर एक वार इन खडहरो की वरसाती आँखो में आँख डालकर इस लेख का लेखक रो लेता है । वैशाली की जो दीप शिखा है—नयनो के पानी से वल उठे । यह कहते कल्पना एक टूटी आह पर झूलने लगती है और लाल कहानी का अचल सज जाता है, आँसू के फूलो से, मामना की वल्लरी से ।

भगवान् महावीर की जन्म भूमि-वैशाली

प्रो० श्री योगेन्द्र मिश्र एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रस्तावना—

आधुनिक युग के जैनो को अपने चौबीसवें तीर्थंकर महावीर (वर्द्धमान) के जन्म स्थान का ठीक-ठीक पता नही है, यह खेद का विषय है। इनमे से कुछ तो मुगेर जिले के अन्तर्गत लक्खीसराय जकशन के निकट क्षत्रिय कुड और लिच्छूआड़ को भगवान महावीर का जन्मस्थान मानते है। दूसरे, विशेषत दिगम्बर, नालन्दा से दो मील की दूरी पर कुडलपुर नामक ग्राम को महान जैन तीर्थंकर का जन्म स्थान मानते है। निश्चय ही दोनो विचार गलत है तथा शास्त्रों के गलत अध्ययन एवं भ्रमपूर्ण धारणा पर आधारित है। सच तो यह है कि महावीर का जन्म वैशाली के निकट कुण्डग्राम में हुआ था। (मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर सब-डिवीजन में स्थित वसाढ़ ही प्राचीन वैशाली है।) कुण्डग्राम को आजकल वासुकुण्ड कहते है। लिच्छुआड क्षत्रिय कुण्ड या कुण्डपुर को महावीर का जन्म स्थान मानकर वासुकुण्ड और वैशाली को ऐसा मानने के लिए हमारे निम्नलिखित तर्क है—

१—महावीर को विदेह, विदेहदत्त, विदेह सुकुमार और वैशालिक भी कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि वे अग (मुगेर जिले के लक्खीसराय जकशन के निकट) या मगध (नालदा के पास) में नही, बल्कि विदेह या वैशाली में पैदा हुए थे। सभी विद्वान् इस वात पर एकमत है कि प्राचीन लिच्छवियो की राजधानी वैशाली को ही आजकल वसाढ कहते है।

२—विदेह गगा के उत्तर में है, जबकि आधुनिक क्षत्रिय कुंड गगा के दक्षिण में है। अतः महावीर का तथाकथित जन्मस्थान विदेह में अवस्थित नही होने से अमान्य है।

३—प्राचीन जैन-ग्रथो में क्षत्रिय कुड को वैशाली के निकट वताया गया है। आधुनिक तथाकथित क्षत्रिय कुंड के पास वैशाली नामक कोई स्थान नही है।

४—वर्तमान क्षत्रिय कुड के पास एक नाला है, जो गण्डक नही हो सकता। आज भी गण्डक नदी वैशाली के पास वहती है।

५—प्राचीन जैन-धर्म ग्रंथो में क्षत्रिय कुंड की जहाँ चर्चा है, वहाँ पर्वतों का कोई वर्णन नही आता। वास्तव में कुड ग्राम, जैसा कि, नाम से भी प्रकट होता है, एक गाँव था। वासुकुड या वैशाली में अथवा उसके निकट कोई पहाड़ नही है, जबकि आजकल का तथाकथित क्षत्रिय कुड पहाड पर है। अत वैशाली के पास का वासुकुड ही महावीर का वास्तविक जन्मस्थान मालूम पड़ता है; लिच्छुआड़ या क्षत्रियकुण्ड या कुडलपुर नही।

६—वैशाली और इस इलाके की जनता वासुकुण्ड को महावीर का जन्मस्थान मानती है। इस जन-श्रुति से भी हमारे विचारों की पुष्टि होती है।

७—सुप्रसिद्ध युरोपीय और भारतीय विद्वान् भी वैशाली को ही महावीर का जन्मस्थान मानते हैं। इसी वैशाली अथवा वसाढ को लिच्छवियो की प्राचीन राजधानी मानते है। इसी कुल में महावीर उत्पन्न हुए थे।

नीचे हम कुछ विद्वानों के मत उद्धृत करते हैं—

१—'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' की जिल्द २२ (जैन सू प्रथम भाग) और ४५ (जैन सूत्र द्वितीय भाग) जैनो के धर्म ग्रथ है। जैन मत और जैन साहित्य के एक सर्वश्रेष्ठ अधिकारी विद्वान् हरमन जैकोबी ने अग्रेजी में इन ग्रथो का अनुवाद किया है। जिल्द २२, पृष्ठ १०–१३ (भूमिका) में उसने महावीर स्वामी के जन्मस्थान और पितृ कुल की विवेचना की है। वह लिखता है—

"दोनों ही दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन कहते है कि महावीर कुडलपुर या कुंडग्राम के राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। आचाराग सूत्र में कुडग्राम को सनिवेश कहा गया है, जिसका अर्थ टीकाकार यात्रियो के समूह या जलूस के विश्राम-स्थल लगाता है। बौद्ध और जैन ग्रथो में स्थान स्थान पर जो वर्णन किया गया है, उसकी छानबीन करने से पर्याप्त निश्चय के साथ हम बतला सकते हैं कि महावीर का जन्मस्थान कहाँ था, क्योकि बौद्धो के ग्रथ महाभाग में हम लोग पढ़ते हैं कि कोटि ग्राम में जब बुद्ध भगवान विश्राम कर रहे थे तब अम्बपाली नर्तकी और पडोस की राजधानी वैशाली के लिच्छवियो ने उनके दर्शन किये थे। कोटि ग्राम से वे वहाँ गये जहाँ ज्ञातिक रहते थे। वहाँ पर वे ज्ञातिक शाला में ठहरे। वहाँ से वे वैशाली गये, जहाँ उन्होने (लिच्छवियों के) प्रधान सेनापति को—जो निर्ग्रंथो (जैन साधुको) का गृहस्थ शिष्य था—बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया। अत यह बहुत समव है कि बौद्धो का कोटिग्गाम और जैनों का कुडग्राम एक ही हो। नामों की समता के अलावा ज्ञातियों—जो स्पष्ट तया ज्ञातव्य क्ष य ही है, जिस कुल में महावीर उत्पन्न हुए थे—तथा सीह नामक जैन की चर्चा भी उसी निष्कर्ष पर ले जाती है। अत कुण्ड ग्राम में संभवत वैशाली के निकट विदेह की राजधानी थी। यह निष्कर्ष वैशाली नाम से निकाला गया है, अर्थात् सूत्र कृताग १३ में महावीर को वैशालिक नाम दिया गया है। वैशालिक का अर्थ अक्षरार्थ वैशाली का रहने वाला है, और महावीर का वह नाम उपयुक्त ही था जब कुड ग्राम वैशाली के निकटस्थ था।

सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला चेटक की लडकी थी, जो वैशाली का राजा था। उन्हें वैदेही या विदेहदत्ता कहा जाता है, क्योंकि वे विदेह के शासक वश में पैदा हुई थी। इस तरह महावीर का अपने समय मे वैशाली के महत्वपूर्ण गणतन्त्री सरदारो से रक्त का सम्बन्ध था। पुनश्च भगवान महावीर के निर्वाण पर १८ गण राज्यो ने (काशी,कोशल, लिच्छवी और मल्लिका) उस घटना की स्मृति मे उत्सव किया। (वैशाली से महावीर के सम्बन्ध के कारण ही) वैशाली जैनधर्म का जवर्दस्त गढ था, । जबकि बौद्धो के लिए मतामतान्तरो और विरोधो का विद्यालय माना जाता था।"

वही लेखक महावीर के विषय में इन्सायक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द ७, पृष्ठ ४६६ (जैनधर्म पर विशेष ग्रथ) में लिखा है—

वे ज्ञात नामक कुल के क्षत्रिय थे, तथा वैशाली (पटना से करीब २७ मील उत्तर) आधुनिक वसाढ़ के निकटस्थ कुडग्राम के निवासी थे। कुडगाव और बनिया गाव दोनो वैशाली के निकटस्थ थे और होर्नले ने उन्हे आधुनिक बनिया और बासुकुड कहा है।

२—डा० ए० एफ० रूडोल्फ होर्नले ने २ फरवरी १८९८ की बगाल की एशियाटिक सोसायटी में दिये गये अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण के दौरान में जैन परम्परा तथा उसके प्रारम्भिक स्रोत का हवाला देते हुए जो कुछ कहा था, वह उसके अवसागदासव के अनुवाद (बायबिलियोथिक इण्डिका सिरीज) में मिलेगा। उन्होने स्पष्ट (पृष्ठ ३–६) दिखलाया है कि आधुनिक बसाढ महावीर का जन्म स्थान है। वे कहते हैं—

"बनिया गाँव या वाणिज्य ग्राम लिच्छवी देश की राजधानी और सुप्रसिद्ध नगर वेसाली (या वैशाली) का दूसरा नाम है। कल्पसूत्र १२२ में इसकी अलग-अलग चर्चा है, पर वैशाली के निकट सबध से। वास्तविकता यह है कि आम तौर से वेसाली कहे जाने वाले नगर का क्षेत्र वृहत् था, जो अपने गोलार्द्ध में वेसाली (अब वसाढ) खास के अलावा और कई नगरो से सम्मिलित था। ये स्थान बनियागाँव कुण्डगाँव अथवा कुण्डपुर थे। ये गाँव आज भी बनिया और वासुकुड नाम से विद्यमान हैं। अत. सम्मिलित नगर परिस्थिति के अनुसार अपने किसी भाग के (अनुसार) नाम से पुकारा जा सकता है। कुण्डगाँव के नाम से वेसाली नगर को ही महावीर का जन्मस्थान कहा जाता है, जो अभी भी कभी-कभी विशालनीय, विशालीय यानी विशाली के निवासी कहे जाते हैं। .... महावीर के पिता सिद्धार्थ वेसाली या कुण्डगाँव के निकट कोल्लाग के रहने वाले थे।"

३—श्रीमती सिक्लेयर स्टेवेन्सन एम० ए०, एस० सी० डी० अपनी प्रसिद्ध पुस्तिका 'दि हार्ट आफ जैनिज्म' में (पृष्ठ २१–२२ पर) लिखती हैं :—

"करीब २००० वर्ष पूर्व वसाढ में वही जातीय वर्गीकरण था जो आज है। और दरअसल पुजारी (ब्राह्मण), लडाकू (क्षत्रिय), व्यापारी (वैश्य–बनियाँ) ऐसे अलग-अलग रहते थे कि उनके मुहल्लो को कभी-कभी ऐसा नाम दिया जाता था मानो स्पष्टत वे गाँव जैसे वैशाली कुडग्राम और वाणिज्यग्राम।

बहुत ही आश्चर्य की बात है कि बनियो के मुहल्लो में नही बल्कि क्षत्रियो के मुहल्लो में एक ऐसा पुरुष पैदा हुआ, जो आगे चलकर बनियो का महान् नेता हुआ, तथा जिसने उसी व्यापारी समाज में एक ऐसे धर्म की स्थापना की जिस धर्म ने अनेक कठिनाइयो के बावजूद भी भोग-विलास, धन और सुख को ही जीवन का मुख्य उद्देश्य मानने का जोरदार विरोध किया। यह भी एक विरोधाभास है कि एक युद्धप्रिय जाति ने अहिंसा के महान् प्रचारक को जन्म दिया। आगे चलकर वे अपने वीरतापूर्ण कार्यों के कारण महावीर कहलाये, पर उनका सबसे पहला नाम जो उनके जन्मस्थान के नाम पर पड़ा था वह था वैशालीय यानी वैशाली का मनुष्य (वैशाली नगर का प्रमुख मुहल्ला)।"

उस पुस्तक के पृष्ठ २८ पर वही लेखिका लिखती है.—

"यह जैकोबी हार्नले और बूलर जैसे यूरोपीय विद्वानो के श्रम को श्रेय है कि महावीर का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित हो गया है। यह आश्चर्य मालूम पडता है कि जैन दूसरे धर्म और भाषा के विद्वानो के परिश्रम पर आज भी अपने सर्वश्रेष्ठ वीर पुगव की जानकारी के लिए निर्भर करें।"

४—सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० विन्सेन्ट ए० स्मिथ का भी विश्वास है कि वैशाली ही महावीर स्वामी की जन्म भूमि थी। जे० आर० ए० एम०, १९०२ (पृष्ठ २८२—३, २८६—७ मे) वे लिखते हैं —

"जैन परम्परानुसार वैशाली के तीन स्पष्ट क्षेत्र थे, वैशाली खास, कुंडग्राम और वाणिज्य ग्राम। इसके अलावा कोल्लाग निकटस्थ क्षेत्र था। वैशाली खास विशालगढ माना जाता है जिसके पर्याप्त प्रमाण हैं और यह दूसरे विशाल खडहरो का अनिश्चित बनियागाव (निकटस्थ रामदास चक को लेकर) लगभग निश्चित रूप से बनिया गाव का प्रतिनिधित्व करता है। इस गाव की भूमि पर अनेक टीले हैं और लगभग दस साल पहले जैन तीर्थंकरो की दो मूर्त्तियाँ मिली थी, जिनमें एक मूर्ति बैठी और दूसरी खड़ी हुई थी। ये मूर्त्तियाँ गाँव से करीब ५०० गज पश्चिम आठ फीट की गहराई में निकली थी। जैनो के महान् तीर्थंकर महावीर का निवास स्थान बनिया गाव था। और जैन मूर्त्तियो के आविष्कारक इस पहचान का जो नाम से मालूम पड़ती है जोरदार समर्थन करते हैं। कोल्लाग सभवत उस गाव को माना जाता है जो मर्कट ह्रद के निकट है और जिसे कोलुआ या कोल्हुआ कहा जाता है। इसके पूर्वी भाग में एक बड़ा टीला है। कुडगाव वैशाली का ब्राह्मण मुहल्ला बासुकुड नामक बस्ती हो सकता है।"

वही लेखक सन् १९२१ ईस्वी में इन्साईक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द १२ पृष्ठ ५६७—६८ (वैशाली) में लिखता है.—

बहुत दिन पूर्व जैन और बौद्ध दोनो के लिए प्राचीन नगरी वैशाली समान रूप से पवित्र थी। अब मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर सब-डिवीजन का बसाढ नामक स्थान नि.सन्देह वैशाली

का प्रतिनिधित्व करता है । वसाढ़ गाव से सम्मिलित अनेक गावो के भग्नावशेष से वैशाली की पहचान प्रमाणित हो जाती है ।

(१) साधारण परिवर्तन के साथ प्राचीन नाम की सजीवता द्वारा ।

(२) पटना तथा अन्य दूसरे स्थानो से भौगालिक सम्बन्धों के द्वारा ।

(३) सातवी शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसाग के भ्रमण वृत्तात से इस नगर के ब्यौरेवार वर्णन की तुलना के द्वारा और—

(४) उन पत्रों के अनुसन्धान और अन्वेषण द्वारा जिन पर वैशाली की मुहुर पडी थी ।

हिन्दुस्तान में थोडे ही ऐसे स्थान हैं जिन्हें जैन और बौद्ध दोनो मतावलम्बियो द्वारा प्रतिष्ठा पाने का अधिकार हो । वर्द्धमान (महावीर) जिन्हे आमतौर से जैन धर्म का सस्थापक माना जाता है, वैशाली के उच्च खानदान मे हुए थे । वहाँ वे पैदा हुए और उनका प्रारम्भिक जीवन व्यतीत हुआ । सन्यासी हो जाने के बाद कहा जाता है कि वे अपनी जन्मभूमि या उसके अति निकट स्थान मे १२ वर्षाॠतु पर्यंत रहे । जैन-धर्म-ग्रथ प्राय वैशाली के विशय मे जिक्र करते हैं । पुरातत्ववेत्ताओ ने उस पर जैनो के अवशेष की खोज ढूँढ नही की है । और उनकी रिपोर्ट मे कुछ भी ऐसा नही है जिससे यह समझा जाय कि वसाढ क्षेत्र जैन-धर्म का प्रचार स्थान था, जैसा कि आधुनिक ससार को ज्ञात है ।

(५) डा० जाल चार्पेण्टियर पी० एच० डी० उपसाला विश्व विद्यालय, कैम्ब्रिज, हिस्ट्री आफ इडिया जिल्द १ पृष्ठ १५७ पर लिखते हैं —

"वैशाली के ठीक बाहर कुडग्राम नामक नगर था। सभवत वासुकुड के आधुनिक ग्राम के रूप मे वह जीवित है और यही पर सिद्धार्थ नामक एक सम्पन्न सरदार रहते थे जो ज्ञातक नामक एक क्षत्रिय कुल के मुखिया थे । यही सिद्धार्थ वर्द्धमान (महावीर) के पिता थे ।"

(६) एक बौद्ध अनुश्रुति, जिसे राकहिल (लाइफ आफ बुद्ध पृ० ६२) ने उद्धृत किया है, वैशाली नगर मे तीन भागो का होना बतलाती है—'वैशाली के तीन भाग थे । पहले भाग मे ७००० सोने के गुम्बद वाले मकान, मध्य मे १४००० चादी के गुम्बद दार मकान और अन्तिम भाग मे २१००० ताम्बे के गुम्बद वाले मकान थे । इन मकानो में उच्च मध्यम और निम्नवर्ग के लोग अपनी अपनी स्थिति के अनुसार रहते थे ।" बहुत सभव है कि ये वैशाली खास कुडपुर तथा वाणिज्य ग्राम हो, जो नगर दक्षिण पूर्व-उत्तर-पूर्व एव पश्चिम भागो मे अवस्थित रहे हो । (डा० हार्नले द्वारा उवासगदसाओ का अनुवाद पृष्ठ ४६)

(७) कर्निघम ने अपने आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट्स जिल्द १ और १६ तथा हिन्दुस्तान के प्राचीन भूगोल मे वैशाली को मुजफ्फरपुर जिले के वसाढ से मिलान किया है ।

अपनी आर्किलोजिकल रिपोर्ट आफ इण्डिया (हिन्दुस्तान पर पुरातत्व सम्बन्धी अनुसंधान) के जिल्द १६ मे वह कूटागारशाला पर कुछ प्रकाश डालता है जिसका महावीर के जन्म स्थान कु-

गाव से कुछ सम्वन्ध हो सकता है। दिव्य अवदान से पता चलता है कि मर्कट ह्रद् के तटपर कूटागारशाला थी, जहाँ वुद्ध ने आनन्द से अपनी निर्वाण घोषणा के उपरान्त अपने शिष्यों को उपदेश दिया था। वैशाली से थोडा उत्तर पश्चिम हटकर कनिंघम को वह तालाव मिला जिसे आजकल रामकुड कहते हैं। चीनी यात्री ह्वेनसाग ने भी उस तालाव और निकटवर्ती पहाड़ो का वर्णन किया है। कनिंघम ने तालाव से पश्चिम और दक्षिण मे ऐसे स्थान देखे जो कूडे-कर्कट की तरह लगे, जिनसे ईंटें हटा ली गयी थी। यही पर एक मोटी दीवाल मिली जो पूर्व से पश्चिम की ओर खूव वढिया पक्की हुई १५½×"९½×"२" की ईंटो से निर्मित थी। इसी मोटाई को ध्यान मे रखते हुए कनिंघम का विचार है कि यह दीवाल अवश्य किसी वडी इमारत का भग्नावशेष है और वहुत समव है कि कूटागारशाला का अवशेष है जिसे मर्कट ह्रद के किनारे पर स्थित कहा जाता है। अगर कूटागार शाला को कुडगाव से कुछ भी सम्वन्ध है तो यह वैशाली के पड़ोस मे वैशाली के एक उपनगर होने की पुष्टि करता है।

(८) डा० टी० व्लाश आर्कलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया के १९०३—४ के वार्षिक विवरण (पृ० ८१—१२२) मे वसाढ़ की खुदाई शीर्षक पृष्ठ ८२ पर लिखते है.—

जैनो के अन्तिम तीर्थंकर जैन-धर्म-ग्रथो मे "वैशालीय" 'वैशाली के निवासी कहे जाते हैं और यह भी कहा जाता है कि उनका जन्म-स्थान विदेह-कुडगाव में था। विदेह और तिरहुत दोनो का प्रयोग प्राचीन लेखको द्वारा पर्यायवाची अर्थों में होता है। अत तिरहुत की सीमा से वाहर किसी स्थान की पहचान वैशाली के रूप मे प्रथमत वहुत असम्भव प्रतीत होती है, तथा उस स्थिति मे तो और असम्भव लगता है जव तिरहुत में एक प्राचीन स्थान (वसाढ) है ही जो सारी अनिवार्य आवश्यकताओ को पूरा करता है।

(९) डा०डी०वी० स्पूनर आर्कलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया के १९१३—१४ के वार्षिक विवरण मे (पृष्ठ ९८—१८५) लिखते हैं कि वैशाली को वसाढ साबित करने के लिए इस विचार की पुष्टि के निमित्त अपर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। (पृष्ठ ९८)

(१०) एफ०इ० पार्जीटर अपनी पुस्तक प्राचीन हिन्दुस्तान की ऐतिहासिक परम्परा में पूर्व ऐतिहासिक काल के वैशाली के वशगत इतिहास का विवरण देते हुए लिखा है कि यही वैशाली आगे चलकर लिच्छवी गणतत्र की शानदार राजधानी हुई।—एफ० इ० पार्जीटर जे० ए० एस० वी० जिल्द ६६ भाग प्रथम (१८९७) पृष्ठ ८९।

(११) श्री एल० एस० ओ० माले आई० सी० एस० जिला गजेटियर मुजफ्फरपुर ने वसाढ को प्राचीन लिच्छवी राजधानी वैशाली का अवशेप मान लिया है।

(१२) दि इम्पेरियल गजेटियर आफ इण्डिया (नया सस्करण आक्सफोर्ड सन् १९०८) ने भी वैशाली को आधुनिक वसाढ मान लिया है (जिल्द ७ पृष्ठ ९४, जिल्द २४, पृष्ठ २९४—९५)

(१३) इनसायक्लोपिडिया ब्रिटानिका चौदहवें सस्करण जिल्द १२ पृष्ठ ४६८ (लन्दन १६२६) में लेखक कहता है—

वर्द्धमान (महावीर) उनके (यानी जैनो के) अन्तिम नेता को बौद्धो के पिटक का और बुद्ध का समकालीन निगन्थ नात-पूत्त (ज्ञात-पुत्र निर्ग्रन्थ) मानने के लिए जबर्दस्त प्रमाण है। कहा जाता है कि महावीर (शेष तेईस तीर्थंकरो की तरह) पटने से २७ मील उत्तर वैशाली के क्षत्रिय हैं।

(१४) इनसायक्लोपिडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स के लेखक (यानी जैकोबी और वी० ए० स्मिथ जिनका इस लेख में वर्णन आ चुका है) का भी विचार है कि महावीर वैशाली के थे।

(१५) सर एस० राधाकृष्णन अपने भारतीय दर्शन की जिल्द १ में लिखते है कि वर्द्धमान वैशाली मे ईसा से ५६६ वर्ष पूर्व हुए थे और बौद्धो के पाली साहित्य का नात-पुत्त वर्द्धमान है।

(१६) डाक्टर सुरेंनाथ दास गुप्त अपने भारतीय दर्शन इतिहास जिल्द १ पृष्ठ २७३ (कैम्ब्रिज १६२२) में लिखते हैं—

"महावीर जैन, जैनो के अन्तिम तीर्थंकर पटने से २७ मील उत्तर वैशाली (आधुनिक बसाढ) के ज्ञात-कुल के क्षत्रियो में पैदा हुए थे। वे सिद्धार्थ और त्रिशला के द्वितीय पुत्र थे।"

(१७) डाक्टर वी० सी० लाल का भी विचार है कि महावीर वैशाली के थे। (प्राचीन भारत मे जातिया—जैनधर्म में महावीर और वैशाली आदि उनके अनेक लेखो को पढिये)

(१८) श्री राहुल साकृत्यायन अपनी पुस्तक दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ४६२ (इलाहाबाद, १६४४) में लिखते है कि वर्द्धमान ज्ञातृ पुत्र (नात-पूत्त) जैनधर्म के प्रचारक उन उपदेशको मे से एक थे जो बुद्ध के समकालीन थे। वे लिच्छवियो की एक शाखा ज्ञात्री घराने में पटना से २७ मील उत्तर बिहार के (मुजफ्फरपुर जिले मे) वज्जिगणतन्त्र की प्राचीन राजधानी में पैदा हुए थे। आगे चलकर वे कहते हैं कि वर्द्धमान के पिता गणतत्र समिति (गण समिति) के सदस्य थे।

(१६) 'वैशाली' शीर्षक एक पुस्तक की भूमिका में डाक्टर वी०एस० अग्रवाल (पुस्तक श्री विजयेन्द्र सूरि द्वारा लिखी गयी है) कहते है कि महावीर कुडपुर के क्षत्रिय इलाके में पैदा हुए थे, जिसे वैशाली के निकट के बासुकुड के (मुजफ्फरपुर जिले) रूप में माना जा सकता है।

(२०) बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो० बलदेव उपाध्याय का भी विश्वास है कि महावीर क्षत्रिय कुड ग्राम मुजफ्फरपुर में पैदा हुए थे। वे कहते है कि लिच्छुआड (किउल स्टेशन के निकट) महावीर का जन्म-स्थान मानने की जैनो मे जो आम धारणा है वह भ्रामक विचारो पर आधारित है और फौरन त्याज्य है।

(२१) डा० जी० पी० मलालकर अपने पाली खास के नामो के शब्द कोष जिल्द २ पृष्ठ ९४५ (लन्दन १९३८ में) बसाढ (मुजफ्फरपुर जिला) को प्राचीन वैशाली स्वीकार करते है और कहते है (जिल्द १ पृष्ठ ९४) कि महावीर वैशाली के 'नात' (नाथ) कुल के थे ।

अब हम लोग कुछ जैन लेखको के विचारो पर भी विवेचना करे ।

(२२) श्री चिमन लाल जे० शाह, एम० ए० अपनी पुस्तक जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया ८०० वर्ष ईसा से पूर्व ५२६ वर्ष ईसा के बाद (पृष्ठ २३—२४) मे कहते है—

"यह विश्वास किया जाता है कि पटना से २७ मील उत्तर वैशाली के निकट त्रिशला के गर्भ से महावीर का जन्म हुआ था । उनके पिता सिद्धार्थ ऐसा मालूम पड़ता है कि कुडग्राम के सरदार थे । और उनकी माँ राजकुमारी त्रिशला वैशाली के सरदार की पुत्री थी । वैशाली विदेह की राजधानी थी । वे मगध के राजा बिम्बसार से सम्बन्धित थी ।"

(२३) एक प्रसिद्ध जैन विद्वान पण्डित कल्याण विजय जी ने श्रमण भगवान् महावीर की जीवनी लिखी है—

इनमें वे लिखते है कि महावीर विदेह में वैशाली के निकट कुड ग्राम में पैदा हुए थे ।

(२४) श्री विजयेन्द्र सूरि दूसरे जैन विद्वान ने हिन्दी मे 'वैशाली' नामक पुस्तक लिखी है जिसमें वैशाली (मुजफ्फरपुर) के निकट कुडग्राम को २४ वें तीर्थंकर का वास्तविक जन्म-स्थान मानने के लिए उन्होंने जोरदार तर्क पेश किया है ।

अब चूंकि वैशाली (या इसके पास कुडग्राम) महावीर का जन्म स्थान प्रमाणित हो जाता है, अत जैन समाज का अपने तीर्थंकर के जन्म-स्थान के प्रति कुछ कर्तव्य है । वास्तव में वहा कुछ यात्रियों और दर्शको के लिए आतिथ्यशाला की व्यवस्था करनी चाहिए । इस स्थान को प्रकाश में लाने के लिए इस दिशा में जैन सम्प्रदाय को अपना कर्त्तव्य नही भूलना चाहिए ।
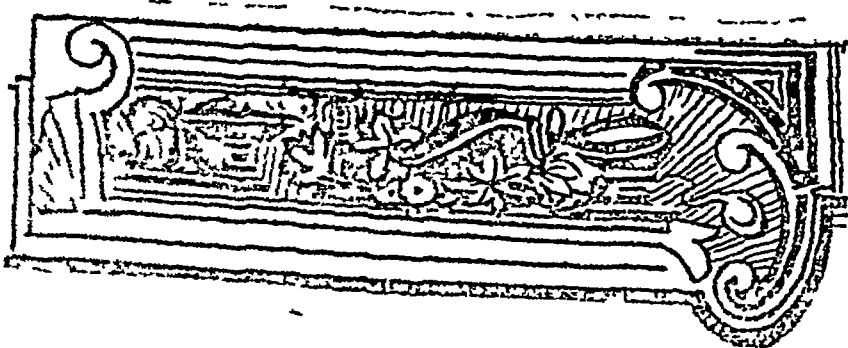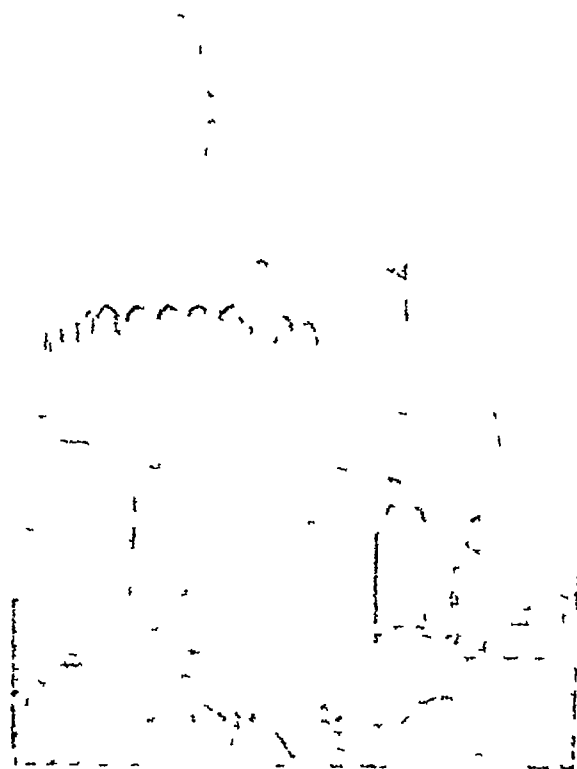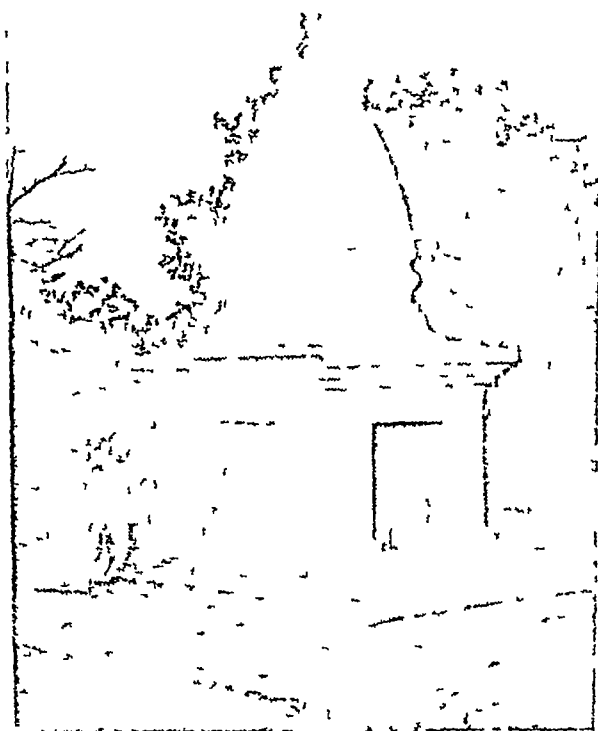
मगध सम्राट् श्रेणिक

श्री एन० सी० शास्त्री

वंश परिचय—

ई० पू० छठवीं शती में मगध का शासन शिशुनागवंशीय क्षत्रिय राजाओं के बाहुओं की छाया में पल रहा था। इस वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया जाता है कि महाभारत युद्ध में जरासन्ध की मृत्यु के उपरान्त उनके अन्तिम वंशज रिपुञ्जय को मगध का शासनभार प्राप्त हुआ। इसे इसके मंत्री शुकनदेव ने वि० सं० ६७७ पूर्व मार डाला और अपने पुत्र प्रद्योतन को मगध का राजा बनाया। इस वंश में वि० सं० ६७७ पूर्व—५८५ पूर्व तक पालम, विशाखाभूप, जनक और नन्दिवर्द्धन ने राज्य किया। पश्चात् इस वंश का पाँचवाँ राजा शिशुनाग हुआ। इसके अन्दर पराक्रम, प्रताप, शौर्यवीर्य और साहस में सामूहिक पुरुषत्व एवं प्रभुत्व की साधना थी और इसीके नाम पर इस वंश का नाम शिशुनाग वंश ख्यातिसिद्धि हो गया। ई० पू० ६४२–४८० ई० पूर्व तक शिशुनाग, कामवर्ण, कर्मक्षेपण, उपश्रेणिक, श्रेणिक या बिम्बसार, कूणिक या अजातशत्रु, हर्षक, उदयाश्व, नन्दिवर्द्धन और महानमि ये दस राजा हुए।[१] जैन ग्रंथों में इस वंश का परिचय उपश्रेणिक से मिलता है।

उपश्रेणिक के पुत्र का नाम श्रेणिक या बिम्बसार था। उपश्रेणिक मगध के छोटे से राजा थे। उनकी राजधानी राजगृह नगरी थी। मगध के समीपवर्ती चन्द्रपुर के राजा सोमशर्मा का उपश्रेणिक से युद्ध हुआ। उपश्रेणिक ने सोमशर्मा को पराजय की वशी चुभाकर अपने शासन की वृद्धि की। इनके सम्बन्ध में श्रेणिक चरित्र में बताया गया है कि यह अत्यन्त ज्ञानवान, कल्पवृक्ष के समान दानी, सूर्य के समान प्रतापी, इन्द्र सदृश परम ऐश्वर्यशाली, कुबेर के समकक्ष धनी तथा समुद्र के समान गंभीर था। इसकी पट्टरानी का नाम इन्द्राणी था। महाराज श्रेणिक का जन्म इसी इन्द्राणी की पुण्य कुक्षि से हुआ था[२]।

सोम शर्मा पराजित सासों में घुटकर अत्यन्त दुःखित हुआ, अतः उसने कूटनीति से उपश्रेणिक के वध करने का उपाय सोचा। फलतः उसने एक दिन एक घोड़ा इनके पास भेजा। उपश्रेणिक घोड़े को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उस पर चढ़कर उसकी चाल देखने लगे। घोड़े की पीठ

---

१. संक्षिप्त जैन इतिहास पृ० १२—१३
२. श्रेणिक चरित पृ० १८—३२

ने कोडा सटते ही घोडा हवा के पखो पर उड़ने लगा और इन्हें एक घने, भयंकर, जगल में ले गया और वहाँ एक गड्ढे में गिरा दिया। इस जगल का अधिपति चमदड नाम का भिल्लराज था, इसकी तिलकावती नाम की सुन्दर कन्या थी। यह भिल्लराज क्रीडा करता हुआ इधर आया और उपश्रेणिक को गड्ढे में पडा हुआ देखकर वह इनके पास आया और इनका गड्ढे से उद्धार किया। तिलकावती के रूप-जाल में राजा उलझ गया और उसके पुत्र को राज्याधिकार देने का वचन दे उससे विवाह कर लिया। राजा उपश्रेणिक राजगृह वापस लौट आये और सुख की हिलकोरो में राज्य करने लगे। समय पाकर तिलकावती को चिलाती नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह पुत्र भी भविष्णु, सुन्दर और सर्वप्रिय था[1]।

श्रेणिक का बचपन सुख के रगीन पलको में बसा था। इन्हें बचपन में माता-पिता दोनो का ही प्यार मिला था। श्रेणिक की बुद्धि की प्रशंसा प्रत्येक व्यक्ति करता था। यह असाधारण गुणो का आगार था। बालक श्रेणिक को विद्यारंभ कराया गया। उसने अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण थोडे ही समय मे समस्त विद्याओ, कलाओ और शस्त्र सचालन में प्रवीणता प्राप्त कर ली। श्रेणिक में दान देने की सस्कारगत प्रवृत्ति थी। उपश्रेणिक को श्रेणिक के अतिरिक्त पाच-सौ और पुत्र थे। महाराज उपश्रेणिक ने चिलात पुत्र को पहले ही राज्य देने का वचन दे दिया था। परन्तु इस समय इन्हे चिन्ता उत्पन्न हुई कि सब पुत्रो में सच्चा राज्याधिकारी कौन है अत उन्होंने एक ज्योतिषी को बुलाकर पूछा कि मेरे पुत्रो में मेरे राज्य का अधिकारी कौन होगा? ज्योतिषी ने कहा—महाराज, आप निम्न प्रकार से अपने पुत्रो की परीक्षा लीजिये, इन परीक्षाओ में जो उत्तीर्ण होगा वही इस विशाल मगध साम्राज्य का स्वामी होगा।

(१) आप एक शक्कर भरा हुआ घडा पुत्रो को दीजिये। जो इस घडे को सेवक के सिर पर रखवाकर सिंह द्वार पर रखा आये और स्वय सीधे क्रीडा करता हुआ पीछे की ओर से निकल आवे, वही मगध का स्वामी होगा।

(२) प्रत्येक पुत्र को एक नवीन घडा दीजिये, जो इसे ओस से भर दे, वही मगध का सम्राट् होगा।

(३) सभी पुत्रो को एक साथ भोजन कराइये। वे जब भोजन में लीन हो, एक खूखार कुत्ते को छोड दीजिये, जो पुत्र निर्भय होकर भोजन करता रहे और कुत्ते को भी खिलाता रहे वही राजा होगा।

(४) जिस समय में नगर में आग लगे, इस समय जो पुत्र सिर पर छत्र, चमर धारण कर निकले उसी को भावी मगध सम्राट् समझियेगा।

---

१. आराधना कथा कोष भाग ३ पृ० ३३

(५) एक भोजन से भरा हुआ वर्तन तथा एक जल से भरा हुआ वर्त्तन दीजिये । जो इन वर्त्तनो का मुह खोले बिना ही जल और भोजन ग्रहण करे वही मगध का भावी भाग्य-विधायक होगा।

राजा ने क्रमश. सभी पुत्रो की उपर्युक्त प्रकार से जाच की। कुमार श्रेणिक अपनी अदम्य प्रतिभा के सयोग से सभी परीक्षाओ मे उत्तीर्ण हुए । उन्होने ओस से घडे को वडी वुद्धिमानी से भरा—एक मोटा वस्त्र लेकर जिस स्थान की घास ओस से भीगी थी, उस वस्त्र को उस घासपर रखकर कई वार इधर से उधर घुमाया, जिससे वस्त्र गीला हो गया । और पश्चात् वस्त्र निचोड-कर घडे को ओस जल से भरा लिया। भोजन करते समय खूखार कुत्ते के आने से उनके सभी साथी तो भाग गये, पर कुमार श्रेणिक ने अपनी थाली में से कुत्ते के सामने भी भोजन रख दिया, जिससे कुत्ता शात होकर भोजन करता रहा और कुमार भी शातिपूर्वक भोजन करता रहा । इसी प्रकार अन्य सभी परीक्षाओ में अपनी वुद्धिमानी से कुमार श्रेणिक ने विजय पायी । अब तो उप-श्रेणिक को इस वात का निश्चय हो गया कि मगध का भावी सम्राट् राजकुमार श्रेणिक ही हैं । पर उसका मन शान्त नही था, चिन्ता और ग्लानि से शरीर गला जा रहा था । वह द्वन्द्व मे पडे थे कि मैंने राज्यभार देने का वचन चिलाती पुत्र को दिया है, पर इन परीक्षाओ मे श्रेणिक विजयी हुआ है, किसे राज्यभार दू । क्या मै अपने वचन का पालन न कर सकूगा ? सत्य से वढकर अन्य कोई धर्म नही है, यही जीवन का सार है । 'प्राण जायँ, पर वचन न जाई' का अवश्य पालन करूँगा । इस प्रकार विचार कर उपश्रेणिक ने कुमार श्रेणिक को राजगृह से निष्कासित कर देने का निश्चय किया। तदनुसार कुमार को राजगृह छोड कर चला जाना पडा ।

कुमार श्रेणिक राजगृह से चलकर नन्दि ग्राम गये । यह नगर समृद्धिशाली था। यहा श्रेणिक अपनी विद्या-बुद्धि के प्रभाव से आजीविका उपार्जन करने लगा । इनकी विद्या-बुद्धि से सोमशर्मा ब्राह्मण की पुत्री नन्दश्री अत्यन्त प्रसन्न हुई । उसका इनके साथ विवाह भी हो गया । इसी नन्दश्री से अभय कुमार का जन्म हुआ था[१]। इस नगर में कुमार ने राजा वसुपाल के हाथी को निर्मद कर वश में किया, जिससे राजा वहुत प्रसन्न हुआ और कुमार की प्रेरणा से उसने सात दिन के लिए अपने राज्य में पूर्ण अहिंसा की घोषणा कर दी[२]।

महाराज उपश्रेणिक ने चिलातीपुत्र को राज्य दे दिया । उपश्रेणिक के स्वर्गारोहण के पश्चात् मगध साम्राज्य विघटित होने लगा । चिलातीपुत्र के अत्याचारो से प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी । मन्त्रियो ने मिलकर सलाह की कि नये महाराज—चिलातीपुत्र से राज्य चलने का नही, अत कुमार श्रेणिक का अन्वेषण करना चाहिए । देश-देशान्तरो में दूत भेजे गये और कुमार श्रेणिक को वुलाया गया । चिलातीपुत्र घवडाकर भागा और वैभार गिरि—राजगृह के पर्वत पर मुनियो को

---

१ उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लो० ४१८—४२५

२. श्रेणिक चरित पृ० ६२—६४

देखकर वहां पहुँचा और दत्तमुनि नामक आचार्य से जैन मुनि की दीक्षा ले ली और तपस्या करने लगा। घोर तपश्चरण के प्रभाव से वह मरकर सर्वार्थसिद्धि विमान में देव हुआ[१]।

मगध साम्राज्य की बागडोर प्रजा के आग्रह से श्रेणिक ने अपने हाथ में ली और योग्यता पूर्वक शासन किया। उन्होंने मगध साम्राज्य का खूब विस्तार किया। इनके गुणों से मुग्ध होकर केरल नरेश मृगाङ्क ने अपनी कन्या विलावती का विवाह भी इनके साथ कर दिया।

राजनीतिज्ञता एवं अन्य योग्यताएँ—

श्रेणिक राजनीतिज्ञ, योग्य और निपुण शासक थे। उनकी योग्यता के सम्बन्ध में बताया गया है—

गाम्भीर्यं जलधे सौम्यं चन्द्रस्य स्थिरता गिरे।
मति सुरगरोर्लात्वा धात्रास्मिन्निर्मिता गुणा॥
शक्तित्रय दधानो यो बभूव षड्गुणान्वित.।
त्रिवर्ग साधयन्नित्य वशीकृताक्षवर्गक.॥
चतस्रो राजविद्या हि प्रद्योततेऽस्य यन्मति.।
निसर्गजा प्रतापाढ्या काष्ठामेव त्विषापते.॥

अर्थात्—श्रेणिक अत्यन्त निश्चल, गभीर और बुद्धिमान थे। ये तीनों प्रकार की शक्तियों संधि, विग्रह आदि ६ गुणों और चारों राजविद्याओं के ज्ञाता थे। इन्द्रियजयी होने के साथ धर्म और काम पुरुषार्थ का अविरोध रूप से सेवन करने वाले थे।

इस तरह राज्य में प्रेम और शांति के बल से अध्यात्म का ओज जगाते हुए राज्य की नौका को खेया। शासक और शासित के प्रेम को पिता-पुत्र की तरह जगाये रखा। राजनीति की सूक्ष्म अनुभूति से आसपास के राज्यों से मेल रख और युद्ध में पराजित कर अपने राज्य का विस्तार किया।

इनके हृदय में धर्म के प्रति तीव्र अभिरुचि थी। उन्होंने शास्त्रों और धार्मिक गाथाओं का अध्ययन कर जनता में धर्म की उत्कट भावना का संचार किया। धर्म निरपेक्ष राज्य में सबों को अपने अपने धर्म की स्वतन्त्रता रहते हुए भी श्रेणिक द्वारा प्रचारित और प्रसारित धर्म की छाप जनता पर पूर्णत पड़ी।

---

१. या कोष भाग ३ पृ० ३६

२. श्रेणिक चरित पृ० ६६

३ गौतम चरित प्रथम अधिकार श्लो० ४५, ४६, ४६

युद्धकला में भी ये कम पटु न थे। ये सभी अस्त्र-शस्त्रो का प्रयोग भली भाति जानते थे। इन्होने अपनी युद्धनीति को सदा उदार रखा। समय समय पर समीपवर्ती राजाओ के अत्याचार पर उन्हें उचित दण्ड भी दिया। अगदेश को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया। मगध राज्य की उन्नति का सूत्रपात इसी अग देश की जीत से हुआ। और इसने मगध साम्राज्य के सच्चे सस्थापक के रूप में ख्याति पाई। इन्होने अपने बढते हुए राज्यबल को देखकर ही शायद एक नई राजधानी—नवीन राजगृह बसाई। इनकी लडाई वैशाली के लिच्छविपति 'राजा' चेटक से भी हुई जिसमे उनकी पुत्री चेलना से इनकी शादी हुई। अत इस तरह इन्होने दो महाशक्ति-शाली राज्यो कौशल और वैशाली से सम्बन्ध स्थापित करके अपनी राजनीति-कुशलता का परिचय दिया। इन सम्बन्धो से उनकी शक्ति और प्रतिष्ठा अधिक वढ गयी थी। इनका सैन्य-बल बहुत बडा था।

पारिवारिक जीवन और धर्म—

राजा श्रेणिक का पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुखद और प्रीतिकर था। परिवार के प्रति इनकी विशेष आसक्ति थी और अपने परिजनो के सग वास करने में इनको अलौकिक आनन्द की सम्प्राप्ति होती थी। परिवार के सुखी और सम्पन्न जीवन ने ही इनको राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र में सफल और सक्रिय बनाया ? परिवार की प्रेरणा से ही इन्होने नन्दिग्राम के ब्राह्मणो का उद्धार कर दिया और पत्नी चेलना के जैन धर्म के मधुर उपदेशो से जैन धर्म को अपनाकर चिरसंतोष प्राप्त किया। इनकी सभी स्त्रियाँ उत्तम एव पुत्र आज्ञाकारी थे।

राजा श्रेणिक की पहली शादी राजगृह से भागने पर नन्दिग्राम में हुई थी, जिससे अभय कुमार नाम का पुत्र पैदा हुआ था। जव श्रेणिक प्रजा और मत्रियो द्वारा मगध की वागडोर सभालने के लिए बुलाया गया, अभयकुमारादि वही रह गये थे। वाद में जब श्रेणिक शक्तिशाली हुआ उसे अपने विगत जीवन की याद आयी और नन्दिनाथ द्वारा किये गये उसके अपमान ने उसे क्रोधातुर कर दिया। उसने नन्दिग्राम के ब्राह्मणो को निष्कासित करने की आज्ञा दे ब्राह्मणो को अति कष्ट साध्य कार्यों को सम्पन्न करने की आज्ञा भिजवायी। अभयकुमार वही था और उसने अपनी सहज वुद्धि-प्रखरता से सारे कार्यों को ब्राह्मणो द्वारा पूरा करवा दिया और ब्राह्मण निष्कासन दड से वच गये। इसपर श्रेणिक को अति आश्चर्य हुआ कि कौन सी शक्ति है जो इतनी वुद्धि-परायण है और इसके पीछे काम कर रही है और ब्राह्मणो की रक्षा कर रही है। उन्होने झट दूत भेजा और अभयकुमार का पता चला जो ब्राह्मणो का नेतृत्व कर रहा था। अभय कुमार सानन्द वुलाया गया और वह राजा के राज्यकार्यों मे उचित सहायता प्रदान करने लगा। इसी अभयकुमार ने आगे चलकर अपने उत्तमोत्तम कार्यों की महिमा से श्रेणिक की प्रशस्त कीर्ति को समलकृत किया।

श्रेणिक का दूसरा विवाह केरल नरेश मृगाक की कन्या विलावती से हुआ पर इससे इनके पारिवारिक जीवन में घटित होने वाले किसी परिवर्तन से सम्बन्ध का उल्लेख प्राप्त नही।

श्रेणिक की शादी विशालपुरी के राजा चेटक की पुत्री चेलना के साथ भी हुई जिससे इनके धार्मिक जीवन में विप्लवकारी परिवर्तन हुआ। चेलना द्वारा प्रशसित और प्रसारित जैन-धर्म की

प्रभावना में आकर इन्होंने अपना और प्रजा का महान आत्मकल्याण किया। चेलना उनके जीवन स्थल पर जैन-धर्म की स्निग्ध रश्मियाँ विकीर्ण करने आयी जिससे इनका जीवन और यश महान हो गया।

भरत नामक एक चित्रकार ने चेटक की पुत्री चेलना का मुमधुर चित्र अंकित कर श्रेणिक की राजसभा में उपस्थित किया। श्रेणिक चित्र के दर्शन मात्र से मंत्रमुग्ध हो, चित्र की नारी चेलना को पाने की तीव्र और उत्कट आकांक्षा से विकल हो उठे। वे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और चेटक जैन धर्म का पालक था और उसका निश्चय भी चेलना की शादी किसी जैनराजा से ही करने का था इस बात को सुनकर राजा का हृदय अतिशय वेदनायुक्त हो गया। अभय कुमार को इस बात का पता चला और उसने श्रेणिक को सब कुछ अपनी कौशल-चातुरी से ठीक कर चेलना की शादी उनके साथ कराने की सांत्वना दी।

अभयकुमार कुछ जैन श्रेष्ठियों को ले मणि माणिक्य से पूर्ण हो विशालपुरी में जैन धर्म की गाथा एवं अर्चना का महत्व प्रकाश करता हुआ पहुँचा। विशालपुर में नर्व उसने जैन धर्म की महत्ता को जागरित कर दिया और इस तरह राजा एवं जनता को प्रमुदित किया। चेलना आदि कुमारियों से उसने श्रेणिक को महान जैन धर्म का अनुयायी, जवान एवं मुख, आनन्द सपन्न बता, उन कुमारियों को रिझा लिया जिससे वे कुमारियाँ मगध चलने को तैयार हो गयीं। बस क्या था चेलना को वह षड्यन्त्र से मगधपुरी भगा लाया और श्रेणिक की इच्छा पूर्ति हुई।

श्रेणिक और चेलना सुख से विवाह कर जीवन बिताने लगे। भोग की समस्त सामग्रियों का उपभोग किया। एक दिन चेलना श्रेणिक के घर में बौद्ध धर्म की पूजा देखकर अत्यन्त क्षुब्ध हुई। उसने बौद्ध धर्म को जीव का कल्याण करने में अपूर्ण बताया व बौद्ध गुरुओं की लोलुपता अधार्मिकता को दिखा राजा की आँखें खोली। राजा ने जैन धर्म की इतनी ख्याति सुन जैन मुनियों की परीक्षा करने की ठानी। फलत: मुनि यशोधर की तपश्चर्या में बाधा डाली, पर मुनि अविचलित रहे। इसके बाद अत्यन्त प्रभावित हो इन्होंने जैन धर्म स्वीकार कर लिया और उसका खूब प्रचार और प्रसार किया। अत इनका प्रारम्भिक जीवन बौद्ध रहते हुए भी जैन कुमारी चेलना की उत्कट प्रेरणा से जैन धर्म में परिणत हो महान् उत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के उपदेशों के प्रथम श्रोता थे। इन्होंने भगवान् से साठ हजार जीवन जगत सम्बन्धी प्रश्न पूछे थे, जिनका भगवान् ने व्यापक और आत्मकल्याणक उत्तर दे इनकी आत्मा को शांति प्रदान की। इन्हीं प्रश्नोत्तरों को लेकर जैन आगमों का निर्माण हुआ जिनमें जैनधर्म की पीयूषधारा प्रवाहित हो जीवों का कल्याण करती है एवं जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं। अत. श्रेणिक के पारिवारिक जीवन के बीच ही जैन धर्म का नवीन सुरभित शतदल फूटा, जिसपर अनेक मुक्ति इच्छुक जीव भ्रमर गुंजार करते हैं।

अन्तिम जीवन—

यह तो श्रेणिक के पारिवारिक जीवन का उज्ज्वल पक्ष हुआ। श्रेणिक का अन्तिम जीवन यातना और दुःखपूर्ण रहा। अपने जीवन के अन्तिम अनुच्छेद में अपने पुत्र के द्वारा ही बन्दी

बना लिया गया। अजातशत्रु ने उसे जेल में अनेक प्रकार के कष्ट दिये पर श्रेणिक के अन्दर का अपूर्व साहसी और सहिष्णु सब सहता गया। उसे जीवन का कटु अनुभव हुआ और अपने पुत्र के इस व्यवहार से उसका अन्तस् कराह उठा। पर अजातशत्रु के इस नृशस व्यवहार की नाटकीय परिणति हुई। अजातशत्रु अपने पुत्र को बेहद प्यार करता था उसको इसका घमण्ड था। एक दिन उसने अपनी माँ से पूछा कि क्या माँ, मेरे पिता भी मुझे इतना प्यार करते थे। माँ ने श्रेणिक के पुत्र-प्रेम की एक करुण कहानी सुनाई। बचपन में अजातशत्रु को घाव हो गया था। वह बेचैन था। श्रेणिक उस घाव की जलन शात करने के लिए रात भर जगते—मुह की भाप से शात करते थे। अजातशत्रु इस कहानी से पिघल पडा। उसने तुरत जैन धर्म स्वीकार कर लिया और पिता को मुक्त करने के लिए चल पड़ा। श्रेणिक ने उसे आते देखा और समझा कि हो न हो यह किसी बुरे मनोभाव से आ रहा है। उसने इसी आशका से आत्महत्या कर ली। उसके जीवन की अन्तिम क्षुद्र घडियाँ भी समाप्त हुईं और उसने अन्तिम साँस ली।[९]

इतिहासकारों की दृष्टि में--

इतिहासकारो ने श्रेणिक का उल्लेख बिम्बसार के नाम से किया है। बौद्ध ग्रथो में श्रेणिक का विस्तृत जीवन-चरित मिलता है। बताया गया है कि १५ वर्ष की अवस्था से ५२ वर्ष की अवस्था तक श्रेणिक ने राज्य शासन किया था। गिलगिट से प्राप्त मैन्युस्क्रीप्ट में भी श्रेणिक का उल्लेख है[१०] परन्तु यह सुनिश्चित है कि बौद्ध साहित्य में श्रेणिक का उल्लेख उसी अवस्था तक है जबतक वह बौद्ध धर्मावलम्बी था। जैन धर्म को ग्रहण करने के पश्चात् की घटनाओ का उल्लेख बौद्ध साहित्य में नही मिलता है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विसेंट स्मिथ एम० ए० ने 'आक्स फोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया' में श्रेणिक का उल्लेख किया है तथा इनके राज्य-विस्तार का वर्णन किया है।[११] श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने बिहार रिसर्च सोसायटी के जर्नल भाग एक में बताया है कि श्रेणिक का राज्यकाल ५१ वर्ष का था। कौशाम्बी के परन्तप शताब्दिक व श्रावस्ती के प्रसेनजित इनके समकालीन राजा थे।[१२] श्री जयचन्द्र विद्यालकार ने अपनी भारतीय इतिहास की रूप रेखा में श्रेणिक का विशेष वर्णन किया है। इन्होने बौद्ध एव जैन ग्रथो के आधार पर मगध साम्राज्य का सर्वप्रथम शासक श्रेणिक को ही स्वीकार किया है। बताया है, चेटक, बिम्बसार आदि राजाओ के समकालीन महात्मा बुद्ध थे। श्रेणिक का उत्तराधिकारी अजातशत्रु हुआ जिसने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। इस प्रकार सभी इतिहासकारो ने श्रेणिक को मगध का प्रभावशाली शासक स्वीकार किया है। श्रेणिक भारतीय इतिहास की अविच्छिन्न कडी है। अपने सुयोग्य शासन और धार्मिक जीवन की अलौकिक उपलब्धि कर उसने अपना जीवन अमर कर लिया।

---

९. श्रेणिक और अजातशत्रु की इस शत्रुता का कारण पूर्व जन्म का वैर था।
१०. दीपवंश ३—५६—१०
११ Oxford History of India P. 45
१२ Journal of Bihar Research Society. VI, P. 114.

बिहार की जैन विभूतियाँ

श्री बी० सी० जैन

प्रस्तावना—

बिहार सदा से आध्यात्मिक और सास्कृतिक जीवन की प्राणधारा का मूर्त्त विग्रह रहा है। इसका ऐतिहासिक व्यक्तित्व जैन, बौद्ध, वैदिक आदि संस्कृतियो की सुस्पष्ट प्रेरणाओ से उत्पन्न होकर अपने अस्तित्व की एकाग्र साधना मे लीन है। यहाँ प्रत्येक धर्म के ऐसे मनीषियो ने जन्म लिया, जिन्होने मनुष्य को ऐन्द्रिक सुख-सुविधाओ के जजाल से मुक्त करके शाश्वत देवत्व के पवित्र लोक में ले जाने की महत्वाकाक्षा लेकर ऐसे मौलिक, सर्वजनीन-साहित्य, धर्म-सिद्धान्तो, कर्म विवेचनो, सस्कृति और सभ्यता के नवीन मापदण्डो की उद्भावनाएँ की, जिन्होने जीवन और जगत् की गहराइयो में जाकर युग-जीवन को तरगित कर दिया। इसके प्रसन्न अथच अस्खलित अस्तित्व की एकमात्र इकाई इसके अन्तराल में प्रवाहित अदृश्य मूर्तिमान प्राणधारा का उच्छल वेग है जो अपनी गौरवास्पद चेतनाओ से सर्वदा गतिशील और सयमित है।

विकास की इन चतुर्दिक् चेतनाओ से परे बिहार मे जैन धर्म, जैन तीर्थंकरो, जैन राजाओ, जैन मुनियो, आचार्यों और सेवको का अपना विशिष्ट महत्व है। जैन धर्म के बिहार में प्रसरण और योग का जो स्फटिक-रूप है उसमें बिहार की सारी आध्यात्मिक और बौद्धिक समृद्धि, सास्कृतिक ओज की मान्यता मूर्त हो उतर आयी है। एक तरफ बिहार के सास्कृतिक पट पर जैन तीर्थंकरो का सबल एव तेजस्वी व्यक्तित्व तथा उनका प्रगाढ चिन्तन झाक रहा है तो दूसरी तरफ अहिंसा, क्षमा और मनोबल को लेकर मतिभ्रष्ट मानवो के अत्याचार के विरुद्ध—पतित जन-समूह की कुप्रवृत्तियो के विरुद्ध जैन राजाओ का वीरत्व, गर्वोद्दीप्त राजोचित उत्कर्ष ललकार रहा है। जैन आचार्यों और मुनियो ने हृदय और मस्तिष्क, भावना एव बुद्धि की दुविधा मे पडकर अत्यन्त मनस्ताप सहन कर व्यक्ति-धर्म, समाज धर्म, नीति-धर्म, गार्हस्थ्य-धर्म आदि विभिन्न धर्मो के सूक्ष्म सिद्धान्तो की निर्धारणा की है और मानवता का कल्याण किया है। इस तरह अनेक जैन तीर्थंकरो, राजाओ, आचार्यों और सेवको ने बिहार में जन्म ले, अपनी उत्कट साधना का अनुष्ठान कर, अपने उपदेशो की व्यापक अनुभूतियो का प्रचार कर मानव-कल्याण का स्रोत प्रवाहित किया है एव बिहार की प्राशु भूमि को अपने सामूहिक आत्मिक दान से आप्लावित कर गौरवान्वित किया है। जैन धर्म के ऐसे प्रवर्तको ने सदैव जीवन के समक्ष प्रस्तुत होने वाले मन्तव्यो के मध्य, सामाजिक तथा चारित्रिक आदर्शों के पतन तथा विनाश की तडातड में, राजनीति के घातक दाव-पेच में, साम्राज्यवाद के निरकुश प्रसार में, विघटन, विमैत्र तथा विच्छेद की सक्रामक सकुलता मे, जीवन की अनिश्चितता में तथा

संघर्षों की पंकिलता में, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, प्रतिघात, प्रवंचना, पारस्परिक कलह और विश्वासघात की ज्वाला मे दहकते समाज, राष्ट्र एव जीवन को,—मानव, प्रेम, दया, करुणा, विश्वास, धर्म, अहिंसा, सत्य, सद्भावना, सहृदयता से ओत-प्रोत अपने हृदय के ज्ञान-रस से सजीवित कर, विश्वबन्धुत्व एव एकता की एकसूत्रता को निभाया है। मानव कल्याण की भावना का यह उद्रेक जैन धर्म में इसी विहार की पावन धरती से फूटा। अत इस लेख में वैसी ही विहार की कुछ जैन-विभूतियो का उपलव्ध और अनुपलव्ध वर्णन किया जायगा।

विहारोत्पन्न तीर्थंकर—

ऐसे तो विहार में तेईस तीर्थंकरो ने धर्मोपदेश दे भूली-भटकी मानवता को सुमार्ग में लगाया है, पर सर्वसिद्धि रूप में यहाँ ५ तीर्थकारो ने जन्म ले विहार की भूमि को महिमान्वित किया है। ये पाँच तीर्थकर भगवान् श्री वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नमिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ और भगवान् महावीर हैं। इन पाचो तीर्थकरो की जन्म-भूमि, क्रीडा-भूमि, लीला-भूमि, प्रचार-भूमि, और निर्वाण-भूमि विहार ही है अत विहार की पर्याप्त सास्कृतिक प्रतिष्ठा है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तो जैसे हमारे दैनिक जीवन के साथ चिपके हुए हैं और आज भी ये अहिंसा, शाति और सत्य के अग्रदूत के रूप में विश्व भर में पूज्य और महान् है।

(१) भगवान् वासुपूज्य—

भगवान् वासुपूज्य का जन्म विहार के चम्पानगर में हुआ था। इनके पिता इक्ष्वाकुवशीय वसुपूज्य और माता जयावती थी। इन्होने फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन व ण योग में जन्म लिया था। ये वचपन से ही अलौकिक सस्कारो से दीप्त थे। ये आत्मा के यथार्थ चिन्तन में निमग्न रहने लगे। विवाह से साफ इन्कार कर आजीवन ब्रह्मचर्यधारी रहे।

वासुपूज्य ने फागुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन विशाखा नक्षत्र मे दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के अनन्तर ही उन्हें मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। कहा जाता है कि उनके साथ-साथ परमार्थ की महिमा को जाननेवाले छह सौ छिहत्तर राजाओ ने प्रसन्न होकर दीक्षा ली थी। कदम्ब वृक्ष के नीचे माघ शुक्ला द्वितीया के दिन इन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। लोक और परलोक में इसका उत्सव मनाया गया। सर्व उल्लास की लहर व्याप्त हो गयी। इन्होने सभी आर्य क्षेत्र मे विहार करना प्रारम्भ किया एव उपदेश दिया। इस तरह विहार करते हुए ये चम्पानगर मे आये और एक हजार वर्ष तक वहा समवशरण रहा। आयु में एक महीना शेष रहने पर इन्होने योग निरोध कर मदार गिरि पर्वत पर भादो सुदी चौदस के दिन चौरानवे मुनियो सहित निर्वाण प्राप्त किया। अत इनका समस्त कार्य स्थल विहार ही रहा। इनका समय इतिहास के इतने दुर्वर्ष अन्तराल में है कि उस समय की सामान्य वस्तु-स्थिति पर आज के इतिहासकार वास्तविक तथ्य क्या, कल्पना भी आरोपित नही कर पाते। आवश्यकता है पुराणो से ऐसे प्रागैतिहासिक तीर्थंकर के वर्णित जीवन सम्वन्धो से उस समय की सामाजिक, राजनैतिक, सास्कृतिक वस्तु स्थिति की खोज की।

(२) तीर्थंकर मल्लिनाथ—

मोहरूपी मल्ल को अमल्ल के समान जीतनेवाले मल्लिनाथ का जीवन-वृतात भी अलौकिक तत्त्वों की दिव्यता से मण्डित है। मल्लिनाथ के पूर्व जन्म की कथा मनोमुग्धकारी है। मेरु पर्वत के पूर्व वत्सकावती देश के वीतशोका नाम के नगर में वैश्रवण नाम का राजा राज्य करता था। वह प्रजा का उदात्त परिपालक था तथा उसने अपने राज्य को काफी विस्तृत किया। एक दिन राज्य का परिभ्रमण करते समय वटवृक्ष की असामयिक दुर्गति देखकर उसके अन्दर वैराग्य जगा। उसने राज्य त्याग तपस्या की एव उत्तमोत्तम कर्मों की महिमा से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया। अहमिन्द्र की आयु ६ महीने शेष रह जाने पर वह पृथ्वी पर अवतार लेने के सम्मुख हुआ। बाद में यही मिथिलाविपति इक्ष्वाकुवशीय काश्यप गोत्री राजा कुभ और उसकी महादेवी प्रजावती से उत्पन्न पुत्र मल्लिनाथ हुए। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में चन्द्रमा के समान देदीप्य-मान मति, श्रुति, अवधि तीनो ज्ञान धारण करने वाले तीर्थंकर मल्लिनाथ पैदा हुए। बचपन से ही इन्होंने विवाह का विरोध किया। अनेक प्रकार के ज्ञानो का मानस में सचरण होने से ये विरक्त हो दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गये। उन्होने दो दिन का उपवास धारणकर अपने जन्म दिन के ही दिन तीन सौ राजाओ के साथ दीक्षा ग्रहण की। अशोक वृक्ष के नीचे इन्होंने चारो कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। अनेक देवी देवता, केवलज्ञानी इनके समवशरण में आये। इन्होंने अनेक दिशाओ मे विहार किया। एक महीने की आयु शेष रहने पर सम्मेदाचल पर्वत पर पाँच हजार मुनियो के साथ प्रतिमायोग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला पचमी के दिन भरणी नक्षत्र में शाम के समय कर्मों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त किया।

(३) भगवान् मुनिसुव्रतनाथ—

मुनिसुव्रतनाथ का आविर्भाव उस समय हुआ था जब अयोध्या मे रामचन्द्र, लंका में रावण और मिथिला में जनक राज्य कर रहे थे। उस युग को हमारे इतिहासकार स्पर्श भी न कर सके। इन्होंके तीर्थकाल में नारद और पर्वत के विवादो से वेदो के हिंसापरक अर्थ निकाले गये जिनसे हिंसामय यज्ञो का अनुष्ठान होने लगा। मुनिसुव्रत ने युग के इस सम्पन्न काल में लोक-जीवन मे अहिंसातत्त्व की प्राण-प्रतिष्ठा कर परम कल्याण किया।

मुनिसुव्रत अपने पूर्व जन्म में चम्पानगर के राजा हरिवर्मा थे। मगध देश के राजगृह के सुमित्र ने मगध की समृद्धिशालिता को बढाया और पुण्य का उदय हुआ। फलत. उनकी रानी सोमा की पुण्य कुक्षि मे भगवान् मुनिसुव्रत का जन्म हुआ। बचपन से ही इनकी मनोवृत्ति धार्मिक रही। इन्हें अपनी माँ का यथेष्ट प्यार मिला था। इनकी आयु ३० हजार वर्ष की थी। किसी तरह कुमारावस्था बीतने पर इनका राज्याभिषेक हुआ। अपने राज्य के प्रमुख हाथी के अपने पहले के भव स्मरण को देखकर इनके अन्दर आत्मज्ञान की शिखा प्रज्वलित हुई। इन्होंने अपना राजपाट त्याग दिया और घर से निकल पड़े। वैशाख कृष्णा दशमी के दिन इन्होंने एक हजार राजाओ के संग सयम धारण किया। इनका केशलोंच हुआ और मन.पर्ययज्ञान उत्पन्न हुआ। पारणा के लिए

ये राजगृह पधारे। ज्ञानकल्याणक उत्सव मनाया गया। यहाँ पर केवल ज्ञान भी प्राप्त हुआ। ये विहार करने लगे एव ज्ञानवर्द्धक उपदेशो से मानव के दुख-सुख की विवेचना की। अन्त में एक दीर्घ आयु के पश्चात् सम्मेदशिखर में फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन शरीर छोड मुक्त हुए। बिहार में जन्म ले रामायणकाल मे इन्होंने बिहार को अहिंसा की पीठिका बनाया।

(४) तीर्थंकर नमिनाथ—

हजारो हजार वर्ष पूर्व रामायणकाल और महाभारत काल की सीमान्त रेखा पर भगवान् नमिनाथ का प्रादुर्भाव हुआ। कृष्ण के अवतार के थोडे दिनो पूर्व इन्होंने विहार में जैन धर्म के अन्तर्गत सत्य और अहिंसा जैसे उच्च धर्म की प्रभावना की।

भगवान् नमिनाथ के पिता वृषभदेव के वशज श्री विजय मिथिला नगरी के राजा थे। इनके राज्यकाल में मिथिला नगरी उस समय की सभ्यता और सस्कृति का केन्द्र थी। आज जो हम मिथिला का रूप देखते हैं तो हमें विश्वास भी नही होता कि यही मिथिला कभी नमिनाथ जैसे तीर्थंकर को जन्म देनेवाली और प्राचीन भारतीय सस्कृति की विधायिका है। उस समय की मिथिला नगरी सुख और आमोद में पली और आध्यात्मिक और आधिभौतिक चेतनाओ से स्फुटित थी और इस सबका श्रेय विजय को था, जिसने अपने शासन से जनता के अन्दर की धार्मिकता को जगाया एव अहिंसा और सत्य का महामत्र दिया। नमिनाथ ने ऐसे राजा के यहा जन्म ले उसको अलौकिक सम्मान दिया। माँ महादेवी के मातृत्व को सफल बना इन्होंने कर्म की मातृ-निष्ठता और पितृनिष्ठता का परिचय दिया। इनके जन्म की खबर से देवलोक का हृदय भी प्रफु-ल्लित हो उठा और सब इनके उपदेशो से तृप्ति की आशा रखने लगे।

शुरू से ही आत्मा की परवशता इनके मानसिक द्वन्द्व का पृष्ठाधार रही। गृहस्थ जीवन में प्रवृत्त होकर भी ये सदैव माया, राग, द्वेष से निर्लिप्त रहे और एक दिन अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य दे आषाढ कृष्ण दशमी को दीक्षा ले ली। राजा दत्त ने उन्हे आहार दिया। नौ वर्ष बाद वकुल वृक्ष के नीचे उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इन्होंने सद्धर्म का उपदेश देते हुए आर्यखड में विहार किया। आयु नव महीने शेष रहने पर सम्मेद-शिखर पर आ वैसाख कृष्ण चतुर्दशी को मोक्ष पधारे। अत. भगवान् नमिनाथ के इस जीवन के इतिवृत्त में भी विहार के सास्कृतिक पुरुषो की परम्परागत प्रतिष्ठा ही समाहित है।

(५) भगवान् महावीर—

भगवान् महावीर तो जैसे हमारे जाने-माने-पहिचाने विहार के सास्कृतिक उद्दीपक हैं। इनके द्वारा प्रसूत सास्कृतिक धारा का समादर प्रत्येक युग और जीवन के मन्तव्य करते आ रहे हैं और करते जायगे। वास्तविक तथ्य तो यह है कि जीवन और जगत की समस्त अहिंसात्मक और शातिप्रद अनुभूति महावीर की चिन्तावारा के परे कुछ है ही नही।

भगवान् महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला, त्रयोदशी को वैशाली के कुडग्राम में ज्ञातृवश के सिद्धार्थ नामक गणपति के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम त्रिशला था, जो राजा चेटक की की आयुष्मती पुत्री थी। महावीर का सम्वन्ध उस समय के सभी राजघरानो से था।

भगवान् महावीर का वचपन मानवता के कल्याण मार्ग के सोचने में बीता। सिद्धार्थ की चेष्टाएँ इनको विवाह सूत्र मे वाधने के लिए व्यर्थ रही। ये आजीवन ब्रह्मचर्य, सत्य और अहिसा के पालक रहे। इनके जीवन की पृष्ठभूमि पर जैन सस्कृति ने अपना निखरा स्वरूप ग्रहण किया।

३० वर्ष की आयु में घर से निकलकर जिनदीक्षा ले ली। इन्होने घोर तपस्या करनी प्रारम्भ कर दी। फलत ऋजुपालिका नदी के किनारे उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इनका पहला उपदेश राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर हुआ। इनके असख्य अनुयायी वने। सर्वत्र विहार कर जैन सस्कृति की धारा को देश के अन्तराल में प्रवाहित कर दिया। कार्तिक शुदि अमावस्या के दिन ७२ वर्ष की आयु में इन्हें निर्वाण मिला। महावीर के उपदेशो और प्रचार से विहार की भूमि आज भी स्पन्दित है।

विहार के जैनाचार्य—

विहार की भूमि को केवल तीर्थंकरो ने ही पवित्र नही किया है वल्कि अनेक आचार्य विहार में उत्पन्न हुए हैं। उपर्युक्त तीर्थंकरो के काल मे अनेक गणधर विहार में हुए है, पर इस प्रस्तुत निवन्ध में केवल भगवान् महावीर के समसामयिक गणधर और अन्य आचार्यों तथा परवर्ती ग्रन्थ निर्माताओ पर सक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

यो तो भगवान् महावीर के गणधरो की सख्या अत्यधिक थी पर उनमें ११ गणधर प्रधान है। इनमें इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायभूति, व्यक्त सुवर्मस्वामी, अकम्पिक और प्रभास विहार के ही निवासी थे। इन्द्रभूति जिनका दूसरा नाम गौतम गणधर है, मगध के अन्तर्गत गोवरगाव के निवासी थे। इनके पिता का नाम वसुभूति और माँ का नाम पृथ्वी था। ये गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पाण्डित्य और विद्वत्ता की सर्वत्र धूम थी। ५०० छात्र इनके चरणो में वैठकर अध्ययन करते थे। इन्द्र किसी तरह इन्हें भगवान् महावीर के समवशरण में लाया। यहा मानस्तम्भ के दर्शन मात्र से इनकी समस्त शकाएँ स्वत. शात हो गईं। इन्द्रभूति ने अपने जीवनकाल में वहुत पण्डित देखे थे, वहुतो को विवाद मे परास्त किया था, पर वीरप्रभु के समवशरण में आते ही उनका हृदय शात हो गया। विजय-कामना विलीन हो गयी और भगवान् से दिगम्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। अव क्या था, इनके भाई अग्निभूति और वायभूति जिन्हें अपने पाण्डित्य का अपूर्व गर्व था, दीक्षित हुए।

चौथे गणधर व्यक्त कुडक ग्राम के पार्श्ववर्ती कोल्लाग सन्निवेश के धनमित्र नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वाहिनी था। पाचवें गणधर सुधर्मा स्वामी भी कोल्लाग सन्निवेश निवासी अग्निवैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनकी माता का नाम भद्दिला और पिता का

नाम धमिल्ल था । यह भी अपने समय के माने हुए विद्वान् थे । इसी प्रकार प्रभास राजगृह के निवासी और अकपिक मिथिला के निवासी थे । इन समस्त गणधरो ने द्वादशागवाणी—जैनागम का प्रणयन किया ।

अन्तिम केवली जम्बू स्वामी राजगृह के सेठ अर्हदास के पुत्र थे । इनकी माता का नाम जिनवती अथवा जिनदासी था । यह विदुषी, सुशीला और गुणवती थी । एक समय राजा श्रेणिक के पास केरल के राजा मृगाक ने सैनिक सहायता के लिए दूत भेजा क्योकि मृगाक पर हसद्वीप (लका) के राजा रत्नचूल ने आक्रमण किया था और वह बलात् उसकी कन्या मृगावती को ले जाना चाहता था । श्रेणिक ने बलशाली जम्बूकुमार के सरक्षण में सैनिक सहायता भेजी । वीर-वीर, पराक्रमशाली, जम्बूकुमार ने केरल पहुँचकर विपक्षी रत्नचूल की सेना के दात खट्टे कर दिये और विजय लक्ष्मी प्राप्त की । इस पराक्रमशाली कार्य से जम्बूकुमार की ख्याति सर्वत्र फैल गयी और राजा श्रेणिक विशेष समादर करने लगे । माता पिता ने जम्बूकुमार का विवाह गुणवती कन्या से किया पर यह क्या जम्बू कुमार दूसरे ही दिन नव परिणीता वधू को छोड विरक्त हो गये और घोर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त किया पश्चात् विपुलाचल पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया ।

ई० पूर्व ३८३ के लगभग इसी बिहार मे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रवाहु स्वामी ने बहुत दिनो तक निवास किया । इनके गुरु का नाम गोवर्द्धन स्वामी था । इन्ही भद्रबाहु स्वामी के उपदेश से मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी । मगध में १२ वर्ष का दुष्काल ज्ञात कर भद्रबाहु स्वामी अपने सघ को दक्षिण भारत की ओर ले गये थे । उनकी स दक्षिण यात्रा का उलेल्ख श्रवणबेलगोल के शिलालेखो मे भी है ।

श्वेताम्बराचार्य स्थूलभद्र मगध के अन्तिम नन्दराज के मत्री शकटाल के पुत्र थे । इनका ज्ञान अद्भुत था । इन्होने अनेक शास्त्रो का निर्माण किया । प्रसिद्ध सूत्रकार उमास्वामी का सम्बन्ध भी विहार से रहा है । वस्तुत मिथिला, राजगृह, पाटलिपुत्र और चम्पानगर जैन आचार्यो की निवास भूमि रहे है ।

बिहार के जैन राजा—

विहार के प्राचीन जैन राजवशो में शिशुनागवश, ज्ञातृवश, हैहयवश, नन्दवंश और मौर्य-वश प्रधान है । शिशु नागवश मे उपश्रेणिक, श्रेणिक, और अजातशत्रु जैन धर्मानुयायी हुए है । उपश्रेणिक शिशुनाग वश का चौथा राजा था और उसके समय में राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया । जैन शास्त्रो के अनुसार उसने आसपास के राजाओं को परास्त कर अपने राज्य का यथेष्ट विस्तार किया । न्द्रपुर के सोमशर्मा जैसे पराक्रमी राजा को भी इसने परास्त किया । इसने एक भील कन्‍ रमसुन्दरी तिलकावती से प्रणय सम्बन्ध भी किया जिससे चिलात पुत्र नामक पुत्र हुआ । इस उत्तराधिकारी इतिहास प्रसिद्ध राजा श्रेणिक हुआ जो उपश्रेणक की पट्टरानी इन्द्राणी का पुत्र । । इतिहासकार इसको बिम्बसार के नाम से जानते है । यह अपने मगध का बडा

प्रतापी और गुणशाली राजा था। इसने प्रजा का यथोचित पालन किया एव राज्य मे जैन धर्म का प्रभाव रखा। इनके समय मे मगध राज्य का काफी विस्तार हुआ। यहा जैन धर्म का पहला राजा है जिसके ऐतिहासिक उल्लेख जैन ग्रथो मे पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त है। श्रेणिक का विवाह सम्बन्ध सोमशर्मा की पुत्री नन्दश्री, केरल-नरेश मृगाक की पुत्री विलासवती से हुआ। लिच्छविगण के नायक राजा चेटक ने अपनी पुत्री चेलना की शादी एक सघर्ष के उपरान्त इनसे की। इसी चेलना ने श्रेणिक को जैन धर्म के सुमार्ग पर चलाया और श्रेणिक ने जैन धर्म का खूब विस्तार किया। श्रेणिक भगवान महावीर के उपदेशो का प्रथम श्रोता था[1]। चेलना से उत्पन्न इसका पुत्र अजातशत्रु हुआ। अजातशत्रु ने राजा चेटक को हराकर उज्जैन सब को जीता। अपने जीवन के प्रारम्भ में अजातशत्रु भी जैन था लेकिन बाद मे बौद्ध हो गया जिसकी साम्प्रदायिक भावना से इसने पिता को अनेक कष्ट दिये। पिता के मरने पर उसकी आखे खुली और वह परिवार सहित श्रावक हो गया। अपने राज्यकाल मे उसने कौशल-नरेश, वैशाली-नरेश, और शाक्य क्षत्रियो का नाश किया। बाद मे वह अपने पुत्र लोकपाल को राज्य दे मुनि हो गया। इन्द्रभूति और सुधर्मास्वामी से इसे सदैव प्रेरणाएँ मिलती रही। इसका देहान्त ५२७ ई० पूर्व हुआ।

हैहयवश मे प्रसिद्ध जैन राजा चेटक हुआ। यह मल्लो और कोशलो के सम्मिलित गण-तंत्र का नायक था। इसकी आठ पुत्रियाँ थी, जिनमे एक त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ से हुआ और महावीर का जन्म हुआ। राजा चेटक का वैशाली गणतत्र मानव इतिहास का पहला गणतत्र है। इसकी राजधानी वैशाली थी। राजा चेटक एक कुशल राजनीतिज्ञ गुणशाली, महिमावान, सुयोग्य शासक और उदार पुरुष था। इसने गाधार देश के सत्यक नामक राजा को हराकर राज्य विस्तार किया। यह अति धार्मिक था और जिनेन्द्र भगवान् की पूजा-अर्चा करना रणक्षेत्र मे भी नही भूलता था। इसके समय में जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ।

नन्दवश मे महापद्म नन्द भी जैन धर्म का अनुयायी था। उसने मगध का राज्य विस्तार किया और साथ-साथ जैन धर्म का भी प्रचार किया। राज्य मे धर्म के प्रभाव के फल-स्वरूप ही बाद में चन्द्रगुप्त मौर्य जैन धर्म का कट्टर अनुयायी हुआ।

मौर्यवश की स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य के द्वारा होती है। यह नन्दवश के अन्तिम अन्यायी राजा को मारकर ई० पू० ३२२ के लगभग मगध राज्य के सिंहासन पर बैठा और समस्त भारतवर्ष का एकछत्र सम्राट् हो गया। सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसने देश को विदेशी यूनानियो को परा-धीनता से छुडा लिया। इसने सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस को परास्त किया और चन्द्रगुप्त को काबुल, हिरात और कधार ये तीन राज्य मिले। अत २४ वर्ष की उम्र मे ही उसने अपने राज्य का इतना विस्तार कर लिया। सभ्यता और संस्कृति की उन्नति इसके राज्य मे हुई। ई० स० २९८ पूर्व इसका ५० वर्ष की उम्र में मृत्यु हुई।

---

१ विशेष के लिए 'मगध सम्राट् श्रेणिक' देखें

जैन ग्रथो मे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के जैन धर्मावलम्बी होने व भद्रबाहु स्वामी से जिन-दीक्षा लेकर उनके साथ दक्षिण को प्रस्थान करने का विवरण मिलता है। इसके अतिरिक्त इसके जैन होने के प्रमाणो को मि० ई० थामस, मि० विल्सन लूइस राइस, वर्जेबुड, विसेण्ट स्मिथ, जायसवाल महोदय जैसे इतिहासकारो ने एक स्वर से स्वीकार किया है।[1] अत चन्द्रगुप्त जैन धर्म के संस्कारो से पूर्णत. परिप्लुत था। इसने भद्रबाहु से जिनदीक्षा ली एव बाद में जैन मुनि बन आत्म कल्याण किया।

मौर्य वश मे ही अशोक के पौत्र सम्प्रति ने फिर एक वार जैन धर्म की यश पताका को लहराया। यह जैन धर्म के महान प्रचारको मे एक माना जाता है एव जैन पुराण और शास्त्र इसके प्रचार वृत्तातो से भरे पडे है। इसकी जीवन गाथा का पूर्ण वर्णन हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व मे लिखा है।

सम्प्रति अशोक के पुत्र कुणाल का पुत्र था। इसका जन्म ई० पू० ३०४ पौषमास—जनवरी मे हुआ था। सम्प्रति का राज्याभिषेक ई० पू० २८६ में १५ वर्ष की अवस्था में अक्षय तृतीया के दिन हुआ था। अपने गुरुवचनो द्वारा अपने पूर्व जन्म की बात सुनकर इसकी श्रद्धा उमड़ आयी और तत्काल जैन धर्म स्वीकार कर लिया। इसके दो वर्ष बाद उसने कलिंग देश जीता और व्रत ग्रहण किये। सम्राट् सम्प्रति ने युवावस्था मे भारत के समस्त राजाओ को करदाता बना दिया था। उसने सिन्ध नदी पार कर ईरान, अरब और मिस्र आदि देशो पर अधिकार कर कर उगाहा। उसने अपने राज्य में सब प्रकार से अहिंसा धर्म का प्रचार करने का यत्न किया। सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार के लिए सवा लाख नवीन जैन मन्दिर, दो हजार धर्मशालाएँ, ग्यारह हजार वापिकाएँ और कुएँ खुदवाकर पक्के घाट बनवाये। इसने धर्म की वृद्धि के लिए सुदूर देशो में धर्म का प्रचार कराया, अनार्य देशो मे सघ का विहार कराया तथा अपने आधीन सभी राजाओ को जैनी बनाकर जैनधर्म के प्रचारको को सब प्रकार से सहयोग दिया। इस प्रकार जैनधर्म का प्रचार उसने गुजरात, सिंहलद्वीप, आन्ध्र, ईरान, अरब, कुडक्कु आदि देशो तक किया।

बिहार के जैन नारी-रत्न—

जैन आचार्य और राजाओ के साथ जैन महिलाओ की कीर्ति गाथा भी बिहार से जुडी हुई है। भगवान् महावीर के सघ मे ३६ हजार आर्यिकाएँ थी जिनमे अधिकाश बिहार की निवासिनी थी। इन आर्यिकाओ मे सर्व प्रमुख राजा चेटक की पुत्री राजकुमारी चन्दना थी। चन्दना की मामी यशस्वती आर्यिका भी अत्यन्त प्रसिद्ध थी। चन्दना आजन्म ब्रह्मचारिणी थी। एक दिन जब वह राजोद्यान में वायु सेवन कर रही थी उस समय एक विद्याधर से चुराकर ले गया। अपनी स्त्री के भय से उसने शोकातुर चन्दना को जगल में ही छोड दिया। वहा उसे एक भील ने प्राप्त

1. जैन सिद्धान्त भास्कर किरण २—३ ०६

किया । भील ने चन्दना को अनेक कष्ट दिये पर यह सती धर्म से विचलित न हुई । यहा से वह कौशाम्बी के व्यापारी वृषभसेन नामक सेठ को प्राप्त हुई । इस सेठ के घर मे ही वन्दिनी चन्दना ने भगवान् महावीर को आहार दान दिया जिसके प्रभाव से इसकी कीर्ति सर्वत्र फैल गयी और इसने भगवान महावीर से दीक्षा ग्रहण की तथा आर्यिका सघ की प्रधान बनी ।

चन्दना की बहन ज्येष्ठा ने भी भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण की थी । राजगृह के राजकोठरी की पुत्री भद्रा कुंडलकेशा ने भी भगवान् से दीक्षा ली थी । इस आर्यिका का उपदेश इतना मधुर होता था कि सहस्रो नर-नारी एकत्रित हो मंत्र-विमुग्ध हो जाते थे ।

श्राविकाओ मे चेलना, सुलसा, आदि प्रधान है । यो तो भगवान महावीर के सघ में तीन लाख श्राविकाएँ थी । श्रेणिक जैसे विधर्मी को सुमार्ग पर लगाने वाली क्या चेलना की गौरव-गाथा युग-युग तक नहीं गायी जायगी । इस प्रकार विहार में जैन मुनियो, तीर्थंकरो, राजाओ, आचार्यों, श्राविकाओ आदि की एक सक्रीय परम्परा का उद्घाटन हुआ है । ऐसे जैन धर्म के प्रचार से बिहार की भूमि वास्तव में सस्कृतियो की मापक है ।
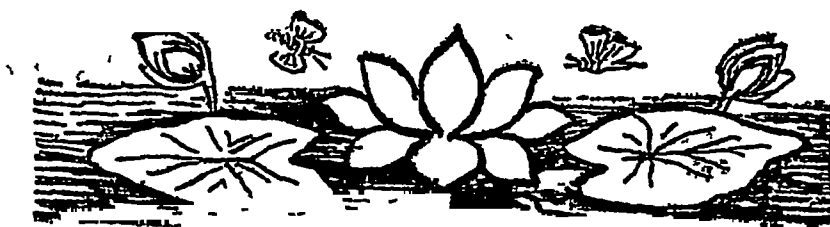
अर्थ-समिति की सदस्याएँ

५०१) रुपये देनेवाली महिलाएँ–

श्रीमती सुशीलादेवी जी जैन ध० प० रा० बहा० ला० सुलतान सिंह जी जैन-देहली
" " जयमालदेवी जी जैन ध० प० ला० जिनेन्द्र किशोर जी जैन जोहरी, देहली
" " धर्मपत्नी सेठ छदामी लाल जी, फिरोजाबाद
" " रानीदेवी ध० प० ला० विमल प्रसाद जी, फिरोजाबाद

१०१) देनेवाली महिलाएँ–

श्रीमती गिरनारीदेवी जी ध० प० श्री जुगलकिशोर जी कागजी
" " झूर्मीदेवी जी ध० प० बाबू सुमत प्रसाद जी वकील
" " विद्यादेवी जी ध० प० नथ्थूमल जी कागजी
" " मूलोदेवी जी मातेश्वरी श्री कुन्दनलाल जी मैदावाले
" " कपूरीदेवी ध० प० दरोगामल जी
" " मैनादेवी जी ध० प० श्री त्रिलोकचन्द जी
" " क्षमादेवी जी ध० प० बाबू जिनेश्वर दास जी एडवोकेट
" " केलादेवी जी ध० प० श्री महावीर प्रसाद जी ठेकेदार
" " शातिदेवी जी ध० प० ला० हरिचन्द जी बैंकर
" " ध० प० जगली मल जी, अनूप सिंह जी
" " प्रेमवतीदेवी जी ध० प० चुन्नीलाल जी एडवोकेट
" " खिल्लोदेवी जी ध० प० श्री शुभदयाल जी
" " श्यामादेवी जी ध० प० श्री मीरीमल जी गोटेवाले
" " विद्यादेवी जी ध० प० ला० शम्भूलाल जी कागजी
" " जयमालादेवी जी ध० प० जिनेन्द्र किशोर जी जौहरी
" " कैलाशवती जी ध० प० श्रीराम जी
" " सूरजदेवी जी सुपुत्री ला० दा० वी० सरदारी मल जी गोटेवाले
" " ब्रह्मोदेवी जी
" " . बुलाकी दास जी
" " जैनोदेवी जी ध० प० श्री रघुवीर सिंह जी कोठीवाले
" " नत्थूदेवी जी पहाडीवाली
" " मि० सुलतान सिंह जी काश्मीरी गेट पहाडी की मारफत
" " शीलादेवी जी ध० प० ला० श्रीपाल जी कपडेवाले

श्रीमती राजेश्वरी देवी जी, आरा
" " राजूबाई जी, शोलापुर
" " केशरबाई जी, बड़वाह
" " शान्तिबाई जी, रांची
" " घेवरबाई जी, रांची
" " पुत्तीदेवी जी, लाडनू
" " बनारसीदेवी जी, गिरिडीह
" " शांतिदेवी जी, कलकत्ता
" " तेजकुमारी जी, उज्जैन
" " भवरीदेवी जी, डाल्टेनगंज
" " प्रमोदकुमारी जी, नजीबाबाद
" " कैलाशवतीदेवी ध० प० सेठ सनतकुमार जी, ललितपुर
" " ध० प० कन्हैया लाल जी, कटनी
" " रूपवतीदेवी "किरण" ध० प० श्री कोमल प्रसाद जी, जबलपुर
" " तारादेवी जी ध० प० सेठ भागचन्द जी सोनी, अजमेर
" " विजयादेवी, जबलपुर
" " सेठानी कंचन बाई जी, इन्दौर
" " हीराबाई जी, ध० प० लक्ष्मीचन्द जी, नागपुर
" " प्यारकुंवर बाई जी, इन्दौर
" " कुन्दनीदेवी जी ध० प० कन्हैया लाल जी, काला जियागंज
" " प्रेमलतादेवी, कानपुर
" " विमलादेवी जी, बांदा
" " सुशीलादेवी जी, प्रयाग
" " भागवती जी, मेरठ
" " नितारा सुन्दरी जी, आरा
" " जयनेमिदेवी जी, आरा
" " इन्दूदेवी जी, सीतापुर
" " किरनदेवी जी, मथुरा
" " कुन्तीदेवी जी, सरधना
" " केशर बहिन चन्दूलाल, बम्बई
" " जयवन्तीदेवी जी
" " बानोदेवी ध० प० दीपचन्द जी, पहाड्या, लाडनू
" " पूरनदेवी जी, जैन-आदर्श एजेन्सी०, कानपुर
" " रामप्यारीदेवी, ध० प० मुन्नालाल जी, कलकत्ता
" " सज्जनवती जी 'विशारद'

श्रीमती राजकुमारी   ध० प० सुमतकिशोर जी इञ्जीनियर
,, ,, श्रीमतीदेवी   ध० प० पद्मकिशोर जी देहली
,, ,, कनककुमारी   ध० प० डा० एस० सी० किशोर देहली
,, ,, सरोजकुमारी   ध० प० जगतकिशोर जी इञ्जीनियर
,, ,, उर्मिलारानी   ध० प० श्री विमलकुमार जैन
,, , इन्नोदेवी   ध० प० लाला बुद्धमल जी देहली
,, ,, रत्न देवी   ध० प० लाला बुलाकी दासजी देहली
, ,, किरणमाला   ध० प० श्रीपालजी कपडेवाले देहली
,, ,, छुआरो देवी   ध० प० लाला हरिश्चन्द्र जी देहली
,, ,, विद्यावती   ध० प० सरनूमल जी देहली
,, ,, गुणमाला देवी शान्तिदेवी फर्म पवन कुमार वीर कुमार देहली
,, ,, मगनमाला   ध० प० लाला नरेन्द्र प्रसाद देहली
,, ,, विद्यादेवी   ध० प० वजीर सिंह जी कागजी देहली
,, ,, विद्यादेवी   ध० प० अजित प्रसाद जी कपडेवाले देहली
,, ,, सब्जीदेवी   ध० प० लाला हुक्मचन्द जी पच देहली
,, ,, गुणवती देवी मातेश्वरी शान्तिकिशोर, कान्तिकिशोर निर्मलकिशोर
,, ,, केशरबाई जी, विद्यावती जी श्री इन्द्रलाल जी मोतीलाल जी देहली
,, ,, किरणमती सरला देवी श्री महेंद्र कुमार रमेशचन्द्र जी   देहली
,, ,, नरायणीदेवी   ध० प० लाला जगाधरमल जी   दिल्ली
,, ,, मखमली देवी ध० प० लाला दयाचद जी इजीनियर   देहली
,, ,, गेंदो देवी   ध० प० लाला पन्नालाल जी जैनी ब्रदर्स   देहली
,, ,, बस्सो देवी   ध० प० फिरोजीलाल जी   ,,
,, ,, किरणमाला   ध० प० आदीश्वर लाल जी   ,,
,, ,, श्रीमती देवी   ध० प० राजेन्द्र कुमार जी बैंकर्स   ,,
,, ,, सत्यवती जी   ध० प० हनुमान प्रसाद जी मजिस्ट्रेट   ,,
,, ,, शान्तिदेवी   ध० प० नेमिचद्र जी   ,,
,, ,, बूदीदेवी   मातेश्वरी नेमिचद जी   ,,
,, ,, दर्शनदेवी ध० प० ला० रतनलाल जी बिजली वाले देहली
,, ,, सरस्वती देवी ध० प० बा० अजित साद जी मोटरवाले देहली